ॐ

पं० श्रीचण्डीप्रसादशुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका-संस्कृतमहाविद्यालय,

तथा

पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री साहित्याचार्य

द्वारा

सम्पादित

प्रकाशनस्थान—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,

काशी।

महर्षिश्रीवेदव्यासप्रणीतं

# ब्रह्मसूत्रम्

तच्च

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादविरचित-

शारीरकमीमांसाभाष्येण,

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-

श्रीरामानन्दभगवत्पादविरचित रत्नप्रभया

तथा

यतिवर श्रीभोलेबाबाविरचितेन भाष्यरत्नप्रभाभाषानुवादेन च

समलङ्कृतम्

## प्रथमोऽध्यायः

संवत्

१९९१

शाङ्करभाष्यरत्नप्रभाभाषानुवादसहित

# ब्रह्मसूत्र

## के प्रथमाध्यायकी विषय-सूची—

विषय पृ० पं०

शास्त्रयोनित्वाधिकरण १।१।३।३ [पृ० १२२–१३१]



समन्वयाधिकरण १।१।४।४ [पृ० १३२–२३३]

| विषय | | पृष्ठ पंक्ति |
|---|---|---|

अत्त्रधिकरण १।२।२।९-१० [पृ० ४२७-४३२]



गुहाप्रविष्टाधिकरण १।२।३।११,१२ [ पृ० ४३३–४४८ ]

## द्युभ्वाद्यधिकरण १।३।१–७ [ पृ० ५३७—५५७ ]

अनुकृत्यधिकरण १।३।६।२२–२३ [ पृ० ६४०–६४९ ]

विषय — पृष्ठ पंक्ति



*प्रथमाध्यायके चतुर्थपादकी समाप्ति*

इति

महर्षि श्रीवेदव्यास

ॐ
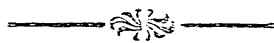
श्रीपरमात्मने नमः

# ब्रह्मसूत्र

## [ शाङ्करभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित ]
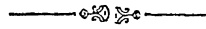
### श्रीगोविन्दानन्दकृता भाष्यरत्नप्रभा

यमिह कारुणिकं शरणं गतोऽप्यरिसहोदर आप महत्पदम् ।
तमहमाशु हरिं परमाश्रये जनकजाङ्कमनन्तसुखाकृतिम् ॥ १ ॥

श्रीगौर्या सकलार्थदं निजपदाम्भोजेन मुक्तिप्रदं
प्रौढं विघ्नवनं हरन्तमनघं श्रीढुण्ढितुण्डासिना ।
वन्दे चर्मकपालिकोपकरणैर्वैराग्यसौख्यात्परं
नास्तीति प्रदिशन्तमन्तविधुरं श्रीकाशिकेशं शिवम् ॥ २ ॥*

### यतिवर श्रीभोलेबाबाकृत रत्नप्रभाका अनुवाद

यया विना जगत्सर्वं जडोन्मत्तपिशाचवत् ।
भ्रमान्धकारनाशिन्यै वागीश्वर्यै नमो नमः ॥ १ ॥

श्रीगुरुं सच्चिदानन्दं स्वतन्त्रं परमं शिवम् ।
सर्वगं सर्वकर्तारं परात्मानं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

---

* जिस करुणामयकी शरणमें गया हुआ शत्रुघ्न भाईभी शीघ्र उन्नत पदको प्राप्त हुआ, जानकीजीको गोदमें लिए हुए निरतिशय आनन्दरूप उस परमहरि ( श्रीरामचन्द्रजी) की शरणमें मैं प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥

श्रीपार्वतीजीके द्वारा सब इष्ट पदार्थोंको देनेवाले, अपने चरण-कमलसे मोक्ष देनेवाले, श्रीगणेशजीके मुखरूप तलवारसे प्रबल विघ्नसमूहको दूर करनेवाले, गजचर्म, खप्पर आदि अपनी सामग्रीसे, वैराग्य-सुखसे बढ़कर कुछ नहीं है ऐसा उपदेश करते हुए निष्कल्मष, अविनाशी काशीपति श्रीशिवजीको मैं प्रणाम करता हूं ॥ २ ॥

( रत्नप्रभा )

यत्कृपालवमात्रेण मूको भवति पण्डितः ।
वेदशास्त्रशरीरां तां वाणीं वीणाकरां भजे ॥ ३ ॥
कामाक्षीदत्तदुग्धप्रचुरसुरनुतप्राज्यभोज्याधिपूज्य-
श्रीगौरीनायकाभित्प्रकटनशिवरामार्यलब्धात्मबोधैः ।
श्रीमद्गोपालगीर्भिः प्रकटितपरमाद्वैतभासा स्मितास्य-
श्रीमद्गोविन्दवाणीचरणकमलगो निर्वृतोऽहं यथाऽलिः ॥४॥
श्रीशङ्करं भाष्यकृतं प्रणम्य व्यासं हरिं सूत्रकृतं च वच्मि ।
श्रीभाष्यतीर्थे परहंसतुष्ट्यै वाग्जालबन्धच्छिदमभ्युपायम् ॥५॥
विस्तृतग्रन्थवीक्षायामलसं यस्य मानसम् ।
व्याख्या तदर्थमारब्धा भाष्यरत्नप्रभाभिधा ॥६॥ *

रत्नप्रभा का अनुवाद

सच्चित् एक अनन्त, शुद्ध शाश्वत अविकारी ।
गिरिज्ञानगोतीत भीतिहर्ता सुखकारी ॥ ३ ॥
सहज सांस श्रुति जासु, शेष-शारद गुण गावत ।
केवल भृकुटिविलास, विश्व पालत उपजावत ॥ ४ ॥
आत्मज्योति आनन्दघन, द्वैतदूर दुखद्वन्द्व हर ।
नमन करूं छल छाड़कर, प्रसन्न हूजे देववर ॥ ५ ॥
वन्दौं नरहरि व्यास, विपिन अद्वैत विहारी ।
द्वैतवादि-गजमत्त, मानमद मर्दनकारी ॥ ६ ॥
रचा शास्त्र वेदान्त, वेद-सिद्धान्त प्रकाशक ।
अद्भुत युक्ति अपूर्व, भेदहर संशयनाशक ॥ ७ ॥

---

* जिसकी कृपाके लेशमात्रसे गूंगा भी पण्डित हो जाता है, वेदशास्त्र शरीरवाली उस वीणापाणि श्रीसरस्वतीका मैं ध्यान करता हूं ॥ ३ ॥

अपने नामसे श्रीविष्णु तथा शिवके साथ अपना अभेद प्रकट करनेवाले श्रीशिवराम योगी काञ्चीमें रहते थे । उन्हें श्रीकामाक्षी देवीने अपने हाथोंसे देवदुर्लभ प्रचुर खीर दी । उसे खाकर वे अति पूज्य हुए । उन्हींसे श्रीगोपाल सरस्वतीको आत्मबोधकी प्राप्ति हुई । गोपाल सरस्वतीसे प्रकटित परम अद्वैतकी आभासे श्रीगोविन्दसरस्वतीजीका मुखकमल विकसित हुआ । उन्हीं गुरु महाराजके चरण-कमलोंमें भ्रमरके समान गया हुआ मैं, ज्ञान प्राप्तकर, सुखी हुआ हूँ ॥ ४ ॥

भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजी एवं सूत्रकार भगवान् श्रीवेदव्यासजीको प्रणामकर परमहंसों ( श्रेष्ठ हंसों ) के सन्तोषके लिए भाष्यरूपी शास्त्र ( जलावतार ) में वाग्जालरूपी बन्धन ( जालरूपी बन्धन ) को दूर करनेवाले उपायको कहता हूँ ॥ ५ ॥

विशालकाय ग्रन्थोंको देखनेमें जिनका मन आलस्ययुक्त रहता है, उनके लिए भाष्यरत्नप्रभा ( भाष्यरूपी मणिकी कान्ति ) नामकी व्याख्या रची जाती है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

श्रीमच्छारीरकं भाष्यं प्राप्य वाक् शुद्धिमाप्नुयात् ।
इति श्रमो मे सफलो गङ्गां रथ्योदकं यथा ॥७॥
यदज्ञानसमुद्भूतमिन्द्रजालमिदं जगत् ।
सत्यज्ञानसुखानन्तं तदहं ब्रह्म निर्भयम् ॥ ८ ॥*

इह खलु स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (श०ब्रा० ११।५।६) इति नित्याध्ययनविधिना अधीतसाङ्गस्वाध्याये "तद्विजिज्ञासस्व" ( तै० आ० ९।१ ) "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" (बृ० २।४।५) इति श्रवणविधिरुपलभ्यते । तस्याऽर्थः—अमृतत्वकामेन अद्वैतात्मविचार एव वेदान्तवाक्यैः

रत्नप्रभाका अनुवाद

पढ़त सुनत हो शान्तिसुख, शोकमोहभय जाय है ।
जीव ब्रह्मकी एकता, सहज समझमें आय है ॥ ८ ॥
शङ्कर चरणन नाय शिर, सूत्र भाष्यकर्तार ।
शारीरक भाषा करूँ, व्याख्या सहित सुधार ॥९ ॥
व्याख्या सहित सुधार, वेद का बाजे डंका ।
सरल होय वेदान्त, गूढ़ सब भाजि शंका ॥१०॥
पढ़ें सुनें हरिभक्त, तरें भवसिंधु भयंकर ।
भोला को दें शान्ति, व्यास, हरि, शंकर शंकर ॥११॥

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" ( अङ्गोंके सहित अपने वेदका अध्ययन करना चाहिये ) अध्ययनकी इस नित्य विधिसे जिसने षडेङ्ग सहित वेदका अध्ययन किया है, उसको—'तद्विजिज्ञासस्व' ( उस ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर ) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' ( उसकी खोज करनी चाहिए, उसका विशेषज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिए ) 'आत्मा वा अरे०' ( आत्माका दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए ) इत्यादि श्रवणविधि उपलब्ध होती है ।

---

* गङ्गामें जाकर जैसे नालीका जल शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार पावन शारीरक भाष्यसे सम्बद्ध होकर मेरी वाणी शुद्धिको प्राप्त हो इसीसे मेरा श्रम सफल है ॥ ७ ॥

जिस (ब्रह्म) के अज्ञानसे इन्द्रजाल तुल्य यह प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है, वही सत्य, ज्ञान, अनन्तसुखरूप निर्भय ब्रह्म मैं हूँ ॥ ८ ॥

(१) 'अध्येतव्यः' इसमें तव्य प्रत्यय विधिका बोधक है । और द्विजको वेद न पढ़नेसे प्रत्यवाय होता है, इससे तथा वाक्यमें फलके अश्रवणसे यह नित्य विधि है ।

(२) शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चयः ।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु ॥

शिक्षा (जिस शास्त्रमें वर्ण, स्वर आदिके उच्चारणकी रीति बतलाई गई है, जैसे—पाणिनिशिक्षा, नारद-शिक्षा, व्यास-शिक्षा आदि ), कल्प (जिसमें गृह्य, यज्ञ आदि विधिका प्रतिपादन है,-

### रत्नप्रभा

कर्तव्य इति। तेन काम्येन नियमविधिना अर्थादेव भिन्नात्मशास्त्रप्रवृत्तिः वैदिकानां पुराणादिप्राधान्यं वा निरस्यते इति वस्तुगतिः। तत्र कश्चिदिह जन्मनि जन्मान्तरे वा अनुष्ठितयज्ञादिभिः नितान्तविमलस्वान्तो 'अस्य श्रवणविधेः को विषयः, किं फलम्, कोऽधिकारी, कः सम्बन्धः' इति जिज्ञासते। तं जिज्ञासुमुपलभमानो भगवान् बादरायणस्तदनुबन्धचतुष्टयं श्रवणात्मकशास्त्रारम्भप्रयोजकं न्यायेन निर्णेतुमिदं सूत्रं रचयाञ्चकार "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र० सू० १।१।१) इति।

### रत्नप्रभाका अनुवाद

इसका अभिप्राय यह है कि मोक्षार्थी पुरुषको वेदान्त वाक्योंसे अद्वैत आत्माका विचार करना चाहिए। इस काम्य नियमविधिसे वैदिक पुरुषोंकी आत्मभेद प्रतिपादक शास्त्रोंमें प्रवृत्तिका तथा पुराण आदिके प्राधान्यका अर्थतः निरसन किया जाता है, यह वस्तुस्थिति है। इस जन्ममें अथवा पूर्व जन्ममें यज्ञ आदि करनेसे जिसका चित्त अत्यन्त निर्मल हो चुका हो, उस व्यक्तिको जिज्ञासा होती है कि इस श्रवणविधिका विषय क्या है? फल क्या है? अधिकारी कौन है? और सम्बन्ध क्या है? उक्त जिज्ञासुकी जिज्ञासा शान्त करनेके लिए भगवान् व्यास-देवजी ने श्रवणात्मक शास्त्रमें प्रवृत्ति करानेके कारण चार अनुबन्धोंको न्यायपूर्वक निर्णय करनेके लिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रकी रचना की है।

---

जैसे—आश्वलायन, आपस्तम्ब, बोधायन आदि कल्पसूत्र), व्याकरण (जिसमें शब्दसाधुत्व बतलाया गया है, जैसे—पाणिनीय आदि), निरुक्त (जिसमें कठिन वैदिक शब्दोंकी व्युत्पत्ति तथा अर्थका प्रतिपादन किया गया है, जैसे—यास्क निरुक्त आदि), छन्दःशास्त्र (जिसमें अनुष्टुप् आदि अक्षरवृत्त, आर्या आदि मात्रावृत्तोंका वर्णन है, जैसे—पिङ्गलसूत्र आदि) और ज्योतिष (जिसमें सूर्य आदि ग्रहों-का वर्णन है, जैसे—लगध ज्योतिष आदि) ये वेद के छः अङ्ग हैं।

(१) जीव और ब्रह्म, जगत् और ब्रह्म सब एक हैं। सब ब्रह्म है, ब्रह्मके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। ब्रह्मरूप एक ही वस्तु है, दो वस्तुएं हैं ही नहीं, यह वेदान्त मत है।

(२) नित्य, नैमित्तिक और काम्य ये तीन प्रकार की विधियाँ हैं। जिसका अनुष्ठान नित्य किया जाय एवं जिसके न करनेसे पाप होता हो वह नित्य-विधि है। जैसे "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" (प्रतिदिन सन्ध्योपासन करे)। जिसका अनुष्ठान किसी निमित्तसे किया जाय, वह नैमित्तिक है, जैसे ग्रहण आदिके निमित्त पर स्नान करना। फलकामनाके अधीन जो विधि है वह काम्य विधि है, जैसे स्वर्गकी कामनासे ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करना। श्रवण विधिका अमृतत्वरूप फल है, इसलिए श्रवण काम्यविधि है। यदि कोई वेदान्तको दुरूह, पुराणको सुगम समझकर पुराण-वाक्योंसे ही आत्मश्रवण करना चाहें तो उस पक्षमें वेदान्तश्रवण अप्राप्त है, उसकी विधायक होनेसे यह नियमविधि है। नियम उभयथा है—"वेदान्तवाक्यैरेव अद्वैतात्मविचारः कर्तव्यः" "अद्वैतात्म-विचार एव कर्तव्यः।"

(३) शास्त्रमें विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध ये चार अनुबन्ध कहे जाते हैं।

### रत्नप्रभा

ननु अनुबन्धजातं विधिसन्निहितार्थवादवाक्यैरेव ज्ञातुं शक्यम् । तथा हि— "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते"(छा०८।१।६) इति श्रुत्या 'यत् कृतकं तदनित्यम्' इति न्यायवत्या "न जायते म्रियते वा विपश्चिद्" "यो वै भूमा तदमृतम्" (छा० ७।२४।१) "अतोऽन्यदार्तम्" इत्यादिश्रुत्या च भूमात्मा नित्यः, ततोऽन्यदनित्यमिति विवेको लभ्यते । कर्मणा—कृष्यादिना, चितः—सम्पादितः, सस्यादिर्लोको भोग्य इत्यर्थः । विपश्चिद् नित्यज्ञानस्वरूपः । "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन" (मु० १।२।१२) "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृ० २।४।५) इत्यादिश्रुत्या अनात्ममात्रे वैराग्यं लभ्यते । परीक्ष्य—अनित्यत्वेन निश्चित्य । अकृतः—मोक्षः, कृतेन—कर्मणा, नास्तीति कर्मतत्फलेभ्यो वैराग्यं प्राप्नुयादित्यर्थः । "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येद्"(बृ० ४।४।२३) इति श्रुत्या शमादिषट्कं लभ्यते । "समाहितो भूत्वा" इति काण्वपाठः । उपरतिः—संन्यासः । "न स पुनरावर्तते" (का० रु०) इति स्वयंज्योतिरानन्दात्मकमोक्षस्य नित्यत्वश्रुत्या मुमुक्षा लभ्यते ।

### रत्नप्रभाका अनुवाद

यहाँ पर ऐसा पूर्वपक्ष[1] होता है कि उक्त चारों अनुबन्ध विधिवाक्योंके समीपवर्ती अर्थवादवाक्योंसे ही जाने जा सकते हैं । "तद्यथेह०" जैसे इस लोकमें खेती आदिसे उत्पन्न हुए अन्न आदि भोग्य पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही परलोकमें पुण्यसे सम्पादित लोक भी नष्ट हो जाता है । इस श्रुतिवाक्यसे ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि जो जो कर्मसे निष्पादित हैं, वे सब अनित्य हैं । इसी प्रकारकी—'न जायते०' (जिसको नित्य ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाता है, वह विद्वान् न तो जन्म लेता है और न मरता है) "यो वै भूमा०" (जो आत्मा है, वह अमर है, उससे भिन्न सब विनाशी हैं)—इत्यादि श्रुतिसे भी आत्मा नित्य है, और उससे भिन्न सब अनित्य हैं ऐसा विवेक[2] होता है । "परीक्ष्य०" (कर्म से प्राप्त किए हुए लोक अनित्य हैं, कर्म से मोक्ष नहीं होता, ऐसा निश्चय करके ब्राह्मण कर्मके प्रति वैराग्य करे), "आत्मनस्तु०" (अपनी आत्मा की प्रीति के लिए सब प्रिय होते हैं) इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों द्वारा आत्मासे भिन्न देह, इन्द्रिय आदि सब वस्तुओंमें वैराग्य होता है । "शान्तो दान्त०" (शान्त, चित्तनिग्रहयुक्त, इन्द्रियनिग्रहयुक्त, संन्यासी, क्षमाशील, समाधिस्थ और श्रद्धासम्पन्न होकर बुद्धिमें ही आत्माका दर्शन करे ।) इस श्रुतिसे शम आदि अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा ये छः सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं । "न स पुनरावर्तते" (वह पीछे नहीं

(१) सिद्धान्तसे विरुद्ध पक्ष । (२) चार साधनोंमें विवेक प्रथम साधन है ।

रत्नप्रभा

तथा च विवेकादिविशेषणवानधिकारीति ज्ञातुं शक्यम् । यथा—"य एता रात्रीरुपयन्ति" इति रात्रिसत्रविधौ प्रतितिष्ठन्तीत्यर्थवादस्थप्रतिष्ठाकामः तद्वत् । तथा "श्रोतव्यः" इत्यत्र प्रत्ययार्थस्य नियोगस्य प्रकृत्यर्थो विचारो विषयः । विचारस्य वेदान्ता विषया इति शक्यं ज्ञातुम् । 'आत्मा द्रष्टव्यः' इत्यद्वैतात्मदर्शनमुद्दिश्य 'श्रोतव्यः' इति विचारविधानात् । नहि विचारः साक्षाद्दर्शनहेतुः, अप्रमाणत्वात्, अपि तु प्रमाणविषयत्वेन । प्रमाणं च अद्वैतात्मनि वेदान्ता एव, "तं त्वौपनिषदं पुरुषं" (बृ० ३।९।२६) "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (मु० ३।२।६) इति श्रुतेः । वेदान्तानां च प्रत्यग्ब्रह्मैक्यं विषयः, "तत्त्वमसि" (छा० ६।८।७), "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ० १।४।१०) इति श्रुतेः ।

एवं विचारविधेः फलमपि ज्ञानद्वारा मुक्तिः, "तरति शोकमात्मवित्"

रत्नप्रभाका अनुवाद

लौटता ) इस श्रुतिवाक्यसे स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप मोक्ष नित्य है, ऐसा जाननेसे मुमुक्षा ( मुक्त होनेकी इच्छा ) होती है.

इस प्रकार जैसे "य एता०" ( जो प्रतिष्ठा पानेकी इच्छा करते हैं, वे रात्रिसत्र नामक याग करें ) इस रात्रिसत्र विधिमें 'प्रतितिष्ठन्ति' इस अर्थवादसे प्रतिपाद्य प्रतिष्ठा चाहनेवाला अधिकारी जाना जाता है, वैसे ही उपनिषद्-वाक्यों द्वारा ही यह जाना जा सकता है कि विवेक, वैराग्य, शम आदि और मुमुक्षा इन चार साधनोंवाला अधिकारी है। जैसे वेदान्तवाक्योंसे श्रवणविधिका अधिकारी जाना जा सकता है, वैसे विषय भी जाना जा सकता है। 'श्रोतव्यः' इसमें 'श्रु' प्रकृति[1] और 'तव्य' प्रत्यय है। प्रकृतिका अर्थ विचार है और प्रत्ययका अर्थ विधि है। इस विधिका विषय विचार है और विचारके विषय वेदान्त हैं, यह जाना जा सकता है। क्योंकि 'आत्मा द्रष्टव्यः' में अद्वैत आत्मसाक्षात्कारका उद्देश्य करके 'श्रोतव्यः' से विचारका विधान किया है। विचार अप्रमाण होनेसे, आत्माके साक्षात्कारमें, साक्षात् हेतु नहीं है, किन्तु अन्य प्रमाणका आश्रय लेकर ही आत्मसाक्षात्कार कराता है। अर्थात् विचार तर्करूप है, अतः वह आत्मसाक्षात्कारमें स्वतः प्रमाण नहीं है, किन्तु वेदान्तवाक्यरूप शब्दका सहकारी होकर परम्परया प्रमाण है। "तं त्वौप०" ( उस उपनिषद्गम्य आत्माको ) और "वेदान्तविज्ञान०" ( जिन्होंने वेदान्तके ज्ञानसे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है ) इन श्रुतिवाक्योंसे सिद्ध है कि अद्वैत-आत्मामें वेदान्त ही प्रमाण हैं। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रत्यगात्मा और ब्रह्मका ऐक्य ही उपनिषद्-प्रमाणका विषय है ।

इसी प्रकार 'तरति शोकं०' ( आत्माको जाननेवाला शोकको पारकर जाता है ) "ब्रह्मविद्०" ( ब्रह्मज्ञ ब्रह्म ही हो जाता है ) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे विचारविधिका फल भी ज्ञान द्वारा मुक्ति है,

(१) जिसमें प्रत्यय लगाया जाय । (२) प्रत्यक्ष ।

### रत्नप्रभा

(छा० ७।१।३) "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुतेः। तथा सम्बन्धोऽप्यधिकारिणा विचारस्य कर्तव्यतारूपः, फलस्य प्राप्यतारूपः इति यथायोगं सुबोधः। तस्मादिदं सूत्रं व्यर्थमिति चेद्? न, तासामधिकार्यादिश्रुतीनां स्वार्थे तात्पर्यनिर्णायकन्यायसूत्राभावे किं विवेकादिविशेषणवानधिकारी उत अन्यः, किं वेदान्ताः पूर्वतन्त्रेण गतार्था अगतार्था वा, किं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नं न वा, किं मुक्तिः स्वर्गादिवल्लोकान्तरम्, आत्मस्वरूपा वा? इति संशयानिवृत्तेः। तस्मादागमवाक्यैरापाततः प्रतिपन्नाधिकार्यादिनिर्णयार्थमिदं सूत्रमावश्यकम्।

तदुक्तं प्रकाशात्मश्रीचरणैः—"अधिकार्यादीनामागमिकत्वेऽपि न्यायेन निर्णयार्थमिदं सूत्रम्" इति।

### रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा सिद्ध होता है। इसी प्रकार अधिकारीके साथ विचारका कर्तव्यतारूप और फलका प्राप्यतारूप सम्बन्ध है इत्यादि स्पष्ट मालूम हो जाता है। अतएव 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्र व्यर्थ है। उक्त शङ्का करनेवालेसे कहना चाहिए कि सूत्र व्यर्थ नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त अधिकारी आदिका प्रतिपादन करनेवाले श्रुतिवाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य है ऐसा निर्णय करनेके लिए इस सूत्रकी आवश्यकता है। यदि यह सूत्र न होता, तो विवेक आदि चार साधनोंसे सम्पन्न पुरुष अधिकारी है अथवा कोई दूसरा? पूर्वशास्त्र अर्थात् पूर्वमीमांसासे वेदान्त गतार्थ हैं अथवा नहीं? ब्रह्म प्रत्यगात्मासे अभिन्न है या नहीं? स्वर्ग आदिके समान मुक्ति लोकान्तर है अथवा आत्मस्वरूप है? इत्यादि संशयोंकी निवृत्ति नहीं होती। यद्यपि वेदान्त वाक्योंसे सामान्यतः अधिकारी आदिका ज्ञान होता है, परन्तु उनका निर्णय नहीं हो सकता। उनका निर्णय करनेके लिए इस सूत्रकी आवश्यकता है।

प्रकाशात्मश्रीचरणने कहा है—यद्यपि वेदवाक्योंसे अधिकारी आदिका ज्ञान हो जाता है, तो भी न्यायसे [ सन्देह, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त आदिके निश्चय द्वारा ] उनका निर्णय करनेके लिए यह सूत्र रचा गया है। [ इस प्रकार 'अथातो०' इस सूत्रकी और इसी प्रकार समग्र ब्रह्मसूत्रकी आवश्यकता सिद्ध होती है। ]

---

(१) कणाद मुनि प्रणीत वैशेषिक शास्त्र, गौतम मुनि प्रणीत न्यायशास्त्र, कपिल मुनि प्रणीत साङ्ख्यशास्त्र, पतञ्जलि मुनि प्रणीत योगशास्त्र, जैमिनि मुनि प्रणीत पूर्वमीमांसा और बादरायण मुनि प्रणीत उत्तरमीमांसा ये छः दर्शन हैं। पूर्वमीमांसामें कर्मकाण्डका विचार है। उससे यज्ञ आदि कर्मोंके विषयमें होनेवाले संशयोंकी निवृत्ति होती है। उत्तरमीमांसामें ज्ञानकाण्डका विचार है। इस शास्त्रसे ब्रह्मके विषयमें हुए संशयोंकी निवृत्ति होती है।

(२) जीव।

## रत्नप्रभा

येषां मते श्रवणे विधिर्नास्ति तेषामविहितश्रवणेऽधिकार्यादिनिर्णयानपेक्षणात् सूत्रं व्यर्थमित्यापततीत्यलं प्रसंगेन ।

तथा च अस्य सूत्रस्य श्रवणविध्यपेक्षिताधिकार्यादिश्रुतिभिः स्वार्थनिर्णयाय उत्थापितत्वाद् हेतुहेतुमद्भावश्रुतिसङ्गतिः । शास्त्रारम्भहेत्वनुबन्धनिर्णायकत्वेन उपोद्घातत्वात् शास्त्रादौ संगतिः । अधिकार्यादिश्रुतीनां स्वार्थे समन्वयोक्तेः समन्वयाध्यायसंगतिः । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० ६।८।७) इत्यादिश्रुतीनां सर्वात्मत्वादिस्पष्टब्रह्मलिङ्गानां विषयादौ समन्वयोक्तेः पादसङ्गतिः । एवं सर्वसूत्राणां श्रुत्यर्थनिर्णायकत्वात् श्रुतिसङ्गतिः । तत्तदध्याये तत्तत्पादे च समानप्रमेयत्वेन संगतिरूहनीया ।

## रत्नप्रभाका अनुवाद

जिनके मतमें श्रवणमें विधि नहीं है, उनके मतमें विधिरहित श्रवणमें अधिकारी आदिके निर्णयकी आवश्यकता नहीं है, इसलिए यह सूत्र व्यर्थ हो जायगा । अस्तु ।

श्रवणविधिके लिए अपेक्षित अधिकारी आदिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे अपने अर्थके निर्णयके लिए यह सूत्र उत्थापित किया गया है, इसलिए श्रुतिके साथ सूत्रकी हेतुहेतुमद्भाव संगति है। शास्त्रारम्भके कारणीभूत अनुबंध चतुष्टयका निर्णायक होनेसे यह सूत्र उपोद्घात (अवतरण) रूप है, अतः सूत्रके साथ शास्त्रकी उपोद्घात संगति है। अधिकारी आदिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका अपने अर्थमें समन्वय किया गया है । अतः सूत्रकी समन्वयाध्यायके साथ संगति है । "ऐतदात्म्यमिदम्०" (यह संपूर्ण जगत् आत्मस्वरूप है और वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू ही है।) इत्यादि सर्वस्वरूपादि स्पष्टब्रह्मज्ञापक श्रुतियोंका विषय आदिमें समन्वय किया है, अतः इस सूत्रकी पादके साथ संगति है । इसी प्रकार सब सूत्र श्रुत्यर्थके निर्णायक हैं, अतः सब सूत्रोंकी श्रुतिके साथ संगति है। इसी प्रकार प्रत्येक अध्याय और प्रत्येक पादमें समान विषयसे संगतिकी कल्पना करनी चाहिए ।

---

(१) भामतीकार श्रीवाचस्पतिमिश्र शब्दजन्य बोधको ही श्रवण कहते हैं । बोध प्रमाणके अधीन है, पुरुषके अधीन नहीं है, इसलिए उसका विधान नहीं हो सकता । 'द्रष्टव्यः' में तव्य प्रत्यय 'अर्ह' अर्थमें है, 'विधि' अर्थमें नहीं है । उनके मतमें जब श्रवणमें विधि नहीं है तब विधिके लिए अपेक्षित विषय, प्रयोजन, अधिकारीका निर्णय भी अनावश्यक है । अतः उसके निर्णयके लिए रचा हुआ 'अथातो०' सूत्र व्यर्थ ही हो जायगा । रत्नप्रभाकार श्रीगोविन्दानन्द अद्वैत ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंके तात्पर्य-निर्णय को श्रवण कहते हैं । तात्पर्य-निर्णय करना पुरुषके अधीन है, अतः उसका विधान होता है, और विधिके लिए अपेक्षित विषय, प्रयोजन, अधिकारी आदिका कथन आवश्यक है, अतः उनके निर्णयके लिए रचित सूत्र सफल है ।

(२) कारण-कार्य, सम्बन्ध ।

(३) पहले अध्यायमें अधिकारी आदिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका अपने अर्थमें समन्वय

## रत्नप्रभा

प्रमेयं च कृत्स्नशास्त्रस्य ब्रह्म, अध्यायानां तु समन्वयाविरोधसाधनफलानि । तत्र प्रथमपादस्य स्पष्टब्रह्मलिङ्गानां श्रुतीनां समन्वयः प्रमेयः, द्वितीयतृतीययोः अस्पष्टब्रह्मलिङ्गानाम्, चतुर्थपादस्य पदमात्रसमन्वय इति भेदः । अस्य अधिकरणस्य प्राथम्यात् न अधिकरणसंगतिरपेक्षिता ।

अथ अधिकरणमारच्यते—"श्रोतव्यः" इति विहितश्रवणात्मकं वेदान्तमीमांसाशास्त्रं विषयः, तत् किमारब्धव्यं न वेति विषयप्रयोजनसम्भवासम्भवाभ्यां संशयः ।

## रत्नप्रभाका अनुवाद

इस समग्र शास्त्रका प्रतिपाद्य ब्रह्म है । इस शास्त्रके चार अध्यायोंके प्रमेय क्रमशः समन्वय, अविरोध, साधन और फल हैं । जिनमें ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट है, ऐसी स्पष्टब्रह्मलिङ्गवाली श्रुतियोंका ब्रह्मैक्यमें समन्वय पहले पादमें दिखलाया है । दूसरे और तीसरे पादमें अस्पष्ट-ब्रह्मलिङ्गवाली (जिनमें ब्रह्मका प्रतिपादन स्पष्टरूपसे प्रतीत नहीं होता) श्रुतियोंका ब्रह्मैक्यमें समन्वय दिखलाया है । चौथे पादमें पदमात्रका समन्वय दिखलाया है, अर्थात् पदोंका ही तात्पर्य समझाया है । यह प्रथमाधिकरण है, इसलिए यहाँ अधिकरणसंगतिकी अपेक्षा नहीं है ।

यह अधिकरण इस प्रकार रचा जाता है । 'श्रोतव्यः' इसमें जिस श्रवणका विधान किया गया है, वह श्रवण जिसका स्वरूप है ऐसा प्रस्तुत वेदान्तमीमांसा शास्त्र इस अधिकरणका विषय है । इस शास्त्रका आरम्भ करना चाहिए या नहीं ? इस प्रकार विषय और प्रयोजनके सम्भव और असम्भवसे संशय उत्पन्न होता है ।

---

कहा है अर्थात् सब श्रुतियाँ ब्रह्मैक्यका प्रतिपादन करती हैं ऐसा निर्णय किया गया है । इसलिए यह अध्याय समन्वयाध्याय कहलाता है ।

(१) जानने योग्य, प्रमेय । (२) अद्वैत ब्रह्म । (३) सम्बन्ध, तात्पर्य ।

(४) पांच अवयवोंका बना हुआ वाक्य-समुदाय ।

"विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥"

जिसमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और संगति, ये पांच हों, उस वाक्यको शास्त्रमें अधिकरण कहते हैं ।

जिस वाक्यके अर्थका प्रतिपादन हो उस योग्य वाक्य को 'विषय' कहते हैं । संशय अर्थात् यह ऐसा है या नहीं, ऐसे विकल्पका नाम 'विशय' है । सिद्धान्तके विरुद्ध कोटिको 'पूर्वपक्ष' कहते हैं । पूर्वपक्ष की युक्तिका खण्डन करके सत्पक्षमें युक्ति दिखलानेवाला वाक्य 'उत्तरपक्ष' कहलाता है, इसीको 'सिद्धान्त' भी कहते हैं । संगति-सम्बन्ध । प्रत्येक अध्यायकी पूर्व अध्यायके साथ, प्रत्येक पादकी पूर्व पादके साथ, प्रत्येक अधिकरणकी पूर्व अधिकरणके साथ संगति है, इस बातको स्थल-स्थल पर बतलायेंगे ।

### रत्नप्रभा

तत्र नाऽहं ब्रह्मेति भेदग्राहिप्रत्यक्षेण, कर्तृत्वाकर्तृत्वादिविरुद्धधर्मवत्त्वलिङ्गकानुमानेन च विरोधेन ब्रह्मात्मनोः ऐक्यस्य विषयस्य असम्भवात्, सत्यबन्धस्य ज्ञानात् निवृत्तिरूपफलासम्भवात् न आरम्भणीयम् इति प्राप्ते सिद्धान्तः—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र० सू० १।१।१) इति। अत्र श्रवणविधिसमानार्थत्वाय 'कर्तव्या' इति पदमध्याहर्तव्यम् । अध्याहृतं च भाष्यकृता "ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या" इति ।

तत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः ज्ञानेच्छयोः कर्तव्यत्वानन्वयात् प्रकृत्या फलीभूतं ज्ञानमजहल्लक्षणया उच्यते । प्रत्ययेन इच्छासाध्यो विचारो जहल्लक्षणया । तथा च ब्रह्म-

### रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त संदेह होने पर 'नाहं ब्रह्म' ( मैं ब्रह्म नहीं हूँ ) इस प्रकार आत्मा और ब्रह्मके बीचमें भेदका ज्ञान करानेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण है । इसी प्रकार 'जीवब्रह्मणी मिथो भिन्ने, कर्तृत्वाकर्तृत्वादिविरुद्धधर्मवत्त्वात्, तेजास्तिमिरवत्' ( जीव और ब्रह्म परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि वे दोनों प्रकाश और अन्धकारके समान विरुद्ध धर्मवाले हैं ) इस अनुमानसे भी आत्मा और ब्रह्म दोनोंमें विरोध सिद्ध होता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणोंसे आत्मा और ब्रह्ममें विरोध होनेके कारण उन दोनोंके ऐक्य(१)रूप विषयकी संभावना नहीं है, और ज्ञानसे सत्य-बन्ध(२)की निवृत्ति(३) भी नहीं हो सकती, इसलिए मोक्षरूप फलकी प्राप्ति असम्भव है। विषय और फल (प्रयोजन) दोनोंका अभाव होनेसे वेदान्तमीमांसा शास्त्र अनारम्भणीय है, ऐसा पूर्वपक्ष होने पर "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" यह प्रथम सूत्र सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला है । इस सूत्रमें श्रवणविधिकी समानार्थकताके लिए 'कर्तव्या' पदका अध्याहार(४) करना चाहिए । 'ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या' ऐसा कह कर भाष्यकारने भी इस पदका अध्याहार किया है । 'जिज्ञासा' शब्दका अर्थ ज्ञानकी इच्छा है । इसमें प्रकृतिका अर्थ ज्ञान और प्रत्ययका अर्थ इच्छा है ।

ज्ञान और इच्छाका 'कर्तव्या' पदके अर्थके साथ अन्वय नहीं हो सकता, इसलिए अजहल्लक्षणा(५)से प्रकृतिका अर्थ 'अज्ञाननिवर्तक अपरोक्ष ज्ञान' और 'जहल्लक्षणा' से प्रत्ययका अर्थ 'इच्छा-साध्य

---

( १ ) एकरूपता ।

( २ ) संसाररूप बन्धन, प्रवाहरूपसे सतत चलनेवाला देहसे देहान्तरप्राप्तिरूप संसार ।

( ३ ) नाश ।

( ४ ) वाक्यकी अर्थ-पूर्तिके लिए अश्रुत पदोंका अनुसंधान ।

( ५ ) जहां शब्दके मुख्य अर्थका बाध होता है, वहां 'जहल्लक्षणा' मानकर लक्ष्य अर्थ करना पड़ता है, जैसे—'गङ्गायां घोषः' ( गङ्गामें ग्वालोंका ग्राम है ) । गङ्गा शब्दका मुख्य अर्थ प्रवाह है, उसके साथ घोषका अन्वय नहीं बनता, इसलिये गङ्गा शब्दका लक्षणा द्वारा गङ्गातीर अर्थ करना पड़ता है। जहां मुख्य अर्थके त्याग किए विना ही लक्ष्य अर्थ की अपेक्षा रहती है, वहां अजहल्लक्षणा मानी जाती है, जैसे—"काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" ( कौओंसे दहीकी रक्षा करो )। यहां काक शब्दका अर्थ दध्युपघातक प्राणी-मात्र ( कुत्ता, बिल्ली आदि ) है, केवल काक-मात्र ही नहीं है ।

## रत्नप्रभा

ज्ञानाय विचारः कर्तव्य इति सूत्रस्य श्रौतोऽर्थः सम्पद्यते। तत्र ज्ञानस्य स्वतः फलत्वायोगात् प्रमातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वात्मकानर्थनिवर्तकत्वेनैव फलत्वं वक्तव्यम्। तत्र अनर्थस्य सत्यत्वे ज्ञानमात्रात् निवृत्त्ययोगात् अध्यस्तत्वं वक्तव्यमिति बन्धस्य अध्यस्तत्वमर्थात् सूचितम्। तच्च शास्त्रस्य विषयप्रयोजनवत्त्वसिद्धिहेतुः। तथा हि—शास्त्रमारब्धव्यम्, विषयप्रयोजनवत्त्वाद्, भोजनादिवत्। शास्त्रं प्रयोजनवत्, बन्धनिवर्तकज्ञानहेतुत्वात्, रज्जुरियम् इत्यादिवाक्यवत्। बन्धो ज्ञाननिवर्त्यः, अध्यस्तत्वात्, रज्जुसर्पवत्, इति प्रयोजनसिद्धिः।

एवमर्थाद् ब्रह्मज्ञानात् जीवगतानर्थभ्रमनिवृत्तिं फलं सूत्रयन् जीवब्रह्मणोरैक्यं विषयमपि अर्थात् सूचयति, अन्यज्ञानात् अन्यत्र भ्रमानिवृत्तेः। जीवो ब्रह्माभिन्नः,

## रत्नप्रभाका अनुवाद

विचार' करना चाहिए, तब ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए विचार करना चाहिए ऐसा सूत्रका शब्दार्थ होता है। ज्ञान स्वतः फल नहीं हो सकता, इसलिए जीव प्रमाता, कर्ता और भोक्ता है इत्यादि अविद्यासे जीवमें प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म प्रतीत होते हैं, इस अनर्थका निवर्तक होनेके कारण ज्ञान फल है, ऐसा कहना चाहिए। सत्य वस्तुकी निवृत्ति ज्ञानसे नहीं होती है, अनर्थ यदि सत्य है, तो उसकी निवृत्ति ज्ञानमात्रसे नहीं हो सकेगी, अतः अनर्थ अध्यस्त[1] है, ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार बन्ध अध्यस्त है, ऐसा अर्थतः सूचित किया जाता है। बन्ध अध्यस्त है इस कारण शास्त्र विषय और प्रयोजनसे युक्त है, यह सिद्ध होता है। इसी बातको दिखाते हैं—शास्त्र आरब्धव्य[2] है, भोजन आदिके समान, विषय और प्रयोजनसे युक्त होनेके कारण, इस अनुमानसे शास्त्र आरम्भ करने योग्य है, यह सिद्ध होता है। 'बन्धका नाश करनेवाले ज्ञानका हेतु होनेसे शास्त्र प्रयोजनयुक्त है, 'यह रज्जु[3] है' इत्यादि वाक्यकी तरह।' इस अनुमानसे शास्त्र प्रयोजनयुक्त है, ऐसा सिद्ध होता है। 'अध्यस्त होनेके कारण बन्ध ज्ञानसे निवर्त्य[4] है, रज्जुमें सर्पकी तरह। इस अनुमानसे बन्धनाश-रूप प्रयोजन सिद्ध होता है।

इस प्रकार ब्रह्मज्ञानसे जीवगत कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थ भ्रम[5]की निवृत्तिरूप फलको दिखलाते हुए सूत्रकार जीव-ब्रह्मके अभेदरूप विषयको भी अर्थतः सूचित करते हैं, क्योंकि एक वस्तुके यथार्थ ज्ञानसे ही उसका पूर्वका अयथार्थ ज्ञान निवृत्त हो सकता है। दूसरी वस्तुमें भ्रम दूसरी वस्तुके ज्ञानसे निवृत्त नहीं होता। ब्रह्म-ज्ञानसे नष्ट होनेवाले अध्यासका आश्रय

---

( १ ) मिथ्या आरोप। ( २ ) आरम्भ करने योग्य।

( ३ ) रस्सी। 'यह रस्सी है' इस सत्य ज्ञानसे जैसे सर्पका भ्रम जाता है, वैसे ही।

( ४ ) नाश होने के योग्य।

( ५ ) अयथार्थज्ञान, विपरीत निर्णय। शंख पीला है, स्फटिक लाल है, सीप चाँदी है इत्यादि भ्रम हैं।

भाष्य

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद्विरुद्ध-स्वभावयोः इतरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्तिः, इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके

भाष्यका अनुवाद

अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध-स्वभाववाले 'तुम' और 'हम' ऐसी प्रतीति के योग्य विषय और विषयी का तादात्म्य युक्त नहीं है, ऐसा सिद्ध होने पर उनके धर्मों का भी तादात्म्य नितरां नहीं बन सकता, यह सिद्ध ही है, इसलिए हम ऐसी प्रतीति के योग्य जो चैतन्य-स्वरूप ( आत्मा ) विषयी है,

---

रत्नप्रभा

तज्ज्ञाननिवर्त्याध्यासाश्रयत्वाद्, यदित्थं तत् तथा, यथा शुक्त्यभिन्नः इदमंश इति। विषयसिद्धिहेतुरध्यासः। इत्येवं विषयप्रयोजनवत्त्वात् शास्त्रमारम्भणीयमिति।

अत्र पूर्वपक्षे बन्धस्य सत्यत्वेन ज्ञानाद् अनिवृत्तेरुपायान्तरसाध्या मुक्तिरिति फलम्। सिद्धान्ते ज्ञानादेव मुक्तिरिति विवेकः, इति सर्वं मनसि निधाय ब्रह्मसूत्राणि व्याख्यातुकामो भगवान् भाष्यकारः सूत्रेण विचारकर्तव्यतारूपश्रौतार्थान्यथानुपपत्त्या अर्थात् सूत्रितं विषयप्रयोजनवत्त्वमुपोद्घातत्वात् तत्सिद्धिहेत्वध्यासाक्षेपसमाधानभाष्याभ्यां प्रथमं वर्णयति—युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, जो जिसके ज्ञानसे हटनेवाले भ्रमका आश्रय होता है, वह उससे अभिन्न होता है, जैसे शुक्तिके ज्ञानसे नष्ट होनेवाले रजतभ्रमका आश्रय इदमंश शुक्तिसे अभिन्न है। इस प्रकार जीव और ब्रह्मके ऐक्यरूप विषयकी सिद्धिका हेतु अध्यास है। अतः विषय और प्रयोजनसे युक्त होनेके कारण शास्त्रका आरम्भ करना चाहिए ऐसा सिद्ध होता है।

पूर्वपक्षमें बन्ध सत्य है, इसलिए ज्ञानसे उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है, और मुक्ति अन्य उपायसे साध्य है यह फल है। ज्ञानसे ही मुक्ति होती है यह सिद्धान्त पक्षका फल है। पूर्वपक्ष और सिद्धान्त पक्षमें यही अन्तर है। इन सबको मनमें रखकर ब्रह्मसूत्रका भाष्य करनेकी इच्छासे भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य 'विचार करना चाहिए' यह जो जिज्ञासा पदका श्रौत अर्थ है वह तब तक नहीं बन सकता, जब तक कि विषय और प्रयोजन मालूम न हों, अतः 'अथातो०' इस सूत्रसे अर्थात्सूचित उपोद्घातरूप विषय एवं प्रयोजनका—उनकी सिद्धिके हेतु अध्यासके आक्षेप-भाष्य एवं समाधान-भाष्य द्वारा—पहले वर्णन करते हैं—"युष्मदस्मत्प्रत्यय-गोचरयोः" इत्यादिसे।

### रत्नप्रभा

एतेन सूत्रार्थास्पर्शित्वादध्यासग्रन्थो न भाष्यमिति निरस्तम्, आर्थिकार्थ-स्पर्शित्वात्।

यत्तु मङ्गलाचरणाभावादव्याख्येयमिदं भाष्यमिति, तन्न; "सुतरामितरेतर-भावानुपपत्तिः" इत्यन्तभाष्यरचनार्थं तदर्थस्य सर्वोपद्रवरहितस्य विज्ञानघनप्रत्य-गर्थस्य तत्त्वस्य स्मृतत्वात्। अतो निर्दोषत्वादिदं भाष्यं व्याख्येयम्।

लोके शुक्ताविदं रजतमिति भ्रमः सत्यरजते इदं रजतमिति अधिष्ठानसामान्या-रोप्यविशेषयोः ऐक्यप्रमाहितसंस्कारजन्यो दृष्ट इति। अत्रापि आत्मनि अना-त्माहङ्काराध्यासे पूर्वप्रमा वाच्या, सा च आत्मानात्मनोर्वास्तवैक्यमपेक्षते, नहि तदस्ति। तथाहि—आत्मानात्मानौ ऐक्यशून्यौ, परस्परैक्यायोग्यत्वात्, तमः-प्रकाशवत्, इति मत्वा हेतुभूतं विरोधं वस्तुतः प्रतीतितो व्यवहारतश्च साधयति—**युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति।**

### रत्नप्रभाका अनुवाद

इससे अध्यासग्रंथ सूत्रके अर्थसे सम्बन्ध न रखनेके कारण भाष्य नहीं है ऐसा कहनेवालोंका सन्देह जाता रहा, क्योंकि शब्दतः सूत्रार्थके साथ सम्बन्ध न होने पर भी अर्थतः सूत्रार्थका इससे सम्बन्ध है ही, इसलिए यह भाष्य है।

यहाँ कोई ऐसी शङ्का करे कि ग्रन्थ के आरम्भमें निर्विघ्न परिसमाप्तिके लिए और शिष्टाचारके परिपालनके लिए भाष्यकारको मङ्गलाचरण करना उचित था, सो नहीं किया, इसलिए भाष्य पर टीका करना योग्य नहीं है। यह शङ्का व्यर्थ है, क्योंकि भाष्यकारने 'सुतरामितरेतरभावानु-पपत्तिः' यहाँ तक भाष्य रचनेके लिए उसके अर्थभूत सर्वविघ्न-रहित, विज्ञान-स्वरूप, प्रत्यगात्म-रूप तत्त्वका स्मरण किया है, इसलिए मङ्गलाचरण है ही, अतः भाष्य निर्दोष है और इस पर टीका करना उचित है।

व्यवहार में हम देखते हैं कि प्रथम सत्य चाँदी में 'यह चाँदी है' ऐसी प्रमा[1] उत्पन्न होती है। इस प्रमासे मनमें जो संस्कार पड़ता है, उससे सीप और चाँदी दोनों में, समान चमक होनेसे, 'यह चाँदी है, ऐसा सीप में भ्रम उत्पन्न होता है। इसी प्रकार भ्रम उत्पन्न होनेके पहले सर्वत्र प्रमा होनी चाहिए। प्रस्तुत विषय—आत्मा में भी अनात्मा अहङ्कार आदिके अध्याससे पहले प्रमा कहनी चाहिए। इस प्रमाके कहनेके लिए आत्मा और अनात्माके वास्तविक ऐक्य-की आवश्यकता है। परन्तु, वास्तविक ऐक्य है नहीं, क्योंकि-'अन्धकार और प्रकाशके समान, परस्पर ऐक्यके अयोग्य होनेसे आत्मा और अनात्मा ऐक्यरहित हैं'—ऐसा अनुमान होता है। इस अनुमानमें हेतुभूत विरोधको स्वभाव, प्रतीति, और व्यवहारसे सिद्ध करते हैं 'युष्मदस्म-त्प्रत्यय०' इत्यादिसे।

---

(१) यथार्थ ज्ञान, चाँदीमें चाँदीका ज्ञान।

### रत्नप्रभा

न च "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" (पा० सू० ७।२।९८) इति सूत्रेण "प्रत्यये चोत्तरपदे च परतो युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमादेशौ स्तः" इति विधानात् "त्वदीयं मदीयं त्वत्पुत्रो मत्पुत्रः" इतिवत् "त्वन्मत्प्रत्ययगोचरयोः" इति स्यादिति वाच्यम्। "त्वमावेकवचने" (पा० सू० ७।२।९७) इत्येकवचनाधिकारात्। अत्र च युष्मदस्मत्पदयोः एकार्थवाचित्वाभावात्, अनात्मनां युष्मदर्थानां बहुत्वाद् अस्मदर्थचैतन्यस्याऽपि उपाधितो बहुत्वात्।

नन्वेवं सति कथमत्र भाष्ये विग्रहः? न च 'यूयमिति प्रत्ययो युष्मत्प्रत्ययः, वयमिति प्रत्ययोऽस्मत्प्रत्ययस्तद्गोचरयोः' इति विग्रह इति वाच्यम्, शब्दसाधुत्वेऽप्यर्थासाधुत्वात्, नहि अहङ्काराद्यनात्मनो यूयमिति प्रत्ययविषयत्वमस्तीति चेत्, न; गोचरपदस्य योग्यतापरत्वात्। चिदात्मा तावदस्मत्प्रत्यययोग्यः तत्प्रयुक्तसंशयादिनिवृत्तिफलभाक्त्वात्, 'न तावदयमेकान्तेन अविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वाद्' इति भाष्योक्तेश्च। यद्यप्यहङ्कारादिरपि तद्योग्यस्तथापि चिदात्मनः सकाशाद् अत्यन्तभेदसिद्ध्यर्थं युष्मत्प्रत्यययोग्य इत्युच्यते।

### रत्नप्रभाका अनुवाद

शङ्का—"प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" (प्रत्यय या उत्तर पद बादमें हो तो युष्मद्, अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भागके स्थानमें क्रमसे 'त्व' 'म' आदेश होते हैं) इस सूत्रसे जैसे 'त्वदीयम्' 'मदीयम्' त्वत्पुत्रः' मत्पुत्रः' प्रयोग होते हैं, वैसे ही यहाँ पर भी 'त्वन्मत्प्रत्ययगोचरयोः' ऐसा पाठ होना चाहिये।

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि 'त्वमावेकवचने' इस सूत्र से त्व और म आदेश एकवचन में ही होते हैं। यहाँ पर 'युष्मत्' 'अस्मत्' शब्द एकार्थवाची नहीं हैं, किन्तु अनेकार्थके वाचक हैं, क्योंकि 'युष्मत्' पदके अर्थ अनात्मा बहुत हैं। 'अस्मत्' पदके अर्थ आत्मा वस्तुतः एक होने पर भी उपाधि भेद से अनेक हैं।

शङ्का—भाष्य में उन पदों का विग्रह कैसा है? 'यूयमिति प्रत्ययः युष्मत्प्रत्ययः, वयमिति प्रत्ययः अस्मत्प्रत्ययः' ऐसा विग्रह तो नहीं कर सकते हैं, क्योंकि इसमें यद्यपि शब्दकी गलती तो नहीं है, किन्तु अर्थकी गलती रहती ही है, क्योंकि अहङ्कार आदि अनात्मा 'यूयम्' इस प्रत्ययके विषय नहीं होते हैं।

समाधान—यहाँ गोचर पद का अर्थ योग्यता है। चिदात्मा तो 'अस्मत्' इस प्रत्यय का योग्य ही है, क्योंकि उसके विषयमें होनेवाले संशय आदिकी निवृत्तिरूप फलका योग है। "आत्मा सर्वथा अविषय नहीं है, क्योंकि 'अस्मद्' इस प्रत्ययका विषय है" ऐसा भाष्यकार भी कहते हैं। यद्यपि अहङ्कार आदि भी 'अस्मद्' इस प्रत्ययके योग्य हैं, तो भी चिदात्मा से अत्यन्त भेद सिद्ध करने के लिए उसे 'युष्मद्' इस प्रत्ययके योग्य कहा है।

रत्नप्रभा

आश्रमश्रीचरणास्तु टीकायोजनायामेवमाहुः—"सम्बोध्यचेतनो युष्मत्पद-वाच्यः, अहङ्कारादिविशिष्टचेतनोऽस्मत्पदवाच्यः। तथा च युष्मदस्मदोः स्वार्थे प्रयुज्यमानयोरेव त्वमादेशनियमो, न लाक्षणिकयोः, "युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ" (पा० सू० ८।१।२०) इति सूत्रासाङ्गत्यप्रसङ्गात्। अत्र शब्दलक्षकयोरिव चिन्मात्रजडमात्रलक्षकयोरपि न त्वमादेशः, लक्षकत्वाविशेषाद्" इति।

यदि तयोः शब्दबोधकत्वे सत्येव त्वमादेशाभाव इत्यनेन सूत्रेण ज्ञापितम्, तदाऽस्मिन् भाष्ये युष्मत्पदेन युष्मच्छब्दजन्यप्रत्यययोग्यः परागर्थो लक्ष्यते, अस्मत्पदेन अस्मच्छब्दजन्यप्रत्यययोग्यः प्रत्यगात्मा। तथा च लक्ष्यतावच्छेदकतया शब्दोऽपि बोध्यते इति न त्वमादेशः। न च पराक्त्वप्रत्यक्त्वयोरेव लक्ष्यताव-

रत्नप्रभा का अनुवाद

आश्रमश्रीचरण टीकायोजनामें कहते हैं—"जिसको उद्देश्य करके बोलते हैं, वह चेतन 'युष्मत्' पदका अर्थ है एवं अहङ्कारादियुक्त चेतन 'अस्मत्' पदका अर्थ है। जहाँ पर 'युष्मत्' और 'अस्मत्' पदोंका इस प्रसिद्धार्थमें प्रयोग होता है, वहीं पर इन शब्दोंके मपर्यन्त भागमें क्रमसे 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं। लेकिन जहाँ इन पदोंका लक्षणा वृत्तिसे अर्थ किया जाता है, वहाँ 'त्व' और 'म' आदेश नहीं होते हैं। अन्यथा "युष्मदस्मदोः" (पदसे परे रहनेवाले पदके आदिमें न रहनेवाले षष्ठ्यादि विभक्तियोंसे युक्त 'युष्मत्' 'अस्मत्' शब्दोंके स्थानमें क्रमसे 'वां' तथा 'नौ' आदेश होते हैं) यह सूत्र असङ्गत हो जायगा। जैसे शब्दलक्षक 'युष्मत्' तथा 'अस्मत्' के स्थानमें 'त्व' और 'म' आदेश नहीं होते हैं, वैसे ही चिन्मात्र तथा जडमात्र लक्षकके स्थानमें भी आदेश नहीं होते हैं, क्योंकि दोनों स्थलोंमें लक्षकत्वरूप धर्म समान ही है।

यदि कोई कहे कि 'युष्मत्' एवं 'अस्मत्' शब्द जब शब्दके बोधक होते हैं, तभी उनके स्थानमें 'त्व' और 'म' आदेश नहीं होते हैं ऐसा सूत्रकारका अभिप्राय है तो इस भाष्यमें 'युष्मत्' पदसे युष्मत्शब्दजन्य प्रत्ययके योग्य बाह्य अर्थ लक्षित है और 'अस्मत्' पदसे अस्मत्-शब्दजन्य प्रत्ययके योग्य प्रत्यगात्मा लक्षित है, तब लक्ष्यतावच्छेदक शब्दके बोधक ये पद हो जायँगे इसलिए 'त्व' और 'म' आदेश नहीं होते हैं। यहां यदि कोई शङ्का करे कि 'लक्ष्यतावच्छेदक केवल बाह्य अर्थत्व एवं प्रत्यगात्मत्व मानेंगे, शब्दयोग्यत्वको नहीं मानेंगे, उसे माननेमें गौरव

(१) समाधानका तात्पर्य यह है कि लक्ष्यमें रहनेवाले धर्म (लक्ष्यमें विशेषणीभूत पदार्थ) को लक्ष्यतावच्छेदक कहते हैं। युष्मत् एवं अस्मत् पदोंका लक्ष्य जब क्रमशः युष्मत्-शब्दजन्यप्रत्यययोग्य बाह्य अर्थ और, अस्मत्-पदजन्यप्रत्यययोग्य प्रत्यगात्मा है तो जैसे तादृश अर्थत्व और प्रत्यगात्मत्व लक्ष्यताव-च्छेदक हैं, वैसे ही तादृशशब्दजन्यप्रत्यययोग्यत्व भी लक्ष्यतावच्छेदक है। उनमें शब्द भी अन्तर्गत है। इसलिए वे पद शब्दबोधक हैं। अतः उनके स्थानमें 'त्व' और 'म' आदेश नहीं होते हैं।

( रत्नप्रभा )

च्छेदकत्वम्, न शब्दयोग्यत्वांशस्य गौरवादिति वाच्यम्, पराक्प्रतीचोर्विरोध-स्फुरणार्थं विरुद्धशब्दयोग्यत्वस्याऽपि वक्तव्यत्वात्। अत एव इदमस्मत्प्रत्यय-गोचरयोरिति वक्तव्येऽपीदंशब्दोऽस्मदर्थे लोके वेदे च बहुशः "इमे वयमास्महे" "इमे विदेहाः·····अयमहमस्मि" इति च प्रयोगदर्शनात् नास्मच्छब्दविरोधीति मत्वा युष्मच्छब्दः प्रयुक्तः, इदंशब्दप्रयोगे विरोधास्फूर्तेः। एतेन चेतनवाचित्वा-दस्मच्छब्दः पूर्वं प्रयोक्तव्यः, "अभ्यर्हितं पूर्वम्" इति न्यायात्। "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" (पा० सू० १।२।७२) इति सूत्रेण विहित एकशेषश्च स्यादिति निरस्तम्, "युष्मदस्मदोः" इति सूत्र इव अत्रापि पूर्वनिपातैकशेषयोरप्राप्तेः, एकशेषे विवक्षितविरोधास्फूर्तेश्च।

वृद्धास्तु "युष्मदर्थादनात्मनो निष्कृष्य शुद्धस्य चिद्धातोरध्यारोपापवादन्यायेन ग्रहणं द्योतयितुमादौ युष्मद्ग्रहणम्" इत्याहुः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। यह नहीं हो सकता है, क्योंकि बाह्यार्थ और प्रत्यगात्माका विरोध दिखानेके लिए विरुद्धशब्दयोग्यत्व भी कहना पडेगा। 'यह' और 'हम' ऐसे प्रत्ययके योग्य ऐसा कहनेसे स्पष्ट विरोध जाननेमें नहीं आता, क्योंकि 'इदम्' शब्द व्यवहार और वेदमें बहुधा 'अस्मत्' शब्दके अर्थमें आता है। ये हम बैठते हैं, यह विदेह है···यह मैं हूँ इत्यादि प्रयोगोंमें 'यह' और 'हम' का समान अर्थमें साथ प्रयोग है। इन प्रयोगों द्वारा मालूम होता है कि 'इदम्' शब्द 'अस्मत्' शब्दका विरोधी नहीं है। इसलिए अत्यन्त भेद दिखलानेके लिए 'युष्मत्' शब्दका प्रयोग किया है।

शङ्का—'अस्मत्' शब्द चेतनवाची है, इसलिए 'पूज्यका पूर्व प्रयोग होता है' इस वार्तिकके अनुसार 'अस्मद्' शब्दका पूर्व प्रयोग करना उचित था अर्थात् भाष्यकारको 'अस्मद्युष्मत्प्रत्यय-गोचरयोः' ऐसा कहना चाहिये था, क्योंकि अस्मदर्थ चेतन होनेसे अभ्यर्हित (पूज्य) है, और युष्मदर्थ अचेतन होनेसे पूज्य नहीं है। एवं 'त्यदादीनि' (त्यद्, तद् आदि सर्वनाम शब्दोंके साथ अन्य किसी शब्दका प्रयोग हो, तो केवल त्यदादि शेष रह जाते हैं) इस सूत्रपर पठित 'त्यदादिषु यत्परं तच्छिष्यते' इस वचनसे जैसे 'स च अयं च इमौ' होता है, वैसे ही 'अस्मत्प्र-त्ययगोचरयोः' होना चाहिये।

समाधान—'युष्मदस्मदोरनादेशे' इस सूत्रमें जैसे 'युष्मत्' का प्रयोग 'अस्मद्' के पूर्व किया है, एवं एकशेष भी नहीं किया है, इसी प्रकार भाष्यकारने भी किया है। यदि एकशेष हो जाता तो पूर्वोक्त विरोधका भान भी नहीं होता।

वृद्ध टीकाकार कहते हैं कि 'युष्मत्' शब्दके अर्थ जो अध्यारोपित अनात्म पदार्थ हैं, उनसे

(१) 'इमे विदेहा यथेष्टं भुज्यन्तामयमहमस्मि दासभावे' इस वाक्यका एकदेश 'अयमहं' इस अंशको उदाहरण जानना चाहिए। (२) मिथ्या।

### रत्नप्रभा

तत्र युष्मदस्मत्पदाभ्यां पराक्प्रत्यक्त्वेन आत्मानात्मनोर्वस्तुतो विरोध उक्तः। प्रत्ययपदेन प्रतीतितो विरोध उक्तः। प्रतीयत इति प्रत्ययोऽहङ्कारादिरनात्मा दृश्यतया भाति, आत्मा तु प्रतीतित्वात् प्रत्ययः स्वप्रकाशतया भाति। गोचरपदेन व्यवहारतो विरोध उक्तः। युष्मदर्थः प्रत्यगात्मतिरस्कारेण कर्ताऽहमित्यादिव्यवहार-गोचरः, अस्मदर्थस्तु अनात्मप्रविलापेन "अहं ब्रह्म" इति व्यवहारगोचर इति त्रिधा विरोधः स्फुटीकृतः। युष्मच्च अस्मच्च युष्मदस्मदी, ते एव प्रत्ययौ च तौ गोचरौ चेति युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरौ तयोस्त्रिधा विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावोऽत्यन्ता-भेदस्तादात्म्यं वा तदनुपपत्तौ सिद्धायामित्यन्वयः। ऐक्यासम्भवेऽपि शुक्लो घट

### रत्नप्रभाका अनुवाद

अध्यारोपापवादन्याय[1] द्वारा शुद्ध चैतन्यको पृथक् कर ग्रहण करना चाहिए, इसे सूचित करनेके लिए ही 'अस्मत्' के प्रयोगसे पूर्व 'युष्मत्' का प्रयोग किया है।

'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः' पदमें भाष्यकारने आत्मा और अनात्मामें तीन तरहका विरोध प्रकट किया है। प्रथम तो 'तुम' और 'हम' शब्दों द्वारा स्वरूपसे विरोध बतलाया है, क्योंकि युष्मत्का अर्थ बाह्यवस्तु है और अस्मत्का अर्थ प्रत्यगात्मा है। दूसरा विरोध प्रत्यय पदसे सूचित किया है। क्योंकि जिसका ज्ञान हो वह प्रत्यय है, इस कर्मव्युत्पत्तिसे सिद्ध 'प्रत्यय' शब्दसे अहङ्कार आदि अनात्माका दृश्यरूपसे भान होता है। 'प्रत्यय' शब्दका दूसरा अर्थ प्रतीति अर्थात् ज्ञान है। आत्मा प्रतीतिरूप है और उसका भान स्वप्रकाश[2]रूपसे होता है। इस प्रकार ज्ञानसे भी आत्मा और अनात्मामें विरोध है। 'गोचर' पदके द्वारा तीसरा विरोध व्यवहारसे है ऐसा प्रकट किया है। 'युष्मत्' शब्दका वाच्य अनात्मा प्रत्यगात्माका तिरस्कार कर 'मैं कर्ता भोक्ता हूँ' ऐसे व्यवहारके योग्य है और 'अस्मद्' शब्दका वाच्य चिदात्मा अनात्माका तिरस्कार कर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे व्यवहारके योग्य है। इस प्रकार आत्मा और अनात्मामें स्वरूपसे, प्रतीतिसे और व्यवहार-से विरोध स्पष्ट है। 'युष्मद्' और 'अस्मद्' का द्वन्द्व समास करके उसका 'प्रत्यय' पदके साथ कर्मधारय समास करना चाहिए। इस प्रकार तीन तरहसे विरुद्ध स्वभाववाले आत्मा और अनात्माका अन्योन्यभाव अर्थात् अत्यन्त अभेद अथवा तादात्म्यकी अनुपपत्तिके सिद्ध होने पर ऐसा अन्वय है। आत्मा और अनात्मामें ऐक्य सम्भव नहीं है, तो भी 'शुक्लो घटः' (सफेद घड़ा) यहाँ पर शुक्ल गुण है और घट द्रव्य[3] है अर्थात् शुक्ल और घट ये भिन्न पदार्थ हैं, परन्तु शुक्लगुण घटद्रव्यमें

(१) 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।' (अध्यारोप—सृष्टिप्रकरण और अपवाद—'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यादि निषेध द्वारा प्रपञ्चसे रहित ब्रह्मका उपदेश किया जाता है) इस न्याय द्वारा।

(२) अपने आपमें ही जिसका ज्ञान हो जो स्वयं प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप हो।

(३) गुण का आश्रय। जिसमें गुण और क्रिया रहें। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशाएँ, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं।

## रत्नप्रभा

इतिवत् तादात्म्यं किं न स्यादित्यत आह—**विषयविषयिणोरिति** । चिज्जडयोः विषयविषयित्वाद् दीपघटयोरिव न तादात्म्यमिति भावः । युष्मदस्मदी पराक्प्रत्यग्वस्तुनी, ते एव प्रत्ययश्च गोचरश्चेति वा विग्रहः । अत्र प्रत्ययगोचरपदाभ्यां आत्मानात्मनोः प्रत्यक्पराग्भावे चिदचित्त्वं हेतुरुक्तः । तत्र हेतुमाह—**विषयविषयिणोरिति** । अनात्मनो ग्राह्यत्वादचित्त्वम्, आत्मनस्तु ग्राहकत्वाच्चित्त्वं वाच्यम् । अचित्त्वे स्वस्य स्वेन ग्रहस्य कर्मकर्तृत्वविरोधेन असम्भवात् अप्रत्यक्षत्वापत्तेरित्यर्थः । यथेष्टं वा हेतुहेतुमद्भावः ।

ननु एवमात्मानात्मनोः पराक्प्रत्यक्त्वेन चिदचित्त्वेन ग्राह्यग्राहकत्वेन च विरोधात्

## रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इसलिए शुक्ल घटात्मक है । जैसे इन दोनों पदार्थोंमें ऐक्य नहीं है, किन्तु तादात्म्य है, वैसे ही आत्मा और अनात्मामें भी ऐक्य नहीं, किन्तु तादात्म्य है, ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो भाष्यकार कहते हैं—"दिषयविषयिणोः" इत्यादि । अर्थात् अनात्मा जड़ है, इसलिए विषय है । आत्मा चैतन्य-रूप है, इसलिए विषयी है । जैसे दीपमें और घटमें तादात्म्य नहीं हो सकता, इसी प्रकार चित् ( आत्मा ) और जड़ ( अनात्मा ) का परस्पर तादात्म्य नहीं बन सकता । अथवा 'युष्मत्' पराक् अर्थात् बाह्य वस्तु 'अस्मत्' प्रत्यक् अर्थात् आन्तर वस्तु वे ही हुए प्रत्यय और गोचर ऐसा विग्रह है । यहाँ प्रत्यय और गोचर इन पदोंसे आत्माके प्रत्यग्भावमें चित्त्व ( चैतन्य ) और अनात्माके पराग्भावमें अचित्त्व ( जडता ) कारण है, ऐसा कहा गया है, अतः आत्मा चेतन है, अनात्मा जड़ है, इसका कारण बतलाते हैं—"विषय०" इत्यादिसे । अनात्मा ग्राह्य है, इसलिए जड़ है; आत्मा ग्राहक है, इसलिए चेतन है । यदि कोई शङ्का करे कि 'आत्मा जड़ क्यों नहीं है ? आत्माका गुण ज्ञान है, वह जैसे घटादि विषयका ग्रहण करता है, वैसे ही स्वाश्रय आत्माका भी ग्रहण करेगा ? उसका उत्तर यह है कि एकही वस्तु ग्राहक और ग्राह्य नहीं हो सकती, अपना ग्रहण अपनेसे नहीं हो सकता है । एक वस्तु में कर्मत्व, कर्तृत्वरूप विरुद्ध दो धर्म नहीं रह सकते हैं अर्थात् जो ग्रहण-कर्ता है वह ग्रहणका कर्म (विषय) नहीं हो सकता है । अतः आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होगा । आत्मा का प्रत्यक्ष होता है अतः आत्मा जड़ नहीं है, चेतन है । प्रत्यक्त्वका चित्त्व, चित्त्वका विषयित्व एवं पराक्त्वका अचित्त्व, अचित्त्वका विषयत्व कारण है, ऐसा पहले बतलाया गया है । प्रत्यक्त्व आदि तीन एवं पराक्त्व आदि तीन समन्याप्त हैं, अतः यथेष्ट कार्यकारणभाव भी कह सकते हैं अर्थात् चित्त्वका प्रत्यक्त्व, विषयित्वका चित्त्व एवं अचित्त्व का पराक्त्व, विषयत्वका अचित्त्व कारण है इत्यादि रूपसे भी कार्यकारण भाव कह सकते हैं ।

शङ्का—यह तो ठीक है कि आत्मा प्रत्यक्[1], ग्राहक और चिद्रूप है, और अनात्मा पराक्[2], ग्राह्य[3] और जड़रूप है, इसलिए अन्धकार और प्रकाशके समान दोनोंमें विरोध होनेसे ऐक्य

---

( १ ) आन्तर. । ( २ ) बाहर । ( ३ ) ग्रहण करने योग्य, ज्ञेय ।

### रत्नप्रभा

तमःप्रकाशवदैक्यस्य तादात्म्यस्य वानुपपत्तौ सत्यां तत्प्रमित्यभावेऽ
चैतन्यसुखजाड्यदुःखादीनां विनिमयेन अध्यासोऽस्तु इत्यत आह—तद्धर्मा
तयोरात्मानात्मनोर्धर्मास्तेषामपि इतरेतरभावानुपपत्तिः—इतरत्र धर्म्यन्त
धर्माणां भावः संसर्गस्तस्य अनुपपत्तिरित्यर्थः। नहि धर्मिणोः संसर्गं
विनिमयोऽस्ति। स्फटिके लोहितवस्तुसान्निध्यात् लौहित्यधर्मसंसर्गः।
धर्मिणः केनाऽप्यसंसर्गाद्धर्मिसंसर्गपूर्वको धर्मसंसर्गः कुतस्त्य इत्यभिप्रेत्य
रामिति।

ननु आत्मानात्मनोस्तादात्म्यस्य तद्धर्मसंसर्गस्य चाभावेऽप्यध्यासः
त्यत आह—**इत्यत इति**। इति—उक्तरीत्या तादात्म्याद्यभावेन तत्प्रमाय
अतः—प्रमाजन्यसंस्कारस्य आध्यासहेतोरभावाद्, अध्यासो मिथ्येति भवि
न्वयः। मिथ्याशब्दो द्व्यर्थः—अपह्नववचनोऽनिर्वचनीयतावचनश्चेति
अपह्नवार्थः। ननु कुत्र कस्याध्यासोऽपह्नूयते इत्याशंक्य आत्मनि अ

### रत्नप्रभाका अनुवाद

अथवा तादात्म्य नहीं हो सकता एवं तादात्म्यका यथार्थ ज्ञान न होनेसे अध्यास भी
परन्तु चैतन्य, सुख, जाड्य, दुःख आदि दोनोंके धर्मोंका विनिमयरूपसे अध्यास

इस शङ्का पर भगवान् भाष्यकार समाधान करते हैं—"तद्धर्माणाम्" इत्यादिसे।
भी अन्योन्यभाव अत्यन्त अयुक्त है, यह सिद्ध ही है। 'आशय यह है कि दूसरे
धर्मोंका संसर्ग नहीं बन सकता। धर्मियोंके संसर्गके विना धर्मोंका परस्पर संसर्ग
स्फटिक और रक्त पदार्थ, इन दोनों धर्मियोंका जब संसर्ग हो, तभी स्फटिकमें
का धर्म रक्तता आ सकती है, असङ्ग आत्मारूप धर्मीका किसी भी धर्मीके साथ
है, तो धर्म का संसर्ग कहां से हो? इसी कारण "सुतराम्" ऐसा कहा है।

शङ्का—आत्मा एवं अनात्माके तादात्म्यका तथा उनके धर्मोंके संसर्गका अ
भी अध्यास क्यों नहीं हो? अर्थात् वास्तविक तादात्म्यका अभाव होने पर
तादात्म्य मानकर अध्यास हो ही सकता है शङ्का करनेवालेका यह अभिप्राय है।

समाधान—पूर्वोक्त रीतिसे आत्मा और अनात्मामें तादात्म्य नहीं है, इस
की प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञानके न होनेसे अध्यासका हेतु प्रमाजन्य संस्कार भी नहीं
'अध्यास युक्त नहीं है' यह कहना ठीक है ऐसा अन्वय है। 'मिथ्या, शब्द के दो
( १ ) अपह्नव (निषेध) और ( २ ) अनिर्वचनीयता। यहां अपह्नव अर्थ विवक्षित
किसके अध्यासका अपह्नव किया है ऐसी शङ्का पर "अस्मत्प्रत्ययगोचर" इत्यादि
हैं कि आत्मामें अनात्मा और उसके धर्मोंके, और इसी प्रकार अनात्मामें आत्म

( १ ) एक धर्मीके धर्मका अन्य धर्मीमें भान होना।

रत्नप्रभा

णाम् अनात्मनि आत्मतद्धर्माणामध्यासो निरस्यत इत्याह—**अस्मत्प्रत्ययगोचर इत्यादिना**। अहमिति प्रत्यययोग्यत्वं बुद्ध्यादेरप्यस्तीति मत्वा तत आत्मानं विवेचयति—**विषयिणीति**। बुद्ध्यादिसाक्षिणीत्यर्थः। साक्षित्वे हेतुः—**चिदात्मके इति**। अहमिति भासमाने चिदंशात्मनीत्यर्थः। **युष्मत्प्रत्ययगोचरस्येति**। त्वंकारयोग्यस्य इदमर्थस्येति यावत्। नन्वहमिति भासमानबुद्ध्यादेः कथमिदर्थत्वमित्यत आह—**विषयस्येति**। साक्षिभास्यस्येत्यर्थः। साक्षिभास्यत्वरूपलक्षण योगाद् बुद्ध्यादेर्घटादिवदिदमर्थत्वं न प्रतिभासतः इति भावः। अथवा यदात्मनो मुख्यं सर्वान्तरत्वरूपं प्रत्यक्त्वं प्रतीतित्वं ब्रह्मास्मीति व्यवहारगोचरत्वं चोक्तं तदसिद्धम्, अहमिति प्रतीयमानत्वाद्, अहंकारवत्, इत्याशंक्याह—**अस्मत्प्रत्ययगोचर इति**। अस्मच्चासौ प्रत्ययश्चासौ गोचरश्च तस्मिन्नित्यर्थः। अहंवृत्तिव्यंग्यस्फुरणत्वं स्फुरणविषयत्वं वा हेतुः। आद्ये दृष्टान्ते हेत्वसिद्धिः, द्वितीये तु पक्षे तदसिद्धिरित्यात्मनो मुख्यं प्रत्यक्त्वादि युक्तमिति भावः। ननु

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मोंके, अध्यासका अपह्नव किया है। बुद्धि आदि भी 'अहम्', ऐसे प्रत्ययके योग्य हैं ऐसा मानकर उनसे आत्माका भेद दिखानेके लिए "विषयिणि" कहा है। विषयी अर्थात् बुद्धि आदिका साक्षी। आत्मा बुद्धि आदिका साक्षी है इसके हेतु दिखलाया है "चिदात्मक" पदसे। चिदात्मके अर्थात् 'मैं' ऐसा भासनेवाले चिदात्मामें, "युष्मत्प्रत्ययगोचर" 'तू' ऐसे प्रत्ययके योग्य अर्थात् 'यह' ऐसे भासनेवाले अनात्म पदार्थ। 'मैं' इस प्रत्ययसे भासित होनेवाले बुद्धि आदि 'यह' इस प्रत्ययके योग्य कैसे हो सकते हैं? इस शङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं—"विषयस्य" विषय—साक्षिभास्य। 'यह' इस ज्ञानकी विषयता घट आदिकी तरह बुद्धि आदिमें मालूम नहीं होती है परन्तु, साक्षिभास्यत्व लक्षण होनेके कारण इदमर्थत्व उनमें भी है। अथवा आत्माका जो सर्वान्तरत्वरूप प्रत्यक्त्व है वह मुख्य है, आत्मा प्रतीतिस्वरूप है, और 'मैं ब्रह्म हूँ' इस व्यवहारके योग्य है ऐसा जो पहले कहा गया है, वह असिद्ध है, क्योंकि अहङ्कारकी तरह आत्मा भी 'अहम्' इस प्रतीतिका विषय है। इस शङ्का पर कहते हैं—"अस्मत्प्रत्ययगोचर" इत्यादि। यहाँ अस्मत्, प्रत्यय और गोचर इन तीनों पदोंके कर्मधारय समाससे 'अस्मत्प्रत्ययगोचर' शब्द बना है और यह उसका सप्तमी विभक्तिका रूप है। (हेत्वर्थमें दो विकल्प करके उक्त अनुमानका खण्डन करते हैं) 'अहम्' इस वृत्तिसे व्यक्त होनेवाला स्फुरणत्व हेतु है या स्फुरणविषयत्व हेतु है? प्रथम पक्षमें दृष्टान्तमें हेतु नहीं रहेगा, क्योंकि अहंकार स्फुरणरूप नहीं है। द्वितीय कल्पमें पक्षमें हेतु नहीं रहेगा, क्योंकि पक्ष आत्मा है, वह स्फुरण रूप ही है, स्फुरणका विषय नहीं है। दोनों अर्थोंके निर्दुष्ट न होनेसे हेतु नहीं बन सकता। हेतुके अभावमें अनुमान नहीं हो सकता, इसलिये आत्माका मुख्य प्रत्यक्त्व आदि सिद्ध है ऐसा अभिप्राय है। यदि कोई कहे कि आत्माका विषयित्व असिद्ध है, अहंकारकी तरह, क्योंकि

रत्नप्रभा

यदात्मानो विषयित्वं तदसिद्धम् "अनुभवामि" इति शब्दवत्त्वाद् अहंकारवदित्यत आह—**विषयिणीति** । वाच्यत्वं लक्ष्यत्वं वा हेतुः ? न आद्यः, पक्षे तदसिद्धेः । न अन्त्यः, दृष्टान्ते तद्वैकल्यादिति भावः । "देहं जानामि" इति देहाहङ्कारयोर्विषयविषयित्वेऽपि मनुष्योऽहमित्यभेदाध्यासवद् आत्माहंकारयोरप्यभेदाध्यासः स्यादित्यत आह—**चिदात्मके इति** । तयोर्जाड्याल्पत्वाभ्यां सादृश्याद्ध्यासेऽपि चिदात्मनि अनवच्छिन्ने जडाल्पाहङ्कारादेर्न अध्यास इति भावः । "अहम्" इति भास्यत्वात् आत्मवदहङ्कारस्यापि प्रत्यक्त्वादिकं मुख्यमेव, ततः पूर्वोक्तपराक्त्वाद्यसिद्धिरित्याशंक्याह—**युष्मदिति** । अहंवृत्तिभास्यत्वमहंकारे नास्ति, कर्तृकर्मत्वविरोधात्, चिद्भास्यत्वं चिदात्मनि नास्ति इति हेत्वसिद्धिः । अतो बुद्ध्यादेः प्रतिभासतः प्रत्यक्त्वेऽपि पराक्त्वादिकं मुख्यमेवेति भावः ।

युष्मत् पराक् तच्चासौ प्रतीयते इति प्रत्ययश्चासौ कर्तृत्वादिव्यहारगोचरश्च तस्येति विग्रहः । तस्य हेयत्वार्थमाह—**विषयस्येति** । षिञ् बन्धने । विसिनोति बध्नाति इति विषयस्तस्येत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा अभिमान उसमें देखा जाता है। इस शङ्काका निरास करनेके लिए कहा—"विषयिणि" । शङ्का करनेवालेसे पूछना चाहिए कि हेतु अनुभवपदवाच्यत्व है या लक्ष्यत्व । पहला पक्ष सङ्गत नहीं हो सकता है, क्योंकि पक्षमें हेतुकी स्वरूपासिद्धि हो जायगी । पक्ष आत्मा है, वह अनुभवपदवाच्य नहीं है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्तमें हेतु असिद्ध हो जायगा । दृष्टान्त अहङ्कार है वह (अनुभवपद) लक्ष्य नहीं है। यद्यपि 'शरीरको जानता हूँ' इस प्रतीतिमें शरीर विषय है और अहङ्कार विषयी है तो भी "मैं मनुष्य हूँ" इस अभेदाध्यासके समान आत्मा और अहंकारका भी अभेदाध्यास हो सकता है, इस शङ्काको हटानेके लिए कहते हैं—"चिदात्मके" । शरीर तथा अहङ्कार जड़ और अल्प हैं, इसलिये उनका अभेदाध्यास हो भी सकता है, परन्तु अपरिच्छिन्न चिदात्मामें अल्प और जड़ अहङ्कारका अध्यास नहीं हो सकता है । आत्माकी तरह अहङ्कार 'मैं' ऐसा भासता है, इसलिए अहङ्कारमें भी प्रत्यक्त्व आदि मुख्य ही हैं, अतः पूर्वोक्त पराक्त्व आदिकी असिद्धि होती है, ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं—"युष्मत्" इत्यादि । अहंवृत्तिभास्यत्व अहङ्कारमें नहीं है अर्थात् अहङ्कार 'अहं' इस वृत्तिसे नहीं भासता है, क्योंकि कर्तृत्व और कर्मत्वका विरोध है (एक ही वस्तु कर्ता और कर्म नहीं हो सकती है)। चिद्भास्यत्व चिदात्मामें नहीं है अतः हेतु असिद्ध है। इसलिए बुद्धि आदिमें प्रत्यक्त्वका भान होनेपर भी पराक्त्व आदि ही मुख्य है।

युष्मत्—पराक्—बाह्य पदार्थ, प्रतीत होता है, इसलिए प्रत्यय, और कर्तृत्व आदि व्यवहारका गोचर, इन पदोंके कर्मधारय समाससे 'युष्मत्प्रत्ययगोचर' बना है। उसका युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य षष्ठी विभक्तिका रूप है। वह हेय ( त्याज्य ) है इस बातको दिखलाते है—

रत्नप्रभा

आत्मनि अनात्मतद्धर्माध्यासो मिथ्या भवतु, अनात्मनि आत्मतद्धर्माध्यासः किं न स्यात् ? "अहं स्फुरामि, सुखी" इत्याद्यनुभवादित्याशंक्याह—तद्विपर्ययेणेति । तस्मादनात्मनो विपर्ययो विरुद्धस्वभावश्चैतन्यम्, इत्थम्भावे तृतीया । चैतन्यात्मना विषयिणस्तद्धर्माणां च योऽहङ्कारादौ विषयेऽध्यासः स मिथ्येति—नास्तीति भवितुं युक्तम्, अध्याससामग्र्यभावात् । नहि अत्र पूर्वप्रमाहितसंस्कारः सादृश्यमज्ञानं वाऽस्ति । निरवयवनिर्गुणस्वप्रकाशात्मनि गुणावयवसादृश्यस्य च अज्ञानस्य चायोगात् ।

नन्वात्मनो निर्गुणत्वे 'तद्धर्माणाम्' इति भाष्यं कथमिति चेद्, उच्यते—बुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तं चैतन्यं ज्ञानम्, विषयाभेदेन अभिव्यक्तं स्फुरणम्, शुभकर्मजन्यवृत्तिव्यक्तमानन्द इत्येवं वृत्त्युपाधिकृतभेदात् ज्ञानादीनामात्मधर्मत्वव्यपदेशः । तदुक्तं टीकायाम्—"आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिव अवभासन्ते" इति । अतो निर्गुणब्रह्मात्मत्वमते "अहङ्करोमि" इति प्रतीतेरर्थस्य च अध्यासत्वायोगात् प्रमात्वम्, सत्यत्वञ्च "अहं नरः" इति सामानाधि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"विषयस्य" पदसे । विषय शब्दमें षिञ् धातु है। उसका अर्थ है बन्धन । विशेष रूपसे अर्थात् दृढ़तासे बन्धन करता है, इसलिए उसका नाम विषय है ।

कोई कहे कि आत्मामें अनात्मा और उसके धर्मोंका अध्यास भले ही हो, परन्तु अनात्मामें आत्मा और उसके धर्मोंका अध्यास क्यों नहीं होता ? क्योंकि 'मैं भासता हूँ' 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि अनुभव होता है, इस शङ्का का निवारण करनेके लिए कहते हैं—"तद्विपर्ययेण" अर्थात् अनात्मासे चैतन्य विरुद्ध-स्वभाव है । यहां पर तृतीया अभेदमें है । चैतन्यरूपसे विषयी ( आत्मा ) और उसके धर्मोंका अहंकार आदि विषयों में अध्यास नहीं बन सकता ऐसा कहना युक्त है, क्योंकि अध्यासकी सामग्री ही नहीं है । यहां पूर्व प्रमाजन्य संस्कार, सादृश्य और अज्ञान नहीं हैं, क्योंकि आत्मा अवयवरहित, निर्गुण और स्वप्रकाश है, इसलिए आत्मामें गुण या अवयव द्वारा सादृश्य या अज्ञानका योग नहीं है ।

कोई कहे कि आत्मा निर्गुण है तो 'तद्धर्माणाम्' यह कैसे संगत होगा ? इसका उत्तर यह है कि बुद्धिवृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्य ज्ञान, विषयके अभेदसे अभिव्यक्त चैतन्य स्फुरण और शुभ-कर्मजन्य वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्य आनन्द है । इस प्रकार वृत्तिरूप उपाधिके भेदसे ज्ञान आदि आत्माके धर्म कहे जाते हैं। आनन्द, विषयका अनुभव और नित्यत्व ये तीन आत्माके धर्म चैतन्यसे भिन्न नहीं हैं, तो भी भिन्न-से भासते हैं, ऐसा टीकामें कहा है। जिनके मतमें निर्गुण ब्रह्म ही आत्मा है, उनके मतमें 'मैं करता हूँ' इस प्रतीतिका और उसके अर्थका अध्यासत्व नहीं हो सकता है । इसलिए अगत्या उस मतको तिलाञ्जलि देकर न्यायमतानुसार वह प्रतीति प्रमा है, उसका अर्थ अबाधित है और 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी सामानाधिकरण्यकी प्रतीति गौण है, यह मानना पड़ेगा । पूर्वपक्षीका तात्पर्य यह कि बन्ध सत्य है, इसलिए ज्ञानसे उसका

भाष्य

युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां च अध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषये अध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथापि अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मांश्च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन,

भाष्यका अनुवाद

उसमें 'तुम' ऐसी प्रतीति के योग्य जो विषय (देह, इन्द्रिय आदि जड़ अनात्म वस्तु) है, उसका एवं उसके धर्मों का अध्यास और इसके विपरीत, विषयमें विषयी और उसके धर्मोंका अध्यास नहीं बन सकता है, तो भी जाड्य, चैतन्य आदि धर्म और अहङ्कार एवं आत्मरूपी धर्मी, जो अत्यन्त भिन्न हैं, इनका परस्पर भेद न समझ

रत्नप्रभा

करण्यस्य गौणत्वमिति मतमास्थेयम्। तथा च बन्धस्य सत्यतया ज्ञानात् निवृत्तिरूपफलासम्भवाद् बद्धमुक्तयोः जीवब्रह्मणोः ऐक्यायोगेन विषयासम्भवात् शास्त्रं न आरम्भणीयमिति पूर्वपक्षभाष्यतात्पर्य्यम्।

युक्तग्रहणात् पूर्वपक्षस्य दुर्बलत्वं सूचयति। तथाहि—किमध्यासस्य नास्तित्वमयुक्तत्वाद्, अभानाद् वा, कारणाभावाद् वा? आद्य इष्ट इत्याह—**तथापीति**। एतदनुरोधादादौ यद्यपीति पठितव्यम्। अध्यासस्य असङ्गस्वप्रकाशात्मनि अयुक्तत्वमलङ्कार इति भावः। न द्वितीय इत्याह—**अयमिति**। "अज्ञः कर्ता मनुष्योऽहम्" इति प्रत्यक्षानुभवादध्यासस्य अभानमसिद्धमित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

नाश नहीं हो सकता, अतः नाशरूप प्रयोजनका अभाव है। बद्ध जीवका और मुक्त ब्रह्मका ऐक्य नहीं हो सकता, इसलिए विषयकी भी सम्भावना नहीं है। विषय और प्रयोजन दोनोंके अभावसे वेदान्त-मीमांसाशास्त्र अनारम्भणीय है।

यह पूर्वपक्ष दुर्बल है, इसे भाष्यकार "युक्त" शब्द से प्रकट करते हैं। पूर्वपक्षीसे पूछना चाहिए कि अध्यासके न होनेका क्या कारण है? क्या अयुक्त है इसलिए? अथवा उसका भान नहीं होता है इसलिए? अथवा उसके कारणका अभाव है इसलिए? प्रथम पक्ष तो हमको इष्ट ही है, इस बातको "तथापि" पदसे दिखलाते हैं। "तथापि" पदके अनुरोधसे प्रारम्भमें 'यद्यपि' पद जोड़ना चाहिए। असङ्ग स्वप्रकाश आत्मामें अध्यास अयुक्त है, यह कथन अलङ्काररूप है। दूसरा पक्ष ठीक नहीं है, यह दिखलानेके लिए लोकव्यवहारमें "अयम्" विशेषण दिया है। मैं अज्ञ, कर्ता, मनुष्य हूँ ऐसा प्रत्यक्ष-अनुभव होनेसे यह सिद्ध नहीं होता कि अध्यासका भान नहीं होता है, क्योंकि 'मैं कर्ता हूँ' इत्यादि अनुभवोंमें 'मैं' अर्थात् आत्मामें अज्ञत्व, कर्तृत्व और मनुष्यत्व आदि अनात्माका भान ही सिद्ध होता है।

(१) अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिरूप मोक्ष।

### रत्नप्रभा

न चेदं प्रत्यक्षं कर्तृत्वादौ प्रमेति वाच्यम् । अपौरुषेयतया निर्दोषेण उपक्रमादिलिङ्गावधृततात्पर्येण च "तत्त्वमसि" (छा० ६।८।७) इत्यादिवाक्येन अकर्तृत्वब्रह्मत्वबोधनेन अस्य भ्रमत्वनिश्चयात् । न च ज्येष्ठप्रत्यक्षविरोधाद् आगमज्ञानस्यैव बाध इति वाच्यम्, देहात्मवादप्रसङ्गात् । "मनुष्योऽहम्" इति प्रत्यक्षविरोधेन "अथायमशरीरः" (बृ० ४।४।७) इत्यादिश्रुत्या देहादन्यात्मासिद्धेः । तस्मात् "इदं रजतम्" इतिवत् सामानाधिकरण्यप्रत्यक्षस्य भ्रमत्वशङ्काकलङ्कितस्य न आगमात् प्राबल्यमित्यास्थेयम् । किञ्च, ज्येष्ठत्वं पूर्वभावित्वं वा, आगमज्ञानं प्रत्युपजीव्यत्वं वा ? आद्ये न प्राबल्यम्, ज्येष्ठस्यापि रजतभ्रमस्य पश्चाद्भाविना शुक्तिज्ञानेन

### रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि कोई कहे कि आत्मामें कर्तृत्व आदिका अध्यास नहीं है, किन्तु प्रमा है, अर्थात् कर्तृत्व आदि धर्म आत्माके न होते हुए उसके माने जाते हों, ऐसी बात नहीं है, किन्तु यथार्थ रीतिसे ये धर्म आत्माके हैं, इसलिए कर्तृत्व आदि धर्मोंका यथार्थ ज्ञान है । यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उपक्रम आदि लिङ्गोंसे जिनके तात्पर्यका निश्चय किया गया है एवं अपौरुषेय होनेके कारण निर्दोष 'तत्त्वमसि' आदि श्रुति-वाक्योंसे आत्मामें कर्तृत्व आदि धर्म-संसर्ग रहित ब्रह्मके ऐक्यका बोध होता है, इसलिए 'आत्मा कर्ता है' यह प्रमा नहीं, किन्तु भ्रम है । कोई यह शङ्का करे कि प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ है, अतः यदि इसके साथ श्रुति-वाक्यका विरोध हो तो श्रुतिवाक्यका बाध होना चाहिए, यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'मनुष्योऽहम्' ( मैं मनुष्य हूँ ) इस प्रत्यक्ष प्रमाणसे देह आत्मा है, ऐसा ज्ञान होता है और इस प्रत्यक्ष प्रमाणको 'अथायमशरीरः' ( और यह अशरीर है ) इस श्रुति-वाक्यसे बलवत्तर मानें तो देहसे आत्मा भिन्न है यह बात श्रुति-वाक्यसे सिद्ध न होगी, किन्तु देह ही आत्मा है, इस देहात्मवादी चार्वाकके मतकी पुष्टि होगी । इसलिए जैसे 'इदं रजतम्' ( सीपको 'रजत' समझना ) भ्रम है, वैसे ही 'अज्ञः कर्ता, मनुष्योऽहम्' ( मैं अज्ञ, कर्ता, मनुष्य हूँ ) यह सामानाधिकरण्यवाला प्रत्यक्ष भी भ्रम ही है, इसलिए श्रुति-वाक्यसे बलवान् नहीं है । शंका करनेवालेसे यह भी पूछना चाहिए कि प्रत्यक्ष प्रमाण श्रुति-वाक्यसे ज्येष्ठ है—यहाँ पर ज्येष्ठ शब्दका अर्थ पूर्वभावी है ? अथवा आगमज्ञानके प्रति कारण होना ? 'पूर्वभावी' अर्थ करने पर प्रत्यक्षज्ञान आगमज्ञानसे अधिक बलवान् नहीं ठहरता, क्योंकि पूर्वमें होनेवाला ज्ञान पश्चात् होनेवाले ज्ञानसे बलवान् हो, ऐसा नियम नहीं है । पहले सीपमें चाँदीका भ्रम होता है, इस भ्रमका 'इयं शुक्तिः' इस सीपकी प्रमासे बाध हो जाता है । अर्थात् जैसे यहाँ पर पूर्वभावी चाँदीका ज्ञान भ्रम है, उस भ्रमज्ञानका पश्चाद्भावी सीपके ज्ञानसे बाध हो जाता है, वैसे ही 'अज्ञः, कर्ता, मनुष्योऽहम्' आत्मामें कर्तृत्व आदिका जो यह प्रत्यक्षज्ञान होता है, वह ज्येष्ठ अर्थात् पूर्वभावी होने पर भी

( १ ) अभेदसे अन्वयका बोधकत्व । जैसे—'नीलो घटः' (नीला घट) यहां पर नील पदार्थ और घट पदार्थका परस्पर अभेद सम्बन्धसे अन्वय है ।

रत्नप्रभा

बाधदर्शनात् । न द्वितीयः, आगमज्ञानोत्पत्तौ प्रत्यक्षादिमूलवृद्धव्यवहारे संगतिग्रहद्वारा, शब्दोपलब्धिद्वारा च प्रत्यक्षादेः व्यावहारिकप्रामाण्यस्य उपजीव्यत्वेऽपि तात्त्विकप्रामाण्यस्य अनपेक्षितत्वाद्, अनपेक्षितांशस्य आगमेन बाधसंभवादिति ।

यत्तु क्षणिकयागस्य श्रुतिबलात् कालान्तरभाविफलहेतुत्ववत् "तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः" (मु० ३।२।४) इति श्रुतिबलात् सत्यस्यापि ज्ञानाद् निवृत्तिसम्भवाद्ध्यासवर्णनं व्यर्थमिति, तन्न, ज्ञानमात्रनिवर्त्यस्य क्वापि सत्यत्वादर्शनात्, सत्यस्य चात्मनो निवृत्त्यदर्शनाच्च; अयोग्यतानिश्चये सति सत्यबन्धस्य ज्ञानात् निवृत्तिश्रुतेर्बोधकत्वायोगात् । न च सेतुदर्शनात् सत्यस्य पापस्य नाशदर्शनाद् न अयोग्यतानिश्चय इति वाच्यम् , तस्य श्रद्धानियमादिसापेक्षज्ञाननाश्यत्वात् । बन्धस्य च "नान्यः पन्था" (श्वे० ३।८) इति श्रुत्या ज्ञानमात्राद् निवृत्तिप्रतीतेः । अतः श्रुतज्ञाननिवर्त्यत्वनिर्वाहार्थम् अध्यस्तत्वं वर्णनीयम् । किञ्च, ज्ञानैकनिवर्त्यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

'तत्त्वमसि' आदि कर्तृत्वादि-रहित ब्रह्म-बोधक वेदान्त-वाक्योंसे होनेवाले तत्त्वज्ञानसे बाधित होता है । दूसरा 'कारणरूप' अर्थ भी नहीं हो सकता, क्योंकि आगमजन्य ज्ञानकी उत्पत्तिमें तथा प्रत्यक्ष आदि मूलक वृद्ध-व्यवहारमें सम्बन्ध-ग्रहण एवं शब्द-श्रावण-प्रत्यक्ष द्वारा प्रत्यक्षादिके व्यावहारिक प्रामाण्यके कारण होनेपर भी तात्त्विक[1] प्रामाण्यके लिए उसकी अपेक्षा नहीं है । जिस अंशकी अपेक्षा नहीं है, उस अंशका आगमसे बाध हो सकता है । अतः ज्येष्ठका अर्थ कारणरूप मानना भी ठीक नहीं है ।

कोई कहते हैं कि जैसे श्रुतिके बलसे क्षणिक (तृतीय क्षणमें नष्ट होनेवाला) क्रियात्मक यज्ञ कालान्तरमें ( बहुत दिनोंके बाद ) होनेवाले फलका कारण होता है, वैसे ही 'तथा विद्वान्०' ( विद्वान् नाम और रूपसे मुक्त होता है ) इस श्रुतिके बलसे सत्यबन्धका भी ज्ञानसे नाश हो सकता है, अतः अध्यासका वर्णन करना व्यर्थ है । यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि केवल ज्ञानसे नष्ट होनेवाला पदार्थ कहीं भी सत्य नहीं देखा गया है । जो सत्य आत्मा है, वह नाश्य ही नहीं है। यदि यह निश्चय हो जाय कि सत्य बन्ध नाश होने योग्य नहीं है; तब 'सत्य बन्ध, ज्ञानसे नष्ट होता है' ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे अर्थका बोध भी नहीं होगा। 'सेतुके दर्शनसे सत्य पापका नाश होना देखनेमें आता है, अतः सत्य वस्तुमें ज्ञानसे नाश होनेकी योग्यता है' यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा, नियम आदि सहकारियोंके साहाय्य द्वारा ज्ञानसे पाप नष्ट होता है, न कि केवल ज्ञान से । बन्ध तो "नान्यः पन्था" ( दूसरा रास्ता नहीं है ) इस श्रुतिके अनुसार केवल ज्ञानसे ही नष्ट होता है । अतः उक्त श्रुतिके अर्थके निर्वाहके लिए बन्धको अध्यस्त मानना पड़ेगा । और, केवल ज्ञानसे नाश

---

( १ ) पारमार्थिक ।

भाष्य

अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य,

भाष्यका अनुवाद

कर, अन्योन्य में अन्योन्य स्वरूप और अन्योन्य के धर्म का अध्यास कर, सत्य और अनृतका मिथुनी-करण करके 'मैं यह' 'यह मेरा' ऐसा मिथ्याज्ञान-

रत्नप्रभा

किं नाम सत्यत्वम्? न तावद् अज्ञानाजन्यत्वम्। "मायां तु प्रकृतिम्" (श्वे० ४।१०) इति श्रुतिविरोधात् मायाऽविद्ययोरैक्यात्। नापि स्वाधिष्ठाने स्वाभाव-शून्यत्वम्, "अस्थूलम्" (बृ० ३।८।८) इत्यादिनिषेधश्रुतिविरोधात्। नापि ब्रह्मवद् बाधायोग्यत्वम्, ज्ञानाद् निवृत्तिश्रुतिविरोधात्। अथ व्यवहारकाले बाध-शून्यत्वम्, तर्हि व्यावहारिकमेव सत्यत्वमित्यागतमध्यस्तत्वम्। तच्च श्रुत्यर्थे योग्यताज्ञानार्थं वर्णनीयमेव, यागस्य अपूर्वद्वारत्ववत्। न च 'तदनन्यत्वाधिकरणे' (ब्र० सू० २।१।१४) तस्य वर्णनात् पौनरुक्त्यम्। तत्र उक्ताध्यासस्यैव प्रवृत्त्य-ङ्गविषयादिसिद्ध्यर्थमादौ स्मार्यमाणत्वादिति दिक्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेवाले बन्धका सत्यत्व क्या है? 'अज्ञानसे उत्पन्न न होना' सत्यत्व है ऐसा नहीं कह सकते हैं; क्योंकि "मायां तु०" (माया को प्रकृति जानना चाहिये) इस श्रुतिसे विरोध हो जायगा, कारण कि माया, अविद्या दोनों एक ही हैं। 'अपने अधिष्ठानमें अपना अभाव न रहना' सत्यत्व है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं; क्योंकि 'अस्थूलम्' इस निषेधश्रुतिसे विरोध हो जायगा। 'ब्रह्मकी तरह बाधका अयोग्य होना' सत्यत्व है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ज्ञानसे बंधका निराकरण करनेवाली श्रुतिसे विरोध हो जायगा। यदि 'व्यवहारकालमें जिसका बाध नहीं होता है, वह सत्य है' ऐसा कहा जाय तो केवल व्यावहारिक सत्यत्व ही कहा गया, वही अध्यस्तत्व है। वह तो श्रुत्यर्थमें योग्यताज्ञान करनेके लिए वर्णनीय ही है, जैसे कि 'स्वर्गकामो यजेत' इस श्रुतिके—स्वर्ग-साधन यज्ञ है—अर्थमें योग्यता ज्ञानके लिये अपूर्वरूप द्वार वर्णनीय होता है।

शङ्का—आगे 'तदनन्यत्व' अधिकरणमें अध्यासका वर्णन है, इसलिए पुनरुक्त दोष होगा।

समाधान—विचार-प्रवृत्तिके अङ्गभूत ( साधन ) विषय आदिकी सिद्धिके लिए उस जगह वर्णित अध्यासका स्मरण यहाँ कराया गया है।

( १ ) आशय यह है कि शब्दजन्यबोधमें योग्यताज्ञान कारण है। अतः यदि कर्तृत्व आदि संसारको सत्य मानें, तो 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' श्रुतिसे संसारनिवृत्तिरूप मोक्षका कारण ज्ञान है, ऐसा बोध नहीं होगा, क्योंकि सत्यकी निवृत्ति करनेकी योग्यता ज्ञानमें नहीं है। तथा 'स्वर्गकामो यजेत' इस श्रुतिसे क्रियाकलापात्मक यज्ञमें कालान्तरमें होनेवाले स्वर्ग-साधनताका बोध नहीं होगा, क्योंकि

भाष्य

अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ।) आह—कोऽयमध्यासो

भाष्यका अनुवाद

निमित्त यह स्वभावसिद्ध' लोक-व्यवहार चलता है ( पूर्व पक्षवादी ) कहता है

रत्नप्रभा

अध्यासं द्वेधा दर्शयति—**लोकव्यवहार इति** । लोक्यते मनुष्योऽहमित्यभिमन्यते इति लोकोऽर्थाध्यासः । तद्विषयो व्यवहारोऽभिमान इति ज्ञानाध्यासो दर्शितः । द्विविधाध्यासस्वरूपलक्षणमाह—**अन्योन्यस्मिन् इत्यादिना धर्मधर्मिणोः इत्यन्तेन** । जाड्यचैतन्यादिधर्माणां धर्मिणौ अहङ्कारात्मानौ, तयोरत्यन्तं भिन्नयोः इतरेतरभेदाग्रहेण अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यतादात्म्यमन्योन्यधर्मांश्च व्यत्यासेन अध्यस्य लोकव्यवहार इति योजना । अतः "सोऽयम्" इति प्रमाया न अध्यासत्वम्, तदिदमर्थयोः कालभेदेन कल्पितभेदेऽपि अत्यन्तभेदाभावात् इति वक्तुमत्यन्तेत्युक्तम् । न च धर्मितादात्म्याध्यासे धर्माध्याससिद्धेः 'धर्मांश्च' इति व्यर्थमिति वाच्यम् । अन्धत्वादीनामिन्द्रियधर्माणां धर्म्यध्यासास्फुटत्वेऽपि अन्धोऽहमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

"लोकव्यवहार" शब्दसे भाष्यकारने दो प्रकारका अध्यास दिखलाया है । 'लोक' शब्द 'लोकृ' धातुसे बना है । ( मैं, मनुष्य हूँ' ऐसे अभिमानके विषयको लोक कहते हैं ) यह अर्थाध्यास है । लोकविषयक व्यवहार ( अभिमान ) लोकव्यवहार है, इसे ही ज्ञानाध्यास कहते हैं । "अन्योन्यस्मिन्" इत्यादिसे लेकर "धर्मधर्मिणोः" पर्यन्त ग्रन्थसे दोनों प्रकारके अध्यासका स्वरूपलक्षण कहते हैं । जाड्य, चैतन्य आदि धर्मोंके क्रमसे अहङ्कार और आत्मा धर्मी हैं । आपसमें अत्यन्त भिन्न उन दोनों धर्मियोंका परस्पर भेदज्ञान न होनेसे परस्परमें परस्परका तादात्म्य और परस्परके धर्मोंके विनिमयसे अध्यास करके लोकव्यवहार होता है ऐसी योजना करनी चाहिए । 'सोऽयम्' ( वह यह है ) यह प्रमा है, अध्यास नहीं है । इसमें 'वह' और 'यह' पदार्थोंका कालके भेदसे कल्पित भेद है, अत्यन्त भेद नहीं है, ऐसा कहनेके लिए 'अत्यन्त भिन्न' इसमें 'अत्यन्त' पद लगाया है । धर्मीका अध्यास कहनेसे 'धर्मका अध्यास सिद्ध ही है, इसलिए 'धर्मका अध्यास पृथक् कहना व्यर्थ है, यह शङ्का न करनी चाहिए; क्योंकि अन्धत्व आदि इन्द्रियोंके धर्म हैं, इनके धर्मी इन्द्रियोंका अध्यास स्पष्ट नहीं होता है, तो भी 'अन्धोऽहम्' ( मैं अन्धा हूँ ) इस प्रकार अन्धत्वरूप धर्मका अध्यास स्पष्ट है,

---

अव्यहितोत्तरवर्ती कार्य्यकी ही कारणमें साधनताकी योग्यता होती है । अतः श्रुतिप्रामाण्यके अनुरोधसे पहले स्थलमें संसारको अध्यस्तत्व और अनन्तर स्थलमें अपूर्वरूप द्वारको स्वीकार करना होगा ।

( १ ) पदार्थरूप अध्यास, यहां पर अध्यास शब्द कर्म्मघञन्त है ।

रत्नप्रभा

स्फुटोऽध्यास इति ज्ञापनार्थत्वात्। ननु आत्मानात्मनोः परस्पराध्यस्तत्वे शून्यवादः स्यादिति आशङ्क्य आह—सत्यानृते मिथुनीकृत्येति। सत्यमनिदं चैतन्यम्; तस्य अनात्मनि संसर्गमात्राध्यासो न स्वरूपस्य। अनृतं युष्मदर्थः, तस्य स्वरूपतोऽपि अध्यासात् तयोर्मिथुनीकरणमध्यास इति न शून्यतेत्यर्थः।

ननु अध्यासमिथुनीकरणलोकव्यवहारशब्दानामेकार्थत्वे अध्यस्य मिथुनीकृत्येति पूर्वकालत्ववाचिक्त्वाप्रत्ययादेशस्य ल्यपः कथं प्रयोग इति चेत्, न; अध्यासव्यक्तिभेदात्। तत्र पूर्वपूर्वाध्यासस्य उत्तरोत्तराध्यासं प्रति संस्कारद्वारा पूर्वकालत्वेन हेतुत्वद्योतनार्थं ल्यपः प्रयोगः। तदेव स्पष्टयति—नैसर्गिक इति। प्रत्यगात्मनि हेतुहेतुमद्भावेन अध्यासप्रवाहोऽनादिरित्यर्थः। ननु प्रवाहस्य अवस्तुत्वादध्यासव्यक्तीनां सादित्वात् कथमनादित्वमिति चेत्, उच्यते—अध्यासत्वावच्छिन्नव्यक्तीनां मध्ये अन्यतमया व्यक्त्या विना अनादिकालस्य अवर्तनं कार्या-

रत्नप्रभा का अनुवाद

ऐसा बोध करानेके लिए 'धर्मांश्च' पृथक् पद दिया है। आत्मा और अनात्माका परस्पर अध्यास करनेसे शून्यवादकी सिद्धि होती है, इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—"सत्यानृते मिथुनीकृत्य"। सत्य अर्थात् चैतन्यरूप 'यह' इस प्रतीतिके अविषय आत्माके संसर्गमात्रका अनात्मामें अध्यास है, स्वरूपाध्यास नहीं है। और अनृत—असत्यरूप अनात्माका आत्मामें स्वरूप से भी अध्यास है, इसलिए आत्मा और अनात्माका मिथुनीकरण अध्यास है। इस प्रकार शून्यवादका प्रसंग नहीं आता।

अध्यास, मिथुनीकरण और लोकव्यवहार ये शब्द पर्यायवाची हैं तो 'अध्यस्य' और 'मिथुनीकृत्य' इनमें पूर्वकालवाचक 'क्त्वा' प्रत्ययके स्थानमें हुए 'ल्यप्' का प्रयोग कैसे किया? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि अध्यासोंका व्यक्तिभेद है अर्थात् वे तीन भिन्न भिन्न अध्यास हैं। पूर्व-पूर्व अध्यास संस्कार द्वारा उत्तरोत्तर अध्यासके प्रति कारण हैं, इसे सूचित करनेके लिए पूर्वकालवाचक 'ल्यप्' का प्रयोग किया है और यही स्पष्ट करनेके लिए "नैसर्गिक" कहा है। तात्पर्य यह कि पूर्व-पूर्व अध्यास उत्तरोत्तर अध्यासके प्रति कारण हैं। इसीसे प्रत्यगात्मामें अध्यासका प्रवाह अनादि है। यदि कोई शंका करे कि प्रवाह कोई वस्तु नहीं है और जिसका प्रवाह चलता है, ऐसी कोई अध्यास व्यक्ति अनादि नहीं है, किन्तु सब सादि हैं; तब अध्यासका प्रवाह अनादि किस प्रकार कहा जाय? इस शङ्काका निराकरण इस प्रकार है—काल अनादि है और अध्यास व्यक्तियोंमेंसे किसी भी व्यक्तिके बिना अनादि काल नहीं रहता, अध्यास व्यक्तियोंमेंसे कोई व्यक्ति अनादि कालमें अवश्य होती ही है यही कार्यके अनादिपनेका स्वरूप है।

---

(१) जिनका युग्म (जोड़ा) न हो सकता हो उनका युग्म बना देना, इसका नाम मिथुनीकरण है।

रत्नप्रभा

नादित्वमित्यङ्गीकारात् । एतेन कारणाभावादिति कल्पो निरस्तः । संस्कारस्य निमित्तस्य नैसर्गिकपदेन उक्तत्वात् । न च पूर्वप्रमाजन्य एव संस्कारो हेतुरिति वाच्यम् । लाघवेन पूर्वानुभवजन्यसंस्कारस्य हेतुत्वात् । अतः पूर्वाध्यासजन्यः संस्कारोऽस्तीति सिद्धम् ।

अध्यासस्य उपादानमाह—**मिथ्याज्ञाननिमित्त** इति । मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानं तत् निमित्तम् उपादानं यस्य स तन्निमित्तस्तदुपादानक इत्यर्थः । अज्ञानस्य उपादानत्वेऽपि संस्फुरदात्मतत्त्वावरकतया दोषत्वेन अहंकाराध्यासकर्तुः ईश्वरस्य उपाधित्वेन संस्कार-काल-कर्मादिनिमित्तपरिणामित्वेन च निमित्तत्वमिति द्योतयितुं निमित्तपदम् । स्वप्रकाशात्मनि असंगे कथमविद्यासंगः संस्कारादिसामग्र्यभावात्; इति शंकानिरासार्थं मिथ्यापदम् । प्रचण्डमार्तण्डमण्डले पेचकानुभवसिद्धान्धकारवत् "अहमज्ञः" इत्यनुभवसिद्धमज्ञानं दुरपह्नवम्, कल्पितस्य अधिष्ठानास्पर्शित्वात्;

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस कथनसे 'अध्यासका कोई कारण नहीं है, इसलिए वह नहीं है' इस शङ्काका भ निराकरण हो गया; क्योंकि नैसर्गिक पदसे सिद्ध होता है कि संस्कार अध्यासका कारण है पूर्व प्रमासे उत्पन्न संस्कार ही अध्यासका कारण है ऐसा नियम नहीं कर सकते, क्योंकि पू प्रमाकी अपेक्षा लाघवसे पूर्वानुभवजन्य संस्कारको ही अध्यासका कारण कहना ठीक है । इस लिए पूर्वाध्याससे संस्कार उत्पन्न होता है, यह बात सिद्ध है ।

"मिथ्याज्ञाननिमित्त" इस शब्दसे अध्यासका उपादान[1] कारण बतलाया है । मिथ्या अज्ञान जिसका निमित्त ( कारण ) हो, उसका नाम मिथ्याज्ञाननिमित्त है । अज्ञान यद्यपि उपादान कारण है, तो भी उसको निमित्त कहा है, इसका कारण यह है कि स्फुरण होते हुए आत्मत्त्वका आवरण करनेसे मिथ्याज्ञान दोषरूप है, अहङ्काराध्यास करनेवाले ईश्वरका उपाधि है और यही मिथ्याज्ञान संस्कार, काल, कर्म आदि निमित्तरूपमें परिणत होकर अध्यासका निमित्त होता है, यह निमित्त पदसे दिखलाया है । यदि कोई शङ्का करे कि आत्मा स्वप्रकाश और असङ्ग है, इसमें अविद्याका सङ्ग कैसे ? क्योंकि संस्कार सादृश्य आदि अध्यासकी सामग्री नहीं है, तो इस शङ्काको दूर करनेके लिए 'मिथ्या पद दिया है । जैसे प्रचण्ड सूर्यमण्डलमें, दिवान्ध होनेसे, उल्लू अन्धकारका अनुभव करता है, इसी प्रकार 'अहमज्ञः' ( मैं अज्ञ हूँ ) ऐसे अनुभवसे सिद्ध अज्ञानका अपह्नव नहीं हो सकता । कल्पित पदार्थ अधिष्ठानका स्पर्श नहीं कर सकता और नित्य स्वरूप ज्ञानका विरोधी

( १ ) कार्यसे अभिन्न कारणका नाम उपादान कारण है । जैसे—घटका उपादान कारण मृत्तिका, कुण्डलका सुवर्ण, पटका तन्तु है । क्योंकि ये सब कारण कार्योंसे अभिन्न हैं । इस उपादान कारणको नैयायिक समवायिकारण कहते हैं ।

रत्नप्रभा

नित्यस्वरूपज्ञानस्य अविरोधित्वाच्चेति । यद्वा, अज्ञानं ज्ञानाभाव इति शङ्कानिरासार्थं मिथ्यापदम् । मिथ्यात्वे सति साक्षात् ज्ञाननिवर्त्यत्वम् अज्ञानस्य लक्षणं मिथ्याज्ञानपदेन उक्तम् । ज्ञानेन इच्छाप्रागभावः साक्षान्निवर्त्यते इति वदन्तं प्रति मिथ्यात्वे सतीत्युक्तम् । अज्ञाननिवृत्तिद्वारा ज्ञाननिवर्त्यबन्धे अतिव्याप्तिनिरासाय साक्षादिति । अनाद्युपादानत्वे सति मिथ्यात्वं वा लक्षणम् । ब्रह्मनिरासार्थं मिथ्यात्वमिति । मृदादिनिरासार्थमनादीति । अविद्यात्मनोः सम्बन्धनिरासार्थम् उपादानत्वे सतीति ।

सम्प्रति अध्यासं द्रढयितुमभिलपति—**अहमिदं ममेदमिति** । आध्यात्मिककार्याध्यासेषु अहमिति प्रथमोऽध्यासः । न च अधिष्ठानारोप्यांशद्वयानुपलम्भात् न अयमध्यास इति वाच्यम्, "अयो दहति" इतिवत् "अहमुपलभे" इति दृक्दृश्यांशयोरुपलम्भात् । इदंपदेन भोग्यः संघात उच्यते । अत्र "अहमिदम्" इत्यनेन "मनुष्योऽहम्" इति तादात्म्याध्यासो दर्शितः । "ममेदं शरीरम्" इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं हो सकता, यह दिखलानेके लिए 'मिथ्या' पदका प्रयोग किया है । अथवा ज्ञानका अभाव अज्ञान है, इस शङ्काको दूर करनेके लिए 'मिथ्या' पदका प्रयोग किया है । मिथ्या होकर साक्षात् ज्ञानसे नष्ट हो सके, ऐसा अज्ञानका लक्षण मिथ्याज्ञान-पदसे कहा गया है । "ज्ञानसे इच्छाका प्रागभाव साक्षात् नष्ट होता है" ऐसा कहनेवाले वादीके प्रति 'मिथ्यात्वे सति' कहा है । ज्ञान अज्ञान-नाशके द्वारा बन्धका भी नाशक है, इसलिए बन्धमें अज्ञानके लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी । उसके निवारणके लिए 'साक्षात्' पद दिया है । अथवा 'जो अनादि उपादान होकर मिथ्या है, वह अज्ञान है' यह अज्ञानका लक्षण है । इस लक्षणमें 'मिथ्या' पद न देनेसे ब्रह्ममें अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि अनादि उपादान ब्रह्म भी है । उसका वारण करनेके लिए 'मिथ्या' पद दिया है । 'अनादि' पद न देनेसे मृदादि ( मिट्टी आदि ) में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह भी घट आदिका उपादान कारण है और मिथ्या भी है । उसका वारण करनेके लिए 'अनादि' पद दिया है । अविद्या और आत्माका जो सम्बन्ध है, उसमें अतिव्याप्ति वारण करनेके लिए 'उपादान' पद दिया है ।

अब अध्यासको दृढ़ करनेके लिए 'अहमिदम्', 'ममेदम्' ऐसा कहते हैं । शरीरान्तःसम्बन्धी कार्याध्यासोंमें 'अहम्' यह पहला अध्यास है । 'अहम्' इस अध्यासमें अधिष्ठानांश और आरोप्यांश इन दोनोंकी उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए यह अध्यास नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'लोहा जलाता है' इस प्रतीतिकी तरह 'मैं अनुभव करता हूं' ऐसा दृक् और दृश्य अंशोंकी उपलब्धि होती है । 'इदम्' पदसे भोग्यसंघात ( शरीर और इन्द्रिय-समूह ) कहा जाता है । 'यह मैं' अर्थात् मनुष्य हूं, इसमें 'मैं' और 'यह' का तादात्म्याध्यास दिखलाया है । 'ममेदम्' अर्थात् 'यह मेरा शरीर है' इसमें 'यह' और 'मेरा' का संसर्गाध्यास

रत्नप्रभा

संसर्गाध्यासः। ननु देहात्मनोस्तादात्म्यमेव संसर्ग इति तयोः को भेद इति चेत्, सत्यम्। सत्त्वैक्ये सति मिथो भेदस्तादात्म्यम्। तत्र "मनुष्योऽहम्" इति ऐक्यांश-भानम्, "ममेदम्" इति भेदांशरूपसंसर्गभानमिति भेदः। एवं सामग्रीसत्त्वात् अनुभवसत्त्वात् अध्यासोऽस्ति इत्यतो ब्रह्मात्मैक्ये विरोधाभावेन विषयप्रयोजनयोः सत्त्वात् शास्त्रम् आरम्भणीयमिति सिद्धान्तभाष्यतात्पर्यम्।

एवं च सूत्रेण अर्थात् सूचिते विषयप्रयोजने प्रतिपाद्य तद्हेतुमध्यासं लक्षण-सम्भावनाप्रमाणैः साधयितुं लक्षणं पृच्छति—**आहेति**। किंलक्षणकोऽध्यास

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिखलाया है। कोई शंका करे कि देह और आत्माका जब तादात्म्य ही संसर्ग है, तब तादात्म्य और संसर्गमें भेद क्या है? इस शंकाका निवारण इस प्रकार है—सत्ताके एक होने पर दो वस्तुओंका परस्पर भेद तादात्म्य है। 'मैं मनुष्य हूं' इसमें 'मैं' (आत्मा) और 'मनुष्य' में ऐक्यरूप अंशका ही भान होता है, यह तादात्म्याध्यास कहलाता है। 'यह मेरा' इसमें 'यह' और 'मेरा' में भेदांशरूप संसर्गका भान होता है, इसलिए यह संसर्गाध्यास कहलाता है। इस प्रकार अध्यासकी सामग्री और अनुभव होनेसे अध्यास है, अर्थात् ब्रह्म और जीवात्माके ऐक्य-में विरोध न होनेसे शास्त्रके विषय और प्रयोजन बनते हैं। इसलिए शास्त्र आरम्भणीय है, यह सिद्धान्तभाष्यका तात्पर्य है।

इस प्रकार सूत्रसे अर्थतः सूचित विषय और प्रयोजनका प्रतिपादन करके उसके हेतु अध्यास को लक्षण, सम्भावना और प्रमाणसे सिद्ध करनेके लिए लक्षण पूछता है—"आह" इत्यादि ग्रन्थसे। पूर्वपक्षी कहता है कि अध्यासका लक्षण क्या है? इस शास्त्रमें तत्त्वका निर्णय

(१) जिसका लक्षण कहा जाता है, वह लक्ष्य है। जो धर्म लक्ष्यमें नियमेन रहता है और अलक्ष्यमें नहीं रहता, वह लक्षण है अर्थात् लक्ष्यमात्रमें जो धर्म देखनेमें आवे, वह लक्षण है। 'सास्नादिमत्वम्' (सास्ना आदि होना [गायके गलेकी चमड़ीका नाम सास्ना है]) यह गायका लक्षण है, क्योंकि लक्ष्यमात्रमें यह धर्म है। लक्षणके तीन दोष होते हैं। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। लक्ष्यके एक देशमें जो धर्म देखनेमें न आता हो, यदि उसे लक्षण मानें तो वह अव्याप्ति दोषसे दूषित होता है। जैसे—'कापिलत्वम्' (कपिलवर्ण) यह लक्षण सब गायोंमें देखनेमें नहीं आता, इससे इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष है—जो धर्म लक्ष्य तथा अलक्ष्य दोनोंमें देखनेमें आवे, वह धर्मरूप लक्षण अतिव्याप्ति दोषयुक्त है। जैसे 'शृङ्गित्वम्' (सींग होना) इस गायके लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि यह धर्म लक्ष्यमात्र गायमें नहीं है, किन्तु अलक्ष्य भैंस आदिमें भी है। जो धर्म लक्ष्यके किसी भी देशमें न हो, यदि उसे लक्षणका रूप दें तो वह असम्भवदोषसे युक्त होता है, जैसे कि 'एकशफत्वम्' (एक खुर होना) इस गायके लक्षणमें असम्भव दोष है, क्योंकि कोई भी गाय एक खुरवाली देखनेमें नहीं आती। इन तीनों दोषोंसे रहित असाधारण धर्म लक्षण है।

भाष्य

नास्तेति । उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः । तं केचिदन्यत्रान्य-

भाष्यका अनुवाद

कि 'यह अध्यास क्या है ?' इसपर कहते हैं—स्मृतिरूप पूर्व दृष्टका दूसरेमें जो अवभास, वह अध्यास है। कोई लोग अन्यमें अन्य-धर्मके आरोपको अध्यास

रत्नप्रभा

इत्याह—पूर्ववादीत्यर्थः। अस्य शास्त्रस्य तत्त्वनिर्णयप्रधानत्वेन वादकथात्वद्योतनार्थम् आह इति परोक्तिः। "आह" इत्यादि "कथं पुनः प्रत्यगात्मनि" इत्यतः प्राग् अध्यास-लक्षणपरं भाष्यम्, तदारभ्य सम्भावनापरम्, "तमेतमविद्याख्यम्" इत्यारभ्य "सर्व-लोकप्रत्यक्षः" इत्यन्तं प्रमाणपरमिति विभागः। लक्षणमाह—उच्यते स्मृतिरूप इति। अध्यास इत्यनुषङ्गः। अत्र परत्र अवभास इत्येव लक्षणम्, शिष्टं पदद्वयं तदुपपादनार्थम्। तथाहि—अवभास्यते इति अवभासो रजताद्यर्थः, तस्य अयो-ग्यमधिकरणं परत्रपदार्थः। अधिकरणस्य अयोग्यत्वम् आरोप्यात्यन्ताभावत्वम् तद्वत्त्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

करना ही प्रधान है, इसलिए 'आह' इस प्रकार अन्यके कथनसे वादकथा सूचित की गई है, क्योंकि वादकथा निर्णय करनेका साधन है। 'आह' यहांसे लेकर 'कथं पुनः प्रत्यगात्मनि' इससे पहले तकका भाष्य अध्यासलक्षणपरक है। 'कथं पुनः' यहांसे आरम्भ करके 'तमेतम्' से पहले तकके भाष्यमें अध्यासकी सम्भावना है। 'तमेतम्' से आरम्भ कर 'सर्वलोकप्रत्यक्षः' यहां तकके भाष्यमें अध्यासका प्रमाण दिया है। "उच्यते, स्मृतिरूपः" इत्यादि वाक्यसे अध्यासका लक्षण कहते हैं। 'यह अध्यास है' इस प्रकार पूर्वपठित अध्यास पद की यहां पर अनुवृत्ति की जाती है। इस वाक्यमें 'परत्रावभासः' (दूसरेमें अवभास होना) इतना ही लक्षण समझना चाहिए। शेष 'स्मृतिरूप' और 'पूर्वदृष्ट' ये दोनों पद लक्षणके उपपादक—साधक हैं। जो अवभासित होता है, वह अवभास है, अर्थात् चाँदी आदि पदार्थ। 'परत्र' पदमें सप्तमी विभक्ति अधिकरणकी वाचक है। सीपमें चाँदीका अवभास हो तो अयोग्य स्थलमें अवभास हुआ कहलाता है, क्योंकि चाँदीके अवभासका योग्य स्थल चाँदी है, सीप नहीं। अयोग्य स्थल वह है, जिसमें आरोप्यका अत्यन्ताभाव हो, अर्थात्

( १ ) 'तत्त्वनिर्णयफलः कथाविशेषो वादः' जिससे तत्त्वका निर्णय हो, दो वक्ताओं द्वारा कहा गया पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका प्रतिपादक वाक्य-समूह वादकथा है। ( २ ) जिसका आरोप किया जाता हैं, सीपमें चाँदीका आरोप करें तो चाँदी आरोप्य होगी। ( ३ ) किसी स्थल पर कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा अनुभवसिद्ध नित्य संसर्गाभाव। जैसे 'भूतलमें घट नहीं है' ऐसा कहें तो भूतलमें घटका अभाव अत्यन्ताभाव है।

## रत्नप्रभा

वा ? तथा च एकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वमध्यस्तत्वमित्यर्थः । इदं च साद्यनाद्यध्याससाधारणं लक्षणम् । संयोगेऽतिव्याप्तिनिरासाय एकावच्छेदेनेति । संयोगस्य स्वसंसृज्यमाने वृक्षे स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वेऽपि स्वस्वात्यन्ताभावयोर्मूलाग्रावच्छेदकभेदात् नातिव्याप्तिः । पूर्वं स्वाभाववति भूतले पश्चादानीतो घटो भातीति घटेऽतिव्याप्तिनिरासाय स्वसंसृज्यमाने इति पदम्। तेन स्वाभावकाले प्रतियोगिसंसर्गस्य विद्यमानता उच्यते इति नातिव्याप्तिः। भूत्वावच्छेदेन अवभास्यगन्धे अतिव्याप्तिवारणाय स्वात्यन्ताभाववतीति पदम् । शुक्तौ इदन्त्वावच्छेदेन रजतसंसर्गकाले अत्यन्ताभावोऽस्ति इति न अव्याप्तिः । ननु अस्य लक्षणस्य असम्भवः, शुक्तौ रजतस्य सामग्र्यभावेन संसर्गासत्त्वात् । न च स्मर्य-

## रत्नप्रभाका अनुवाद

एक ही अवच्छेदसे एक ही कालमें जिसमें जिसके संसर्गका अवभास मालूम पड़े, किन्तु रहे अत्यन्ताभाव, उस अधिकरणमें अवभासित होनेवाला वह पदार्थ अध्यास कहलाता है। सीपमें इदन्ताके अवच्छेदसे एक ही कालमें रजतके संसर्गका अवभास होता है और उसका अत्यन्ताभाव भी है। इस प्रकार लक्ष्यमें लक्षणका समन्वय होता है। यह सादि एवं अनादि अध्यासका साधारण लक्षण है। 'एकावच्छेदेन' यह पद संयोगमें लक्षणकी अतिव्याप्ति दूर करनेके लिए जोड़ा गया है। यदि वृक्षकी शाखा पर बन्दर बैठा हो तो एक ही कालमें वृक्षमें बन्दरके संयोगके संसर्गका अवभास होता है और अत्यन्ताभाव भी है। क्योंकि वृक्षके अग्र भागसे बन्दरका संयोग है, एवं जिस समय इस संसर्गका अवभास होता है उस समय वृक्षके मूलमें बन्दरके संयोगका अत्यन्ताभाव भी है। इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष आता है। 'एकावच्छेदेन' पद देनेसे अतिव्याप्ति नहीं होती है; क्योंकि भिन्न अवयवमें संसर्गका अवभास होता है और भिन्न अवयवमें अत्यन्ताभाव है। अर्थात् मूल भागमें वृक्षसे बन्दरका संयोग नहीं है और अग्र भागमें वृक्षसे बन्दरका संसर्ग है, इसलिए अवच्छेदके भेदसे संयोगमें अतिव्याप्ति नहीं है। प्रथमतः घटाभावयुक्त भूतलमें पीछेसे लाये गए घटका भान होता है, इसलिए घटमें अतिव्याप्ति हो जायेगी, उसके वारणके लिए अध्यासके लक्षणमें 'स्वसंसृज्यमाने' पद दिया है। इससे एक कालमें अभाव, और जिसका अभाव हो उसका संसर्ग दोनों अपेक्षित हैं ऐसा कहा गया है। पृथिवीमें अवभासित होनेवाले गन्धमें अतिव्याप्ति हटानेके लिए 'स्वात्यन्ताभाववति' पद दिया है। अन्यथा गगनाभावयुक्त भूमिमें गन्ध भासता है, अतः गन्ध मिथ्या हो जायगा। अत्यन्ताभावमें 'स्व' विशेषण देने पर स्व ( गन्ध ) का अत्यन्ताभाव भूमिमें नहीं है, इससे गन्धमें अतिव्याप्ति नहीं होती है। शुक्तिमें इदन्त्वके अवच्छेदसे एक कालमें रजतके संसर्गका अवभास एवं रजतका अत्यन्ताभाव दोनों रहते हैं, इसलिए लक्षणमें अव्याप्तिरूप दोष नहीं है। यदि कोई कहे कि अध्यासका लक्षण तो बना, परन्तु उसमें असम्भव दोष है, क्योंकि सीपमें चाँदीकी सामग्री ही नहीं है तो रजतसंसर्ग कहाँसे आवे ?

रत्नप्रभा

माणसत्यरजतस्यैव परत्र शुक्तौ अवभास्यत्वेन अध्यस्तत्वोक्तिरिति वाच्यम्, अन्यथाख्यातिप्रसङ्गात् इत्यत आह—स्मृतिरूप इति। स्मर्यते इति स्मृतिः—सत्यरजतादिः, तस्य रूपमिव रूपमस्य इति स्मृतिरूपः—स्मर्यमाणसदृश इत्यर्थः। सादृश्योक्त्या स्मर्यमाणात् आरोप्यस्य भेदाद्, न अन्यथाख्यातिरित्युक्तं भवति। सादृश्यमुपपादयति—पूर्वदृष्टेति। दृष्टं दर्शनम्। संस्कारद्वारा पूर्वदर्शनात् अवभास्यते इति पूर्वदृष्टावभासः। तेन संस्कारजन्यज्ञानविषयत्वं स्मर्यमाणारोप्ययोः सादृश्यमुक्तं भवति, स्मृत्यारोपयोः संस्कारजन्यत्वात्। न च संस्कारजन्यत्वात् आरोपस्य स्मृतित्वापत्तिरिति वाच्यम्। दोषसंप्रयोगजन्यत्वस्यापि विवक्षितत्वेन संस्कारमात्रजन्यत्वाभावात्। अत्र सम्प्रयोगशब्देन अधिष्ठानसामान्यज्ञानमुच्यते, अहङ्काराध्यासे इन्द्रियसम्प्रयोगालाभात्। एवं च दोषसंप्रयोगसंस्कारबलात् शुक्त्यादौ रजतमुत्पन्नमस्तीति परत्र अवभास्यत्वलक्षणमुपपन्नमिति स्मृतिरूपपूर्वदृष्टपदाभ्यामुप-

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्मर्यमाण सत्य रजतका ही शुक्तिमें अवभास होता है, इसलिए वह अध्यस्त कहलाता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे अन्यथाख्यातिकी स्वीकृति हो जायगी। तस्मात् शुक्तिमें रजतकी सामग्री न होनेसे रजतका संसर्ग कैसे होगा? इस शङ्काके निवारण एवं लक्षणकी उपपत्तिके लिए "स्मृतिरूप" पद दिया है। जिसका स्मरण किया जाता है, वह स्मृति है—सत्य रजत आदि। उसके रूपके समान रूपवाला स्मृतिरूप अर्थात् स्मर्यमाण सदृश कहा जाता है। 'सादृश्य' कथन द्वारा स्मर्यमाणसे आरोप्यका भेद बतलाया है, अतः अन्यथाख्याति-स्वीकार रूप दोष नहीं है। सादृश्यको बतलानेके लिए "पूर्वदृष्ट" पद दिया है। दृष्ट—दर्शन। अध्यास संस्कारके द्वारा पूर्वदर्शनसे भासता है, अतः पूर्वदृष्टावभास कहलाता है। स्मर्यमाण और आरोप्य दोनों संस्कारजन्य ज्ञानके विषय हैं, यह उनका सादृश्य है, क्योंकि स्मृति और आरोप दोनों संस्कारजन्य हैं। यदि कोई शङ्का करे कि संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति है (१) और आरोप भी संस्कारजन्य ज्ञानही है, तो आरोपकी भी स्मृति संज्ञा क्यों नहीं है? इसका समाधान इस प्रकार है—स्मृति केवल संस्कारजन्य है और आरोप केवल संस्कारजन्य नहीं होता, किन्तु अविद्या आदि दोष, सम्प्रयोग और संस्कार तीनोंसे जन्य है, अतः आरोपकी स्मृति संज्ञा नहीं है। यहां पर 'सम्प्रयोग' शब्दसे अधिष्ठानका सामान्य ज्ञान कहा गया है, क्योंकि अहङ्काराध्यासमें इन्द्रिय-संसर्ग नहीं होता है। इस सन्दर्भसे सिद्ध हो गया कि आरोप्य स्मर्यमाणके सदृश है, किन्तु उससे अभिन्न नहीं है। इस प्रकार दोष, सम्प्रयोग और संस्कारके बलसे सीपमें चाँदीकी उत्पत्ति होती है, इसलिए दूसरे

---

(१) 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' पदार्थका प्रथम प्रत्यक्ष होनेसे मनमें जो छाप पड़ती है, उसे संस्कार कहते हैं। संस्कार मनमें रहता है और किसी कारणसे जब जाग्रत् होता है, तब उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान स्मृति कहलाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष संस्कार द्वारा स्मृतिको उत्पन्न करता है, इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान कारण, संस्कार व्यापार और स्मृति फल है।

रत्नप्रभा

पादितम् । अन्ये तु "ताभ्यां दोषादित्रयजन्यत्वं कार्याध्यासलक्षणमुक्तम्" इति आहुः । अपरे तु—"स्मृतिरूपः स्मर्यमाणसदृशः, सादृश्यं च प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्वम्, स्मृत्यारोपयोः प्रमाणाजन्यत्वात् पूर्वदृष्टपदं तज्जातीयपरम्, अभिनवरजतादेः पूर्वदृष्टत्वाभावात् । तथा च प्रमाणाजन्यज्ञानविषयत्वे सति पूर्वदृष्टजातीयत्वं प्रातीतिकाध्यासलक्षणं ताभ्यामुक्तम् । परत्रावभासशब्दाभ्यामध्यासमात्रलक्षणं व्याख्यातमेव । तत्र स्मर्यमाणगङ्गादौ अभिनवघटे च अतिव्याप्तिनिरासाय प्रमाणेत्यादि पदद्वयम्" इति आहुः । तत्र अर्थाध्यासे स्मर्यमाणसदृशः परत्र पूर्वदर्शनात् अवभास्यते इति योजना । ज्ञानाध्यासे तु स्मृतिसदृशः परत्र पूर्वदर्शनात् अवभास इति वाक्यं योजनीयमिति संक्षेपः ।

ननु अध्यासे वादिविप्रतिपत्तेः कथमुक्तलक्षणसिद्धिः इत्याशङ्क्य अधिष्ठानारोप्यस्वरूपविवादेऽपि "परत्र परावभासः" इति लक्षणे संवादाद्युक्तिभिः सत्याधिष्ठाने मिथ्यार्थावभाससिद्धेः सर्वतन्त्रसिद्धान्ते इदं लक्षणमिति मत्वा 'अन्यथात्मख्यातिवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदार्थमें अवभास होना यह अध्यासका लक्षण उपपन्न होता है, यह बात स्मृतिरूप और पूर्वदृष्ट पदोंसे कही गई है। दूसरे व्याख्यानकार कहते हैं कि दोष, सम्प्रयोग और संस्कारसे उत्पन्न होना कार्याध्यासका लक्षण है, यह उन पदोंसे द्योतित होता है। और लोग कहते हैं—स्मृतिरूप अर्थात् स्मर्यमाणसदृश। प्रमाणसे उत्पन्न न होनेवाले ज्ञानका विषय होना सादृश्य है, क्योंकि स्मृति और आरोप दोनों प्रमाणसे उत्पन्न नहीं होते। 'पूर्वदृष्ट' पद पूर्व-दृष्ट जातीय का बोधक है, क्योंकि नूतन उत्पन्न होनेवाले अनिर्वचनीय रजत आदि पूर्वदृष्ट नहीं हैं, अर्थात् स्मृतिरूप और पूर्वदृष्ट इन दो पदों द्वारा प्रमाणसे उत्पन्न न होनेवाले ज्ञानका विषय होकर पूर्वदृष्ट सजातीय होना यह प्रतीतिसिद्ध ( शुक्तिरजत-रज्जुसर्प स्थलीय ) अध्यासका लक्षण कहा गया है। परत्र और अवभास इन दो पदोंसे अध्यासमात्रका लक्षण कहा गया है। स्मर्यमाण गङ्गामें अतिव्याप्तिके वारणके लिए पूर्वदृष्टजातीय पद दिया है और नूतन घटमें अतिव्याप्ति-वारण करनेके लिए 'प्रमाण' इत्यादि पद जोड़ा गया है। अर्थाध्यासमें, स्मर्यमाणसदृश अन्य पदार्थमें पूर्वदर्शनसे अवभासित होता है, ऐसी योजना करनी चाहिये। ज्ञानाध्यासमें तो स्मृतिसदृशका अन्य पदार्थमें पूर्वदर्शनसे अवभास होता है, ऐसी योजना करनी चाहिये।

अध्यासके लक्षणमें भिन्न भिन्न वादियोंके भिन्न भिन्न मत हैं, तो यह लक्षण कैसे सिद्ध होगा? ऐसा सोचकर भाष्यकार कहते हैं कि—अधिष्ठान और आरोप्यके स्वरूपमें विवाद ( मत-भेद ) होनेपर भी 'अन्यमें अन्यका अवभास,' इस लक्षणमें सब वादियोंका एक मत है। सत्य अधिष्ठानमें मिथ्या वस्तुका अवभास कैसे होता है? इस सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न वादी भिन्न-भिन्न युक्तियां दिखलाते हैं। सब शास्त्रोंके सिद्धान्तमें 'अन्यमें अन्यका अवभासही अध्यासका

भाष्य

धर्माध्यास इति वदन्ति। केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम

भाष्यका अनुवाद

कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं—'जिसमें जिसका अध्यास है उसका भेद न

रत्नप्रभा

दिनोर्मतमाह—तं केचिदिति। केचित्—अन्यथाख्यातिवादिनोऽन्यत्र—शुक्त्यादौ अन्यधर्मस्य—स्वावयवधर्मस्य देशान्तरस्थरूप्यादेः अध्यास इति वदन्ति। आत्मख्यातिवादिनस्तु बाह्यशुक्त्यादौ बुद्धिरूपात्मनो धर्मस्य रजतस्य अध्यासः, आन्तरस्य रजतस्य बहिर्वत् अवभास इति वदन्ति इत्यर्थः। अख्यातिमतमाह—केचिदिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

लक्षण है ऐसा विचारकर अन्यथाख्यातिवादी और आत्मख्यातिवादीका मत "तं केचित्" वाक्यसे कहते हैं। 'केचित्' अन्यथाख्यातिवादी ( तार्किकों ) का यह मत है कि 'अन्यमें' अर्थात् सीप आदिमें 'अन्यके धर्मका'—स्वावयव धर्मका—देशान्तरस्थ चाँदी आदिका अध्यास होता है। आत्मख्यातिवादी बौद्ध कहते हैं कि 'अन्यमें' अर्थात् बाह्य सीप आदिमें 'अन्यके धर्मका' अर्थात् बुद्धिरूपी आत्माके धर्म चाँदी आदिका अध्यास होता है। अर्थात् आन्तर चाँदीका बाह्य पदार्थके समान अवभास होता है।(१) 'केचित्' इत्यादि कहकर भाष्यकार अख्यातिवादी

(१) "आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरेतत्ख्यातिपञ्चकम् ॥"

आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीयख्याति ये पांच ख्यातियाँ हैं। ख्याति ( भ्रम ज्ञान ) में पांच प्राचीन मतभेद हैं। आत्मख्यातिवादी ( क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध ) के मतमें बुद्धि ( विज्ञान ) के सिवा दूसरा पदार्थ है ही नहीं, रजत आदि बुद्धिरूप ही हैं। ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञानका जो पृथक् पृथक् अवभास होता है, वह भ्रम है। अनादि वासनाओंके बलसे बुद्धि ही अनेक प्रकारोंसे भासती है। असत्ख्यातिवादी ( शून्यवादी बौद्ध ) ऐसा मानते हैं कि 'इदं रजतम्' यह ज्ञान स्मृति और अनुभवसे भिन्न है। यह अध्यास नामक ज्ञान है। इसमें असत् रजत आदिका भान होता है। अख्यातिवादी ( मीमांसक ) का मत है कि 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थलोंमें रजतसे चक्षु आदिका सन्निकर्ष न होनेसे रजतका स्मरण होता है, प्रत्यक्ष नहीं होता, इदमंशका प्रत्यक्ष होता है। बुद्धि और विषयोंमें भेदाग्रहसे व्यवहार होता है। अन्यथाख्यातिवादी ( नैयायिकों ) का मत है कि देशान्तरगत और कालान्तरगत रजतका शुक्तिसे संयुक्त दोषयुक्त इन्द्रिय द्वारा ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिसे ग्रहण होता है। अनिर्वचनीयख्यातिवादी ( वेदान्तियों ) का मत है कि पुरोवर्ती पदार्थमें रजतत्व सत् है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह बाधित होता है। इसी प्रकार रजतत्व असत् है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष भासता है। इस प्रकार रजतत्व, सत् और असत्से विलक्षण होनेसे, अनिर्वचनीय कहलाता है। इन ख्यातियोंमें बहुत मतभेद हैं, यहाँ दिग्दर्शनमात्र कराया है।

भाष्य

इति। अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते इति। सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः

भाष्यका अनुवाद

समझनेसे होनेवाला भ्रम, अध्यास है। दूसरे लोग 'जिसमें जिसका अध्यास है, उसमें विरुद्ध धर्मवालेके भावकी कल्पना को अध्यास कहते हैं। परन्तु किसी भी मत में 'दूसरेमें दूसरेके धर्मकी प्रतीति होना' इस लक्षणका व्यभिचार नहीं होता। इसी प्रकार लोकव्यवहारमें भी ऐसा अनुभव है कि शुक्ति ही

रत्नप्रभा

यत्र यस्य अध्यासो लोकसिद्धस्तयोरर्थयोः, तद्धियोश्च भेदाग्रहे सति तन्मूलो भ्रमः, इदं रूप्यमिति विशिष्टव्यवहार इति वदन्ति इत्यर्थः। तैरपि विशिष्टव्यवहारान्यथानुपपत्त्या विशिष्टभ्रान्तेः स्वीकार्यत्वात् परत्र परावभाससम्मतिरिति भावः। शून्यमतमाह—अन्ये त्विति। तस्यैव अधिष्ठानस्य—शुक्त्यादेः विपरीतधर्मत्वकल्पनां विपरीतो विरुद्धो धर्मो यस्य तद्भावः तस्य रजतादेः अत्यन्तासतः कल्पनामाचक्षते इत्यर्थः। एतेषु मतेषु परत्र परावभासत्वलक्षणसंवादमाह—सर्वथापि तु इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

मीमांसकका मत दिखलाते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जिसमें अर्थात् सीप आदिमें जिसका अध्यास अर्थात् चाँदी आदिका अध्यास लोक-प्रसिद्ध है, उनका और उनकी बुद्धियोंका भेद न समझनेसे होनेवाला भ्रम, अर्थात् यह चाँदी है ऐसा विशिष्ट व्यवहार होता है। विशिष्ट व्यवहार उत्पन्न करनेके लिए उन्हें भी विशिष्ट भ्रान्ति माननी ही पड़ती है अर्थात् 'अन्यमें अन्यका अवभास' इस अध्यासके लक्षणमें उनकी भी सम्मति ही है। "अन्ये तु" इत्यादिसे दूसरे अर्थात् शून्यवादी[1]का मत दिखलाते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि 'जिसमें' अर्थात् सीप आदिमें 'जिसका' अर्थात् चाँदी आदिका अध्यास है, उसमें अर्थात् सीप आदिमें विपरीतधर्मत्व विपरीत—अत्यन्त असत् धर्म—रजत आदि जिस शुक्ति आदिका है वह शुक्ति आदि विपरीतधर्मक है, उसके भाव—धर्म (असत् चाँदी आदि) की जो कल्पना वह अध्यास है। इस प्रकार इन मतोंमें 'अन्यमें अन्यका अवभास' इस लक्षणका संवाद अर्थात् ऐकमत्य है।

(१) बौद्धोंमें चार भेद हैं। माध्यमिक (सर्वशून्यत्ववादी), योगाचार (बाह्यशून्यत्ववादी), सौत्रान्तिक (बाह्यार्थानुमेयत्ववादी) और वैभाषिक (बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी)। माध्यमिकके मतानुसार भीतर और बाहरके सब पदार्थ शून्य हैं। योगाचारके मतमें बाह्य अर्थ शून्य है, आन्तर विज्ञान सत्य है, बाह्य पदार्थ ज्ञानस्वरूप है। ये क्षणिक विज्ञानवादी कहलाते हैं। सौत्रान्तिकके मतमें बाह्य पदार्थ है, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमानगम्य है। वैभाषिकके मतमें बाह्य अर्थ है और वह प्रत्यक्ष है। सौत्रान्तिक और वैभाषिक दोनों बाह्य और आन्तर पदार्थ मानते हैं, इसलिए सर्वास्तित्ववादी कहलाते हैं।

भाष्य

शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति । कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम् ? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते

भाष्यका अनुवाद

रजतके समान अवभासित होती है, एकही चन्द्रमा दो चन्द्रमाओंके समान मालूम पड़ता है।

शङ्का—अविषय प्रत्यगात्मामें विषय और विषयके धर्मका अध्यास कैसे हो ? सब लोग पुरोवर्ती विषयमें अन्य विषयका अध्यास करते हैं। 'तुम' ऐसे

रत्नप्रभा

अन्यथाख्यातित्वादिप्रकारविवादेऽपि अध्यासः परत्र परावभासत्वलक्षणं न जहाति इत्यर्थः। शुक्तौ अपरोक्षस्य रजतस्य देशान्तरे बुद्धौ वा सत्त्वायोगात्, शून्यत्वे प्रत्यक्षत्वायोगात्, शुक्तौ सत्त्वे बाधायोगात् मिथ्यात्वमेवेति भावः। आरोप्यमिथ्यात्वे न युक्त्यपेक्षा, तस्य अनुभवसिद्धत्वात् इत्याह—**तथा चेति**। बाधानन्तर-कालीनोऽयमनुभवः, तत्पूर्वं शुक्तिकात्वज्ञानायोगाद् रजतस्य बाधप्रत्यक्षसिद्धं मिथ्यात्वं वच्छब्देन उच्यते। आत्मनि निरुपाधिके अहङ्काराध्यासे दृष्टान्तमुक्त्वा ब्रह्मजीवावान्तरभेदस्य अविद्याद्युपाधिकस्य अध्यासे दृष्टान्तमाह—**एक इति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसी बातको "सर्वथापि तु" इस वाक्यसे दिखलाते हैं। यद्यपि सभी पक्षोंमें अधिष्ठान और आरोप्यका किस प्रकार अवभास होता है, इस सम्बन्धमें विवाद है, तो भी पुरोवर्ती सीप आदि चाँदीके रूपमें अवभासित होती है, यह जो अध्यासका लक्षण है, उसका व्यभिचार नहीं होता है। शुक्ति में प्रत्यक्ष दिखलाई देनेवाला रजत देशान्तरमें अथवा बुद्धिमें नहीं रह सकता। यदि उसे शून्य मानें, तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा। यदि वह शुक्तिमें ही है कहें, तो उसका बाध नहीं होगा। इसलिए वह मिथ्या ही है। आरोप्य मिथ्या है, इस विषयमें युक्तिकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह अनुभवसिद्ध है। इस बातको "तथा च" इस वाक्यसे दिखलाते हैं। अध्यास का बाध होते ही 'सीप चाँदीके समान भासती थी, यह अनुभव तुरन्त ही उत्पन्न होता है। बाध होनेसे पहले, अध्यासके समयमें, सीपका सीपरूपसे ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार अध्यासके बाधरूप प्रत्यक्षज्ञानसे चाँदी मिथ्या सिद्ध होती है, यह बात चाँदीके समान, सद्वितीय चन्द्रके समान इन वाक्योंमें 'समान' पदके प्रयोगसे समझमें आती है। उपाधि-रहित आत्मामें अहङ्कारके अध्यासका दृष्टान्त दिखलाकर अविद्या आदि उपाधियोंसे होनेवाले

(१) मूलस्थ 'अवभासते' इस प्रयोगमें भूतकालमें लट् है।

(२) चाँदीके समान है, चाँदी नहीं है, इस कथनसे मिथ्या (अनिर्वचनीय) है, यह स्पष्ट भासता है।

भाष्य

**विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं**

भाष्यका अनुवाद

प्रत्ययके अयोग्य प्रत्यगात्मा अविषय है, ऐसा तुम कहते हो।

रत्नप्रभा

चन्द्रसहितवदेक एव अङ्गुल्या द्विधा भाति इत्यर्थः। लक्षणप्रकरणोपसंहारार्थः 'इति' शब्दः।

भवत्वध्यासः शुक्त्यादौ, आत्मनि तु न सम्भवति इति आक्षिपति—**कथं पुनरिति**। यत्र अपरोक्षाध्यासाधिष्ठानत्वं तत्र इन्द्रियसंयुक्तत्वं विषयत्वं च इति व्याप्तिः शुक्त्यादौ दृष्टा, तत्र व्यापकाभावाद् आत्मनोऽधिष्ठानत्वं न सम्भवति इति अभिप्रेत्य आह—**प्रत्यगात्मनीति**। प्रतीचि पूर्णे इन्द्रियाग्राह्ये विषयस्य अहंकारादेः तद्धर्माणां च अध्यासः कथमित्यर्थः। उक्तव्याप्तिमाह—**सर्वो हीति**। पुरोऽवस्थितत्वम्—इन्द्रियसंयुक्तत्वम्। ननु आत्मनोऽपि अधिष्ठानत्वार्थं विषयत्वादिकमस्तु इत्यत आह—**युष्मदिति**। इदंप्रत्ययानर्हस्य प्रत्यगात्मनो "न चक्षुषा गृह्यते" (मु० ३।१।८) इत्यादिश्रुतिमनुसृत्य त्वमविषयत्वं ब्रवीषि। सम्प्रति अध्यासलोमेन विषयत्वाङ्गीकारे

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म और जीवके भेदके अध्यासका दृष्टान्त 'एकः' इस वाक्यसे कहते हैं। चन्द्र एक ही है तो भी आँखमें अङ्गुली लगानेसे दोकी तरह मालूम पड़ता है। भाष्यमें स्थित 'इति' शब्द अध्यासलक्षण-प्रकरणके उपसंहारका द्योतक है।

अध्यासको दृढ़ करनेके लिए 'कथं पुनः' इत्यादिसे आक्षेप करते हुए फिर कहते हैं कि सीप आदिमें अध्यास भले ही हो, परन्तु आत्मामें अध्यासका सम्भव नहीं है। सीप आदि जो जो प्रत्यक्ष अध्यासके अधिष्ठान हैं, वे इन्द्रियसंयुक्त होते हैं और विषय भी हैं ऐसी व्याप्ति शुक्ति आदिमें देखी गई है, अर्थात् जो जो प्रत्यक्ष अध्यासका अधिष्ठान है, वह इन्द्रियसंयुक्त है और विषय है। इस व्याप्तिज्ञानमें प्रत्यक्षाध्यासाधिष्ठानत्व व्याप्य है और इन्द्रिय-संयुक्तत्व और विषयत्व व्यापक हैं। आत्मामें व्यापकका अभाव है, आत्मा इन्द्रियसंयुक्त नहीं है और विषय भी नहीं, इसलिए वह अधिष्ठान नहीं हो सकता, ऐसा विचारकर कहते हैं—"प्रत्यगात्मनि"। आशय यह है कि इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होनेके अयोग्य प्रत्यग् आत्मामें अहङ्कार आदि विषय और उनके धर्मोंका अध्यास कैसे हो सकता है? "सर्वो हि" आदि वाक्यसे पूर्वोक्त व्याप्तिको कहते हैं। पुरोवस्थित—इन्द्रियसंयुक्त। आत्माको अधिष्ठान बनानेके लिए विषय मानेंगे, ऐसा यदि सिद्धान्ती कहे तो इस पर पूर्वपक्षी कहता है—"युष्मत्" इत्यादि। आत्मा 'इदम्' ऐसे ज्ञानका विषय नहीं है। 'न चक्षुषा गृह्यते' (चक्षु इन्द्रियसे आत्माका ग्रहण नहीं होता) इस और ऐसे अन्य श्रुति-वाक्योंके अनुसार तुम ऐसा कहते हो कि आत्मा अविषय है और अब

भाष्य

सर्वोपि। उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषय-त्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्ति नियमः पुरोवस्थित

भाष्यका अनुवाद

समाधान—सुनो, पहले तो यह आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है, क्योंकि वह 'हम' ऐसे प्रत्यय का विषय है और स्वप्रकाश है, क्योंकि प्रत्यगात्मा प्रसिद्ध है। और पुरोवर्ती विषयमें ही दूसरे विषयका अध्यास हो, ऐसा कोई नियम भी नहीं है।

रत्नप्रभा

श्रुतिसिद्धान्तयोः बाधः स्यादित्यर्थः। आत्मनि अध्याससम्भावनां प्रतिजानीते—उच्यते इति। अधिष्ठानारोप्ययोः एकस्मिन् ज्ञाने भासमानत्वमात्रम् अध्यास-व्यापकम्, तच्च भानप्रयुक्तसंशयनिवृत्त्यादिफलभाक्त्वम्, तदेव भानभिन्नत्वघटितं विषयत्वम्, तन्न व्यापकम्, गौरवात् इति मत्वा आह—**न तावदिति**। अयमात्मा नियमेन अविषयो न भवति। तत्र हेतुमाह—**अस्मदिति**। अस्म-त्प्रत्ययोऽहमिति अध्यासः तत्र भासमानत्वाद् इत्यर्थः। अस्मदर्थः चिदात्मा प्रति-बिम्बितत्वेन यत्र प्रतीयते सोऽस्मत्प्रत्ययोऽहंकारः तत्र भासमानत्वात् इति वा अर्थः। न च अध्यासे सति भासमानत्वम्, तस्मिन् सति स इति परस्पराश्रयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

अध्यासके लोभसे यदि आत्माको विषय मानो, तो श्रुति-वाक्य और तुम्हारे सिद्धान्तका बाध होगा। इस प्रकार अध्यासका आक्षेप करके "उच्यते" ऐसा कहकर आत्मामें अध्यासकी सम्भावनाकी प्रतिज्ञा करते हैं। अधिष्ठान तथा आरोपका एक ज्ञानमें भासना इतना मात्र ही अध्यासका व्यापक ( प्रयोजक ) है। वह भासना है—भानसे होनेवाले संशयनिवृत्ति आदि फलका भाजन होना। भानभेदघटित भासमानता विषयता है, यह किसीका मत है; परन्तु वह अध्यासका प्रयोजक नहीं है, क्योंकि उसमें गौरव है, ऐसा मानकर "न तावत्" कहते हैं। यह आत्मा नियमसे अविषय नहीं है अर्थात् विषय होता ही न हो, ऐसा नियम नहीं है। "अस्मत्" इस वाक्यसे उसका हेतु बतलाते हैं। "मैं ऐसे प्रत्यय" अर्थात् 'मैं' ऐसे अध्यासका आत्मा विषय है। आशय यह है कि—'मैं' प्रतीतिमें आत्मा भासित होता है। अथवा 'मैं' का अर्थ जो चिदात्मा है, उसकी प्रतिबिम्ब रूपसे जिसमें प्रतीति होती है, उस अहङ्कारका आत्मा विषय है। अभिप्राय यह है कि अहङ्कारमें आत्मा भासमान होता है इसलिए अविषय नहीं है। अहङ्कारमें आत्माका अध्यास होनेसे आत्मा भासमान होता है और आत्माके भासमान होनेसे अध्यास होता है, यह अन्योऽन्याश्रय[१] दोष है। इस शंकाका

(१) दोनों परस्पर अपेक्षा रक्खें, ऐसा अनिष्ट प्रसंग अन्योन्याश्रय है। आत्माके भासनको

रत्नप्रभा

इति वाच्यम्, अनादित्वात्; पूर्वाध्यासे भासमानात्मन उत्तराध्यासाधिष्ठानत्व-सम्भवात्। ननु अहमिति अहंकारविषयकभानरूपस्य आत्मनो भासमानत्वं कथम्? तद्विषयत्वं विना तत्फलभाक्त्वायोगात् इत्यत आह—**अपरोक्षत्वात् च इति**। चशब्दः शङ्कानिरासार्थः। स्वप्रकाशत्वात् इत्यर्थः। स्वप्रकाशत्वं साधयति—**प्रत्यगिति**। आबालपण्डितम् आत्मनः संशयादिशून्यत्वेन प्रसिद्धेः स्वप्रकाशत्वम् इत्यर्थः। अतः स्वप्रकाशत्वेन भासमानत्वात् आत्मनोऽध्यासा-धिष्ठानत्वं सम्भवति इति भावः। यदुक्तम् अपरोक्षाध्यासाधिष्ठानत्वस्य इन्द्रिय-संयुक्ततया ग्राह्यत्वं व्यापकमिति तत्र आह—**न चायम् इति**। तत्र हेतु-माह—**अप्रत्यक्षेऽपि इति**। इन्द्रियाग्राह्ये अपि इत्यर्थः। बाला अविवेकिनः तलम् इन्द्रिनीलकटाहकल्पं नभो मलिनं पीतमित्येवम् अपरोक्षमध्यस्यन्ति। तत्र इन्द्रियग्राह्यत्वं नाऽस्ति इति व्यभिचारात् न व्याप्तिः। एतेन आत्मानात्मनोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

निवारण इस प्रकार है—अध्यास अनादि है। पूर्व पूर्व अध्यासमें भासमान आत्मा उत्तरोत्तर अध्यासका अधिष्ठान होता है, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। 'अहम्' इत्याकारक अहङ्कारका भान ही आत्मा है, वह भानका विषय नहीं है और भानके विषयत्वके बिना संशय-निवृत्तिरूप फलभागी कैसे होगा? इसके वारणके लिए कहते हैं—"अपरोक्षत्वात्" इत्यादि। 'च' शब्द शंकाका निवारण करनेके लिए है। आत्मा अपरोक्ष—स्वप्रकाश है ऐसा अर्थ है। आत्मामें स्वप्रकाशत्व सिद्ध करनेके लिए हेतु दिखाते हैं—"प्रत्यग्" इत्यादि। अभिप्राय यह है कि बालकसे लेकर पंडित तक किसीको भी आत्मामें संशय नहीं होता, क्योंकि सबको वह प्रसिद्ध है, इसलिए स्वप्रकाश है। आत्मा स्वप्रकाशत्वेन भासमान होता है, इसलिए वह अध्यासका अधिष्ठान हो सकता है। ऊपर जो व्याप्ति कही थी—'जहाँ प्रत्यक्ष अध्यासका अधिष्ठानत्व है, वहाँ इन्द्रियके संयोगसे जन्य ज्ञानका विषयत्व है' इस व्याप्तिके त्यागमें हेतु देते हैं—"न चायम्" इत्यादिसे। ऐसा कोई नियम नहीं है कि पुरोवर्ती इन्द्रियसंयुक्त विषयमें ही दूसरे विषयका अध्यास करें। इस बातको सिद्ध करनेके लिए हेतु बताते हैं—"अप्रत्यक्ष" इत्यादि। अर्थात् इन्द्रियोंसे जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, ऐसे आकाशमें भी अविवेकी पुरुष पृथिवी-तलच्छायाका अध्यास करते हैं अर्थात् इन्द्रनीलमणिकी कढ़ाईके समान मलिन है, धुएं जैसा है, पीला है, ऐसा प्रत्यक्ष अध्यास करते हैं। आकाशका इन्द्रियसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार व्यभिचार होनेसे नियम सिद्ध नहीं होता, व्याप्ति दूषित ठहरती है। इसलिए आत्मा और अनात्मामें सादृश्य न होनेसे अध्यास नहीं होता,

---

अध्यासकी अपेक्षा रहती है और अध्यासको आत्माके भासनकी अपेक्षा रहती है। इस प्रकार परस्पर अपेक्षा रहनेसे अन्योन्याश्रय होता है।

*भाष्य*

एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति। एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः। तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवं सति यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण

*भाष्यका अनुवाद*

क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाशमें भी अविवेकी पुरुष तलमलिनता आदिका अध्यास करते हैं। इस प्रकार प्रत्यगात्मामें अनात्माका अध्यास भी अविरुद्ध है। उक्त लक्षणवाले इस अध्यासको पण्डित 'अविद्या' मानते हैं और इससे विवेक करके वस्तुस्वरूपके निर्धारण को 'विद्या' कहते हैं। ऐसा होनेपर जिसमें जिसका अध्यास है, उसके गुण अथवा दोषके साथ अणुमात्र भी उसका संबन्ध नहीं होता। उक्त अविद्या

---

*रत्नप्रभा*

सादृश्याभावात् न अध्यास इति अपास्तम्। नीलनभसोः तदभावे अपि अध्यासदर्शनात्। सिद्धान्ते आलोकाकारचाक्षुषवृत्त्यभिव्यक्तसाक्षिवेद्यत्वं नभसि इति ज्ञेयम्। सम्भावनां निगमयति—**एवमिति**। ननु ब्रह्मज्ञाननाश्यत्वेन सूत्रितामविद्यां हित्वा अध्यासः किमिति वर्ण्यते इत्यत आह—**तमेतमिति**। आक्षिप्तं समाहितम् उक्तलक्षणलक्षितम् अध्यासम् अविद्याकार्यत्वाद् अविद्या इति मन्यन्ते इत्यर्थः। विद्यानिवर्त्यत्वात् च अस्य अविद्यात्वमित्याह—**तद्विवेकेनेति**। अध्यस्तनिषेधेन अधिष्ठानस्वरूपनिर्धारणं विद्याम् अध्यासनिवर्तिकाम् आहुरित्यर्थः। तथापि कारणाविद्यां त्यक्त्वा कार्याविद्या किमिति वर्ण्यते तत्र आह—**तत्र इति**।

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

इस मत का खण्डन होता है, क्योंकि आकाश और नीलगुणमें सादृश्य नहीं है, तो भी अध्यास देखनेमें आता है। सिद्धान्तमें प्रकाशाकार चाक्षुषवृत्तिसे अभिव्यक्त साक्षीका विषय आकाश है, अर्थात् आकाश इन्द्रियग्राह्य न होने पर भी साक्षिग्राह्य है। "एवं" इस वाक्यसे अध्यासकी सम्भावनाका उपसंहार करते हैं। कोई शङ्का करे कि ब्रह्मज्ञानसे जिस अविद्याका नाश होता है, और जिस अविद्याका प्रथम सूत्रमें आर्थिक वर्णन किया है, उस अविद्याको छोड़कर अध्यासके वर्णन करनेका क्या कारण है? इस शंकाका "तमेतम्" इस वाक्यसे समाधान करते हैं। अर्थात् जिस अध्यासका आक्षेप करके समाधान किया है, उस उक्त लक्षणवाले अध्यासको पण्डित अविद्या मानते हैं, क्योंकि वह अविद्याका कार्य है और विद्यासे उसका नाश होता है, इसलिए भी इसको अविद्या कहते हैं। यह बात "तद्विवेकेन" इस वाक्यसे दिखाते हैं। अध्यासका निषेध करके वस्तु अर्थात् अधिष्ठानके स्वरूपका निश्चय

भाष्य

गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते। तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोः इतरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। कथं पुनरविद्याव-

भाष्यका अनुवाद

नामक—आत्मा और अनात्माके परस्पर—अध्यासको निमित्त मानकर सब लौकिक और वैदिक प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार प्रवृत्त हुआ है और सब विधि-निषेध बोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। फिर

रत्नप्रभा

तस्मिन् अध्यासे उक्तन्यायेन अविद्यात्मके सति इत्यर्थः। मूलाविद्यायाः सुषुप्तौ अनर्थत्वादर्शनात् कार्यात्मना तस्या अनर्थत्वज्ञापनार्थं तद्वर्णनमिति भावः। अध्यस्तकृतगुणदोषाभ्याम् अधिष्ठानं न लिप्यते इति अक्षरार्थः।

एवम् अध्यासस्य लक्षणसम्भावने उक्त्वा प्रमाणमाह—**तमेतमिति**। तं वर्णितमेतं साक्षिप्रत्यक्षसिद्धं पुरस्कृत्य हेतुं कृत्वा लौकिकः कर्मशास्त्रीयो मोक्षशास्त्रीयश्च इति त्रिविधो व्यवहारः प्रवर्तते इत्यर्थः। तत्र विधिनिषेधपराणि कर्मशास्त्राणि

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेको अध्यासका नाश करनेवाली विद्या कहते हैं। तो भी जिससे अध्यास उत्पन्न होता है, उस कारण रूप अविद्याको छोड़कर कार्यरूप अध्यासके वर्णन करनेका क्या कारण है? इसका उत्तर "तत्र" इस वाक्यसे देते हैं। अर्थात् अध्यास उपर्युक्त प्रकारसे अविद्यात्मक है इसलिए। तात्पर्य यह है कि कारणरूप अविद्या सुषुप्तिमें स्वरूपसे अनर्थरूप नहीं दीखती, जाग्रत् अवस्थामें कार्यरूपसे अर्थात् कर्तृत्व आदि अध्यासरूपसे अनर्थरूप है, यह बतानेके लिए अध्यासका वर्णन किया है। अक्षरार्थ यह है कि आत्मामें जिस बुद्धि आदिका अध्यास होता है, उस बुद्धि आदिके किए हुए ब्रह्महत्य आदि और क्षुधा आदि दोषोंसे तथा सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे आत्माका किंचित् भी सम्बन्ध नहीं हाता। अर्थात् अध्यास-जनित गुण-दोषोंसे अधिष्ठान तनिक भी लिप्त नहीं होता, इसलिए विद्यासे इसकी निवृत्ति होती है।

इस प्रकार अध्यासका लक्षण और सम्भावना कहकर "तमेतम्" इत्यादिसे प्रमाण कहते हैं। 'तम्' अर्थात् पूर्ववर्णित और 'एतम्' अर्थात् साक्षीभूत आत्माके प्रत्यक्ष-सिद्ध अविद्या नामक अध्यासको 'आगे करके' अर्थात् अध्यासको लेकर सब लौकिक, कर्मशास्त्रीय और मोक्षशास्त्रीय तीन प्रकारके व्यवहार प्रवृत्त होते हैं। विधि-निषेध साधक शास्त्र अर्थात्

(१) प्रमाण अर्थात् ज्ञानका साधन। प्रमेय अर्थात् ज्ञेय वस्तु। प्रमाण—प्रमेयसे प्रमाता—ज्ञाता आदि समझने चाहिए। वेद पुरुष प्रणीत नहीं है, इसलिए शास्त्रोंका पृथक् ग्रहण किया है।

भाष्य

द्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति। उच्यते—देहेन्द्रियादि-

भाष्यका अनुवाद

अविद्यावाला आत्मा है आश्रय जिनका ऐसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र कैसे ? ( अविद्यावान् आत्माको विषय करनेवाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाण एवं शास्त्रोंमें प्रामाण्य कैसे ? ) कहते हैं—देह, इन्द्रिय आदिमें 'मैं' 'मेरा' इस अभिमान-

रत्नप्रभा

ऋग्वेदादीनि, विधिनिषेधशून्यप्रत्यग्ब्रह्मपराणि मोक्षशास्त्राणि वेदान्तवाक्यानि इति विभागः। एवं व्यवहारहेतुत्वेन अध्यासे प्रत्यक्षसिद्धेऽपि प्रमाणान्तरं पृच्छति—**कथं पुनरिति**। अविद्यावानहम् इति अध्यासवान् आत्मा प्रमाता स विषयः आश्रयो येषां तानि अविद्यावद्विषयाणि इति विग्रहः। तत्तत्प्रमेयव्यवहारहेतुभूतायाः प्रमाया अध्यासात्मकप्रमात्राश्रितत्वात् प्रमाणानामविद्यावद्विषयत्वं यद्यपि प्रत्यक्षम्, तथापि पुनरपि कथं केन प्रमाणेन अविद्यावद्विषयत्वमिति योजना। यद्वा अविद्यावद्विषयाणि कथं प्रमाणानि स्युः ? आश्रयदोषात् अप्रामाण्यापत्तेः इत्याक्षेपः। तत्र प्रमाणप्रश्ने व्यवहारार्थापत्तिं तल्लिङ्गकानुमानं च आह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मशास्त्र, ऋग्वेद आदि। मोक्ष साधकशास्त्र अर्थात् वेदान्तशास्त्र, जो विधि-निषेधसे रहित हैं और जिनमें प्रत्यक् ब्रह्ममात्रका निर्धारण किया है। इस प्रकार तीन प्रकारके व्यवहारका हेतु होनेसे अध्यास प्रत्यक्ष सिद्ध है, तो भी उसमें दूसरा प्रमाण "कथं पुनः" आदिसे पूछते हैं। अविद्यावान् अर्थात् शरीर आदिमें 'मैं' ऐसे अध्यासवाला आत्मा—प्रमाता जिनका विषय—आश्रय है, वे ( शास्त्र ) अविद्यावद्विषय हैं—ऐसा इसका विग्रह है। जिस जिस प्रमेयका व्यवहार होता है, उसका हेतु प्रमा है और प्रमाका आधार अध्यासवान् प्रमाता है। यद्यपि इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्यावान् आत्माके आश्रित हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, तो भी दूसरे किस प्रमाणसे यह सिद्ध हो कि वे अविद्यावान् आत्माके आश्रित हैं—इस प्रकार वाक्यकी योजना करनी चाहिये। अथवा इस प्रकार योजना करनी चाहिये कि 'अविद्यावान् आत्माके आश्रित प्रमाण कैसे हों, क्योंकि आश्रयके दोषसे प्रमाण अप्रमाण हो जाता है। इस प्रकार दूसरे पक्ष में आक्षेप है। 'प्रमाण अविद्यावद्विषय हैं' इसमें क्या प्रमाण है ? इस प्रश्नके उत्तरमें "उच्यते" इत्यादि "तस्मात्" इत्यन्त ग्रन्थसे व्यवहारार्थापत्ति ( अर्थात् यदि प्रमाण अविद्यावाद्विषय न हों तो कोई व्यवहार ही नहीं हो सकता। व्यवहार लोकमें होता है इसलिए प्रमाण अविद्यावद्विषय हैं ) प्रमाण और व्यवहार हेतुक अनुमानको दिखलाते हैं। अनुमानका प्रयोग इस प्रकार (भी) है—

भाष्य

ष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति। न चाधिष्ठानमन्तरेण

भाष्यका अनुवाद

रहित पुरुषका प्रमातृत्व असिद्ध होने पर प्रमाताकी उपपत्ति नहीं है और प्रमाता के अनुपपन्न होनेसे प्रमाणकी प्रवृत्ति भी अनुपपन्न होती है, इसलिए इन्द्रियोंका ग्रहण किए बिना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार सम्भव नहीं है और अधिष्ठानके बिना

---

रत्नप्रभा

"उच्यते" इत्यादिना "तस्मात्" इत्यन्तेन। देवदत्तकर्तृको व्यवहारः तदीयदेहादिषु अहंममाध्यासमूलः, तदन्वयव्यतिरेकानुसारित्वात्, यदित्थं तत्तथा, यथा मृन्मूलो घट इति प्रयोगः। तत्र व्यतिरेकं दर्शयति—देहेति। देवदत्तस्य सुषुप्तौ अध्यासाभावे व्यवहाराभावो दृष्टः। जाग्रत्स्वप्नयोरध्यासे सति व्यवहार इत्यन्वयः स्फुटत्वात् न उक्तः। अनेन लिङ्गेन कारणतया अध्यासः सिद्ध्यति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

देवदत्तकर्तृक व्यवहार, देह आदिमें 'मैं' 'मेरा' अध्यासमूलक है, क्योंकि वह देह आदि अध्यासके अन्वय और व्यतिरेकका अनुसारी होता है। जो जिसके अन्वय और व्यतिरेकका अनुसारी होता है, वह तन्मूलक होता है। जैसे घट मृत्तिकाके अन्वय और व्यतिरेकका अनुसारी होनेसे मृत्तिकामूलक है। उक्त अनुमानमें "देहेन्द्रियादिषु" इत्यादि भाष्यसे व्यतिरेक व्याप्ति दिखलाते हैं। जब देवदत्त सुषुप्ति अवस्थामें रहता है, तब अध्यासका अभाव रहता है और व्यवहारका भी अभाव रहता है। व्यतिरेक व्याप्तिका यह उपयोग है—जहाँ अध्यास नहीं है, वहाँ व्यापार नहीं होता है, जैसे सुषुप्तिमें। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें व्यवहार होता है, इसलिए अध्यास है यह अन्वय व्याप्ति स्पष्ट है—इसलिए यहाँ उसका वर्णन नहीं

---

(१) व्याप्ति दो प्रकारकी है—अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। हेतु और साध्यका साहचर्य अन्वय है, साध्यके अभाव और हेतुके अभावका साहचर्य व्यतिरेक है। हेतु और साध्यकी व्याप्ति अन्वय-व्याप्ति कहलाती है। जैसे—'पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि धूमवान् है, इस अनुमानमें जो जो धूमवान् है, वह वह्निमान् है; (जहां जहां धूम है, वहां वह्नि है), जैसे महानस (रसोई घर), यह अन्वय व्याप्ति है। जो जो वह्न्यभाववान् है, वह धूमाभाववान् है, (जहां जहां वह्नि नहीं है, वहाँ धूम नहीं है) जैसे—ह्रद, यह व्यतिरेक व्याप्ति है। अन्वय व्याप्तिमें हेतु व्याप्य है और साध्य व्यापक है। व्यतिरेक व्याप्तिमें साध्याभाव व्याप्य है हेत्वभाव व्यापक है। जहां जहां वह्नि नहीं है, वहां धूम नहीं, यह व्याप्ति है। जहां जहां धूम नहीं है, वहां वह्नि नहीं, यह व्याप्ति नहीं है, क्योंकि तपाए हुए लोहेमें धूम नहीं है, परन्तु वह्नि है। इसलिए व्यतिरेक व्याप्तिमें साध्याभाव और हेत्वभावका साहचर्य है।

रत्नप्रभा

व्यवहाररूपकार्यानुपपत्त्या वेति भावः। ननु मनुष्यत्वादिजातिमति देहेऽहमिति अभिमानमात्राद् व्यवहारः सिद्ध्यतु, किमिन्द्रियादिषु ममाऽभिमानेन इत्याशङ्क्य आह—**नहीति**। इन्द्रियपदं लिङ्गादेरपि उपलक्षणम्, प्रत्यक्षादीत्यादिपदप्रयोगात्। तथा च प्रत्यक्षलिङ्गादिप्रयुक्तो यो व्यवहारो द्रष्टा अनुमाता श्रोताऽहमित्यादिरूपः स इन्द्रियादीनि ममतास्पदानि अगृहीत्वा न सम्भवतीत्यर्थः। यद्वा, तानि ममत्वेन अनुपादाय यो व्यवहारः स नेति योजना। पूर्वत्र अनुपादानासम्भवक्रिययोरेको व्यवहारः कर्ता इति क्त्वाप्रत्ययः साधुः। उत्तरत्र अनुपादानव्यवहारयोरेकात्मकर्तृकत्वात् तत्साधुत्वमिति भेदः। इन्द्रियादिषु मम इत्यध्यासाभावे अन्धादेरिव द्रष्टृत्वादिव्यवहारो न स्यात् इति भावः। इन्द्रियाध्यासेनैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

किया। इस हेतुसे व्यवहारकारणत्वेन अध्यासकी सिद्धि होती है। अथवा व्यवहाररूप कार्यकी अनुपपत्तिसे अध्यासकी सिद्धि होती है। कोई शंका करे कि—मनुष्यत्व आदि जातिमान्[1] देहमें 'मैं' ऐसे अभिमान-मात्रसे व्यवहार सिद्ध हो, इन्द्रिय आदिमें 'मेरा' इस अभिमानका क्या प्रयोजन है? इस शंकापर "नहि" इत्यादि कहते हैं। 'इन्द्रिय' पद लिंग[2] आदिका भी उपलक्षण[3] है; क्योंकि 'प्रत्यक्षादीनि' इस अग्रिम ग्रन्थमें आदि पद दिया है। 'द्रष्टा' (मैं देखनेवाला हूँ) यह व्यवहार प्रत्यक्ष ज्ञानसे उत्पन्न होता है और 'अनुमाता' (मैं अनुमान करनेवाला हूँ) यह व्यवहार अनुमिति-ज्ञानसे होता है तथा 'श्रोता' (मैं श्रवण करनेवाला हूँ) यह व्यवहार पदज्ञानसे उत्पन्न होता है। आशय यह है कि प्रत्यक्ष और लिंग आदिसे युक्त जो व्यवहार द्रष्टा, अनुमाता, श्रोता आदि रूपसे देखनेमें आता है, वह ममताके विषय इन्द्रिय आदिका ग्रहण किये बिना नहीं हो सकता है। अथवा ममतासे इन्द्रियोंका ग्रहण किये बिना व्यवहार नहीं हो सकता है, ऐसी योजना करनी चाहिए। प्रथम योजनामें अग्रहण और असंभव रूप दो क्रियाओंका कर्ता एक व्यवहार है, अतः 'अनुपादाय' शब्दमें 'क्त्वा' प्रत्यय ठीक है। दूसरी योजनामें अग्रहण और व्यवहार दोनों क्रियाओंका कर्ता एक आत्मा है, अतः 'क्त्वा' प्रत्यय ठीक है। यही दोनों योजनाओंमें भेद है। आशय यह है कि इन्द्रिय आदिमें 'मेरा' ऐसा अध्यास न होनेसे 'मैं द्रष्टा हूँ' इत्यादि व्यवहार नहीं हो सकता है, जैसे कि अन्धोंको नहीं होता है। कोई शंका करे कि तब तो इन्द्रियाध्याससे ही काम चल

---

(१) समानाकार बुद्धिको उत्पन्न करने योग्य। अर्थात् एक वर्गके सब पदार्थोंमें रहनेवाले धर्मको जाति कहते हैं।

(२) हेतु, साधक।

(३) 'उपलक्ष्यते स्वं स्वेतरं च अनेनेति—उपलक्षणम्।' अर्थात् अपने अर्थका और अपनेसे दूसरे अर्थोंका बोधक पद। यहाँ 'इन्द्रिय' पद अपने अर्थ और दूसरोंका यानी लिंग आदिका भी बोध कराता है। इसलिए 'इन्द्रिय' पद उपलक्षण है।

भाष्य

**इन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते। न चैतस्मिन्सर्वस्मिन्नसति असङ्गस्य आत्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते।**

भाष्यका अनुवाद

इन्द्रियोंसे कृत घट, पट आदिका व्यवहार सम्भव नहीं है। जिसमें आत्मभाव अध्यस्त नहीं है, उस शरीरसे कोई व्यापार नहीं कर सकता। और ये सब अध्यास न हों, तो असंग आत्मा प्रमाता नहीं हो सकता और प्रमाताके बिना प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होती।

---

रत्नप्रभा

व्यवहारादलं देहाध्यासेन इत्यत आह—**न चेति**। इन्द्रियाणामधिष्ठानम् आश्रयः शरीरमित्यर्थः। ननु अस्तु आत्मना संयुक्तं शरीरं तेषामाश्रयः किमध्यासेन इत्यत्र आह—**न च अनध्यस्तात्मभावेन इति**। अनध्यस्त आत्मभावः आत्मतादात्म्यं यस्मिन् तेन इत्यर्थः। "असङ्गो हि (बृ० ४।३।१५) इति श्रुतेः आध्यासिक एव देहात्मनोः सम्बन्धो न संयोगादिः इति भावः। ननु आत्मनो देहादिभिः आध्यासिकसम्बन्धोऽपि मा अस्तु, स्वतश्चेतनतया प्रमातृत्वोपपत्तेः। न च सुषुप्तौ प्रमातृत्वापत्तिः, करणोपरमात् इति तत्राह—**न चैतस्मिन्निति**। प्रमाश्रयत्वं हि प्रमातृत्वम्। प्रमा यदि नित्यचिन्मात्रं तर्हि आश्रयत्वायोगः, करणवैयर्थ्यं च। यदि वृत्तिमात्रम्, जगदान्ध्यप्रसङ्गः वृत्तेर्जडत्वात्। अतो

रत्नप्रभाका अनुवाद

जायगा, देहाध्यासका क्या प्रयोजन है? "न च" इत्यादिसे इस शंकाका निवारण करते हैं। इन्द्रियोंके आश्रय-स्थान शरीरका नाम—अधिष्ठान है। अब कोई शंका करे कि आत्मासे संयुक्त शरीर इन्द्रियोंका आश्रय—स्थान रहे, अध्यासका क्या प्रयोजन है? इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—"न चानध्यस्तात्मभावेन" इत्यादि। जिसमें आत्मतादात्म्य अध्यस्त नहीं है, वह अनध्यस्तात्मभाव कहलाता है। 'असङ्गो हि' (आत्मा संसर्ग रहित है) इस श्रुति-वाक्यसे देह और आत्माका संयोग आदि संबन्ध नहीं बनता, किंतु अध्याससे ही इन दोनों का संबन्ध होता है। यदि यह शंका हो कि 'आत्माका देह आदिके साथ आध्यासिक संबन्ध भी न हो, तो भी आत्मा चेतन होनेके कारण प्रमाता हो जायगा। यदि कहो कि सुषुप्तिमें आत्माके प्रमाता होनेकी आपत्ति होगी, तो ऐसा नहीं है; क्योंकि सुषुप्तिकालमें मनके साथ सब इन्द्रियाँ अविद्यामें लीन हो जाती हैं, अतः सुषुप्तिमें ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस शंकाको दूर करनेके लिए "न चैतस्मिन्" इत्यादि कहते हैं। प्रमा—यथार्थज्ञान। प्रमाके आश्रयको प्रमाता कहते हैं। प्रमा यदि नित्यज्ञान-स्वरूप हो, तो उसका कोई आश्रय नहीं होगा और इन्द्रिय आदि व्यर्थ हो जायँगे। यदि वृत्तिमात्रको प्रमा कहें, तो वृत्तिके जड़ होनेसे समस्त जगत् ज्ञानशून्य हो जायगा, इसलिए वृत्तिव्यक्त ज्ञान ही प्रमा

भाष्य

**न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति । तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव**

भाष्यका अनुवाद

इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्रका आश्रय अविद्यावान् पुरुष ही हैं। और

रत्नप्रभा

वृत्तीद्धो बोधः प्रमा, तदाश्रयत्वमसङ्गस्य आत्मनो वृत्तिमन्मनस्तादात्म्याध्यासं विना न सम्भवति इति भावः। देहाध्यासे, तद्धर्माध्यासे चाऽसति इत्यक्षरार्थः। तर्हि आत्मनः प्रमातृत्वं मा अस्तु इति वदन्तं प्रत्याह—**न चेति**। तस्मात् आत्मनः प्रमातृत्वादिव्यवहारार्थम् अध्यासोऽङ्गीकर्तव्य इति अनुमानार्थापत्त्योः फलमुपसंहरति—**तस्मादिति**। प्रमाणसत्त्वात् इत्यर्थः। यद्वा, प्रमाणप्रश्नं समाधायाक्षेपं परिहरति—**तस्मादिति**। अहमित्यध्यासस्य प्रमात्रन्तर्गतत्वेन अदोषत्वात् अविद्यावदाश्रयाण्यपि प्रमाणानि एव इति योजना। सति प्रमातरि पश्चाद् भवन् दोष इति उच्यते, यथा काचादिः। अविद्या तु प्रमात्रन्तर्गतत्वात् न दोषः, येन प्रत्यक्षादीनाम् अप्रामाण्यं भवेत् इति भावः। ननु यदुक्तमन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यवहारोऽध्यास कार्य इति, तदयुक्तम्, विदुषाम् अध्यासाभावेऽपि व्यवहारदृष्टेः इत्यत

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। आशय यह है कि वृत्तिमान् अन्तःकरणमें तादात्म्याध्यासके बिना असंग आत्मा उस प्रमाका आश्रय नहीं हो सकता। देहाध्यास और उसके धर्मका अध्यास न होनेपर—यह अक्षरार्थ है। यदि कोई कहे कि आत्मा प्रमाता मत हो, उसके बिना हानि ही क्या है? उसके प्रति भाष्यकार "न च" इत्यादि कहते हैं। आत्मामें प्रमाताके व्यवहारके लिए अध्यासका अंगीकार करना चाहिए इस आशयसे अनुमान एवं अर्थापत्ति प्रमाणका फलोपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। तस्मात्—प्रमाणके होनेसे। अथवा प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्यावान् आत्माके आश्रित किस प्रमाणसे हैं इस प्रश्नका समाधान करके 'अविद्यावान् आत्मा आश्रय हो तो प्रत्यक्ष आदि किस प्रकार प्रमाण हो सकेंगे' इस आक्षेपका खण्डन करते हैं—"तस्मात्" इत्यादि भाष्यसे। अध्यासके बिना आत्मा प्रमाता नहीं हो सकता और अध्यास, प्रमाताके स्वरूपके अन्तर्गत होनेसे, दोषरूप नहीं है, इसलिए अविद्यावान्—अध्यासवान्के आश्रय होते हुए भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण ही हैं। तात्पर्य यह है कि प्रमाताके स्वरूपसे पृथक् यदि दोष हो, तो वह दोष कहलावे, जैसे नेत्र-रोग आदि। अविद्या तो प्रमाताके स्वरूपके अन्तर्गत है, इसलिए दोषरूप नहीं है और ऐसा होनेसे प्रत्यक्ष आदिके प्रमाण होनेमें कुछ रुकावट नहीं है। 'अध्यास होता है तभी व्यवहार सिद्ध होता है, अध्यास न हो तो व्यवहार सिद्ध नहीं होता, इस प्रकारके अन्वय-व्यतिरेकसे व्यवहार अध्यासका कार्य है अर्थात् अध्याससे ही उत्पन्न होता है' यह ऊपरका कथन अयुक्त है, क्योंकि विद्वानोंमें

भाष्य

प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ।) पश्वादिभिश्चाविशेषात् । यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते । यथा दण्डोद्यतकरं पुरुष-

भाष्यका अनुवाद

पशु आदिके व्यवहारसे विद्वान्‌के व्यवहारमें विशेषता नहीं है। इससे भी सिद्ध है कि प्रमाण और शास्त्रके आश्रय अविद्वान् ही हैं। जैसे पशु आदि शब्द आदिका श्रोत्र आदिके साथ सम्बन्ध होनेपर शब्द आदिका ज्ञान प्रतिकूल हो, तो उससे निवृत्त होते हैं और अनुकूल हो, तो उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं। जैसे किसी पुरुष-

रत्नप्रभा

आह—पश्वादिभिश्चेति । 'च' शब्दः शङ्कानिरासार्थः । किं विद्वत्त्वं "ब्रह्मास्मि" इति साक्षात्कारः, उत यौक्तिकम् आत्मानात्मभेदज्ञानम् ? आद्ये बाधिताध्यासानुवृत्त्या व्यवहारः इति समन्वयसूत्रे वक्ष्यते । द्वितीये—परोक्षज्ञानस्य अपरोक्षभ्रान्त्यनिवर्त्तकत्वाद्, विवेकिनामपि व्यवहारकाले पश्वादिभिः अविशेषात् अध्यासवत्त्वेन तुल्यत्वाद् व्यवहारोऽध्यासकार्यं इति युक्तमित्यर्थः । अत्रायं प्रयोगः—विवेकिनोऽध्यासवन्तः, व्यवहारवत्त्वात्, पश्वादिवत् इति । तत्र संग्रहवाक्यं व्याकुर्वन् दृष्टान्ते हेतुं स्फुटयति—यथा हीति । विज्ञानस्य अनुकूलत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

अध्यासके बिना भी व्यवहार देखनेमें आता है ऐसी कोई शङ्का करे, तो उस शङ्काका समाधान करनेके लिए कहते हैं—"पश्वादिभिश्चाविशेषात्"। 'च' शब्द शङ्काकी निवृत्ति करनेके लिए है। शङ्काकारको यहाँ पर कौन-सी विद्वत्ता अभीष्ट है ? 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात्कार अथवा आत्मा और अनात्माका युक्तिसिद्ध भेदका परोक्ष ज्ञान ? प्रथम पक्षमें बाधित अध्यासकी अनुवृत्तिसे व्यवहार होता है ऐसा समन्वय सूत्रमें कहेंगे। द्वितीय पक्षमें केवल युक्तिसिद्ध परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष भ्रान्तिका निवर्तक नहीं हो सकता है; क्योंकि जिनको ऐसा परोक्ष ज्ञान है कि शरीर, इन्द्रिय आदि अनात्मासे आत्मा भिन्न है, उन विवेकियोंमें भी व्यवहार कालमें पशुओंकी अपेक्षा विशेषता नहीं है, वे भी पशु आदिके समान ही अध्यासवान् होते हैं, इसलिए उनका व्यवहार भी अध्यासका कार्य है। यहाँ अनुमानका प्रयोग इस प्रकार होता है—'विवेकी अध्यासवान् है, पशुओंकी तरह व्यवहारवान् होनेके कारण। 'पशु आदिसे विशेष नहीं है' इस संग्रह-वाक्यको स्पष्ट करते हुए दृष्टान्तमें हेतुका स्पष्टीकरण करते हैं—"यथा हि"

(१) 'बह्वर्थकवाक्यानामेकत्र संकलनं संग्रहः' बहुतसे अर्थवाले वाक्योंको एक वाक्यमें एकत्र करना संग्रह है) जिस वाक्यमें बहुत वाक्योंसे कहा हुआ अर्थ एकत्रित किया हो, वह संग्रह-वाक्य है।

भाष्य

मभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरित-तृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति। एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्न-चित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते। अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाण-

भाष्यका अनुवाद

को हाथमें दण्ड उठाए हुए देखकर, 'यह मुझे मारना चाहता है' ऐसा समझकर भागने लगते हैं, यदि उसके हाथमें हरी घास होती है' तो उसके संमुख हो जाते हैं। इसी प्रकार विवेकी पुरुष भी, क्रूरदृष्टिवाले, हाथमें खड्ग उठाये हुए, चिल्लाते हुए बलवान् पुरुषोंको देखते हैं, तो उनसे हट जाते हैं और उनसे विपरीत पुरुषोंकी ओर प्रवृत्त होते हैं। इसलिए पुरुषोंका प्रमाण और प्रमेय व्यवहार

---

रत्नप्रभा

प्रतिकूलत्वं च इष्टानिष्टसाधनगोचरत्वम्, तदेव उदाहरति—**यथेति**। अयं दण्डो मदनिष्टसाधनम्, दण्डत्वाद्, अनुभूतदण्डवद्। इदं तृणम्, इष्टसाधनम्, अनुभूतजातीयत्वात्, अनुभूततृणवद् इत्यनुमाय व्यवहरन्ति इत्यर्थः। अधुना हेतोः पक्षधर्मतामाह—**एवमिति**। व्युत्पन्नचित्ता अपि इत्यन्वयः। विवेकिनोऽपि इत्यर्थः। फलितमाह—**अत इति**। अनुभवबलाद् इत्यर्थः। **समान इति**। अध्यासकार्यत्वेन तुल्य इत्यर्थः। ननु अस्माकं प्रवृत्तिरध्यासादिति न पश्वादयो ब्रुवन्ति, नापि परेषा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। यह मेरा इष्टसाधन है, ऐसा ज्ञान अनुकूलगोचर है। यह मेरा अनिष्टकारक है ऐसा ज्ञान प्रतिकूलगोचर है। इसी बातका "यथा" इत्यादिसे उदाहरण देते हैं। यह दण्ड मेरा अनिष्टकारक है, दण्ड होनेसे, प्रथम अनुभूत दण्डके समान। ये तृण मेरे इष्ट-साधक हैं, अनुभूत तृणके सजातीय होनेके कारण, पूर्वभक्षित तृणकी तरह। ऐसा अनुमान करके पशु आदि प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार करते हैं। अब पूर्वोक्त हेतुमें पक्षवृत्तिता दिखलाते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। 'पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः' इसमें 'व्युत्पन्नचित्ता अपि पुरुषाः' ऐसा अन्वय करना चाहिए। विवेकी लोग भी ऐसा अर्थ है। "अतः" आदिसे फलित कहते हैं। अनुभव बलसे यह अर्थ है। "समान" इति। पुरुषोंके प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार पशुओंके समान हैं, क्योंकि दोनोंके व्यवहार अध्यासके कार्य हैं। कोई ऐसी शंका करे कि पशु बोल नहीं

---

'विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्र-भाष्ययोः।
निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥

( सूत्र और भाष्यमें विस्तारसे वर्णित अर्थका जो संक्षेपसे कहना, उसको विद्वान् संग्रह कहते हैं।

भाष्य

प्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारः

भाष्यका अनुवाद

पशु आदि के समान ही व्यवहार है। और पशु आदिका प्रत्यक्ष आदि व्यवहार अविवेकपूर्वक है, यह प्रसिद्ध ही है। पशु आदिके साथ सादृश्य दिखाई देता है, इसलिए विवेकी पुरुषोंका भी प्रत्यक्ष आदि व्यवहार तत्कालमें (व्यवहार कालमें)

---

रत्नप्रभा

मेतत् प्रत्यक्षम्, अतः साध्यविकलो दृष्टान्त इति, नेत्याह—**पश्वादीनां चेति**। तेषाम् आत्मानात्मनोर्ज्ञानमात्रमस्ति, न विवेकः, उपदेशाभावात्। अतः सामग्रीसत्त्वात् अध्यासः तेषां प्रसिद्ध इत्यर्थः। निगमयति—**तत्सामान्येति**। तैः पश्वादिभिः सामान्यं व्यवहारवत्त्वं तस्य दर्शनाद् विवेकिनामपि अयं व्यवहारः समान इति निश्चीयते इति सम्बन्धः। समानत्वं व्यवहारस्य अध्यासकार्यत्वेन- इति उक्तं पुरस्तात्। तत्र उक्तान्वयव्यतिरेकौ स्मारयति—**तत्काल इति**। तस्य अध्यासस्य काल एव कालो यस्य सः तत्कालः। यदा अध्यासः, तदा व्यवहारः, तदभावे सुषुप्तौ तदभाव इति उक्तान्वयादिमान् इति यावत्। अतो व्यवहारलिङ्गाद् विवेकिनामपि देहादिषु अहंममाभिमानोऽस्ति इत्यनवद्यम्। ननु लौकिकव्यवहारस्य आध्यासिकत्वेऽपि ज्योतिष्टोमादिव्यवहारस्य न अध्यासजन्यत्वं,

रत्नप्रभाका अनुवाद

सकते कि हमारी प्रवृत्ति आध्यासिक है, और दूसरोंको भी मालूम नहीं होता है, इसलिए दृष्टान्त अध्यासरूप साध्य रहित होनेसे नहीं बनता। इस शङ्काका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—"पश्वादीनां च" इत्यादि। पशुओंको आत्मा और अनात्माका ज्ञानमात्र है, विवेक नहीं है; क्योंकि उनको कोई उपदेश नहीं कर सकता। विवेकके बिना पशु आदिमें व्यवहार देखनेमें आता है, इसलिए सामग्री होनेसे उनका व्यवहार आध्यासिक है, यह प्रसिद्ध है। अतः पशुरूप दृष्टान्त अध्यासरूप साध्यसे विकल नहीं है। उक्तानुमानका उपसंहार करते हैं—"तत्सामान्य" इत्यादिसे। पशु आदिके साथ व्यवहार-सादृश्य दिखाई देता है, इसलिए विवेकियोंका भी व्यवहार तत्काल समान—आध्यासिक है, ऐसा निश्चय होता है। व्यवहारकी समानता अध्यासकार्य होनेसे है—यह पहले कहा गया है। उक्त अन्वय और व्यतिरेकका स्मरण कराते हैं—"तत्काल" इत्यादिसे। अध्यासका काल ही काल है जिसका अर्थात् जब अध्यास है, तब व्यवहार है। सुषुप्तिमें जब अध्यास नहीं होता, तब व्यवहार भी नहीं होता है, ऐसा अन्वय और व्यतिरेकसे युक्त व्यवहार समान है। इस प्रकार

भाष्य

तत्कालः समान इति निश्चीयते । शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसम्बन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यमशनायाद्यतीतमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनु-

भाष्यका अनुवाद

समान है, ऐसा निश्चय होता है । शास्त्रीय व्यवहारमें तो परलोकके साथ आत्माका सम्बन्ध जाने बिना यद्यपि विवेकी पुरुष अधिकृत नहीं होता, तो भी जिस आत्मतत्त्वका ज्ञान वेदान्तसे प्राप्त होता है, जिसका क्षुधा आदिके साथ सम्बन्ध नहीं है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद नहीं है, ऐसे असंसारी आत्मतत्त्वकी कर्माधिकारमें अपेक्षा नहीं है; क्योंकि उसमें आत्मतत्त्वका अनुपयोग है और अधि-

---

रत्नप्रभा

तस्य देहातिरिक्तात्मज्ञानपूर्वकत्वात् इत्याशङ्क्य हेतुममङ्गीकरोति—शास्त्रीये त्विति । तर्हि कथं वैदिककर्मणोऽध्यासजन्यत्वसिद्धिः इत्याशङ्क्य किं तत्र देहान्यात्मधीमात्रम् अपेक्षितमुत आत्मतत्त्वज्ञानम् ? आद्ये तस्य अध्यासाबाधकत्वात् तत्सिद्धिरित्याह—तथापीति । न द्वितीय इत्याह—न वेदान्तेति । क्षुत्पिपासादिग्रस्तो जातिविशेषवान् अहं संसारी इति ज्ञानं कर्मण्यपेक्षितं, न तद्विपरीतात्मतत्त्वज्ञानम्, अनुपयोगात्, प्रवृत्तिबाधात् च इत्यर्थः । शास्त्रीयकर्मणोऽध्यासजन्यत्वं निगमयति—प्राक्चेति । अध्यासे आगमं प्रमाणयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यवहाररूप हेतुसे विवेकियोंको देह आदिमें 'मैं' 'मेरा' ऐसा अभिमान है, यह सिद्ध होता है । यद्यपि लौकिक व्यवहार आध्यासिक है, तो भी ज्योतिष्टोम आदि व्यवहार अध्यासजन्य नहीं है, क्योंकि देहसे भिन्न आत्माके ज्ञानकी उसमें आवश्यकता है, ऐसी शङ्का करके इस शङ्काके हेतुका अङ्गीकार करते हैं—"शास्त्रीये तु" इत्यादिसे । कोई शङ्का करे कि ऐसी अवस्थामें वैदिक कर्म अध्यासजन्य कैसे हैं ? उससे कहना चाहिए कि उन कर्मोंमें देहसे अतिरिक्त आत्मा है, यह ज्ञानमात्र अपेक्षित है या आत्माका तत्त्वज्ञान—साक्षात्कार ? यदि प्रथम पक्ष अभीष्ट हो, तो वह अध्यासका बाधक नहीं है, अतः उसकी सिद्धि हो जायगी । इसी बातको "तथापि" पदसे कहते हैं । द्वितीय पक्ष नहीं हो सकता, इसको "न वेदान्त" इस ग्रन्थसे कहते हैं । मैं भूख, प्यास आदिसे ग्रस्त हूँ, ब्राह्मण आदि जातिसे विशिष्ट हूँ, और संसारी हूँ ऐसे ज्ञानकी कर्ममें अपेक्षा है, इससे विपरीत आत्मतत्त्व-ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि ऐसा ज्ञान यज्ञ-कर्मोंमें उपयोगी नहीं है । और आत्मतत्त्वके ज्ञानसे सब अभिमानों—मिथ्याज्ञानोंके नष्ट हो जानेसे यज्ञ-कर्ममें प्रवृत्ति ही रुक जाती है । शास्त्रीय कर्म अध्याससे जन्य है, इस बातका उपसंहार "प्राक् च" इत्यादिसे करते हैं । "तथा हि" आदिसे अध्यासमें शास्त्र प्रमाण देते हैं ।

भाष्य

पयोगाद् अधिकारविरोधाच्च । प्राक्च तथाभूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते । तथा हि—'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते ।

भाष्यका अनुवाद

कारका विरोध है । इस प्रकारके आत्म-ज्ञानके पूर्वमें प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान्‌का ही आश्रय करता है । जैसे कि—'ब्राह्मणको यज्ञ करना चाहिए' आदि शास्त्र आत्मामें भिन्न भिन्न वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदिका अध्यास करके ही प्रवृत्त होते हैं। 'जिसमें वह नहीं है, उसमें वह है' ऐसी बुद्धि अध्यास है, यह पहले बतला

रत्नप्रभा

तथा हीति । यथा प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तयोऽध्यासे प्रमाणं तथा आगमोऽपि इत्यर्थः । "ब्राह्मणो यजेत" "न ह वै स्नात्वा भिक्षेत" अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत" "कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत" इति आगमो ब्राह्मणादिपदैरधिकारिणं वर्णाद्यभिमानिनमनुवदन् अध्यासं गमयति इति भावः ।

एवमध्यासे प्रमाणसिद्धेपि कस्य कुत्र अध्यास इति जिज्ञासायां तमुदाहर्तुं लक्षणं स्मारयति—अध्यासो नामेति । उदाहरति—तद्यथेति । तल्लक्षणं यथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

तात्पर्य यह कि जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति अध्यासमें प्रमाण हैं, वैसे ही शास्त्र भी प्रमाण हैं । 'ब्राह्मणो यजेत' ( ब्राह्मण यज्ञ करे ) [ यह विधि-वाक्य आत्मामें वर्णका अध्यास करता है ] 'न ह वै स्नात्वा भिक्षेत' ( ब्रह्मचारी समावर्तनके पश्चात् गृहस्थाश्रममें आकर भिक्षाटन न करे ) [ इस वाक्यसे आत्मामें आश्रमका अध्यास सिद्ध होता है । ] 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' ( आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन संस्कार करना चाहिए ) [ यह विधि-वाक्य आत्मामें वर्ण और वयका अध्यास सिद्ध करता है । ] 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' ( पुत्र होनेपर कृष्ण केशवालेको अग्निका आधान करना चाहिए ) [ यहां अवस्था विशेषका अध्यास है ] । इत्यादि श्रुतियां ब्राह्मण आदि पदोंसे वर्ण आदिके अभिमानी अधिकारीका अनुवाद करती हुई अध्यासकी सूचना देती हैं ।

इस प्रकार अध्यास प्रमाण-सिद्ध है, तो भी किसका किसमें अध्यास है—इस जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए उसका उदाहरण देनेके लिए लक्षणका स्मरण कराते हैं—"अध्यासो नाम" इत्यादिसे। "तद्यथा" इत्यादिसे उसका उदाहरण देते हैं । आशय यह है कि उसका लक्षण जैसे स्पष्ट हो,

( १ ) 'अवस्थादिविशेषाध्यासम्' यहां आदि शब्दसे 'जीवन् जुहुयात्' ( जीवन पर्यन्त होम करे ) इसमें जीवनका अध्यास है । 'स्वर्ग कामो यजेत' ( स्वर्गकी इच्छावाला यज्ञ करे ) इसमें कामित्वका अध्यास है ।

*भाष्य*

अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान्—स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्—मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धोऽहम्

*भाष्यका अनुवाद*

चुके हैं। वह अध्यास इस प्रकार है—पुत्र, भार्या आदिके अपूर्ण और पूर्ण होनेपर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ' ऐसा बाह्य पदार्थोंके धर्मोंका अपनेमें अध्यास करता है। इसी प्रकार आत्मामें देहके धर्मोंका अध्यास करके कहते हैं कि 'मैं मोटा हूँ' 'मैं कृश हूँ' 'मैं गोरा हूँ', 'मैं खड़ा हूँ', 'मैं जाता हूँ', 'मैं लांघता हूँ।' इसी प्रकार इन्द्रियोंके धर्मोंका अध्यास करके कहते हैं कि 'मैं गूँगा हूँ', 'मैं काना हूँ', 'मैं नपुंसक हूँ', 'मैं बहरा हूँ', 'मैं अन्धा हूँ', इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरणके धर्मोंका आत्मामें अध्यास करते हैं एवं 'मैं'

*रत्नप्रभा*

स्पष्टं भवति, तथा उदाह्रियते इत्यर्थः। स्वदेहाद् भेदेन प्रत्यक्षाः पुत्रादयो बाह्याः, तद्धर्मान् साकल्यादीन् देहविशिष्टात्मनि अध्यस्यति, तद्धर्मज्ञानात् स्वस्मिन् तत्तुल्यधर्मानध्यस्यतीत्यर्थः। भेदापरोक्षज्ञाने तद्धर्माध्यासायोगाद् अन्यथाख्यात्यनङ्गीकाराच्चेति द्रष्टव्यम्। देहेन्द्रियधर्मान् मनोविशिष्टात्मनि अध्यस्यतीत्याह—**तथेति**। कृशत्वादिधर्मवतो देहादेरात्मनि तादात्म्येन कल्पितत्वात् तद्धर्माः साक्षादात्मनि अध्यस्ता इति मन्तव्यम्। अज्ञातप्रत्यग्रूपे साक्षिणि मनोधर्माध्यासमाह— **तथाऽन्तः-**

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

वैसा उदाहरण दिया जाता है। अपने शरीरसे भिन्न भार्या, पुत्र आदि बाह्य पदार्थ हैं, उनके धर्म साकल्य[1], वैकल्य[2] आदिका देहविशिष्ट आत्मामें अध्यास करता है, अर्थात् उन धर्मोंका ज्ञान होनेपर उनके धर्मसदृश धर्मोंका अपनेमें अध्यास करता है, यह आशय है। पुत्र, भार्या आदि स्वदेहसे भिन्न हैं ऐसा प्रत्यक्षज्ञान है, इसलिए उनके धर्मोंका अध्यास नहीं हो सकता है, और वेदान्तमतमें अन्यथाख्यातिका स्वीकार भी नहीं है, अतः इनके तुल्य धर्मोंका अध्यास करता है, यह कहना उचित है। देह और इन्द्रियोंके धर्मोंका मनोविशिष्ट आत्मामें अध्यास करता है इस बातको "तथा" इत्यादिसे बताते हैं। आत्मामें कृशत्व आदि धर्मवाले देह आदिकी तादात्म्यसे कल्पना की है, अतः उनके धर्म आत्मामें साक्षात् ही अध्यस्त हैं ऐसा समझना चाहिए। जैसे देह और इन्द्रियोंके धर्मोंका आत्मामें अध्यास करते हैं, उसी प्रकार अज्ञात प्रत्यक्स्वरूप साक्षीभूत आत्मामें अन्तःकरणके अर्थात् अन्तरिन्द्रिय मनके धर्मोंका

( १ ) सब अंशोंसे सम्पूर्णता। ( २ ) किसी भी अंशमें अपूर्णता।

भाष्य

इति । तथाऽन्तःकरणधर्मान् कामसङ्कल्पविचिकित्साध्यवसायादीन् । एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिर-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा ज्ञान उत्पन्न करनेवाले अन्तःकरणका—अन्तःकरणकी सब वृत्तियोंके साक्षी प्रत्यगात्मामें—अध्यास करते हैं और इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्माका अन्तःकरण आदिमें अध्यास करते हैं। इस प्रकार अनादि, अनन्त, नैसर्गिक,

---

रत्नप्रभा

**करणेति**। धर्माध्यासमुक्त्वा तद्वदेव धर्म्यध्यासमाह—**एवमिति**। अन्तःकरणं साक्षिणि अभेदेन अध्यस्य तद्धर्मान् कामादीन् अध्यस्यति इति मन्तव्यम्। स्वप्रचारा मनोवृत्तयः। प्रति—प्रातिलोम्येन असज्जडदुःखात्मकाहङ्कारादिविलक्षणतया सच्चित्सुखात्मकत्वेन अञ्चति—प्रकाशते इति प्रत्यक्। एवमात्मनि अनात्मतद्धर्माध्यासमुदाहृत्य अनात्मनि आत्मनोऽपि संसृष्टत्वेन अध्यासमाह—**तं चेति**। अहमिति अध्यासे चिदात्मनो भानं वाच्यम्, अन्यथा जगदान्ध्यापत्तेः। न च अनध्यस्तस्य अध्यासे भानमस्ति। तस्माद्रजतादौ इदम इव आत्मनः संसर्गाध्यास एष्टव्यः। **तद्विपर्ययेणेति**। तस्य अध्यस्तस्य जडस्य विपर्ययोऽधिष्ठानत्वम्, चैतन्यं च तदात्मना स्थितमिति यावत्। तत्र अज्ञाने केवलात्मनः संसर्गः, मनसि अज्ञानोपहितस्य, देहादौ मन-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अध्यास करते हैं। इस बातको "तथान्तःकरण" इत्यादि भाष्यसे कहते हैं। धर्मका अध्यास कहकर इसी प्रकार धर्मीका अध्यास होता है, इस बातको "एवं" इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं। 'मैं' ऐसे ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले अन्तरिन्द्रिय मनका साक्षीभूत आत्मामें अभेदाध्यास करके मनके धर्म—काम आदिका अध्यास करते हैं। स्व—मनकी प्रचार—वृत्ति। 'प्रातिलोम्येन अञ्चतीति प्रत्यक्' प्रातिलोम्य अर्थात् विपरीत रीतिसे—असत्, जड़, दुःखात्मक अहङ्कार आदिसे विलक्षण स्वरूप अर्थात् सत्, चित्, सुखात्मक स्वरूपसे—जो प्रकाशता है, वह प्रत्यक् है। ऐसा प्रत्यक् आत्मा प्रत्यगात्मा है। इस प्रकार आत्मामें अनात्मा और उसके धर्मोंके अध्यासका उदाहरण देकर अनात्मामें आत्माका भी संसर्गाध्यास कहते हैं—"तं च" आदिसे। 'अहं' इस अध्यासमें चिदात्माका भान कहना आवश्यक है। अन्यथा जगत् अन्ध अर्थात् भानशून्य हो जायगा। जिसका अध्यास नहीं होता, उसका अध्यासमें भान नहीं होता है। इसलिए आरोपित रजत आदिका जैसे 'इदं' अंशमें भान होता है, उसी तरह आत्माका अहंकार आदिमें संसर्गाध्यास ही कहना चाहिए। "तद्विपर्ययेण" उस अध्यस्त जड़का विपर्यय—अधिष्ठानत्व, चैतन्य तद्रूपसे स्थित है ऐसा तात्पर्य है। यहाँ विशेषरूपसे

भाष्य

नन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्व-

भाष्यका अनुवाद

मिथ्याज्ञानस्वरूप अनन्त (अनादि) कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि उत्पन्न करनेवाला यह

रत्नप्रभा

उपहितस्य इति विशेषः। एवमात्मनि बुद्ध्याद्यध्यासात् कर्तृत्वादिलाभः। बुद्ध्यादौ च आत्माध्यासात् चैतन्यलाभ इति भावः। वर्णिताध्यासमुपसंहरति— **एवमयमिति**। अनाद्यविद्यात्मकतया कार्याध्यासस्य अनादित्वम्। अध्यासात् संस्कारः ततोऽध्यास इति प्रवाहतो नैसर्गिकत्वम्। एवमुपादानं निमित्तं चोक्तं भवति। ज्ञानं विना ध्वंसाभावाद् आनन्त्यम्। तदुक्तं भगवद्गीतासु—

"न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।" [१५।३] इति।

हेतुमुक्त्वा स्वरूपमाह—**मिथ्येति**। मिथ्या माया तया प्रतीयते इति प्रत्ययः—कार्यप्रपञ्चः तत्प्रतीतिश्चेत्येवंस्वरूप इत्यर्थः। तस्य कार्यमाह— **कर्तृत्वेति**। प्रमाणं निगमयति—**सर्वेति**। साक्षिप्रत्यक्षमेव अध्यासधर्मिग्राहकं मानम्, अनुमानादिकं तु सम्भावनार्थमिति अभिप्रेत्य प्रत्यक्षोपसंहारः कृतः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञातव्य यह है कि अज्ञानमें केवल आत्माका संसर्ग है, मनमें अज्ञानरूप उपाधिसे विशिष्ट आत्माका और देह आदिमें मनरूप उपाधिसे विशिष्ट आत्माका संसर्ग है। इस प्रकार बुद्धि आदिके अध्याससे आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका भान होता है। आत्माके अध्याससे बुद्धि आदिमें चैतन्यका भान होता है। अब वर्णित अध्यासका उपसंहार करते हैं— "एवमयम्" इत्यादिसे। अविद्या अनादि है और अविद्याका कार्य होनेसे अध्यास अविद्यात्मक है, इसलिए अध्यासको 'अनादि' कहा है। अध्याससे संस्कार उत्पन्न होते हैं और संस्कारोंसे अध्यास उत्पन्न होता है। इस प्रकार अविच्छिन्न धारा चलती रहती है, इसलिए अध्यासको 'नैसर्गिक' कहा है। नैसर्गिकका अर्थ अविच्छिन्न है। इस प्रकार अध्यासके उपादान और निमित्त दोनों कारण कहे गये। ज्ञानके विना अध्यासका नाश नहीं होता, यह जाननेके लिए अध्यासको 'अनन्त' कहा है। यही बात भगवद्गीतामें भी कही गई है—"इस संसार-रूप माया-वृक्षका यहाँ पर वैसा रूप उपलब्ध नहीं होता, जैसा कि वर्णित है, न इसका अन्त है, न आदि है और न स्थिति।" अध्यासके हेतुको कहकर "मिथ्याप्रत्ययरूपः" इस विशेषणसे उसका स्वरूप कहते हैं। मिथ्या ( माया ) से जो प्रतीत होता है, वह मिथ्या-प्रत्यय अर्थात् कार्यप्रपञ्च और उसकी प्रतीति तत्स्वरूप है, यह भावार्थ है। "कर्तृत्व-भोक्तृत्व-प्रवर्तकः" इस विशेषणसे अध्यासके कार्यको कहते हैं। "सर्वलोकप्रत्यक्षः" इससे

( १ ) उपलक्षित।

भाष्य

लोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे

भाष्यका अनुवाद

अध्यास सब लोगोंके प्रत्यक्ष है। इस अनर्थके हेतु अध्यासका समूल नाश करनेके लिए एवं ब्रह्म और आत्माके ऐक्यका ज्ञान उत्पन्न करनेके लिए सब वेदान्त आरम्भ

रत्नप्रभा

एवमध्यासं वर्णयित्वा तत्साध्ये विषयप्रयोजने दर्शयति—अस्येति। कर्तृत्वाद्यनर्थहेतोरध्यासस्य समूलस्य आत्यन्तिकनाशो मोक्षः, स केनेत्यत आह—आत्मेति। ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारस्य प्रतिपत्तिः श्रवणादिभिरप्रतिबन्धेन लाभः तस्या इत्यर्थः। विद्यायां कारणमाह—सर्वे इति। आरभ्यन्ते—अधीत्य विचार्यन्ते इत्यर्थः। विचारितवेदान्तानां ब्रह्मात्मैक्यं विषयः, मोक्षः फलमित्युक्तं भवति। अर्थात् तद्विचारात्मकशास्त्रस्याऽपि ते एव विषयप्रयोजने इति ज्ञेयम्। ननु वेदान्तेषु प्राणाद्युपास्तीनां भानात् आत्मैक्यमेव तेषाम् अर्थ इति कथमित्यत आह—यथा चेति। शरीरमेव शरीरकं, कुत्सितत्वात्, तन्निवासी शारीरको जीवः तस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रमाणका उपसंहार[१] करते हैं। साक्षिप्रत्यक्ष ही अध्यासको ग्रहण करनेवाला प्रमाण है। अनुमान आदि प्रमाण तो अध्यास की संभावना दिखलानेके लिए हैं, ऐसा मनमें रखकर प्रत्यक्ष प्रमाणसे उपसंहार किया है।

इस प्रकार अध्यासका वर्णनकर उस अध्याससे साध्य (कृत) विषय और प्रयोजनको "अस्य" इत्यादि ग्रन्थसे दिखलाते हैं। कर्तृत्व आदि अनर्थोंको[२] उत्पन्न करनेवाला जो अध्यास है, उसका समूलनाश अर्थात् आत्यन्तिक नाश मोक्ष है। वह मोक्ष किस प्रकार होता है, इसके लिए कहते हैं—"आत्मा" इत्यादिसे। अर्थात् श्रवण आदिसे "ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं" ऐसा ज्ञान उत्पन्न होनेके लिए। ज्ञानका कारण कहते हैं—"सर्वे" इत्यादिसे। 'आरभ्यन्ते' अर्थात् अध्ययनपूर्वक विचारे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि विचार किए हुए वेदान्तका विषय ब्रह्म और आत्माका ऐक्य है और फल मोक्ष है, इसलिए वेदान्तविचारात्मक शास्त्रके भी वे ही विषय और प्रयोजन हैं, ऐसा समझना चाहिए। कोई कहे कि वेदान्तमें प्राण आदिकी उपासना भी है, उनसे ब्रह्म और आत्माका ऐक्य कैसे जाननेमें आता है? इसका उत्तर "यथा च" इत्यादिसे करते हैं। कुत्सित (निन्दित) होनेसे शरीर ही शरीरक

(१) 'विस्तरेण निरूपितस्य पदार्थस्य सारांशकथनेन तन्निरूपणसमापनमुपसंहारः' (विस्तारसे निरूपित पदार्थका सारांश कहकर निरूपणकी समाप्ति करना उपसंहार कहलाता है।)

(२) आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थोंको उत्पन्न करके उनके द्वारा सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि अनेक अनर्थोंका हेतु अध्यास है।

भाष्य

वेदान्ता आरभ्यन्ते । यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः ।

भाष्यका अनुवाद

किए जाते हैं । सब वेदान्तोंका जिस प्रकार ब्रह्मात्मैकत्व विषय है, उस प्रकारको हम इस शारीरक मीमांसामें बतायेंगे ।

---

रत्नप्रभा

ब्रह्मत्वविचारो मीमांसा तस्यामित्यर्थः । उपास्तीनां चित्तैकाग्र्यद्वारा आत्मैक्य-ज्ञानार्थत्वात् तद्वाक्यानामपि महातात्पर्यमैक्ये इति वक्ष्यते । एवमध्यासोक्त्या ब्रह्मात्मैक्ये विरोधाभावेन विषयप्रयोजनवत्त्वात् शास्त्रमारम्भणीयमिति दर्शितम् ॥

इति प्रथमवर्णकम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहलाता है । [ 'कुत्सिते' ( पा० ५।३।७४ ) इस सूत्रके अनुसार 'शरीर' शब्दके आगे निन्दाके अर्थमें 'क' प्रत्यय लगा है । ] 'शरीरक' जिसका निवास है, वह शारीरक अर्थात् जीव है । [ 'सोऽस्य निवासः' ( पा० ४।३।८९ ) इस सूत्रसे 'जिसका वह निवास है' इस अर्थमें 'शरीरक' शब्दके आगे 'अण्' प्रत्यय लगाने एवं 'आदिवृद्धि' करने पर 'शारीरक' शब्दकी निष्पत्ति होती है ।] शारीरककी मीमांसा अर्थात् जीव ब्रह्म है ऐसे ब्रह्मत्व-विचारका नाम शारीरक-मीमांसा है । चित्तकी एकाग्रता द्वारा ब्रह्म और आत्माके ऐक्यका ज्ञान उत्पन्न करनेका साधन उपासना है, इसलिए उपासना वाक्योंका भी महातात्पर्य ऐक्यमें ही है, ऐसा आगे कहा जायगा । इस प्रकार अध्यासकी उक्तिसे ब्रह्म और आत्माके ऐक्यमें विरोध नहीं है, ऐसा दिखलाकर विषय और प्रयोजनके होनेसे शास्त्र आरम्भणीय है, ऐसा दिखलाया गया है ।

* प्रथम वर्णक[1] समाप्त *

---
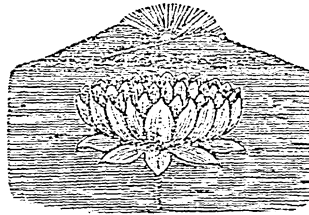
(१) जिस प्रकरणमें गहन अर्थका वर्णन किया हो उसे 'वर्णक' अर्थात् व्याख्यान कहते हैं । प्रथम सूत्रके चार वर्णक हैं । (I) अध्यासवर्णक, (जिसमें अध्यासका विचार किया गया है) (II) अगतार्थ-वर्णक ( ब्रह्म गतार्थ नहीं है, ऐसा प्रतिपादन जिसमें किया गया है ), (III) अधिकारिवर्णक ( जिसमें अधिकारीका वर्णन किया गया है ) और (IV) ब्रह्मका आपातप्रसिद्धिवर्णक ( जिसमें ब्रह्म स्थूल दृष्टिसे प्रसिद्ध है, ऐसा बतलाया गया है । इनमें प्रथम ( अध्यास ) वर्णक समाप्त हुआ ।

भाष्य

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

भाष्यका अनुवाद

जिसकी हम व्याख्या करना चाहते हैं, उस वेदान्त-मीमांसाशास्त्रका यह प्रथम सूत्र है—

रत्नप्रभा

विचारस्य साक्षाद्विषया वेदान्ताः, तेषां गतार्थत्वागतार्थत्वाभ्यामारम्भसन्देहे कृत्स्नस्य वेदस्य विधिपरत्वाद्, विधेश्च "अथातो धर्मजिज्ञासा" [ जै० सू० १।१।१ ] इत्यादिना पूर्वतन्त्रेण विचारितत्वात्, अवगतार्था एव वेदान्ता इत्यव्यवहितविषयाभावात् न आरम्भ इति प्राप्ते ब्रूते—वेदान्तेति। वेदान्तविषयकपूजितविचारात्मकशास्त्रस्य व्याख्यातुमिष्टस्य सूत्रसन्दर्भस्य इदं प्रथमसूत्रमित्यर्थः। यदि विधिरेव वेदार्थः स्यात्, तदा सर्वज्ञो बादरायणो ब्रह्मजिज्ञासां न ब्रूयात्, ब्रह्मणि मानाभावात्। अतो ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वोक्त्या केनापि तन्त्रेण अनवगतब्रह्मपरवेदान्तविचार आरम्भणीय इति सूत्रकृत् दर्शयति। तच्च "व्याचिख्यासितस्य" इति पदेन भाष्यकारो बभाषे ॥

इति द्वितीयवर्णकम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

विचारका साक्षात् विषय वेदान्त पूर्वमीमांसासे गतार्थ हो, तो शास्त्र अनारम्भणीय है और यदि अगतार्थ हो, तो शास्त्र आरम्भणीय है ऐसा सन्देह उत्पन्न होता है। यहां पर पूर्वपक्ष होता है कि समग्र वेदका तात्पर्य विधिमें है, और विधिका विचार 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादि पूर्वतन्त्र ( पूर्वमीमांसा ) में हो चुका है, इसलिए गतार्थ होनेके कारण वेदान्त अनारम्भणीय है। इस पूर्व पक्षके उत्तरमें भगवान् भाष्यकार कहते हैं—"वेदान्त" इत्यादि। अर्थात् वेदान्तविषयक पूजित विचारात्मक शास्त्र, जिसकी हम व्याख्या करना चाहते हैं और जो भगवान् बादरायणका सूत्र-सन्दर्भ[1] है, उसका यह प्रथम सूत्र है। ऊपरके पूर्वपक्षका निराकरण इस प्रकार है—यदि विधिको ही वेदोंका अर्थ माना जाता, तो ब्रह्ममें प्रमाण न होनेके कारण सर्वज्ञ बादरायण ब्रह्मजिज्ञासा नहीं कहते। ब्रह्म जिज्ञास्य—विचार करने योग्य—है, ऐसी उक्तिसे ब्रह्मज्ञान जिसमें प्रतिपादित किया गया है, ऐसा वेदान्त-विचार किसी तन्त्रसे गतार्थ नहीं है, इसलिए आरम्भणीय है, ऐसा सूत्रकार दर्शाते हैं। भाष्यकार भी 'व्याचिख्यासितस्य' ( जिसकी हम व्याख्या करना चाहते हैं ) ऐसा कहकर, अगतार्थ होनेसे शास्त्र आरम्भणीय है, ऐसा दिखलाते हैं।

* द्वितीय वर्णक समाप्त *

( १ ) सूत्र-रचना, सूत्र-समूह।

# अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥१॥

**पदच्छेद**—अथ, अतः, ब्रह्मणः, जिज्ञासा [ मोक्षकामेन कर्तव्या ] ।

**पदार्थोक्ति**—अथ—साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरम्, अतः—कर्मफलस्य अनित्यत्वात् ज्ञानफलस्य मोक्षस्य च नित्यत्वात् मोक्षकामेन ब्रह्मज्ञानाय वेदान्त-वाक्यानां विचारः ( तात्पर्यनिश्चयः ) कर्तव्यः ।

**भाषार्थ**—साधनचतुष्टय-सम्पत्तिके बाद कर्मफलके अनित्य होने एवं ज्ञान-फल मोक्षके नित्य होनेसे मोक्षकी अभिलाषा करनेवाले सज्जनोंको, ज्ञानके लिए, वेदान्त वाक्योंका विचार करना चाहिये ।
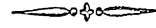
## [ १ जिज्ञासाधिकरण ]

*अविचार्यं विचार्यं वा ब्रह्माध्यासानिरूपणात् । असन्देहाफलत्वाभ्यां न विचारं तदर्हति ॥*
*अध्यासोऽहंबुद्धिसिद्धोऽसंगं ब्रह्म श्रुतीरितम् । सन्देहान्मुक्तिभावाच्च विचार्यं ब्रह्म वेदतः॥*

---

(१) दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ । दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्तोऽभावात् ॥ आध्यात्मिक—शारीरिक और मानसिक ( शारीरिक—वात, पित्त और कफकी विषमतासे उत्पन्न, मानसिक—काम, क्रोध आदिसे उत्पन्न), आधिदैविक—(यक्ष, राक्षस, ग्रह आदिसे उत्पन्न), आधिभौतिक—( मनुष्य, पशु, मृग आदि तथा स्थावर आदिके निमित्तसे उत्पन्न ) तीन प्रकारके दुःखोंका आक्रमण होनेसे उनकी निवृत्तिके लिए जिज्ञासा कर्तव्य है । यदि कहो कि दृष्ट उपायों औषधि, मनोज्ञ स्त्री, भोजन आदि, मणि, मन्त्र आदि तथा नीति-शास्त्रमें कुशलता आदि से उनका प्रतीकार हो सकता है । ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन उपायोंसे अवश्य निवृत्ति नहीं होती और निवृत्त होकर फिर वही दुःख न हो यह भी बात नहीं है ।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः । तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥

वैदिककर्मकलाप ( याग आदि ) भी उपर्युक्त दृष्ट उपायोंके ही तुल्य हैं । और वह अविशुद्धि ( यज्ञमें होनेवाली हिंसा आदि ), क्षय (पुण्य क्षीण होने पर स्वर्गसे पतन) और अतिशय ( ज्योतिष्टोम यज्ञ करने वालोंको स्वर्ग होता है और वाजपेय करने वाले वहाँके उच्च अधिकारी होते हैं) से युक्त है । इस प्रकार ऐश्वर्यमें तारतम्य है । कल्याण-मार्ग इन सबसे पृथक् है, और उसकी प्राप्ति व्यक्त (महत्तत्त्व, अहङ्कार, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ और एक मन ये २३ तत्त्व) अव्यक्त (प्रधान—मूल-प्रकृति ) और ज्ञ ( पुरुष—चेतन ) के विशेष ज्ञानसे होती है ।

आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ! ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ( गी० ८।१६ )

हे अर्जुन, ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्तीस्वभाववाले हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र, मुझको प्राप्त होकर फिर जन्म नहीं होता ।

## [ अधिकरणसार ]

**संशय**—ब्रह्मविचारात्मक यह शास्त्र आरम्भ करने योग्य है अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले देह, इन्द्रिय आदि तथा आत्मामें परस्पर अध्यास नहीं बन सकता, अपना आपा[1] ही तो ब्रह्म है, अपने आपेमें किसीको सन्देह नहीं होता और अपने आपेका निश्चय होनेपर मुक्ति नहीं देखी जाती। इसलिए यह शास्त्र आरम्भ करने योग्य नहीं है।

**सिद्धान्त**—श्रुतिमें असङ्ग ब्रह्म ही आत्मा कहा गया है, लोकमें प्रायः सभी लोगोंकी देहमें आत्मबुद्धि देखी जाती है। अतः असङ्ग[2] ब्रह्म आत्मा है या देह आदि ही आत्मा है ऐसा सन्देह हो सकता है। मुक्तिमें श्रुति और विद्वानोंका अनुभव[3] प्रसिद्ध है, इसलिए सिद्ध हुआ कि ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानके लिए वेदान्त वाक्योंके तात्पर्यका निर्णय करनेवाला प्रस्तुत शास्त्र आरम्भ करने योग्य है। अर्थात् मुमुक्षुओंको ब्रह्मज्ञानके लिए वेदान्त विचार करना चाहिये।

---

(१) "अहं ब्रह्मास्मि" ( मैं ब्रह्म हूँ ) "अयमात्मा ब्रह्म" ( यह आत्मा ब्रह्म है )।

(२) "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" ( यह पुरुष असंग है ) "अयमात्मा ब्रह्म" (यह आत्मा ब्रह्म है।) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ( सत्य, ज्ञान और आनन्दरूप ब्रह्म है )

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

उस परम पुरुषके साक्षात्कारके बाद हृदयग्रन्थि खुल जाती है, सब सन्देह मिट जाते हैं और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।

(३) "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" ( बृह० १।४।१० ) (मैं मनु हुआ और मैं ही सूर्य हुआ।)

तदुक्तमृषिणा गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच (ऐ० उ० २।४।५)

अर्थ—गर्भमें रहते हुए ऋषि वामदेवने कहा कि मैं गर्भमें रहता हुआ भी इन सम्पूर्ण देवताओंकी उत्पत्तिको जानता हूँ और औपनिषद् आत्मज्ञान मुझको प्राप्त हो गया है। ज्ञानोदयके पूर्व लोह-निर्मित सैकड़ों शृङ्खलाओंसे मैं बँधा हुआ था, अब जिस प्रकार जालको काटकर पक्षी शीघ्र निकल जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानके प्रभावसे मैं बंधनमुक्त हुआ हूँ।

भाष्य

**अत्र अथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया**

भाष्यका अनुवाद

यहां पर 'अथ' शब्द आनन्तर्यवाचक लिया जाता है। आरम्भवाचक नहीं, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासाका आरम्भ नहीं किया जा सकता और मङ्गलका

---

रत्नप्रभा

एवं वर्णकद्वयेन वेदान्तविचारस्य कर्तव्यतायां विषयप्रयोजनवत्त्वम् अगतार्थत्वं चेति हेतुद्वयं सूत्रस्य आर्थिकार्थं व्याख्याय अक्षरव्याख्यामारभमाणः पुनरपि अधिकारिभावाभावाभ्यां शास्त्रारम्भसन्देहे सति अथशब्दस्य आनन्तर्यार्थकत्वोक्त्या अधिकारिणं साधयति—**अत्र अथशब्द इति**। सूत्रे इत्यर्थः। "मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ" इति [ अमरकोशे अव्ययवर्गे ] अथशब्दस्य बहवोऽर्थाः सन्ति। तत्र "अथ योगानुशासनम्" [ यो० सू० १।१ ] इत्यत्र सूत्रे यथा अथशब्द आरम्भार्थकः, योगशास्त्रमारभ्यते इति तद्वदत्र किं न स्यात् इत्यत आह—**नाधिकारार्थ इति**। अयमाशयः—किं जिज्ञासापदं

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार दो वर्णकोंमें वतलाया है कि वेदान्त-विचार करनेके दो हेतु हैं। प्रथम तो यह कि उनके ( वेदान्त-वाक्योंके ) विषय और प्रयोजन हैं अर्थात् ब्रह्म और जीवात्माका ऐक्यरूप विषय है और मोक्षरूप प्रयोजन है। दूसरा यह कि अन्य तन्त्रसे यह विषय गतार्थ नहीं है। सूत्रके आर्थिक—अर्थसिद्ध अर्थकी ऐसी व्याख्या करके अव भाष्यकार अक्षरार्थ कहना आरम्भ करते हैं। शास्त्रके आरम्भ करनेमें यह और भी सन्देह उत्पन्न होता है कि अधिकारी हो तो शास्त्रका आरम्भ करना चाहिए और अधिकारी न हो तो आरम्भ नहीं करना चाहिए। अधिकारीके भाव और अभावसे शास्त्रके आरम्भ करनेमें सन्देह उत्पन्न होनेपर 'अथ' शब्दको आनन्तर्यवाचक मानकर "तत्राथ" इत्यादिसे अधिकारीकी सिद्धि करते हैं। 'तत्र' अर्थात् सूत्रमें 'अथो' और 'अथ' शब्दके वहुत अर्थ हैं—मङ्गल, अनन्तर आरम्भ, प्रश्न और कात्स्न्र्य ( पूर्णता )। इनमें जैसे 'अथ योगानुशासनम्' ( योगानुशासन अर्थात् योगशास्त्रका आरम्भ किया जाता है ) इस सूत्रमें 'अथ' शब्द आरम्भवाचक है, वैसे ही यहाँ पर भी 'अथ' शब्द आरम्भवाचक क्यों न लिया जाय ? इसके उत्तरमें कहते

---

( १ ) 'नास्ति अन्तरं यस्य सः अनन्तरः। अनन्तरस्य भावः आनन्तर्यम्' एकके पीछे ही दूसरा लगा आवे, वह अर्थात् व्यवधानरहित अनन्तर कहलाता है। अनन्तरका भाव आनन्तर्य है। अनन्तर विशेषण है, इसलिए इस विशेषणसे आनन्तर्य यह भाववाचक नाम हुआ है।

( २ ) 'अथ भगवान् कुशली काश्यपः ?' ( भगवान् काश्यप कुशलसे तो हैं ? ) इसमें 'अथ' शब्द प्रश्नार्थक है। 'अथ धर्मं व्याख्यास्यामः' ( अब धर्मकी व्याख्या करूंगा ) इसमें 'अथ' शब्द आनन्तर्य अर्थ में है।

भाष्य

अनधिकार्यत्वात्। मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तर-

भाष्यका अनुवाद

वाक्यार्थमें समन्वय नहीं होता, इसलिए अन्य अर्थमें (आनन्तर्य अर्थमें) प्रयुक्त

रत्नप्रभा

ज्ञानेच्छापरम्, उत विचारलक्षकम्? आद्ये अथशब्दस्य आरम्भार्थत्वेन ब्रह्मज्ञाने-च्छा आरभ्यते इति सूत्रार्थः स्यात्, स च असङ्गतः, तस्या अनारभ्यत्वात्। नहि प्रत्यधिकरणम् इच्छा क्रियते, किन्तु तया विचारः। न द्वितीयः, कर्तव्यपदाध्याहारं विना विचारलक्षकत्वायोगात्, अध्याहृते च तेनैवारम्भोक्तेः अथशब्दवैयर्थ्यात् किन्त्वधिकारसिद्ध्यर्थमानन्तर्यार्थतैव युक्ता इति।

अधुना सम्भावितमर्थान्तरं दूषयति—मङ्गलस्येति। वाक्यार्थो विचार-कर्तव्यता। नहि तत्र मङ्गलस्य कर्तृत्वादिना अन्वयोऽस्तीत्यर्थः। ननु सूत्रकृता शास्त्रादौ मङ्गलं कार्यमिति अथशब्दः प्रयुक्त इति चेत्, सत्यम्, न तस्य अर्थः मङ्गलं किन्तु तच्छ्रवणम् उच्चारणं च मङ्गलकृत्यं करोति। तदर्थस्तु आनन्तर्यमेव इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"नाधिकारार्थः" अर्थात् आरम्भवाचक नहीं है। 'जिज्ञासा' शब्दका अर्थ 'ज्ञानकी इच्छा' है अथवा लक्षणासे विचार? प्रथम पक्षमें 'अथ' शब्दके आरम्भवाचक होनेसे ब्रह्मज्ञानकी इच्छा आरम्भ की जाती है, ऐसा सूत्रका अर्थ होगा। परन्तु यह अर्थ असङ्गत है, क्योंकि इच्छा आरम्भ करने योग्य नहीं है। प्रत्येक अधिकरणमें इच्छाका आरम्भ नहीं होता, अपितु इच्छासे विचार किया जाता है। दूसरे पक्षमें, कर्तव्यपदका अध्याहार किए बिना यह अर्थ सिद्ध नहीं होता। सूत्रमें कर्तव्य पदके अध्याहार करने पर उससे ही आरम्भरूप अर्थ निकल आता है। 'ब्रह्म-विचार करना चाहिए' इसका अर्थ यही है कि 'ब्रह्म-विचार आरम्भ करना चाहिए'। इस प्रकार 'कर्तव्य' पदसे 'अथ' शब्दके अर्थके निकल आनेसे 'अथ' शब्द व्यर्थ हो जाता है, इसलिए दूसरा पक्ष भी नहीं बनता। अतः अधिकारीकी सिद्धिके लिए आनन्तर्यरूप अर्थ ही युक्त है।

अब मङ्गलरूप जो दूसरा अर्थ सम्भावित है, इसमें दोष दिखलाते हैं—"मङ्गलस्य" इत्यादिसे। 'विचार करना चाहिए' ऐसा वाक्यार्थ होता है। इसमें मङ्गलका कर्तृत्वरूपसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे अन्वय नहीं हो सकता। इसलिए 'अथ' शब्द मङ्गलके अर्थमें नहीं लिया जा सकता। सूत्रकारको शास्त्रके आरम्भमें मङ्गलाचरण करना चाहिए, इस हेतु 'अथ' शब्द लगाया है, ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है। क्योंकि 'अथ' शब्दका अर्थ मङ्गल है, यह न समझना चाहिए, किन्तु उसके श्रवण और उच्चारणसे मङ्गलकार्य होता है, ऐसा समझना

भाष्य

प्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च

भाष्यका अनुवाद

हुआ ही 'अथ' शब्द श्रवणद्वारा मङ्गलका प्रयोजक होता है। फल ( विचार ) की

रत्नप्रभा

अर्थान्तरेति। अर्थान्तरम्—आनन्तर्यम्। श्रुत्या—श्रवणेन, शङ्खवीणादिनाद-श्रवणवद् ओङ्काराथशब्दयोः श्रवणं मङ्गलफलकम्।

"ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकाविमौ॥"

इति स्मरणात् इति भावः।

ननु प्रपञ्चो मिथ्येति प्रकृते सति, अथैतन्मतं प्रपञ्चः सत्य इत्यत्र पूर्वप्रकृतार्थात् उत्तरार्थस्य अर्थान्तरत्वार्थोऽथशब्दो दृष्टः, तथा अत्र किं न स्यात् इत्यत आह—पूर्वेति। फलतः फलस्येत्यर्थः। ब्रह्मजिज्ञासायाः पूर्वमर्थविशेषः प्रकृतो नास्ति, यस्मात्तस्या अर्थान्तरत्वमथशब्देन उच्येत। यतः कुतश्चिदर्थान्तरत्वं सूत्रकृता न वक्तव्यम्, फलाभावात्। यदि फलस्य जिज्ञासापदोक्तकर्त्तव्यविचारस्य हेतुत्वेन यत्पूर्वं प्रकृतं तदपेक्षा अस्ति इति अपेक्षाबलात् प्रकृतहेतुमाक्षिप्य ततोऽ

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए। उसका अर्थ तो आनन्तर्य ही है, इस बातको "अर्थान्तर" इत्यादिसे कहते हैं। शंख, वीणा आदिके शब्द सुननेके समान 'अथ' और 'ओंकार' के सुननेसे ही मङ्गलरूप फल होता है। जैसा कि कहा है—"सृष्टिके आदि कालमें, 'ओंकार' और 'अथ' ये दोनों शब्द ब्रह्माजीके कण्ठसे प्रथम निकले हैं, इसलिए दोनों ही माङ्गलिक हैं।"

शङ्का—'अथ' शब्दका 'अर्थान्तर' अर्थ क्यों न लिया जाय। जब एक कहता है—प्रपञ्च-संसार मिथ्या है, तब दूसरावादी कहता है कि 'अथैतन्मतं प्रपञ्चः सत्यः' ( प्रपञ्च सत्य है, यह मत है। ) इसमें जैसे 'अथ' शब्द प्रथम प्रस्तुत अर्थसे पिछला अर्थ भिन्न है, ऐसा दिखलाता है अर्थात् जैसे पहले 'प्रपञ्च मिथ्या है' यह बात कही है, उसके पीछे 'प्रपञ्च सत्य है' ऐसा अर्थान्तर दिखलानेके लिए 'अथ' शब्दका प्रयोग किया है, इसी प्रकार इस सूत्रमें 'अथ' शब्दका 'अर्थान्तर' अर्थ क्यों न हो?

समाधान—ब्रह्म-जिज्ञासाके पूर्व कोई भी अर्थ प्रकृत नहीं है। यदि होता तो उससे भिन्न अर्थ 'अथ' शब्दका होता। चाहे जिस किसीसे भिन्न अर्थका 'अथ' शब्द वाचक है, ऐसा सूत्रकार नहीं कह सकते; क्योंकि ऐसा कहनेमें कोई फल नहीं है।

यदि 'जिज्ञासा' शब्दका अर्थ विचार मानकर उसको फल मानें, तो फलके पूर्वमें हेतुकी

(१) भिन्न पदार्थ।

रत्नप्रभा

र्थान्तरत्वम् उच्यते, तदा अर्थान्तरत्वमानन्तर्ये अन्तर्भवति हेतुफलभावज्ञानाय आनन्तर्यस्य अवश्यं वाच्यत्वात्। तस्मात् इदमर्थान्तरमित्युक्ते तस्य हेतुत्वाप्रतीतेः। तस्माद् इदमनन्तरमित्युक्ते भवत्येव हेतुत्वप्रतीतिः। न च अश्वादनन्तरो गौः इत्यत्र हेतुत्वभानापत्तिरिति वाच्यम्। तयोर्देशतः कालतो वा व्यवधानेन आनन्तर्यस्य अमुख्यत्वात्। अतः सामग्रीफलयोरेव मुख्यम् आनन्तर्यम्, अव्यवधानात्। तस्मिन् उक्ते सति अर्थान्तरत्वं न वाच्यम्। ज्ञातत्वाद् वैफल्यात् च इति भावः। फलस्य विचारस्य पूर्वप्रकृतहेत्वपेक्षाया बलाद् यदर्थान्तरत्वं तस्य आनन्तर्याभेदात् न पृथगथशब्दार्थत्वमिति अध्याहृत्य भाष्यं योजनीयम्। यद्वा, पूर्वप्रकृतेऽर्थे अपेक्षा यस्या अर्थान्तरतायाः, तस्याः फलं ज्ञानं तद्द्वारा आनन्तर्याव्यतिरेकात् तज्ज्ञाने तस्या ज्ञानतोऽन्तर्भावात् न अथशब्दार्थता इत्यर्थः॥

ननु आनन्तर्यार्थकत्वेऽपि आनन्तर्यस्य अवधिः क इत्याशङ्क्य आह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवश्य अपेक्षा रहती है। इसलिए इस अपेक्षाके बलसे हेतुका आक्षेप कर इस हेतुसे अर्थान्तर 'अथ' शब्द बताता है, ऐसा मानें तो ऐसे अर्थान्तरका आनन्तर्य में समावेश होता है; क्योंकि हेतुफलभाव अर्थात् कार्यकारणभाव जाननेके लिए आनन्तर्य अवश्य कहना चाहिए। 'इससे यह अर्थान्तर है, ऐसा कहनेसे हेतुका भान नहीं होता, किन्तु इससे यह अनन्तर है, इस प्रकार हेतुकी प्रतीति अवश्य होती है। कोई कहे कि 'इससे यह अनन्तर है' ऐसा कहनेसे हेतुका भान हो, तो 'अश्वसे गाय अनन्तर है' इसमें भी हेतुका भान होना चाहिए, अर्थात् कार्यकारणभाव होना चाहिए। यह कथन ठीक नहीं है। यहां आनन्तर्य है, परन्तु मुख्य नहीं है, गौण है। गाय और अश्वके बीचमें देश अथवा कालका कहीं २ व्यवधान ( अन्तर ) भी रहता है, इसलिए इनमें मुख्य आनन्तर्य नहीं है। सामग्री और फल अर्थात् कारण और कार्यका ही आनन्तर्य मुख्य है; क्योंकि दोनोंके बीचमें व्यवधान नहीं रहता है। कारणके पीछे किसी भी व्यवधानके विना कार्य अवश्य होता ही है। इसलिए आनन्तर्यका मुख्य अर्थ सामग्री और फलका आनन्तर्य है, यहाँ यही अर्थ 'अथ' शब्दका लेना चाहिए। अथ शब्द अर्थान्तरवाचक है, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि आनन्तर्यरूप अर्थ कहनेसे ही अर्थान्तरत्वका ज्ञान हो जायगा और कोई विशेष फल भी नहीं है। फल ( विचार ) का पूर्वप्रकृत ( साधनचतुष्टय ) जो हेतु, उसकी अपेक्षा अर्थान्तरका आनन्तर्यसे भेद न होनेके कारण अर्थान्तर आनन्तर्यसे पृथक् अर्थ नहीं है, भाष्यकी यह योजना अर्थान्तर पदका अध्याहारकर करनी चाहिए। अथवा अध्याहार के बिना—जिस अर्थान्तरताकी पूर्वप्रकृत अर्थमें अपेक्षा है, उसका ज्ञान द्वारा आनन्तर्यमें अन्तर्भाव होनेसे पृथक् अर्थान्तर अर्थ नहीं है; क्योंकि आनन्तर्य्यके ज्ञानमें अर्थान्तरका ज्ञान हो जाता है, अतः ज्ञान द्वारा दोनों एक हैं।

आनन्तर्यरूप अर्थ तो लिया, परन्तु आनन्तर्यका अवधि क्या है अर्थात् किससे

भाष्य

फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्। सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्। नन्विह कर्माव-

भाष्यका अनुवाद

हेतुभूत पूर्वप्रकृतके साथ जो अपेक्षा है, उसका आनन्तर्यसे भेद नहीं है। 'आनन्तर्य' अर्थ होने पर जैसे धर्मजिज्ञासा नियमसे पूर्वमें होनेवाले वेदाध्ययनकी अपेक्षा रखती है, उसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा भी नियमसे पूर्वमें रहनेवाली जिस वस्तुकी अपेक्षा रखती है, उसे कहना चाहिए। स्वाध्यायका आनन्तर्य तो दोनोंमें समान

रत्नप्रभा

**सति चेति।** यत् नियमेन पूर्ववृत्तं पूर्वभावि असाधारणकारणम्, पुष्कलकारणमिति यावत्, तदेव अवधिरिति वक्तव्यमित्यर्थः। ननु अस्तु धर्मविचारे इव ब्रह्मविचारेऽपि वेदाध्ययनं पुष्कलकारणम् इत्यत आह—**स्वाध्यायेति।** समानम्—ब्रह्मविचारे साधारणकारणम्, न पुष्कलकारणमित्यर्थः। ननु संयोगपृथक्त्वन्यायेन "यज्ञेन दानेन" (बृ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुत्या "यज्ञादिकर्माणि ज्ञानाय विधीयन्ते" इति सर्वापेक्षाधिकरणे (ब्र० सू० ३।४।२६) वक्ष्यते। तथा च पूर्वतन्त्रेण तदवबोधः पुष्कलकारणमिति शङ्कते—**नन्विति।** इहब्रह्मजिज्ञासायाम्। विशेषो असाधारणकारणम्। [एकस्य तु उभयार्थत्वे

रत्नप्रभाका अनुवाद

आनन्तर्य लेना चाहिए इस शंकापर 'सति च' इत्यादि कहते हैं। नियमपूर्वक जो पूर्वभावी वस्तु है, उसको ही अवधि मानना चाहिए, अर्थात् पुष्कलकारण अथवा असाधारण कारणको ही अवधि समझना चाहिए। जैसे धर्म विचारमें वेदाध्ययन पुष्कल कारण है, वैसे ब्रह्मविचारमें भी हो, इस शंका पर कहते हैं—"स्वाध्याय" इत्यादि। समान—ब्रह्मविचारमें साधारण कारण है, पुष्कल कारण नहीं है। संयोग पृथक्त्व न्यायके अनुसार स्वर्गका साधन यागकर्म 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इस श्रुतिसे ब्रह्मज्ञानका भी साधन है यह सर्वापेक्षाधिकरणमें कहेंगे। तब तो पूर्वमीमांसासे बोधित कर्म भी ब्रह्मज्ञानमें पुष्कल ही कारण है[1] इस शंकाका "नन्विह" इत्यादिसे उत्तर करते हैं। इसमें अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासामें। विशेष अर्थात् असाधारण कारण। ['एकस्य तु०' एक याग आदिके अनेक फलोंके साथ सम्बन्धमें संयोग (अनेक फलोंके साथ सम्बन्धबोधक वाक्य) का भेद कारण है, तब तो यहाँ भी स्वर्ग आदि

(१) ब्रह्मसाक्षात्कार स्ववर्णाश्रमधर्मकी सहायतासे होता है, क्योंकि जैसे योग्यताके अनुसार अश्वका रथ चलानेमें योग होता है वैसे ही याग आदिका 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मसाक्षात्कारमें विनियोग हो सकता है।

भाष्य

बोधानन्तर्यं विशेषः। न, धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्म-

भाष्यका अनुवाद

है। यदि कहो कि इसमें कर्मज्ञानका आनन्तर्य विशेष है, तो ऐसा नहीं है। जिसने वेदान्तका अध्ययन किया है, उसे धर्मजिज्ञासाके पूर्व में भी ब्रह्मजिज्ञासा

रत्नप्रभा

संयोगपृथक्त्वम्" इति जैमिनिसूत्रम्, तदर्थस्तु—एकस्य कर्मण उभयार्थत्वे अनेकफलसम्बन्धे संयोगः उभयसम्बन्धबोधकं वाक्यं तस्य पृथक्त्वं भेदः स हेतुः। ततश्च अत्रापि ज्योतिष्टोमादिकर्मणां स्वर्गादिफलकानामपि "यज्ञेन दानेन" इत्यादिवचनात् ज्ञानार्थत्वं चेति।] परिहरति—**न इत्यादिना**। अयमाशयः—न तावत् पूर्वतन्त्रस्थं न्यायसहस्रं ब्रह्मज्ञाने तद्विचारे वा पुष्कल-कारणम्, तस्य धर्मनिर्णयमात्रहेतुत्वात्। नापि कर्मनिर्णयः, तस्य अनुष्ठानहेतु-त्वात्। नहि धूमाग्न्योरिव धर्मब्रह्मणोर्व्याप्तिरस्ति, यया धर्मज्ञानाद् ब्रह्मज्ञानं भवेत्। यद्यपि शुद्धिविवेकादिद्वारा कर्माणि हेतवः, तथापि तेषां नाधिकारि-विशेषणत्वम्, अज्ञातानां तेषां जन्मान्तरकृतानामपि फलहेतुत्वात्। अधिकारि-विशेषणं ज्ञायमानं प्रवृत्तिपुष्कलकारणम् आनन्तर्यावधित्वेन वक्तव्यम्। अतः कर्माणि, तदवबोधः, तन्न्यायविचारो वा न अवधिरिति न ब्रह्मजिज्ञासाया धर्मजिज्ञासा-नन्तर्यमिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

फलके साधक ज्योतिष्टोम आदि याग "यज्ञेन दानेन" आदि वचनके अनुसार ज्ञानके लिए भी हैं।] "न" इत्यादिसे शङ्काका समाधान करते हैं। उसका तात्पर्य इस प्रकार है। पूर्वमीमांसामें जो एक सहस्र न्याय कहे गए हैं, वे ब्रह्मज्ञान अथवा उसके विचारके असाधारण कारण नहीं हैं, क्योंकि वे न्याय तो धर्म-निर्णय मात्रके ही कारण हैं। इसी प्रकार कर्म-निर्णय भी ब्रह्मज्ञान या उसके विचार का पुष्कल कारण नहीं है; क्योंकि वह तो अनुष्ठानमात्रका ही कारण है। धूम और अग्निके समान धर्म और ब्रह्म साधक तथा साध्य नहीं है, अतः उन दोनोंमें व्याप्ति नहीं है, जिससे कि धर्मज्ञानसे ब्रह्मज्ञान हो जाय। कर्मसे मनकी शुद्धि होती है। मनमें विवेक आदि गुण उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार चित्त शुद्धि द्वारा कर्म यद्यपि कारण है, तो भी वह अधिकारीका विशेषण नहीं है। जिसने कर्म किया है, वही अधिकारी हो ऐसा नियम नहीं है। जन्मान्तरकृत कर्मोंका ज्ञान न होने पर भी उनसे फल उत्पन्न होता है। ब्रह्मजिज्ञासामें प्रवृत्ति होनेके असाधारण कारण जो कि अधिकारीके विशेषणरूपसे ज्ञात होते हैं, उन्हींको आनन्तर्यकी अवधि कहना चाहिए। इस प्रकार कर्म, उनका ज्ञान

भाष्य

जिज्ञासोपपत्तेः। यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः, क्रमस्य विवक्षितत्वात्, न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणा-

भाष्यका अनुवाद

उत्पन्न हो सकती है। और जैसे हृदय आदिके अवदानमें आनन्तर्य ( क्रम ) का नियम है, क्योंकि क्रमकी विवक्षा है, वैसे यहां क्रमकी विवक्षा नहीं है; धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें शेषशेषिभाव अथवा अधिकृताधिकार माननेमें

रत्नप्रभा

ननु धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः कार्यकारणत्वाभावेऽपि आनन्तर्योक्तिद्वारा क्रमज्ञानार्थोऽथशब्दः। "हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः" ( तै० सं० ) इत्यवदानानां क्रमज्ञानार्थाथशब्दवत् इत्याशङ्क्य आह—**यथा इति**। अवदानानाम् आनन्तर्यनियमः क्रमो यथा अथशब्दार्थः तस्य विवक्षितत्वाद् न तथेह धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः क्रमो विवक्षितः, एककर्तृकत्वाभावेन तयोः क्रमानपेक्षणात्। अतो न क्रमार्थोऽथशब्द इत्यर्थः। ननु तयोरेककर्तृकत्वं कुतो नास्तीत्यत आह—**शेषेति**। येषामेकप्रधानशेषता यथा अवदानानां प्रयाजादीनां च। ययोश्च

रत्नप्रभाका अनुवाद

अथवा कर्म-मीमांसान्याय-विचार आनन्तर्यकी अवधि नहीं है, इसलिए धर्म जिज्ञासासे ब्रह्मजिज्ञासाका आनन्तर्य नहीं है।

पूर्वपक्षी कहता है कि "धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासाका कार्यकारणभाव नहीं है तो भी धर्म-जिज्ञासासे ब्रह्मजिज्ञासाका आनन्तर्य कहकर क्रमका ज्ञान करनेके लिए 'अथ' शब्द प्रयुक्त है। जैसे 'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः' हृदयके अग्रभागका खण्डन करता है, फिर जीभका, फिर छातीका वाक्यमें जैसे 'अथ' शब्द अवदानके क्रमका ज्ञान कराने के लिये प्रयुक्त है, इसी प्रकार सूत्रमें 'अथ' शब्द धर्म-विचार और ब्रह्म-विचारका क्रम दिखलाने के लिए लगाया है।" इस शंकाका उत्तर देते हैं—यथा इत्यादिसे। सिद्धान्ती कहता है कि अवदानोंके आनन्तर्यका क्रम विवक्षित होने के कारण जैसे अथ शब्दका अर्थ है; वैसे यहाँ नहीं है; क्योंकि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासामें क्रमकी विवक्षा नहीं है। उन दोनोंमें क्रमकी अपेक्षा भी नहीं है; क्योंकि दोनोंका कर्ता एक नहीं है। इसलिए यहाँ 'अथ' शब्द क्रमरूप अर्थमें नहीं है। शंका होती है कि दोनोंका कर्ता एक क्यों नहीं है? इसपर कहते हैं 'शेष' इत्यादि[1]। जो एक प्रधानके अंग हैं, जैसे अवदान (खण्डन)

(१) जहाँ एक प्रधानके अनेक अंग हों, जहाँ शेषशेषिभाव अथवा अधिकृताधिकार हो वहाँ कर्ता एक होता है। शेष और अंग पर्यायवाचक हैं। शेषी, अंगी और प्रधान पर्यायवाचक हैं। जैमिनिके 'शेषः परार्थत्वात्' ( ३।१२ ) इस सूत्रपर शाबरभाष्यमें कहा है कि 'यः परस्योपकारे

रत्नप्रभा

शेषशेषित्वम्, यथा प्रयाजदर्शयोः। यस्य चाधिकृताधिकारत्वम्; यथा अपां प्रणयनं दर्शपूर्णमासाङ्गमाश्रित्य "गोदोहनेन पशुकामस्य" इति विहितस्य गोदोहनस्य। यथा वा "दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत" इति दर्शाद्युत्तरकाले विहितस्य सोमयागस्य दर्शाद्यधिकृताधिकारत्वं तेषामेककर्तृकत्वं भवति। ततश्चैकप्रयोगवचनगृहीतानां तेषां युगपदनुष्ठानासम्भवात् क्रमाकांक्षायां श्रुत्यादिभिर्हि क्रमो बोध्यते; नैवं जिज्ञासयोः शेषशेषित्वे श्रुतिलिङ्गादिकं मानमस्ति। ननु "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्" ( जा उ० ४ ) इति श्रुत्या,

"अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ १ ॥"

इति स्मृत्या च अधिकृताधिकारत्वं भातीति तन्न, "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" ( जा० उ० ४ )

रत्नप्रभाका अनुवाद

और प्रयाज, जिन दो पदार्थोंमें अंगाङ्गिभाव है, जैसे प्रयाज और दर्श का जिसमें अधिकृताधिकारत्व है, जैसे दर्शपूर्णमासके अंगभूत अप्प्रणयनका आश्रयकरके 'गोदोहनेन पशुकामस्य' (पशु की इच्छावाला पुरुष गोदोहन पात्रमें जल पूरण करे) इस वाक्यसे विहित गोदोहन, और 'दर्शपूर्ण०' ( दर्शपूर्णमास याग करके सोमयाग करे ) इसमें दर्शके बाद विहित सोमयागके प्रति दर्श आदिमें अधिकृत पुरुषका अधिकार है, उनका कर्ता एक होता है। कर्ताके एक होनेसे एक प्रयोग वाक्यमें कही गई क्रियाओंका अनुष्ठान एक ही समयमें नहीं हो सकता है, इसलिए वहाँ क्रम की आकाङ्क्षा है, वह क्रम श्रुत्यादि से जानने में आता है। परन्तु धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासा में शेष-शेषीभाव अथवा अधिकृताधिकार दिखलानेवाले श्रुति, लिङ्ग आदि प्रमाण नहीं हैं।

शङ्का—श्रुति और स्मृति से अधिकृताधिकार जाना जाता है। जैसे कि ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृही हो, गृहस्थ होनेके पश्चात् वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर सन्यासी बने तथा विधिके अनुसार वेदोंका अध्ययन कर, धर्मानुसार पुत्र उत्पन्न कर एवं यथाशक्ति यज्ञ करके मोक्षमें मन लगावे। इन श्रुति-स्मृति के अर्थ-बोधक वाक्यों से यही जानने में आता है कि जिसको धर्मका अधिकार हुआ होता है, उसे ही ब्रह्मका अधिकार होता है, इसलिए धर्म-विचार और ब्रह्म-विचारमें अधिकृताधिकार है।

---

वर्तते स शेषः' जो दूसरेका उपकार करे वह शेष है, अथवा दूसरेके उद्देश्यसे जो वर्तमान है, वह शेष है, अथवा गुणभूत अर्थात् अंगभूत पदार्थ शेष है। और उक्त अंग जिसका उपकारक हो वह शेषी अर्थात् अंगी है।

(२) दर्शपूर्णमासके अंगरूप याग।

(३) अमावास्या और पूर्णिमामें किये जानेवाले याग।

(४) सोमलताको खरीदकर, उसका रस निकालकर उसके होमसे संपन्न होनेवाला याग।

भाष्य

भावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च । अभ्युदयफलं धर्म

भाष्यका अनुवाद

प्रमाण नहीं है और दोनोंके फल और विषयमें भेद है। धर्म-ज्ञानका फल

रत्नप्रभा

"आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥"

इति श्रुतिस्मृतिभ्यां त्वया उदाहृतश्रुतिस्मृत्योरशुद्धचित्तविषयत्वावगमाद् ।

एतदुक्तं भवति यदि जन्मान्तरकृतकर्मभिः शुद्धं चित्तम्, तदा ब्रह्मचर्यादेव संन्यस्य ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्। यदि न शुद्धमिति रागेण ज्ञायते, तदा गृही भवेत्, तत्राप्यशुद्धौ, वनी भवेत्, तत्राप्यशुद्धौ, तथैव कालमाकलयेत्, वने शुद्धौ प्रव्रजेदिति। तथा च श्रुतिः—"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्" ( जा० उ० ४ ) इति। तस्माद् न अनयोरधिकृताधिकारत्वे किंचित् मानमिति भावः।

ननु मीमांसयोः शेषशेषित्वमधिकृताधिकारत्वं च मास्तु, एकमोक्षफलकत्वेन एककर्तृकत्वं स्यादेव। वदन्ति हि—"ज्ञानकर्मभ्यां मुक्तिः" इति समुच्चयवादिनः। एवमेकवेदार्थजिज्ञास्यकत्वात् च एककर्तृकत्वम्। तथा च आग्नेयादिषड्यागानामेकस्वर्गफलकानां द्वादशाध्यायानां चैकधर्मजिज्ञास्यकानां क्रमवत्तयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ग्रहण करे, इस अर्थके बोधक श्रुति-वाक्य और शुद्ध-अन्तःकरणवाला प्रथम आश्रममें मोक्षका सम्पादन करता है, इस अर्थके बोधक स्मृति वाक्यसे ऐसा सिद्ध होता है कि तुमने जिन श्रुति और स्मृतियों का उदाहरण दिया है, वे अशुद्ध चित्तवालोंके लिए हैं। तात्पर्य यह है कि यदि जन्मान्तरमें किए हुए कर्मोंसे चित्त शुद्ध हो गया हो, तो ब्रह्मचर्यके बाद ही सन्यास लेकर ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। और संसारमें राग होनेसे यदि शुद्ध हुआ प्रतीत न हो, तो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे, इसमें भी चित्त अशुद्ध रहे, तो वानप्रस्थाश्रमको ग्रहण करे, वहां भी चित्त अशुद्ध रहे, तो उसी आश्रममें कालव्यतीत करे और चित्तके शुद्ध होने पर सन्यास ले। श्रुति भी इसी प्रकार कहती है—'जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो, उसी दिन सन्यास-धारण करले' इसलिए धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासामें अधिकृताधिकार माननेमें कोई भी प्रमाण नहीं है।

शङ्का होती है कि धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासामें शेषशेषिभाव अथवा अधिकृताधिकार सम्बन्ध भले ही मत हो, परन्तु इन दोनों मीमांसाओंका मोक्षरूप फल एकही है, इसलिए दोनोंका कर्ता एकही होना चाहिए। केवल ज्ञानसे अथवा केवल कर्मसे मुक्ति नहीं होती, किन्तु ज्ञान और कर्म दोनोंसे मुक्ति होती है, ऐसा समुच्चयवादी कहते हैं। और दोनों मीमांसाओंमें जिज्ञासाका एकही विषय वेदार्थ है, इसलिए भी दोनोंका कर्ता एकही है, जैसे एकही स्वर्गरूप फल

भाष्य

ज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम् । निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं न चानुष्ठानान्त-

भाष्यका अनुवाद

अभ्युदय है और वह अनुष्ठानकी अपेक्षा रखता है, ब्रह्मज्ञानका फल तो मोक्ष है

रत्नप्रभा

क्रमो विवक्षित इति क्रमार्थोऽथशब्द इत्याशङ्क्य आह—**फलेति**। फलभेदात् जिज्ञास्यभेदात् च न क्रमो विवक्षित इत्यनुषङ्गः। यथा सौर्यार्यम्णप्राजापत्य-चरूणां ब्रह्मवर्चसस्वर्गायुःफलभेदात्, यथा वा कामचिकित्सातन्त्रयोर्जिज्ञास्य-भेदात् न क्रमापेक्षा, तद्वन्मीमांसयोर्न क्रमापेक्षेति भावः। तत्र फलभेदं विवृणोति—**अभ्युदयेति**। विषयाभिमुख्येन उदेतीत्यभ्युदयो विषयाधीनं सुखं स्वर्गादिकम्, तच्च धर्मज्ञानहेतोर्मीमांसायाः फलमित्यर्थः। न केवलं फलस्य स्वरूपतो भेदः, किन्तु हेतुतोऽपीत्याह—**तच्चेति**। ब्रह्मज्ञानहेतोर्मीमांसायाः फलं तु तद्विरु-द्धमित्याह—**निःश्रेयसेति**। नित्यं निरपेक्षं श्रेयो निःश्रेयसम्—मोक्षः, तत्फलमित्यर्थः। ब्रह्मज्ञानं च स्वोत्पत्तिव्यतिरिक्तमनुष्ठानं नापेक्षते इत्याह—**न चेति**। स्वरूपतो हेतुतश्च फलभेदाद् न समुच्चय इति भावः। जिज्ञास्यभेदं

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्पन्न करनेवाले आग्नेय आदि छः यज्ञोंमें क्रम है और धर्मरूप एकही वस्तु, जिनमें जिज्ञास्य है, ऐसे धर्म्ममीमांसाके बारह अध्यायोंमें क्रम है, इसी प्रकार धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासामें भी क्रम की विवक्षा है, इसलिए 'अथ' शब्द क्रमका वाचक है। इस शंकाका निवारण करते हैं—"फल" इत्यादिसे। दोनोंके फल और विषयमें भेद है, इसलिए क्रमकी विवक्षा नहीं है, जैसे सूर्य, अर्यमा और प्रजापतिके चरुके फल—ब्रह्मतेज, स्वर्ग और आयुष्य भिन्न भिन्न हैं, इसलिए इनमें क्रमकी अपेक्षा नहीं है। और जैसे कामशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्रोंमें जिज्ञासाके विषयमें भेद है, इसलिए वहां क्रमकी अपेक्षा नहीं है, इसी प्रकार धर्म-मीमांसा और ब्रह्म-मीमांसामें क्रमकी अपेक्षा नहीं है। फलका भेद दिखलाते हैं—"अभ्युदय" इत्यादिसे। अभ्युदय अर्थात् विषयके साथ अव्यवहित सम्बन्धसे जिनका उदय हो विषयके अधीन सुख, स्वर्ग आदि। वह सुख धर्मजिज्ञासासे उत्पन्न होनेवाले धर्म-ज्ञानका फल है। दोनों मीमांसाओंका फल स्वरूपमात्रसे ही भिन्न हो, ऐसा नहीं है, किन्तु हेतु से भी भिन्न है। अर्थात् दोनोंके हेतु भिन्न भिन्न हैं, ऐसा "तच्च" से कहते हैं। ब्रह्म-ज्ञान-साधक मीमांसाका फल—निःश्रेयस तो धर्ममीमांसाका फल जो स्वर्ग आदि सुख—अभ्युदय है, उससे विरुद्ध है ऐसा कहते हैं—"निःश्रेयस" इत्यादिसे। नित्य निरपेक्ष श्रेय—मोक्ष

(१) आग्नेय, अग्नीषोमीय, उपांशुयाग ये तीन यागकर्म पूर्णिमामें किये जाते हैं। आग्नेय, ऐन्द्र, उपांशुयाग ये तीन यागकर्म अमावास्यामें किये जाते हैं। ये छः आग्नेयादिषड्याग कहलाते हैं।

भाष्य

रापेक्षम् ।) भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्र-त्वात् । इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यम्, नित्यत्वात् न पुरुषव्यापारतन्त्रम् । चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च । या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये

भाष्यका अनुवाद

और उसे अन्य अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं है । धर्मजिज्ञासाका विषय जो धर्म है, वह साध्य है, ज्ञान-कालमें नहीं है; क्योंकि वह पुरुष-व्यापारके अधीन है । यहां तो जिज्ञासाका विषय जो ब्रह्म है, वह नित्य होनेसे पुरुषव्यापारके अधीन नहीं है और बोध करानेवाले प्रमाणकी प्रवृत्तिके भेदसे भी जिज्ञास्य-भेद है । जो विधि धर्ममें प्रमाण है, वह पुरुषको स्वविषय ( धर्म ) में प्रवृत्त कराती हुई ही

रत्नप्रभा

विवृणोति—**भव्यश्चेति** । भवतीति भव्यः साध्य इत्यर्थः । साध्यत्वे हेतुमाह—**नेति** । तर्हि तुच्छत्वम्, न इत्याह—**पुरुषेति** । पुरुषव्यापारः प्रयत्नः तन्त्रं हेतुर्यस्य तत्त्वात् इत्यर्थः । कृतिसाध्यत्वात् कृतिजनकज्ञानकाले धर्मस्य असत्त्वम्, न तुच्छत्वात् इत्यर्थः । ब्रह्मणो धर्माद् वैलक्षण्यमाह—**इह त्विति** । उत्तरमीमांसायामित्यर्थः । भूतम्—असाध्यम् । तत्र हेतुः—**नित्येति** । सदा सत्त्वाद् इत्यर्थः । साध्यासाध्यत्वेन धर्मब्रह्मणोः स्वरूपभेदमुक्त्वा हेतुतोऽपि आह—**नेति** । धर्मवत् कृत्यधीनं नेत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मज्ञानका फल है । ब्रह्मज्ञान अपनी उत्पत्तिसे भिन्न अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं रखता है ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। अभिप्राय यह है कि धर्म और ब्रह्मज्ञानके फल स्वरूपसे और हेतु-से भिन्न भिन्न हैं, इसलिए उनका समुच्चय नहीं हो सकता है। धर्मजिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासाके विषयमें किस प्रकार भेद है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—"भव्यश्च" इत्यादिसे । धर्मजिज्ञासाका विषय जो धर्म है, वह साध्य है अर्थात् उत्पन्न होनेवाला है, ज्ञानकालमें नहीं है अर्थात् जिस समय उसका ज्ञान होता है, उस समय नहीं रहता है; क्योंकि ज्ञानसे इच्छा होती है, इच्छासे प्रयत्न होता है और प्रयत्न से धर्म निष्पाद्य है। धर्म पुरुषके व्यापार ( कृति ) के अधीन है अर्थात् कृतिसाध्य है । इससे कृतिको उत्पन्न करनेवाले ज्ञानके समय धर्म नहीं रहता है । उस समय धर्मकी असत्तामें यही कारण है, तुच्छता कारण नहीं है। ब्रह्मकी धर्मसे विलक्षणता बतलाते हैं—"इह तु" इत्यादिसे । यहाँ अर्थात् उत्तरमीमांसामें । सिद्ध है अर्थात् धर्मके समान साध्य नहीं है, असाध्य है। असाध्यतामें हेतु बतलाते हैं—"नित्येति" अर्थात् सदा रहनेके कारण धर्मको साध्य और ब्रह्मको असाध्य कहकर दोनोंके स्वरूपमें भेद दिखलाया । अब हेतुसे भेद दिखलानेके लिए कहते हैं—"न" इत्यादि । जैसे धर्म क्रियाके

भाष्य

नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति । ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाऽजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते । यथाक्षार्थसंनि-

भाष्यका अनुवाद

बोध कराती है। ब्रह्मबोधक प्रमाण तो पुरुषको बोधमात्र ही कराता है, प्रवृत्ति कराता हुआ बोध नहीं कराता। बोध ( प्रवृत्ति-सहित बोध ) ब्रह्मप्रमाणसे जन्य नहीं है। इसलिए ( विधि द्वारा ) पुरुषको बोधमें प्रवृत्त नहीं करता।

रत्नप्रभा

मानतोऽपि भेदमाह—**चोदनेति** । अज्ञातज्ञापकं वाक्यमत्र चोदना । तस्याः प्रवृत्तिः बोधकत्वं तद्वैलक्षण्याच्च जिज्ञास्यभेद इत्यर्थः । संग्रहवाक्यं विवृणोति—**या हीति** । लक्षणं प्रमाणम् । "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिवाक्यं हि स्वविषये धर्मे यागादिकरणकस्वर्गादिफलकभावनारूपे फलहेतुयागादिगोचरनियोगे वा हित-साधने यागादौ वा पुरुषं प्रवर्तयद् एव अवबोधयति । "अयमात्मा ब्रह्म" (बृ० २। ५।१९) इत्यादि वाक्यन्तु त्वमर्थं केवलम् अप्रपञ्चं ब्रह्म बोधयत्येव न प्रवर्तयति, विषयाभावात् इत्यर्थः । ननु अवबोध एव विषयस्तत्राह—**न पुरुष इति** । ब्रह्मचोदनया

रत्नप्रभाका अनुवाद

अधीन है, वैसे ब्रह्म किसी क्रिया के अधीन नहीं है। धर्म और ब्रह्ममें प्रमाणसे भी भेद दिखलाते हैं—"चोदना" इत्यादिसे। जिसे लोग जानते न हों, उसे जतानेवाला वैदिक शब्दमात्र यहाँ पर चोदना है। अभिप्राय यह है कि चोदनाकी प्रवृत्ति अर्थात् बोधजनकता के भेद से भी जिज्ञास्य धर्म और ब्रह्ममें भेद है। संग्रह-वाक्यका विवरण करते हैं—"या हि" इत्यादिसे। लक्षण—प्रमाण। 'स्वर्गकामो०' ( स्वर्गकी इच्छा करनेवाला यज्ञ करे ) इत्यादि विधिवाक्य अपने विषय–धर्ममें अर्थात् याग आदि जिसका साधन है, उस स्वर्गादि फलकी भावनामें, अथवा फलके कारण जो याग आदि हैं उन यागादि विषयक अपूर्वमें, अथवा हितके साधक याग आदिमें पुरुषको प्रवृत्त कराते ही बोध कराते हैं। 'अयमात्मा०' इत्यादि वाक्य तो 'त्वं ब्रह्माऽभिन्नः' इस प्रकार जीवमें अप्रपञ्च ब्रह्मके अभेदका बोध ही कराते हैं। पुरुषको किसी काममें प्रवृत्त नहीं कराते; क्योंकि जब विषय ही नहीं है तो किसमें प्रवृत्त करावें ? यदि कोई कहे कि बोध ही विषय है, तो इस संबंधमें कहते हैं—"न पुरुषः" इत्यादि। ब्रह्मचोदनासे पुरुष बोधमें

( १ ) मीमांसावार्त्तिककार भावनाको, प्रभाकर अपूर्वको और वेदान्ती हितसाधनत्वको लिङर्थ मानते हैं। यहां ये हीं तीन मत क्रमसे दिखलाये गये है।

( २ ) शङ्का—श्रुतिमें 'अयम्' पाठ है रत्नप्रभामें 'त्वम्' अनुवाद कैसे किया ?

समाधान—उपदेश वाक्य परार्थ होता है, इससे श्रुतिघटक 'अयम्' पद सम्बोध्य त्वमर्थपरक है, इस अभिप्रायसे त्वं पदसे कथन किया है।

भाष्य

कर्षेणार्थावबोधे तद्वत् । तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यते इति । उच्यते—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोग-

भाष्यका अनुवाद

जैसे इन्द्रिय और विषयके सन्निकर्षसे पदार्थ-ज्ञान होता है, किन्तु प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार। इसलिए जिसके अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासाका उपदेश किया जाता है, ऐसा कोई असाधारण कारण कहना चाहिए। असाधारण कारण बतलाते हैं—नित्य और अनित्य वस्तुका विवेक, इस लोकमें और परलोकमें

रत्नप्रभा

पुरुषोऽवबोधे न प्रवर्त्यते इत्यत्र हेतुं पूर्ववाक्येन आह—**अवबोधस्येति**। स्वजन्यज्ञाने स्वयं प्रमाणं न प्रवर्तकमित्यत्र दृष्टान्तमाह—**यथेति**। मानादेव बोधस्य जातत्वात्, जाते च विध्ययोगात् न वाक्यार्थज्ञाने पुरुषप्रवृत्तिः। तथा च प्रवर्तकमानमेयो धर्मः, उदासीनमानमेयं ब्रह्म, इति जिज्ञास्यभेदात् न तन्मीमांसयोः क्रमार्थो अथशब्द इति भावः। एवमथशब्दस्य अर्थान्तरासम्भवात् आनन्तर्यवाचित्वे सति तदवधित्वेन पुष्कल-कारणं वक्तव्यमित्याह—**तस्मादिति**। उपदिश्यते। सूत्रकृतेति शेषः। तत्किमित्यत आह—**उच्यते इति**। विवेकादीनाम् आगमिकत्वेन प्रामाणिकत्वं पुरस्तात् एव उक्तम्। लौकिकव्यापारात् मनस उपरमः शमः। बाह्यकरणानाम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं प्रवृत्त होता है, इसका कारण "अवबोधस्य" इत्यादि पूर्ववाक्यसे दिखलाया है। जो ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है, उस ज्ञानमें वह स्वयं प्रमाण होता है, किन्तु प्रवर्तक नहीं होता है। इसमें दृष्टान्त देते हैं—"यथा" इत्यादिसे। प्रमाणसे ही बोध उत्पन्न हो गया है और उत्पत्तिके अनन्तर उस विषयमें विधि नहीं हो सकती, इसलिए वाक्यार्थ-ज्ञानमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि धर्म प्रवर्त्तक प्रमाणसे गम्य है और ब्रह्म उदासीन अर्थात् प्रवर्तकसे भिन्न प्रमाणसे गम्य है। इस प्रकार धर्म और ब्रह्म इन दोनों जिज्ञास्योंमें भेद है, इसलिए 'अथ' शब्द धर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसाके क्रमका वाचक नहीं है। इस प्रकार अथ शब्दका कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता है, अतः आनन्तर्यरूप अर्थ लेना चाहिए। परन्तु आनन्तर्यकी अवधि क्या है ? किसकी अपेक्षा आनन्तर्य बतलाया है ? उस अवधिरूप पूर्ण कारणको बतलाना चाहिए ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। उपदेश किया जाता है के पहले 'सूत्रकारसे' इतना भाष्यमें शेष समझना चाहिए। 'उच्यते' इत्यादिसे आनन्तर्यकी अवधि बतलाते हैं। विवेक, वैराग्य, शमादिषट्क और मुमुक्षा ये चार अवधि हैं—विवेक आदि श्रुतिसिद्ध होनेसे

भाष्य

विरागः, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्म-जिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च न विपर्यये। तस्मात् अथशब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते। अतः शब्दो हेत्वर्थः।

भाष्यका अनुवाद

विषय-भोगके प्रति विराग, शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति और मोक्षकी इच्छा—इतना हो, तो धर्मजिज्ञासाके पहले और पीछे भी ब्रह्मज्ञानकी इच्छा हो सकती है और ब्रह्मज्ञान भी हो सकता है। इन चार साधनोंके बिना दोनों नहीं हो सकते, इसलिए 'अथ' शब्दसे पूर्वोक्त साधन-संपत्तिसे आनन्तर्यका

रत्नप्रभा

उपरमो दमः। ज्ञानार्थं विहितनित्यादिकर्मसंन्यास उपरतिः। शीतोष्णादिद्वन्द्व-सहनं तितिक्षा। निद्रालस्यप्रमादत्यागेन मनःस्थितिः समाधानम्। सर्वत्र आस्तिकता श्रद्धा। एतत्षट्कप्राप्तिः शमादिसम्पत्। अत्र विवेकादीनामुत्तरोत्तर हेतुत्वेनाधिकारिविशेषणत्वं मन्तव्यम्। तेषामन्वयव्यतिरेकाभ्यां ब्रह्मजिज्ञासाहेतुत्वमाह—**तेष्विति**। अथ कथंचित् कुतूहलितया ब्रह्मविचारप्रवृत्तस्यापि फलपर्यन्तं तज्ज्ञानानुदयाद् व्यतिरेकसिद्धिः। अथशब्दव्याख्यानमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रामाणिक हैं, यह पहले कह चुके हैं। लौकिक-व्यापारसे मनकी निवृत्ति 'शम' है। बाह्य इन्द्रियोंको वशमें रखना 'दम' है। आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिए शास्त्रमें विधान किये हुए नित्य आदि कर्मोंका त्याग 'उपरति' है। शीत-उष्ण, सुख-दुख आदि द्वन्द्वोंका सहन करना तितिक्षा है। निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदिका त्याग करके मनको एकाग्र करना 'समाधान' है। सर्वत्र वेद, शास्त्र आदिमें आस्तिकता 'श्रद्धा' है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा ये शमदमादिसाधनसम्पत्तियाँ है। यहाँ विवेक आदि उत्तरोत्तरके[1] हेतु होकर अधिकारीके विशेषण हैं अर्थात् विवेकसे वैराग्य प्राप्त होता है, वैराग्यसे शम, दम आदि साधन सम्पत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और उनसे मोक्षकी इच्छा उत्पन्न होती है। जो इन साधनोंसे युक्त है, वह अधिकारी है। अन्वय-व्यतिरेकसे ये चारों साधन ब्रह्म-जिज्ञासाके कारण हैं, इस बातको "तेषु" इत्यादिसे दिखलाते हैं। यदि कोई साधन चतुष्टय सम्पतिसे हीन पुरुष कुतूहलसे किसी प्रकार ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त हो भी जाय तो उसको फलपर्यन्त अपरोक्ष अनुभवरूप ब्रह्मज्ञान नहीं होता है। इसलिए विवेक, वैराग्य आदिके अभावमें ब्रह्मज्ञान नहीं होता यह

(१) आत्मा नित्य है और ऐहिक या स्वर्गादि सुख अनित्य हैं ऐसा विवेक जिसको नहीं है, उसको सुख-साधन—रूप, रस आदि विषयोंसे वैराग्य कैसे होगा, और जिसको वैराग्य नहीं है, वह विषयसे मन और बहिरिन्द्रियोंका निग्रह कैसे कर सकेगा? जब तक शम और दम न हों तब तक उसको मोक्षकी इच्छा कैसे हो सकती है इस प्रकार ये उत्तरोत्तरके पूर्व-पूर्व साधन हैं।

भाष्य

यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति— 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'

भाष्यका अनुवाद

उपदेश होता है। 'अतः' शब्द हेतुवाचक है। "तद्यथेह०" जैसे खेती आदिसे उपार्जित भोग्य पदार्थ क्षीण हो जाते हैं, इसी प्रकार परलोकमें पुण्यसे सम्पादन किए हुए लोकोंका क्षय हो जाता है ) इत्यादि श्रुति-वाक्य कल्याणके साधक अग्निहोत्र आदिके फल स्वर्ग आदिमें अनित्यता दर्शाते हैं।

रत्नप्रभा

ननु उक्तविवेकादिकं न सम्भवति, "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्" इत्यादिश्रुत्या कर्मफलस्य नित्यत्वेन ततो वैराग्यासिद्धेः। जीवस्य ब्रह्मस्वरूपमोक्षश्च अयुक्तः, भेदात्; तस्य लोष्टादिवत् पुरुषार्थत्वायोगाच्च। ततो न मुमुक्षासम्भव इत्याक्षेपपरिहारार्थः—अतः शब्दः। तं व्याचष्टे—**अतःशब्द इति**। अथशब्देन आनन्तर्यवाचिना तदवधित्वेन अर्थात् विवेकादिचतुष्टयस्य ब्रह्मजिज्ञासाहेतुत्वं यदुक्तं तस्य आर्थिकहेतुत्वस्य आक्षेपनिरासाय अनुवादकोऽतःशब्द इत्यर्थः। उक्तं विवृणोति—**यस्मादिति**। तस्मादिति उत्तरेण सम्बन्धः। "यदल्पं तन्मर्त्यम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यतिरेक[1] सिद्ध होता है। अब 'अथ' शब्दकी व्याख्याका उपसंहार करते हैं "तस्मात्" इत्यादिसे।

यहां कोई ऐसी शंका करे कि उक्त चार साधन हो नहीं सकते; क्योंकि 'अक्षय्यं०' ( चातुर्मास्य[2] यज्ञ करनेवालेका सुकृत नाशरहित है ) इत्यादि श्रुतियोंसे कर्मफल नित्य है, इसलिए स्वर्ग आदि सुखसे वैराग्य सिद्ध नहीं होता, जीव ब्रह्मसे भिन्न है, अतः जीवको ब्रह्मस्वरूप मोक्ष भी प्राप्त होना अयुक्त है; क्योंकि जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं और मोक्ष हेय और उपादेय न होनेके कारण लोष्ट ( ढेला ) आदिके समान पुरुषार्थ भी नहीं हो सकता, इसलिए मुमुक्षाकी संभावना नहीं है। इस शंकाका समाधान करनेके लिए सूत्रमें 'अतः' शब्दका उपादान किया है। अब भाष्यकार उसका व्याख्यान "अतःशब्दः" इत्यादिसे करते हैं। 'अथ' शब्द आनन्तर्य वाचक है, ऐसा कहा और आनन्तर्यके अवधिरूप विवेक आदि चार साधन भी कहे अर्थात् चार साधन ब्रह्मजिज्ञासाके हेतु हैं, इस आर्थिक हेतुमें शंका हो तो उसे दूर करनेके लिए अथ शब्दसे अर्थात् उक्त हेतुत्वका अनुवादक अतः शब्द है ऐसा अभिप्राय है। इस संक्षिप्त वाक्यका "यस्मात्" इत्यादिसे विवरण करते हैं। 'यस्मात्' पदका सम्बन्ध अग्रिम 'तस्मात्' पदसे है। 'यदल्पं तन्मर्त्यं' 'यत्कृतकं तदनित्यम्'

( १ ) कारण हो तो कार्य हो, यह अन्वय है। कारण न हो, तो कार्य भी न हो, यह व्यतिरेक है। ( २ ) चार महीने अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ मासोंमें आरंभ किये जानेवाले यज्ञ विशेष।

भाष्य

(छा० ८।१।६) इत्यादिः। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ( तै० २।१ ) इत्यादिः तस्माद् यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च

भाष्यका अनुवाद

इसी प्रकार 'ब्रह्मविदा०' (ब्रह्म को जाननेवाला मोक्ष प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म-ज्ञानसे ही परम पुरुषार्थको दिखलाती हैं, इसलिए उपर्युक्त साधन-सम्पत्ति प्राप्त करनेके पश्चात् ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए। ब्रह्मकी

रत्नप्रभा

यत्कृतकं तदनित्यम्'' इति न्यायवती ''तद्यथेह'' ( छा० ८।१।६ ) इत्यादिश्रुतिः कर्मफलाक्षयत्वश्रुतेर्बाधिका। तस्माद् ''अतोऽन्यदार्तम्'' (बृ० ३।४।२) इति श्रुत्याऽऽनात्ममात्रस्य अनित्यत्वविवेकाद् वैराग्यलाभ इति भावः। मुमुक्षां सम्भावयति—**तथेति**। यथा वेदः कर्मफलानित्यत्वं दर्शयति, तथा ब्रह्मज्ञानात् प्रशान्तशोकानलमपारं स्वयंज्योतिरानन्दं दर्शयति इत्यर्थः। जीवत्वादेरध्यासोक्त्या ब्रह्मत्वसम्भव उक्त एव इति भावः। एवमथातःशब्दाभ्यां पुष्कलकारणवतोऽधिकारिणः समर्थनात् शास्त्रमारब्धव्यमित्याह—**तस्मादिति**। सूत्रवाक्यपूरणार्थम् अध्याहृतकर्तव्यपदान्वयार्थं ब्रह्मजिज्ञासापदेन विचारं लक्षयितुं तस्य स्वाभिमतसमासकथनेन अवयवार्थं दर्शयति—**ब्रह्मण इति**। ननु ''धर्माय जिज्ञासा'' इतिवद् 'ब्रह्मणे जिज्ञासा' इति चतुर्थीसमासः किं न स्यादिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

( जो अल्प है, वह नाशवान् है, जो उत्पन्न हुआ है वह अनित्य है ) इस न्यायसे सहकृत 'तद्यथेह' इत्यादि कर्म-फलको अनित्य बतानेवाली श्रुतियाँ पूर्वपक्षी द्वारा दिखलाई गई कर्म-फलको नित्य बतानेवाली श्रुतियोंकी बाधिका हैं। इसलिए 'अतोऽन्यदार्तम्' ( इस आत्मासे अन्य वस्तुएँ अनित्य हैं ) इस श्रुतिसे अनात्मा-मात्र अनित्य है, ऐसा विवेक उत्पन्न होने पर वैराग्य उत्पन्न होता है। ''तथा'' इत्यादिसे मुमुक्षाकी सम्भावना दिखलाते हैं। जैसे वेद कर्म-फलकी अनित्यता दिखलाता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान द्वारा जिसमें शोकरूपी अग्नि शान्त हो गई है, ऐसे अपार स्वयं-प्रकाश आनन्दको दिखलाता है। जीवत्व आदि अध्यस्त हैं, इसलिए जीव ब्रह्म ही है, ऐसा कहा ही गया है। इस प्रकार 'अथ' और 'अतः' शब्दोंसे चार साधन-युक्त अधिकारीके समर्थन होनेसे शास्त्रका आरम्भ करना चाहिए ऐसा सिद्ध हुआ, यह बात ''तस्मात्'' इत्यादिसे कहते हैं। सूत्र-वाक्यको पूरा करनेके लिए 'कर्तव्या' पदका अध्याहार आवश्यक है और इस अध्याहृत पदका अन्वय करनेके लिए 'जिज्ञासा' पदका लक्षणावृत्तिसे विचाररूप अर्थ करनेके लिये स्वाभिमत समासके कथनसे अवयवार्थ दिखलाते हैं—''ब्रह्मणः''

भाष्य

वक्ष्यमाणलक्षणं 'जन्माद्यस्य यतः' इति । अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्या-

भाष्यका अनुवाद

जिज्ञासा ब्रह्म-जिज्ञासा है । 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें जिसका लक्षण कहा जायगा, वह ब्रह्म है । इसी कारणसे ऐसी शङ्का न करनी चाहिए कि 'ब्रह्म'

रत्नप्रभा

चेत्, उच्यते—जिज्ञासापदस्य हि मुख्यार्थः इच्छा । तस्याः प्रथमं कर्मकारकम् अपेक्षितम् । पश्चात् फलम् । ततश्चादौ कर्मज्ञानार्थं षष्ठीसमासो युक्तः । कर्मणि उक्ते सति अर्थात् फलमुक्तं भवति । इच्छायाः कर्मण एव फलत्वात् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । यहां ऐसी शङ्का होती है कि धर्मके लिए जिज्ञासा इसमें जैसे चतुर्थी समास है, इसी प्रकार ब्रह्मके लिए जिज्ञासा ऐसा चतुर्थी समास क्यों न हो ? इस पूर्वपक्षका समाधान इस प्रकार है । 'जिज्ञासा' पदका मुख्य अर्थ 'इच्छा' है । इस इच्छाको कर्म कारक ही की प्रथम अपेक्षा होती है और पीछे फलकी अपेक्षा होती है, इसलिए प्रथम कर्मज्ञानके लिए षष्ठी समास युक्त है । कर्मके कहने पर फल भी अर्थात् कथित होता है, क्योंकि इच्छाका जो कर्म है वही फल है । जैसे स्वर्गकी इच्छा ऐसा कहने पर स्वर्ग इच्छाका फल है, यह अर्थात्

( १ ) प्रथम तो व्याकरण के नियमानुसार चतुर्थी समास हो नहीं सकता । चतुर्थी-तत्पुरुष समास के लिए पाणिनिका यह सूत्र है—'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' । अर्थात् चतुर्थ्यन्त शब्दका तदर्थवाचक शब्दके साथ और अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित शब्दोंके साथ समास होता है । चतुर्थ्यन्त शब्दका जो अर्थ होता हो, उस अर्थके लिए जो हो, वह तदर्थवाचक है । अर्थात् जिन दो शब्दोंमें तादर्थ्य सम्बन्ध हो उन दोनों शब्दोंका समास होता है, परन्तु ऐसा अर्थ करनेमें बाध है । यदि ऐसा अर्थ होता तो 'बलि' और 'रक्षित' इन दो शब्दोंको सूत्रकार अलग नहीं कहते, क्योंकि 'भूतेभ्यो बलिः, भूतबलिः' ( भूतोंके लिए जो बलि है, वह भूत-बलि है ) 'गवे रक्षितम्, गो-रक्षितम्, ( गायके लिए जो रक्षित वह गोरक्षित है ) इनमें चतुर्थी तादर्थ्यवाचक ही है । पाणिनिने सूत्रमें इन दो शब्दोंका अलग उच्चारण किया है, इसलिए तदर्थरूप अर्थका प्रकृति-विकृतिभाव अर्थ करना चाहिए, जैसे कि 'यूपाय दारु, यूपदारु' (यूप—यज्ञस्तम्भके लिए दारु—लकड़ी यूपदारु है ) इसमें 'यूप' विकृति अर्थात् विकारको प्राप्त है और दारु प्रकृति अर्थात् अपनी स्वभाविक स्थितिसे है । इन दोनों शब्दोंमें प्रकृतिविकृतिभाव है, इसलिए इनका समास इस सूत्रके अनुसार है । 'रन्धनाय स्थाली' ( राँधनेके लिए थाली ) यहां प्रकृतिविकृतिभाव नहीं है, इसलिए चतुर्थी समास नहीं है । 'रन्धनस्थाली' पद हो, तो षष्ठी समास हो । अश्वघास' ( घोड़ेके लिए घास ) ये षष्ठी समासके उदाहरण हैं। इस व्याकरणके नियमानुसार 'ब्रह्मजिज्ञासा' पदमें चतुर्थी समास नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म और जिज्ञासामें प्रकृतिविकृतिभाव नहीं है । इस प्रकार व्याकरणकी दृष्टिसे षष्ठी समास युक्त है । अन्य रीतिसे विचारने पर भी षष्ठी समास ही युक्त है ।

भाष्य

र्थान्तरमाशङ्कितव्यम् । ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे, जिज्ञास्यापेक्ष-

भाष्यका अनुवाद

शब्दका जाति आदि दूसरा अर्थ है । 'ब्रह्मणः' यह कर्मवाचक षष्ठी है, शेषवाचक षष्ठी नहीं है; क्योंकि जिज्ञासाको जिज्ञास्यकी अपेक्षा रहती है और (ब्रह्मके सिवा)

रत्नप्रभा

यथा स्वर्गस्य इच्छा इत्युक्ते स्वर्गस्य फलत्वं लभ्यते, तद्वत् । अत एव धर्म-जिज्ञासा इत्यत्रापि 'सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा' इति इच्छां गृहीत्वा षष्ठीसमासो दर्शितः । विचारलक्षणायां तु विचारस्य क्लेशात्मकतया प्रथमं फलाकांक्षत्वाद् "धर्माय-जिज्ञासा" इति चतुर्थीसमास उक्तः । तथा वृत्तिकारैः "ब्रह्मणे जिज्ञासा" इत्युक्तं चेदस्तु ज्ञातत्वेन ब्रह्मणः फलत्वादिति । अधुना ब्रह्मपदार्थमाह—**ब्रह्म-चेति** । ननु "ब्रह्म क्षत्रम्, इदं ब्रह्म आयाति, ब्रह्म स्वयम्भूः, ब्रह्म प्रजापतिः" इति श्रुतिषु, लोके च ब्राह्मणत्वजातौ जीवे वेदे कमलासने च ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते इत्या-शङ्क्य आह—**अत एवेति** । जगत्कारणत्वलक्षणप्रतिपादकसूत्रासाङ्गत्यप्रसङ्गात् एवे-त्यर्थः । वृत्त्यन्तरे शेषे षष्ठीति उक्तं दूषयति—**ब्रह्मण इतीति** । सम्बन्धसामान्यं शेषः । जिज्ञासेत्यत्र सन्प्रत्ययवाच्याया इच्छाया ज्ञानं कर्म । तस्य ज्ञानस्य ब्रह्म

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त होता है, इसी प्रकार ब्रह्म इच्छाका कर्म है और फल भी है । इसी कारण धर्म-जिज्ञासा इस समस्त पदमें भी 'साहि तस्य०' ('वह उसके जाननेकी इच्छा है') इस शबरभाष्यमें जिज्ञासा पदका मुख्य अर्थ इच्छाको मानकर षष्ठीसमास दिखलाया है । लक्षणा करके 'जिज्ञासा' पदके अर्थ 'विचार' को लेकर, विचार क्लेशरूप होता है, इसलिए प्रथम फलकी इच्छा होनेसे 'धर्मके लिए जिज्ञासा'—ऐसा चतुर्थीसमास कहा है । इसी प्रकार वृत्तिकारने 'ब्रह्मके लिए जिज्ञासा' ऐसा चतुर्थीसमास कहा है ऐसा यदि कहो तो ठीक ही है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने पर ब्रह्म ही फल हो जाता है, इसलिए ऐसा कहा है । अब 'ब्रह्म' पदका अर्थ कहते हैं—"ब्रह्म च" इत्यादिसे । कोई कहे कि 'ब्रह्म क्षत्रम्' इत्यादि श्रुतियों और लोक-व्यवहारमें 'ब्रह्म' शब्दके ब्राह्मण-जाति, जीव, वेद, ब्रह्मा आदि अनेक अर्थ हैं, तब कौनसा अर्थ लेना चाहिए ? इस शङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं—"अत एव" अर्थात् ब्रह्म इस जगत् का कारण है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाला सूत्र असङ्गत होगा, इसलिए यहाँ पर ब्रह्मसे जगत्कारण ही लेना चाहिए । ब्रह्म-सूत्रकी दूसरी वृत्तिमें 'ब्रह्मणः' यहाँ पर शेषषष्ठी कही गई है, उसमें दोष दिखलाते हैं—"ब्रह्मणः" आदिसे । शेष अर्थात् सम्बन्ध-सामान्य । 'जिज्ञासा' पदमें 'सन्' प्रत्ययवाच्य 'इच्छा'

(१) कर्मवाचक षष्ठी माननेमें 'ब्रह्मस्वरूपकी ही जिज्ञासा है' यह अर्थ होता है ।

(२) शेषषष्ठी माननेमें 'ब्रह्मसम्बन्धिनी जिज्ञासा है' यह अर्थ होता है ।

भाष्य

त्वाद् जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च । ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् । एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं

भाष्यका अनुवाद

दूसरे जिज्ञास्यका निर्देश भी नहीं है। यदि ऐसा कहो कि शेष षष्ठीके ग्रहण करनेमें भी ब्रह्मके जिज्ञासाका कर्म होनेमें कुछ विरोध नहीं है; क्योंकि जो सम्बन्ध सामान्यका वाचक है, वह विशेष सम्बन्धको भी दिखलाता ही है ? तो इस प्रकार भी ब्रह्मके प्रत्यक्ष कर्मत्वको छोड़कर सामान्य-संबन्ध द्वारा परोक्ष

रत्नप्रभा

कर्म। तत्र सकर्मकक्रियायाः कर्मज्ञानं विना ज्ञातुमशक्यत्वात्, इच्छाया विषय-ज्ञानजन्यत्वात् च प्रथमापेक्षितं कर्मैव षष्ठ्या वाच्यम्, न शेष इत्यर्थः। ननु प्रमाणादिकमन्यदेव तत्कर्म अस्तु, ब्रह्म तु शेषितया सम्बध्यतां तत्र आह— **जिज्ञास्यान्तरेति**। श्रुतं कर्म त्यक्त्वा अन्यद् अश्रुतं कल्पयन् "पिण्डमुत्सृज्य करं लेढि" इति न्यायमनुसरति इति भावः। गूढाभिसन्धिः शङ्कते—**नन्विति**। "षष्ठी शेषे" ( पा० सू० २।३।५० ) इति विधानात् षष्ठ्या सम्बन्धमात्रं प्रतीतमपि विशेषाकांक्षायां सकर्मकक्रियासन्निधानात् कर्मत्वे पर्यवस्यति इत्यर्थः। अभिसन्धि-मजानन् इव उत्तरमाह—**एवमपीति**। कर्मलाभेऽपि प्रत्यक्षं "कर्तृकर्मणोः कृति" ( पा० सू० २।३।६५ ) इति सूत्रेण जिज्ञासापदस्य अकारप्रत्ययान्तत्वेन कृदन्तस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

का कर्म 'ज्ञान' है और ज्ञानका कर्म ब्रह्म है। कर्मका ज्ञान हुए बिना सकर्मक क्रियाका अर्थ समझमें नहीं आता। और इच्छा विषय-ज्ञानसे पैदा होती है, इसलिए प्रथम कर्मकी अपेक्षा होती है। अतः षष्ठी कर्मवाचक ही होनी चाहिए, न कि शेषवाचक। कोई ऐसी शङ्का करे कि इच्छाके कर्म अन्य प्रमाण आदि—वेदान्तवाक्य हों, ब्रह्मका तो इच्छाके साथ शेषशेषी-भाव सम्बन्ध हो, इसपर कहते हैं—"जिज्ञास्यान्तरा" इत्यादि। अर्थात् जो कर्म बतलाया गया है, उसे छोड़कर अश्रुत कर्मकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। यह 'तो ग्रासको छोड़कर हाथ चाटना' इस न्यायके समान है। पूर्वपक्षी अपना विचार गूढ़ रखकर "ननु" इत्यादिसे शङ्का करता है। 'षष्ठी शेषे' इस सूत्रके अनुसार षष्ठीसे सम्बन्धसामान्य प्रतीत होता है और सम्बन्धसामान्यका ज्ञान होने पर विशेष सम्बन्धमें आकांक्षा रहती है, इसलिए सकर्मक क्रियाके समीप रहनेसे कर्मत्वरूप विशेषसम्बन्धका बोध होता है। पूर्वपक्षीके गूढ़ अभिप्रायको सिद्धान्ती समझकर भी अनजानकी तरह "एवमपि" इत्यादिसे उत्तर देता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे कर्मरूप अर्थका लाभ हो, तो भी 'कर्तृ०' ( कृदन्तके योगमें कर्तृवाचक और कर्मवाचक पदसे षष्ठी विभक्ति

भाष्य

कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्। न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेत्, न; प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्।

भाष्यका अनुवाद

कर्मत्वकी कल्पना करनेमें प्रयास व्यर्थ होगा। यदि ऐसा कहो कि यह प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि ब्रह्मके आश्रित सब पदार्थोंके विचारकी प्रतिज्ञा करना प्रयोजन है? तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि प्रधानका परिग्रह होने पर, उसकी अपेक्षा

रत्नप्रभा

योगे विहितं प्रथमापेक्षितं कर्मत्वं त्यक्त्वा परोक्षम्—अशाब्दं कल्पयत इत्यर्थः। शेषवादी स्वाभिसन्धिमुद्घाटयति—न व्यर्थ इति। शेषषष्ठ्यां ब्रह्मसम्बन्धिनी जिज्ञासा प्रतिज्ञाता भवति। तत्र यानि ब्रह्माश्रितानि लक्षणप्रमाणयुक्तिज्ञानसाधनफलानि, तेषामपि विचारः प्रतिज्ञातो भवति। तज्जिज्ञासाया अपि ब्रह्मज्ञानार्थत्वेन ब्रह्मसम्बन्धित्वात्। कर्मणि षष्ठ्यां तु ब्रह्मकर्मक एव विचारः प्रतिज्ञातो भवति इति अभिसन्धिना शेषषष्ठीति उच्यते। अतो मत्प्रयासो न व्यर्थः। ब्रह्म, तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां विचारप्रतिज्ञानमर्थः फलं यस्य तत्त्वात् इत्यर्थः। त्वत्प्रयासस्य इदं फलं न युक्तम्, सूत्रेण मुखतः प्रधानस्य ब्रह्मणो विचारे प्रतिज्ञाते सति तदुपकरणानां विचारस्य आर्थिकप्रतिज्ञाया उदितत्वात् इत्याह सिद्धान्ती—

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है) इस सूत्रसे कृदन्तके योगमें प्रथम अपेक्षित प्रत्यक्ष कर्मत्वको छोड़कर परोक्ष—अशाब्द कर्मकी कल्पना करनेका प्रयास व्यर्थ है। यहाँ पर अप्रत्ययान्त 'जिज्ञासा' पद कृदन्त है। अब शेष-वादी पूर्वपक्षी अपना गूढ़ अभिप्राय स्पष्ट करके कहता है—"न व्यर्थः"। शेषषष्ठी माननेसे ब्रह्मसम्बन्धी जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा होती है अर्थात् ब्रह्म-सम्बन्धी लक्षण, प्रमाण, युक्ति, ज्ञान, साधन और फल इन सबके विचारकी प्रतिज्ञा होती है; क्योंकि उनकी जिज्ञासासे ही ब्रह्मज्ञान होता है, इसलिए ये भी ब्रह्मसम्बन्धी हैं। कर्मवाचक षष्ठी माननेसे ब्रह्मकर्मकमात्र ही विचार होता है अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी लक्षण आदिका विचार नहीं होता। किन्तु ब्रह्म-मात्रके विचारकी ही प्रतिज्ञा होती है, इस अभिप्रायसे शेष षष्ठी कही गई है, अतः मेरा प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि इससे ब्रह्म और ब्रह्मके सम्बन्धी सब प्रमाण, लक्षण आदिके विचारकी प्रतिज्ञा होती है। "न प्रधान" इत्यादि ग्रन्थसे इसका उत्तर सिद्धान्ती देता है कि तुम्हारे प्रयासका यह फल युक्त नहीं है। जब सूत्र शब्दतः प्रधान ब्रह्मके विचारकी प्रतिज्ञा करता है, तब ब्रह्मके प्रमाण, लक्षण आदि सब उपकरणोंके विचारकी प्रतिज्ञा अर्थतः की गई, ऐसा समझना चाहिए। संगृहीत अर्थका "ब्रह्म हि" इत्यादिसे दृष्टान्तपूर्वक व्याख्यान करते हैं।

भाष्य

ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात् प्रधानम्। तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि (१) यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति तद्वत्। श्रुत्यनुगमाच्च। 'यतो वा इमानि भूतानि

भाष्यका अनुवाद

रखनेवाले सब पदार्थोंका अर्थतः आक्षेप हो जाता है। ब्रह्म ज्ञानसे प्राप्त करनेके लिए इष्टतम (अत्यन्त इष्ट) है, अतः वह प्रधान है। जिज्ञासाके कर्म उस प्रधान-का ग्रहण होते ही जिनकी जिज्ञासा हुए बिना ब्रह्मकी जिज्ञासा नहीं होती, उन सबका अर्थतः आक्षेप हो ही जाता है, इसलिए सूत्रमें उनको अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जैसे 'यह राजा जाता है' ऐसा कहनेसे ही परिवार-सहित राजाके गमनका कथन हो जाता है, इसके अनुसार। इसी प्रकार श्रुतिके साथ सूत्रका सम्बन्ध करनेसे भी कर्मवाचक षष्ठी है। 'यतो वा०' (जिससे ये

रत्नप्रभा

**न प्रधानेति**। संगृहीतमर्थं सदृष्टान्तं व्याकरोति—**ब्रह्म हीत्यादिना**। "तद्विजिज्ञासस्व" इति मूलश्रुत्यनुसाराच्च कर्मणि षष्ठीति आह—**श्रुत्यनुगमाच्च इति**। श्रुतिसूत्रयोरेकार्थत्वलाभात् च इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

और 'तद्विजिज्ञासस्व' (उस ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर) इस मूल श्रुतिके अनुसार भी 'ब्रह्मकी जिज्ञासा' इसमें 'ब्रह्मकी' यह कर्मवाचक षष्ठी माननी चाहिए। इस बातको "श्रुत्यनुगमाच्च" इससे कहते हैं। ऐसा करनेसे ही श्रुति और सूत्रकी एकवाक्यता होती है।

(१) अर्थाक्षिप्त अर्थात् सूचना होती है—प्रधान ब्रह्मके ग्रहण होनेसे ब्रह्म और ब्रह्मके साथ अपेक्षा रखनेवाले उसके लक्षण ऐसा समझा जाता है। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० १।४।४९) (कर्ताको क्रियासे प्राप्त होने योग्य इष्टतम कारककी कर्म संज्ञा होती है) इस सूत्रके अनुसार ज्ञानसे प्राप्त करनेके लिए इष्टतम होनेसे ब्रह्म प्रधान है। 'माषेषु अश्वं बध्नाति' (उड़दमें घोड़ेको बाँधता है) यहां माष—कर्म घोड़ेको इष्ट हैं, कर्ता (देवदत्त) को इष्ट नहीं हैं, इसलिए 'माष' शब्दके आगे द्वितीया विभक्ति नहीं आवेगी, ऐसा दिखलानेके लिए सूत्रमें 'कर्तुः' यह पद दिया है। 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' (दूधसे भात खाता है) यहां पयस् (दूध) इष्ट तो है, पर इष्टतम (सबसे अधिक इष्ट) नहीं है, प्रत्युत ओदन इष्टतम है, इसलिए ओदनसे द्वितीया विभक्ति हुई। यदि सूत्रमें 'ईप्सिततमम्' पदमें 'तमप्' प्रत्ययका ग्रहण न किया होता, तो भोजन-कर्ताको इष्ट जो 'पयस्' है, उससे भी द्वितीया विभक्ति होने लगती।

भाष्य

जायन्ते' ( तै० ३।१ ) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति । तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति । तस्माद् 'ब्रह्मणः' इति कर्मणि षष्ठी । ज्ञातुमिच्छा

भाष्यका अनुवाद

प्राणी उत्पन्न होते हैं ) इत्यादि श्रुतियाँ 'तद्विजिज्ञासस्व०' ( उसको जाननेकी इच्छा कर, वह ब्रह्म है ) इस प्रकार ब्रह्म ही जिज्ञासाका कर्म है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखलाती हैं और कर्मवाचक षष्ठी माननेसे ही सूत्रके साथ श्रुतिकी एकवाक्यता होती है, इसलिए 'ब्रह्मणः' यह कर्मवाचक षष्ठी है । जाननेकी इच्छा—जिज्ञासा है । अवग-

रत्नप्रभा

जिज्ञासापदस्य अवयवार्थमाह—**ज्ञातुमिति**। ननु अनवगते वस्तुनि इच्छाया अदर्शनात् तस्या मूलं विषयज्ञानं वक्तव्यम्, ब्रह्मज्ञानं तु जिज्ञासायाः फलम्, तदेव मूलं कथमिति आशंक्य आह—**अवगतीति** । आवरणनिवृत्तिरूपाभिव्यक्तिमच्चैतन्य-मवगतिः पर्यन्तोऽवधिर्यस्य अखण्डसाक्षात्कारवृत्तिज्ञानस्य तदेव जिज्ञासायाः कर्म, तदेव फलम् । मूलं त्वापातज्ञानमित्यधुना वक्ष्यते इति फलमूलज्ञानयोर्भेदात् न जिज्ञासानुपपत्तिरित्यर्थः । ननु गमनस्य ग्रामः कर्म, तत्प्राप्तिः फलमिति भेदात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

'ज्ञातुम्' इत्यादिसे जिज्ञासा पदका अवयवार्थ दिखलाते हैं । जाननेकी इच्छा जिज्ञासा है । पूर्वपक्षी कहता है कि अज्ञात वस्तुमें इच्छा नहीं होती है, इसलिए इच्छाका कारण विषयज्ञान है, ऐसा कहना चाहिए । ब्रह्म-ज्ञान तो जिज्ञासाका फल है, वह कारण कैसे हो सकता है ? इस शङ्काका समाधान करनेके लिए सिद्धान्ती—'अवगति' इत्यादि कहता है । [ 'जिज्ञासा' पदमें 'सन्' प्रत्यय इच्छा-वाचक है । इस इच्छाका कर्म अवगति-पर्यन्त ज्ञान है ] आवरण-रहित अभिव्यक्तिमत् ब्रह्म चैतन्य ही अवगति है । वही जिज्ञासाका कर्म है और वही फल है । ब्रह्मका सामान्यज्ञान इच्छाका कारण है ऐसा अभी कहा जायगा । इस प्रकार फलज्ञान और कारणज्ञानके भिन्न होनेसे जिज्ञासाकी अनुपपत्ति नहीं है । पूर्व-पक्षी कहता है कि वह गाँवको जाता है इसमें गाँव कर्म है और ग्रामकी प्राप्ति फल है, इस प्रकार फल और कर्मका भेद है, इसलिए जो कर्म हो वही फल हो यह अयुक्त है । इसका उत्तर कहते हैं—"फल" इत्यादिसे । दूसरी क्रियाओंमें फल और कर्म भले ही भिन्न भिन्न हों, परन्तु इच्छाकी क्रियामें ऐसा नहीं है । मनुष्य जिसकी इच्छा करता है वही इच्छाका फल होता है, इसलिए कर्म ही फल है। परन्तु 'अवगति-पर्यन्त ज्ञान' कहनेका क्या अर्थ है ? क्योंकि ज्ञान और अवगति एक ही हैं, इसलिए दोनोंका भेद कहना अयोग्य है। इसका उत्तर कहते हैं—"ज्ञानेन" इत्यादिसे । आशय यह कि ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्ति है और अवगति उसका फल है, इस प्रकार दोनोंमें परस्पर

भाष्य

जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म। फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।

भाष्यका अनुवाद

तिपर्यन्त ज्ञान सन्वाच्य इच्छाका कर्म है, क्योंकि इच्छाका विषय फल है। ब्रह्म ज्ञानरूप प्रमाणसे जाननेके योग्य है, क्योंकि ब्रह्मकी अवगति पुरुषार्थ है। कारण कि उससे निःशेष संसारके बीजरूप अविद्या आदि अनर्थोंका नाश होता है। इसलिए ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए।

---

रत्नप्रभा

कर्मैव फलमिति अयुक्तं तत्र आह—**फलेति**। क्रियान्तरे तयोर्भेदेऽपि इच्छायाः फलविषयत्वात् कर्मैव फलमित्यर्थः। ननु ज्ञानावगत्योरैक्याद् भेदोक्तिरयुक्ता इत्यत आह—**ज्ञानेनेति**। ज्ञानं वृत्तिः, अवगतिस्तत्फलमिति भेद इति भावः। अवगन्तुम्—अभिव्यञ्जयितुम्। अवगतेः फलत्वं स्फुटयति—**ब्रह्मेति**। हिशब्दोक्तं हेतुमाह—**निश्शेषेति**। बीजमविद्या आदिर्यस्य अनर्थस्य तन्नाशकत्वादित्यर्थः। अवयवार्थमुक्त्वा सूत्रवाक्यार्थमाह—**तस्मादिति**। अत्र सन्प्रत्ययस्य विचारलक्षकत्वं तव्यप्रत्ययेन सूचयति। अथातः शब्दाभ्यामधिकारिणः साधितत्वात्तेन ब्रह्मज्ञानाय विचारः कर्तव्य इत्यर्थः॥

इति तृतीयवर्णकम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भेद है। अवगमन करनेके लिए—अभिव्यञ्जन करनेके लिए। अवगति फल है इसी बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिए "ब्रह्म" इत्यादि कहते हैं। 'हि' शब्दसे कथित हेतुको दिखाते हैं—"निःशेष" इत्यादिसे। आशय यह है कि समस्त संसारका बीजरूप अज्ञान जिस अनर्थका मूलकारण है, उसके नाशक होनेसे। सूत्रका अवयवार्थ कहकर "तस्मात्" इत्यादिसे उसका वाक्यार्थ कहते हैं। 'जिज्ञासितव्यम्' इस पदमें 'सन्' प्रत्यय लक्षणावृत्तिसे विचारका बोध कराता है, ऐसा 'तव्य' प्रत्ययसे सूचित होता है। 'अथ' और 'अतः' शब्दोंसे अधिकारीकी सिद्धि होती है, इसलिए अधिकारीको ब्रह्मज्ञानके लिए विचार करना चाहिए यह तात्पर्य निकलता है।

* तृतीयवर्णक समाप्त *

भाष्य

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते—अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्ध-

भाष्यका अनुवाद

वह ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध है? यदि प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा करनेकी आवश्यकता नहीं है, यदि अप्रसिद्ध है, तो उसकी जिज्ञासा हो ही नहीं सकती। इस शङ्काका समाधान करते हैं—नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव,

रत्नप्रभा

प्रथमवर्णके बन्धस्य अध्यासत्वोक्त्या विषयादिसिद्धावपि ब्रह्मप्रसिद्ध्यप्रसिद्ध्योः विषयादिसम्भवासम्भवाभ्यां शास्त्रारम्भसन्देहे पूर्वपक्षमाह—तत्पुनरिति। पुनः-शब्दो वर्णकान्तरद्योतनार्थः। यदि वेदान्तविचारात् प्रागेव ब्रह्म ज्ञातम्, तर्हि-अज्ञातत्वरूपविषयत्वं नास्ति। अज्ञानाभावेन तन्निवृत्तिरूपफलमपि नास्तीति न विचारयितव्यम्। अथ अज्ञातं केनापि तर्हि तदुद्देशेन विचारः कर्तुं न शक्यते, आज्ञातस्य उद्देशायोगात्। तथा च बुद्धौ अनारूढस्य विचारात्मकशास्त्रेण वेदान्तैश्च प्रतिपादनायोगात् तत्प्रतिपाद्यत्वरूपः सम्बन्धो नास्ति इति ज्ञानानुत्पत्तेः फलमपि नास्ति इत्यनारभ्यं शास्त्रमित्यर्थः। आपातप्रसिद्ध्या विषयादिलाभाद् आरम्भणीय-मिति सिद्धान्तयति—**उच्यते इत्यादिना**। प्रसिद्धं तावदित्यर्थः। अस्तित्वस्य अप्रकृतत्वेन अस्तिपदस्य प्रसिद्धिपरत्वात्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि प्रथम वर्णकमें बन्धको अध्यस्त (आरोपित) कहकर विषय आदिकी सिद्धि की गई है, तो भी ब्रह्म प्रसिद्ध हो तो शास्त्रका विषय बनता है, यदि प्रसिद्ध न हो तो शास्त्रका विषय नहीं बन सकता ऐसा शास्त्रके आरंभमें संदेह होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्पुनः" इत्यादिसे। यहाँ पर 'पुनः' शब्द अग्रिम वर्णकके आरंभका द्योतक है। यदि वेदान्तोंका विचार करनेके पहले ही ब्रह्मज्ञान हो जाय तो ब्रह्मके अज्ञात न होनेसे वह विषय नहीं होगा और अज्ञानका अभाव होनेसे अज्ञाननिवृत्तिरूप फलका भी अभाव है, इसलिए ब्रह्म-विचार करना अयोग्य है। यदि ब्रह्म अप्रसिद्ध हो अर्थात् अज्ञात हो तो उसके संबंधमें कोई भी विचार नहीं कर सकता। अज्ञात पदार्थ विचारका विषय नहीं होता, क्योंकि जो बुद्धिमें न आवे, उसका विचारात्मक शास्त्रसे अथवा वेदान्तसे प्रतिपादन नहीं हो सकता है। विषय और शास्त्रमें प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबंध न होनेसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता और इसी कारण फल भी उत्पन्न नहीं होगा, इसलिए शास्त्रका आरंभ उचित नहीं है ऐसा तात्पर्य है। सामान्य ज्ञानसे ब्रह्म प्रसिद्ध है, इसलिए विषय आदिका लाभ होनेसे शास्त्र आरंभणीय है, इस अभिप्रायसे सिद्धान्ती "उच्यते" इत्यादि ग्रंथसे उक्त पूर्वपक्षका समाधान

भाष्य

बुद्धमुक्तस्वभावम्, सर्वज्ञम्, सर्वशक्तिसमन्वितम्। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्य-

भाष्यका अनुवाद

सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म प्रसिद्ध है। 'ब्रह्म' शब्दकी व्युत्पत्तिसे 'बृह्'

रत्नप्रभा

ननु केन मानेन ब्रह्मणः प्रसिद्धिः। न च "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति श्रुत्या सा इति वाच्यम्। ब्रह्मपदस्य लोके सङ्गतिग्रहाभावेन तद्धटितवाक्यस्य अबोधकत्वात् इत्याशंक्य ब्रह्मपदव्युत्पत्त्या प्रथमं तस्य निर्गुणस्य सगुणस्य च प्रसिद्धिरित्याह—**ब्रह्मशब्दस्य हीति**। अस्यार्थः—श्रुतौ सूत्रे च ब्रह्मपदस्य प्रयोगान्यथानुपपत्त्या कश्चित् अर्थोऽस्ति इति ज्ञायते। प्रमाणवाक्ये निरर्थकशब्द-प्रयोगादर्शनात्। स च अर्थो महत्त्वरूप इति व्याकरणात् निश्चीयते, "बृहि वृद्धौ" (पा० धा० भ्वा०) इति स्मरणात्। सा च वृद्धिः निरवधिकमहत्त्वमिति, संकोचकाभावात्, श्रुतावनन्तपदेन सह प्रयोगाच्च ज्ञायते। निरवधिकमहत्त्वं चान्तवत्त्वादिदोषवत्त्वे सर्वज्ञत्वादिगुणहीनत्वे च न सम्भवति। लोके गुणहीन-दोषवतोरल्पत्वप्रसिद्धेः। अतो बृंहणाद् ब्रह्मेति व्युत्पत्त्या देशकालवस्तुतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं। भाष्यगत 'अस्ति' पद प्रसिद्धिपरक है, क्योंकि प्रसिद्धि ही पूर्व-प्रकृत है, अस्तित्व नहीं।

यहाँ कोई शंका करे कि ब्रह्मकी प्रसिद्धि किस प्रमाणसे है? 'सत्यं०' इस श्रुतिसे प्रसिद्धि है ऐसा तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि व्यवहारमें 'ब्रह्म' पदका शक्तिग्रह नहीं होता अर्थात् 'ब्रह्म' शब्द अमुक अर्थका वाचक है, ऐसी व्यावहारिक रूढि नहीं है, इसलिए 'ब्रह्म' शब्दसे घटित वाक्यद्वारा अर्थबोध नहीं हो सकता। इस शंकाके उत्तरमें प्रथम ब्रह्म पदकी व्युत्पत्तिसे निर्गुण और सगुण ब्रह्मकी प्रसिद्धि है ऐसा कहते हैं—"ब्रह्मशब्दस्य हि" इत्यादिसे। इसका अर्थ—श्रुतिमें और सूत्रमें ब्रह्म शब्दका प्रयोग है, यदि ब्रह्म शब्दका अर्थ न हो तो वह प्रयोग अनुपपन्न होगा, अतः 'ब्रह्म' शब्दका कुछ अर्थ भी है ऐसा मालूम होता है, क्योंकि प्रमाण-वाक्योंमें निरर्थक शब्दका प्रयोग देखनेमें नहीं आता। "ब्रह्म" शब्दका यह अर्थ महत्त्वरूप है ऐसा व्याकरणसे निश्चय होता है, क्योंकि 'ब्रह्म' शब्द 'बृहि वृद्धौ' (बृह अर्थात् बढना) धातुसे व्युत्पन्न हुआ है। (इस व्युत्पत्तिसे 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वृद्धि-रूप होता है।) यह वृद्धि अवधिरहित महत्त्वरूप है, क्योंकि संकोचकका अभाव है, और श्रुतिमें 'अनन्त' (अन्त-रहित, अवधि-रहित) शब्दके साथ 'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग है। अन्तवत्त्व आदि दोषसे युक्त और सर्वज्ञत्व आदि गुणरहित पदार्थों-में निरवधिक महत्त्व संभव नहीं है, क्योंकि लोकमें जो गुणहीन और दोषयुक्त होता है, वह

भाष्य

मानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न

भाष्यका अनुवाद

धातुके अर्थके अनुसार नित्य, शुद्ध इत्यादि अर्थोंकी प्रतीति होती है और सबकी आत्मा होनेसे ब्रह्मका अस्तित्व प्रसिद्ध है। सबको आत्माके अस्तित्वका

---

रत्नप्रभा

परिच्छेदाभावरूपं नित्यत्वं प्रतीयते। अविद्यादिदोषशून्यत्वं शुद्धत्वम्, जाड्यराहित्यम् बुद्धत्वम्, बन्धकालेऽपि स्वतो बन्धाभावः मुक्तत्वं च प्रतीयते। एवं सकलदोषशून्यं निर्गुणं प्रसिद्धम्। तथा सर्वज्ञत्वादिगुणकं च तत्पदवाच्यं प्रसिद्धम्। ज्ञेयस्य कार्यस्य वा परिशेषे अल्पत्वप्रसङ्गेन सर्वज्ञत्वस्य सर्वकार्यशक्तिमत्त्वस्य च अलाभादिति। एवं तत्पदात् प्रसिद्धेरप्रमाणत्वेन आपातत्वात् अज्ञानानिवर्तकत्वात् जिज्ञासोपपत्तिः इत्युक्त्वा त्वम्पदार्थात्मनापि ब्रह्मणः प्रसिद्धया तदुपपत्तिरित्याह— **सर्वस्येति**। सर्वस्य लोकस्य योऽयमात्मा तदभेदाद् ब्रह्मणः प्रसिद्धिरित्यर्थः। ननु आत्मनः प्रसिद्धिः का इत्यत आह— **सर्वो हीति**। 'अहमस्मि इति न प्रत्येति इति न, किन्तु प्रत्येत्येव। सैव सच्चिदात्मनः प्रसिद्धिरित्यर्थः। आत्मनः

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अल्प' होता है, यह प्रसिद्ध है। इस प्रकार 'बृंहणात् ब्रह्म' (व्यापक होनेसे ब्रह्म कहलाता है) इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्ममें देश, काल, वस्तु आदिसे अपरिच्छिन्नतारूप नित्यता प्रतीत होती है। शुद्ध अर्थात् अविद्या आदि दोषोंसे शून्य। बुद्ध अर्थात् जडतारहित। बन्ध-कालमें भी जिसमें बन्धका स्वतः अभाव है, वह मुक्त है। इस प्रकार सकल दोषोंसे शून्य निर्गुण ब्रह्म प्रसिद्ध है। इसी प्रकार सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त तत्पदवाच्य—सगुण ब्रह्म भी प्रसिद्ध है। यदि ब्रह्मसे किसी ज्ञेय वस्तु या कार्य वस्तुका परिशेष रह जाय, अर्थात् यदि ब्रह्मसे कोई वस्तु अज्ञेय या अकार्य्य हो तो ब्रह्ममें अल्पत्वका प्रसंग होनेसे वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता। इस प्रकार तत्पद (ब्रह्मपद) से होनेवाला ब्रह्मका ज्ञान अप्रमाण तथा सामान्य ज्ञान है, और सामान्य ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः सामान्यतः प्रसिद्ध ब्रह्मकी जिज्ञासा युक्त ही है ऐसा कहकर त्वंपदार्थ आत्मासे भी ब्रह्म प्रसिद्ध है इसलिए जिज्ञासा युक्त है ऐसा कहते हैं—"सर्वस्य" इत्यादिसे। ब्रह्म सब लोगोंकी आत्मा है, आत्मासे भिन्न नहीं है, इसलिए ब्रह्म प्रसिद्ध है। कोई कहे कि आत्मा प्रसिद्ध कैसे है? तो इसपर "सर्वो हि" आदिसे उत्तर देते हैं। ऐसा कोई अपनेको नहीं समझता है कि 'मैं नहीं हूँ' किंतु सब लोगोंको 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होता है, वही सच्चित् आत्माकी प्रसिद्धि है। 'सब शून्य है अतः आत्माकी सत्ता (स्थिति)

भाष्य

नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्, सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। यदि तर्हि लोके ब्रह्म आत्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति

भाष्यका अनुवाद

ज्ञान होता है, 'मैं नहीं हूं' ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता। यदि आत्माका अस्तित्व प्रसिद्ध न होता, तो सब लोगोंको 'मैं नहीं हूं' ऐसा ज्ञान होता। आत्मा ही ब्रह्म है। यदि लोगोंमें ब्रह्म आत्मारूपसे प्रसिद्ध है, तो वह ज्ञात ही है,

रत्नप्रभा

कुतः सत्ता इति शून्यमतमाशंक्य आह—**यदि हीति**। आत्मनः शून्यस्य प्रतीतौ 'अहं नास्मि' इति लोको जानीयात्। लोकस्तु 'अहमस्मि' इति जानाति, तस्मादात्मनोऽस्तित्वप्रसिद्धिरित्यर्थः। आत्मप्रसिद्धौ अपि ब्रह्मणः किमायातं तत्र आह—**आत्मा चेति**। "अयमात्मा ब्रह्म" ( बृ० २।५।१९ ) इत्यादिश्रुतेरिति भावः।

प्रसिद्धिपक्षोक्तं दोषं पूर्वपक्षेण स्मारयति—**यदीति**। अज्ञातत्वाभावेन विषयाद्यभावाद् अविचार्यत्वं प्राप्तमित्यर्थः। यथा इदं रजतमिति वस्तुतः शुक्तिप्रसिद्धिः, तद्वदहमस्मीति सत्त्वचैतन्यरूपत्वसामान्येन वस्तुतो ब्रह्मणः प्रसिद्धिः, नेयं पूर्णानन्दब्रह्मत्वरूपविशेषगोचरा, वादिनां विवादाभावप्रसङ्गात्। नहि शुक्तित्वविशेषदर्शने सति रजतं रङ्गमन्यद् वा इति विप्रतिपत्तिरस्ति। अतो विप्रति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्ध नहीं होती' इस शून्यमतकी शंकापर कहते हैं—"यदि हि" इत्यादि। यदि आत्मा शून्य हो तो 'मैं नहीं हूँ' ऐसा लोगोंको ज्ञान होना चाहिए, परन्तु सबको तो 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होता है, इसलिए आत्माका अस्तित्व प्रसिद्ध है। परन्तु आत्माके प्रसिद्ध होनेपर भी ब्रह्मकी प्रसिद्धिमें क्या आया? इस शङ्काका उत्तर देते हैं—"आत्मा च" इत्यादिसे। 'अयमात्मा०' (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा सिद्ध होता है।

पूर्व प्रसिद्धिपक्षमें कहे गए दोषोंका पूर्वपक्षसे स्मरण कराते हैं—"यदि" इत्यादिसे। आशय यह है कि ब्रह्म अज्ञात नहीं, किन्तु ज्ञात है; इससे विषय आदिका अभाव है, विषय आदिके अभावसे ब्रह्म अविचार्य है, इसलिए शास्त्र अनारम्भणीय है। ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्ती "न" इत्यादिसे उत्तर कहता है कि जैसे 'इदं रजतम्' यहांपर वस्तुतः (इदन्त्वसे) शुक्ति प्रसिद्ध है, उसी प्रकार 'अहमस्मि' ( मैं हूँ ) ऐसे सत्त्व और चैतन्यरूप आत्माके सामान्य धर्मसे ब्रह्म प्रसिद्ध है, तो भी पूर्ण, आनन्द ब्रह्मत्वरूप विशेष धर्मसे प्रसिद्ध नहीं है। यदि विशेष धर्मसे प्रसिद्ध होता, तो मतभेद नहीं होता। 'यह शुक्ति है' ऐसा विशेष दर्शन होने पर यह रजत है, या रंग है अथवा और कोई चीज है? ऐसी विप्रतिपत्ति

भाष्य

ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न, तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे। मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं

भाष्यका अनुवाद

इसलिए उसकी जिज्ञासा नहीं बनती ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उसके विशेष ज्ञानमें मतभेद है। [1]चैतन्य-विशिष्ट देहमात्र आत्मा है, ऐसा प्राकृत जन और लोकायतिक (चार्वाक) मानते हैं। दूसरे कहते हैं कि चेतन इन्द्रियाँ[2] ही आत्मा हैं। अन्य कहते हैं कि मन[3] ही आत्मा है,

रत्नप्रभा

पत्त्यन्यथानुपपत्त्या सामान्यतः प्रसिद्धौ अपि विशेषस्य अज्ञातत्वाद् विषयादिसिद्धिः इति सिद्धान्तयति—नेत्यादिना। सामान्यविशेषभावः स्वात्मनि सच्चित्पूर्णादि-पदवाच्यभेदात् कल्पित इति मन्तव्यम्। तत्र स्थूलसूक्ष्मक्रमेण विप्रतिपत्तीः उपन्यस्यति—देहमात्रमित्यादिना। शास्त्रज्ञानशून्याः—प्राकृताः। वेदबाह्यमतानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

किसीको नहीं होती है। अतः विप्रतिपत्तिकी अन्यथानुपपत्तिसे सामान्यतः ब्रह्मकी प्रसिद्धि होनेपर भी उसका विशेष ज्ञान नहीं है, इसलिए विषय आदि सिद्ध होते हैं। सत्, चित्, पूर्ण आदि पदोंका भिन्न अर्थ होता है, इसलिए आत्मामें जो सामान्य और विशेषभाव हैं, वे कल्पित हैं, ऐसा समझना चाहिए। अब स्थूल और सूक्ष्मके क्रमसे मतभेद दिखलाते हैं—"देहमात्रम्" इत्यादिसे। जिन्हें शास्त्रका कुछ भी ज्ञान नहीं है, उनको प्राकृत कहते हैं। वेद-बाह्य मतोंको कहकर अब तार्किकोंके मतको "अस्ति" इत्यादिसे

(१) लोकायतिक अर्थात् चार्वाक मतके अनुसारी। स्वतन्त्र अथवा अस्वतन्त्र चैतन्य है ही नहीं, किन्तु देहके आकारमें परिणामको प्राप्त हुए चार भूतोंमें ही चैतन्य अन्तर्भूत है, जैसा देखें वैसा ही कहने और माननेवाले, चार भूत ही तत्त्व पदार्थ हैं, ऐसा कहनेवाले लोकायतिक हैं। त्वगिन्द्रियके आधारभूत देहमें 'मैं मनुष्य हूं' ऐसी बुद्धि होनेसे देह ही आत्मा है, ऐसा देहात्मवादी लोकायतिकोंका मत है।

(२) नेत्र आदि एक एक इन्द्रिय न हो, तो जैसे अन्ध, बधिर और मूकको रूप, शब्द आदिका ज्ञान नहीं होता, इसलिए चैतन्य इन्द्रियोंका ही अनुसारी है और अहम्बुद्धि इन्द्रियोंमें ही होती है, इसलिए इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं, इस दूसरे पक्षको 'इन्द्रियाण्येव' इत्यादिसे कहते हैं।

(३) स्वप्नमें नेत्र आदिके न रहने पर भी केवल मनमें ही ज्ञान देखनेमें आता है और अहंबुद्धि मनमें सम्पूर्ण प्रकारसे देखनेमें आती है, इसलिए मन ही आत्मा है, इस मतान्तर को 'मन' इत्यादिसे कहते हैं।

भाष्य

क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता, भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्। आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो

भाष्यका अनुवाद

कोई कहते हैं कि क्षणिक-विज्ञानमात्र आत्मा है। दूसरोंके मतमें आत्मा शून्य है। देहादिसे भिन्न, संसारी, कर्ता, और भोक्ता आत्मा है, ऐसा और मानते हैं। कोई कहते हैं कि आत्मा केवल भोक्ता ही है, कर्ता नहीं। किसीका कहना है कि जीवसे भिन्न ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न है। वह ईश्वर भोक्ता ( जीव )

रत्नप्रभा

उक्त्वा तार्किकादिमतमाह—अस्तीति। सांख्यमतमाह भोक्तेति। किमात्मा देहादिरूपः उत तद्भिन्न इति विप्रतिपत्तिकोटित्वेन देहेन्द्रियमनोबुद्धिशून्यानि उक्त्वा तद्भिन्नोऽपि कर्तृत्वादिमान् न वा इति विप्रतिपत्तिकोटित्वेन तार्किकसांख्यपक्षौ उपन्यस्य अकर्तापि ईश्वराद् भिन्नो न वेति विवादकोटित्वेन योगिमतमाह— **अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वर इति।** निरतिशयत्त्वं गृहीत्वा ईश्वरः सर्वज्ञत्वादिसम्पन्न इति योगिनो वदन्ति। भेदकोटिम् उक्त्वा सिद्धान्तकोटिमाह—**आत्मा स भोक्तु-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं। "भोक्ता" इत्यादिसे सांख्य मतको कहते हैं। आत्मा देह आदिरूप है या देह आदिसे भिन्न है, ऐसे मतभेद होनेपर प्रथम देह आदिरूपकी भिन्न भिन्न कोटियों (विभागों) के कथन द्वारा क्रमसे देह, इन्द्रिय, मन, विज्ञान और शून्य ये भेद दिखलाए हैं। अब देह आदिसे भिन्न होने पर कर्ता, भोक्ता है अथवा नहीं? ऐसा मतभेद होता है, इनमेंसे एक कोटिरूपसे तार्किक और सांख्य मत कहकर आत्मा अकर्ता है, तो भी ईश्वरसे भिन्न है या नहीं इसमें योगियोंका मत कहते हैं—"अस्ति तद्व्यतिरिक्तः ईश्वरः" इत्यादिसे। योगी कहते हैं कि पुरुषोंमें निरतिशयत्वको स्वीकारकर ईश्वर सर्वज्ञत्वादि-गुणसम्पन्न है। भेद-कोटियोंको कहकर "आत्मा स भोक्तुः" इत्यादिसे सिद्धान्त कोटि कहते हैं। भोक्ता

(१) अब 'विज्ञानमात्रं' इत्यादिसे योगाचार बौद्धोंके मतको कहते हैं। बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं, आन्तर विज्ञानमात्र ही है, वही आत्मा है और वह क्षणिक है, बाह्यपदार्थमात्र विज्ञानके आकाररूप हैं, यह योगाचारका मत है।

(२) आन्तर अथवा बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं, सब शून्य हैं, आत्मा भी शून्य है, ऐसा शून्यवादी माध्यमिक बौद्धोंका मत है।

(३) केवल देह आदिसे ही भिन्न नहीं है, बल्कि देह आदिसे भिन्न जो भोक्ता, जीवात्मा है, उससे भी भिन्न है।

रत्नप्रभा

रिति। भोक्तुर्जीवस्य अकर्तुः साक्षिणः स ईश्वर आत्मा स्वरूपमिति वेदान्तिनो वदन्तीत्यर्थः। विप्रतिपत्तीरुपसंहरति—"एवं बहवः" इति। विप्रतिपत्तीनां प्रपञ्चो निरासश्च विवरणोपन्यासेन दर्शितः सुखबोधाय इति इह उपरम्यते।

तत्र युक्तिवाक्याश्रयाः सिद्धान्तिनः "जीवो ब्रह्मैव, आत्मत्वाद्, ब्रह्मवत्" इत्यादियुक्तेः "तत्त्वमसि" (छा० ६।८।१६) इत्यादिश्रुतेश्च अबाधितायाः सत्त्वात्। अन्ये तु देहादिरात्माऽहंप्रत्ययगोचरत्वाद् व्यतिरेकेण घटादिवदित्यादियुक्त्याभासम्, "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" (तै० आ० २।१।१) इन्द्रियसंवादे "चक्षुरादयः ते ह वाचमूचुः" (बृ० १।३।२) "मन उवाच" "योऽयं विज्ञानमयः" (बृ० ४।४।२२) "असदेवेदमग्र आसीत्" (छा० २।१३।१) "कर्ता" "बोद्धा" (प्र० ४।९) "अनश्नन्नन्यः" (श्वे० ४।६) "आत्मानमन्तरो यमयति" इति वाक्याभासं च आश्रिता इति विभागः। देहादिरनात्मा भौतिकत्वाद् दृश्यत्वाद् इत्यादिन्यायैः "आनन्दमयोऽभ्यासाद्" (ब्र० सू० १।१।१२) इत्यादिसूत्रैश्च आभासत्वं वक्ष्यते।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् जीव जो कि कर्ता नहीं है, साक्षिरूप है, उसका वह ईश्वर आत्मा—स्वरूप है ऐसा वेदान्ती लोग कहते हैं। भिन्न भिन्न मतोंका "एवं बहवः" इत्यादिसे उपसंहार करते हैं। विभिन्न मतोंका विस्तारसे उपपादन और परिहार सुखपूर्वक बोधके लिए विवरण ग्रन्थके उपन्यास द्वारा दिखाया गया है, इससे अब हम इस विचारको यहां समाप्त करते हैं। इन वादियोंमें सिद्धान्तीका मत युक्ति और वाक्यके आधार पर है। वाक्य अर्थात् श्रुतिवाक्य। क्योंकि उनके मतमें 'आत्मा होनेसे जीव ब्रह्म ही है ब्रह्मकी तरह' इत्यादि युक्तियाँ और 'तत्त्वमसि' आदि अबाधित श्रुतियाँ हैं। और अहं प्रतीतिका विषय होनेसे देह आदि ही आत्मा हैं, जो अहं प्रतीतिका विषय नहीं है, वह आत्मा नहीं है, जैसे घटादि इत्यादि युक्त्याभास एवं 'स वा एष०' (वह यही पुरुष है जो कि अन्नरसमय है) इत्यादि वाक्याभासका देहात्मवादी, इन्द्रिय सम्वादमें 'चक्षुरादयः०' (चक्षुरादि इन्द्रियोंने वागिन्द्रियसे कहा) इत्यादि वाक्याभासका इन्द्रियात्मवादी, 'मन०' (मनने कहा) इत्यादि वाक्याभासका मनको आत्मा माननेवाले, 'योऽयं विज्ञान०' (वह, जो कि विज्ञानमय है) इत्यादि वाक्याभासका बुद्धिको आत्मा माननेवाले, 'असदेवेदम्' (पहले यह असत् ही था) इस वाक्याभासका शून्यवादी, एवं 'कर्ता' 'बोद्धा' (वह कर्ता है जाननेवाला है) 'अनश्नन्नन्यः' (अन्य अर्थात् परमात्मा नहीं भोगता हुआ) 'आत्मानम्०' (भीतर रहनेवाला आत्मा आत्माका नियमन करता है) इत्यादि वाक्याभासोंका तार्किक और मीमांसक आश्रय लेते हैं। [उनकी युक्ति अर्थात् साधक-बाधक प्रमाणमात्र प्रमाणाभास हैं अर्थात् प्रमाण-से दीखते हैं, परन्तु, प्रमाण हैं नहीं] भौतिक और दृश्य होनेसे देह आदि अनात्मा हैं। इत्यादि न्यायोंसे

भाष्य

विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः । तत्राविचार्य यत्किंचित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत, अनर्थं चेयात् ।

भाष्यका अनुवाद

का आत्मा—स्वरूप ही है, ऐसा कोई मानते हैं। इस प्रकार युक्ति, वाक्य और उनके आभासके आधारपर बहुतसे मतभेद हैं। उनका विचार किए बिना चाहे जिस मतको ग्रहण करनेवाले मोक्षसे हट जायँगे और उन्हें अनर्थ प्राप्त

---

रत्नप्रभा

ननु सन्तु विप्रतिपत्तयस्तथापि यस्य यन्मते श्रद्धा तदाश्रयणात् तस्य स्वार्थः सेत्स्यति, किं ब्रह्मविचारारम्भेण इत्यत आह—**तत्राविचार्येति** । ब्रह्मात्मैक्यज्ञानादेव मुक्तिरिति वस्तुगतिः । मतान्तराश्रयणे तदभावाद् मोक्षासिद्धिः । किञ्च, आत्मानमन्यथा ज्ञात्वा तत्पापेन संसारान्धकूपे पतेत्, "अन्धं तमः प्रविशन्ति" (ई० १२) "ये के चात्महनो जनाः" ( ई० ३ ) इति श्रुतेः,

"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥ १ ॥"

इति वचनाच्चेत्यर्थः । अतः सर्वेषां मुमुक्षूणां निःश्रेयसफलाय वेदान्तविचारः कर्तव्य इति सूत्रार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति** । बन्धस्य अध्यस्तत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

और 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इत्यादि सूत्रोंसे दूसरोंके मत किस प्रकार युक्ति और श्रुतिके आभासके आधारपर हैं यह आगे दिखलाया जायगा।

कोई शंका करे कि मतभेद भले हों, परन्तु जिस मतपर जिसकी श्रद्धा होगी, वह उसका आश्रय लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करेगा, ब्रह्म-विचार करनेका क्या प्रयोजन है ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—"तत्राविचार्य" इत्यादिसे। ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं, ऐसे ऐक्यज्ञानसे ही मुक्ति होती है, यह तत्त्व है। अन्य मतोंका आश्रय करनेसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उन मतोंमें जीव और ब्रह्मका ऐक्यज्ञान नहीं है। परन्तु इसके विपरीत आत्माका मिथ्याज्ञान होनेसे उस पापसे संसाररूपी अन्धकूपमें पड़ता है। 'अन्धं तमः' (अविद्यारूप अन्धतममें प्रवेश करते हैं) 'ये के चात्महनो जनाः' ( जो आत्मघाती होते हैं, वे असुर योग्य लोकमें जाते हैं) इन श्रुतिवाक्योंसे और 'योऽन्यथा०' (जो पुरुष आत्माका जैसा सत्य स्वरूप है, उससे अन्य प्रकारका समझता है; उस आत्मघाती चोरने कौन-सा पाप नहीं किया ?) इस वचनसे आत्माके सत्य स्वरूपको न समझनेवाला आत्मघाती, महापापी और नरकगामी समझा जाता है। इसलिए सब मुमुक्षुओंको कल्याणके लिए वेदान्तका विचार करना चाहिए, इस प्रकार सूत्रार्थका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। आशय यह है कि बंध अध्यस्त

भाष्य

**तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ॥ १ ॥**

भाष्यका अनुवाद

होने लगेगा, इसलिए ब्रह्म-जिज्ञासाके कथन द्वारा जिसमें अविरुद्ध तर्क साधनभूत हैं और जिसका प्रयोजन मोक्ष है, ऐसी वेदान्त-वाक्योंकी मीमांसाका आरम्भ करते हैं।

---

रत्नप्रभा

विषयादिसद्भावात्, अगतार्थत्वाद्, अधिकारिलाभात्, आपातप्रसिद्ध्या विषयादिसम्भवाच्च वेदान्तविषया मीमांसा पूजिता विचारणा, वेदान्ताविरोधिनो ये तर्काः तन्त्रान्तरस्थाः तानि उपकरणानि यस्याः सा निःश्रेयसाय आरभ्यते इत्यर्थः।

ननु सूत्रे विचारवाचिपदाभावात् तदारम्भः कथं सूत्रार्थ इत्यत आह—ब्रह्मेति। ब्रह्मज्ञानेच्छोक्तिद्वारा विचारं लक्षयित्वा तत्कर्तव्यतां ब्रवीति इति भावः। एवं प्रथमसूत्रस्य चत्वारोऽर्था व्याख्यानचतुष्टयेन दर्शिताः। सूत्रस्य च अनेकार्थत्वं भूषणम्। ननु इदं सूत्रं शास्त्राद् बहिः स्थित्वा शास्त्रमारम्भयति अन्तर्भूत्वा वा? आद्ये तस्य हेयता, शास्त्रासम्बन्धात्। द्वितीये तस्य आरम्भकं वाच्यम्। न च

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इसलिए विषय और प्रयोजन हैं, अन्य तन्त्रोंसे वेदान्तविचार गतार्थ नहीं है, अधिकारीका भी लाभ है, सामान्य प्रसिद्धिसे भी विषय आदिका संभव है, इसलिए वेदान्त विषयक मीमांसा—पूज्य विचार—मोक्षके लिए आरम्भ की जाती है। वेदान्तके अविरोधी शास्त्रान्तरोंमें रहनेवाले तर्क भी इसके उपकरण—साधन हैं।

कोई शंका करे कि सूत्रमें विचारवाचक पद नहीं है, तो विचारका आरम्भ किस प्रकार सूत्रका अर्थ है? इस शंकाका समाधान करनेके लिए "ब्रह्म" इत्यादि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ['जिज्ञासा'का मुख्य अर्थ ज्ञानकी इच्छा है, परन्तु मुख्य अर्थका 'कर्तव्या' (करने योग्य) के साथ योग नहीं होता, क्योंकि इच्छा की नहीं जाती, इसलिए लक्षणाके आश्रयसे 'जिज्ञासा' पदका अर्थ विचार किया है।] जिज्ञासाका लक्ष्यार्थ विचार है—इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मविचार करना चाहिए ऐसा कहा है। इस प्रकार प्रथम सूत्रके चार अर्थ चार व्याख्यानोंसे दिखलाए गए। अनेक अर्थ होना सूत्रका भूषण है। कोई शंका करे कि यह सूत्र शास्त्रके बाहर रहकर शास्त्रका आरम्भ करता है, या भीतर रहकर? यदि शास्त्रके बाहर रहकर आरम्भ करता है, तो इसका शास्त्रसे सम्बन्ध न होनेसे यह त्याज्य है, यदि भीतर रह-

रत्नप्रभा

स्वयमेव आरम्भकम्, स्वस्मात् स्वोत्पत्तेः इति आत्माश्रयात् । न च आरम्भकान्तरं पश्याम इति उच्यते—श्रवणविधिना आरब्धमिदं सूत्रं शास्त्रान्तर्गतमेव शास्त्रारम्भं प्रतिपादयति, यथाऽध्ययनविधिर्वेदान्तर्गत एव कृत्स्नवेदस्य अध्ययने प्रयुङ्क्ते तद्वद् इति अनवद्यम् ॥ १ ॥

प्रथमसूत्रं समाप्तम् ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर आरम्भ करता है तो इसका आरम्भक दूसरा कहना चाहिए। यह सूत्र स्वयं अपना आरम्भक नहीं हो सकता, क्योंकि अपनेसे यदि अपनी उत्पत्ति मानें तो आत्माश्रय दोष हो जायगा। और दूसरा आरम्भक दिखाई नहीं देता। इसका समाधान इस प्रकार है कि श्रवणादि विधिसे आरम्भ किया हुआ यह सूत्र शास्त्रके भीतर ही रहकर शास्त्रारम्भका प्रतिपादन करता है। जैसे अध्ययनविधि वेदके भीतर रहकर ही समग्र वेदके अध्ययनमें प्रयोजक है, उसी प्रकार यहां पर भी समझना चाहिए, अतः कुछ दोष नहीं है।

प्रथमसूत्र समाप्त ॥ १ ॥
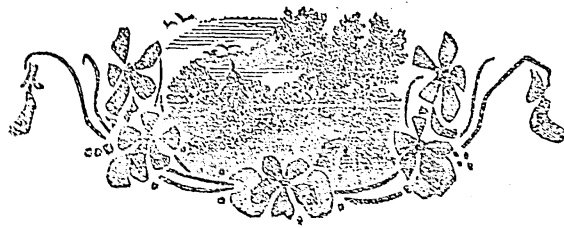
(१) 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' यह श्रवण-विधि 'अथातो०' इस सूत्रकी मूल अवश्य है, परन्तु इस सूत्रकी आरम्भक है यह बात विचारने पर भी समझमें नहीं आती। हाँ, यह बात समझमें आती है कि जैसे अध्ययनविधि स्वके साथ ही वेदाध्ययनका विधान करती है, क्योंकि वह भी वेद है, ऐसे ही 'अथातो०' सूत्र स्वके साथ ही ब्रह्म-मीमांसा शास्त्रके आरम्भका प्रयोजक है, क्योंकि इस सूत्रमें भी ब्रह्म-सम्बन्धी मीमांसा ही है।

# जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

**पदच्छेद**—जन्मादि, अस्य, यतः [ तद् ब्रह्म[1] ]

**पदार्थोक्ति**—अस्य—जगतः, जन्मादि—जन्मस्थितिभङ्गम्, यतः—यस्मात्, तद् ब्रह्म ।

**भावार्थ**—इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है ।[2]

——:०:——

## [ २ जन्माद्यधिकरण ]

*लक्षणं ब्रह्मणो नास्ति किं वास्ति, नहि विद्यते । जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात्सत्यादेश्चाप्रसिद्धितः॥*

*ब्रह्मनिष्ठं कारणत्वं स्याल्लक्ष्म स्रग्भुजंगवत् । लौकिकान्येव सत्यादीन्यखण्डं लक्षयन्ति हि॥*

## [ अधिकरणसार[3] ]

**संशय**—ब्रह्मका लक्षण हो सकता है अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—जन्म आदि जगत्‌के धर्म हैं, ब्रह्मसे उनका क्या सम्बन्ध है और लोक-प्रसिद्ध सत्य आदि भिन्न-भिन्न अर्थोंके वाचक हैं, उनसे भी अखण्ड ब्रह्म कैसे सिद्ध हो ? इसलिए ब्रह्मके तटस्थ[4] और स्वरूप[5] दोनों लक्षण[6] नहीं बन सकते ।

---

(१) यह वाक्य-शेष है ।

(२) त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो ! वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।

( भा० १० । ३ । १९ )

( हे सर्वव्यापिन् ! आपको जाननेवाले कहते हैं कि निरीह, निर्गुण तथा निर्विकार—आपसे ही इस जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार होते हैं । )

(३) इस अधिकरणका विषय—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वाक्य हैं । पूर्व अधिकरणसे इसकी आक्षेपिकी संगति है ।

(४) ( क ) 'तद्भिन्नत्वे सति तद्बोधकत्वम्' ( उसके स्वरूपसे पृथक् होता हुआ, उसका बोधक )

( ख ) 'यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति व्यावर्तकत्वम्' ( जब तक लक्ष्य रहे, तबतक न रहता हुआ भी अन्य पदार्थोंसे लक्ष्यका भेद करनेवाला । )

(५) स्वरूपं सद् व्यावर्त्तकम्, यथा पृथिव्याः पृथिवीत्वम् ।

( स्वरूप होता हुआ अन्य पदार्थोंसे भेद करनेवाला, जैसे पृथिवीका पृथिवीत्व है । )

(६) 'सजातीयविजातीयेभ्यो हि व्यावर्त्तकं लक्षणम्' सजातीयों और विजातीयोंसे लक्ष्यका भेद करनेवाला लक्षण कहलाता है । जैसे 'गन्धवती पृथिवी' । यहाँ पृथिवीका गन्धवत्त्वलक्षण भूतत्वेन सजातीय जल आदि चारों भूतोंसे पृथ्वीका भेद करता है और विजातीय आत्मा आदिसे भी पृथ्वीका भेद करता है ।

**सिद्धान्त**—यद्यपि जन्म आदि जगत्के धर्म हैं, तथापि उनका कारण ब्रह्म है। जो सर्प है, वही माला है—इस बाध-समानाधिकरणसे[1] ब्रह्मका तटस्थ-लक्षण सिद्ध होता है। तथा सत्य[2], ज्ञान आदि यद्यपि भिन्नार्थक हैं, तो भी उनका पर्यवसान ब्रह्ममें है। इससे स्वरूप-लक्षण सिद्ध है। अर्थात् प्रत्यक्ष[3] आदि प्रमाणोंसे प्रतीयमान इस जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण[4] ब्रह्म है।

---

(१) समान—एक है अधिकरण—अर्थरूप आश्रय जिनका ऐसे जो दो शब्द, वे समानाधिकरण कहलाते हैं। उक्त समानाधिकरण दो प्रकारका होता है—मुख्यसमानाधिकरण और बाधसमानाधिकरण। एक सत्ता और स्वरूपवाले वास्तवभेदरहित दो अर्थोंके बोधक वाक्यगत दो पदोंका मुख्य समानाधिकरण होता है। जैसे घटाकाश और महाकाशका, कूटस्थ और ब्रह्मका। भिन्न सत्तावाले दो पदार्थोंकी एक विभक्तिके बलसे एकताके बोधक वाक्यगत दो पदोंका बाध समानाधिकरण है। जैसे स्थाणु और पुरुषका ( स्थाणुरयं नायं पुरुषः ), सर्प और मालाका ( यो भुजङ्गः सा स्रक् ) तथा ब्रह्म और जगत्का ( यद् जगत्कारणं तद् ब्रह्म )।

(२) जिस प्रकार एक ही देवदत्तको पुत्र, पौत्र, पितामह, भाई, जामाता, श्वशुर, पति आदि भिन्नार्थक शब्दोंसे पुकारनेमें कोई विरोध नहीं है, इसी प्रकार लोकप्रसिद्ध भिन्नार्थक सत्य आदि शब्दोंका अखण्ड-ब्रह्ममें कोई विरोध नहीं है।

(३) स्मृतिसे भिन्न अबाधित अर्थको विषय करनेवाले ज्ञानको प्रमा कहते हैं। प्रमाज्ञानका जो करण है, वह प्रमाण कहलाता है। असाधारण कारणको करण कहते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाके असाधारण कारण नेत्र आदि इन्द्रियाँ हैं। इस रीतिसे नेत्र आदि इन्द्रियोंको प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं। प्रमाण पूर्वमीमांसा तथा वेदान्तशास्त्रमें छः प्रकारके माने गये हैं। (I) प्रत्यक्ष, (II) अनुमान, (III) उपमान, (VI) शब्द, (V) अर्थापत्ति और (VI) अनुपलब्धि।

(४) कारण दो प्रकारके होते हैं—(I)उपादान और (II) निमित्त। जिसका कार्यके स्वरूपमें प्रवेश हो, जिसके विना कार्यकी स्थितिका सम्भव ही न हो, ऐसा जो कार्यकी उत्पत्तिमें हेतु, उसे उपादान-कारण कहते हैं। जैसे मृत्तिका घटका, सुवर्ण गहनोंका उपादान-कारण है। जिसका कार्यके स्वरूपमें प्रवेश नहीं होता, जो पृथक् स्थित रहकर कार्यकी उत्पत्ति करता है, उसे निमित्त-कारण कहते हैं। जैसे घटके कुलाल, दण्ड, चक्र आदि, गहनोंके सुनार, हथौड़ी, भट्ठी आदि। जिस कार्यके अभिन्न—एक ही उपादान और निमित्त-कारण हो, उसे अभिन्न-निमित्तोपादान कहते हैं। जैसे मकड़ी जालेकी, साक्षी चेतन स्वप्नप्रपञ्चका, जीवात्मा ज्ञान आदि गुणोंका; इसी प्रकार ब्रह्म जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण है। इसमें प्रमाण हैं—

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेति' ( तै० २ । ६ )

( उसने इच्छा की, मैं बहुत होऊँ, प्रजारूपमें उत्पन्न होऊँ। )

'स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' ( तै० २ । ६ )

( उसने तप—विचार किया, तप करके जो कुछ यहाँ विद्यमान है, इस सबकी सृष्टि की। )

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' ( छा० ६ । २ । ३ )

( उसने ईक्षण किया कि मैं बहुत होऊँ, प्रजारूपमें उत्पन्न होऊँ। )

भाष्य

ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्। किँल्लक्षणकं पुनस्तद् ब्रह्म इत्यत आह भगवान् सूत्रकारः—'जन्माद्यस्य यतः' इति।

भाष्यका अनुवाद

प्रथम अधिकरण में कहा है कि ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिये। प्रश्न होता है कि ब्रह्मका क्या लक्षण है? इसपर भगवान् सूत्रकार कहते हैं—'जन्माद्यस्य०'

---

रत्नप्रभा

प्रथमसूत्रेण शास्त्रारम्भमुपपाद्य शास्त्रमारभमाणः पूर्वोत्तराधिकरणयोः सङ्गतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—ब्रह्मेति। मुमुक्षुणा ब्रह्मज्ञानाय वेदान्तविचारः कर्तव्य इत्युक्तम्। ब्रह्मणो विचार्यत्वोक्त्या अर्थात् प्रमाणादिविचाराणां प्रतिज्ञातत्वेऽपि ब्रह्मप्रमाणं ब्रह्मयुक्ति-रित्यादिविशिष्टविचाराणां विशेषब्रह्मज्ञानं विना कर्तुमशक्यत्वात् तत्स्वरूपज्ञानाय

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रथम सूत्रसे शास्त्रके आरम्भकी उपपत्ति दिखलाकर शास्त्रका आरम्भ करते हुए भाष्यकार पूर्व और पर अधिकरणकी संगतिको सूचित करनेके लिए पूर्व उक्तका पुनः प्रतिपादन करते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे। पहले कहा है—मुमुक्षुओंको ब्रह्मज्ञानके लिए वेदान्त-विचार करना चाहिये। ब्रह्म विचारके योग्य है—इस कथनसे प्रमाण, लक्षण, युक्ति आदि विचारोंकी प्रतिज्ञा यद्यपि हो जाती है, तो भी ब्रह्मप्रमाण, ब्रह्मयुक्ति आदि विशिष्ट विचार, विशेष ब्रह्मज्ञानके विना नहीं हो

---

जब ब्रह्माजीने बछड़े और ग्वाल-बाल सब चुरा लिये, तब भगवान् श्रीकृष्णने—

'ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च। उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः॥'

तदनन्तर जगत्के रचयिता कृष्ण भगवान् बछड़ों और ग्वाल-बालोंकी माताओं और ब्रह्माके सन्तोषके लिए उतने बछड़ों और ग्वाल-बालोंके रूपमें आप ही हो गये।

'यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम्। यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥'

'बछड़े और ग्वाल-बालोंका जैसा छोटा-सा शरीर था, जैसे हाथ-पाँव थे, जैसे उनके लाठी, सींग, बाँसुरी आदि थे, जैसे उनके भूषण-वसन थे, जैसे उनके शील, गुण, नाम, आकृति, अवस्था आदि थे, जैसा उनका आहार-विहार आदि था, 'यह सारा संसार विष्णुरूप है' इस वाणीके अनुसार सर्वस्वरूप अज ठीक उसी रूपमें हो गये।'

स्वयमात्मात्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः। क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम्॥

'सर्वात्मा श्रीकृष्ण आप ही वत्सपालरूपसे वत्सरूप अपनेको घेरकर आप अपने ही साथ विहार करते हुए व्रजमें प्रविष्ट हुए।'

१—साधक-बाधक प्रमाणोंके सहकारी तर्क। २—ब्रह्म विचारणीय है, इससे ब्रह्मका सामान्य ज्ञान होता है और ब्रह्म क्या है—ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेसे ब्रह्मका विशेष ज्ञान होता है।

### रत्नप्रभा

आदौ लक्षणं वक्तव्यं, तन्न सम्भवति इत्याक्षिप्य सूत्रकृतं पूजयन्नेव लक्षणसूत्रमवतारयति—**किंलक्षणकमिति**। किमाक्षेपे। नाऽस्त्येव लक्षणमित्यर्थः। आक्षेपेणास्योत्थानात् आक्षेपसङ्गतिः। लक्षणद्योतिवेदान्तानां स्पष्टब्रह्मलिङ्गानां लक्ष्ये ब्रह्मणि समन्वयोक्तेः श्रुतिशास्त्राध्यायपादसङ्गतयः। तथा हि—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वाक्यं विषयः। तत् किं ब्रह्मणो लक्षणं वक्ति न वेति सन्देहः? तत्र पूर्वपक्षे ब्रह्मस्वरूपासिद्ध्या मुक्त्यसिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरितिः भेदः। यद्यपि आक्षेपसङ्गतौ पूर्वाधिकरणफलमेव फलमिति कृत्वा पृथग् न वक्तव्यम्,

'आक्षेपे चाऽपवादे च प्राप्त्यां लक्षणकर्मणि।
प्रयोजनं न वक्तव्यं यच्च कृत्वा प्रवर्तते॥'

### रत्नप्रभाका अनुवाद

सकते हैं, इसलिए ब्रह्म-स्वरूपके ज्ञानके लिए पहले ब्रह्मका लक्षण कहना चाहिये। परन्तु वह सम्भव नहीं है—ऐसा आक्षेप करके सूत्रकारका आदर करते हुए लक्षणसूत्र[1]की अवतरणिका देते हैं—"किंलक्षणकम्" इत्यादिसे। 'किम्' पद आक्षेपका वाचक है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मका लक्षण नहीं है—इस आक्षेपसे इस अधिकरणका उत्थान होता है, इसलिए पूर्व-अधिकरणसे इसकी आक्षेपसंगति है। स्फुटतया ब्रह्मके अभिज्ञानसे युक्त एवं ब्रह्मके लक्षणका द्योतन करनेवाली श्रुतियोंका लक्ष्यरूप ब्रह्ममें समन्वय किया है, इसलिए सूत्रके साथ श्रुतिसंगति, शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति और पादसंगति हैं। यह अधिकरण इस प्रकार है—'यतो वा इमानि' इत्यादि वाक्य इस अधिकरणका विषय है। उक्त वाक्य ब्रह्मके लक्षणको कहता है या नहीं, यह सन्देह है। पूर्वपक्षमें ब्रह्मस्वरूपके सिद्ध न होनेसे मुक्तिकी असिद्धि फल है। सिद्धान्तमें ब्रह्मस्वरूप सिद्ध होता है, अतः मुक्ति-सिद्धि फल है। पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें यह अन्तर है। यद्यपि जहाँ आक्षेप-संगति होती है, वहाँ पूर्व-अधिकरणका फल ही उत्तर-अधिकरणका फल माना जाता है, अतः पृथक् फल कहनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि आक्षेपाधिकरण[2]में,

---

१—जिस सूत्रमें ब्रह्मके लक्षणका निर्देश है अर्थात् दूसरा सूत्र।

(२) जहाँ पूर्व अधिकरणके सिद्धान्तपर उत्तर अधिकरणमें आक्षेप करके पूर्वाधिकरणके सिद्धान्तकी ही सिद्धि की जाती है, वहाँ पृथक् फल कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे कि पूर्व-मीमांसाके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके पञ्चम अधिकरणमें सिद्धान्त किया गया है कि शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य है, उसका फल है—वेदमें स्वतःप्रामाण्यकी सिद्धि। बाद षष्ठ अधिकरणमें 'शब्द नित्य नहीं है, क्योंकि उसका नाश होना प्रत्यक्ष देखनेमें आता है' ऐसा आक्षेप करके शब्दकी नित्यता सिद्ध की गई है। यह बात पूर्वाधिकरणसे सिद्ध ही है, क्योंकि शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य है ऐसा कहनेसे अर्थात् सिद्ध हो गया कि शब्द नित्य है। यदि शब्द अनित्य होता, तो उसका अर्थके साथ सम्बन्ध भी अनित्य ही होता। अतः इस (षष्ठ) अधिकरणका फल भी शब्दनित्यत्वसिद्धि द्वारा वेदमें स्वतःप्रामाण्यसिद्धि करना ही है। इसलिए पृथक् फल कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

## रत्नप्रभाका अनुवाद

अपवादाधिकरणमें, प्राप्तिसूत्रमें, लक्षणकर्ममें एवं कृत्वाचिन्ताधिकरणमें, प्रयोजन

(१) जहाँ पूर्व अधिकरणके सिद्धान्तका अपवाद उत्तर अधिकरणमें होता है, वहाँ पूर्वाधिकरणके फलसे विपरीत फल अर्थतः सिद्ध होता है, अतः उसे पृथक् कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे कि पूर्व-मीमांसाके प्रथम अध्यायके तृतीय पादके प्रथम अधिकरणमें सिद्धान्त किया गया है कि "स्मृतियाँ वेदमूलक होनेके कारण प्रमाण हैं।' उसका प्रयोजन है—'अष्टकाः कर्तव्याः' इत्यादि स्मृत्युक्त कर्मोंसे भी स्वर्ग आदि फल होता है ऐसा ज्ञान कराना। बाद द्वितीय अधिकरणमें श्रुतिविरुद्ध स्मृति प्रमाण नहीं है ऐसा स्मृतिप्रामाण्यका अपवाद किया गया है। तो इस (द्वितीय) अधिकरणका फल अर्थतः सिद्ध हो गया कि श्रुतिविरुद्ध स्मृतिसे प्रतिपादित कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे स्वर्ग आदि फल नहीं होता, अतः पृथक् फल कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

(२) जिस किसी विषयको समझानेके लिए ही जिस प्रकरणका आरम्भ होता है, उस प्रकरणके फलको पृथक् कहनेकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि वही विषय फल हो जाता है। जैसे कि पूर्व-मीमांसामें पहले छः अध्यायोंसे उपदेशका विचार करके उत्तर छः अध्यायोंसे अतिदेशका विचार करते हैं। वहाँ सप्तम अध्यायके प्रथमाधिकरणमें विचार किया गया है कि दर्शपूर्णमास आदि प्रकरणमें कथित धर्म प्रयाज आदि, सब यागोंके लिए कहे गये हैं अथवा जिन यागोंके प्रकरणमें कथित हैं उन्हीं यागोंके लिए? यदि सब यागोंके लिए हैं तो सौर्य आदि विकृतियागोंमें भी उपदेशसे ही प्रयाज आदि अङ्गोंका लाभ होनेसे अतिदेश विचार आरम्भ करना व्यर्थ हो जायगा। यदि जिन यागोंके प्रकरणमें पठित हैं केवल उन्हीं यागोंके लिए हों तो सौर्य आदि विकृति यागोंमें अङ्ग न होनेसे अतिदेशसे प्रयाज आदि अङ्ग प्राप्त हो जायंगे, अतः अतिदेश-विचार आरम्भ करना ठीक है, तो सौर्य आदि यागोंमें अङ्गप्राप्तिके लिए ही अतिदेश विचारका आरम्भ है अतः उनमें अङ्गप्राप्ति ही फल है इसलिए पृथक् फल कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

(३) प्रसङ्गात् किसी पदार्थका जहाँ लक्षण कहा जाय, वहाँ पृथक् फल कहनेकी आवश्यकता नहीं होती। जैसे कि पूर्व-मीमांसाके द्वितीय अध्यायके प्रथम पादके पञ्चम अधिकरणमें मन्त्र विधायक हैं अथवा अभिधायक हैं? इसका विचार किया गया है। बाद षष्ठाधिकरणमें मन्त्रप्रसङ्गात् मन्त्र लक्षण कहा गया है। इससे केवल लक्ष्यका स्वरूप-ज्ञान होता है, लक्ष्यका ज्ञान तो पहलेसे ही है। अतः पृथक् फल कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

(४) किसी असिद्धान्त विषयको कुछ देरके लिए मानकर उसपर जहाँ विचार किया जाता है, उस स्थलमें उस विचारके फलको पृथक् कहनेकी आवश्यकता नहीं होती। जैसे कि पूर्वमीमांसाके तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके एकादशाधिकरणमें भक्षमन्त्रका विनियोग केवल इन्द्रदेवताक भक्षमें है? तद्भिन्नदेवताक भक्ष अमन्त्रक होना चाहिए अथवा ऊह करना चाहिए? अथवा सर्वत्र उसी मन्त्रको (बिना ऊहके) कहना चाहिए? ऐसा सन्देह करके विचार किया है। इसका सिद्धान्त यद्यपि 'सर्वत्र एक ही मन्त्र समान है, ऊह आदि नहीं है।' ऐसा है, तथापि विचारके बीचमें कुछ देरके लिए 'ऊह करना चाहिए' इस पक्षको मानकर द्वादश अधिकरणमें विचार किया है कि यदि ऊह हो तो किस प्रकार करना चाहिए इत्यादि। अतः इस अधिकरणके फलको पृथक् कहनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वाधिकरणका फल ही इस अधिकरणका भी फल है।

## रत्नप्रभा

इति, तथापि स्पष्टार्थमुक्तमिति मन्तव्यम्। यत्र पूर्वाधिकरणसिद्धान्तेन पूर्वपक्षः, तत्र आपवादिकी सङ्गतिः। प्राप्तिस्तदर्था चिन्ता। तत्र न वक्तीति प्राप्तम्। जन्मादेर्जगद्धर्मत्वेन ब्रह्मलक्षणत्वायोगात्। न च जगदुपादनत्वे सति कर्तृत्वं लक्षणमिति वाच्यम्, कर्तुरुपादानत्वे दृष्टान्ताभावेनाऽनुमानाप्रवृत्तेः न च श्रौतस्य ब्रह्मणः श्रुत्यैव लक्षणसिद्धेः किमनुमानेनेति वाच्यम्, अनुमानस्य श्रुत्यनुग्राहकत्वेन तदभावे तद्विरोधे वा श्रुत्यर्थासिद्धेः। न च जगत्कर्तृत्वमुपादानत्वं वा प्रत्येकं लक्षणमस्तु इति वाच्यम्, कर्तृत्वमात्रस्य उपादानाद् भिन्नस्य ब्रह्मत्वायोगात् वस्तुतः परिच्छेदादिति प्राप्ते पुरुषाभ्यूहमात्रस्य अनुमानस्य अप्रतिष्ठितस्य अतीन्द्रियार्थे स्वातन्त्र्यायोगात्। अपौरुषेयतया निर्दोषश्रुत्युक्तोभय-कारणत्वस्य सुखादिदृष्टान्तेन सम्भावयितुं शक्यत्वात्, तदेव लक्षणमिति सिद्धान्त-यति—'**जन्माद्यस्य यतः**' इतीति।

## रत्नप्रभाका अनुवाद

कहनेकी आवश्यकता नहीं है—ऐसा वृद्धोंने कहा है, तो भी यहाँ स्पष्टीकरणार्थ प्रयोजन कहा गया है। जहाँ पूर्व-अधिकरणके सिद्धान्तपर उत्तर-अधिकरणमें पूर्वपक्ष होता है, वहाँ अपवादसंगति होती है। जहाँ उसका विचार होता है, उसे प्राप्ति कहते हैं। पूर्वोक्त सन्देह होने पर उक्त वाक्य ब्रह्मका लक्षण नहीं कहता है ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होता है; क्योंकि जन्म आदि जगत्के धर्म होनेसे ब्रह्मके लक्षण नहीं हो सकते, कारण कि अनित्य वस्तु नित्य वस्तुका लक्षण नहीं हो सकती। ब्रह्म जगत्का उपादान होता हुआ कर्ता है—यह लक्षण भी नहीं हो सकता, कारण कि कर्ता उपादान हो ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है, अतः अनुमानकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। श्रुतिसे ही श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मके लक्षणकी सिद्धि हो जायगी, अनुमानका क्या प्रयोजन? ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अनुमान श्रुतिका सहायक है, इसलिए अनुमानके अभावमें अथवा विरोधमें श्रुतिके अर्थकी सिद्धि नहीं होगी। 'जगत्का कर्ता ब्रह्म है' या 'जगत्का उपादान ब्रह्म है' ऐसा ब्रह्मका प्रत्येक लक्षण है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उपादानसे भिन्न कर्तामात्र ब्रह्म नहीं हो सकता। इत्यादि पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्ती कहता है—पुरुषके तर्कमात्रपर निर्भर अत एव अप्रतिष्ठित अनुमान अतीन्द्रिय पदार्थकी सिद्धि करनेमें स्वतन्त्र नहीं हो सकता, इसलिए अपौरुषेय होनेके कारण निर्दुष्ट श्रुति द्वारा उक्त जगत्के प्रति ब्रह्मकी उपादान-कारणता तथा निमित्त-कारणता सुखादिके दृष्टान्तसे मान लेना ठीक है। अर्थात् जैसे तार्किक आत्माको सुखका उपादान और निमित्त दोनों कारण मानते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी जगत्का उपादान और निमित्त-कारण दोनों हो सकता है। वही ब्रह्मका लक्षण है "जन्माद्यस्य" से ऐसा सिद्धान्त करते हैं।

भाष्य

जन्मउत्पत्तिः आदिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभङ्गं

भाष्यका अनुवाद

जन्म अर्थात् उत्पत्ति है आदिमें जिनके, वे जन्म आदि, यह तद्गुण-संविज्ञान[1] बहुव्रीहि है। इस समासका अर्थ है—जन्म, स्थिति और नाश।

रत्नप्रभा

अत्र यद्यपि 'जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वम्' लक्षणं प्रतिपाद्यते, तथाप्यग्रे 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्' ( ब्र० सू० १।४।२३ ) इत्यधिकरणे तत्कारणत्वं न कर्तृत्वमात्रं किन्तु कर्तृत्वोपादनत्वोभयरूपमिति वक्ष्यमाणं सिद्धवत्कृत्य उभयकारणत्वं लक्षणमित्युच्यते इति न पौनरुक्त्यम्। ननु जिज्ञास्यनिर्गुणब्रह्मणः कारणत्वं कथं लक्षणम् इति चेद्, उच्यते—यथा रजतं शुक्तेर्लक्षणं यद्रजतं सा शुक्तिरिति, तथा यद् जगत्कारणम् तद् ब्रह्मेति कल्पितं कारणत्वं तटस्थं सदेव ब्रह्मणो लक्षणमित्यनवद्यम्। सूत्रं व्याचष्टे—जन्मेत्यादिना। बहुव्रीहौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

यहाँ यद्यपि जगत्के जन्म, स्थिति और लयका कारण ब्रह्म है, इस प्रकार ब्रह्मका लक्षण कहा गया है, तो भी आगे चलकर 'प्रकृतिश्च' इस अधिकरणमें ब्रह्म जगत्का केवल निमित्त-कारण ही नहीं है, किन्तु निमित्त और उपादान दोनों कारण है ऐसा कहा जायगा। इसको सिद्धवत्[2] मानकर कहते हैं—उभय[3]-कारणत्व ब्रह्मका लक्षण है, इसलिए पुनरुक्ति-दोष नहीं है। यदि यहाँ कोई ऐसी शंका करे कि जिज्ञास्य[4], निर्गुण ब्रह्मका जगत्कारणत्व लक्षण कैसे हो सकता है, तो इस शंकाका निरास इस प्रकार किया जाता है—जो चाँदी है, वही सीप है, इस प्रकार जैसे चाँदी सीपका लक्षण है, इसी प्रकार जो जगत्का कारण है, वह ब्रह्म है—ऐसा कल्पित जगत्कारणत्व तटस्थ[5] होकर ही ब्रह्मका लक्षण होता है, इसलिए दोष नहीं है। भाष्यकार

---

१—इसका अर्थ व्याख्यामें समझाया है—'लम्बकर्णमानय' ( लम्बे कानवालेको लाओ ) यहाँ पर 'लम्बकर्ण' में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है; क्योंकि लम्बकर्ण ( गदहे ) के साथ उसके कान भी आ जायँगे। 'दृष्टसागरमानय' ( जिसने सागर देखा है, उसे लाओ ) 'चित्रगुमानय' ( चितकबरी गायवालेको लाओ ) इसमें सागर या चित्रगायें मनुष्यके साथ नहीं आयेंगी। इसलिए यह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है।

(२) सिद्ध हुआ—जैसा, सिद्धकी तरह। (३) जगत्का उपादान और निमित्त-कारण। (४) जाननेकी इच्छाका विषय।

(५) लक्षण दो प्रकारके होते हैं—(I) तटस्थ और (II) स्वरूप। जो धर्म कभी धर्मीके साथ सम्बद्ध हो, वह तटस्थ-लक्षण है, जैसे छत्र, चामर आदि राजाके तटस्थ-लक्षण हैं। इसी प्रकार जगत्-जन्मादिकारणत्व ब्रह्मका तटस्थ-लक्षण है, 'सच्चिदानन्द' ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है।

भाष्य

समासार्थः। जन्मनश्च आदित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षञ्च। श्रुति-

भाष्यका अनुवाद

श्रुतिनिर्देश और वस्तुस्थिति की अपेक्षा जन्मका पहले उपादान किया है।

रत्नप्रभा

पदार्थाः सर्वे वाक्यार्थस्य अन्यपदार्थस्य विशेषणानि। यथा चित्रगोर्देवदत्तस्य चित्रा गावः, तद्वदत्राऽपि जन्मादीति नपुंसकैकवचनद्योतितस्य समाहारस्य जन्मस्थितिभङ्गस्य जन्म विशेषणम्। तथा च जन्मनः समासार्थैकदेशस्य गुणत्वेन संविज्ञानं यस्मिन् बहुव्रीहौ स तद्गुणसंविज्ञान इत्यर्थः। तत्र यद् जन्मकारणम्, तद् ब्रह्म इति ब्रह्मत्वविधानमयुक्तम्, स्थितिलयकारणाद् भिन्नत्वेन ज्ञाते ब्रह्मत्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। अतो जन्मस्थितिभङ्गैर्निरूपितानि त्रीणि कारणत्वानि मिलितान्येव लक्षणमिति मत्वा सूत्रे समाहारो द्योतित इति ध्येयम्। ननु आदित्वं जन्मनः कथं ज्ञातव्यं संसारस्याऽनादित्वात् इत्यत आह—**जन्मनश्चेति**। मूलश्रुत्या वस्तुगत्या च आदित्वं ज्ञात्वा तदपेक्ष्य सूत्रकृता जन्मन आदित्वमुक्तमित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्र का व्याख्यान करते हैं—"जन्म" इत्यादिसे। बहुव्रीहि-समासमें सब पदार्थ वाक्यार्थ-भूत अन्य पदार्थके विशेषण होते हैं। जैसे 'चित्रगुर्देवदत्तः' (चितकबरी गायवाला देवदत्त) इसमें चितकबरी गाय देवदत्तके विशेषण हैं, वैसे 'जन्मादि' में नपुंसक एकवचन-से द्योतित जन्म-स्थिति-भङ्गरूप समुदाय का जन्म विशेषण है। इस प्रकार बहुव्रीहि-समास-के अर्थके एक देश—भाग जन्मका बहुव्रीहिमें विशेषणरूपसे संविज्ञान होता है, अतः यह तद्गुण-संविज्ञान बहुव्रीहि है। जन्मादिसूत्रमें जो जन्मका कारण है, वह ब्रह्म है—ऐसा ब्रह्मत्वका विधान करना उचित नहीं है, क्योंकि स्थिति-कारण तथा लयकारणसे जन्म कारणकी पृथक्त्वेन प्रतीति होने पर अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिए जन्म, स्थिति और लयसे निरूपित तीनों कारण मिलकर ही ब्रह्मके लक्षण हैं—ऐसा विचार कर सूत्रमें जन्मादि पदसे 'जन्मस्थितिभङ्गम्' समुदायको सूचित किया है। यदि कोई शंका करे कि संसार अनादि है, अतः जन्मकी आदिताकी प्रतीति कैसे की जाय? इसके उत्तरमें कहते हैं—"जन्मनश्च" इत्यादि। तात्पर्य यह है कि मूल श्रुति एवं वस्तुस्थिति से जन्मकी आदिताको जानकर उसीके अनुरोधसे सूत्रकारने जन्मका प्राथम्येन निर्देश किया है।

---

१—बहुव्रीहि-समासमें समस्त पदार्थ अन्य पदार्थके विशेषण होते हैं और गौण होते हैं। जो अन्य पदार्थ विशेष्य होता है वही वाक्यार्थमें प्रधान रहता है। जैसे 'पीताम्बरो हरिः।' यहाँ 'पीताम्बरः' विशेषण है और 'हरिः' विशेष्य और वही प्रधान है, पीताम्बर गौण है।

भाष्य

निर्देशस्तावत्—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३।१) इत्यस्मिन् वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि, जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसम्भवात्।

अस्येति प्रत्यक्षादिसन्निधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसम्बन्धार्था। यत इति कारणनिर्देशः। अस्य जगतो नाम-

भाष्यका अनुवाद

श्रुतिनिर्देश है–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस वाक्यमें जन्म, स्थिति और लयका क्रमशः दर्शन होता है। वस्तु-स्थिति भी ऐसी ही है, क्योंकि जन्मसे सत्ताको प्राप्त हुए धर्मीकी स्थिति और लयका होना सम्भव है।

'अस्य' इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदिसे संवेदित धर्मी (जगत्-वियत् आदि) का 'इदम्' शब्दसे निर्देश है। षष्ठी विभक्ति जन्म आदि धर्मसे धर्मीके सम्बन्धका द्योतन करती है। 'यतः' से कारणका निर्देश है। नाम-रूपसे

---

रत्नप्रभा

इदमः प्रत्यक्षार्थमात्रवाचित्वमाशङ्क्य उपस्थितसर्वकार्यवाचित्वमाह—**अस्येतीति**। वियदादिजगतो नित्यत्वात् न जन्मादिसम्बन्ध इत्यत आह—**षष्ठीति**। वियदादिभूतानां जन्मादिसम्बन्धो वक्ष्यते इति भावः। ननु जगतो जन्मादेर्वा ब्रह्मसम्बन्धाभावात् न लक्षणत्वमित्याशङ्क्य तत्कारणत्वं लक्षणमिति पञ्चम्यर्थमाह—**यत इतीति**। यच्छब्देन सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दरूपं वस्तूच्यते। 'आनन्दाद्ध्येव' (तै० आ० ३।६।१) इति निर्णीतत्वात्, तथा च स्वरूपलक्षणसिद्धिरिति मन्तव्यम्। पदार्थमुक्त्वा पूर्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

'इदम्' पद केवल प्रत्यक्ष अर्थका ही बोधक है, ऐसी आशङ्का कर "अस्य" आदिसे भाष्यकारने कहा है—उक्त पद केवल प्रत्यक्षका ही वाचक नहीं है। किन्तु उपस्थित सब कार्योंका वाचक है। आकाश आदि जगत् नित्य है, अतः उसमें जन्म आदिका सम्बन्ध नहीं हो सकता, इस शङ्कापर भाष्यकार कहते हैं—"षष्ठी" इत्यादि। अर्थात् आकाश आदि महाभूतोंका जन्म आदि धर्मोंसे सम्बन्ध है, यह आगे चलकर कहेंगे। जगत् और जन्म आदिका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध न होनेसे वह ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता—ऐसी शङ्का होनेपर ब्रह्मका लक्षण जगज्जन्मादिकारणत्व है, यह दिखलानेके लिए "यतः" इत्यादिसे पञ्चम्यर्थ कहते हैं। 'यत्' शब्दसे सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्दरूप वस्तु कही जाती है; क्योंकि 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि' इत्यादि श्रुतिमें ऐसा ही निर्णय किया है। इससे ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण सिद्ध होता है। पदोंका अर्थ दिखलाकर पूर्व सूत्रमें कहे गये 'ब्रह्म' पदकी अनुवृत्ति करके एवं 'तत्' शब्दका अध्याहार करके सूत्रका वाक्यार्थ "अस्य" इत्यादिसे कहते

भाष्य

रूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्त-

भाष्यका अनुवाद

प्रकट हुआ, अनेक कर्ता-भोक्तासे संयुक्त जिस क्रिया और फलके देश, काल

रत्नप्रभा

सूत्रस्थब्रह्मपदानुषङ्गेण तच्छब्दाध्याहारेण च सूत्रवाक्यार्थमाह—**अस्येत्यादिना**। कारणस्य सर्वज्ञत्वादिसम्भावनार्थानि जगतो विशेषणानि यथा कुम्भकारः प्रथमं कुम्भशब्दाभेदेन विकल्पितं पृथुबुध्नोदराकारस्वरूपं बुद्धावालिख्य तदात्मना कुम्भं व्याकरोति—बहिः प्रकटयति, तथा परमकारणमपि स्वेक्षितं नामरूपात्मना व्याकरोति इत्यनुमीयते इति मत्वाऽऽह—**नामरूपाभ्यामिति**। इत्थम्भावे तृतीया। आद्यकार्यं चेतनजन्यम्, कार्यत्वात्, कुम्भवदिति प्रधानशून्ययोर्निरासः। हिरण्यगर्भादिजीवजन्यत्वं निरस्यति—**अनेकेति**।

श्राद्धवैश्वानरेष्ट्यादौ पितापुत्रयोः कर्तृभोक्त्रोर्भेदात् पृथगुक्तिः 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' ( श्वे० ६।१८ ) 'सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' इति श्रुत्या स्थूलसूक्ष्मदेहोपाधिद्वारा जीवानां कार्यत्वेन जगन्मध्यपातित्वात् जगत्कारणत्वम् इत्यर्थः। कारणस्य सर्वज्ञत्वं सम्भावयति—**प्रतिनियतेति**। प्रतिनियतानि—

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं। जगत्के विशेषण, हेतुभूत ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व आदि धर्म दिखलानेके लिए हैं। जैसे कुम्हार शब्द और अर्थका अभेद होनेसे विकल्पित गोल पेट आदि आकारवाले घटका बुद्धिमें विचार करके कल्पित घटके तादात्म्यसे घटको बाहर प्रकट करता है, उसी प्रकार परमकारण ब्रह्म भी अपनेमें प्रत्यक्ष किये हुए जगत्को नाम-रूपसे प्रकट करता है, यह अनुमान होता है—ऐसा मनमें विचारकर कहते हैं—"नामरूपाभ्याम्" इत्यादि। यहाँपर तृतीया इत्थम्भावमें है। आदि कार्य चेतनजन्य है, कार्य होनेसे, घटके समान, इस अनुमानसे प्रधान, शून्य आदिमें जगत्की कारणताका निरास हो गया। हिरण्यगर्भ आदि जीव जगत्को उत्पन्न करते होंगे, इस शङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं—"अनेक" इत्यादि।

श्राद्धमें पुत्र कर्ता है और पिता भोक्ता है। वैश्वानरेष्टिमें पिता कर्ता है और पुत्र भोक्ता है। इसलिए जो कर्ता है, वही भोक्ता है—ऐसा नियम नहीं है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए कर्ता और भोक्ता दो पदोंका पृथक्-पृथक् उपादान किया है। 'यो ब्रह्माणम्' 'सर्व एते' इन श्रुतियोंसे स्थूल एवं सूक्ष्म देहरूप उपाधिद्वारा जीव कार्य हैं, इसलिए वे भी जगत् (कार्य) के अन्तर्गत ही हैं, जगत्के कारण नहीं हैं। कारणमें सर्वज्ञता दिखानेके लिए कहते हैं—"प्रतिनियत" इत्यादि। कर्मसे प्राप्त होनेवाले सभी फलोंका देश, काल और निमित्त व्यवस्थित

१—अभेदमें।

भाष्य

क्रियाफलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद् ब्रह्म इति वाक्यशेषः । अन्ये-

भाष्यका अनुवाद

और निमित्त नियमित—व्यवस्थित हैं, उसका आश्रय—आधार, मनसे भी जिसकी रचनाके स्वरूपका विचार नहीं हो सकता ऐसे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और नाश जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारणसे होते हैं, 'वह ब्रह्म है'—

रत्नप्रभा

व्यवस्थितानि देशकालनिमित्तानि येषां क्रियाफलानां तदाश्रयस्येत्यर्थः । स्वर्गस्य क्रियाफलस्य मेरुपृष्ठं देशः, देहपातादूर्ध्वं कालः, उत्तरायणमरणादिनिमित्तं प्रतिनियतम् । एवं राजसेवाफलग्रामादेर्देशादिव्यवस्था ज्ञेया । तथा च—यथा सेवाफलं देशाद्यभिज्ञदातृकम्, तथा कर्मफलम्, फलत्वादिति सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति भावः । सर्वशक्तित्वं सम्भावयति—**मनसाऽपीति** । ननु अन्येऽपि वृद्धिपरिणामादयो भावविकाराः सन्तीति किमिति जन्मादीत्यादिपदेन न गृह्यन्ते । तत्राह—**अन्येषामिति** । वृद्धिपरिणामयोर्जन्मनि, अपक्षयस्य नाशेऽन्तर्भाव इति भावः । ननु 'देहो जायते-अस्ति-वर्द्धते-विपरिणमते-अपक्षीयते-नश्यति' (नि०नि० १।१।१)

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं, यह जगत् उन्हीं कर्मफलोंका आधार है । जैसे स्वर्गरूप क्रिया[1]-फलके लिए मेरुपृष्ठ—देश, देहपातके अनन्तर—काल, उत्तरायण मरण आदि निमित्त प्रतिनियत हैं । इससे सिद्ध हुआ कि स्वर्गसुख नियत देश, नियत काल और नियत निमित्तसे ही मिलता है । इसी प्रकार राजाकी सेवाके फलस्वरूप ग्राम आदिकी व्यवस्था जाननी चाहिये । अर्थात् राजसेवाके फल—ग्राम आदिकी प्राप्तिमें भूमि—देश, देहपातसे पूर्वकाल, राजाका हर्ष आदि—निमित्त नियत हैं । आशय यह है कि जैसे सेवा-फल ग्राम आदि देश, काल आदिको जाननेवालेसे प्राप्त होता है, वैसे ही कर्मफल भी उसको जाननेवाले चेतनसे प्राप्त होता है, क्योंकि फलत्व दोनोंमें समान है, इस अनुमानसे ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वकी सिद्धि होती है । "मनसाऽपि" इत्यादि ग्रन्थसे ब्रह्ममें सर्व-शक्तिमत्ताकी सम्भावना करते हैं ।

यहाँपर शङ्का होती है कि वृद्धि, परिणाम, अपक्षयरूप अन्य विकार भी तो हैं, उनका 'जन्मादि' में विद्यमान 'आदि' पदसे ग्रहण क्यों नहीं किया गया ? इसपर कहते हैं—'अन्येषाम्' इत्यादि । [ वृद्धि—अवयवोंका बढ़ना है, अतः वह उत्पत्तिरूप ही है । परिणाम भी अवस्थान्तर होनेसे उत्पत्तिरूप ही है । अपक्षय है अवयवोंका घटना, इसलिये नाशरूप है । ] तात्पर्य यह है कि-वृद्धि और परिणामका जन्ममें और अपक्षयका नाशमें अन्तर्भाव

१—याग आदि ।

भाष्य

षामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवाऽन्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम् । यास्कपरिपठितानां तु 'जायते अस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले सम्भाव्यमानत्वाद् मूलकारणाद् उत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत, तन्मा

भाष्यका अनुवाद

यह वाक्य-शेष है। अन्य भाव-विकारोंका भी इन तीनोंमें ही अन्तर्भाव है, इसलिए जन्म, स्थिति और नाशका यहाँ ग्रहण किया है। यास्कमुनिसे पठित 'जायते, अस्ति,' इत्यादि छः भाव-विकारोंका यदि ग्रहण किया जाय, तो जगत्के स्थितिकालमें उनकी सम्भावना होनेसे मूल-कारणसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका ग्रहण नहीं होगा—ऐसी कोई शङ्का करेगा। यह शङ्का कोई न करे, इसलिए जिस ब्रह्मसे इस जगत्की जो उत्पत्ति, उसीमें जो स्थिति और उसीमें जो लय श्रुतिमें कहे गये, वे ही जन्म, स्थिति और लय यहाँ गृहीत होते हैं।

रत्नप्रभा

इति यास्कमुनिवाक्यमेतत्सूत्रमूलं किं न स्यात्? अत आह—यास्केति। यास्कमुनिः किल महाभूतानामुत्पन्नानां स्थितिकाले भौतिकेषु प्रत्यक्षेण जन्मादिषट्कमुपलभ्य निरुक्तवाक्यं चकार, तन्मूलीकृत्य जन्मादिषट्ककारणत्वं लक्षणं सूत्रार्थ इति ग्रहणे सूत्रकृता ब्रह्मलक्षणं न संगृहीतम्, किन्तु महाभूतानां लक्षणमुक्तमिति शङ्का स्यात्, सा मा भूदिति ये श्रुत्युक्ता जन्मादयस्त एव गृह्यन्ते इत्यर्थः। यदि निरुक्तस्याऽपि श्रुतिर्मूलमिति महाभूतजन्मादिकमर्थः, तर्हि सा श्रुतिरेव सूत्रस्य मूलमस्तु, किमन्तर्गडुना निरुक्तेनेति भावः। यदि-जगतो ब्रह्मातिरिक्तं कारणं

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। 'शरीर पैदा होता है, विद्यमान है, बढ़ता है, अवस्थान्तरको प्राप्त होता है, क्षीण होता है, नष्ट होता है' यह यास्कमुनिका वाक्य ही इस सूत्रका मूल क्यों नहीं माना जाय? इस शङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं—"यास्क" इत्यादि। अर्थात् उत्पन्न हुए महाभूतोंके स्थितिकालमें प्रत्यक्ष-प्रमाणसे भौतिक पदार्थोंमें जन्म आदि छः विकारोंको देखकर यास्कमुनिने उपर्युक्त निरुक्तवाक्यकी रचना की है। इस वाक्यको जन्मादि सूत्रका मूल मानकर जन्मादिषट्ककारणत्व ब्रह्मका लक्षण है—ऐसा सूत्रार्थ माननेपर सूत्रकारने ब्रह्मके लक्षणका संग्रह नहीं किया, किन्तु महाभूतोंके लक्षणका कथन किया, यह शङ्का होगी, वह न हो, इसलिए कहा—जो श्रुतिमें उक्त जन्मादि हैं, उन्हींका यहाँ ग्रहण किया गया है। यदि कहिये कि पूर्वोक्त निरुक्त-वाक्यका मूल भी श्रुति ही है, इसलिये महाभूतोंके जन्म आदिका कारण ब्रह्म है—ऐसा अर्थ है, तो वह श्रुति ही सूत्रका मूल क्यों न मानी जाय? व्यर्थ निरुक्तको मूल

भाष्य

शङ्गीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते। न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वा अन्यतः प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावात् संसारिणो वा उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त जगत्की उक्त विशेषण-विशिष्ट ईश्वरके सिवा अन्यसे—अचेतन प्रधानसे, अचेतन परमाणुओंसे, अभाव (शून्य) से, अथवा संसारी ( हिरण्यगर्भ ) से, उत्पत्ति आदिकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार स्वभावसे भी जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ कार्यार्थी पुरुषों द्वारा विशेष देश, काल और निमित्तका ग्रहण किया जाता है।

---

रत्नप्रभा

स्यात्, तदा ब्रह्मलक्षणस्य तत्राऽतिव्याप्त्यादिदोषः स्यात्, अतस्तन्निरासाय लक्षण-सूत्रेण ब्रह्म विना जगज्जन्मादिकं न सम्भवति, कारणान्तरासम्भवादिति युक्तिः सूत्रिता। सा तर्कपादे ( २।२ ) विस्तरेण वक्ष्यते। अधुना सङ्क्षेपेण तां दर्शयति—**न यथोक्तेत्यादिना**। नामरूपाभ्यां व्याकृतस्येत्यादीनां चतुर्णां जगद्विशेषणानां व्याख्यानावसरे प्रधानशून्ययोः संसारिणश्च निरासो दर्शितः। परमाणूनामचेतनानां स्वतः प्रवृत्त्ययोगाद् जीवादन्यस्य ज्ञानशून्यत्वनियमेनाऽनुमानात् सर्वज्ञेश्वरासिद्धौ तेषां प्रेरकाभावाद् जगदारम्भकत्वासम्भव इति भावः। स्वभावादेव विचित्रं जगदिति लोकायतः। तं प्रत्याह—**न चेति**। जगत उत्पत्त्यादि

रत्नप्रभाका अनुवाद

माननेका क्या प्रयोजन है ? यदि जगत्का ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई अन्य कारण होता तो ब्रह्मके लक्षणकी उसमें अतिव्याप्ति होती, अतः अतिव्याप्ति आदि दोष दूर करनेके लिए लक्षणसूत्रसे युक्ति दिखलायी है कि ब्रह्मके विना जगत्के जन्म आदि नहीं हो सकते; क्योंकि अन्य कारण सम्भव नहीं है। इस सूत्रमें संक्षेपसे कही गयी इस युक्तिका तर्कपादमें विस्तारसे स्पष्टीकरण किया जायगा। इस समय "न यथोक्त" इत्यादिसे संक्षेपमें उस युक्तिको दिखलाते हैं। 'नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य' आदि जगत्के चार विशेषणोंका व्याख्यान करते समय प्रधान, शून्य और संसारी ( हिरण्यगर्भ आदि जीव ) जगत्की उत्पत्ति आदिके कारण नहीं हो सकते—यह दिखलाया है। परमाणु अचेतन हैं, अतः उनमें स्वतः प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जीवसे अन्य सभी ज्ञानशून्य हैं, इस नियमसे अनुमानद्वारा सर्वज्ञ ईश्वरकी असिद्धि होनेपर परमाणुओंकी प्रेरणा करनेवालेके अभावसे परमाणु जगत्के आरम्भक नहीं हो सकते। चार्वाक कहते हैं—स्वभावसे ही विचित्र जगत्की उत्पत्ति होती है। उनके प्रति कहते हैं—"न च" इत्यादि अर्थात्

### भाष्य

एतदेवाऽनुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्ते ईश्वरकार-

### भाष्यका अनुवाद

ईश्वरको जगत्‌का कारण माननेवाले ( नैयायिक ) इसी अनुमानको संसारी ( जीव ) से पृथक् ईश्वरकी सत्ता है इसका साधन मानते हैं। तो इस जन्मादि-

### रत्नप्रभा

सम्भावयितुं न शक्यमित्यन्वयः। किं स्वयमेव स्वस्य हेतुरिति स्वभावः, उत कारणानपेक्षत्वम्? नाऽऽद्यः, आत्माश्रयात्। न द्वितीयः, इत्याह—**विशिष्टेति**। विशिष्टानि असाधारणानि देशकालनिमित्तानि तेषां कार्यार्थिभिरुपादीयमानत्वात् कार्यस्य कारणानपेक्षत्वं न युक्तमित्यर्थः। अनपेक्षत्वे धान्यार्थिनां भूविशेषे वर्षादिकाले बीजादिनिमित्ते च प्रवृत्तिर्न स्यादिति भावः। पूर्वोक्तसर्वज्ञत्वादिविशेषणकम् ईश्वरं मुक्त्वा जगत उत्पत्त्यादिकं न सम्भवतीति भाष्येण कर्तारं विना कार्यं नास्तीति व्यतिरेक उक्तः। तेन यत् कार्यं, तत्सकर्तृकमिति व्याप्तिर्ज्ञायते। एवदेव व्याप्तिज्ञानं जगति पक्षे कर्तारं साधयत् सर्वज्ञेश्वरं साधयति, किं श्रुत्येति तार्किकाणां भ्रान्तिमुपन्यस्यति—**एतदेवेति**। एतदेव—अनुमानमेव साधनं न श्रुतिः इति मन्यन्ते इति योजना। अथवा, एतद् व्याप्तिज्ञानमेव श्रुत्यनुग्राहकयुक्तिमात्रत्वेन

### रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वभावसे जगत्‌की उत्पत्ति आदिकी सम्भावना नहीं की जा सकती है। स्वभावका क्या अर्थ है? क्या जो आप ही अपना कारण हो वह स्वभाव है? अथवा कारणकी अपेक्षाके अभावका नाम स्वभाव है? इन दो पक्षोंमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि अपनी उत्पत्तिमें अपनी अपेक्षा होनेके कारण आत्माश्रयदोष होगा। द्वितीय पक्ष भी नहीं बनता है—यह दिखलानेके लिए कहते हैं—"विशिष्ट" इत्यादि। अर्थात् कार्यार्थी पुरुष अपने कार्यके लिए असाधारण देश, काल और निमित्तकी अपेक्षा करता है, इसलिए कार्यको कारणकी अपेक्षा नहीं है—ऐसा नहीं कह सकते। यदि कार्यको कारणकी अपेक्षा नहीं होती, तो धान्यार्थी पुरुष विशिष्ट ( उपजाऊ ) भूमि, विशिष्टकाल ( वर्षाकाल ), विशिष्ट निमित्त अर्थात् बीजके सम्पादनमें प्रवृत्त न होता। पूर्वोक्त सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वरको छोड़कर जगत्‌के जन्म आदि नहीं हो सकते—इस भाष्यसे कर्ताके बिना कार्य नहीं हो सकता, यह व्यतिरेक कहा गया है। इससे जो कार्य है उसका कोई-न-कोई कर्ता होता है, इस व्याप्तिकी प्रतीति होती है। यह व्याप्तिज्ञानात्मक अनुमान ही जगत्‌रूप पक्षमें कर्ताकी सिद्धि करता हुआ सर्वज्ञ ईश्वरकी सिद्धि करता है, श्रुतिका क्या प्रयोजन है? ऐसी तार्किकोंकी भ्रान्तिका उपन्यास "एतदेव" इत्यादिसे करते हैं। वे इसी अनुमानको साधन मानते हैं, श्रुतिको साधन नहीं मानते, ऐसी योजना करनी चाहिये। अथवा जिस व्याप्तिज्ञानको हम ( वेदान्ती ) श्रुत्यनुग्रा-

### रत्नप्रभा

असत्सम्मतं सदनुमानं स्वतन्त्रमिति मन्यन्ते इत्यर्थः । सर्वज्ञत्वम् आदिशब्दार्थः । यद्वा, व्याप्तिज्ञानसहकृतमेतत् लक्षणमेवाऽनुमानं स्वतन्त्रं मन्यन्ते इत्यर्थः । तत्राऽयं विभागः—व्याप्तिज्ञानाद् जगतः कर्ताऽस्ति इति अस्तित्वसिद्धिः, पश्चात् स कर्ता सर्वज्ञो जगत्कारणत्वाद् व्यतिरेकेण कुलालादिवद् इति सर्वज्ञत्वसिद्धिः लक्षणादिति। अत्र 'मन्यन्ते' इत्यनुमानस्य आभासत्वं सूचितम् । तथा हि—अङ्कुरादौ तावद् जीवः कर्ता न भवति, जीवाद् भिन्नस्य घटवदचेतनत्वनियमादन्यः कर्ता नाऽस्त्ये-वेति व्यतिरेकनिश्चयात्, यत् कार्यम्, तत् सकर्तृकमिति व्याप्तिज्ञानासिद्धिः । लक्षणलिङ्गकानुमाने तु बाधः, अशरीरस्य जन्यज्ञानायोगात्, यज्ज्ञानं तन्मनोजन्य-मिति व्याप्तिविरोधेन नित्यज्ञानासिद्धेर्ज्ञानाभावनिश्चयात् । तस्मादतीन्द्रियार्थे श्रुतिरेव शरणम् । श्रुत्यर्थसम्भावनार्थत्वेन अनुमानं युक्तिमात्रं न स्वतन्त्रमिति भावः । ननु इद-मयुक्तं श्रुतेरनुमानान्तर्भावमभिप्रेत्य भवदीयसूत्रकृता अनुमानस्य एव उपन्यस्तत्वादिति वैशेषिकः शङ्कते—**नन्विति**। अतो 'मन्यन्ते' इत्यनुमानस्य आभासोक्तिः अयुक्ता

### रत्नप्रभाका अनुवाद

हक युक्तिमात्र मानते हैं, उसीको नैयायिक ईश्वरमें स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं यह अर्थ है। 'आदि' शब्दसे सर्वज्ञत्वका समावेश समझना चाहिये। अथवा व्याप्तिज्ञान सहकृत यह लक्षण ही अनुमान है, ऐसा मानते हैं, यह अर्थ है। यहाँ इस प्रकार विभाग करना चाहिये—व्याप्तिज्ञानसे जगत्का कर्ता है, इस प्रकार कर्ताका अस्तित्व सिद्ध होता है। वह कर्ता सर्वज्ञ है, जगत्का कारण होनेसे, कुलाल आदि व्यतिरेक[1] दृष्टान्तके समान, इस प्रकार लक्षणसे कर्तामें सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है। यहाँ 'मन्यन्ते' ऐसा कहकर अनुमान आभास ( असत् ) है—ऐसा जताया है। वह इस प्रकार है—अंकुर आदिका कर्ता जीव नहीं हो सकता है तथा जीवसे भिन्न वस्तुके घटकी भाँति नियमतः अचेतन होनेसे अन्य कर्ता नहीं है, ऐसा व्यतिरेक निश्चय होता है। ऐसा निश्चय होनेसे जो कार्य है, वह सकर्तृक है, इस व्याप्ति-ज्ञानकी असिद्धि होती है। लक्षणसे बोधित जन्मादिकारण स्वरूप लिङ्गसे सर्वज्ञत्वका अनुमान करें, तो वह बाधित होता है, क्योंकि शरीररहित पदार्थ ( ब्रह्म ) में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। ज्ञानमात्र मनोजन्य है—इस व्याप्तिके साथ विरोध होनेसे नित्यज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता, अतः ज्ञानाभावका निश्चय हो जाता है। इसलिए अतीन्द्रिय वस्तुमें श्रुति ही शरण है। श्रुतिके अर्थका सम्भव है, इस बातको दिखानेके लिए अनुमान केवल युक्तिरूपसे उपयोगी हो सकता है, किन्तु स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। "ननु" इत्यादिसे वैशेषिक शङ्का[2] करता

(१) जो जगत्कारण नहीं है, वह सर्वज्ञ नहीं है, जैसे कुलाल।

(२) वैशेषिक सूत्रके रचयिता कणादमुनिके मतमें प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं। शब्द अनुमानरूपसे अर्थका बोधक होता है। उन्हींके मतसे यह शङ्का है।

भाष्य

णिनः । नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे । न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम् । वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते । वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिर्नाऽनुमानादिप्रमा-

भाष्यका अनुवाद

सूत्रमें भी उसी अनुमानका उपन्यास किया है ? नहीं, वेदान्त-वाक्यरूपी फूलोंको गूँथना ही सूत्रोंका प्रयोजन है । सूत्रोंसे वेदान्त-वाक्योंका उदाहरण देकर विचार किया जाता है । वाक्यार्थ-विचारसे जो तात्पर्य निश्चय होता है, उससे ब्रह्मज्ञान निष्पन्न होता है, अनुमान आदि प्रमाणान्तरसे निश्चय नहीं होता ।

रत्नप्रभा

इति भावः । यदि श्रुतीनां स्वतन्त्रमानत्वं न स्यात्, तर्हि 'तत्तु समन्वयात्' (१।१।४) इत्यादिना तासां तात्पर्यं सूत्रकृन्न विचारयेत्, तस्मात् उत्तरसूत्राणां श्रुतिविचारार्थत्वाद् जन्मादिसूत्रेऽपि श्रुतिरेव स्वातन्त्र्येण विचार्यते नाऽनुमानमिति परिहरति—**नेति** । किञ्च, मुमुक्षोर्ब्रह्मावगतिरभीष्टा, यदर्थमस्य शास्त्रस्याऽऽरम्भः, सा च नानुमानात्, 'तन्त्वौपनिषदम्' (बृ० ३।९।२६) इति श्रुतेः, अतो नाऽनुमानं विचार्यमित्याह—**वाक्यार्थेति** । वाक्यस्य तदर्थस्य च विचाराद् यदध्यवसानं तात्पर्यनिश्चयः प्रमेयसम्भवनिश्चयश्च तेन जाता ब्रह्मावगतिर्मुक्तये भवति इत्यर्थः । अत्र सम्भवो बाधाभावः । ननु किमनुमानमुपेक्षितमेव, नेत्याह—**सत्सु त्विति** । विमतमम् अभिन्ननिमित्तोपादानकम्, कार्यत्वात्, ऊर्णनाभ्यारब्ध-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, यह अयुक्त है, क्योंकि श्रुतिका अनुमानमें अन्तर्भाव मानकर सूत्रकारने अनुमानका ही उपन्यास किया है । इसलिए 'मन्यन्ते' इस शब्दसे अनुमानको आभास कहना योग्य नहीं है । इस शङ्काका समाधान करते हैं—"न" इत्यादिसे । श्रुतिवाक्य स्वतन्त्र प्रमाण न होते तो 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादि सूत्रोंसे उनका तात्पर्य सूत्रकार न विचारते । इसलिए श्रुतिवाक्योंका विचार ही उत्तर-सूत्रोंका प्रयोजन होनेसे जन्मादि-सूत्रमें भी श्रुति ही स्वतन्त्र रीतिसे विचारी गयी है, अनुमान नहीं । किञ्च, मुमुक्षुको ब्रह्मज्ञान इष्ट है, ब्रह्मज्ञानके लिए ही इस शास्त्रका आरम्भ है । ब्रह्मज्ञान अनुमानसे प्राप्त नहीं होता, किन्तु वह उपनिषद्गम्य है, ऐसा श्रुति कहती है, इसलिए अनुमान विचारने योग्य नहीं है, ऐसा "वाक्यार्थ" इत्यादिसे कहते हैं । वाक्य और उसके अर्थके विचारसे जो तात्पर्य-निश्चय एवं ब्रह्मसम्भवका निश्चय होता है, उससे ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है । ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति होती है । 'प्रमेयसम्भवनिश्चयश्च' इस वाक्यमें 'सम्भव' पदका अर्थ बाधाभाव है । तब क्या अनुमान सर्वथा उपेक्षणीय ही है ? इस शङ्काको दूर करनके लिए कहते हैं—"सत्सु तु" इत्यादि । अर्थात् विमत कार्य, अभिन्न निमित्तोपादानक है, कार्य होनेसे,

भाष्य

णान्तरनिर्वृत्ता । सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायाऽनुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते; श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याऽभ्युपेतत्वात् । तथा हि—'श्रोतव्यो

भाष्यका अनुवाद

जगत्‌के जन्म आदिका निर्देश करनेवाले वेदान्त-वाक्योंके रहनेपर उनके अर्थकी दृढ़ताके लिए वेदान्त-वाक्योंसे अनुमत अनुमान भी प्रमाण होता हो, तो उसका निवारण नहीं किया जाता; क्योंकि श्रुतिने ही सहायताके लिए तर्कको भी अङ्गीकार किया है। जैसे कि—( ब्रह्म ) श्रवण करनेयोग्य है,

रत्नप्रभा

तन्त्वादिवत्; विमतं चेतनप्रकृतिकं कार्यत्वात् सुखादिवदित्यनुमानं श्रुत्यर्थदार्ढ्याय अपेक्षितमित्यर्थः । दार्ढ्यम्—संशयविपर्याससनिवृत्तिः । 'मन्तव्यः' (बृ० २।४।५) इति श्रुतार्थस्तर्केण सम्भावनीय इत्यर्थः । यथा—कश्चिद् गन्धारदेशेभ्यः चौरैः अन्यत्र अरण्ये बद्धनेत्र एव त्यक्तः केनचिद् मुक्तबन्धस्तदुक्तमार्गग्रहण-समर्थः पण्डितः स्वयं तर्ककुशलो मेधावी स्वदेशानेव प्राप्नुयाद्, एवमेव इह अविद्याकामादिभिः स्वरूपानन्दात् प्रच्याव्य अस्मिन्नरण्ये संसारे क्षिप्तः केनचिद् दयापरवशेन आचार्येण 'नाऽसि त्वं संसारी' किन्तु 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्युपदिष्टस्वरूपः स्वयं तर्ककुशलश्चेत् स्वरूपं जानीयात् नाऽन्यथेति श्रुतिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

मकड़ीसे आरब्ध तन्तुके समान और विमत कार्य, चैतन-प्रकृतिक है, कार्य होनेसे, सुखादिके समान—ये अनुमान श्रुत्यर्थकी दृढ़ताके लिए अपेक्षित हैं। दृढ़ता अर्थात् संशय और विपर्यास ( भूल ) की निवृत्ति। 'मन्तव्यः' अर्थात् तर्कसे श्रुतिके अर्थकी सम्भावना करनी चाहिये। जैसे किसी पुरुषको गन्धारदेशसे आँखोंमें पट्टी बाँधकर चोर ले जायँ और दूसरे स्थानपर अरण्यमें छोड़ दें, कोई दूसरा कृपालु पुरुष उसकी पट्टी खोल दे और उसको स्वदेश जानेका मार्ग बता दे तो पण्डित अर्थात् उस मार्गके ग्रहण करनेमें समर्थ और मेधावी अर्थात् तर्क करनेमें कुशल वह पुरुष अपने देशमें ही पहुँच जाता है। इसी प्रकार अविद्या, काम आदिने जिस पुरुषको आनन्दात्मक आत्मस्वरूपसे दूर ले जाकर इस संसाररूप अरण्यमें फेंक दिया है, उसको किसी दयालु आचार्यसे 'तू संसारी नहीं, किन्तु वह ( ब्रह्म ) तू है' इस प्रकार आत्मस्वरूपके ज्ञानका उपदेश मिल जाता है। यदि वह तर्ककुशल होता है; तो स्वरूपको जान जाता है, नहीं तो नहीं यह श्रुति अपने प्रति पुरुषमतिरूप तर्ककी

भाष्य

मन्तव्यः' ( बृ० २।४।५ ) इति श्रुतिः, 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद' ( छा० ६।१४।२ ) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति । न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणम्, ब्रह्मजिज्ञासायाम्; किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासम्भ-

भाष्यका अनुवाद

मनन करनेयोग्य है—यह श्रुति है और जैसे पण्डित और मेधावी गन्धार देशको ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार आचार्यवान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है यह श्रुति भी अपने प्रति पुरुष-बुद्धिको सहायक दिखलाती है । धर्मजिज्ञासाकी तरह ब्रह्मजिज्ञासामें श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं हैं, किन्तु श्रुति आदि और अनुभव आदि यथा सम्भव यहाँ प्रमाण हैं; क्योंकि ब्रह्मज्ञान

रत्नप्रभा

स्वस्य पुरुषमतिरूपतर्कापेक्षां दर्शयति इत्याह—पण्डित इति । आत्मनः—श्रुतेः इत्यर्थः । ननु ब्रह्मणो मननाद्यपेक्षा न युक्ता, वेदार्थत्वाद्, धर्मवत् किन्तु श्रुतिलिङ्गवाक्यादय एव अपेक्षिता इत्यत आह—नेति । जिज्ञास्ये धर्मे इव जिज्ञास्ये ब्रह्मणि इति व्याख्येयम् । अनुभवः ब्रह्मसाक्षात्काराख्यो विद्वदनुभवः । आदिपदात् मनननिदिध्यासनयोर्ग्रहः । तत्र हेतुमाह—अनुभवेति । मुक्त्यर्थं ब्रह्मज्ञानस्य शाब्दस्य साक्षात्कारावसानत्वापेक्षणात् प्रत्यग्भूतसिद्धब्रह्मगोचरत्वेन साक्षात्कारफलकत्वसम्भवात् । तदर्थं मननाद्यपेक्षा युक्ता । धर्मे तु नित्यपरोक्षे साध्ये साक्षात्कारस्याऽनपेक्षितत्वादसम्भवाच्च श्रुत्या निर्णयमात्रमनुष्ठानाय अपेक्षि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अपेक्षा करती है, ऐसा "पण्डितो" आदिसे कहते हैं । 'आत्मनः' अर्थात् श्रुतिका[1] यहाँ शङ्का होती है कि जैसे धर्म वेदप्रतिपादित होनेसे मननादिकी अपेक्षा नहीं करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी वेदप्रतिपादित है, अतः उसे भी मनन आदिकी अपेक्षा नहीं होनी चाहिये । धर्मके समान श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्याकी ही उसे अपेक्षा है । इस शङ्कापर "न" इत्यादि कहते हैं । 'धर्मजिज्ञासायामिव' अर्थात् जिज्ञास्य धर्मकी तरह जिज्ञास्य ब्रह्ममें ऐसा व्याख्यान करना चाहिये । अनुभव अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्काररूप विद्वानोंका अनुभव । अनुभवादिमें आदिपदसे मनन और निदिध्यासनका ग्रहण है । इसमें कारण कहते हैं—"अनुभव" इत्यादि । मुक्तिके लिए शाब्द अर्थात् श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मज्ञानके अन्तमें साक्षात्कारकी अपेक्षा है और प्रत्यग्भूत सिद्ध ब्रह्म ज्ञानका विषय है, इसलिए ब्रह्मसाक्षात्कार ज्ञानका फल है, ऐसा सम्भव होनेसे इसके लिए मनन आदिकी अपेक्षा उचित है । किन्तु धर्म तो नित्यपरोक्ष और साध्य है, उसको साक्षात्कारकी अपेक्षा नहीं है और उसका साक्षात्कार असम्भव भी है, इसलिए

(१) श्रुतिके अर्थका दीर्घकालतक निरन्तर अनुसन्धान करना ।

भाष्य

वमिह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। कर्तव्ये हि विषये नाऽनुभवापेक्षाऽस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्

भाष्यका अनुवाद

सिद्धवस्तु ( ब्रह्म ) विषयक है और ब्रह्मज्ञानकी चरम सीमा अनुभव ( ब्रह्म-साक्षात्कार ) है। धर्मके विषयमें अनुभवकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु उसमें

रत्नप्रभा

तम्। लिङ्गादयस्तु श्रुत्यन्तर्भूता एव श्रुतिद्वारा निर्णयोपयोगित्वेन अपेक्ष्यन्ते, न मननादयः, अनुपयोगादित्यर्थः। निरपेक्षः शब्दः श्रुतिः। शब्दस्याऽर्थ-प्रकाशसामार्थ्यं लिङ्गम्। पदं योग्येतरपदाकाङ्क्षं वाक्यम्। अङ्गवाक्यसा-पेक्षं प्रधानवाक्यं प्रकरणम्। क्रमपठितानामर्थानां क्रमपठितैर्यथाक्रमं सम्बन्धः स्थानम्। यथा ऐन्द्राग्न्यादय इष्टयो दश क्रमेण पठिताः, दश मन्त्राश्च 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' इत्याद्याः। तत्र प्रथमेष्टौ प्रथममन्त्रस्य विनियोग इत्याद्यूहनीयम्। संज्ञासाम्यं समाख्या। यथाऽऽध्वर्यवसंज्ञकानां मन्त्राणा-माध्वर्यवसंज्ञके कर्मणि विनियोग इति विवेकः। एवं तावत्, ब्रह्म न मननाद्य-पेक्षम्, वेदार्थत्वाद्, धर्मवदित्यनुमाने साध्यत्वेन धर्मस्याऽनुभवायोग्यत्वम्, अन-

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिसे केवल उसका निर्णय अनुष्ठानके लिए अपेक्षित है। लिङ्गादि तो श्रुतिमें अन्तर्भूत हैं और श्रुतिद्वारा निर्णयके लिए उपयोगी हैं। इसलिए उनकी अपेक्षा होती है, मनन आदिकी अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि उनका यहाँ उपयोग नहीं है। श्रुति—निरपेक्ष[2] शब्द। लिङ्ग—शब्दकी अर्थ-प्रकाशन-सामर्थ्य। वाक्य—अन्य योग्यपदकी आकाङ्क्षा करनेवाला पद। प्रकरण—अङ्ग[3] वाक्यकी अपेक्षा रखनेवाला प्रधान वाक्य। स्थान—क्रमपठित अर्थका क्रमपठित अर्थके साथ यथाक्रम सम्बन्ध। जैसे कि 'ऐन्द्राग्न्यै' आदि दस इष्टियाँ क्रमसे पढ़ी गयी हैं और 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' इत्यादि दस मन्त्र भी क्रमसे पढ़े गये हैं। वहाँ प्रथम मन्त्रका प्रथम इष्टिमें विनियोग (उपयोग) है, ऐसी तर्कना करनी चाहिये। 'समाख्या' संज्ञाका सादृश्य। जैसे आध्वर्यवसंज्ञक मन्त्रोंका आध्वर्यवसंज्ञक कर्ममें विनियोग। इस प्रकार ब्रह्म मनन आदिकी अपेक्षा नहीं करता है, वेदार्थ होनेसे, धर्मकी तरह, इस अनुमानमें धर्म साध्य होनेसे अनुभवके अयोग्य है और उसके लिए अनुभव अपेक्षित भी नहीं है, अनुभवायोग्यत्व और अनपेक्षिता-

१—अनुमानकी अपेक्षा भले ही श्रुतिको न हो, किन्तु श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदिकी अपेक्षा तो है ही; अतः श्रुति परापेक्ष हैं इस आशङ्कापर कहते हैं। २—जिसे किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं होता। ३—गौण वाक्य। ४—यज्ञ-भेद ( एक प्रकारका यज्ञ )। ५—यज्ञ।

भाष्य

पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य।[1] कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकञ्च कर्म, यथाऽश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छति। तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति,' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति,' 'उदिते जुहोति,' 'अनुदिते जुहोति,' इति विधिप्रतिषेधा-

भाष्यका अनुवाद

श्रुति आदि ही प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त कर्तव्यकी उत्पत्ति पुरुषाधीन है, इसलिए लौकिक और वैदिक कर्म करना, न करना और दूसरे प्रकारसे करना अपने अधीन है—कर्ताके अधीन है। जैसे घोड़ेपर जाता है, पैदल अथवा अन्य प्रकारसे जाता है अथवा नहीं जाता, इसी प्रकार 'अतिरात्रमें[1] षोडशीको[2] ग्रहण करता है,' 'अतिरात्रमें षोडशीको ग्रहण नहीं करता,' 'सूर्य उदय होने पर होम करता है', 'सूर्योदयसे पूर्व होम करता है।' इस प्रकार विधि और प्रतिषेध तथा विकल्प, उत्सर्ग और अपवाद यहाँ ( धर्ममें )

रत्नप्रभा

पेक्षितानुभवत्वं चोपाधिरित्युक्तम्, उपाधिव्यतिरेकाद् ब्रह्मणि मननाद्यपेक्षित्वं चोक्तम्। तत्र यदि वेदार्थत्वमात्रेण ब्रह्मणो धर्मेण साम्यं त्वयोच्येत, तर्हि कृतिसाध्यत्वं विधिनिषेधविकल्पोत्सर्गापवादाश्च ब्रह्मणि धर्मवत् स्युरिति। विपक्षे बाधकमाह—**पुरुषेत्यादिना**। पुरुषकृत्यधीनः आत्मलाभः उत्पत्तिर्यस्य तद्भावाच्च धर्मे श्रुत्यादीनामेव प्रमाण्यमित्यन्वयः। धर्मस्य साध्यत्वं लौकिककर्मदृष्टान्तेन स्फुटयति—**कर्तुमिति**। लौकिकवदित्यर्थः। दृष्टान्तं स्फुटयति—**यथेति**। दार्ष्टान्तिकमाह—**तथेति**। तद्वद् धर्मस्य कर्तुमकर्तु शक्यत्वमुक्त्वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

नुभवत्व उपाधि है इससे उक्त अनुमान नहीं होगा। ब्रह्ममें यह उपाधिद्वय नहीं है, अतः उसमें मनन आदिकी अपेक्षा है यह अर्थात् कहा गया है। यदि श्रुतिप्रतिपादित होनेसे ब्रह्मका धर्मके साथ सादृश्य कहोगे, तो धर्मकी तरह ब्रह्ममें भी कृतिसाध्यत्व[3], विधि, निषेध, विकल्प, उत्सर्ग और अपवाद होंगे। विपक्षमें बाधक कहते हैं—"पुरुष" इत्यादिसे। धर्मकी उत्पत्ति पुरुषकृतिके अधीन है, अतः धर्ममें केवल श्रुतियाँ ही प्रमाण हैं ऐसी वाक्ययोजना है। धर्म साध्य है—यह बात लौकिक कर्मके दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—"कर्तुम्" इत्यादिसे। "यथा" इत्यादिसे दृष्टान्त स्पष्ट करते हैं। "तथा" इत्यादिसे दार्ष्टान्तिक[4] कहते हैं। लौकिक कर्मके समान धर्म करने और न करनेके योग्य है, ऐसा कहकर दूसरी रीतिसे भी शक्यता कहते हैं—"उदितः" इत्यादिसे।

(१) याग-भेद। (२) एक प्रकारका यज्ञ-पात्र। (३) जो पुरुषकारसे निष्पन्न किया जा सके। (४) जिसके लिये दृष्टान्त दिया हो।

भाष्य

श्चाऽऽर्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति

भाष्यका अनुवाद

सावकाश होते हैं। परन्तु सिद्ध पदार्थ इस प्रकार है अथवा इस प्रकार

रत्नप्रभा

अन्यथा कर्तुं शक्यत्वमाह—**उदित इति**। धर्मस्य साध्यत्वमुपपाद्य तत्र विध्यादि-योग्यतामाह—**विधीति**। विधिप्रतिषेधाश्च विकल्पादयश्च धर्मे साध्ये ये अर्थवन्तः सावकाशा भवन्ति ते ब्रह्मण्यपि स्युरित्यर्थः। 'यजेत' 'न सुरां पिबेद्' इत्यादयो विधिनिषेधाः। 'व्रीहिभिर्यवैर्वा यजेत' इति सम्भावितो विकल्पः। ग्रहणा-ग्रहणयोरैच्छिकः। उदितानुदितहोमयोर्व्यवस्थितविकल्पः। 'न हिंस्यात्' इत्यु-त्सर्गः। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यपवादः। तथा 'आहवनीये जुहोति' इत्युत्सर्गः। 'अश्वस्य पदे पदे जुहोति' इत्यपवाद इति विवेकः। एते ब्रह्मणि स्युरित्यत्रेष्टापत्तिं वारयति—**न त्वित्यादिना भूतवस्तुविषयत्वादित्यन्तेन**। इदं वस्तु, एवम्, नैवम्, घटः पटो वेति प्रकारविकल्पः। अस्ति नास्ति वेति सत्तास्वरूपविकल्पः। ननु वस्तुन्यपि आत्मादौ वादिनामस्ति नाऽस्तीत्यादिविकल्पा दृश्यन्ते तत्राह—**विकल्पनास्त्विति**। अस्तित्वादिकोटिस्मरणं पुरुषबुद्धिः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मका साध्यत्व[1] युक्तिसे दिखलाकर धर्ममें विधि आदिकी योग्यता दिखलाते हैं—"विधि" इत्यादिसे। विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग[2] और अपवाद साध्य धर्ममें सावकाश हैं, वे ब्रह्ममें भी हो जायँगे ऐसा अर्थ है। 'यजेत' ( यज्ञ करे ), 'न सुरां पिबेत्' ( मद्य न पीवे ) इत्यादि क्रमसे विधि-निषेध हैं। 'व्रीहिभिर्यवैर्वा यजेत' ( धानोंसे या यवोंसे यज्ञ करे ) यह संभावित विकल्प[3] है। अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण करता है, ग्रहण नहीं करता है—यह ऐच्छिक विकल्प है। सूर्यके उदय होनेपर हवन करता है, उदयके पूर्व हवन करता है—यह व्यवस्थित विकल्प है। 'न हिंस्यात्' ( हिंसा न करे ) यह उत्सर्ग है। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' ( अग्नि और सोमके यज्ञमें पशुका वध करे ) यह अपवाद है। एवं 'आहवनीये जुहोति' ( आहवनीय अग्निमें हवन करता है ) यह उत्सर्ग है 'अश्वस्य पदे पदे जुहोति' ( घोड़ेके प्रत्येक पाँवमें होम करता है ) यह अपवाद है। ये विधि, प्रतिषेध आदि ब्रह्ममें भी सावकाश हों, यहाँ इष्टापत्तिका[4] निवारण करते हैं—"न तु" इत्यादिसे लेकर "भूत वस्तुविषयत्वात्" पर्यन्त ग्रन्थसे। यह वस्तु ऐसी है या नहीं, घट है या पट यह प्रकार-विकल्प है। यह वस्तु है या नहीं यह सत्तास्वरूप-विकल्प

( १ ) जो किसी प्रयत्नसे सिद्ध किया जा सके। ( २ ) सामान्य शास्त्र। ( ३ ) पक्षान्तरबोधक शब्द या वाक्य। ( ४ ) वादीकी वह युक्ति या वचन जो प्रतिपक्षीको भी इष्ट हो। आपत्ति—प्रसङ्ग, ऐसा प्रसङ्ग जो प्रतिवादीको भी इष्ट हो।

भाष्य

नाऽस्तीति वा विकल्प्यते । विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः । न वस्तु-याथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम् । किं तर्हि ? वस्तुतन्त्रमेव तत् । नहि स्थाणावेकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति । तत्र

भाष्यका अनुवाद

नहीं है, है अथवा नहीं है, ऐसे विकल्पोंका विषय नहीं है। विकल्प तो पुरुष-बुद्धिकी अपेक्षा करते हैं। सिद्ध वस्तुका यथार्थ ज्ञान पुरुष-बुद्धिकी अपेक्षा नहीं करता; किन्तु वह तो सिद्ध पदार्थके ही अधीन है। एक स्थाणु—ठूँठमें स्थाणु है, या पुरुष है, या अन्य है, ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान

रत्नप्रभा

तन्मूला मनःस्पन्दितमात्राः संशयविपर्ययविकल्पाः, न प्रमारूपा इत्यक्षरार्थः । अयं भावः—धर्मो हि यथा यथा ज्ञायते, तथा तथा कर्तुं शक्यते इति यथाशास्त्रं पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः विकल्पाः सर्वे प्रमारूपा एव भवन्ति । तत्साम्ये ब्रह्मण्यपि सर्वे विकल्पा यथार्थाः स्युरिति । तत्रापि ओमिति वदन्तं प्रत्याह—**नेति** । यदि सिद्धवस्तुज्ञानमपि साध्यज्ञानवत् पुरुषबुद्धिमपेक्ष्य जायेत, तदा सिद्धे विकल्पा यथार्थाः स्युः न सिद्धवस्तुज्ञानं पौरुषम् । किं तर्हि ? प्रमाण-वस्तुजन्यम् । तथा च वस्तुन एकरूपत्वादेकज्ञानमेव प्रमा, अन्ये विकल्पा अयथार्था एवेत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह—**नहि स्थाणाविति** । स्थाणुरेवे-त्यवधारणे सिद्धे सर्वे विकल्पा यथार्था न भवन्तीत्यर्थः । तत्र यद्वस्तुतन्त्रं ज्ञानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। यदि कोई कहे कि आत्मा आदि वस्तुमें भी वादियोंके, है या नहीं, इत्यादि विकल्प देखनेमें आते हैं ? इस शङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं—'विकल्पनास्तु' इत्यादि। है, या नहीं, ऐसी कोटियोंका स्मरण पुरुष-बुद्धि है। उक्त विरुद्ध-कोटिक स्मरणसे उत्पन्न हुए मनके परिस्पन्दमात्र संशय, विपर्यय और विकल्प पुरुष-बुद्धिके अधीन हैं, प्रमारूप नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि धर्म जैसे-जैसे जाननेमें आता है, वैसे-वैसे किया जा सकता है। इसलिए शास्त्रके अनुसार पुरुष-बुद्धिकी अपेक्षा करनेवाले सब विकल्प प्रमारूप ही होते हैं। ब्रह्म धर्म-सदृश है, अतः ब्रह्ममें भी ये सब विकल्प यथार्थ हों, ऐसा माननेवाले पूर्वपक्षीसे कहते हैं—"न" इत्यादि। यदि सिद्धवस्तुका ज्ञान भी साध्यवस्तुके ज्ञानके समान पुरुष-बुद्धिकी अपेक्षासे उत्पन्न हो, तो सिद्धवस्तुमें विकल्प यथार्थ हों, किन्तु सिद्धवस्तुका ज्ञान पुरुष-बुद्धिके अधीन नहीं है। वह प्रमाणसे अबाधित जो वस्तु उससे जन्य है। इसलिए प्रमाणवस्तु एकरूप है, अतः उसका एक ही ज्ञान प्रमा है। अन्य विकल्प अयथार्थ ही हैं। यहाँपर इसका दृष्टान्त देते हैं—"नहि स्थाणौ" इत्यादिसे। स्थाणु ही है—ऐसा निश्चय होने पर सब

भाष्य

पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानम्, वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्। ननु भूतवस्तुत्वे

भाष्यका अनुवाद

नहीं होता। उसमें पुरुष है या अन्य कुछ ह, यह मिथ्या ज्ञान है। स्थाणु ही है, यह तत्त्व-ज्ञान है, क्योंकि वह वस्तुके अधीन है; उसी प्रकार सिद्ध वस्तुका प्रामाण्य वस्तुके अधीन है। अतः सिद्ध हुआ कि ब्रह्मज्ञान भी वस्तुके अधीन ही है, क्योंकि उसका विषय सिद्ध वस्तु है। कोई शङ्का करे कि ब्रह्म सिद्धवस्तु होनेसे अन्य

रत्नप्रभा

तद् यथार्थम्, यत् पुरुषतन्त्रं तन्मिथ्येति विभजते—तत्रेति। स्थाणावित्यर्थः। स्थाणावुक्तन्यायं घटादिष्वतिदिशति—एवमिति। प्रकृतमाह—तत्रैवं सतीति। सिद्धे अर्थे ज्ञानप्रमात्वस्य वस्त्वधीनत्वे सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुजन्यमेव यथार्थम्, न पुरुषतन्त्रम्, भूतार्थविषयत्वात्, स्थाणुज्ञानवदित्यर्थः। अतः साध्येऽर्थे सर्वे विकल्पाः पुंतन्त्राः, न सिद्धेऽर्थे, इति वैलक्षण्यात् न धर्मसाम्यं ब्रह्मण इति मननाद्यपेक्षा सिद्धेति भावः। ननु तर्हि ब्रह्म प्रत्यक्षादिगोचरं, धर्मविलक्षणत्वाद्, घटादिवत्। तथा च जन्मादिसूत्रे जगत्कारणानुमानं विचार्यम्। सिद्धार्थे तस्य मानत्वात्, न श्रुतिः, सिद्धार्थे तस्या अमानत्वेन तद्विचारस्य निष्फलत्वादिति शङ्कते—नन्विति। प्रमाणान्तरविषयत्वमेव प्राप्तमिति कृत्वा प्रमाणान्तरस्यैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

विकल्प ( ज्ञान ) यथार्थ नहीं होते हैं। उनमें जो वस्तुतन्त्रज्ञान है, वह यथार्थ है और जो पुरुषतन्त्रज्ञान है, वह मिथ्या है, इस प्रकार भ्रम-प्रमाज्ञानका विभाग करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। 'तत्र' अर्थात् स्थाणुमें। स्थाणुमें जो न्याय दिखलाया है उसका "एवम्" इत्यादिसे घटादिमें अतिदेश करते हैं। प्रस्तुत विषय कहते हैं—"तत्रैवं सति" इत्यादिसे। सिद्धवस्तुके ज्ञानमें प्रामाण्य वस्तुके अधीन है, ऐसी स्थितिमें ब्रह्मज्ञान भी वस्तुजन्य ही है, अतः यथार्थ है, पुरुषतन्त्र नहीं है, क्योंकि स्थाणुज्ञानके समान ब्रह्मज्ञानका विषय सिद्धवस्तु है। इस प्रकार साध्यवस्तु ( धर्म ) में सब विकल्प पुरुषके अधीन हैं। सिद्धवस्तु ( ब्रह्म ) में विकल्प पुरुषके अधीन नहीं हैं। इस प्रकार धर्म और ब्रह्मका वैलक्षण्य—भेद होनेसे ब्रह्म धर्म-सदृश नहीं है, इसलिए मनन आदिकी अपेक्षा ब्रह्मके लिए सिद्ध है, यह तात्पर्य है। यहाँ कोई शङ्का करे कि ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय है, धर्म-भिन्न होनेसे घटादिके समान। इसलिए जन्मादिसूत्रमें ब्रह्मकी जगत्-कारणताका अनुमान विचारनेयोग्य है।

भाष्य

ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणाऽनर्थिकैव प्राप्ता, नः इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि। सति हि इन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं

भाष्यका अनुवाद

प्रमाणका विषय है ही, इसलिए वेदान्त-वाक्योंके विचारकी अनर्थकता ही प्राप्त होती है, यह शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इसलिए अन्य प्रमाणोंसे उसका जगत्‌रूप कार्यके साथ सम्बन्धका ग्रहण नहीं होता। इन्द्रियाँ स्वभावसे विषयोन्मुख हैं, ब्रह्मको विषय नहीं करतीं। ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय हो, तो इस जगत्‌रूप कार्यका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध है, ऐसा जाना जा सके।

रत्नप्रभा

विचारप्राप्ताविति शेषः। अत्र पूर्वपक्षी प्रष्टव्यः। किं यत्कार्यं, तद् ब्रह्मजमित्यनुमानं ब्रह्मसाधकम्, किं वा यत्कार्यम्, तत्सकारणमिति ? न आद्यः, व्याप्त्यसिद्धेरित्याह—नेति। ब्रह्मण इन्द्रियाग्राह्यत्वात् प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहायोगाद् न प्रमाणान्तरविषयत्वमित्यर्थः। इन्द्रियाग्राह्यत्वं कुत इत्यत आह—स्वभावत इति। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः (क० ४। १) इति श्रुतेः, ब्रह्मणो रूपादिहीनत्वाच्चेत्यर्थः। इन्द्रियाग्राह्यत्वेऽपि व्याप्तिग्रहः किं न स्यादत आह—सति हीति। तन्नास्तीति शेषः। इदं कार्यम्, ब्रह्मजम्—इति व्याप्तिप्रत्यक्षं ब्रह्मणोऽतीन्द्रि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्योंकि सिद्धवस्तुमें अनुमान प्रमाण है, श्रुति प्रमाण नहीं है। सिद्धवस्तुमें श्रुति अप्रमाण है, अतः उसका—श्रुतिका विचार निष्फल है, ऐसी शङ्का "ननु" इत्यादिसे करते हैं। 'ब्रह्म अन्य प्रमाणका विषय है ही'—मान लेनेपर प्रमाणान्तरका ही विचार प्राप्त होनेपर, इतना शेष समझ लेना चाहिये। यहाँ पूर्वपक्षीसे पूछना चाहिये कि 'जो कार्य है वह ब्रह्मसे जायमान है'—यह अनुमान ब्रह्मका साधक है अथवा 'जो कार्य है, वह सकारण है'—यह अनुमान ब्रह्मका साधक है? प्रथम अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्ति असिद्ध है। इसे "न" इत्यादिसे कहते हैं। ब्रह्म इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेयोग्य नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष-प्रमाणसे व्याप्ति-ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्म दूसरे प्रमाणोंका विषय नहीं है। इन्द्रियोंसे ब्रह्मका ग्रहण क्यों नहीं होता? इसका उत्तर देते हैं—"स्वभावतः" इत्यादिसे 'पराञ्चि०' (ईश्वरने इन्द्रियोंको बहिर्मुख उत्पन्न किया) इस श्रुतिसे और ब्रह्ममें रूपादिके न होनेसे ब्रह्म दूसरे प्रमाणोंका विषय नहीं है। ब्रह्मका इन्द्रियोंसे ग्रहण भले ही न हो, पर व्याप्तिज्ञान क्यों नहीं होगा? इसका उत्तर देते हैं—"सति हि" इत्यादिसे। इस वाक्यमें 'ब्रह्म इन्द्रियका विषय नहीं होता' इतना शेष समझना चाहिये। यह कार्य ब्रह्म-

भाष्य

ब्रह्मणा सम्बद्धं कार्यमिति गृह्येत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा सम्बद्धं किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्माद् जन्मादिसूत्रं नाऽनुमानोपन्यासार्थं किं तर्हि वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्।

भाष्यका अनुवाद

परन्तु कार्यमात्र अर्थात् यह जगत् ही इन्द्रियोंसे गृहीत होता है। लेकिन उसका सम्बन्ध ब्रह्मके साथ है अथवा किसी अन्यके साथ है, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए 'जन्मादि सूत्र' अनुमानके उपन्यासके लिए नहीं है, किन्तु वेदान्त-वाक्योंके प्रदर्शनके लिए है। वे कौनसे वेदान्त-वाक्य हैं,

रत्नप्रभा

यत्वाद् न सम्भवतीत्यर्थः। द्वितीये कारणसिद्धावपि कारणस्य ब्रह्मत्वं श्रुतिं विना ज्ञातुमशक्यमित्याह---**कार्यमात्रमिति**। सम्बद्धं कृतं यस्मात् श्रुतिमन्तरेण जगत्कारणं ब्रह्मेति निश्चयालाभः, तस्मात् तल्लाभाय श्रुतिरेव प्राधान्येन विचारणीया। अनुमानं तूपादानत्वादिसामान्यद्वारा मृदादिवद् ब्रह्मणः स्वकार्यात्मकत्वादिश्रौतार्थसम्भावनार्थं गुणतया विचार्यमित्युपसंहरति----**तस्मादिति**। एतत्सूत्रस्य विषयवाक्यं पृच्छति---**किं पुनरिति**। इह ब्रह्मणि लक्षणार्थत्वेन विचारयितुमिष्टं वाक्यं किमित्यर्थः। अत्र हि प्रथमसूत्रे विशिष्टाधिकारिणो ब्रह्मविचारं प्रतिज्ञाय ब्रह्म ज्ञातुकामस्य द्वितीयसूत्रे लक्षणमुच्यते, तथैव श्रुतावपि मुमुक्षोर्ब्रह्म ज्ञातुकामस्य जगत्कारणत्वोपलक्षणानुवादेन ब्रह्म ज्ञाप्यते इति श्रौतार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जन्य है, ऐसा व्याप्ति-प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अतीन्द्रिय है। दूसरे अनुमानमें यद्यपि कारण सिद्ध है, तो भी वह कारण ब्रह्म ही है, यह श्रुतिके विना नहीं जाना जा सकता, इसे "कार्यमात्रम्" इत्यादिसे कहते हैं। सम्बद्ध---उत्पादित। श्रुतिके बिना जगत्का कारण ब्रह्म है, ऐसे निश्चयका लाभ नहीं होता, अतः निश्चय प्राप्त करनेके लिए श्रुति ही प्रधानरूपसे विचारणीय है। अनुमान, उपादान कारण होनेसे मिट्टी आदिके समान ब्रह्म स्वकार्यात्मक है ऐसे, श्रुतिके अर्थकी सम्भावनाके लिए गौणरूपसे विचारणीय है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं---"तस्मात्" इत्यादिसे। इस सूत्रके विषयवाक्यको पूछते हैं---"किं पुनः" इत्यादिसे। इह---ब्रह्ममें, ब्रह्मका लक्षणरूपसे विचार करनेके लिए इष्ट वाक्य कौन हैं? ऐसा अर्थ है। यहाँ प्रथम सूत्रमें विशिष्ट अधिकारीके लिए ब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा करके दूसरे सूत्रमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेवालेके लिए ब्रह्मका लक्षण कहा गया है। इसी प्रकार श्रुतिमें भी ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुको जगत्कारणत्वरूप उपलक्षणके अनुवादपूर्वक ब्रह्मका ज्ञान कराया

भाष्य

किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् । 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युपक्रम्याऽऽह—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति' (तै० ३।१) तस्य च निर्णयवाक्यम्—

भाष्यका अनुवाद

जिनका सूत्रद्वारा ब्रह्मके लक्षणरूपसे विचार करना अभीष्ट है ? 'भृगुर्वै०' (भृगु वारुणि पिता वरुणके पास गया और कहा—'भगवन् ! ब्रह्मका उपदेश कीजिये') ऐसा उपक्रम—आरम्भ करके कहते हैं—'यतो वा०' ( जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, जिसके प्रति जाते हैं और जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको ठीक-ठीक जाननेकी इच्छा कर, वह ब्रह्म है ) उसका निर्णय-वाक्य यह

रत्नप्रभा

क्रमानुसारित्वं सूत्रस्य दर्शयितुं सोपक्रमं वाक्यं पठति—भृगुरिति । अधीहि स्मारय उपदिशेत्यर्थः । अत्र 'येन' इति एकत्वं विवक्षितम्, नानात्वे ब्रह्मत्वविधानायोगात् । यद् जगत्कारणं तदेकम् इति अवान्तरवाक्यम्, यदेकं कारणं तद्ब्रह्म इति वा, यत् कारणं तदेकं ब्रह्म इति वा महावाक्यमिति भेदः । किं तर्हि स्वरूपलक्षणम् इत्याशङ्क्य वाक्यशेषात् निर्णीतो यतश्शब्दार्थः सत्यज्ञानानन्द इत्याह—तस्य चेति । 'यः सर्वज्ञः' ( मु० १ । १ । १० ) 'तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' ( मु० १ । १ । १० ) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ( बृ० ३ । ९ । २८ ) इत्यादिशाखान्तरीयवाक्यानि अपि अस्य विषय

रत्नप्रभाका अनुवाद

जाता है, इस प्रकार सूत्र श्रुत्यर्थके क्रमके अनुसार है—इसे दिखलानेके लिए सोपक्रम ( आरम्भसहित ) वाक्य पढ़ते हैं—"भृगुर्वै" इत्यादि । 'अधीहि' अर्थात् स्मरण कराओ, उपदेश करो । 'येन' यहाँपर एकत्व विवक्षित है, क्योंकि ब्रह्म नाना अर्थात् अनेक रूप नहीं है, इसलिए नानात्व—अनेकत्व—विषयक ब्रह्मविधान उचित नहीं है । जो जगत्का कारण है, वह एक है यह अवान्तरवाक्य है, 'जो एक कारण है' वह ब्रह्म है' अथवा 'जो कारण है, वह एक ब्रह्म है' यह महावाक्य है । अवान्तरवाक्य और महावाक्यमें यह भेद है । तब ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण क्या है ? ऐसी शङ्का करके वाक्यशेषसे निर्णीत 'यतः' शब्दका अर्थ जो सत्य ज्ञानानन्द है, वह स्वरूपलक्षण है, ऐसा कहते हैं—"तस्य च" इत्यादिसे । 'यः सर्वज्ञः' ( जो सर्वज्ञ है ), 'तस्मादेतत् ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ( परब्रह्मसे हिरण्यगर्भ तथा नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं । ब्रह्म विज्ञान-स्वरूप एवं आनन्दस्वरूप है ) इत्यादि अन्य शाखाओंके

भाष्य

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति। (तै० ३।६) अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारण-विषयाण्युदाहर्तव्यानि ॥

इति द्वितीयं जन्माद्यधिकरणम् ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

है—'आनन्दाद्ध्येव (आनन्दसे ही निःसन्देह भूत उत्पन्न होते हैं, जन्म लेकर आनन्द (ब्रह्म) से पालित होते हैं और आनन्दमें लीन होते हैं)। नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त सर्वज्ञस्वरूप जो कारण (ब्रह्म) है, उसके विषयमें इस प्रकारके स्वरूप तथा तटस्थ लक्षणका निर्देश करनेवाले दूसरे वाक्य भी उद्धृत करने चाहिये ॥ २ ॥

❀ जन्माद्यधिकरण समाप्त ❀

---

रत्नप्रभा

इत्याह—अन्यान्यपीति। एवञ्जातीयकत्वमेवाह—नित्येति। तदेवं सर्वासु शाखासु लक्षणद्वयवाक्यानि जिज्ञास्ये ब्रह्मणि समन्वितानि तद्धिया मुक्तिरिति सिद्धम्।

इति द्वितीयसूत्रम् ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्य भी इस सूत्रके विषय हैं, ऐसा कहते हैं—"अन्यान्यपि" इत्यादिसे। अन्य वाक्य भी इसी प्रकारके हैं इस बातको दिखलाते हैं—"नित्य" इत्यादिसे। इस प्रकार सब शाखाओंमें तटस्थ लक्षण और स्वरूप-लक्षणके वाक्य जिज्ञास्य ब्रह्ममें समन्वित हैं और ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति है, ऐसा सिद्ध है।

* जन्माद्यधिकरण समाप्त *
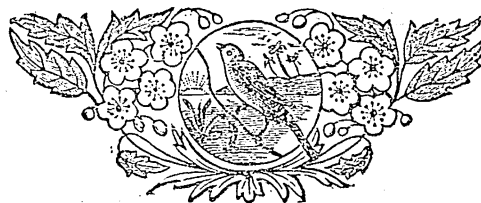
# शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

पदार्थोक्ति—शास्त्रं प्रति कारणत्वात्, शास्त्रगम्यत्वात्, सर्वज्ञं ब्रह्म ।

भावार्थ—ऋग्वेद आदि शास्त्रका कारण होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है । यह पहला वर्णक[1] है । ब्रह्म केवल ऋग्वेद आदि शास्त्रगम्य होनेसे प्रमाणान्तरवेद्य नहीं है । यह दूसरा वर्णक है ।
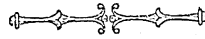
## [ ३ शास्त्रयोनित्वाधिकरण ]

( प्रथम वर्णक[2] )

*न कर्तृ ब्रह्म वेदस्य किं वा कर्तृ, न कर्तृ तत् । विरूप नित्यया वाचेत्येवं नित्यत्ववर्णनात्॥*
*कर्तृ निःश्वसिताद्युक्तेर्नित्यत्वं पूर्वसाम्यतः । सर्वावभासिवेदस्य कर्तृत्वात्सर्ववित्भवेत् ॥*

## [ अधिकरणसार[3] ]

संशय—वेदका कर्ता ब्रह्म है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—'विरूप[4] नित्यया वाचा' इस श्रुतिमें वेदके नित्यत्वका वर्णन होनेसे ब्रह्म वेदका कर्ता नहीं है ।

सिद्धान्त—वेद ब्रह्मका निःश्वसित[5] है ऐसा वर्णन होनेसे ब्रह्म वेदका कर्ता है । पूर्वकल्पके समान ही प्रकट होनेसे वेद नित्य कहा जाता है । सम्पूर्ण जगत्की व्यवस्थाको प्रकाशित करनेवाले वेदका कर्ता होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है ।

---

( १ ) सूत्रगत 'शास्त्र' शब्दका अर्थ ।

( २ ) व्याख्यान ( पक्षान्तरव्याख्यानरूपे—वाचस्पत्यकोश )

( ३ ) इसका विषय—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः' इत्यादि वाक्य हैं । पूर्व अधिकरणसे इसकी एकविषयत्व संगति है ।

( ४ ) हे विरूप नित्यया वाचा स्तुतिं प्रेरय—हे विरूप ! ( देवताका संबोधन ) नित्य वाणीसे स्तुति कर । नित्यवाणी वेद ही है—"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥" ( स्मृति )
ब्रह्माने प्रथम अनादि और अनन्त नित्य वर्णित वेदरूप की सृष्टि की जिससे सारा व्यवहार प्रचलित हुआ ।

( ५ ) "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्" ( बृ० २।४।१० )
"यस्य निःश्वसितं वेदाः" ( सायणाचार्य ) वेद जिसके निःश्वासरूप हैं ।

( द्वितीय वर्णक )

*अस्त्यन्यमेयताप्यस्य किं वा वेदैकमेयता। घटवत्सिद्धवस्तुत्वाद् ब्रह्मान्येनापि मीयते॥*

*रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता। तं त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता॥*

## [ अधिकरणसार[1] ]

**संशय**—ब्रह्म अन्य प्रमाणोंसे भी जाना जाता है अथवा केवल वेदसे ही जाना जाता है ?

**पूर्वपक्ष**—घड़ेकी तरह सिद्धवस्तु होनेसे ब्रह्म अन्य प्रमाणोंसे भी जाना जाता है।

**सिद्धान्त**—रूप[2] और लिंग[3] आदिसे रहित ब्रह्म अन्य प्रमाणोंसे नहीं जाना जा सकता। 'तं त्वौपनिषदम्' इत्यादि[4] श्रुतियोंमें ब्रह्म केवल[5] वेदसे ही जाना जाता है ऐसा कहा गया है।

---

( १ ) इसका विषय—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" यह वाक्य है। पूर्वाधिकरणसे इसकी एकफलकत्व संगति है।

( २ ) रूप, रस आदिसे रहित ब्रह्म इन्द्रियों द्वारा जानने योग्य नहीं है।

( ३ ) लिंग, सादृश्य आदिसे रहित ब्रह्म अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा भी जानने योग्य नहीं है।

( ४ ) 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'। ( तै० ब्रा० ३। १२। ९ ) वेद को न जाननेवाला पुरुष उस परिपूर्ण परमात्मा को नहीं जान सकता।

( ५ ) 'वेदहेतुरपि ब्रह्म तद्वेदादेव मीयते।' ( लघुवार्तिक १। १। ३ ) ब्रह्म यद्यपि वेद का हेतु है, तो भी उसका ज्ञान वेद से ही होता है।

भाष्य

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं तदेव द्रढयन्नाह— 'शास्त्रयोनित्वात्' इति ।

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म में जगत्कारणता दिखलाने से सर्वज्ञता सूचित हुई अब उसीको दृढ़ करते हुए कहते हैं —

रत्नप्रभा

यस्य निःश्वसितं वेदाः सर्वार्थज्ञानशक्तयः ।
श्रीरामं सर्ववेत्तारं वेदवेद्यमहं भजे ॥ १ ॥

वृत्तानुवादेन सङ्गतिं वदन् उत्तरसूत्रमवतारयति—**जगदिति** । चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वोक्त्या सर्वज्ञत्वमर्थात् प्रतिज्ञातं सूत्रकृता, चेतनसृष्टेर्ज्ञानपूर्वकत्वात् । तथा च ब्रह्म सर्वज्ञम्, सर्वकारणत्वात्, यो यत्कर्ता स तज्ज्ञः, यथा कुलाल इति स्थितम्, तदेवार्थिकं सर्वज्ञत्वं प्रधानादिनिरासाय वेदकर्तृत्वहेतुना द्रढयन् आहेत्यर्थः । हेतुद्वयस्य एकार्थसाधनत्वाद् एकविषयत्वमवान्तरसङ्गतिः । यद्वा, वेदस्य नित्यत्वाद् ब्रह्मणः सर्वहेतुता नास्ति इत्याक्षेपसङ्गत्या वेदहेतुत्वमुच्यते । "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः" ( बृ० २।४।१० ) इति वाक्यं विषयः । तत् किं वेदहेतुत्वेन ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं साधयति, उत न साधयति इति सन्देहः । तत्र व्याकरणादिवत्

रत्नप्रभाका अनुवाद

भगवान् भाष्यकार पूर्व अधिकरणमें कहे गये विषयका अनुवाद[1] करके संगतिको दिखलाते हुए अगले सूत्रकी अवतरणिका[2] देते हैं—"जगत्" इत्यादिसे । चेतन ब्रह्म जगत्का कारण है इस कथनसे अर्थतः सूत्रकारने ब्रह्म सर्वज्ञ है ऐसी प्रतिज्ञा की है, क्योंकि चेतन[3] ज्ञानपूर्वक ही सृष्टि करता है । अतः अनुमान होता है कि ब्रह्म सर्वज्ञ है, क्योंकि वह सबका कारण है । जो जिसका कर्ता होता है वह उसको सर्वात्मना जानता है, जैसे कुम्हार घड़ेको । सारांश यह है कि प्रधान आदि अन्य कारणोंका खण्डन करनेके लिए ब्रह्ममें अर्थतः सिद्ध सर्वज्ञताको वेदकर्तृत्व रूप हेतुसे दृढ़ करते हुए कहते हैं--( शास्त्रयोनित्वात् ) । जगत्कारणत्व और वेदकर्तृत्व ये दो हेतु एक ही विषयके साधक हैं, इसलिए इन दो अधिकरणोंकी एकविषयत्व अवान्तर संगति है । अथवा वेद नित्य है इसलिए ब्रह्म सबका कारण नहीं है ऐसा आक्षेप करके ब्रह्म वेदका कर्ता है ऐसा कहते हैं । अस्य महतो०' ( ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस महान् सत्य ब्रह्मके श्वासमात्र हैं ) यह वाक्य सूत्रप्रतिपाद्य अधिकरणका विषय है । यह वाक्य वेदकर्तृत्वरूप हेतुसे ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व सिद्ध करता है या नहीं ऐसा सन्देह होता है, पूर्वपक्षी

( १ ) पुनः कथन । ( २ ) सूत्र उतारनेका कारण । ( ३ ) चैतन्ययुक्त ।

रत्नप्रभा

वेदस्य पौरुषेयत्वे मूलप्रमाणसापेक्षत्वेन अप्रामाण्यापातात् न साधयतीति पूर्वपक्षे जगद्धेतोश्चेतनत्वासिद्धिः फलम् । सिद्धान्ते तत्सिद्धिः । अस्य वेदान्तवाक्यस्य स्पष्टब्रह्मलिङ्गस्य वेदकर्तरि समन्वयोक्तेः श्रुतिशास्त्राध्यायपादसङ्गतयः । एवमापादं श्रुत्यादिसङ्गतय ऊह्याः । वेदे हि सर्वार्थप्रकाशनशक्तिरुपलभ्यते, सा तदुपादानब्रह्मगतशक्तिपूर्विका तद्गता वा प्रकाशनशक्तित्वात्; कार्यगतशक्तित्वाद् वा, प्रदीपशक्तिवत् इति वेदोपादानत्वेन ब्रह्मणः स्वसम्बद्धाशेषार्थप्रकाशनसामर्थ्यरूपं सर्वसाक्षित्वं सिद्ध्यति । यद्वा, यथा अध्येतारः पूर्वक्रमं ज्ञात्वा वेदं कुर्वन्ति, तथा विचित्रगुणमायासहायोऽनावृतानन्तस्वप्रकाशचिन्मात्रः परमेश्वरः स्वकृतपूर्वकल्पीयक्रमसजातीयक्रमवन्तं वेदराशिं तदर्थान् च युगपत् जानन् एव करोतीति न वेदस्य पौरुषेयता । यत्र ह्यर्थज्ञानपूर्वकं वाक्यज्ञानं वाक्यसृष्टौ कारणं तत्र पौरुषेयता, अत्र च यौगपद्यात् न सा, अतो वेदकर्ता वेदमिव तदर्थमपि स्वसम्बद्धं नान्तरीयकतया जानातीति सर्वज्ञ इति सिद्धान्तयति—**शास्त्रेति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहता है कि व्याकरण आदिके समान वेद पौरुषेय—पुरुषप्रणीत है और मूलप्रमाणकी अपेक्षा रखता है, इसलिए वेद अप्रमाण है, अतः यह वाक्य ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वकी सिद्धि नहीं कर सकता। इस पूर्वपक्षका फल जगत्कारण ब्रह्ममें चेतनत्वकी असिद्धि करना है। सिद्धान्तमें यह वाक्य ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वकी सिद्धि करता है और ब्रह्मके चेतनत्वकी सिद्धि इसका फल है। इस वेदान्त-वाक्यमें ब्रह्मलिंग स्पष्ट है, इस सूत्र तथा वेदान्त वाक्यका वेदके कर्ता ब्रह्ममें समन्वय कहा है, इसलिए इस सूत्रके साथ श्रुति, शास्त्र, अध्याय और पादकी एकार्थप्रतिपादकत्वरूप संगति है। इस प्रकार पादके अन्त तक श्रुति आदिकी सूत्रके साथ संगति समझ लेनी चाहिए। वेदमें सब अर्थोंको प्रकाशित करनेकी शक्ति पाई जाती है, वह शक्ति उसके उपादान कारण—ब्रह्ममें रहनेवाली शक्तिसे प्राप्त हुई है, क्योंकि प्रदीप शक्तिके समान वह प्रकाश करनेवाली है। अथवा ब्रह्मगत ही है, क्योंकि कार्यमें रहनेवाली है। इन अनुमानोंसे ब्रह्म वेदका उपादान है, इसलिए उसमें अपने संबन्धके समस्त पदार्थोंके प्रकाशनकी सामर्थ्यरूप सर्वसाक्षिता सिद्ध होती है। अथवा जैसे अध्ययन करनेवाले पूर्वक्रम ( वेदानुपूर्वी ) का स्मरणकर वेद पढ़ाते हैं, इसी प्रकार अघटित घटना पटीयसी मायाकी सहायतासे आवरण रहित अनन्त, स्वप्रकाश, चिन्मात्र, परमेश्वर पूर्वकल्पके क्रम—आनुपूर्वीके अनुसार वेदराशि और उसके अर्थोंका एक साथ ही ज्ञान करके प्रकाश करता है, इसलिए वेद पौरुषेय नहीं है। जहाँ अर्थज्ञानपूर्वक वाक्यज्ञान वाक्यकी उत्पत्तिमें कारण होता है वहाँ पौरुषेयता होती है। ईश्वरको एक समय ही अर्थज्ञान और वाक्यज्ञान होता है, इसलिए वेदमें पौरुषेयता नहीं है। इस कारण वेदकर्ता स्वरचित वेदके समान उसके अर्थको भी विना व्यवधान जानता है इसलिए ब्रह्म सर्वज्ञ है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"शास्त्रयोनि" इत्यादिसे।

भाष्य

महत: ऋग्वेदादे: शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिन: सर्वज्ञकल्पस्य योनि: कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादि-

भाष्यका अनुवाद

अनेक विद्यास्थानों[1]से उपकृत[2], प्रदीपके समान सब अर्थोंके प्रकाशनमें समर्थ और सर्वज्ञकल्प महान् ऋग्वेद आदि शास्त्रका योनि अर्थात् कारण ब्रह्म है। ऋग्वेद आदिरूप सर्वज्ञगुण[3]सम्पन्न शास्त्रकी उत्पत्ति सर्वज्ञको छोड़कर दूसरेसे

---

रत्नप्रभा

शास्त्रं प्रति हेतुत्वात् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वकारणं च इति संगतिद्वयानुसारेण सूत्रयोजनामभिप्रेत्य पदानि व्याचष्टे—महत इति। हेतो: सर्वज्ञत्वसिद्धये वेदस्य विशेषणानि। तत्र ग्रन्थतोऽर्थतश्च महत्त्वम्, हितशासनात् शास्त्रत्वम्। शास्त्रशब्द: शब्दमात्रोपलक्षणार्थ इति मत्वा आह—अनेकेति। "पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिषाणि षडङ्गानि" इति दश विद्यास्थानानि वेदार्थज्ञानहेतव:, तैरुपकृतस्य इत्यर्थ:। अनेन मन्वादिभि: परिगृहीतत्वेन वेदस्य प्रामाण्यं सूचितम्। अबोधकत्वाभावादपि प्रामाण्यमित्याह—प्रदीपवदिति। सर्वार्थप्रकाशनशक्तिमत्त्वेऽपि अचेतनत्वात् सर्वज्ञकल्पत्वं योनिरुपादानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म शास्त्रके प्रति हेतु है इसलिए एकार्थविषयत्व तथा आक्षेप इन दो संगतियोंके अनुसार वह सर्वज्ञ और सबका कारण है ऐसी सूत्रकी योजना करनेके अभिप्रायसे पदोंका व्याख्यान करते हैं—"महत" इत्यादिसे। ऋग्वेदादिका हेतु ब्रह्म सर्वज्ञ है, यह सिद्ध करनेके लिए वेदके विशेषण दिये हैं। 'महान्' अर्थात् शब्द[5]से और अर्थसे बड़ा। हितका उपदेश करता है इसलिए उसे 'शास्त्र' कहते हैं। शास्त्र शब्द हितशासन शब्दमात्रका द्योतक[6] है, ऐसा विचारकर हितशासन मन्वादिकी व्यावृत्तिके लिए कहते हैं—"अनेक" इत्यादि। पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये दस विद्याएँ वेदके अर्थज्ञानमें कारण हैं। आशय यह है कि उनसे वेदकी व्याख्या होती है। इस विशेषणसे यह सूचित होता है कि मनु आदिने वेदको स्वीकार किया है, इसलिए वेद प्रमाण है, सब अर्थोंका बोध करनेसे भी वेद प्रमाण है ऐसा कहते हैं—"प्रदीपवत्" इत्यादिसे। सब अर्थको प्रकाशित करनेकी वेदमें शक्ति है, तो भी अचेतन होनेके कारण वेद 'सर्वज्ञकल्प[7]' ( सर्वज्ञसदृश ) है,

---

( १ ) अर्थ जाननेके हेतु, वेदका अर्थ जाननेमें सहायक शास्त्र। ( २ ) अन्यसे जिसका उपकार हुआ हो, अर्थ समझानेमें जिसको दूसरेसे सहायता मिले। (३) सर्वज्ञता गुणसे युक्त। (४) अबोधकत्व बोधक न होना, अबोधकत्वका अभाव—बोधक होना। (५) शब्दविस्तार। ( ६ ) दिखलानेवाला। ( ७ ) ईषदून अर्थमें कल्प प्रत्यय है।

भाष्य

लक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्सम्भवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थ-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है। जो जो विस्तरार्थ[1] शास्त्र जिस पुरुषविशेषसे[2] रचे जाते हैं, जैसे ज्ञेयके[3] एकदेश[4] जिनका अर्थ है, ऐसे भी व्याकरण आदि पाणिनि[5] आदिसे, वह (पुरुष विशेष) उससे (शास्त्रसे) अधिकतर[6] ज्ञानवान् है, यह लोकमें प्रसिद्ध है,

रत्नप्रभा

कर्तृ च। ननु सर्वज्ञस्य यो गुणः सर्वार्थज्ञानशक्तिमत्त्वं वेदस्य तदन्वितत्वेऽपि तद्योनेः सर्वज्ञत्वं कुत इत्यत आह—नहीति। उपादाने तच्छक्तिं विना कार्ये तदयोगात् वेदोपादानस्य सर्वज्ञत्वम्। अनुमानं तु पूर्वं दर्शितम्। न च अविद्यायाः तदापत्तिः, शक्तिमत्त्वेऽपि अचेतनत्वात् इति भावः। वेदः स्वविषयादधिकार्थज्ञान-वज्जन्यः, प्रमाणवाक्यत्वात्, व्याकरणरामायणादिवत् इति अनुमानान्तरम्। तत्र व्याप्तिमाह—यद्यदिति। विस्तरः—शब्दाधिक्यम्। अनेन अर्थतोऽल्पत्वं वदन् कर्तुर्ज्ञानस्यार्थाधिक्यं सूचयति। दृश्यते चार्थवादाधिक्यं वेदे।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सर्वज्ञ नहीं है। 'योनि' अर्थात् उपादान कारण और 'कर्ता' निमित्त कारण। यद्यपि सर्वज्ञका गुण सर्वार्थज्ञानशक्तिमत्त्व[7] वेदमें अन्वित[8] है, तो भी उसके कारणमें सर्वज्ञत्व कहाँसे है? यह शंका दूर करनेके लिए कहते हैं—"नहि" इत्यादि। उपादानमें यदि वह शक्ति न होती तो कार्यमें उस शक्तिका योग नहीं बनता, इसलिए वेदके उपादान कारण ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है। इस विषयमें अनुमान पहले दिखलाया गया है। यदि कहिए कि उस अनुमानसे अविद्यामें भी सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति होती है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्यामें यद्यपि सर्वार्थ-शक्तिमत्त्व है तो भी चेतनत्व नहीं है इसलिए वह सर्वज्ञ नहीं है। वेद अपने विषयसे अधिक अर्थज्ञसे रचा गया है, प्रमाणवाक्य होनेसे, व्याकरण, रामायण आदिके समान, यह दूसरा अनुमान है। इस अनुमानमें व्याप्ति दिखलाते हैं—"यद्यत्" इत्यादिसे। विस्तर अर्थात् शब्दविस्तार। इससे शास्त्रमें अर्थतः अर्थकी अल्पता दिखाकर शास्त्रकी अपेक्षा उसका रचयिता अधिक अर्थ जानता है यह सूचित करते हैं और वेदमें बहुतसे अर्थवाद हैं इस-लिए वहाँ शब्दोंका आधिक्य है ही।

(१) जिसमें बहुत शब्द हों अर्थात् विस्तीर्ण। (२) विशिष्टपुरुष, असाधारण पुरुष। (३) जानने योग्य। (४) एकभाग। (५) व्याकरणके कर्ता पाणिनि आदि। (६) अधिक अर्थमें तरप् (तर) प्रत्यय लगाया है। (७) सब अर्थोंके ज्ञानकी शक्ति होना। (८) युक्त, पोया हुआ।

### भाष्य

मपि, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके, किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्या-

### भाष्यका अनुवाद

तो अनेक शाखाभेदसे[1] भिन्न, देव, पशु, मनुष्य, वर्ण, आश्रम आदि विभागका हेतु, सर्वज्ञानका आकर[2], ऋग्वेद[3] आदि संज्ञकका अनायास ही लीलान्यायसे[4] पुरुष-

### रत्नप्रभा

अत्रैषा योजना—यद्यत् शास्त्रं यस्मात् आप्तात् सम्भवति स ततः शास्त्रादधिकार्थज्ञान इति प्रसिद्धम्, यथा शब्दसाधुत्वादिः ज्ञेयैकदेशोऽर्थो यस्य तदपि व्याकरणादि पाणिन्यादेरधिकार्थज्ञात् सम्भवति। यद्यल्पार्थमपि शास्त्रमधिकार्थज्ञात् सम्भवति तदा "अस्य महतः" ( बृ० २।४।१० ) इत्यादिश्रुतेर्यस्मान्महतोऽपरिच्छिन्नाद् भूतात् सत्याद् योनेः सकाशाद् अनेकशाखेत्यादिविशिष्टस्य वेदस्य पुरुषनिश्श्वासवत् अप्रयत्नेनैव सम्भवः, तस्य सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च इति किमु वक्तव्यमिति। तत्र वेदस्य पौरुषेयत्वशङ्कानिरासार्थं श्रुतिस्थनिश्श्वसितपदार्थमाह— **अप्रयत्नेनेति**। प्रमाणान्तरेण अर्थज्ञानप्रयासं विना निमेषादिन्यायेन इत्यर्थः। अत्र

### रत्नप्रभाका अनुवाद

यहाँ ऐसी योजना है—जो जो शास्त्र जिस आप्त[5] पुरुषसे रचा जाता है, वह पुरुष उस शास्त्रसे अधिक अर्थका ज्ञाता होता है, यह प्रसिद्ध है। जैसे शब्दसाधुत्व[6] आदि ज्ञेयके एकदेशका प्रतिपादन करनेवाले व्याकरण आदिकी रचना उनसे विशेष अर्थज्ञ पाणिनि आदिसे हुई है। यदि अल्पार्थ शास्त्र भी अधिकज्ञानवालेसे उत्पन्न होता है तो 'अस्य महतः' इत्यादि श्रुतियोंके प्रमाणसे जिस अपरिच्छिन्न, निःसीम और सत्य कारणसे, 'अनेक शाखाओंमें विभक्त' आदि विशेषणविशिष्ट वेदकी पुरुष निःश्वासके समान प्रयत्नके बिना ही उत्पत्ति हुई है, उसके सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्वमें तो कहना ही क्या है। वेद पौरुषेय है यह शंका दूर करनेके लिए श्रुतिमें स्थित निःश्वसित पदका "अप्रयत्नेन" इत्यादिसे अर्थ करते हैं। अभिप्राय यह है कि आँखके पलक मारनेमें जैसे श्रम नहीं होता और न यत्न ही करना पड़ता है, उसी प्रकार ईश्वरने अन्य प्रमाणसे अर्थजाननेका प्रयास किए बिना ही वेदकी रचना की है। यहाँ

---

( १ ) भिन्न भिन्न भाग। ( २ ) खान, खजाना। महान् विस्तीर्ण प्रमाणरूप ग्रन्थ आकर ग्रन्थ कहलाता है। ( ३ ) ऋग्वेदादि जिनकी संज्ञा है। ( ४ ) खेलके समान। ( ५ ) प्रामाणिक, विश्वासयोग्य। (६) शब्दकी शुद्धि व्याकरणसे स्पष्ट समझमें आती है कि कौन-सा शब्द शुद्ध है और कौन-सा अशुद्ध है।

भाष्य

ग्व्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद् यस्माद् महतो भूताद्योनेः सम्भवः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० २।४।१०) इत्यादिश्रुतेः, तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्ति-

भाष्यका अनुवाद

निःश्वासके समान जिस महान् सत्ययोनिसे संभव है 'अस्य महतो०' (इस महान् भूतका जो निःश्वसित है वह ऋग्वेद है) इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है। उस महान् सत्ययोनिके निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिसत्त्वमें तो कहना ही क्या

रत्नप्रभा

अनुमानेन "यः सर्वज्ञः" (मु० १।१) इति श्रुत्युक्तसर्वज्ञत्वदार्ढ्याय पाणिन्यादिवद् वेदकर्तरि अधिकार्थज्ञानसत्तामात्रं साध्यते, न तु अर्थज्ञानस्य वेदहेतुत्वम्, निःश्वसितश्रुतिविरोधात्, वेदज्ञानमात्रेण अध्येतृवत् वेदकर्तृत्वोपपत्तेश्च। इयान् विशेषः—अध्येता परापेक्षः ईश्वरस्तु स्वकृतवेदानुपूर्वीं स्वयमेव स्मृत्वा तथैव कल्पादौ ब्रह्मादिषु आविर्भावयन् अनावृतज्ञानत्वात् तदर्थमपि अवर्जनीयतया जानातीति सर्वज्ञ इति अनवद्यम्। इति प्रथमवर्णकम् ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुमानसे 'यः सर्वज्ञः' इस श्रुतिमें कहे हुए सर्वज्ञत्वकी दृढ़ता करनेके लिए पाणिनि आदिके समान वेदकर्तामें केवल अधिक अर्थ ज्ञानकी सत्ता सिद्ध की गई है, अर्थज्ञान वेदका हेतु है, ऐसा सिद्ध नहीं किया गया, क्योंकि ऐसा करनेसे निःश्वसित श्रुतिसे विरोध होता है और वेदज्ञानमात्रसे अध्येताकी तरह वेदकर्तृत्वकी उपपत्ति भी हो सकती है। भेद इतना ही है कि अध्येताको दूसरे गुरु आदिकी अपेक्षा रहती है, किन्तु ईश्वर स्वयं रचे हुए वेदकी आनुपूर्वीका स्मरण करके उसी क्रमसे कल्पके आरंभमें ब्रह्मा आदिमें उसका आविर्भाव कराता है और ईश्वरके ज्ञानमें आवरण न होनेके कारण उसके अर्थको भी अवश्य जानता है, इसलिए वह सर्वज्ञ है।

(१) 'स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि' [बृ० २।४।१०] (जिस प्रकार गीले ईन्धनसे चिनगारी, अंगार, प्रकाश आदि बाहर निकलते हैं, इसी प्रकार मैत्रेयि! इस महान् सत्यस्वरूप परमात्माका यह निःश्वसित है, अर्थात् निःश्वसित जैसा है, जैसे बिना प्रयत्न ही पुरुषका श्वास चलता है ऐसा है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान इन सबकी अभिव्यक्ति पुरुषके निःश्वासके समान है, पुरुषबुद्धि प्रयत्नपूर्वक नहीं है) इसलिए वेद पौरुषेय है ऐसी शंका न करनी चाहिए। (२) सत्यस्वरूप ब्रह्मका। (३) श्वासमात्र। (४) श्रेष्ठ। (५) हजार चौयुगीका ब्रह्माका एक दिन जो ४३२०००००० तैतालीस करोड़ बीसलाख हमारे वर्षोंके बराबर है। (६) पर्दा, ढक्कन।

भाष्य

मस्त्वं चेति । अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे । शास्त्रादेव प्रमाणाद् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्म अधिगम्यते इत्यभिप्रायः । शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि । किमर्थं तर्हीदं सूत्रम् ? यावता पूर्वसूत्रे

भाष्यका अनुवाद

है। अथवा पूर्वोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानमें योनि—कारण अर्थात् प्रमाण हैं, इसलिए ब्रह्म केवल वेदसे जाना जाता है। शास्त्ररूप प्रमाणसे ही ऐसा समझा जाता है कि ब्रह्म जगत्के जन्म आदिका कारण है यह अभिप्राय है। पूर्वसूत्रमें 'यतो वा' इत्यादि शास्त्रोंका उदाहरण

---

रत्नप्रभा

अधुना ब्रह्मणो लक्षणानन्तरं प्रमाणजिज्ञासायां वर्णकान्तरमाह—अथवेति । लक्षणप्रमाणयोर्ब्रह्मनिर्णयार्थत्वाद् एकफलकत्वं सङ्गतिः । "तन्त्वौपनिषदं पुरुषम्" ( बृ० ३।९।२६ ) इति श्रुतिर्ब्रह्मणो वेदैकवेद्यत्वं ब्रूते न वेति संशये, कार्यलिङ्गेनैव लाघवात् कर्तुरेकस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः सिद्धेर्न ब्रूते इति प्राप्ते वेदप्रमाणकत्वात् ब्रह्मणो न प्रमाणान्तरवेद्यत्वम् इति सिद्धान्तयति—शास्त्रयोनित्वादिति । तद्व्याचष्टे—यथोक्तमिति । सर्वत्र पूर्वोत्तरपक्षयुक्तिद्वयं संशयबीजं द्रष्टव्यम् । अत्र पूर्वपक्षे अनुमानस्य एव विचार्यतासिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते वेदान्तानामिति भेदः । अनुमानादिना ब्रह्मसिद्धिः पूर्वसूत्रे प्रसङ्गात् निरस्ता । किञ्च, विचित्रप्रपञ्चस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब ब्रह्मके लक्षणके अनन्तर ब्रह्मके प्रमाणकी जिज्ञासा होनेपर "अथवा" इत्यादिसे दूसरा वर्णक आरम्भ करते हैं। लक्षण और प्रमाण ब्रह्मके निर्णायक हैं इससे इन दोनों सूत्रोंकी एकफलकत्व संगति है। 'तं त्वौपनिषदं' यह श्रुति ब्रह्म केवल वेदसे ही वेद्य है, ऐसा प्रतिपादन करती है या नहीं, ऐसा संशय होने पर कार्यत्वरूप लिंगद्वारा लाघवसे एक कर्ता सर्वज्ञ ब्रह्मकी सिद्धि होती है। इस कारण अनुमानसे भी वेद्य ब्रह्मको श्रुति केवल वेदवेद्य नहीं कहती है ऐसा पूर्वपक्ष होने पर वेद ब्रह्ममें प्रमाण है इसलिए ब्रह्म अन्य प्रमाणोंसे वेद्य नहीं है ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्रसे। "यथोक्तम्" इत्यादिसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं। सर्वत्र पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षकी युक्तियोंको संशयका कारण समझना चाहिए। यहाँ पूर्वपक्षमें अनुमान ही विचार्य है और अनुमानका विचार करना चाहिए, यह फल है, और उत्तरपक्षमें वेदान्त विचार्य है और वेदान्तकी विचार्यतासिद्धि फल है, यह भेद है। पूर्वसूत्रमें प्रसङ्गवश कहा गया है कि अनुमान आदिसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती है। और

भाष्य

एव एवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम् । उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानात् जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते–'शास्त्रयोनित्वात्' इति ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

दिया है। जब पूर्वसूत्रमें ही ऐसे शास्त्रका उदाहरण देते हुए सूत्रकारने ब्रह्म शास्त्रयोनि है ऐसा कह दिया है, तब फिर इस सूत्रका प्रयोजन ही क्या है ? इस विषयमें कहा जाता है—पूर्वसूत्रके अक्षरोंसे शास्त्रका स्पष्ट उपादान[1] नहीं किया गया है, इसलिए जगत्के जन्म आदिका केवल अनुमान रूपसे उपन्यास[2] किया है ऐसी कोई शंका करे तो उस आशंकाको दूर करनेके लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

रत्नप्रभा

प्रासादादिवत् एककर्तृकताबाधात् न लाघवावतारः । न च सर्वज्ञत्वात् कर्तुः एकत्वसम्भवः, एकत्वज्ञानात् सर्वज्ञत्वज्ञानं ततः तत् इत्यन्योन्याश्रयमभिप्रेत्य आह—**शास्त्रादेवेति** । किं तत् शास्त्रमिति तद् आह—**शास्त्रमिति** । पृथगारम्भमाक्षिपति—**किमर्थमिति** । येन हेतुना दर्शितं ततः किमर्थमित्यर्थः । जन्मादिलिङ्गकानुमानस्य स्वातन्त्र्येण उपन्यासशङ्कानिरासार्थं पृथक् सूत्रमित्याह—**उच्यते इति** ।

इति तृतीयसूत्रम् ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रासाद[3] आदिका एक कर्ता नहीं होता तो विचित्र जगत्का एक कर्ता कैसे हो सकता है ? इस प्रकार एक कर्ताके बाधित होनेसे लाघवका भी अवकाश नहीं है। सर्वज्ञ होनेके कारण ही कर्ता एक है ऐसा भी संभव नहीं है, क्योंकि एकत्वज्ञानसे सर्वज्ञत्वका ज्ञान होता है और सर्वज्ञत्वके ज्ञानसे एकत्वका ज्ञान होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है इस अभिप्रायसे "शास्त्रादेव" इत्यादि कहते हैं। वह शास्त्र कौन है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—"शास्त्रम्" इत्यादि । पूर्वसूत्रमें शास्त्रका उदाहरण दिया है तो फिर पृथक् सूत्रके आरंभका आक्षेप करते हैं—"किमर्थम्" इत्यादिसे । अभिप्राय यह है कि पूर्वसूत्रमें शास्त्रका उल्लेख कर सूत्रकारने जब ब्रह्मको शास्त्रयोनि कह दिया है, तब फिर इस सूत्रकी क्या आवश्यकता है ? जगत्के जन्म आदि जिसके लिंग हैं ऐसा स्वतन्त्र अनुमानका ही पूर्वसूत्रमें उपन्यास किया है यह शंका दूर करनेके लिए पृथक् सूत्र है ऐसा "उच्यते" इत्यादिसे कहते हैं।

* तृतीय सूत्र समाप्त *

(१) ग्रहण । (२) सूचना, उपक्षेप । (३) महल ।

# तत्तु समन्वयात् ॥४॥

**पदच्छेद**—तत् तु समन्वयात् ।

**पदार्थोक्ति**—किन्तु तत् ब्रह्म वेदान्तात् स्वातन्त्र्येण एव अवगम्यते न तु कर्तृ-देवादिप्रतिपादनद्वारा कर्मशेषतया उपासनांगतया वा ।

**भाषार्थ**—वेदान्तवाक्य उस ब्रह्मका स्वतन्त्र ही बोध कराते हैं। कर्ता और देवताके प्रतिपादन द्वारा कर्म वा उपासनाके अङ्ग होकर नहीं कराते।
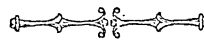
## [ ४ समन्वयाधिकरण ]

( प्रथम वर्णक )

*वेदान्ताः कर्तृदेवादिपरा ब्रह्मपरा उत । अनुष्ठानोपयोगित्वात् कर्त्रादिप्रतिपादकाः ॥*
*भिन्नप्रकरणात् लिंगषट्काच्च ब्रह्मबोधकाः । सति प्रयोजनेऽनर्थहानेऽनुष्ठानतोऽत्र किम् ॥*

## [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—वेदान्त कर्ता, देवता आदिके प्रतिपादन द्वारा कर्मके अङ्गतया ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं अथवा स्वतन्त्रतया प्रतिपादन करते हैं ?

**पूर्वपक्ष**—वेदान्त ब्रह्मका प्राधान्येन प्रतिपादन नहीं करते हैं, क्योंकि ब्रह्मप्रतिपादनमें कोई फल नहीं है; किन्तु परम्परया स्वर्गादि फल होनेसे कर्मापेक्षित कर्ता, देवता आदिका प्रतिपादन द्वारा ही ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं।

**सिद्धान्त**—वेदान्त कर्मकाण्डके अन्तर्गत नहीं हैं, किन्तु कर्मकाण्डसे उनका प्रकरण भिन्न है। और तात्पर्य परिचायक उपक्रम आदि षड्विध हेतुसे भी वेदान्त ब्रह्मका ही प्राधान्येन प्रतिपादन करते हैं और अनर्थनिवृत्तिरूप प्रयोजन होनेसे ब्रह्मका प्राधान्येन प्रतिपादन निष्फल भी नहीं है।

---

(१) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यार्थ इस अधिकरणका विषय है। पूर्व सूत्रके द्वितीय वर्णकसे इसकी आक्षेप संगति है।

( द्वितीय वर्णक )

*प्रतिपत्तिं विधित्सन्ति ब्रह्मण्यवसिता उत। शास्त्रत्वात्ते विधातारो मननादेश्च कीर्तनात्॥*
*नाकर्तृतन्त्रेरिति विधिः शास्त्रत्वं शंसनादपि। मननादिः पुरा बोधात् ब्रह्मण्यवसितास्ततः॥*

## [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म' इस वाक्यका अर्थ 'आत्मा वा अरे' द्रष्टव्य इत्यादि ज्ञानविधिसे अपेक्षित आत्माके स्वरूपप्रदर्शन द्वारा उसका अङ्ग है अथवा स्वतन्त्र ही ब्रह्म-बोध कराता है।

**पूर्वपक्ष**—वेदान्त शास्त्र है अतः इससे भी किसी वस्तुका शासन ( विधान ) अवश्य होना चाहिए। तथा यदि वेदान्त स्वातन्त्र्येण ब्रह्मबोध करावें तो श्रवणमात्रसे ब्रह्मबोध हो जानेके कारण मनन-निदिध्यासनका कथन व्यर्थ हो जायगा। अतः उपासनाविधिके अङ्ग 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्य ब्रह्मबोध कराते हैं।

**सिद्धान्त**—याग होमका विधान पुरुषके अधीन होता है। अपरोक्ष वा परोक्ष-ज्ञान पुरुषके अधीन नहीं है, किन्तु प्रमेयके अधीन है, अतः उनका विधान नहीं हो सकता। मनन असंभावनाकी तथा निदिध्यासन विपरीत भावनाकी निवृत्ति करता है, अतः वे व्यर्थ नहीं हैं। जैसे रस्सीमें सर्पके भ्रमसे त्रस्तपुरुषको 'इयं रज्जुः' ऐसा सिद्धवस्तुका उपदेश होता है उसी प्रकार सिद्ध ब्रह्मका भी शासन हो सकता है। इससे वेदान्तका साक्षात् ब्रह्ममें तात्पर्य है।

---

* न प्रतीचि ब्रह्मदृष्टिं विधत्ते तत्त्वमादिगीः।
नाऽप्युपास्तिविधेः शेषं ब्रह्मात्म्यैक्यं प्रमापयेत्॥ (लघुवार्तिक)

'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियां प्रत्यगात्मा ( जीव ) में ब्रह्मदृष्टि का विधान नहीं करतीं और ब्रह्मको उपासना विधिका अंग भी नहीं बतलातीं, किन्तु जीव और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान कराती हैं।

भाष्य

कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते ? यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै०सू०१।२।१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य

भाष्यका अनुवाद

शास्त्र ब्रह्ममें प्रमाण है, यह कैसे कहते हो ? क्योंकि 'अम्नायस्य०' (वेद क्रियार्थक है इसलिए अक्रियार्थक वाक्य अनर्थक हैं) इससे शास्त्र क्रियापरक है

रत्नप्रभा

वेदान्ताः सिद्धब्रह्मपरा उत कार्यपरा इति निष्फलत्वसापेक्षत्वयोः प्रसङ्गाप्रसङ्गाभ्यां संशये पूर्वसूत्रे द्वितीयवर्णकेन आक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षमाह—कथं पुनरित्यादिना। "सदेव सोम्य" (छा० ६।२।१) इत्यादीनां सर्वात्मत्वादिस्पष्टब्रह्मलिङ्गानां ब्रह्मणि समन्वयोक्तेः श्रुत्यादिसङ्गतयः। पूर्वपक्षे वेदान्तेषु मुमुक्षुप्रवृत्त्यसिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः। कथमिति आक्षेपे। हेतुः—यावतेति। यतो जैमिनिसूत्रेण शास्त्रस्य वेदस्य क्रियापरत्वं दर्शितमतोऽक्रियार्थत्वाद् वेदान्तानाम् आनर्थक्यं फलवदर्थशून्यत्वं प्राप्तमिति अन्वयः। सूत्रस्य अयमर्थः—प्रथमसूत्रे तावद् वेदस्य अध्ययनकरणकभावनाविधिभाव्यस्य फलवदर्थपरत्वमुक्तम् "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"। (जै० सू० १।१।२) इति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेदान्त सिद्ध ब्रह्मपरक हैं या क्रियापरक हैं इस प्रकार निष्फलत्व और सापेक्षत्वकी प्राप्ति और अप्राप्तिके योगसे संशय होनेपर पूर्वसूत्रके दूसरे वर्णकसे आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्ष कहते हैं "कथं पुनः" इत्यादिसे। इस सूत्रमें सर्वात्मत्वादि स्पष्टब्रह्मलिंगवाली 'सदेव सोम्य' इत्यादि श्रुतियोंका ब्रह्ममें समन्वय किया है, इसलिए यहाँ पर श्रुत्यादि संगतियाँ हैं। वेदान्तमें मुमुक्षुओंकी प्रवृत्तिकी असिद्धि पूर्वपक्षका फल है और उसकी सिद्धि सिद्धान्तका फल है। 'कथं' यह आक्षेपमें है। आक्षेपका कारण "यावता" इत्यादिसे कहते हैं। जैमिनिसूत्रसे शास्त्र अर्थात् वेदका क्रियापरत्व दिखलाया है इसलिए वेदान्त क्रियापर न होनेसे अनर्थक हैं अर्थात् उनमें फलवदर्थशून्यत्व प्राप्त होता है। सूत्रका अर्थ यह है—प्रथम सूत्रमें अध्ययन रूप साधनसे साध्य जो भावना उसका प्रतिपादक जो विधि उससे भाव्य—अर्थात् कर्म

(१) क्रिया जिसका प्रयोजन है। (२) जिसमें क्रियाका विचार है। (३) जिसका फल न हो वह निष्फल। (४) वेदान्त सिद्ध ब्रह्म प्रतिपादक हों तो वे 'आम्नायस्य०' सूत्रके अनुसार निष्फल हो जायँगे और सिद्धवस्तुके प्रमाणान्तर गम्य होनेके कारण वेदान्तको भी प्रमाणान्तरकी अपेक्षा होगी, यदि कार्यपरक हों तो निष्फलत्वका प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि क्रियार्थक वाक्य सब सफल होते हैं, और धर्ममें प्रत्यक्ष आदि प्रमाण नहीं हैं, अतः कार्यपरक होनेके कारण वेदान्तको भी मानान्तरकी अपेक्षा नहीं है।

भाष्य

प्रदर्शितम् । अतो वेदान्तानामानर्थक्यम्, अक्रियार्थत्वात् । कर्तृदेवतादि-

भाष्यका अनुवाद

इस कारण वेदान्त अनर्थक हैं, क्योंकि क्रियार्थक नहीं हैं । अथवा कर्ता, देवता

रत्नप्रभा

द्वितीयसूत्रे धर्मे—कार्ये चोदना प्रमाणमिति वेदप्रामाण्यव्यापकं कार्यपरत्वमवसितम् । तत्र "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" इत्याद्यर्थवादानां धर्मे प्रामाण्यमस्ति न वेति संशये आम्नायप्रामाण्यस्य क्रियार्थत्वेन व्याप्तत्वात्, अर्थवादेषु धर्मस्य अप्रतीतेः अक्रियार्थानां तेषाम् आनर्थक्यं निष्फलार्थत्वम्, न च अध्ययनविध्युपात्तानां निष्फले सिद्धेऽर्थे प्रामाण्यं युक्तम्, तस्मात् अनित्यमेषां प्रामाण्यमुच्यते । व्यापकाभावाद् व्याप्यं प्रामाण्यं नास्ति एव इति यावत् । एवं पूर्वपक्षे अपि "विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" ( जै० सू० १।२।७ ) इति सूत्रेण सिद्धान्तमाह—**क्रियापरत्वमिति** । अनित्यमिति प्राप्ते दर्शितमित्यर्थः । 'वायुर्वै क्षिप्रतमगामिनी देवता, तद्देवताकं कर्म क्षिप्रमेव फलं दास्यति' इत्येवं विधेयार्थानां स्तुतिरूपार्थेन द्वारेण "वायव्यं श्वेतमालभेत" इत्यादिविधिवाक्येन एकवाक्यत्वात् अर्थवादाः सफलाः स्युः । स्तुतिलक्षणया सफलकार्यपरत्वात् प्रमाणमर्थवादा इति यावत् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् कर्मवेदका फलवदर्थपरत्व कहा गया है। 'चोदना०' इस द्वितीय सूत्रमें कार्य—धर्ममें विधि प्रमाण है ऐसा कहा गया है, इसलिए कार्यपरत्व वेदप्रामाण्यका व्यापक है अर्थात् जहाँ जहाँ वेदप्रामाण्य है, वहाँ कार्यपरत्व अवश्य है ऐसी व्याप्ति है । वेदमें 'वायुर्वै०' ( वायु अतिशय क्षिप्रगति देवता है ) इत्यादि अर्थवाद वाक्य हैं। उनका धर्ममें प्रामाण्य है या नहीं यह संशय होनेपर जो श्रुति क्रियार्थक है, वह प्रमाण है ऐसी व्याप्ति है, इसलिए अर्थवादमें धर्मकी अप्रतीति होनेसे अक्रियार्थक अर्थवाद अनर्थक अर्थात् निष्फल हैं । अध्ययन विधिसे गृहीत वाक्योंका निष्फल और सिद्ध अर्थमें प्रामाण्य ठीक नहीं है, इसलिए उनमें प्रामाण्य अनित्य है ऐसा कहा जाता है । अर्थात् क्रियापरत्वरूप व्यापकके न होनेसे प्रामाण्य रूप व्याप्य भी नहीं है ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर 'विधिना०' इस सूत्रसे सिद्धान्त कहते हैं—"क्रियापरत्वम्" इत्यादिसे । भावार्थ यह है कि क्रियापरक न होनेसे अर्थवाद वाक्य अनित्य हैं ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर उनका कार्यपरत्व दिखलाया है । 'वायु अतिशय शीघ्र जानेवाला देवता है, जिस कर्मका यह देवता है, वह कर्म शीघ्र ही फल देगा' इत्यादि विधेय अर्थोंका स्तुतिरूप अर्थद्वारा 'वायव्यं०' इत्यादि विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता होनेसे अर्थवाद सफल होते हैं । अर्थवाद स्तुतिमें लक्षणासे सफल कार्यपरक हैं, इसलिए प्रमाण हैं ऐसा अर्थ है ।

भाष्य

प्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वम्, उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं

भाष्यका अनुवाद

आदिका प्रकाश करना वेदान्तोंका प्रयोजन है, इसलिए वेदान्त क्रियाविधि-वाक्योंके अङ्ग हैं। अथवा उपासना आदि अन्य क्रियाओंका विधान वेदान्तोंका प्रयोजन

---

रत्नप्रभा

ननु अध्ययनविधिगृहीतानां वेदान्तानामानर्थक्यं न युक्तमिति अत आह—**कर्त्रिति।** न वयं वेदान्तानामानर्थक्यं साधयामः, किन्तु लोके सिद्धस्य मानान्तरवेद्यत्वात् निष्फलत्वात् च सिद्धब्रह्मपरत्वे तेषां मानान्तरसापेक्षत्वनिष्फलत्वयोः प्रसङ्गात् अप्रामाण्यापातात् कार्यशेषकर्तृदेवताफलानां प्रकाशनद्वारा कार्यपरत्वं वक्तव्यमिति ब्रूमः। तत्र त्वंतत्पदार्थवाक्यानां कर्तृदेवतास्तावकत्वम्, विविदिषादिवाक्यानां फलस्तावकत्वम्। ननु कर्मविशेषमनारभ्य प्रकरणान्तराधीतानां वेदान्तानां कथं तच्छेषत्वम्? मानाभावाद् इति अरुच्या पक्षान्तरमाह—**उपासनेति।** मोक्षकामोऽसद्ब्रह्माभेदमारोप्य "अहं ब्रह्मास्मि" ( बृ० १।४।१० ) इत्युपासीत, इत्युपासनाविधिः। आदिशब्दात् श्रवणादयः, तत्कार्यपरत्वं वा वक्तव्यमित्यर्थः। ननु श्रुतं ब्रह्म विहाय अश्रुतं कार्यपरत्वं किमर्थं वक्तव्यमिति तत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

अध्ययन विधिमें ग्रहण किए हुए वेदान्त अनर्थक हैं यह बात ठीक नहीं है इसलिए कहते हैं—"कर्तृ" इत्यादि। हम वेदान्तकी अनर्थकता सिद्ध नहीं करते। किन्तु लोकमें सिद्ध वस्तु अन्य प्रमाणसे जानी जा सकती है और निष्फल है, इसलिए वेदान्त सिद्ध ब्रह्मके प्रतिपादक हों तो उनमें अन्य प्रमाण सापेक्षत्व और निष्फलत्व प्राप्त होता है और अप्रामाण्यका प्रसंग भी आता है, इसलिए कार्यके (अंग) कर्ता, देवता और फलका प्रकाश करनेसे वेदान्त क्रियापरक हैं ऐसा हम कहते हैं। वेदोंमें 'त्वम्' (तू) 'तत्' (वह) पदोंके अर्थवाले वाक्य कर्ता और देवताकी स्तुति करते हैं और 'विविदिषा' (जानने की इच्छा) आदि पदोंके अर्थवाले वाक्य फलकी स्तुति करते हैं। परन्तु कर्मविशेषका आरम्भ किए विना अन्य प्रकरणमें पठित वेदान्त कर्मके अंग कैसे हों, क्योंकि उस विषयमें कोई प्रमाण नहीं है, इस प्रकार इस पक्षमें अपनी अरुचि दिखाकर भाष्यकार दूसरा पक्ष कहते हैं—"उपासना" इत्यादिसे। मोक्षार्थी पुरुषको अपनेमें असत् ब्रह्मके अभेदका आरोप करके 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकार उपासना करनी चाहिए, यह उपासना विधि है। 'आदि' शब्दसे श्रवण आदि विधिका ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वेदान्त उपासनादि कार्यपरक हैं ऐसा कहना चाहिए। परन्तु श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मको छोड़कर श्रुतिसे अप्रतिपादित कार्यपरत्व[1] क्यों कहा जाय? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—"नहि"

---

(१) वेदान्त कार्यपर हैं ऐसा वेदान्तमें प्रतिपादन नहीं किया है, ऐसा वेदान्तका कार्यपरत्व।

भाष्य

वा । नहि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं सम्भवति प्रत्यक्षादिविषयत्वात् परिनिष्ठितवस्तुनः। तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात् ।

भाष्यका अनुवाद

है । सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन करना तो ( वेदान्तोंका प्रयोजन ) नहीं हो सकता है, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय है और उसका प्रतिपादन न हेय(1) है और न उपादेय(2), अतः उसमें पुरुषार्थका अभाव है । इसी कारणसे

रत्नप्रभा

आह—**नहीति** । परितः समन्तात् निश्चयेन स्थितम्—परिनिष्ठितम्, कृत्यनपेक्षं सिद्धमिति यावत् । तस्य प्रतिपादनम् अज्ञातस्य वेदेन ज्ञापनं तत् न सम्भवति, मानान्तरयोग्ये अर्थे वाक्यस्य संवादे सति अनुवादकत्वाद् "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इति वाक्यवद् । विसंवादे च अबोधकत्वाद्, "आदित्यो यूपः" इति वाक्यवत् इत्यर्थः। सिद्धो न वेदार्थः, मानान्तरयोग्यत्वात्, घटवदित्युक्त्वा निष्फलत्वात् च तथेत्याह—**तदिति** । सिद्धज्ञापने हेयोपादेयागोचरे फलाभावात् च तत् न सम्भवतीत्यर्थः । फलं हि सुखावाप्तिः दुःखहानिश्च । तत् च प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां साध्यम्, ते च उपादेयस्य प्रवृत्तिप्रयत्नकार्यस्य हेयस्य निवृत्तिप्रयत्नकार्यस्य ज्ञानाभ्यां जायेते, न सिद्धज्ञानात् इति भावः । तर्हि सिद्धबोधिवेदवादानां साफल्यं कथम् इत्याशङ्क्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि । सब ओरसे निश्चयसे रहा हुआ 'परिनिष्ठित' है, अर्थात् जिसको क्रियाकी अपेक्षा नहीं है अर्थात् सिद्ध वस्तु । उस अज्ञातका वेदसे ज्ञान कराना संभव नहीं है, क्योंकि दूसरे प्रमाणोंसे ज्ञातव्य अर्थमें संवाद होनेपर वाक्य अनुवादक होता है, 'अग्निर्हिमस्य०' ( अग्नि जाड़ेकी ओषधि है ) इस वाक्यकी तरह । और अन्य प्रमाणोंसे वेदवाक्यका विसंवाद होनेपर वेदवाक्य बोधक नहीं होता है, 'आदित्यो०' (सूर्य यूप है) इस वाक्यकी तरह, ऐसा भावार्थ है । सिद्ध पदार्थ वेदार्थ नहीं है, क्योंकि दूसरे प्रमाणके योग्य है, घटके समान । ऐसा कहकर सिद्ध पदार्थ निष्फल होनेसे भी वेदार्थ नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तत्" इत्यादि से । तात्पर्य यह है कि यह हेय है इस बुद्धिका और यह उपादेय है इस बुद्धिका अविषय सिद्धवस्तुके बोधनमें कुछ फल नहीं है, इसलिए वेदान्तोंसे सिद्धवस्तु-ब्रह्मका प्रतिपादन संभव नहीं हैं। फल अर्थात् सुखकी प्राप्ति और दुःखका त्याग । वे दोनों प्रवृत्ति और निवृत्तिसे साध्य हैं । अपने प्रयत्नसे ग्रहण करने योग्य वस्तुके ज्ञानसे प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और अपने प्रयत्नसे त्यागने योग्य वस्तुके ज्ञानसे निवृत्ति उत्पन्न होती है । तात्पर्य यह है कि सिद्ध वस्तुके ज्ञानसे प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति नहीं होती । तब सिद्ध पदार्थका बोध करानेवाले वेदवाक्योंकी सफलता किस प्रकार है ? यह

(१) त्याज्य । (२) ग्रहण करने योग्य ।

भाष्य

अत एव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' ( जै०सू०१।२।७ ) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम् । मन्त्राणां च 'इषेत्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधना-

भाष्यका अनुवाद

'सोऽरोदीत्' ( वह रोया ) इत्यादि वाक्य अनर्थक न हों, इसलिए 'विधिना०' ( विधिवाक्योंके साथ अर्थवाद आदि वाक्योंकी एकवाक्यता[1] है क्योंकि अर्थवाद वाक्य विधेय की स्तुति करते हैं। ) इस प्रकार स्तुत्यर्थक होनेसे वे ( 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्य ) सार्थक कहे गये हैं और 'इषेत्वा' (अन्नके लिए तुझे काटता हूँ) इत्यादि मंत्र क्रिया और उसके साधनोंका

रत्नप्रभा

"आम्नायस्य" ( जै० सू० १।२।१ ) इत्यादिसंग्रहवाक्यं विवृणोति—**अत एवेति** । सिद्धवस्तुज्ञानात् फलाभावाद् एवेत्यर्थः । "देवैर्निरुद्धः सोऽग्निररोदीत्" इति वाक्यस्य अश्रुजत्वेन रजतस्य निन्दाद्वारा "बर्हिषि न देयम्" इति सफलनिषेधशेषत्ववत् वेदान्तानां विध्यादिशेषत्वं वाच्यम् इत्यर्थः ।

ननु तेषां मन्त्रवत् स्वातन्त्र्यमस्तु, न अर्थवादवत् विध्येकवाक्यत्वम् इत्याशङ्क्य दृष्टान्तासिद्धिमाह—**मन्त्राणां चेति** । प्रमाणलक्षणे अर्थवादचिन्तानन्तरं मन्त्रचिन्ता कृता, "इषेत्वा" ( तै० सं० १।१।१ ) इति मन्त्रे छिनद्मि इति अध्याहारात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

आशंका करके 'आम्नायस्य' इत्यादि संग्रह वाक्यका विवरण करते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। अर्थात् सिद्ध वस्तुके ज्ञानसे कोई फल निष्पन्न नहीं होता इसलिए। 'देवैर्निरुद्धः०' (देवोंसे रोका हुआ वह अग्नि रोया) यह वाक्य अश्रुसे उत्पन्न हुए रजतकी निन्दा द्वारा 'बर्हिषि०' ( यज्ञमें रजत नहीं देना चाहिए ) इस सफल निषेध वाक्यका अंग है, इसी प्रकार वेदान्त विधिवाक्य आदिके अंग हैं, ऐसा कहना चाहिए, यह अर्थ है।

वेदान्तोंका मन्त्रोंके समान स्वातंत्र्य हो, अर्थवादके समान विधिके साथ एकवाक्यता न हो, ऐसी शंका करके दृष्टान्तकी असिद्धि कहते हैं—"मन्त्राणां च" आदिसे। पूर्वमीमांसाके प्रथमाध्यायमें प्रमाण-लक्षणके निरूपणके अवसर पर अर्थवाद-विचारके पश्चात् मन्त्र-विचार किया गया है, 'इषेत्वा' इस मन्त्रमें 'छिनद्मि' का अध्याहार होनेसे शाखाको काटनेकी

(१) पदोंमें अथवा वाक्योंमें संबन्ध। 'सोऽरोदीत्' इस अर्थवादके पदकी विधि पदके साथ एकवाक्यता और 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' ( स्वर्गकी कामनावाला दर्शपौर्णमास यज्ञ करे ) इत्यादि वाक्योंकी 'समिधो यजति' ( समित् नामक याग करे ) इत्यादिवाक्योंके साथ अंगांगीभाव संबंधसे एकवाक्यता।

भाष्य

भिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम् । न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधि-

भाष्यका अनुवाद

अभिधान करते हैं, इसलिए ( मंत्र ) कर्मसे नित्य सम्बन्धी कहे गये हैं। किसी भी स्थलपर विधिवाक्योंके सम्बन्धके बिना वेदवाक्योंकी अर्थवत्ता न देखनेमें

---

रत्नप्रभा

शाखाच्छेदनक्रियाप्रतीतेः, "अग्निर्मूर्द्धा" इत्यादौ च क्रियासाधनदेवतादिप्रतीतेः मन्त्राः श्रुत्यादिभिः क्रतौ विनियुक्ताः, ते किमुच्चारणमात्रेण अदृष्टं कुर्वन्तः क्रतौ उपकुर्वन्ति, उत दृष्टेनैव अर्थस्मरणेन इति सन्देहे चिन्तादिना अपि अध्ययन-कालावगतमन्त्रार्थस्य स्मृतिसम्भवाददृष्टार्था मन्त्रा इति प्राप्ते सिद्धान्तः। "अवि-शिष्टस्तु वाक्यार्थः" ( जै० सू० १।२।४० ) इति लोकवेदयोः वाक्यार्थस्य अवि-शेषात् मन्त्रवाक्यानां दृष्टेनैव स्वार्थप्रकाशनेन क्रतूपकारकत्वसम्भवाद् दृष्टे सम्भ-वति अदृष्टकल्पनानुपपत्तेः, फलवदनुष्ठानापेक्षितेन क्रियातत्साधनस्मरणेन द्वारेण मन्त्राणां कर्माङ्गत्वम्। "मन्त्रैरेवार्थः स्मर्तव्यः" इति नियमस्तु अदृष्टार्थ इति। तथा च अर्थवादानां स्तुतिपदार्थद्वारा पदैकवाक्यत्वं विधिभिः, मन्त्राणां तु वाक्यार्थ-ज्ञानद्वारा तैः वाक्यैकवाक्यत्वम् इति विभागः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रिया प्रतीत होती है, 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादि मंत्रोंमें क्रिया के साधनभूत देवता आदिकी प्रतीति होती है, इसलिए श्रुति आदिसे क्रतुमें[1] मंत्रोंका विनियोग[2] किया गया है। मंत्र उच्चारण-मात्रसे अदृष्टको उत्पन्न करके क्रतुमें उपकारक होते हैं, अथवा दृष्ट अर्थके स्मरणसे उपकारक होते हैं, ऐसा संदेह होता है। पर उसमें अध्ययन कालमें जताये हुए मंत्रोंके अर्थकी स्मृतिका संभव चिन्ता आदिसे भी होता है, इसलिए मंत्र अदृष्टार्थ[3] हैं, अर्थात् उच्चारण-मात्रसे अदृष्ट उत्पन्न करके क्रतुमें उपकारक होते हैं, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर इस प्रकार सिद्धान्त होता है—'अविशिष्टस्तु०' ( वाक्यार्थ—लौकिक और अलौकिक वाक्यका अर्थ अविशिष्ट है अर्थात् इन दोनों वाक्यार्थोंमें भेद नहीं है ) और लोकमें फलवत् उच्चारण देखते हैं, इसलिए मंत्रोच्चारण भी वैसा ही होना चाहिए। अतः मंत्रवाक्य भी दृष्टफलरूप अपने अर्थके प्रकाशनसे यज्ञके उपकारक हो सकते हैं, क्योंकि जब दृष्टका संभव है तब अदृष्टकी कल्पना करना ठीक नहीं है, इसलिए फलवाले अनुष्ठानसे अपेक्षित[4] क्रिया और उसके साधनसे स्मरणद्वारा मंत्र कर्माङ्ग हैं। मंत्रोंसे ही उनके अर्थका स्मरण करना चाहिए यह नियम अदृष्टके लिए है। स्तुतिरूप पदार्थद्वारा

---

(१) यज्ञ। (२) प्रयोग। (३) जिसका अर्थ—फल, अदृष्ट है अर्थात् ज्ञात नहीं है।

(४) अपेक्षा किया हुआ।

भाष्य

संस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा। न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति, क्रियाविषयत्वाद् विधेः। तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृदेवतादि-स्वरूपप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तर-

भाष्यका अनुवाद

आई है और न उपपन्न ही है। सिद्ध वस्तुके स्वरूपमें विधि भी नहीं हो सकती है, क्योंकि विधि क्रियाविषयक है। इसलिए कर्मके लिए अपेक्षित कर्ताके स्वरूप, देवता आदिका प्रकाशन करनेसे वेदान्त क्रियाविधिके अङ्ग हैं। यदि अन्य प्रकरणके भयसे यह स्वीकार न किया जाय तो भी अपने (वेदान्तके)

रत्नप्रभा

ननु अस्तु कर्मप्रकरणस्थवाक्यानां विध्येकवाक्यत्वम्, वेदान्तानां तु सिद्धे प्रामाण्यं किं न स्यादिति तत्र आह—**न क्वचिदिति**। वेदान्ताः विध्येक-वाक्यत्वेन एवार्थवन्तः सिद्धार्थवेदकत्वात् मन्त्रार्थवादादिवत् इत्यर्थः। अन्यत्र अदृष्टापि वेदान्तेषु कल्प्यतामिति तत्र आह—**उपपन्ना वेति**। न इत्यनुषङ्गः। सिद्धे फलाभावस्य उक्तत्वादिति भावः। तर्हि ब्रह्मण्येव स्वार्थे विधिः कल्प्यतां कृतं वेदान्तानां विध्यन्तरशेषत्वेन इत्यत आह—**न चेति**। ननु "दध्ना जुहोति" इति सिद्धे दधनि विधिः दृष्टः, तत्र आह—क्रियेति। दध्नः क्रिया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विधिके साथ अर्थवादकी पदैकवाक्यता है, और विधिवाक्योंके साथ वाक्यार्थ ज्ञान द्वारा मंत्रोंकी वाक्यैकवाक्यता है ऐसा विभाग जानना चाहिए।

कर्म प्रकरणमें आये हुए वाक्योंकी विधिके साथ एकवाक्यता हो, वेदान्तोंका सिद्ध ब्रह्ममें प्रामाण्य क्यों नहीं है, इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—"न क्वचित्" इत्यादि। वेदान्तोंकी विधिके साथ एकवाक्यता होनेसे ही सार्थकता है, क्योंकि वे मंत्र अर्थवादके समान सिद्ध अर्थका ज्ञान कराते हैं। विधिके साथ एकवाक्यताके विना वेद वाक्योंकी अर्थवत्ता कहीं भी देखनेमें नहीं आती, तो भी वेदान्तोंमें उनकी कल्पनाकी जाय ऐसा कोई कहे तो उसके लिए कहते हैं—"उपपन्ना वा"। यहाँ पर 'न' की अनुवृत्ति करनी चाहिए। सिद्ध पदार्थके प्रतिपादनमें फलका अभाव कहा है ऐसा अभिप्राय है। तब वेदान्तोंको अन्य विधिका शेष करनेके बदले वेदान्तोंका अर्थ जो ब्रह्म है, उसमें ही विधिकी कल्पना करो अर्थात् वेदान्त ब्रह्मरूप विधिका प्रतिपादन करता है ऐसी कल्पना करो। इसके उत्तरमें कहते हैं—"न च" इत्यादि। 'दध्ना०' (दहीसे होम करे) इसमें सिद्ध दहीमें विधि देखनेमें आती है, इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—"क्रिया" इत्यादि। अर्थात् 'अग्निहोत्रं' (अग्निहोत्र करे) इस वाक्यसे विहित होमसे

(१) यहां लिङर्थमें लेट् है।

भाष्य

भयान्नैतदभ्युपगम्यते तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते—'तत्तु समन्वयात्' इति।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम्? समन्वयात्।

भाष्यका अनुवाद

वाक्योंमें उपलब्ध उपासना आदि कर्मपरक (वेदान्त) हैं। इसलिए ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणक नहीं है, ऐसा (पूर्वपक्ष) प्राप्त होने पर कहते हैं—'तत्तु समन्वयात्'। 'तु' शब्द पूर्वपक्षके खण्डनके लिए है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमत्, और जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयका कारण, वह ब्रह्म वेदान्तशास्त्रसे ही जाना

रत्नप्रभा

साधनस्य प्रयुज्यमानतया साध्यत्वाद् विधेयता, निष्क्रियब्रह्मणः कथमप्यसाध्यत्वात् न विधेयत्वमित्यर्थः। भाट्टमतमुपसंहरति—तस्मादिति। स्वयमेवारुचिं वदन् पक्षान्तरमाह—अथेति। सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे तुशब्द इति। तद् ब्रह्म वेदान्तप्रमाणकम् इति प्रतिज्ञाते अर्थे हेतुं पृच्छति—कथमिति। हेतुमाह—समिति। अन्वयः—तात्पर्यविषयत्वम्, तस्मात् इत्येव हेतुः, तात्पर्यस्य सम्यक्त्वम् अखण्डार्थविषयकत्वं सूचयितुं संपदं प्रतिज्ञान्तर्गतमेव। तथा च अखण्डं ब्रह्म वेदान्तजप्रमाविषयः, वेदान्ततात्पर्यविषयत्वात्, यो यद्वाक्यतात्पर्यविषयः, स तद्वाक्यप्रमेयः, यथा कर्मवाक्यप्रमेयो धर्म इति प्रयोगः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपर्युक्त वाक्यमें क्रियाके साधनरूप दहीका प्रयोग किया गया है, इसलिए दही साध्य होनेसे विधेय है, परन्तु निष्क्रिय ब्रह्म किसी प्रकारसे भी साध्य नहीं है, इसलिए विधेय नहीं है। भट्टके मतका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। इस मतमें स्वयं अरुचि बताकर मतान्तर कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। सिद्धान्त सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"तुशब्दः" इत्यादिसे। ब्रह्मका प्रमाण वेदान्त है यह जो सिद्धान्तमें प्रतिज्ञा की है उसका हेतु पूछते हैं—"कथम्" से। हेतु कहते हैं—"समन्वयात्" से। अन्वय अर्थात् तात्पर्यविषयता, उससे, इतना ही हेतु है। तात्पर्यकी सम्यक्ता[३] अखण्डार्थविषयकत्व, उसे जतानेके लिए 'अन्वय' के पूर्व 'सम्' पद लगाया है। अर्थात् अखण्ड ब्रह्म वेदान्तसे उत्पन्न हुए सत्य ज्ञानका विषय है, क्योंकि ब्रह्म वेदान्तके तात्पर्यका विषय है। जो जिस वाक्यके तात्पर्यका विषय है, वह उस वाक्यका प्रमेय[४] है, जैसे कर्मवाक्यका प्रमेय धर्म है, ऐसा अनुमानका प्रयोग होता है। वाक्यका

(३) यथार्थता। (४) सत्य ज्ञानके योग्य।

भाष्य

सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि---'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'एकमेवाद्वितीयम्' ( छा० ६।२।१ )। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' ( ऐ० १।१।१ )

भाष्यका अनुवाद

जाता है। किस प्रकार (जाना जाता है), समन्वयसे[1]। 'सदेव०' ( हे प्रियदर्शन[2]! यह सब जगत् उत्पत्तिके पूर्वमें अव्याकृत[3] ब्रह्म ही था ), 'एकमे०' ( एक ही अद्वितीय ) 'आत्मा वा०' ( यह एक ही आत्मा उत्पत्तिके पूर्वकालमें था ),

रत्नप्रभा

वाक्यार्थस्य अखण्डत्वम्—असंसृष्टत्वम्, वाक्यस्य च अखण्डार्थकत्वम्, स्वपदोपस्थिताः ये पदार्थाः तेषां यः संसर्गः तद्गोचरप्रमाजनकत्वम्। न च इदमप्रसिद्धम्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिलक्षणवाक्यानां लोके लक्षणया चन्द्रादिव्यक्तिमात्रप्रमाहेतुत्वात्। सर्वपदलक्षणा च अविरुद्धा। सर्वैरर्थवादपदैरेकस्याः स्तुतेर्लक्ष्यत्वाङ्गीकारात्। तथा सत्यज्ञानादिपदैरखण्डं ब्रह्म भातीति न पक्षासिद्धिः। नापि हेत्वसिद्धिः, उपक्रमादिलिङ्गैः वेदान्तानाम् अद्वितीयाखण्डब्रह्मणि तात्पर्यनिर्णयात्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अखण्डत्व—असंसृष्टत्व अर्थात् अन्य पदार्थका संसर्ग-राहित्य है। वाक्यका अखण्डार्थकत्व—वाक्यगत पदोंसे उपस्थित पदार्थोंका जो संसर्ग वह जिसका विषय न हो ऐसा यथार्थ ज्ञानका जनक होना है। ऐसा यथार्थज्ञानजनकत्व अप्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि 'प्रकृष्टप्रकाश०' ( चन्द्रमा अतिशय प्रकाश है ) इत्यादि लक्षण-वाक्य व्यवहारमें लक्षणासे केवल चन्द्र आदि व्यक्तिका ही यथार्थज्ञान कराते हैं। सब पदोंकी एक अर्थमें लक्षणा करनेमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि अर्थवादके सब पदोंका लक्ष्य केवल स्तुति ही है, ऐसा मीमांसकोंने अङ्गीकार किया है। अतः सत्य ज्ञान आदि पदोंसे एक अखण्ड ब्रह्म भासता है। इसलिए पूर्वोक्त अनुमानमें पक्षकी असिद्धि नहीं है, क्योंकि उपक्रमादि[4] लिंगोंसे वेदान्तोंका अद्वितीय

---

(१) सम्यक् अन्वय। (२) जिसका दर्शन प्रिय है। (३) नाम रूपसे प्रगट नहीं हुआ।

(४) "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥"

उपक्रम ( आरम्भ ) उपसंहार ( अंत ) इन दोनोंकी एकरूपता, अभ्यास ( पुनरुक्ति ), अपूर्वता ( अन्य प्रमाणकी अविषयता ), फल ( मोक्ष ), अर्थवाद ( अद्वैतकी स्तुति या द्वैतकी निन्दाके वाचक वाक्य ) और उपपत्ति ( युक्ति ) ये तात्पर्यके निर्णय करनेमें हेतु हैं।

भाष्य

'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' ( बृ० २।५।१९ ) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' ( मु० २।२।११ ) इत्या-

भाष्यका अनुवाद

'तदेत०' ( वह, यह ब्रह्म अकारण, अकार्य, एकरस और अद्वितीय है ) 'अय-मात्मा०' ( यह आत्मा—ब्रह्म सबका अनुभव—चिन्मात्र है ), 'ब्रह्मैवेदं०' ( यह जो पूर्वमें भासता है, वह अमृतरूप ब्रह्म ही है ) इत्यादि वाक्य सब वेदान्तोंमें तात्पर्यसे इसी अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए ब्रह्ममें समन्वित हैं। वेदान्तमें

रत्नप्रभा

तत्र छान्दोग्यषष्ठे उपक्रमं दर्शयति—सदेवेति। उद्दालकः पुत्र-मुवाच—'हे सोम्य प्रियदर्शन! इदं सर्वं जगद् अग्रे उत्पत्तेः प्राक्काले सत्—अबाधितं ब्रह्मैवासीत्'। एवकारेण जगतः पृथक्सत्ता निषिध्यते। सतः सजातीयविजातीयस्वगतभेदनिरासार्थम् "एकमेवाद्वितीयम्" ( छा० ६।२।१ ) इति पदत्रयम्। एवमद्वितीयं ब्रह्मोपक्रम्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" ( छा० ६।८।७ ) इत्युपसंहरति। इदमुपक्रमोपसंहारैकरूप्यं तात्पर्यलिङ्गम् ( १ )। तथा "तत्त्वमसि" ( छा० ६।८।७ ) इति नवकृत्वोऽभ्यासः ( २ )। रूपादिहीनाद्वितीयब्रह्मणो मानान्तरायोग्यत्वाद् अपूर्वत्वमुक्तम् ( ३ )। "अत्र वाव किल सत् सौम्य न निभालयसे" इति। संघाते स्थितं प्रत्यग्ब्रह्म न जाना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अखण्ड ब्रह्ममें तात्पर्य निर्णय होता है। छान्दोग्य उपनिषद्के छठे अध्यायमें उपक्रम दिखलाया है—"सदेव सोम्य" इत्यादि से। उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहते हैं—'हे प्रियदर्शन! यह सब जगत् सृष्टिके पूर्वकालमें सत् था अर्थात् अबाधित ब्रह्म ही था। 'एव' शब्द अवधारण(१)का वाचक है, इससे जगत्की पृथक् सत्ता(२)का निषेध किया है। सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदका निराकरण करनेके लिए 'एकम्, एव और अद्वितीय' ये तीन पद दिये हैं। ( अद्वितीय अर्थात् जिससे द्वितीय—अन्य वस्तु नहीं है, जैसे मृत्तिका(३)से भिन्न घट आदि आकार बनानेवाले कुलाल(४)दि निमित्त-कारण देखनेमें आते हैं, वैसे सत्से भिन्न सत्का सहकारी कारण दूसरा कोई नहीं था। ) इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्मका उपक्रम करके 'ऐतदात्म्य०' यह सब आत्मस्वरूप है ऐसा उपसंहार किया है। उपक्रम और उपसंहार दोनोंकी एक रूपता प्रथम तात्पर्यलिंग है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' यह नौ बार किया हुआ अभ्यास द्वितीय तात्पर्यलिङ्ग है। रूप आदिसे रहित अद्वितीय ब्रह्म अन्य प्रमाणका विषय नहीं है, यही उसकी अपूर्वता है। 'अत्र वाव०' ( लवण उदक(५)में रहता हुआ भी जैसे तुम्हें नहीं दिखाई देता, वैसे ही इस शरीरमें विद्यमान सत्

(१) नियमवाचक। (२) भाव। (३) मिट्टी। (४) कुम्हार। (५) जल।

भाष्य

दीनि । न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्य-

भाष्यका अनुवाद

आये हुए पदोंका ब्रह्मस्वरूपके विषयमें निश्चित समन्वय अवगत होनेपर अन्य

रत्नप्रभा

सीत्यर्थः । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" ( छा० ६ । १४ । २ ) इति ब्रह्मज्ञानात् फलमुक्तम् विदुषः ( ४ ) । तस्य यावत् कालं देहो न विमोक्ष्यते, तावदेव देहपातपर्यन्तो विलम्बः । अथ देहपातानन्तरं विद्वान् ब्रह्म सम्पत्स्यते, विदेहकैवल्यमनुभवतीत्यर्थः । "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" (छा० ६।३।२ ) इत्याद्यद्वितीयज्ञानार्थोऽर्थवादः ( ५ ) । मृदादिदृष्टान्तैः प्रकृत्यतिरेकेण विकारो नास्तीत्युपपत्तिः ( ६ ) उक्ता । एवं षड्विधानि तात्पर्यलिङ्गानि व्यस्तानि समस्तानि वा प्रतिवेदान्तं दृश्यन्त इत्यैतरेयकोपक्रमवाक्यं पठति—**आत्मा वेति** । बृहदारण्यके मधुकाण्डोपसंहार-वाक्यं सदात्मनो निर्विशेषत्वार्थमाह—**तदेतदिति** । मायाभिर्बहुरूपं तद् ब्रह्म । एतद् अपरोक्षम् । अपूर्वं कारणशून्यम् । अनपरं कार्यरहितम् । अनन्तरं जात्यन्तरमस्य नास्ति इत्यनन्तरम्, एकरसमित्यर्थः । अबाह्यम् अद्वितीयम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी उपलब्ध नहीं होता है ) अर्थात् संघातमें रहनेवाले प्रत्यग् ब्रह्मको तू जानता नहीं है । 'तस्य तावदेव०' ( उसको अर्थात् आचार्यवान् पुरुषको उतना ही विलम्ब आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिमें है, जितने कालतक शरीरपात नहीं हो पाता ) इसमें ब्रह्मज्ञानका फल कहा है । जब तक विद्वान्‌का देहपात नहीं होता तभी तक विलम्ब है । देहपातके पीछे विद्वान् ब्रह्म हो जायगा—विदेह मुक्तिका अनुभव करेगा, यह अर्थ है । 'अनेन जीवे०' ( इस जीवात्मरूपसे प्रवेश करके ) इत्यादि अद्वितीय ज्ञानके लिए अर्थवाद है । मृत्तिका आदिके दृष्टान्तोंसे प्रकृतिसे भिन्न विकार नहीं हैं, ऐसी उपपत्ति कही है । इस प्रकार छः तात्पर्यलिंग व्यस्त—अलग अलग अथवा समस्त वेदान्तोंमें देखनेमें आते हैं । ऐतरेयका उपक्रम वाक्य कहते हैं—"आत्मा वा" इत्यादि । सत् आत्मामें निर्विशेषत्व दिखानेके लिए बृहदारण्यकके मधुकाण्डके उपसंहार वाक्यको कहते हैं—"तदेतत्" इत्यादि । मायासे ब्रह्म बहुरूप है । 'एतद्' अर्थात् अपरोक्ष । 'अपूर्वम्' अर्थात् जिसका पूर्व—कारण नहीं है । 'अनपरम्' जिसका कार्य नहीं है । 'अनन्तरम्' अर्थात् जिसका दूसरा जाति नहीं, एकरस । 'अबाह्यम्' जिसके बाहर कुछ न हो—अद्वितीय ।

(१) एकत्र रहा हुआ ।

भाष्य

माने ऽर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। न च तेषां

भाष्यका अनुवाद

अर्थकी कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि (ऐसा करने से) श्रुत—श्रुतिप्रतिपादित अर्थकी हानि और अश्रुत—श्रुतिसे अप्रतिपादित अर्थकी कल्पना करनी

रत्नप्रभा

तस्य अपरोक्षत्वमुपपादयति—**अयमिति**। सर्वमनुभवतीति सर्वानुभूः चिन्मात्रमित्यर्थः। ऋग्यजुःसामवाक्यानि उक्त्वा आथर्वणवाक्यमाह—**ब्रह्मैवेदमिति**। यत् पुरस्तात् पूर्वदिग्वस्तुजातम् इदम् अब्रह्मैव अविदुषां भाति तद् अमृतं ब्रह्मैव वस्तु विदुषामित्यर्थः। आदिपदेन "सत्यं ज्ञानम्" (तै० २।१।१) इत्यादिवाक्यानि गृह्यन्ते। ननु अस्तु ब्रह्मणस्तात्पर्यविषयत्वं वेदान्तानां कार्यमेवार्थः किं न स्यादिति तत्र आह—**न चेति**। वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्ये निश्चीयमाने कार्यार्थत्वं न युक्तम्, "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति न्यायात् इत्यर्थः। यदुक्तम् अर्थवादन्यायेन वेदान्तानां कर्त्रादिस्तावकत्वमिति तत्राह—**न च तेषामिति**। तेषां कर्मशेषस्तावकत्वं न भाति, किन्तु ज्ञानद्वारा कर्मतत्साधननाशकत्वमेव, तत् तत्र विद्याकाले 'कः कर्त्ता केन करणेन कं विषयं पश्येत्' इति श्रुतेरित्यर्थः। अर्थवादानां तु स्वार्थे फलाभावात् स्तुतिलक्षणतेति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसकी अपरोक्षताका प्रतिपादन करते हैं—"अयम्" आदिसे। सबका अनुभव अर्थात् चिन्मात्र। ऋग्, यजु और सामके वाक्योंको कहकर अथर्वण वाक्य कहते हैं—"ब्रह्मैवेदम्" इत्यादिसे। पूर्व दिशामें जो यह वस्तुसमूह अविद्वान्को अब्रह्म भासता है वह अमृतरूप ब्रह्म ही है। भाष्यस्थ 'इत्यादि' के आदि पदसे 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्यका ग्रहण करना चाहिए। वेदान्तोंका तात्पर्यविषय ब्रह्म भले ही हो, किन्तु उनका कार्यरूप ही अर्थ क्यों न होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं—'न च' इत्यादि। वेदान्तोंके तात्पर्यका ब्रह्ममें निश्चय होनेपर यह कहना युक्त नहीं है कि वेदान्तोंका अर्थ कार्य्य है, क्योंकि 'यत्परः' (शब्दका जिसमें तात्पर्य है, वही उसका अर्थ है) ऐसा न्याय है। कर्ता, देवता आदिका प्रकाश करनेसे अर्थवाद न्यायके अनुसार वे वेदान्त कर्ता आदिकी स्तुति करते हैं, यह जो कहा है, उसका खण्डन करते हैं—"न च तेषाम्" इत्यादिसे। वेदान्त कर्म के अङ्गभूत कर्ता, देवता आदिके स्तावक नहीं हैं, किन्तु ज्ञान द्वारा क्रिया और क्रियाके साधनोंका नाश करनेवाले हैं। तत्—तत्र अर्थात् विद्याकालमें कौन कर्ता किस साधनसे किसको देखेगा ऐसा श्रुतिका अर्थ है। अर्थवादोंका स्वार्थमें फल नहीं है, इसलिए उनकी स्तुतिमें लक्षणा होती है। पूर्वपक्षीने जो कहा है कि ब्रह्म सिद्ध वस्तु होनेके

भाष्य

कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरता अवसीयते, 'तत्केन कं पश्येत्' ( बृ० २।४।१३ ) इत्यादि क्रियाकारकफलनिराकणश्रुतेः। न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः, 'तत्त्वमसि' ( छा० ६।८।७ ) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात्। यत्तु हेयोपादेयरहितत्वाद्

भाष्यका अनुवाद

पड़ेगी। उन वाक्योंका, कर्ताके स्वरूपके प्रतिपादनमें तात्पर्य है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि 'तत्केन०' (उस कालमें—विद्याकालमें कौन कर्ता किस करणसे किस विषयको देखे ) इत्यादि क्रिया, कारक और फलका निराकरण करनेवाली श्रुतियाँ हैं। ब्रह्म यद्यपि सिद्धवस्तु है, तो भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस शास्त्रके बिना ब्रह्मात्मभाव समझमें नहीं आता। (ब्रह्म) हेये और उपादेयसे भिन्न है, अतः उसका उपदेश अनर्थक है,

रत्नप्रभा

यदुक्तं सिद्धत्वेन मानान्तरवेद्यं ब्रह्म न वेदार्थ इति, तत्र आह—न च परीति। "तत्त्वमसि" ( छा० ६।८।७ ) इति शास्त्रमन्तरेणेति सम्बन्धः। धर्मो न वेदार्थः, साध्यत्वेन पाकवत् मानान्तरवेद्यत्वात्। यदि वेदं विना धर्मस्य अनिर्णयात् न मानान्तरवेद्यता, तदा ब्रह्मण्यपि तुल्यम्। यच्च उक्तं निष्फलत्वाद् ब्रह्म न वेदार्थ इति तदनूद्य परिहरति—यत्त्वित्यादिना। रहितत्वाद् भिन्नत्वाद्, ब्रह्मण इति शेषः। यदपि उक्तम्—'उपासनापरत्वं वेदान्तानाम्' इति, तत्र किं प्राणपञ्चाग्न्यादिवाक्यानाम्, उत सर्वेषामिति? तत्र आद्यम् अङ्गीकरोति—देवतादीति। ज्येष्ठत्वादिगुणः फलं च आदिशब्दार्थः। न द्वितीयः, विधिशून्यानां "सत्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारण मानान्तरवेद्य है अर्थात् अन्य प्रमाणसे जाना जा सकता है, वह वेदका अर्थ नहीं है, इसका खण्डन करते हैं—"न च परि०" इत्यादिसे। 'तत् त्वमसि इति शास्त्रम् अन्तरेण' ऐसा अन्वय है। धर्म वेदका अर्थ नहीं है, क्योंकि पाकके समान साध्यत्वरूपसे मानान्तरसे वेद्य है। यदि कहो कि वेदके बिना धर्मका निर्णय नहीं होता, इसलिए धर्म मानान्तरसे वेद्य नहीं है, तो ब्रह्ममें भी ऐसा ही है। पूर्वपक्षीने यह जो कहा है कि निष्फल होनेके कारण ब्रह्म वेदका अर्थ नहीं है, उसका अनुवाद करके परिहार करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। रहितत्वात्—भिन्न होनेसे यहाँ पर 'ब्रह्मणः' ऐसा शेष है। और यह भी जो पूर्वपक्षीने कहा है कि 'वेदान्त उपासना परक हैं' तो उससे पूछना चाहिए कि कुछ ( प्राण पञ्चाग्नि आदि ) वेदान्तवाक्य उपासना परक हैं या सब? प्रथम पक्ष अंगीकार करके कहते हैं—"देवतादि" इत्यादिसे। 'आदि'

भाष्य

उपदेशानर्थक्यमिति। नैष दोषः। हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेः। देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। न तु तथा ब्रह्मणः उपासनाविधिशेषत्वं सम्भवति, एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दो-

भाष्यका अनुवाद

यह जो पूर्वपक्ष किया है। (उस संबन्धमें कहना चाहिए कि) यह दोष नहीं है, क्योंकि हेय और उपादेयसे शून्य ब्रह्मात्मभावके समझनेसे ही सब क्लेशोंका नाश होकर पुरुषार्थसिद्धि होती है। यदि देवता आदिका प्रतिपादन करनेवाले वाक्य वेदान्तवाक्यगत उपासनाके अंग हों तो भी कोई विरोध नहीं है। परन्तु उस प्रकार ब्रह्म उपासनाविधिका अङ्ग नहीं हो सकता है। एकत्वका ज्ञान प्राप्त

रत्नप्रभा

ज्ञानम्" ( तै० आ० २।१।१ ) इत्यादीनां स्वार्थे फलवतामुपासनापरत्वकल्पना-योगात्। किञ्च तदर्थस्य ब्रह्मणस्तच्छेषत्वं ज्ञानात् प्राग् ऊर्ध्वं वा? आद्ये अध्यस्तगुणवतः तस्य तच्छेषत्वे अपि न द्वितीय इत्याह—न तु तथेति। प्राणादिदेवतावदित्यर्थः। अहं ब्रह्म अस्मि इति एकत्वे ज्ञाते सति हेयोपादेय शून्यतया ब्रह्मात्मनः फलाभावादुपास्योपासकद्वैतज्ञानस्य कारणस्य नाशात् च न उपासनाशेषत्वमिति आह—एकत्वे इति। द्वैतज्ञानस्य संस्कारबलात् पुनरुदये

रत्नप्रभाका अनुवाद

शब्दसे श्रेष्ठत्व आदि गुण और फलका ग्रहण करना चाहिए। दूसरा पक्ष योग्य नहीं है, विधिशून्य 'सत्यं ज्ञानं' आदि वेदान्तवाक्य स्वार्थ प्रतिपादन करनेमें सफल हैं, इसलिए यह कल्पना करना ठीक नहीं है कि ऐसे वाक्य उपासनापरक हैं। किञ्च, उन वाक्योंके अर्थ-रूप ब्रह्मको उपासनाका अङ्ग ज्ञानसे पूर्व मानते हो या पश्चात्। ज्ञानसे पहले अध्यस्त आदि गुणयुक्त ब्रह्म उपासनाङ्ग भले ही हो किन्तु ज्ञानके अनन्तर उपासनाङ्ग नहीं हो सकता ऐसा कहते हैं—"न तु तथा" अर्थात् प्राणादि देवताओंके समान। 'अहं ब्रह्मास्मि' ( मैं ब्रह्म हूँ ) इस प्रकार एकत्वका ज्ञान होनेपर ब्रह्म हेय या उपादेय कुछ नहीं रहता, इसलिए उपासना-का कोई फल नहीं रहनेसे तथा उपासनाके कारण उपास्य और उपासकरूप द्वैतज्ञान नाश होनेसे उपास्तिविधि न होनेसे ब्रह्म उपासनाका शेष नहीं है ऐसा कहते हैं—"एकत्वे" इत्यादिसे। संस्कारके बलसे द्वैतज्ञानका फिर उदय होनेपर उपासनाका विधान हो इस शङ्काके निवारणके

(१) उपासनाप्रकरणके वेदान्तवाक्योंका।

भाष्य

पपत्तेः ।) नह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः सम्भवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्येत । यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टं, तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्त-

भाष्यका अनुवाद

होनेपर ब्रह्म हेय और उपादेय न होनेसे क्रिया, कारक आदि द्वैतविज्ञानका नाश होना सर्वथा युक्त है। एकत्वके विज्ञानसे नष्ट हुए द्वैतज्ञानका फिर संभव नहीं है। जिससे कि ब्रह्म उपासना विधिका शेष है ऐसा प्रतिपादन किया जाय। यद्यपि अन्य स्थलोंमें विधिके साथ संबंधके बिना वेदवाक्योंकी प्रमाणता देखनेमें नहीं

रत्नप्रभा

विधानमिति न इति आह—**न हीति**। दृढस्येति[1] शेषः। भ्रान्तित्वानिश्चयो दार्ढ्यम्, संस्कारोत्थं तु भ्रान्तित्वेन निश्चितं न विधिनिमित्तम्। **येनेति**। उपासनायां कारणस्य सत्वेन इत्यर्थः। वेदप्रामाण्यस्य व्यापकं क्रियार्थकत्वम् अनुवदति—**यद्यपीति**। कर्मकाण्डे अर्थवादादीनाम् इत्यर्थः। तथा च व्यापकाभावाद् वेदान्तेषु व्याप्याभावानुमानमिति भावः। वेदान्ताः न स्वार्थे मानम् अक्रियार्थत्वात्, "सोऽरोदीद्" इत्यादिवत् इत्यनुमाने निष्फलार्थकत्वम् उपाधिरिति आह—**तथापीति**। अर्थवादानां निष्फल-

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिए कहते हैं—"नहि" इत्यादि। 'द्वैतविज्ञान' का—'दृढ' ऐसे विशेषणका अध्याहार करना चाहिए। यह भ्रम नहीं है ऐसा निश्चय होना दृढता है। संस्कारसे उत्पन्न हुआ द्वैतज्ञान भ्रान्ति-रूप है ऐसा निश्चित होता है, इसलिए वह विधिका निमित्त नहीं है अर्थात् उससे विधि आदि प्राप्त नहीं होंगी। "येन" अर्थात् उपासनामें कारण होनेसे—द्वैतविज्ञानका फिर संभवरूप कारण होनेसे। जहाँ वेदप्रामाण्य है, वहाँ क्रियार्थत्व है इस व्याप्तिमें वेदप्रामाण्यका व्यापक जो क्रियार्थत्व है, उसका अनुवाद करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि कर्मकाण्डमें अर्थवाद आदिका [ विधि-संबन्धके बिना प्रामाण्य नहीं देखा गया है ]। अतः क्रियार्थत्वरूप व्यापकके न होनेसे वेदप्रामाण्यरूप व्याप्य भी वेदान्तोंमें नहीं है ऐसा अनुमान होता है। वेदान्त स्वार्थमें प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि अक्रियार्थक हैं—"सोऽरोदीत्" ( वह रोया ) इत्यादि वाक्योंके समान इस अनुमानमें निष्फलार्थत्व उपाधि[2] है ऐसा कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे।

---

(१) रत्नप्रभाके पूर्वापर ग्रन्थ तथा अर्थके आलोचनसे ज्ञात होता है कि 'अदृढस्येति' पाठ है।

(२) 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधिः' साध्यका व्यापक होकर साधनका अव्यापक हो, वह उपाधि है। जैसे कि पर्वत धूमवाला है, क्योंकि वह्निवाला है; इस अनुमानमें आर्द्रेन्धनसंयोग ( गीली लकड़ीका संयोग ) उपाधि है, क्योंकि वह साध्य धूमका व्यापक है 'जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग है ऐसा नियम होनेसे, और वह्निका आर्द्रेन्धन संयोग अव्यापक है,

### भाष्य

त्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम् । न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्षेत । तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम् ।

### भाष्यका अनुवाद

आती, तो भी आत्मविज्ञानका मोक्ष फल है, अतः ब्रह्मविषयक शास्त्रके प्रामाण्यका निराकरण नहीं किया जा सकता। शास्त्रका प्रामाण्य अनुमानगम्य नहीं है, जिससे कि वह अन्य स्थलोंपर देखे हुए दृष्टान्तोंकी अपेक्षा करे। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है।

### रत्नप्रभा

स्वार्थामानत्वेऽपि इत्यर्थः । तद्विषयस्य तत्करणस्य । स्वार्थे ब्रह्मात्मनीति शेषः । सफलज्ञानकरणत्वेन वेदान्तानां स्वार्थे मानत्वसिद्धेर्न क्रियार्थकत्वं तद्व्यापकमिति भावः । ननु मा भूद्वेदप्रामाण्यस्य व्यापकं क्रियार्थकत्वम्, व्याप्यं तु भविष्यति, तदभावाद् वेदान्तानां प्रामाण्यं दुर्ज्ञानमिति न इत्याह—**न चेति** । येन वेदप्रामाण्यं स्वस्य अनुमानगम्यत्वेन अन्यत्र क्वचिद् दृष्टं दृष्टान्तमपेक्षेत तदेव नास्तीत्यर्थः । चक्षुरादिवद् वेदस्य स्वतः प्रामाण्यज्ञानात् न तद्व्याप्तिलिङ्गाद्यपेक्षा । प्रामाण्यसंशये तु फलवदज्ञाताबाधितार्थतात्पर्यात् पामाण्यनिश्चयो न क्रियार्थत्वेन,

### रत्नप्रभाका अनुवाद

तथापि—अर्थवादवाक्योंके निष्फल स्वार्थमें प्रामाण्य न होनेपर भी। तद्विषयकका—आत्मज्ञानके कारणका। "तद्विषयक शास्त्रके" पीछे "स्वार्थ ब्रह्ममें" इतना अध्याहार समझना चाहिए। वेदान्त-वाक्य आत्मज्ञानके कारण हैं, इसलिए उनका अपने अर्थमें प्रामाण्य सिद्ध है, अतः क्रियार्थकत्व वेदप्रामाण्यका व्यापक नहीं हो सकता। क्रियार्थकत्व वेदप्रामाण्यका व्यापक भले ही न हो व्याप्य तो हो सकता है। व्याप्य क्रियार्थत्वके अभावसे व्यापक वेदप्रामाण्यका ज्ञान होना कठिन है ऐसी शंका कोई न करे इसलिए कहते हैं—"न च" इत्यादि। आशय यह है कि यदि वेदप्रामाण्य अनुमानगम्य हो तो दूसरे किसी स्थलपर देखे हुए दृष्टान्तकी अपेक्षा करें परन्तु ऐसा नहीं है। चक्षु आदिके समान वेदके प्रामाण्यका ज्ञान स्वतः होता है, इसलिए उसको व्याप्ति, लिंग आदिकी अपेक्षा नहीं है। प्रामाण्यका संशय हो, तो फलवत्, अज्ञात और अबाधित अर्थके तात्पर्यसे प्रामाण्यका निश्चय करना चाहिए, क्रियार्थत्वसे नहीं, क्योंकि कूपे पतेत् ( कुएँमें गिरे ) इस वाक्यमें व्यभिचार ( नियमभंग )

---

क्योंकि जहाँ जहाँ वह्नि है, वहाँ वहाँ आर्द्रेन्धन है ऐसा नियम नहीं है, ( लोहेके तपे हुए गोलेमें वह्नि है वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग नहीं है ) इसलिए टीकामेंके अनुमानमें जहाँ जहाँ अक्रियार्थत्व है वहाँ वहाँ निष्फलत्व है यह नियम नहीं है, क्योंकि आत्मज्ञान अक्रियार्थक है, तो भी सफल है।

भाष्य

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीयादीन्य-

भाष्यका अनुवाद

यहाँ दूसरे पूर्वपक्ष करते हैं—यद्यपि शास्त्र ब्रह्ममें प्रमाण है, तो भी शास्त्र विधिके विषय उपासनाका ब्रह्म अंग है ऐसा बोध कराता है। जैसे यूप, आह-

रत्नप्रभा

कूपे पतेत् इति वाक्ये व्यभिचारात् इति भावः। वर्णकार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। समन्वयादित्यर्थः। विधिवाक्यानामपि फलवदज्ञातार्थत्वेन प्रामाण्यं तत्तुल्यं वेदान्तानामपि इति स्थितम्।

एवं पदानां सिद्धेऽर्थे व्युत्पत्तिमिच्छतां ब्रह्मनास्तिकानां मतं ब्रह्मणो मानान्तरायोग्यत्वात् सफलत्वात् च वेदान्तैकमेयत्वमिति उक्त्या निरस्तम्। सम्प्रति सर्वेषां पदानां कार्यान्वितार्थे शक्तिमिच्छतां विधिशेषत्वेन प्रत्यग्ब्रह्म वेदान्तैर्बोध्यते न स्वातन्त्र्येण इति वदतां वृत्तिकाराणां मतनिरासाय सूत्रस्य वर्णकान्तरमारभ्यते। तत्र वेदान्ताः किम् उपासनाविधिशेषत्वेन ब्रह्म बोधयन्ति, उत स्वातन्त्र्येण ? इति सिद्धे व्युत्पत्त्यभावभावाभ्यां संशये, पूर्वपक्षमाह—अत्रापरे इति। ब्रह्मणो वेदान्तवेद्यत्वोक्तौ वृत्तिकाराः पूर्वपक्षयन्ति इत्यर्थः। उपासनातो मुक्तिः पूर्वपक्षे, तत्त्वज्ञानादेव इति सिद्धान्ते फलम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है। इस वर्णकके अर्थका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। तस्मात् अर्थात् समन्वयसे। विधिवाक्य भी फलवत् और अज्ञात अर्थके बोधक होनेसे ही प्रमाणभूत होते हैं और वेदान्तवाक्योंका भी प्रामाण्य इसी प्रकारका है ऐसा सिद्ध हुआ।

इस प्रकार ब्रह्मज्ञान अन्य प्रमाणसे अयोग्य है और सफल है, इसलिए वेदान्तसे ही गम्य-प्राप्त होने योग्य है ऐसा कहकर पदोंकी इतरान्वित सिद्ध अर्थमें व्युत्पत्ति चाहनेवाले ब्रह्मनास्तिकोंके मतका खण्डन किया। अब पदमात्रकी कार्यान्वित अर्थमें शक्ति चाहनेवाले, वेदान्त प्रत्यग्ब्रह्मका विधिपरत्वसे बोध कराता है, स्वतन्त्रतासे नहीं कराता ऐसा कहनेवाले वृत्तिकारके मतका खण्डन करनेके लिए सूत्रका दूसरा वर्णक आरम्भ करते हैं। (१) वेदान्त उपासनाविधिशेषत्वसे अर्थात् उपासनाविधिके अङ्गरूपसे ब्रह्मका बोध करते हैं अथवा स्वतन्त्रतासे, इस विषयमें सिद्ध अर्थमें पदोंकी शक्ति है या नहीं, ऐसा संशय होनेपर पूर्वपक्ष करते हैं—"अत्रापरे" इत्यादि। 'ब्रह्म वेदान्तवेद्य है' इस कथन पर वृत्तिकार पूर्वपक्ष करते हैं ऐसा समझना चाहिए। उपासनासे मुक्ति होती है यह पूर्वपक्षमें और तत्त्वज्ञानसे

(१) कुमारिलभट्ट मीमांसावार्तिककार।

भाष्य

लौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते तद्वत् । कुत एतत्? प्रवृत्ति-

भाष्यका अनुवाद

वनीय आदि अलौकिक पदार्थ भी विधि के अंग हैं ऐसा शास्त्र बोध कराता है,

रत्नप्रभा

विधिर्नियोगः तस्य विषयः प्रतिपत्तिः—उपासना । अस्याः को विषयः, इत्याकाङ्क्षायां सत्यादिवाक्यैर्विधिपरैरेव ब्रह्म समर्प्यते इत्याह—**प्रतिपत्तीति** । विधिविषयप्रतिपत्तिविषयतया इत्यर्थः । विधिपराद् वाक्यात् तच्छेषलाभे दृष्टान्तमाह—**यथेति** । "यूपे पशुं बध्नाति", "आहवनीये जुहोति", "इन्द्रं यजेत" इति विधिषु के यूपादय इत्याकाङ्क्षायां "यूपं तक्षत्यष्टास्रीकरोति" इति तक्षणादिसंस्कृतं दारु यूपः, "अग्नीनादधीत" इति आधनसंस्कृतोऽग्निः आहवनीयः, "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इति विधिपरैरेव वाक्यैः समर्प्यन्ते, तद्वद् ब्रह्म इत्यर्थः । विधिपरवाक्यस्य अपि अन्यार्थबोधित्वे वाक्यभेदः स्यादिति शङ्कानिरासार्थम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही मुक्ति होती है, यह सिद्धान्तमें फल है । विधि अर्थात् नियोग, उसका विषय प्रतिपत्ति अर्थात् उपासना है । उपासनाका विषय क्या है ऐसी आकांक्षा होनेपर विधिपरक सत्य, ज्ञान इत्यादि वाक्य ही ब्रह्मका बोध कराते हैं ऐसा कहते हैं—"प्रतिपत्ति" इत्यादिसे । अर्थात् विधि विषय जो उपासना उसके विषयरूपसे ब्रह्मका बोध कराते हैं । विधिपरक 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्यसे ब्रह्मकी अङ्गता किस प्रकार प्राप्त होती है, इसके लिए दृष्टान्त कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे । "यूपे पशुं०" (यज्ञस्तम्भमें पशुको बांधे) "आहवनीये०" (आहवनीय अग्निमें होम करे) "इन्द्रं०" (इन्द्रका यजन करे) इन विधियोंमें यूप आदि क्या हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर—"यूपं तक्षति०" (लकड़ीको छीलता है, आठ कोणवाली बनाता है) इस प्रकार छीलने आदिसे संस्कार की हुई लकड़ी यूप है, "अग्नीना०" (अग्निका आधान करे) इस प्रकार आधानसे संस्कृत जो अग्नि है, वह आहवनीय है। "वज्रहस्तः०" (वज्र है हाथमें जिसके वह इन्द्र है) इस प्रकार विधिपरक वाक्योंसे ही [ यूप आदिका ] बोध होता है । इसी प्रकार ब्रह्मका भी बोध होता है । विधिपरक वाक्य भी अन्य अर्थका बोध करावें, तो वाक्यभेद हो, यह शंका दूर करनेके लिए—"अलौ-

(१) एक प्रकारकी अग्नि । 'पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः । गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ।' (मनु २।२३१) पिता गार्हपत्य अग्नि है, माता दाक्षिण अग्नि है, गुरु (आचार्य) आहवनीय अग्नि है, ये तीन अग्नियाँ सबसे बड़ी हैं । इसमें तीन अग्नियाँ कही हैं। गृहपति घरमें नित्य जिसे रक्खे, वह गार्हपत्य अग्नि है, इसमेंसे दूसरी अग्नियाँ ग्रहण की जाती हैं। 'गार्हपत्यादाहवनीयं ज्वलन्तमुद्धरेत्' (आश्व० श्रौ० २।२) गार्हपत्यसे आहवनीय अग्निको जलती हुई लावे ।

भाष्य

निवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य। तथाहि शास्त्रतात्पर्यविद आहुः—

भाष्यका अनुवाद

वैसे ही। यह किस कारण से? इससे कि प्रवृत्ति[1] अथवा निवृत्ति[2] यह शास्त्रका प्रयोजन[3] है, क्योंकि शास्त्रका तात्पर्य जाननेवाले कहते हैं, 'दृष्टो हि०' (उसका

रत्नप्रभा

अपिशब्दः। मानान्तराज्ञातानि अपि शेषतया उच्यन्ते, न प्रधानत्वेन इति न वाक्यभेदः, प्रधानार्थभेदस्यैव वाक्यभेदकत्वात् इति भावः। ननु उक्तषड्विधलिङ्गैः तात्पर्यविषयस्य ब्रह्मणः कुतो विधिशेषत्वमिति शङ्कते—**कुत इति**। वृद्धव्यवहारेण हि शास्त्रतात्पर्यनिश्चयः। वृद्धव्यवहारे च श्रोतुः प्रवृत्तिनिवृत्ती उद्दिश्य आप्तप्रयोगो दृश्यते। अतः शास्त्रस्य अपि ते एव प्रयोजने। ते च कार्यज्ञानजन्ये इति कार्यपरत्वं शास्त्रस्य, ततः कार्य-शेषत्वं ब्रह्मण इति आह—**प्रवृत्तीति**। शास्त्रस्य नियोगपरत्वे वृद्धसम्मति-माह—**तथाहीत्यादिना**। क्रिया, कार्यम्, नियोगो, विधिः, धर्मो, अपूर्वमिति अनर्थान्तरम्। को वेदार्थः, इत्याकांक्षायां शाबरभाष्यकृता उक्तम्—**दृष्टो हीति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

किकान्यपि" यहाँ "अपि" शब्दका प्रयोग किया है। अन्य प्रमाणसे अज्ञात होनेपर भी विधिपरत्वसे वेदान्तवाक्य कहे गये हैं, प्रधानतासे नहीं कहे गये, इसलिए वाक्यभेद नहीं है, क्योंकि जब प्रधान अर्थका भेद होता है, तभी वाक्यभेद होता है। परंतु पूर्वोक्त छः प्रकारके लिंगोंसे तात्पर्यका निर्णय होता है और उस तात्पर्यका विषय ब्रह्म है, तो ब्रह्म विधिपरक कैसे है? ऐसी शंका करते हैं—"कुतः" इत्यादिसे। शास्त्रके तात्पर्यका निश्चय वृद्धव्यवहारसे होता है और वृद्धव्यवहार देखनेसे प्रतीत होता है कि आप्त पुरुष श्रोताकी प्रवृत्ति और निवृत्तिके उद्देशसे शब्दका प्रयोग करते हैं। इसलिए शास्त्रके भी प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो ही प्रयोजन हैं और वे प्रवृत्ति और निवृत्ति भी कार्यज्ञानसे जन्य हैं इससे शास्त्र-का कार्यमें ही तात्पर्य्य है और इसी लिए ब्रह्म भी कार्यका शेष है ऐसा पूर्वपक्षी कहता है—"प्रवृत्ति" इत्यादिसे। शास्त्रका कार्य्यमें तात्पर्य्य है इसमें वृद्धोंकी सम्मति कहते हैं—"तथाहि" इत्यादिसे। क्रिया, कार्य, कर्म, नियोग, विधि, धर्म और अपूर्व ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। वेदार्थ क्या है ऐसी आकांक्षा होनेपर मीमांसा दर्शनके भाष्यकार शबरस्वामीने कहा है—

(१) किसी भी विषयमें मन लगाना। (२) किसी भी विषयसे मन हट जाना।

(३) प्रवृत्तिनिवृत्तिपरक ही शास्त्र है। विद्वान् कहते हैं 'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते॥' नित्य अपौरुषेय वेद अथवा अनित्य पौरुषेय मन्वादि, जो पुरुषोंको प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिका उपदेश करें, वे शास्त्र कहलाते हैं।

भाष्य

'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इति । 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्' । 'तस्य ज्ञानमुपदेशः'—( जै० सू० १।१।५ ) 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः'—( जै० सू० १।१।२५ ) 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वा-

भाष्यका अनुवाद

अर्थ है क्रियाका ज्ञान कराना ) यह और 'चोदनेति०' ( चोदना क्रियाका प्रवर्तक वचन है ) 'तस्य ज्ञान०' ( उसका ज्ञापक—निमित्त उपदेश है ) 'तद्भूतानां०' ( उसमें भूतार्थक पदोंका कार्यवाची पदोंके साथ उच्चारण करना चाहिए ) 'आम्नायस्य०' (वेद क्रियार्थक है, अतः अक्रियार्थक वाक्य निष्फल हैं )

रत्नप्रभा

तस्य वेदस्य । कार्यं वेदार्थः इत्यत्र चोदनासूत्रस्थं भाष्यमाह—चोदनेति । क्रियाया नियोगस्य ज्ञानद्वारा प्रवर्तकं वाक्यं चोदना इति उच्यत इत्यर्थः । शबरस्वामिसंमतिम् उक्त्वा जैमिनिसंमतिम् आह—तस्य ज्ञानमिति । तस्य धर्मस्य ज्ञानं ज्ञापकम् अपौरुषेयविधिवाक्यम् उपदेशः, तस्य धर्मेण-अव्यतिरेकात् इत्यर्थः । पदानां कार्यान्वितार्थे शक्तिरित्यत्र सूत्रं पठति—तद्भूतानामिति । तत् तत्र वेदे भूतानां सिद्धार्थनिष्ठानां पदानां क्रियार्थेन कार्यवाचिना लिङादिपदेन समाम्नायः सहोच्चारणं कर्तव्यम् । पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थरूपकार्यधीनिमित्तत्वात् इत्यर्थः । कार्यान्वितार्थे शक्तानि पदानि कार्यवाचिपदेन सह पदार्थस्मृतिद्वारा कार्यमेव वाक्यार्थं बोधयन्ति इति भावः । फलितम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

"दृष्टो हि०" इत्यादि । उसका—वेदका । कार्य—वेदार्थ है, यहां पर यह मीमांसादर्शनके 'चोदना' इस सूत्रका भाष्य कहते हैं—"चोदना०" इत्यादिसे । क्रिया-नियोग अर्थात् विधिके ज्ञानद्वारा प्रवर्तकवाक्य चोदना कहलाता है, ऐसा अर्थ है । शबरस्वामीकी संमति दिखलाकर जैमिनिकी संमति दिखलाते हैं—"तस्य ज्ञानम्" इत्यादि से । उसका—धर्मका ज्ञापक अपौरुषेय विधिवाक्य उपदेश है, क्योंकि वह धर्मसे व्यतिरिक्त—भिन्न नहीं है । पदोंकी शक्ति कार्यान्वित अर्थमें है, इसके लिए जैमिनिसूत्र पढ़ते हैं—"तद्भूतानां" इत्यादि । तत्—वहाँ—वेदमें । भूतोंका—सिद्धार्थवाचक पदोंका । क्रियार्थके साथ—क्रियावाची लिङ् आदि पदोंके साथ उच्चारण करना चाहिए, क्योंकि पदार्थज्ञान वाक्यार्थरूप कार्यके ज्ञानमें निमित्त है । पदोंकी कार्यान्वित अर्थमें शक्ति है, इसलिए पद कार्यवाची पदके साथ अर्थ स्मरण द्वारा कार्यरूप वाक्यार्थका

( १ ) लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय घटित पद जिस वाक्यमें हों, वह चोदना—प्रेरणा वाक्य कहलाता है ।

भाष्य

दानर्थक्यमतदर्थानाम्'—( जै० सू० १।२।१ ) इति च। अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्, तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्, तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादि साधनं विधीयते एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम्। (नन्विह जिज्ञास्य-

भाष्यका अनुवाद

इसलिए पुरुषको किसी एक विषयमें प्रवृत्त करानेवाला और किसी एक विषयसे निवृत्त करानेवाला शास्त्र सार्थक है और दूसरे वाक्य उसके अंगभूत होकर उपयोगी होते हैं। उनके साथ सादृश्य होनेसे वेदान्त वाक्य भी उसी प्रकार सार्थक होते हैं, यदि ( वेदान्तवाक्य ) विधिपरक हों तो जैसे स्वर्ग आदिकी कामनावालेके लिए अग्निहोत्र आदि साधनोंका विधान किया गया है, इसी प्रकार अमृतत्वकी कामनावालेके लिए ब्रह्मविज्ञानका विधान किया गया है, ऐसा युक्त है। यदि कहो कि यहाँ जिज्ञास्य(१)का भेद कहा है। कर्मकाण्डमें

रत्नप्रभा

आह—अत इति। यतो वृद्धा एवमाहुः, अतो विधिनिषेधवाक्यमेव शास्त्रम्। अर्थवादादिकं तु तच्छेषतया उपक्षीणम्, तेन कर्मशास्त्रेण सामान्यं शास्त्रत्वम्, तस्माद् वेदान्तानां कार्यपरत्वेनैव अर्थवत्त्वं स्यात् इत्यर्थः। ननु वेदान्तेषु नियोज्यस्य विधेयस्य च अदर्शनात् कथं कार्यधीरिति तत्र आह—सति चेति। ननु धर्मब्रह्मजिज्ञासासूत्रकाराभ्यामिह काण्डद्वये अर्थभेद उक्तः एककार्यार्थत्वे शास्त्रभेदानुपपत्तेः। तत्र काण्डद्वये जिज्ञास्यभेदे सति फलवैलक्षण्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही बोध कराते हैं। फलितार्थ कहते हैं—"अतः" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि वृद्ध पुरुष ऐसा कहते हैं, इसलिए विधिनिषेध वाक्य ही शास्त्र हैं, अर्थवादादि विधिनिषेध वाक्योंके अंगभूत होकर उपक्षीण—सप्रयोजन है। कर्मशास्त्रके साथ वेदान्तका सादृश्य है, क्योंकि दोनों शास्त्र हैं। इसलिए वेदान्त कार्यपरक होकर ही सार्थक हैं। परंतु वेदान्तोंमें नियोज्य और विधेय देखनेमें नहीं आते हैं, तो उनसे कार्यज्ञान किस प्रकार हो, इस शंकाका निराकरण करनेके लिए "सति च" इत्यादि कहते हैं। यहाँ शंका होती है कि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासाके सूत्रकार जैमिनि और बादरायणने कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों काण्डोंमें अर्थभेद कहा है, क्योंकि यदि एक ही अर्थ कहा हो, तो शास्त्रभेद युक्त न हो। दोनों काण्डोंमें भिन्न भिन्न जिज्ञास्य होनेसे दोनों काण्डोंका फल विलक्षण—भिन्न ही कहना चाहिए, इसलिए मुक्तिफलके

(१) जिज्ञासायोग्य पदार्थ।

भाष्य

वैलक्षण्यमुक्तम्—कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः, इह तु भूतं नित्यनिर्वृत्तं[1] ब्रह्म जिज्ञास्यमिति। तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञान-फलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्। कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्[2] 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) 'य आत्माऽपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१) 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७) 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ०

भाष्यका अनुवाद

साध्य धर्म जिज्ञास्य है और यहाँ तो सिद्ध और अविनाशी ब्रह्म जिज्ञास्य है। उनमें अनुष्ठानकी अपेक्षावाले धर्मज्ञानके फलसे ब्रह्मज्ञानका फल विलक्षण होना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि कार्यविधिमें प्रयुक्त हुआ ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। 'आत्मा वा०' (अरे मैत्रेयि! आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) 'य आत्मा०' (जो आत्मा पापरहित है, उसकी खोज करनी चाहिए, उसका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिए) 'आत्मेत्ये०' (आत्मा है इसी प्रकार उपासना करनी चाहिए) 'आत्मानमेव०' (आत्माकी ही

रत्नप्रभा

वाच्यम्। तथा च न मुक्तिफलाय ज्ञानस्य विधेयता, मुक्तेर्विधेयक्रियाजन्यत्वे कर्मफलात् अविशेषप्रसङ्गात्, अविशेषे जिज्ञास्यभेदासिद्धेः। अतः कर्मफल-विलक्षणत्वात् नित्यसिद्धमुक्तेः तद्व्यञ्जकज्ञानविधिः अयुक्त इत्याशङ्कते—**नन्विहेति**। मुक्तेः कर्मफलाद् वैलक्षण्यम् असिद्धमिति तदर्थं ज्ञानं विधेयम्। न च तर्हि सफलं कार्यमेव वेदान्तेषु अपि जिज्ञास्यमिति तद्भेदासिद्धिरिति वाच्यम्, इष्टत्वात्। न च ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वसूत्रविरोधः, ज्ञानविधिशेषत्वेन सूत्रकृता ब्रह्मप्रतिपादनाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिए ज्ञान विधेय न होना चाहिए, क्योंकि यदि मुक्ति क्रियाजन्य हो, तो कर्मफलसे मुक्तिमें कुछ विशेष—भेद नहीं है, ऐसा प्रसंग आवेगा, और मुक्ति और कर्मफलमें भेद न हो, तो जिज्ञास्यका भेद सिद्ध न होगा। इसलिए कर्मफलसे मुक्ति भिन्न होनेके कारण नित्य सिद्ध मुक्तिको दिखलानेवाली ज्ञानकी विधि युक्त नहीं है यह शंका 'नन्विह' इत्यादिसे दिखलाते हैं। मुक्ति कर्मफलसे विलक्षण है यह बात असिद्ध है, अतः मुक्तिके लिए ज्ञानका विधान उचित है। तो वेदान्तोंमें भी सफल कार्य ही जिज्ञास्य होनेसे कर्मकाण्डसे भेद सिद्ध नहीं होगा ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दोनोंका अभेद इष्ट ही है। ब्रह्म जिज्ञास्य है यह प्रतिपादन करनेवाले सूत्रसे विरोध होगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रकार ब्रह्मका ज्ञान

(१) यहाँ 'नित्यं' इतना ही पाठ है, 'निर्वृत्तं' अधिक है। (२) वर्णन करने योग्य।

भाष्य

१।४।१५ ) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ( मु० ३।२।९ ) इत्यादिविधानेषु सत्सु 'कोऽसावात्मा किं तद् ब्रह्म' इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः—'नित्यः सर्वगतः, (भ० गी० २।२४) नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभावः, ( नृ० गी० ९ ) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ( बृ० ३।९।२८ ) इत्येवमादयः। तदुपासनात् शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति।

भाष्यका अनुवाद

स्वलोकरूपसे उपासना करे ) 'ब्रह्म वेद०' (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है ) इत्यादि विधान हैं, इसलिए वह आत्मा कौन है, वह ब्रह्म क्या है ऐसी आकांक्षा होनेपर ब्रह्मके स्वरूपका बोध करानेके लिए 'नित्यः सर्वगतः०' ( ब्रह्म नित्य, सर्वव्यापक, नित्यशुद्ध, मुक्तस्वभाव, विज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है ) ये और दूसरे सब वेदान्तवाक्य उपयुक्त हैं। उस ब्रह्मकी उपासना द्वारा शास्त्रसे अवगत अदृष्ट मोक्षरूप फल होगा। परंतु वेदान्तवाक्योंको कर्तव्यविधिका शेष न मानें और वे वस्तुमात्रका कथन करते हैं ऐसा समझें तो

रत्नप्रभा

इति परिहरति—**नार्हत्येवमिति**। ब्रह्मणो विधिप्रयुक्तत्वं स्फुटयति—**आत्मा वा इति**। 'ब्रह्म वेद' इत्यत्र ब्रह्मभावकामो ब्रह्मवेदनं कुर्यात् इति विधिः परिणम्यते इति द्रष्टव्यम्। लोकं ज्ञानस्वरूपम्। वेदान्तानेव अर्थतो दर्शयति—**नित्य इति**। ननु किं विधिफलम् इति तदाह—**तदुपासनादिति**। प्रत्यग्ब्रह्मोपा-सनाद् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति शास्त्रोक्तो मोक्षः स्वर्गवल्लोकाप्रसिद्धः फल-मित्यर्थः। ब्रह्मणः कर्तव्योपासनाविषयकविधिशेषत्वानङ्गीकारे बाधकमाह—**कर्तव्येति**। विध्यसम्बद्धसिद्धबोधे प्रवृत्त्यादिफलाभावाद् वेदान्तानां वैफल्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

विधिके अंगत्वरूपसे प्रतिपादन करते हैं, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। ब्रह्म उपासना विधिका शेष किस प्रकार है, यह स्पष्ट करते हैं—"आत्मा वा" इत्यादिसे। 'ब्रह्म वेद' इसमें ब्रह्मभावकी कामनावालोंको ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए ऐसा विधिमें परिणाम होता है यह समझना चाहिए। वेदान्तोंको ही अर्थतः दिखलाते हैं—"नित्यः" इत्यादिसे। परंतु विधिका फल क्या है, इसके उत्तरमें कहते हैं—"तदुपासनात्" इत्यादि। प्रत्यग्-ब्रह्मकी उपासनासे "ब्रह्म जाननेवाला श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करता है" ऐसा शास्त्रोक्त मोक्ष जो स्वर्गके समान लोकमें प्रसिद्ध नहीं है, वह फल है। ब्रह्मको कर्तव्य-उपासनारूप विधिका अंग न माननेमें बाधक कहते हैं—"कर्तव्य" इत्यादिसे। आशय यह है कि यदि विधिके साथ असंबद्ध सिद्ध वस्तु ब्रह्मका बोध वेदान्त करावें, तो प्रवृत्ति आदि फलके अभावसे

भाष्य

कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे तु वस्तुमात्रकथने हानोपादानासम्भवात्, 'सप्तद्वीपा वसुमती' 'राजासौ गच्छति' इत्यादिवाक्यवद् वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात्। ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टम्, तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात्। स्यादेतदेवं, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत, न तु निवर्तते, श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५) इति च श्रवणोत्तर-

भाष्यका अनुवाद

हान और उपादानका असंभव होनेसे 'सप्तद्वीपा०' ( सात द्वीपवाली पृथिवी ) 'राजाऽसौ०' ( यह राजा जाता है ) इत्यादि वाक्योंके समान वेदान्तवाक्य अनर्थक हो जायंगे। यदि कहो कि 'रज्जुरियं०' ( यह रज्जु है यह सर्प नहीं है ) इत्यादि वस्तुमात्र कथन भी भ्रान्तिसे उत्पन्न हुए भयकी निवृत्ति करके सार्थक होता है, ऐसा देखनेमें आता है। इसी प्रकार यहाँ भी असंसारी आत्म-वस्तुका कथन संसारित्वकी भ्रान्तिकी निवृत्ति करके सार्थक होता है। यह तभी हो सकता है जब कि जैसे वस्तुस्वरूपके श्रवणसे सर्पका भय निवृत्त हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मस्वरूपके श्रवणमात्रसे संसारित्वकी भ्रान्ति दूर हो जाय, परन्तु वह ( भ्रान्ति ) निवृत्त नहीं होती, क्योंकि जिन्होंने ब्रह्मका श्रवण किया है, उनमें भी पूर्वके समान सुख, दुःख आदि सांसारिक धर्म देखनेमें आते हैं। 'श्रोतव्यो०' ( श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और निदिध्यासन[1] करना चाहिए )

रत्नप्रभा

स्यात् इत्यर्थः। ननु इति शङ्का स्पष्टार्था। दृष्टान्तवैषम्येण परिहरति—स्यादिति। एतद्—अर्थवत्त्वम् एवं चेत् स्यात् इति अर्थः। एवंशब्दार्थमाह—यदीति। किञ्च, यदि ज्ञानादेव मुक्तिः, तदा श्रवणजन्यज्ञानानन्तरं मननादिविधिर्न स्यात्, तद्विधेश्च कार्यसाध्या मुक्तिरित्याह—श्रोतव्य इति। शब्दानां कार्यान्वितशक्ते

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेदान्त निष्फल हो जायंगे। "ननु" इत्यादिसे की हुई शंकाका अर्थ स्पष्ट है। दृष्टान्त विषम होनेसे शंकाका परिहार करते हैं—"स्याद्" इत्यादिसे। ऐसा हो तो सार्थक हो सकता है ऐसा अर्थ है। "यदि" इत्यादिसे 'एवं' शब्दका अर्थ कहते हैं। यदि ज्ञान मुक्ति होती, तो श्रवण-जन्य ज्ञानके बाद मनन आदिका विधान न होता, किन्तु विधान है अतः मुक्ति कार्यसाध्य है ऐसा कहते हैं—"श्रोतव्यः" इत्यादिसे। शब्दोंकी

( १ ) 'श्रुतस्यार्थस्य नैरन्तर्येण दीर्घकालमनुसन्धानम्' निरन्तर दीर्घकाल तक सुने हुए वस्तु चिन्तन।

भाष्य

कालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात् । तस्मात् प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति । अत्राऽभिधीयते । न । कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात् । शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं

भाष्यका अनुवाद

इसमें श्रवणके उत्तरकालमें मनन और निदिध्यासन देखनेमें आते हैं, इसलिए ऐसा अंगीकार करना चाहिए कि उपासनाविधिका विषय होनेसे ही ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक[1] है । [ यहाँ तक पूर्वपक्ष ग्रन्थ है । ] इसपर कहा जाता है । नहीं, क्योंकि कर्म और ब्रह्मविद्याके फल विलक्षण[2] हैं । कायिक, वाचिक और

रत्नप्रभा

प्रवृत्त्यादिफलस्यैव शास्त्रत्वात्, सिद्धे फलाभावात्, मननादिविधेश्च कार्यपरा वेदान्ता इति पूर्वपक्षम् उपसंहरति---**तस्मादिति** । वेदान्ता न विधिपराः, स्वार्थे फलवत्त्वे सति नियोज्यविधुरत्वात्, 'नायं सर्पः' इति वाक्यवत् । "सोऽरोदीत्" "स्वर्गकामो यजेत" इति वाक्ययोर्निरासाय हेतौ विशेषणद्वयमिति सिद्धान्तयति—**अत्रेति** । यदुक्तं मोक्षकामस्य नियोज्यस्य ज्ञानं विधेयम् इति, तत् न इत्याह—**नेति** । मोक्षः न विधिजन्यः, कर्मफलविलक्षणत्वाद् आत्मवत् इत्यर्थः । उक्तहेतुज्ञानाय कर्मतत्फले प्रपञ्चयति---**शारीरमित्यादिना वर्णितं संसाररूपमनुवदतीत्यन्तेन** । अथ वेदाध्ययनानन्तरम्, अतः वेदस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यान्वित अर्थमें है, और प्रवृत्ति आदि फल जिससे हो वही शास्त्र है, तथा सिद्धवस्तु—ब्रह्मके ज्ञानमें फलका अभाव है और श्रवणके बाद मनन आदिकी विधि है, इसलिए वेदान्त कार्यपर हैं ऐसा पूर्वपक्षका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे । वेदान्त विधिपरक नहीं हैं, क्योंकि स्वार्थमें फलवत् होकर नियोज्यरहित हैं, यह सर्प नहीं है इस वाक्यके समान । इस अनुमानमें हेतुमें 'स्वार्थमें फलवत्' विशेषण लगानेका प्रयोजन 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) इत्यादि वाक्योंमें व्यभिचारका निरास करना है । नियोज्य रहित विशेषण लगानेका प्रयोजन 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्योंमें व्यभिचारका निरास करना है । इस पूर्वपक्ष पर सिद्धान्त करते हैं—"अत्र" इत्यादिसे । मोक्षकाननावाले नियोज्यके लिए ज्ञान विधेय है, यह जो पूर्वपक्षीने कहा है वह युक्त नहीं है ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे । मोक्ष विधिजन्य नहीं है, क्योंकि कर्मफलसे विलक्षण है, आत्माके समान । इस अनुमानमें जो हेतु दिया है, उसके ज्ञानके लिए कर्म और कर्मके फलका विस्तारसे कथन करते हैं—"शारीरं" इत्यादि "वर्णितं संसाररूपमनुवदति" इत्यन्त ग्रन्थसे । अथ—वेदाध्ययनके पश्चात्, अतः—वेदके फलवत्

( १ ) शास्त्र जिसका प्रमाण है । ( २ ) भिन्न ।

भाष्य

धर्माख्यम्, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' ( जैं० सू० १।१।१ ) इति सूत्रिता । अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय । तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे । मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्य-

भाष्यका अनुवाद

मानसिक कर्म श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध, धर्मसंज्ञक है, जिसकी जिज्ञासा 'अथातो०' ( वेदाध्ययनके पश्चात् धर्मका निर्णय करनेके लिए धर्मजिज्ञासा करनी चाहिए ) इस सूत्रमें प्रतिपादित है । प्रतिषेधवाक्योंसे लक्षित होनेके कारण परिहारके लिए हिंसादिरूप अधर्मकी भी जिज्ञासा करनी चाहिए । चोदना जिसका लक्षण है, ऐसा अर्थ और अनर्थरूप धर्म एवं अधर्मके फल सुख और दुःख प्रत्यक्ष हैं, उनका उपभोग शरीर, वाणी और मनसे होता है, विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे वे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मासे लेकर स्थावर तक सभीमें प्रसिद्ध हैं । मनुष्यसे लेकर ब्रह्मा तक सभी शरीरधारियोंमें सुखका तारतम्य

---

रत्नप्रभा

फलवदर्थपरत्वात्, धर्मनिर्णयाय कर्मवाक्यविचारः कर्तव्य इति सूत्रार्थः । न केवलं धर्माख्यं कर्म, किन्तु अधर्मोऽपि इति आह—**अधर्मोऽपीति** । निषेधवाक्यप्रमाणकत्वात् इत्यर्थः । कर्म उक्त्वा फलमाह—**तयोरिति** । मोक्षस्तु अतीन्द्रियो विशोकः शरीराद्यभोग्यो विषयाद्यजन्योऽनात्मवित्सु अप्रसिद्ध इति वैलक्षण्यज्ञानाय प्रत्यक्षत्वादीनि विशेषणानि । सामान्येन कर्मफलम् उक्त्वा धर्मफलं पृथक् प्रपञ्चयति—**मनुष्यत्वादिति** । "स एको मानुष आनन्दः" ( तै०

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थके बोधक होनेसे, धर्मनिर्णयके लिए कर्मबोधक वाक्योंका विचार करना चाहिए, ऐसा सूत्रार्थ है । धर्मसंज्ञक ही कर्म नहीं है, किन्तु अधर्मसंज्ञक भी है ऐसा कहते हैं—"अधर्मोऽपि" इत्यादिसे । निषेधवाक्य अधर्ममें प्रमाण हैं, अतः वह भी विचार करने योग्य है । धर्म और अधर्मरूप कर्म कहकर उसका फल कहते हैं—"तयोः" इत्यादिसे । मोक्ष न तो इन्द्रियोंका गोचर है, न शरीर आदिसे भोग्य है और न विषय आदिसे जन्य है, वह तो शोकशून्य आनन्दमय है, आत्माको न जाननेवाले उसका आस्वाद नहीं ले सकते, इस प्रकार कर्मफलसे मोक्षका भेद दिखलानेके लिए सुख और दुःखके 'प्रत्यक्ष' आदि विशेषण दिये हैं । सामान्यरीतिसे कर्मफल कहकर धर्मफलका पृथक् विस्तारसे वर्णन करते हैं—"मनुष्यत्वात्"

भाष्य

मनुश्रूयते । ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते, धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम् । प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम् । तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनम् । केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनम् । तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् 'यावत्संपातमुषित्वा' (छा० ५।१०।५)

भाष्यका अनुवाद

श्रुतिमें वर्णित है, सुखतारतम्यसे उसके हेतु धर्मका तारतम्य भी ज्ञात होता है और धर्मके तारतम्यसे अधिकारीका तारतम्य सूचित होता है । फलकामना, सामर्थ्य आदि कारणोंसे अधिकारीका तारतम्य प्रसिद्ध है । इस प्रकार याग आदि अनुष्ठान करनेवाले लोग ही विद्या ( उपासना ) रूप समाधि विशेषके बलसे उत्तरमार्गसे जाते हैं । केवल इष्ट, पूर्त और दत्तरूप साधनोंसे सम्पन्न पुरुष धूम आदि क्रमसे दक्षिण मार्गसे जाते हैं । वहाँ भी सुख और उसके साधनोंका तारतम्य 'यावत्०' ( भोग्य कर्मोंके निश्शेष होने तक वहाँ रहकर पीछे लौटता है ) इस

रत्नप्रभा

२।८।१ ) ततः शतगुणो गन्धर्वादीनामिति श्रुतेः अनुभवानुसारित्वम् अनुशब्दार्थः । ततश्च सुखतारतम्यात् इत्यर्थः । मोक्षस्तु निरतिशयः, तत्साधनं च तत्त्वज्ञानमेकरूपमिति वैलक्षण्यम् । किञ्च, साधनचतुष्टयसम्पन्न एकरूप एव मोक्षविद्याधिकारी, कर्मणि तु नानाविध इति वैलक्षण्यमाह—धर्मेति । गम्यते न केवलं किन्तु प्रसिद्धं च इत्यर्थः । अर्थित्वं फलकामित्वम् । सामर्थ्यं लौकिकं पुत्रादि । आदिपदाद् विद्वत्त्वम्, शास्त्रानिन्दितत्वं च । किञ्च, कर्मफलं मार्गप्राप्यम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । 'स एको०' ( वह मनुष्यका आनन्द है । मनुष्य-गन्धर्वोंका आनन्द उससे सौगुना है ) यह श्रुति अनुभवके अनुसार है ऐसा बतलानेके लिए 'अनुश्रूयते' पदमें 'अनु' उपसर्ग जोड़ा है । 'ततश्च'—सुखके तारतम्यसे । मोक्ष तो निरतिशय है और उसका साधन तत्त्वज्ञान एक ही है, इस प्रकार भेद है । चार साधनोंसे युक्त एक-से ही मोक्षविद्याके अधिकारी हैं और कर्ममें नाना प्रकारके अधिकारी हैं ऐसा भेद कहते हैं—"धर्म" इत्यादिसे । आशय यह है कि इस प्रकारका धर्मतारतम्य केवल प्रतीत ही नहीं होता, किन्तु प्रसिद्ध भी है । अर्थित्व—फलकी इच्छा करना । सामर्थ्य—लौकिक साधन पुत्र, धन आदि । 'आदि' पदसे विद्वत्ता—शास्त्रज्ञान रखना और शास्त्रसे अनिन्दित होना लिये गये हैं । और कर्मका फल अर्चिरादि मार्ग द्वारा प्राप्य है और मोक्ष तो नित्य प्राप्त है, ऐसा भेद कहते हैं—

भाष्य

इत्यस्माद् गम्यते । तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः । तथोर्ध्वं गतेष्वधोगतेषु

भाष्यका अनुवाद

शास्त्रसे जाना जाता है। इस प्रकार अनुमान होता है कि मनुष्यसे लेकर नारकीय और स्थावर पर्यन्त जीवोंमें तारतम्यसे विद्यमान सुखलेश प्रवर्तक

---

रत्नप्रभा

मोक्षस्तु नित्यास इति भेदमाह—तथेति । उपासनायां चित्तस्थैर्यप्रकर्षात् अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनं "तेऽर्चिषम्" (छा० ४ । १५ । ५) इत्यादिना श्रूयते इत्यर्थः ।

अग्निहोत्रं तपस्सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥
शरणागतसन्त्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम् ।
बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥ ३ ॥

तत्रापि—चन्द्रलोकेऽपि इत्यर्थः । सम्पतति गच्छति अस्माल्लोकादमुं लोकमनेनेति सम्पातः—कर्म, यावत् कर्म भोक्तव्यं तावत् स्थित्वा पुनरायान्ति इत्यर्थः । मनुष्यत्वात् ऊर्ध्वं गतेषु सुखस्य तारतम्यम् उक्त्वा अधोगतेषु तद् आह—तथेति । इदानीं दुःखतद्धेतुतदनुष्ठायिनां तारतम्यं वदन् अधर्मफलं प्रपञ्चयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तथा" इत्यादिसे । उपासनामें चित्तकी अत्यन्त स्थिरतासे अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक गमन 'तेऽर्चिषम्' इत्यादि श्रुतिसे सुना जाता है । 'अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदका संरक्षण, अतिथिसत्कार और वैश्वदेव ये 'इष्ट' कहलाते हैं । बावडी कुआँ, तालाब, देवालय और बाग बनवाना तथा अन्नदान करना 'पूर्त' कहलाता है शरणागतकी रक्षा करना, प्राणियोंको पीडा न पहुँचाना और वेदीके बाहर दान देना 'दत्त कहलाता है । वहाँ भी—चन्द्रलोकमें भी । प्राणी जिससे इस लोकसे परलोकमें गमन करे वह सम्पात—कर्म, जब तक शेष रहता है, तबतक परलोकमें रहकर फिर लौटते हैं । इस प्रकार मनुष्यत्वसे ऊपर गये हुए जीवोंमें सुखका तारतम्य बतलाकर अब उससे नीचे गि

---

(१) उत्तरादि । (२) जो यज्ञमें यज्ञवेदी पर यजमान ऋत्विजोंको देता है, वह दक्षिणा है दान नहीं है ।

भाष्य

च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (छा० ८।१२।१) इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति।

भाष्यका अनुवाद

धर्मसे ही जन्य है। इसी प्रकार स्वर्गीय और नारकीय जीवोंमें दुःखका तारतम्य देखनेमें आता है, उससे उसके हेतु प्रतिषेध-प्रवर्तक वाक्योंसे लक्षित अधर्मका और उसके अनुष्ठान करनेवालोंका तारतम्य जाना जाता है। इस प्रकार अविद्या आदि दोषवालोंके धर्म और अधर्मके तारतम्यसे शरीर-ग्रहणपूर्वक उत्पन्न हुए सुख-दुःखका तारतम्य अनित्य और संसाररूप है, ऐसा श्रुति, स्मृति और न्यायमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'न ह वै०' (सशरीर आत्माके सुख और दुःखका विनाश नहीं होता है) यह श्रुति पूर्व वर्णित संसाररूपका

रत्नप्रभा

**तथोर्ध्वमिति**। द्विविधं कर्मफलं मोक्षस्य तद्वैलक्षण्यज्ञानाय प्रपञ्चितम् उपसंहरति—**एवमिति**। अस्मिताकामक्रोधभयानि आदिशब्दार्थः। "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्" (गी० ९।२१) इत्याद्या स्मृतिः। काष्ठोपचयात् ज्वालोपचयदर्शनात् फलतारम्येन साधनतारतम्यानुमानं न्यायः। श्रुतिमाह—**तथा चेति**। मोक्षो न कर्मफलम्, कर्मफलविरुद्धातीन्द्रियत्वविशोकत्वशरीराद्यभोग्यत्वादिधर्मवत्त्वात्, व्यतिरेकेण स्वर्गादिवत् इति न्यायानुग्राह्यां श्रुति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हुए जीवोंमें सुखका तारतम्य बतलाते हैं—"तथा" इत्यादिसे। अब दुःख, उसके हेतु और उसके करनेवालोंके भेद कहकर अधर्मका फल कहते हैं—"तथोर्ध्वम्" इत्यादिसे। मुक्ति कर्मफलसे अत्यन्त भिन्न है ऐसा ज्ञान करानेके लिए विस्तारपूर्वक वर्णित दो तरहके कर्मफलोंका उपसंहार करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। आदि शब्दसे अस्मिता[1], काम, क्रोध, और भयका ग्रहण किया गया है। 'ते तं०' (वे उस विशाल स्वर्गलोकका भोग करके) इत्यादि स्मृति है। देखा जाता है कि काष्ठकी वृद्धिसे ज्वालाओंकी वृद्धि होती है। अतः फलके तारतम्यसे साधनके तारतम्यका अनुमान 'न्याय' है। "तथा च" इत्यादिसे श्रुति कहते हैं। मोक्ष कर्मफल नहीं है, क्योंकि मोक्ष कर्मफलसे विपरीत अतीन्द्रिय, शोकरहित, शरीर आदिसे अभोग्य है, व्यतिरेकसे[2] स्वर्ग आदिके समान—इस अनुमानसे अनुग्राह्य[3] श्रुति कहते

(१) अहङ्कार। (२) व्यतिरेकव्याप्तिका दृष्टान्त दिया है। (३) पुष्टियोग्य।

भाष्य

'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' ( छा० ८।१२।१ ) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेत्, न; तस्य स्वाभाविकत्वात्।

'अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥'

भाष्यका अनुवाद

अनुवाद करती है। 'अशरीरं' ( प्रिय और अप्रिय वस्तुतः शरीर-रहित आत्माका स्पर्श नहीं करते ) इस श्रुतिसे प्रिय और अप्रियके स्पर्शके प्रतिषेधसे मोक्षसंज्ञक शरीररहित स्थितिके चोदनालक्षण धर्मसे उत्पन्न होनेका प्रतिषेध किया है, ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि मोक्षको धर्मसे उत्पन्न मानें तो उसमें प्रिय और अप्रियके स्पर्शका प्रतिषेध संगत न होगा। तब शरीर-रहित स्थिति ही धर्मसे उत्पन्न हो, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'अशरीरं०' (स्थूल देहरहित, अनेक अनित्य शरीरोंमें स्थित महान और विभु आत्माको जानकर विद्वान्

रत्नप्रभा

आह---अशरीरमिति। वावेति---अवधारणे। तत्त्वतो विदेहं सन्तम् आत्मानं वैषयिके सुखदुःखे नैव स्पृशत इत्यर्थः। मोक्षश्चेत् उपासनारूपधर्मफलं तदेव प्रियमस्ति इति तन्निषेधायोग इत्याह---धर्मकार्यत्वे हीति। ननु प्रियं नाम वैषयिकं सुखं तन्निषिध्यते, मोक्षस्तु धर्मफलमेव कर्मणां विचित्रफलदानसामर्थ्यात् इति शङ्कते---अशरीरत्वमेवेति। आत्मनो देहासङ्गित्वमशरीरत्वम्, तस्य अनादित्वात् न कर्मसाध्यता इत्याह---नेति। अशरीरं स्थूलदेहशून्यं देहेषु

रत्नप्रभाका अनुवाद

है—"अशरीरम्" इत्यादि। वाव अवधारण[1] वाचक है। भावार्थ यह है कि यथार्थ विदेह[2] आत्माको वैषयिक[3] सुख-दुःख स्पर्श करते ही नहीं। यदि मोक्ष उपासनारूप धर्मका फल हो तो वही प्रिय है, इसलिए प्रियस्पर्शनका निषेध योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं— "धर्मकार्यत्वे हि" इत्यादिसे। परन्तु प्रिय अर्थात् वैषयिक सुखका निषेध है, मोक्ष तो धर्मफल ही है, क्योंकि कर्ममें विचित्र फल देनेकी सामर्थ्य है, ऐसी शङ्का करते हैं— "अशरीरत्वमेव" इत्यादिसे। आत्माका देहके साथ संग न होना शरीर-रहित स्थिति है। यह स्थिति अनादि होनेसे कर्मसाध्य नहीं है, इस बातको "न" इत्यादिसे दिखलाते हैं।

( १ ) निश्चय ( २ ) अशरीर। ( ३ ) विषयोंसे उत्पन्न होने वाला।

भाष्य

( क० १।२।२१ ) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' ( मु० २।१।२ ) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' ( बृ० ४।३।१५ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अत एव अनुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम् । तत्र किंचित्परिणामिनित्यं यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते ।

भाष्यका अनुवाद

शोक नहीं करता ) 'अप्राणो०' ( प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध ) 'असंगो हि०' ( यह पुरुष सङ्गरहित है ) इत्यादि श्रुतियोंसे यह स्थिति स्वाभाविक ज्ञात होती है । इसी कारण अनुष्ठेय कर्मके फलसे विलक्षण मोक्षसंज्ञक शरीररहित स्थिति नित्य है यह बात सिद्ध है । ( नित्य भी दो प्रकारका होता है परिणामी नित्य और पारमार्थिक नित्य) परिणामी नित्य वह कहलाता है, जिसके विकृत होनेपर भी 'वही यह है' ऐसी बुद्धिका नाश नहीं होता, जैसे कि जगत् नित्य है

---

रत्नप्रभा

अनेकेषु अनित्येषु एकं नित्यम् अवस्थितं महान्तं व्यापिनम् । आपेक्षिकमहत्त्वं वारयति---**विभुमिति** । तमात्मानं ज्ञात्वा धीरः सन् शोकोपलक्षितं संसारं न अनुभवति इत्यर्थः । सूक्ष्मदेहाभावे श्रुतिमाह---**अप्राण इति** । प्राणमनसोः क्रियाज्ञानशक्त्योः निषेधात्, तदधीनानां कर्मज्ञानेन्द्रियाणां निषेधो हि यतः अतः शुद्ध इत्यर्थः । देहद्वयाभावे श्रुतिः----"असङ्गो हि" ( बृ० ४ । ३ । १५ ) इति, निर्देहात्मस्वरूपमोक्षस्य अनादिभावत्वे सिद्धे फलितमाह---**अत एवेति** । नित्यत्वेऽपि परिणामितया धर्मकार्यत्वं मोक्षस्य इत्याशङ्क्य नित्यं द्वेधा विभजते---**तत्र किञ्चिदिति** । नित्यवस्तुमध्ये इत्यर्थः । परिणामि च तत् नित्यं च इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अशरीर—स्थूलदेहशून्य अनेक अनित्य शरीरोंमें रहनेवाला, महान्—व्यापक । अपेक्षासहित महत्त्वके निवारण करनेके लिए फिर कहते हैं—"विभुम्" । ऐसे आत्मस्वरूपको जानकर धैर्य पाकर शोकयुक्त संसारका अनुभव नहीं करता, यह अर्थ है । सूक्ष्म देहके अभावको दिखलानेके लिए श्रुतिका निर्देश करते हैं—"अप्राणः" इत्यादि से । प्राण और मनका अर्थात् क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिका निषेध करनेसे उनके अधीन कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियोंका निषेध हो गया, इसलिए शुभ्र अर्थात् शुद्ध है । दोनों देहोंके अभावमें श्रुतिका प्रमाण देते हैं—"असङ्गः" इत्यादि । देहरहित आत्मस्वरूप ही मोक्ष है, उसकी अनादिता सिद्ध होनेपर फलितार्थ कहते हैं—"अत एव" इत्यादिसे । मोक्ष नित्य होनेपर भी परिणामी होनेके कारण धर्मकार्य है ऐसी शङ्का करके नित्यके दो भेद दिखलाते हैं—"तत्र किञ्चित्" इत्यादिसे । 'उसमें' अर्थात् नित्य

भाष्य

यथा पृथिव्यादि जगन्नित्यत्ववादिनाम्, यथा च सांख्यानां गुणाः। इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं

भाष्यका अनुवाद

ऐसा कहनेवालोंके मतमें पृथिवी आदि, और जैसे कि सांख्योंके मतमें गुण। परन्तु यह वास्तविक कूटस्थ[1] नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब विक्रियाओंसे रहित, नित्यतृप्त, निरवयव एवं स्वयंप्रकाशस्वभाव[2] है, जहाँ

रत्नप्रभा

परिणामिनित्यम्, आत्मा तु कूटस्थनित्य इति न कर्मसाध्य इत्याह--**इदं त्विति**। परिणामिनो नित्यत्वं प्रत्यभिज्ञाकल्पितं मिथ्यैव, कूटस्थस्य तु नाशकाभावात् नित्यत्वं पारमार्थिकम्। कूटस्थत्वसिद्ध्यर्थं परिस्पन्दाभावमाह--**व्योमवदिति**। परिणामाभावमाह--**सर्वविक्रियारहितमिति**। फलानपेक्षित्वात् न फलार्थापि क्रिया इत्याह--**नित्यतृप्तमिति**। तृप्तिरनपेक्षत्वम्, विशोकं सुखं वा। निरवयत्वात् न क्रिया। तस्य भानार्थमपि न क्रिया स्वयंज्योतिष्ट्वात्। अतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

वस्तुमें। जो परिणामी[3] भी हो और नित्य भी हो वह परिणामी नित्य है। आत्मा तो कूटस्थ नित्य है अतः मोक्ष कर्मसाध्य नहीं है, ऐसा कहते हैं--"इदं तु" इत्यादिसे। परिणामी पदार्थकी नित्यता प्रत्यभिज्ञासे कल्पित होनेके कारण वस्तुतः मिथ्या है। मोक्ष कूटस्थ है, यह सिद्ध करनेके लिए परिस्पन्द (क्रिया) का अभाव कहते हैं--"व्योमवत्"। परिणामका अभाव कहते हैं--"सर्वविक्रियारहितम्"। फलकी अपेक्षा न होनेसे फलार्थ भी क्रिया नहीं हैं, ऐसा कहते हैं--"नित्यतृप्तम्"। तृप्ति अर्थात् अपेक्षाका अभाव अथवा शोकरहित सुख। निरवयव होनेसे मोक्ष क्रिया नहीं है। उसके प्रकाशके लिए भी क्रियाकी अपेक्षा नहीं है,

(१) 'कूटवत् निश्चलः सन् तिष्ठतीति कूटस्थः' निश्चल रहनेवाला।

(२) आप ही अपना प्रकाश करना जिसका स्वभाव है।

(३) 'पूर्वरूपपरित्यागे सति नानाकारप्रतिभासः परिणामः'। पूर्वरूपका परित्याग होनेपर नाना प्रकारसे दिखाई देना परिणाम है। उत्पत्ति और नाश विशिष्ट अवस्था परिणाम है। पृथिवी किसी समय तृण, वृक्ष आदि अवस्था प्राप्त करती है और तृण आदिका नाश होनेपर मृत्तिका आदिकी अवस्था प्राप्त करती है। दोनों अवस्थाओंमें पृथिवी अनुस्यूत (पोई हुई) ही है। इसलिए वह परिणामी नित्य है। इसी प्रकार सब द्रव्य परिणामी नित्य समझने चाहिएँ। सत्, रज और तम ये तीन गुण हैं। ये प्रलय कालमें साम्यात्मक प्रधान अवस्थाको प्राप्त करते हैं, सृष्टिमें गुणोंकी प्रधानताके अनुसार सुख, दुःख और मोह आदि अवस्थाओंको प्राप्त करते हैं। दोनों अवस्थाओंमें गुण अनुस्यूत ही है।

भाष्य

निरवयं स्वयंज्योतिःस्वभावम् । यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते । तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्, अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' ( क० २।१४ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता । तद्यदि कर्तव्य-

भाष्यका अनुवाद

धर्म और अधर्म अपने कार्य ( सुख-दुःख ) के साथ तीनों कालमें भी सम्बन्ध नहीं रख सकते । वह 'अन्यत्र धर्मा०' ( धर्मसे, अधर्मसे, कार्यसे, कारणसे, भूतसे, भविष्यसे, और वर्तमानसे पृथक् है ) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध शरीररहित स्थिति मोक्ष है । इसलिए कर्मफलसे विलक्षण होनेके कारण वह मोक्ष ब्रह्म है, जिसकी जिज्ञासा प्रस्तुत है । यदि वह कार्यशेष है ऐसा शास्त्रसे उपदेश

---

रत्नप्रभा

कूटस्थत्वात् न कर्मसाध्यो मोक्ष इत्युक्तम् । कर्मतत्कार्यासंगित्वात् च तथा इत्याह—**यत्रेति** । कालानवच्छिन्नत्वात् च इत्याह—**कालेति** । कालत्रयं च न उपावर्तते इति योग्यतया सम्बन्धनीयम् । धर्माद्यनवच्छेदे मानमाह—**अन्यत्रेति** । अन्यदित्यर्थः । कृतात् कार्यात् । अकृतात् च कारणात् । भूतात्, भव्याच्च । चकारात् वर्तमानात् च । अन्यद् यत् पश्यसि तत् वद इत्यर्थः । ननूक्ताः श्रुतयो ब्रह्मणः कूटस्थासङ्गित्वं वदन्तु मोक्षस्य नियोगफलत्वं किं न स्यात् इति तत्राह—**अत इति** । तत् कैवल्यं ब्रह्मैव, कर्मफलविलक्षणत्वात् इत्यर्थः । ब्रह्माभेदाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है । इससे अर्थात् कूटस्थ होनेसे मोक्ष कर्मसाध्य नहीं है, ऐसा पहले कहा गया है । कर्म और कर्मके फलका संग न होनेसे भी मोक्ष कर्मसाध्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"यत्र" इत्यादिसे । कालसे अवच्छिन्न नहीं है, इसलिए भी कर्मसाध्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"काल" इत्यादिसे । 'धर्माधर्मौ नोपावर्तेते' ऐसा अन्वय लगाकर 'कालत्रयं च नोपावर्तते' ऐसा अन्वय करना चाहिए, क्योंकि 'कालत्रयम्' यह एकवचनान्त शब्द है। धर्म आदिसे अवच्छिन्न नहीं है, इसमें प्रमाण देते हैं—"अन्यत्र" इत्यादिसे । 'अन्यत्र'—अन्यत्, दूसरा । कृत—कार्य । अकृत—कारण । भूत—गत काल । भव्य—भविष्यत् काल । 'च' कारसे वर्तमान काल समझना चाहिए । इन सबसे विलक्षण जिसे देखते हो, उसे कहो ऐसा तात्पर्य है । उक्त श्रुतियां भले ही कहें कि ब्रह्म कूटस्थ और असङ्ग है, परन्तु मोक्ष कर्मफल क्यों न हो, इस शङ्कापर कहते हैं—"अतः" इत्यादि । 'वह' अर्थात् कैवल्य—मोक्ष ब्रह्म ही है, कर्मफलसे विलक्षण होनेसे, ऐसा अर्थ है । मोक्ष ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, इसलिए

भाष्य

शेषत्वेनोपदिश्येत तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत। नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभि-

भाष्यका अनुवाद

हो और मोक्ष कार्यसाध्य है ऐसा अंगीकार किया जाय तो वह अनित्य ही होगा। मोक्षमें अनित्यता सिद्ध होनेपर न्यूनाधिक भावसे स्थित यथोक्त अनित्य कर्मफलोंमें ही कुछ अतिशय मोक्ष है ऐसा मानना पड़ेगा। परन्

रत्नप्रभा

मोक्षस्य कूटस्थत्वं धर्माद्यसङ्गित्वं च इति भावः। यद्वा, यद् जिज्ञास्यं तद् ब्रह्म अतः पृथक् जिज्ञास्यत्वात् धर्माद्यसंस्पृष्टमित्यर्थः। अतश्शब्दाभावपाठेऽपि अय मेव अर्थः। ब्रह्मणो विधिस्पर्शे शास्त्रपृथक्त्वं न स्यात्, कार्यविलक्षणानधिगत विषयालाभात्। नहि ब्रह्मात्मैक्यं भेदप्रमाणे जाग्रति विधिपरवाक्यात् लब्धुं शक्यम् न वा तद्विना विधेरनुपपत्तिः, योषिदग्न्यैक्योपास्तिविधिदर्शनात् इति भावः अथवा मोक्षस्य नियोगासाध्यत्वे फलितं सूत्रार्थमाह—अत इति। यदत्र जिज्ञास्य ब्रह्म तत् स्वतन्त्रमेव वेदान्तैरुपदिश्यते, समन्वयादित्यर्थः। विपक्षे दण्ड पातयति---तद्यदीति। तत्रैवं सतीति। मोक्षे साध्यत्वेन अनित्ये सति इत्यर्थः

रत्नप्रभाका अनुवाद

कूटस्थ और धर्म आदिके संगसे रहित है ऐसा समझना चाहिए। अथवा इस प्रक भाष्यकी योजना करनी चाहिए—जो जिज्ञास्य है वह ब्रह्म है, अतः—ब्रह्मजिज्ञासा पृथ कही गई है, इसलिए ब्रह्म धर्म आदिके स्पर्शसे रहित है। यदि भाष्यमें 'अतः' शब्द पाठ न हो, तो भी उस वाक्यका यही अर्थ समझना चाहिए। आशय यह है कि य ब्रह्मका क्रियासे संसर्ग होता तो उत्तरमीमांसा शास्त्र पूर्वमीमांसासे पृथक् न हो क्योंकि तब उत्तरमीमांसा द्वारा क्रियासे विलक्षण कोई अज्ञात विषय प्रतीत ही न होत भेद-प्रमाणके रहते हुए विधिपरक वाक्यसे ब्रह्मात्मैक्यरूप विषय प्राप्त नहीं सकता है। वास्तव ऐक्यके विना विधिकी अनुपपत्ति तो नहीं हो सकती, क्योंकि वास्त ऐक्य न रहनेपर भी आरोपित ऐक्यसे उपासना द्वारा विधिकी उपपत्ति हो सकती है, यह व योषित् और अग्निके ऐक्यकी उपासनामें देखी गई है। अथवा मोक्षके कर्मसे जन्य न हों कारण सूत्रका जो फलितार्थ होता है, उसे "अतः" इत्यादिसे कहते हैं। तात्पर्य यह है वेदान्तशास्त्रमें जिसकी जिज्ञासा होती है, वह ब्रह्म स्वतन्त्र ही वेदान्त वाक्योंसे उपदिष्ट है है, क्योंकि उन वाक्योंका समन्वय ब्रह्ममें ही है। विपरीत पक्ष स्वीकार करनेमें द दिखाते हैं—"तद्यदि" इत्यादिसे। "तत्रैवं सति" मोक्षके साध्य होनेसे अनित्य होनेप

भाष्य

रभ्युपगम्यते, अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः। अपि च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ( मु० ३।२।९ ), 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मु० २।२।८ ), 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चन' ( तै० २।९ ), 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' ( बृ० ४।२।४ ),

भाष्यका अनुवाद

सब मोक्षवादी अंगीकार करते हैं कि मोक्ष नित्य है। इस कारण कार्यके अङ्गरूपसे ब्रह्मका उपदेश करना संगत नहीं होता। और 'ब्रह्म वेद०' ( जो ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है ) क्षीयन्ते चास्य०' (पर—सम्पूर्ण देवताओंकी अपेक्षा उत्कृष्ट हिरण्यगर्भ आदि भी जिससे अवर—निकृष्ट हैं, उसको देखनेपर अथवा कारण और कार्यके अधिष्ठानरूप ब्रह्मको देखनेपर द्रष्टाके प्रारब्धेतर संचित और आगामी सब कर्म नष्ट हो जाते हैं) 'आनन्दं०' (ब्रह्मके स्वरूप आनन्दको जाननेवाला किसीसे भय नहीं करता ), 'अभयं०' ( हे जनक ! तू अभय—

रत्नप्रभा

अत इति। मुक्तेर्नियोगासाध्यत्वेन नियोज्यालाभात् कर्तव्यनियोगाभावात् इत्यर्थः। प्रदीपात् तमोनिवृत्तिवत् ज्ञानात् अज्ञाननिवृत्तिरूपमोक्षस्य दृष्टफलत्वात् च न नियोगसाध्यत्वम् इत्याह—अपि चेति। यो 'ब्रह्म अहम्' इति वेद, स ब्रह्मैव भवति। परं कारणम्, अवरं कार्यम्, तद्रूपे तदधिष्ठाने तस्मिन् दृष्टे सति अस्य द्रष्टुः अनारब्धफलानि कर्माणि नश्यन्ति। ब्रह्मणः स्वरूपमानन्दं विद्वान् निर्भयो भवति, द्वितीयाभावात्। 'अभयं ब्रह्म प्राप्तोऽसि' अज्ञानहानात्। तत् जीवाख्यं ब्रह्म गुरूपदेशात् आत्मानमेव अहं ब्रह्मास्मि इति अवेद् विदितवत्। तस्मात् वेदनाद् ब्रह्म पूर्णमभवत्, परिच्छेदभ्रान्तिहानादेकत्वम्, "अहं ब्रह्म" इत्यनुभवतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अतः" अर्थात् मुक्ति नियोग (अपूर्व) जन्य नहीं है, इसलिए नियोज्य पुरुषका लाभ नहीं होता, और नियोज्यके न होनेसे कर्तव्य नियोग ही न रहेगा। प्रदीपसे अन्धकारकी निवृत्तिकी तरह ज्ञानसे अज्ञाननिवृत्तिरूप मोक्ष दृष्टफल है, इसलिए मुक्ति नियोगसाध्य नहीं है ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। जो 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समझता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। पर—कारण, अवर—कार्य, तद्रूप—उनके अधिष्ठान आत्माका साक्षात्कार होनेपर द्रष्टाके अनारब्धफल ( जिनके फलका आरम्भ नहीं हुआ है ) कर्म नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मके स्वरूप आनन्दको जाननेवाला द्वितीय पदार्थ न होनेके कारण भयरहित होता है। अज्ञानका नाश होनेसे अभय—ब्रह्मको प्राप्त हुए हो। उस जीवसंज्ञक ब्रह्मने ब्रह्मवेत्ता गुरुके उपदेशसे अपनेको 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार जाना। उस ज्ञानसे वह ब्रह्म पूर्ण हुआ। जीव ब्रह्मसे भिन्न है इस भ्रमका नाश

भाष्य

'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति' 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (बृ० १।४।१०), 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। तथा 'तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १।४।१०) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणाय

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मको प्राप्त हुआ है ) 'तदात्मानमेव०' (अज्ञान के नाश होने के कारण जीवसंज्ञक ब्रह्मने गुरुके उपदेशसे अपनेको ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाना) 'तस्मात्०' (उस ज्ञानसे वह पूर्ण हुआ) 'तत्र को मोहः०' (एकत्वके अनुभवसे विद्वान्को अनुभव समयमें शोक और मोह नहीं होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञानके अनन्तर मोक्ष दिखलाती हुई ब्रह्मज्ञान और मोक्षके मध्यमें कार्यान्तरका वारण करती हैं। इसी प्रकार 'तद्धैतत्०' ( वह ब्रह्म मैं (प्रत्यगात्मा) हूँ, ऐसा ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञानसे वामदेव मुनीन्द्र शुद्ध ब्रह्म हुए, उन्होंने मैं मनु हूँ, मैं सूर्य हूँ ऐसा देखा ) इस श्रुतिको ब्रह्मदर्शन और सर्वात्मभावके मध्यमें कार्यान्तरका प्रतिषेध करनेके लिए उदाहरण रूपसे कहना

---

रत्नप्रभा

तत्र अनुभवकाले मोहशोकौ न स्त इति श्रुतीनामर्थः। तासां तात्पर्यमाह—ब्रह्मेति। विद्यातत्फलयोर्मध्ये इत्यर्थः। मोक्षस्य विधिफलत्वे स्वर्गादिवत् कालान्तरभावित्वं स्यात्। तथा च श्रुतिबाध इति भावः। इतश्च मोक्षो वैधो न इत्याह—तथेति। तद् ब्रह्म एतत् प्रत्यगस्मि इति पश्यन् तस्मात् ज्ञानाद् वामदेवो मुनीन्द्रः शुद्धं ब्रह्म प्रतिपेदे ह तत्र ज्ञाने तिष्ठन् दृष्टवान् आत्ममन्त्रान् स्वस्य सर्वात्मत्वप्रकाशकान् 'अहं मनुः'—इत्यादीन् ददर्श इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे ऐक्यज्ञान होता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभवसे अनुभव करनेवालेको अनुभव कालमें मोह और शोक नहीं होते। ऐसा श्रुतियोंका अर्थ है। "ब्रह्म" इत्यादिसे उन श्रुतियोंका तात्पर्य कहते हैं। 'मध्ये' का अर्थ ब्रह्मज्ञान और उसके फलके बीचमें, ऐसा समझना चाहिए। यदि मोक्ष विधिका फल हो तो स्वर्ग आदिके समान कालान्तरमें होनेवाला हो, और यदि ऐसा मानें, तो श्रुति बाधित हो जायगी। और इस दूसरे कारणसे भी मोक्ष विधिकार्य नहीं है ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि "ब्रह्म मैं हूँ" ऐसा ज्ञान प्राप्त कर वामदेव मुनीन्द्र शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हुए, उस ज्ञानमें स्थित होकर उन्होंने अपनी सर्वात्मताके प्रकाशक 'अहं मनुः' 'अहं सूर्यः' इत्यादि मन्त्रोंको देखा। यद्यपि 'तिष्ठन् गायति'

भाष्य

उदाहार्यम् । यथा तिष्ठन् गायतीति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते । 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं

भाष्यका अनुवाद

चाहिए। जैसे कि 'खड़ा होकर गाता है' इसमें खड़े होने और गानेकी क्रियाके बीचमें उस कर्ताका कार्यान्तर नहीं है ऐसा मालूम होता है। 'त्वं हि नः पिता०' ( आप हमारे पिता हैं जो आप हमको अविद्यारूप महासागरके

रत्नप्रभा

यद्यपि स्थितिर्गानक्रियाया लक्षणम्, ब्रह्मदर्शनं तु ब्रह्मप्रतिपत्तिक्रियाया हेतुः इति वैषम्यमस्ति, तथापि "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" ( पा० सू० ३।२।१२६ ) इति सूत्रेण क्रियां प्रति लक्षणहेत्वोः अर्थयोः वर्तमानात् धातोः परस्य लटः शतृ-शानचौ आदेशौ भवत इति विहितशतृप्रत्ययसामर्थ्यात् तिष्ठन् गायति इत्युक्ते तत्कर्तृकं कार्यान्तरं मध्ये न भातीत्येतावता पश्यन् प्रतिपेदे इत्यस्य दृष्टान्तमाह— **यथेति** । किञ्च, ज्ञानात् अज्ञाननिवृत्तिः श्रूयते, ज्ञानस्य विधेयत्वे कर्मत्वात् अविद्यानिवर्तकत्वं न युक्तम्, अतो बोधका एव वेदान्ता न विधायका इत्याह— **त्वं हीति** । भारद्वाजादयः षड् ऋषयः पिप्पलादं गुरुं पादयोः प्रणम्य ऊचिरे— त्वं खलु अस्माकं पिता यस्त्वम् अविद्यामहोदधेः परं पुनरावृत्तिशून्यं पारं ब्रह्म

रत्नप्रभाका अनुवाद

( खड़ा होकर गाता है ) इसमें 'खड़ा होना' गान क्रियाका लक्षण है और ब्रह्मदर्शन ब्रह्मप्राप्ति-रूप क्रियाका कारण है, इस प्रकार दृष्टान्त ( तिष्ठन् गायति ) और दार्ष्टान्तिक[1] ( पश्यन् प्रतिपेदे ) में वैषम्य[2] है, तो भी 'लक्षण०' इस सूत्रके अनुसार क्रियाका लक्षण और हेतुके अर्थमें वर्तमान धातुसे पीछे लट्‌के स्थानपर शतृ और शानच् आदेश होते हैं, इस शतृ प्रत्ययकी सामर्थ्यसे 'तिष्ठन् गायति' ऐसा कहा अर्थात् यही कर्ताका कार्यान्तर[3], स्थिति और गान, इन दो क्रियाओंके बीचमें नहीं है, इतनेसे ही 'पश्यन् प्रतिपेदे' इसका दृष्टान्त होता है, ऐसा कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। और ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति श्रुति प्रतिपादित है, ज्ञानको यदि विधेय मानें तो वह कर्म हो जायगा, और कर्मसे और अज्ञानसे विरोध न होनेके कारण वह अविद्याकी निवृत्ति करनेवाला नहीं हो सकता, इसलिए वेदान्त बोधक[4] ही हैं, विधायक नहीं हैं ऐसा कहते हैं—"त्वं हि" इत्यादिसे। भारद्वाज आदि छः ऋषियोंने पिप्पलाद गुरुके चरणोंमें नमस्कार करके कहा—'वस्तुतः आप हमारे पिता हैं आप अविद्यारूप

(१) जिसके लिए दृष्टान्त दिया जाय वह दार्ष्टान्तिक। (२) भेद, विषमता। (३) दूसरा कार्य। (४) वेदान्तवाक्य ब्रह्मका बोध कराते हैं, विधान नहीं करते।

भाष्य

तारयसि' ( प्र० ६।८ ) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्म-विदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' ( छा० ७।१।३ ) 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' ( छा० ७ । २६ । २ ) इति चैवमाद्याः श्रुतयो

भाष्यका अनुवाद

पर पार पहुँचाते हैं ) 'श्रुतं ह्येव०' ( आत्माको जाननेवाला शोकसे तर जाता है, ऐसा मैंने भगवत्तुल्य पुरुषोंसे केवल सुना है, (देखा नहीं अर्थात् मुझे अनुभव नहीं है ) हे भगवन् ! वह मैं शोक करता हूँ । शोक करते हुए मुझको भगवान् ज्ञानरूपी नावसे शोकसागरके पार उतार दीजिए ) 'तस्मै मृदित०' (भगवान् सनत्कुमारने उस दग्धपाप नारदको अज्ञानसे परे अर्थात् ब्रह्म दिखलाया) इत्यादि

---

रत्नप्रभा

विद्याप्लवेन अस्मान् तारयसि प्रापयसि, ज्ञानेन अज्ञानं नाशयसि इति यावत् । प्रश्नवाक्यम् उक्त्वा छान्दोग्यमाह—श्रुतमिति । अत्र तारयतु इत्यन्तम् उपक्रमस्थम्, शेषम् उपसंहारस्थमिति भेदः । आत्मवित् शोकं तरति इति 'भगवत्तुल्येभ्यो मया श्रुतमेव हि न दृष्टम्, सोऽहमज्ञत्वात् हे भगवः शोचामि, तं शोचन्तं मां भगवानेव ज्ञानप्लवेन शोकसागरस्य परं पारं प्रापयतु इति नारदेन उक्तः सनत्कुमारस्तस्मै तपसा दग्धकिल्बिषाय नारदाय तमसः शोकनिदानाज्ञानस्य ज्ञानेन निवृत्तिरूपं परं पारं ब्रह्म दर्शितवानित्यर्थः । 'एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति' इति वाक्यम् आदिशब्दार्थः । एवं श्रुतेस्तत्त्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

महासागरसे पर पार आवागमन रहित ब्रह्मको विद्यारूपी नावसे हमें प्राप्त कराओगे अर्थात् आप ज्ञानके उपदेशसे हमारे अज्ञानका नाश करोगे' । प्रश्नोपनिषद्का वाक्य कहकर छान्दोग्यका वाक्य कहते हैं—"श्रुतम्" इत्यादि । इसमें 'तारयतु' पर्यन्त उपक्रम वाक्य है और शेष उपसंहार वाक्य है, यह भेद है । नारदने सनत्कुमारसे कहा—मैंने आप सरीखे ज्ञानियोंसे सुना है कि आत्मज्ञ शोकको पार कर जाता है, परन्तु देखा नहीं है, मैं अज्ञ हूँ, इसलिए हे भगवन् ! शोच करता हूँ, शोक करते हुए मुझको आप ज्ञानरूपी नाव द्वारा शोक सागरसे पार ले जाइये । तब सनत्कुमारने तपसे निष्पाप हुए नारदको शोकके मूलकारणभूत अज्ञानका ज्ञानसे निवृत्तिरूप परपार अर्थात् ब्रह्म दर्शाया । 'एतद्यो०' ( जो इस गुहामें स्थित—गुप्त ब्रह्मको जानता है, वह अविद्याकी गाँठको तोड़ता है ) यह वाक्य 'आदि शब्द' का अर्थ है । इस प्रकार श्रुतिसे तत्त्वज्ञान मुक्तिका हेतु है, कर्म नहीं ऐसा कहा है । इसमें गौतम

भाष्य

मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति। तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' [ न्या० सू० १ । १ । २ ] इति।

भाष्यका अनुवाद

श्रुतियाँ दिखलाती हैं कि मोक्षके प्रतिबन्धकी निवृत्ति ही आत्मज्ञानका फल है। इसी प्रकार न्यायसे पुष्ट हुआ आचार्य ( गौतम ) रचित सूत्र है—'दुःखजन्म०' ( दुःख, जन्म, प्रवृत्ति–धर्म और अधर्म, दोष एवं मिथ्याज्ञान, इनमें कारणरूप उत्तरोत्तरका नाश होनेसे उसके पूर्व पूर्व कार्यका नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है)

---

रत्नप्रभा

प्रमा मुक्तिहेतुर्न कर्म इत्युक्तम्। तत्र अक्षपादगौतममुनिसम्मतिमाह—तथा चेति। गौरोऽहमिति मिथ्याज्ञानस्य अपाये रागद्वेषमोहादिदोषाणां नाशः, दोषापायाद् धर्माधर्मस्वरूपप्रवृत्तेरपायः, प्रवृत्त्यपायात्पुनर्देहप्राप्तिरूपजन्मापायः, एवं पाठक्रमेण उत्तरोत्तरस्य हेतुनाशात् नाशे सति तस्य प्रवृत्तिरूपहेतोः अनन्तरस्य कार्यस्य जन्मनोऽपायात् दुःखध्वंसरूपोऽपवर्गो भवति इत्यर्थः। ननु पूर्वसूत्रे "तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमः" (गौ० सू० १।१ । २) इत्युक्ते सति इतरपदार्थभिन्नात्मतत्त्वज्ञानं कथं मोक्षं साधयति इत्याकाङ्क्षायां मिथ्याज्ञाननिवृत्तिद्वारेण इति वक्तुमिदं सूत्रं प्रवृत्तम्। तथा च भिन्नात्मज्ञानात् मुक्तिं वदत्सूत्रं सम्मतं चेत् परमतानुज्ञा स्यात् इत्यत आह—मिथ्येति। तत्त्वज्ञानात् मुक्तिरित्यंशे सम्मतिः उक्ता।

रत्नप्रभाका अनुवाद

मुनिकी सम्मति कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। मैं गोरा हूँ इत्यादि मिथ्याज्ञानके नाशसे राग, द्वेष, मोह आदि दोषोंका नाश होता है। दोषोंके नाशसे धर्म और अधर्मरूप प्रवृत्तिका नाश होता है। प्रवृत्तिके नाशसे पुनः देहप्राप्तिरूप जन्मका नाश होता है। इस प्रकार पाठके क्रमसे उत्तरोत्तर स्थित कारणके नाशसे पूर्व पूर्व स्थित कार्यका नाश होनेपर प्रवृत्तिरूप कारणके नाशसे कार्यरूप जन्मका नाश होता है, उससे दुःखध्वंसरूप मोक्ष प्राप्त होता है, यह अर्थ है। यहाँ कोई शङ्का करे कि गौतम महर्षिने पूर्वसूत्रमें 'तत्त्व०' ( तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ) ऐसा कहा है, तो इतर पदार्थोंसे भिन्न आत्मतत्त्वके ज्ञानसे मोक्षकी सिद्धि किस प्रकार सिद्ध होती है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति द्वारा ऐसा कहनेके लिए यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है। यदि भिन्नात्मज्ञानसे अर्थात् भेदज्ञानसे मुक्तिका प्रतिपादन करनेवाला यह सूत्र सम्मत हो, तो परमत–गौतममतका स्वीकार हो जायगा, इस सम्बन्धमें कहते हैं—"मिथ्या" इत्यादि। तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है इतने ही अंशमें सम्मति कही

भाष्य

मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति । न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्पद्रूपम्, यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स

भाष्यका अनुवाद

और मिथ्याज्ञानका नाश तो ब्रह्म और आत्माके एकत्वज्ञानसे होता है। ब्रह्म और आत्माका यह एकत्वज्ञान संपद्रूप[1] नहीं है जैसे 'अनन्तं वै०' (मन

रत्नप्रभा

भेदज्ञानं तु "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० २।४।१४) इति श्रुत्या भ्रान्तित्वात् "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (बृ० ४।४।१९) इति श्रुत्या अनर्थहेतुत्वात् च न मुक्तिहेतुरिति भावः। ननु ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानमपि भेदज्ञानवत् न प्रमा सम्पदादिरूपत्वेन भ्रान्तित्वात् इत्यत आह—न चेदमित्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। भेदज्ञान तो 'यत्र हि०' (जहाँ द्वैतकी तरह होता है) इस श्रुतिसे भ्रान्तिरूप है, और 'मृत्योः स०' (जो यहाँ भेददृष्टि रखता है वह जन्म-मरण-परम्परामें पड़ जाता है) इस श्रुतिसे अनर्थका कारण भी है, इसलिए भेदज्ञान मुक्तिका कारण नहीं है, यह तात्पर्य है। यहाँ शङ्का होती है कि ब्रह्म और आत्माका एकत्वज्ञान भी भेदज्ञानके समान प्रमा नहीं है, क्योंकि संपदादिरूप है, इसलिए भ्रान्तिरूप है। इसके उत्तरमें कहते हैं—"न चेदम्" इत्यादि।

---

(१) अनन्त होनेके कारण अल्प मन महान् विश्वेदेवों-सा है, इसलिए मनमें विश्वेदेवोंका सम्पादन करके मनरूप आलम्बनको अविद्यमान-सा करके प्रधानरूपसे संपद्यमान विश्वेदेवोंका अनुचिन्तन करना और उससे अनन्तलोक प्राप्तिरूप फल प्राप्त करना, यह जैसे श्रुतिप्रतिपादित है, उस प्रकार चैतन्यरूप साम्यसे अल्प जीवको महान् ब्रह्मरूप संपादन करके जीवरूप आलम्बनको अविद्यमान-सा करके प्रधान-रूपसे ब्रह्मका अनुचिन्तन करना संपत् और उससे अमृतत्व प्राप्त करना फल है। यह शङ्काका तात्पर्य है। सिद्धान्तका तात्पर्य यह है कि उसको सम्पद्रूपता कर्मसम्बद्ध उपासनारूप है। कर्मसम्बद्ध उपासना 'अथ सम्पदः' इस श्रुतिके व्याख्यानके अवसरमें बृहदारण्यकभाष्यमें और उसके वार्तिकमें सम्पद्रूपसे वर्णित है। अग्निहोत्र आदि अल्प कर्मोंमें शास्त्रानुसार महान् कर्मोंकी बुद्धिसे सम्पादन, महान् कर्मके फलकी कामनासे क्रियमाण उपासना सम्पद् है। अथवा अश्वमेध आदि महान् कर्मोंको पूर्ण रीतिसे करनेमें असमर्थ पुरुष उसके अङ्गरूप साहित्यका अनुष्ठान करे, उसमें अङ्गलोपसे होनेवाले दोषके परिहारके लिए और शास्त्रानुसार फलसिद्धिके लिए उस अङ्गके आश्रयसे जो उपासना की जाती है, वह साङ्ग कर्मको फलसंपादक है, इसलिए उसे संपद् कहते हैं। इस विषयमें वार्तिक—"फलवत्कर्मणां कापि किञ्चित्सामान्यसंश्रयात्। सम्पत्तिर्महतां सम्पत् अल्पीयःकर्मसून्यते ॥ यदि वा तत्फलस्यैव किञ्चित्सामान्यवर्त्मना। सम्पादनं भवेत् सम्पदग्निहोत्रादिकर्मणि ॥ नातिभारोऽस्ति नो बुद्धेः शास्त्रं चेत्सत्वरं

## रत्नप्रभा

अल्पालम्बनतिरस्कारेण उत्कृष्टवस्त्वभेदध्यानं सम्पद्, यथा मनः स्ववृत्त्यानन्त्यात् अनन्तम्, तत उत्कृष्टा विश्वेदेवा अपि अनन्ता इत्यनन्तत्वसाम्याद् 'विश्वेदेवा एव मन' इति सम्पत्, तयाऽनन्तफलप्राप्तिर्भवति तथा चेतनत्वसाम्यात् जीवे ब्रह्माभेदः सम्पद् इति न चेत्यर्थः। आलम्बनस्य प्राधान्येन ध्यानम्, प्रतीकोपास्तिः अध्यासः। यथा ब्रह्मदृष्ट्या मनसः, आदित्यस्य वा। तथा अहं ब्रह्म

## रत्नप्रभाका अनुवाद

अल्प आलम्बनके तिरस्कारसे उत्कृष्टवस्तुके साथ अभेदज्ञान संपत् है। जैसे कि वृत्ति अनन्त होनेसे मन अनन्त है, मनसे उत्कृष्ट विश्वेदेव भी अनन्त हैं, इस प्रकार अनन्ततारूप सादृश्यसे विश्वेदेव ही मन हैं यह संपद् है और इससे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार चेतनत्वरूप सादृश्यसे जीवमें ब्रह्मका अभेद संपद् है, यह कथन ठीक नहीं है। प्रधानतासे आलंबनका ध्यान करना प्रतीकोपासना है, उसीको अध्यास कहते हैं। जैसे ब्रह्म भावनासे मनकी अथवा सूर्यकी उपासना करना अध्यास है, वैसे 'अहं ब्रह्म' यह ज्ञान

---

भवेत्। विदुषां श्रेयसोऽतोऽध्वा न क्वचित्प्रतिहन्यते।" (अधिक फलवाले अश्वमेध आदि कर्मोंका कर्मत्व आदि कुछ सादृश्यसे अग्निहोत्र आदि किसी अत्यल्प कर्ममें सम्पादन अर्थात् यथाशक्ति अग्निहोत्र आदि कर्म करते हुए 'मैं अश्वमेध आदि कर्म कर रहा हूँ' ऐसा ध्यान करना सम्पत् कहलाता है। अथवा अग्निहोत्र आदि किसी कर्मके आलम्बनसे अश्वमेध आदि कर्मोंके फलका सम्पादन करना सम्पद् है। यदि शास्त्रका तात्पर्य हो कि सम्पत्से भी अश्वमेध आदि कर्मका फल प्राप्त होता है तो 'अश्वमेध आदि कर्मका उच्च फल अत्यल्प अग्निहोत्र आदि कर्ममें सम्पत्से कैसे प्राप्त हो सकता है?' ऐसी शङ्का न करनी चाहिए, क्योंकि शास्त्र शङ्कनीय नहीं है, इसलिए उस मार्गमें विद्वानोंके कल्याणमें कोई रुकावट नहीं है अर्थात् जो ब्राह्मण आदि अश्वमेध आदि यज्ञ नहीं कर सकते हैं, वे भी संपद्से यज्ञका फल प्राप्त कर सकेंगे) इसलिए जैसे 'याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति, (बृ० ३।१।९ ) (याज्ञवल्क्यसे अश्वल नामक होताने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य! यह ऋत्विग् ब्रह्मा जो दक्षिणमें आसनपर बैठकर यज्ञका रक्षण करता है, वह कितने देवताओं द्वारा रक्षण करता है? याज्ञवल्क्यने कहा—एक देवता द्वारा। अश्वल—कौन एक देवता है? याज्ञवल्क्य मन ही वह देवता है, मनसे ही ब्रह्मा ध्यान द्वारा व्यापार करता है। [ 'तस्य यज्ञस्य मनश्च वाक् च वर्तनी तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा' ( उस यज्ञके मन और वाणी दो मार्ग हैं, उन दोनोंमें वाणीका ब्रह्मा मनसे संस्कार करता है ] इसलिए मनरूपी देवता द्वारा ब्रह्मा यज्ञका रक्षण करता है। वह मन वृत्तिभेदसे अनन्त है। 'वै' शब्द प्रसिद्धिवाचक है। उस अनन्तताके अभिमानी देव अनन्त विश्वेदेव हैं। अतः मनमें विश्वेदेवोंकी दृष्टिसे अनन्तलोककी प्राप्ति होती है ) इस वचनसे विहित उपासना सम्पद्रूप है, उसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्यज्ञान भी सम्पद्रूप है।

भाष्य

तेन लोकं जयति, ( बृ० ३ । १ । ९ ) इति । न चाध्यासरूपम्, यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' ( छा० ३ । १८ । १ ) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' ( छा० ३।१९।१ ) इति च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः । नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तम्, 'वायुर्वाव संवर्गः' 'प्राणो वाव संवर्गः'

भाष्यका अनुवाद

अनन्त है, यह प्रसिद्ध है, विश्वेदेव भी अनन्त हैं, इसलिए मनमें अनन्त विश्वेदेवोंकी दृष्टि करनेके कारण अनन्त लोक जीतता है।) इस श्रुतिके अनुसार मनमें विश्वेदेवदृष्टि सम्पद्रूप है। यह एकत्वविज्ञान अध्यास[1]रूप भी नहीं है, जैसे 'मनो०' (अन्तःकरण परब्रह्म है ऐसी उपासना करनी चाहिए) 'आदित्यो०' (आदित्य ब्रह्म है ऐसा उपदेश है) इस प्रकार मन, आदित्य आदिमें ब्रह्मदृष्टिका अध्यास है। जिसका निमित्त-कारण

रत्नप्रभा

इति ज्ञानमध्यासो, न इत्याह—**न चेति**। आदेशः उपदेशः। क्रियाविशेषो विशिष्टक्रिया तया योगो निमित्तं यस्य ध्यानस्य तत्तथा। यथा प्रलयकाले वायुः अग्न्यादीन् संवृणोति–संहरति इति संवर्गः, स्वापकाले प्राणो वागादीन् संहरति इति संहारक्रियायोगात् संवर्ग इति ध्यानं छान्दोग्ये विहितम्, तथा बृद्धिक्रियायोगात् जीवो ब्रह्मेति ज्ञानमिति नेत्याह—**नापीति**। यथा "पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति" इति उपांशुयागाद्यङ्गस्य आज्यस्य संस्कारकमवेक्षणं विहितम्, तथा कर्मणि कर्तृत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

अध्यास नहीं है, इस बातको "न च" इत्यादिसे कहते हैं। आदेश–उपदेश। क्रियाविशेष—एक प्रकारकी क्रिया, उक्त क्रियाका सम्बन्ध जिस ध्यानका निमित्तकारण है, वह विशिष्ट-क्रियायोगनिमित्त कहलाता है। जैसे प्रलयकालमें वायु अग्नि आदि देवताओंका उपसंहार करता है, और सुषुप्तिसमयमें प्राण, वाक् आदि इन्द्रियोंका उपसंहार करता है, अतः संहाररूप क्रियाके योगसे वायु देवताओंका और प्राण वाक् आदि इन्द्रियोंका संवर्ग कहलाता है। जैसे इस प्रकारके ध्यानका छान्दोग्यमें विधान किया गया है, वैसे ही बृद्धिरूप क्रियाके योगसे 'जीव ब्रह्म है' यह ज्ञान विशिष्टक्रियायोगजन्य है, इसका "नापि" इत्यादिसे निवारण करते हैं। वादी कहता है कि जैसे 'पत्न्यवे०' (पत्नीको घृतका ईक्षण करना चाहिए) इस वाक्यसे पत्नीका ईक्षण उपांशुयागके

(१) 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' जिसमें वह न हो, उसमें वह है ऐसी बुद्धि अध्यास है। सम्पद्में सम्पद्यमान पदार्थका चिन्तन मुख्य है और अध्यासमें आलम्बनका चिन्तन मुख्य है। 'आरोप्यप्रधाना सम्पत्, अधिष्ठानप्रधानोऽध्यासः'। जैसे आदित्य आदिमें ब्रह्मबुद्धिका आरोप किया जाता है, उसी प्रकार जीवमें ब्रह्मका आरोप होता है। इस प्रकार 'अहं ब्रह्म' यह ऐक्य-ज्ञान अध्यासरूप है।

भाष्य

( छा० ४।३।१ ) इतिवत् । नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्कार-रूपम्, संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि'

भाष्यका अनुवाद

विशिष्टक्रियायोग हो, जैसे कि 'वायुर्वाव संवर्गः' ( वायु ही संवर्ग है ) 'प्राणो वाव०' ( प्राण ही संवर्ग है । इसी प्रकार आज्यका अवेक्षण आदि कर्मोंके समान जो आत्मा कर्ममें अङ्ग है, उसका संस्काररूप भी आत्मज्ञान नहीं है, क्योंकि ब्रह्म और आत्माके एकत्वविज्ञानको सम्पदादिरूप मानें तो

रत्नप्रभा

अङ्गस्य आत्मनः संस्कारार्थं ब्रह्मज्ञानं, न इत्याह—**नाप्याज्येति** । प्रतिज्ञाचतुष्टये हेतुमाह—**सम्पदादीति** । उपक्रमादिलिङ्गैर्ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुनि प्रमितिहेतुर्यः

रत्नप्रभाका अनुवाद

अङ्गभूत आज्यका संस्कारक होता है, उसी प्रकार कर्ममें कर्तारूपसे अङ्गभूत आत्माके संस्कारके लिए ब्रह्मज्ञान विहित[2] है । इस कथनका निराकरण करते हैं—"नाप्याज्य" इत्यादिसे । ब्रह्म और आत्मा एक हैं, यह विज्ञान संपद्, अध्यास, विशिष्ट क्रियायोगनिमित्त अथवा कर्माङ्ग संस्कार नहीं है, ऐसी जो प्रतिज्ञा की है, उसका कारण कहते हैं—"सम्पदादि" इत्यादिसे ।

---

( १ ) 'वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ... ... ... ... ... ... ... ... ... ...संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' ( छा० ४।३।१–४ )

अग्नि आदि देवताओंको वायु संवर्जन—संहरण अथवा संग्रसन करता है अर्थात् आत्मभावमें लाता है, इसलिए वायु संवर्ग कहलाता है । जब अग्नि शान्त होती है, जब सूर्य अस्त होता है, जब चन्द्र अस्त होता है, जब जल सूख जाता है, तब सब वायुके स्वरूपको प्राप्त करते हैं अर्थात् वायुमें लीन हो जाते हैं, इस प्रकार अग्नि आदि बलवान् देवोंका वायु संवरण करता है इसलिए वायु संवर्ग गुणवाला है । यह अधिदैवत—देवताओंमें संवर्ग दर्शन कहा गया । अब अध्यात्म-संवर्ग दर्शन कहते हैं । प्राण संवर्ग है । जब पुरुष सोता है तब वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन प्राणस्वरूप हो जाते हैं । वाणी आदि सबका संवरण करनेके कारण प्राण संवर्ग है । प्रलयकालमें अग्नि आदि निवृत्त हो जाते हैं, तो भी वायु विद्यमान रहता है और स्वापकालमें वाणी आदि निवृत्त हो जाते हैं, तो भी प्राण विद्यमान रहता है । इसलिए 'वृजी वर्जने' इस धातुसे निष्पन्न हुआ वर्जन—संहरण क्रियाका कर्ता होनेसे संवर्ग कहलाता है । इसी प्रकार जीव और ब्रह्मका बृंहण क्रियाके योगसे जो ऐक्यज्ञान है, वह विशिष्ट क्रियायोगसे जन्य ध्यान है । इस रूपसे जीवमें ब्रह्मदृष्टि अमृतत्वरूप फल देनेमें समर्थ होती है ।

(२) जैसे श्रुतिप्रतिपादित अवेक्षण उपांशुयागके अङ्गभूत आज्यका संस्कारक—गुणाधायक होता है, उसी प्रकार कर्ता रूपसे अङ्गभूत आत्मामें 'द्रष्टव्यः' आदि वाक्योंसे दर्शनको गुणाधायक कहा है, इसलिए ऐक्यज्ञान कर्मके अङ्गभूत आत्माका संस्काररूप है ।

भाष्य

( छा० ६।८।७ ) 'अहं ब्रह्मास्मि' ( बृ० १।४।१० ) 'अयमात्मा ब्रह्म' ( बृ० २।५।१९ ) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' ( मुं० २।२।८ ) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन्। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ( मु० ३।२।९ ) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन्। तस्मान्न सम्पदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्। अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या।

भाष्यका अनुवाद

'तत्त्वमसि' ( वह तू है ) 'अहं ब्रह्मास्मि' ( मैं ब्रह्म हूँ ) 'अयमात्मा ब्रह्म' ( यह आत्मा ब्रह्म है ) इत्यादि वाक्य जिनका तात्पर्य ब्रह्म और आत्माकी एकताका प्रतिपादन करना है, उनके पदोंका अन्वय बाधित होगा। 'भिद्यते०' (हृदयकी रागादि ग्रन्थियां टूट जाती हैं और सब संशय दूर हो जाते हैं) इत्यादि अज्ञाननिवृत्तिरूप फलके बोधक वाक्योंका बाध हो जायगा। 'ब्रह्म वेद०' ( जो ब्रह्मको जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है ) ऐसे वाक्य जो आत्माका ब्रह्मभाव प्रतिपादन करते हैं, वे संपदादिपक्षोंमें उपपन्न नहीं होते हैं, इसलिए ब्रह्म और आत्माका एकत्व विज्ञान संपदादिरूप नहीं है। इस कारण ब्रह्मात्मविद्या

रत्नप्रभा

समानाधिकरणवाक्यानां पदनिष्ठः समन्वयः—तात्पर्यं निश्चितम्, तत् पीड्येत। किञ्च, एकत्वज्ञानाद् आज्ञानिकस्य हृदयस्य अन्तःकरणस्य यो रागादिग्रन्थिः चिन्मनस्तादात्म्यरूपाहङ्कारग्रन्थिर्वा नश्यति इत्यज्ञाननिवृत्तिफलवाक्यबाधः स्यात्, सम्पदादिज्ञानस्य अप्रमात्वेन अज्ञानानिवर्तकत्वात्। किञ्च, जीवस्य ब्रह्मत्वसम्पदा कथं तद्भावः। पूर्वरूपे स्थिते नष्टे वा अन्यस्य अन्यात्मतायोगात्। तस्मात् न सम्पदादिरूप-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपक्रम आदि लिङ्गोंसे ब्रह्म और आत्माकी एकताके यथार्थज्ञानमें कारणभूत जो समानाधिकरण ( 'तत्त्वम्' 'अहं ब्रह्म' इत्यादि ) वाक्योंके पदोंका समन्वय—तात्पर्यनिश्चय है, उसका बाध हो जायगा। और एकत्वके ज्ञानसे अज्ञानी पुरुषके अन्तःकरणकी जो राग आदि ग्रन्थियाँ हैं अथवा चैतन्यकी और मनकी जो तादात्म्यरूप अहङ्कारग्रन्थि है, उसका नाश हो जाता है अर्थात् अज्ञाननिवृत्तिरूप फल होता है इन फलबोधक वाक्योंका बाध हो जायगा; क्योंकि सम्पदादिज्ञान यथार्थ न होनेसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं कर सकेंगे। और जीवमें ब्रह्म भावनासे ब्रह्मभाव किस प्रकार प्राप्त होगा? वस्तुका पूर्वरूप रहे अथवा नष्ट हो जाय तो वह वस्तु अन्य वस्तुका रूप प्राप्त नहीं कर सकती है। इसलिए एकत्वविज्ञान

(१) यद्यपि समानाधिकरण पदनिष्ठ है, तथापि 'अग्निर्माणवकः' के समान यहाँ उपचारसे वाक्यमें कहा गया है।

भाष्य

किं तर्हि ? प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा । एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिद् युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम् । न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः, 'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि' ( के० १।३ ) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' ( बृ० २।४।१३ )

भाष्यका अनुवाद

पुरुषव्यापारके अधीन नहीं है । किन्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके विषय वस्तुज्ञानके समान वस्तुके ही अधीन है । ऐसे ब्रह्म और उसके ज्ञानका किसी भी युक्तिसे कार्यके साथ सम्बन्धकी कल्पना नहीं की जा सकती । 'विदि' ( जानना ) क्रियाके कर्मरूपसे भी कार्यके साथ ब्रह्मका संबन्ध नहीं है, क्योंकि 'अन्यदेव०' ( वह जाने हुएसे अन्य और न जाने हुएसे भी अन्य है ) और 'येनेदं०' ( जिस आत्मासे इस सारे प्रपञ्चको लोक जानते हैं, उसको किस साधनसे जानें ) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म विदि-क्रियाका का कर्म नहीं है ऐसा प्रतिपादन किया

रत्नप्रभा

मित्यर्थः । सम्पदादिरूपत्वाभावे फलितमाह—**अत इति** । प्रमात्वात् न कृतिसाध्या । किं तर्हि नित्यैव ? न, प्रमाणसाध्या इत्यर्थः । उक्तरीत्या सिद्धब्रह्मरूपमोक्षस्य कार्यसाध्यत्वं तज्ज्ञानस्य नियोगविषयत्वं च कल्पयितुमशक्यं कृत्यसाध्यत्वात् इत्याह—**एवम्भूतस्येति** । ननु ब्रह्म कार्याङ्गम्, कारकत्वात्, पत्न्यवेक्षणकर्मकारकाज्यवत् इति चेत्, किं ज्ञाने ब्रह्मणः कर्मकारकत्वम्, उत उपासनायाम् ? न आद्य इत्याह—**न चेति** । शाब्दज्ञानं विदिक्रियाशब्दार्थः । विदितं कार्यम्, अविदितं कारणम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

संपदादिरूप नहीं है । सम्पदादिरूप नहीं है इससे फलित कहते हैं—"अतः" इत्यादिसे । ब्रह्मविद्या प्रमा है, इससे वह कार्यसाध्य नहीं है । तब क्या नित्य है ? नहीं, प्रमाण-साध्य है । उक्त रीतिसे सिद्ध ब्रह्मरूप मोक्ष कार्यसाध्य है अथवा उसका ज्ञान विधिका विषय है ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह कृतिसे साध्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"एवंभूतस्य" इत्यादिसे । यहाँ कोई शंका करे कि ब्रह्म कार्यका अंग है, क्योंकि कारक है, पत्नी की ईक्षणक्रियाके कर्म-कारक आज्यके समान, इस अनुमानसे सिद्ध होता है कि ब्रह्म कार्यका अंग है । यह शंका ठीक नहीं है । शंका करनेवालेसे पूछना चाहिए कि ब्रह्म ज्ञानक्रियाका कर्म-कारक है अथवा उपासना क्रियाका ? प्रथम पक्षका अनौचित्य "न च" इत्यादिसे दिखलाते हैं । शब्दज्ञान—शाब्दजन्यज्ञान 'विदिक्रिया' शब्दका अर्थ है । 'अन्यदेव' श्रुतिका अर्थ है विदित—कार्य, अविदित—कारण, उन दोनोंसे विलक्षण ।

भाष्य

इति च। तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' ( के० १ । ४ ) इति। अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्, न; अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वा-

भाष्यका अनुवाद

गया है। इसी प्रकार उपास्ति-क्रियाके कर्मरूपसे भी ब्रह्ममें कार्यसंबन्धका प्रतिषेध होता है—'यद्वाचा०' (जो वाणीसे अनुक्त है अर्थात् वागिन्द्रियका विषय नहीं है और जिससे वाणी प्रेरित होती है।) इस प्रकार ब्रह्म इन्द्रियोंका अविषय है, यह कहकर 'तदेव०' (उसीको तू ब्रह्म जान, उसको नहीं, जिसकी लोक उपासना करते हैं) ऐसा कहा है। यदि ब्रह्म विषय न हो तो ब्रह्मको शास्त्रप्रमाणक कहना अयुक्त होगा ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्यासे कल्पित भेदकी निवृत्ति करना ही शास्त्रका प्रयोजन है। शास्त्र ब्रह्मका 'इदं'

रत्नप्रभा

तस्मात् अधि अन्यदित्यर्थः। येन आत्मना इदं सर्वं दृश्यं लोको विजानाति, तं केन करणेन जानीयात्, तस्मात् अविषय आत्मा इत्यर्थः। न द्वितीय इत्याह—तथेति। "यन्मनसा न मनुते" ( के० १।६ ) इति श्रुत्या लोको मनसा यद् ब्रह्म न जानाति इति अविषयत्वम् उक्त्वा 'तदेव अवेद्यं ब्रह्म त्वं विद्धि' यत्तूपाधिविशिष्टं देवतादिकम् इति उपासते जनाः न इदं ब्रह्म इत्यर्थः। ब्रह्मणः शाब्दबोधाविषयत्वे प्रतिज्ञाहानिरिति शङ्कते—अविषयत्वे इति। वेदान्तजन्यवृत्तिकृताविद्यानिवृत्तिफलशालितया शास्त्रप्रमाणकत्वं वृत्तिविषयत्वेऽपि स्वप्रकाशब्रह्मणो वृत्त्यभिव्यक्तस्फुरणाविषयत्वात् अप्रमेयत्वमिति परिहरति—नेति। परत्वात् फलत्वात् इत्यर्थः। निवृ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिस आत्मासे इस सारे दृश्य—प्रपंचको लोक जानता है, वह किस साधनसे ज्ञात हो सकता है। इसलिए आत्मा विषय नहीं है, यह 'येनेदं' इस श्रुतिका अर्थ है। द्वितीय पक्षभी युक्त नहीं है इस बातको "तथा" इत्यादिसे दिखलाते हैं। 'यन्मनसा०' इस श्रुतिसे यह कहकर कि जिस ब्रह्मको लोग मनसे नहीं जानते, वह ब्रह्म इन्द्रियोंका अगोचर है, उसी इन्द्रियोंसे अवेद्यको तू ब्रह्म जान, किन्तु जिन उपाधिविशिष्ट देवता आदिकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं हैं। यदि ब्रह्मको शाब्दबोधका अगोचर मानें तो ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी ऐसी शंका करते हैं—"अविषयत्वे" इत्यादिसे। वेदान्त-वाक्यजन्यवृत्तिसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, अविद्या निवृत्तिरूप फलका भाजन होनेसे ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है। इस प्रकार वृत्तिका विषय होनेपर भी स्वप्रकाश ब्रह्म उस वृत्तिमें अभिव्यक्त होनेवाले स्फुरणका विषय नहीं होता है, इसलिए प्रमेय नहीं है, इस प्रकार उपर्युक्त शंकाका निवारण करते

भाष्य

च्छास्त्रस्य। नहि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादिभेदमपनयति। तथा च शास्त्रम्—'यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्'

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार अर्थात् ज्ञानविषयत्वरूपसे प्रतिपादन करना नहीं चाहता, किन्तु ब्रह्म प्रत्यगात्मा होनेके कारण अविषय है ऐसा प्रतिपादन करता हुआ वेद्य (जानने योग्य वस्तु) वेदितृ (जाननेवाला), वेदना (ज्ञान) इत्यादि अविद्यासे कल्पित भेदोंको दूर करता है। इसमें प्रमाणवाक्य—'यस्यामतं०' (जिसको ऐसा निश्चय है कि 'ब्रह्म ज्ञात नहीं है' उसने ब्रह्मको ठीक जाना है और जो ऐसा समझता है कि 'मैंने ब्रह्मको जान लिया है, उसने ब्रह्मको जाना ही नहीं, क्योंकि जिनको ब्रह्मज्ञान हो गया है, उनके लिए ब्रह्म अविदित—विषयरूपसे अज्ञात है [ क्योंकि ब्रह्म ज्ञानका विषय नहीं है ] और जो अज्ञानी हैं, उनके लिए ब्रह्म विषयरूपसे विदित है, [ क्योंकि वे ब्रह्मको

---

रत्नप्रभा

त्तिरूपब्रह्मतात्पर्यात् इति वा अर्थः। उक्तं विवृणोति—**नहीति**। चिद्विषयत्वम् इदन्त्वम्। अविषयतया—अनिदन्तया। अदृश्यत्वे श्रुतिमाह—**तथा च इति**। यस्य ब्रह्म अमतं चैतन्याविषय इति निश्चयस्तेन सम्यगवगतम्। यस्य तु अज्ञस्य ब्रह्म चैतन्यविषय इति मतम्, स न वेद। उक्तमेव दार्ढ्यार्थमनुवदति—**अविज्ञातमिति**। अविषयतया ब्रह्म विजानताम् अविज्ञातम्—अदृश्यमिति पक्षः, अज्ञानां तु ब्रह्म विज्ञातं

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"न" इत्यादिसे। फल होनेसे अथवा भेदनिवृत्तिरूप ब्रह्ममें तात्पर्य होनेसे ऐसा परत्वात् शब्दका अर्थ है। "नहि" इत्यादिसे पूर्व उक्त अर्थका विवरण करते हैं। इदन्ता अर्थात् चैतन्यकी विषयता। अविषयता अर्थात् 'इदं' प्रतीतिकी अयोग्यता। ब्रह्म अदृश्य है, इसमें श्रुतिका प्रमाण देते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। 'अमतम्'—चैतन्यका अविषय। जिसको यह निश्चय है कि ब्रह्म चैतन्यका विषय नहीं है, उसे ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हुआ। परन्तु जिस अज्ञको ऐसा निश्चय है कि ब्रह्म चैतन्यका विषय है, उसने ब्रह्मको ठीक नहीं समझा। उक्त अर्थका ही दृढ़ताके लिए अनुवाद करते है—"अविज्ञातम्" इत्यादिसे। जो लोग समझते हैं कि ब्रह्म इन्द्रियोंका गोचर नहीं है, उनके मतमें वह अविज्ञात (अदृश्य) है, परन्तु अज्ञानियोंके मतमें ब्रह्म दृश्य है। तुस चाक्षुष और मानस

भाष्य

( के० २।३ ), 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' ( बृ० ३।४।२ ) इति चैवमादि । अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः । यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम् । तथा विकार्यत्वे च । तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम् । नहि

भाष्यका अनुवाद

ज्ञानविषय समझकर मैंने ब्रह्मको जान लिया ऐसा कहते हैं] और 'न दृष्टे०' (दृष्टि—इन्द्रियवृत्तिके साक्षीको तू देख नहीं सकेगा और बुद्धिवृत्तिके साक्षीको तू नहीं जान सकेगा ) इत्यादि हैं । अतः अविद्यासे कल्पित संसारित्वकी तत्त्वज्ञानसे निवृत्ति होनेसे नित्यमुक्त आत्माका यथार्थ स्वरूपज्ञान होनेके कारण मोक्षमें अनित्यत्व दोष नहीं आता । जिसके मतमें मोक्ष उत्पाद्य[1] है, उसके मतमें मोक्ष मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओंकी अपेक्षा रखता है यह युक्त है । इसी प्रकार जिसके मतमें मोक्ष विकार्य है, उसके मतमें भी । इन दोनों पक्षोंमें मोक्षकी

रत्नप्रभा

दृश्यमिति पक्ष इत्यर्थः । दृष्टेर्द्रष्टारं चाक्षुषमनोवृत्तेः साक्षिणमनया दृश्यया दृष्ट्या न पश्येः । विज्ञातेर्बुद्धिवृत्तेर्निश्चयरूपायाः साक्षिणं तया न विषयं कुर्या इत्याह—नेति । ननु अविद्यादिनिवर्तकत्वेन शास्त्रस्य प्रामाण्येऽपि निवृत्तेरागन्तुकत्वात् मोक्षस्य अनित्यत्वं स्याद् इति न इत्याह—अत इति । तत्त्वज्ञानादित्यर्थः । ध्वंसस्य नित्यत्वात् आत्मरूपत्वाच्च न अनित्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । उत्पत्तिविकाराप्तिसंस्काररूपं चतुर्विधमेव क्रियाफलम्, तद्भिन्नत्वात् मोक्षस्य न उपासनासाध्यत्वम् इत्याह—यस्य त्वित्यादिना तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वेत्यन्तेन । तथोत्पाद्यत्ववद् विकार्यत्वे च अपेक्षते इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

वृत्तिके साक्षीको इस दृश्य—चाक्षुष एवं मानस वृत्तिसे देख न सकोगे और निश्चयरूप बुद्धिवृत्तिके साक्षीको उस ( बुद्धिवृत्ति ) से जान न सकोगे ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे । यद्यपि अविद्या आदिकी निवृत्ति करनेसे शास्त्रमें प्रामाण्य सिद्ध होता है तो भी निवृत्तिजन्य होनेसे मोक्षअनित्य हो जायगा, इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—"अतः" इत्यादिसे । उससे—तत्त्वज्ञानसे । ध्वंस नित्य और आत्मरूप है, अतः मोक्षमें अनित्यता नहीं आती । "यस्य तु" इत्यादिसे लेकर "तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा" इत्यन्त ग्रन्थसे कहते हैं कि उत्पत्ति, विकार, प्राप्ति और संस्कार भेदसे क्रियाफल चार प्रकारका ही है, मोक्ष

(१) उत्पन्न होने योग्य

भाष्य

दध्यादि विकार्यम् उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके। न चाऽऽप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात् सर्वेण ब्रह्मणः आकाशस्येव। नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा। न तावद् गुणाधानेन सम्भवति, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वात् मोक्षस्य।

भाष्यका अनुवाद

अनित्यता निश्चित है। लोकमें विकृत होनेवाले दही आदि, उत्पन्न होनेवाले घट आदि नित्य देखनेमें नहीं आते। और जिस मतमें ब्रह्म प्राप्य है, उस मतमें भी उसको कार्यकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह स्वात्मरूप होनेके कारण प्राप्य ही नहीं है। यदि आत्मासे अतिरिक्त मानें तो भी प्राप्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म आकाशके समान सर्वत्र व्यापक होनेके कारण सबको ब्रह्मस्वरूप नित्य प्राप्त है। और मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है कि जिससे वह व्यापारकी अपेक्षा करे। संस्कार्य पदार्थमें गुण मिलानेसे अथवा दोष दूरकरनेसे संस्कार होता है। मोक्षमें गुण मिलानेसे संस्कार होना संभव

---

रत्नप्रभा

युक्तम् इत्यन्वयः। दूषयति—**तयोरिति**। स्थितस्य अवस्थान्तरं विकारः। ननु अनित्यत्वनिरासाय क्रियया स्थितस्यैव ब्रह्मणो ग्रामवत् आप्तिः अस्तु नेत्याह—**न चेति**। ब्रह्म जीवाभिन्नं न वा? उभयथापि अनाप्यत्वात् न क्रियापेक्षा इत्याह—**स्वात्मेत्यादिना**। यथा व्रीहीणां संस्कार्यत्वेन प्रोक्षणापेक्षा, तथा मोक्षस्य न इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

उससे भिन्न होनेके कारण उपासनासाध्य नहीं है। जैसे उत्पाद्यमें कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाकी अपेक्षा होती है, उसी प्रकार विकार्यमें भी क्रियाकी अपेक्षा होती है, ऐसा अन्वय करना चाहिए। मोक्ष उत्पाद्य है अथवा विकार्य है, इन दोनों पक्षोंका खण्डन करते हैं—"तयोः" इत्यादिसे। वस्तुका प्रथम अवस्थासे द्वितीय अवस्थाको प्राप्त होना विकार है। परन्तु मोक्षमें अनित्यताका निवारण करनेके लिए क्रियासे नित्य ब्रह्मकी ही ग्रामकी प्राप्तिके समान प्राप्ति है, इस शंकाका "न च" इत्यादिसे निवारण करते हैं। ब्रह्म जीवसे अभिन्न है या नहीं? दोनों पक्षोंमें ब्रह्मके अप्राप्य होनेसे क्रियाकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"स्वात्म" इत्यादिसे। जैसे धान संस्कार्य हैं, अतः उन्हें प्रोक्षण—पानी छिड़कनेकी अपेक्षा है, वैसे मोक्षको संस्कारकी अपेक्षा नहीं

भाष्य

नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। स्वात्मधर्म एव सन् तिरोभूतो मोक्षः क्रिययाऽऽत्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्, न; क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया हि क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया विक्रियेतानित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। 'अविकार्योऽयं-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है, क्योंकि वह तो जिसमें अतिशय न किया जा सके ऐसे ब्रह्मका स्वरूपभूत है। दोष दूर करनेसे भी उसका संस्कृत होना असम्भव है, क्योंकि मोक्ष नित्य शुद्ध ब्रह्मका स्वरूपभूत है। जैसे निघर्षण क्रियासे दर्पण साफ होता है, और उसका तिरोहित भास्वरत्व प्रकट होता है, उसी प्रकार क्रियासे आत्मा में संस्कार होनेसे उसका तिरोहित धर्म मोक्ष प्रकट होता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आत्माको क्रियाका आश्रय मानना ठीक नहीं है। वस्तुतः जिस आश्रयमें क्रिया रहती है, उसको विकृत किये विना स्वयं रह नहीं सकती। यदि आत्मा क्रियासे विकारको प्राप्त होता हो, तो अनित्य हो जायगा। और

रत्नप्रभा

नापीत्यादिना। गुणाधानं व्रीहिषु प्रोक्षणादिना, क्षालनादिना वस्त्रादौ मलापनयः। शङ्कते—स्वात्मधर्म इति। ब्रह्मात्मस्वरूप एव मोक्षोऽनाद्यविद्यामलावृतः उपासनया मले नष्टे अभिव्यज्यते इत्यत्र दृष्टान्तः—यथेति। संस्कारो मलनाशः। किमात्मनि मलः सत्यः, कल्पितो वा? द्वितीये ज्ञानादेव तन्नाशो न क्रियया। आद्ये क्रिया किम् आत्मनिष्ठा, अन्यनिष्ठा वा? न आद्य इत्याह—न क्रियेति। अनुपपत्तिं स्फुटयति—यदिति। क्रिया हि स्वाश्रये संयोगादिवि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे। धानोंमें गुणोंका आधान प्रोक्षण आदिसे होता है, धोने आदिसे वस्त्र आदिका मैल निकल जाता है। "स्वात्मधर्म" इत्यादिसे पूर्वपक्षी शंका करता है। ब्रह्मके आत्मस्वरूपमें मोक्ष अनादि अविद्यारूपी मैलसे आवृत है, वह मैल उपासनासे नष्ट होता है, तब मोक्ष स्पष्ट दिखाई देता है, उत्पन्न नहीं होता, इसपर दृष्टान्त देता है—"यथा" इत्यादिसे। संस्कार—मलनाश। अब विचार करना चाहिए कि आत्मामें मैल सत्य है या कल्पित है? यदि कल्पित है, तो ज्ञानसे ही उसका नाश होता है, क्रियासे नहीं होता। यदि सत्य हो तो क्रिया आत्मामें रहती है? अथवा आत्मासे भिन्न दूसरी वस्तुमें रहती है? "न क्रिया" इत्यादिसे कहते हैं कि क्रिया आत्मनिष्ठ नहीं है। आत्मामें क्रियाके अभावका स्पष्टीकरण करते हैं—"यद्" इत्यादिसे।

भाष्य

मुच्यते' इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम्। तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः सम्भवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयाऽऽत्मा संस्क्रियते। ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः, न; देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्य आत्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम्।

भाष्यका अनुवाद

'अविकार्यो०' ( यह आत्मा अविकारी है ) इत्यादि वाक्यों का बाध होगा। श्रुतिका बाध होना ठीक नहीं है। इसलिए आत्माका आश्रय लेकर क्रियाका रहना संभव नहीं है। दूसरेका आश्रय करके रहनेवाली क्रियाका आत्मा विषय नहीं है अर्थात् संबन्धी नहीं है, अतः उस क्रियासे आत्माका संस्कार नहीं हो सकता। यदि कहो कि देहमें होनेवाली स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदि क्रियाओंसे देही—आत्मा का संस्कृत होना देखनेमें आता है। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि देह आदिसे युक्त अविद्यामें प्रतिबिम्बित आत्माका संस्कार होता है। स्नान, आचमन आदि क्रियाओंका देहके साथ

रत्नप्रभा

कारमकुर्वती न जायते इत्यर्थः। तच्च वाक्यबाधनम्। न द्वितीय इत्याह—अन्येति। अविषयत्वात् क्रियाश्रयद्रव्यासंयोगात् इति यावत्। दर्पणं तु सावयवं क्रियाश्रयेष्टकाचूर्णादिद्रव्यसंयोगित्वात् संस्क्रियते इति भावः। अन्यक्रियया अन्यो न संस्क्रियते इत्यत्र व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति। आत्मनो मूलाविद्याप्रतिबिम्बितत्वेन गृहीतस्य नरोऽहमिति भ्रान्त्या देहतादात्म्यमापन्नस्य क्रियाश्रयत्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् क्रिया अपने आश्रय द्रव्यमें संयोग आदि विकार किये बिना उत्पन्न नहीं होती। तत्—स्मृति आदि वाक्यका बाध। क्रिया अन्यानिष्ठ नहीं है, इस विषयमें कहते हैं—"अन्य" इत्यादिसे। 'अविषय होनेसे' अर्थात् क्रियाका आश्रय जो द्रव्य है, उसके साथ संयोग न होनेसे। दर्पण तो अवयव युक्त है, इसलिए क्रियाके आश्रय ईंटके चूर्ण आदि द्रव्यके साथ संयोग होनेसे उसका संस्कार हो सकता है। दूसरेकी क्रियासे दूसरेका संस्कार नहीं, होता, इस नियममें व्यभिचारकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे मूल अविद्यामें प्रतिबिम्बित आत्मा 'नरोऽहम्' ( मैं नर हूँ ) इस भ्रान्तिसे देह ही को आत्मा समझकर उस क्रियाका आश्रय अपनेको मानता हैं, अतः उसे भ्रम होता है कि मैं संस्कार्य हूँ, इसलिए व्यभिचार नहीं है ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। 'कश्चित्' अर्थात् जिसको

भाष्य

तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदविद्ययाऽऽत्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियते इति युक्तम्। यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलं 'अहमरोगः' इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते। एवं स्नाना-चमनयज्ञोपवीतादिना 'अहं शुद्धः संस्कृतः' इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव। तेनैव ह्यहंकर्त्राऽहंप्रत्ययविषयेण प्रत्य-

भाष्यका अनुवाद

संबन्ध प्रत्यक्ष ही है। देहमें होनेवाली क्रियासे देहके साथ रहनेवाला ही संस्कृत होता है, जोकि अविद्यासे आत्मा समझा गया है। जैसे देहमें होनेवाली चिकित्सासे धातुओंकी[1] समता होती है, उससे जिस आत्मामें 'मैं अरोग हूं' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, देहके साथ सम्बद्ध और देहमें 'मैं' 'मेरा' अभिमान रखनेवाला वही आत्मा आरोग्यरूप फल पाता है। इसी प्रकार स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदिसे 'मैं शुद्ध हूँ, संस्कृत हूँ' ऐसी बुद्धि जिसमें उत्पन्न हो, उसीका संस्कार होता है। वह तो देहके साथ संबद्ध ही है। उसी—'मैं' इस ज्ञानके

रत्नप्रभा

भ्रान्त्या संस्कार्यत्वभ्रमात् न व्यभिचार इत्याह—**नेति**। **कश्चिदिति**। अनिश्चित-ब्रह्मस्वरूप इत्यर्थः। यत्र आत्मनि विषये आरोग्यबुद्धिरुत्पद्यते, तस्य देहसंहतस्य एव आरोग्यफलमिति अन्वयः। ननु देहाभिन्नस्य कथं संस्कारः, तस्य आमुष्मिकफल-भोक्तृत्वायोगात् इत्यत आह—**तेनेति**। देहसंहतेन एव अन्तःकरणप्रतिबिम्बात्मना कर्ताहमिति भासमानेन प्रत्ययाः कामादयो मनस्तादात्म्यात् अस्य सन्तीति प्रत्ययिना क्रियाफलं भुज्यते इत्यर्थः। मनोविशिष्टस्य आमुष्मिकभोक्तुः संस्कारो युक्त इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मस्वरूपका निश्चय नहीं हुआ है। जिस आत्मामें आरोग्य बुद्धि उत्पन्न होती है, देह आदिसे संबद्ध उसी आत्माको आरोग्यफल होता है ऐसा अन्वय है। देहसे अभिन्नका संस्कार किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि उसे पारलौकिक फल भोगनेका अवसर ही नहीं है, इसपर कहते हैं—"तेन" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणका प्रतिबिम्बरूप 'मैं कर्ता हूँ' इस तरह भासता हुआ देहके साथ जुड़ा हुआ ही आत्मा है, मनके साथ अभेद होनेसे उसमें काम आदि हैं, वह कामादिविशिष्ट आत्मा क्रियाका फल भोगता है। भावार्थ यह है कि मनसे विशिष्ट आमुष्मिक—पारलौकिक फलके भोक्ताका संस्कार युक्त है। विशिष्ट आत्मा भोक्ता

(१) रस, रक्त, मांस, चर्वी हड्डी, मज्जा और वीर्य ये सात धातु हैं।

भाष्य

यिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते, तत्फलं च स एवाश्नाति, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' ( मु० ३।१।१ ) इति मन्त्रवर्णात्, 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' ( क० १।३।४ ) इति च। तथा 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः

भाष्यका अनुवाद

विषय प्रत्ययी अहंकर्तासे सब क्रियाएँ की जाती हैं और उनका फल वही भोगता है। प्रमाण—'तयोरन्यः०' ( उनमें एक स्वादिष्ट कर्मफल भोगता है और दूसरा न भोगता हुआ स्वयंप्रकाशरूपसे रहता है ) 'आत्मेन्द्रिय०' ( शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्त जीवात्माको विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं ) इत्यादि वाक्य हैं। इसी प्रकार 'एको देवः०' ( सब भूतोंमें एक, स्वप्रकाश, गूढ़, सर्व-

रत्नप्रभा

भावः। विशिष्टस्य भोक्तृत्वम्, न केवलस्य साक्षिण इत्यत्र मानमाह—**तयोरिति**। प्रमातृसाक्षिणोर्मध्ये सत्त्वसंसर्गमात्रेण कल्पितकर्तृत्वादिमान् प्रमाता पिप्पलं कर्म-फलं भुङ्क्ते, स एव शोधितत्वेन अन्यः साक्षितया प्रकाशते इत्यर्थः। आत्मा देहः। देहादियुक्तम्—प्रमात्रात्मानम् इत्यर्थः। एवं सोपाधिकस्य चिद्धातोः मिथ्या-संस्कार्यत्वम् उक्त्वा निरुपाधिकस्य असंस्कार्यत्वे मानमाह—**एक इति**। सर्वभूतेषु अद्वितीय एको देवः स्वप्रकाशः। तथापि मायावृतत्वात् न प्रकाशते इत्याह—**गूढ इति**। ननु जीवेन असम्बन्धाद् भिन्नत्वात् वा देवस्य अभानं न तु मायागूहनात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है, केवल साक्षीरूप भोक्ता नहीं होता, इसमें प्रमाण देते हैं—"तयोः" इत्यादिसे। प्रमाता और साक्षी इन दोनोंमें अन्तःकरणके संबन्धसे कल्पित कर्ता—प्रमाता कर्म–फल भोगता है। आशय यह है कि वही शोधित—निरुपाधिक होनेसे अन्य होकर साक्षीरूपसे प्रकाशित होता है। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्'में आत्माका अर्थ देह है। देह आदिसे युक्त प्रमाता आत्मा भोक्ता कहा जाता है। इस प्रकार संहत और सोपाधिक[1] आत्माका भोक्तृत्व और मिथ्यासंस्कार्यत्व[2] कहकर निरुपाधिक[3] आत्मा असंस्कार्य है, इसमें प्रमाण कहते हैं—"एको" इत्यादिसे। वह एक—सर्वभूतोंमें अद्वितीय एवं देव—स्वप्रकाश है, तो भी मायाके आवरण[4]से प्रकाशित नहीं होता ऐसा कहते हैं—"गूढः" इत्यादिसे। कोई शंका करे कि जीवके साथ सम्बन्ध न होनेसे या भेदसे स्वप्रकाश आत्माका प्रकाश नहीं होता, न कि मायासे आवृत होनेसे, इस शंकाका

(१) देह आदि उपाधिवाला। (२) खोटा संस्कार्य है ऐसी स्थिति। ( ३ ) उपाधिरहित। ( ४ ) पर्दा।

भाष्य

सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' ( श्वे० ६।११ ) इति, 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धम्' ( ई० ८ ) इति च, एतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः । ब्रह्मभावश्च

भाष्यका अनुवाद

व्यापक, सब प्राणियोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका साक्षी, सब भूतोंमें वास करनेवाला अर्थात् सबका अधिष्ठान होकर साक्षी, केवल जाननेवाला, निर्गुण एवं दोषरहित आत्मा है ) 'स पर्यगात्०' ( वह आत्मा सर्वव्यापक, दीप्तिमान्, लिङ्गशरीर-रहित, अर्थात् शिरारहित अथवा अविनाशी, शुद्ध और पापसे अस्पृष्ट है ) ये दोनों मंत्र यह दिखलाते हैं कि ब्रह्ममें किसी तरह के अतिशयका प्रवेश नहीं

---

रत्नप्रभा

इति नेत्याह—**सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मेति** । देवस्य विभुत्वात् सर्वप्राणिप्रत्यक्त्वाच्च आवरणादेव अभानमित्यर्थः । प्रत्यक्त्वे कर्तृत्वं स्यादिति चेत्, न । कर्माध्यक्षः क्रियासाक्षीत्यर्थः । तर्हि साक्ष्यमस्तीति द्वैतापत्तिः, न । सर्वभूतानामधिष्ठानं भूत्वा साक्षी भवति । साक्ष्यमधिष्ठाने साक्षिणि कल्पितमिति भावः । साक्षिशब्दार्थमाह—**चेता केवल इति** । बोद्धृत्वे सति अकर्ता साक्षी इति लोकप्रसिद्धम् । चकारः दोषाभावसमुच्चयार्थः, निर्गुणत्वात् निर्दोषत्वात् च । गुणो दोषनाशो वा संस्कारो न इत्यर्थः । स इत्युपक्रमात् शुक्रादिशब्दाः पुंस्त्वेन वाच्याः । स एव आत्मा परि सर्वम् अगात् व्याप्तः, शुक्रो दीप्तिमान्, अकायो

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरण करनेके लिए कहते हैं—"सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" अर्थात् देव ( स्वप्रकाश आत्मा ) विभु है और सब प्राणियोंका प्रत्यगात्मा है, अतः मायारूप आवरणसे ही उसका प्रकाश नहीं होता । आत्मा प्रत्यक् है तो उसे कर्ता होना चाहिए, इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—"कर्माध्यक्षः" अर्थात् वह क्रियाका साक्षी है, कर्ता नहीं है । तब उसका साक्ष्य होनेसे द्वैतका प्रसङ्ग आवेगा, इस शंकाको हटानेके लिए कहते हैं—"सर्वभूताधिवासः" सब भूतोंका अधिष्ठान होकर साक्षी होता है । अधिष्ठान साक्षीमें साक्ष्य कलिपत है । 'साक्षी' शब्दका अर्थ कहते हैं—"चेता केवलः" जाननेवाला होकर जो अकर्ता हो, वह साक्षी है, ऐसा लोकप्रसिद्ध है । "निर्गुणश्च" में "च" कार दोषके अभावका समुच्चय दिखलाता है । निर्गुण और निर्दोष है, अतः गुण या दोषका नाशरूप संस्कार नहीं है । "स पर्यगात्" इत्यादिमें 'स' ऐसा उपक्रम किया है, इसलिए 'शुक्रम्' आदि शब्द लिंगविपर्यय—विपरिणामसे पुलिंग समझने चाहिएँ । वही आत्मा परितः—सर्वतः व्याप्त है, शुक्र—दीप्तिमान् है,

भाष्य

मोक्षः । तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः । अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेश-द्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम् । तस्माद् ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्ध-मात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते । ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया ? न,

भाष्यका अनुवाद

हो सकता है और वह नित्य शुद्ध है । मोक्ष तो ब्रह्मरूप ही है, अतः वह संस्कार्य भी नहीं है । इससे मोक्षमें उत्पत्ति, विकार, प्राप्ति और संस्कारसे भिन्न क्रिया-सबन्धका मार्ग कोई नहीं दिखा सकता । इस कारण मोक्षमें ज्ञानके सिवा क्रियाके लेशमात्रका भी संबन्ध नहीं बनता । यदि ऐसा कोई कहे कि ज्ञान

रत्नप्रभा

लिङ्गशून्यः, अव्रणोऽक्षतः, अस्नाविरः शिराविधुरः अनश्वर इति वा । आभ्यां पदाभ्यां स्थूलदेहशून्यत्वम् उक्तम् । शुद्धो रागादिमलशून्यः, अपापविद्धः पुण्य-पापाभ्यामसंस्पृष्ट इत्यर्थः । **अत इति** । उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्कारेभ्योऽन्यत् पञ्चमं क्रियाफलं नास्ति यन्मोक्षस्य क्रियासाध्यत्वे द्वारं भवेत् इत्यर्थः । ननु मोक्षस्य असाध्यत्वे शास्त्रारम्भो वृथा, न, ज्ञानार्थत्वाद् इत्याह—**तस्मादिति** । द्वाराभावात् इत्यर्थः । व्याघातं शङ्कते—**नन्विति** । तथा च मोक्षे क्रियानुप्रवेशो नास्तीति व्याहतमिति भावः । मानसमपि ज्ञानं न विधियोग्या क्रिया, वस्तुतन्त्रत्वात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

अकाय—लिङ्गशरीरशून्य है, अव्रण—अक्षत है, अस्नाविर—शिरारहित है अथवा अनश्वर है इन दो पदोंसे स्थूलदेहरहित स्थिति कही है । शुद्ध—रागादिमलसे रहित है, अपापविद्ध—पुण्यपापसे असंस्पृष्ट है । "अतः" इत्यादि, उत्पत्ति प्राप्ति, विकार अथवा संस्कारसे अतिरिक्त पांचवाँ क्रियाफल नहीं है जो मोक्षको क्रियासाध्य सिद्ध करनेमें सहायक हो । कोई शंका करे कि यदि मोक्ष असाध्य है तो उसके लिए शास्त्रका आरम्भ निरर्थक हो जायगा । इसपर कहते हैं—नहीं, शास्त्रारम्भ निरर्थक नहीं होगा, क्योंकि वह ज्ञानके लिए है, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे । तस्मात्—इससे कि पांचवाँ क्रियाफल मोक्षसिद्धि करनेमें हेतु नहीं है । व्याघातकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । आशय यह है कि इस प्रकार मोक्षमें क्रियाका अनुप्रवेश नहीं है, इस कथनमें व्याघात है । ज्ञान मानस है, तो भी विधियोग्य क्रिया नहीं है, क्योंकि ज्ञान वस्तुतंत्र है और कृतिसाध्य नहीं है, ऐसा "न" इत्यादिसे

(१) परस्पर विरुद्धार्थक वचन, जैसे कि 'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी च मे पिता । माता तु मम वंध्यास्मादपुत्रश्च पितामहः' जीवनपर्यन्त मैं मौनी हूँ, मेरा पिता ब्रह्मचारी है, माता वंध्या है पुत्र नहीं है और पितामह हूँ ।

भाष्य

वैलक्षण्यात्। क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च, यथा 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट् करिष्यन्' इति, 'संध्यां मनसा ध्यायेत्' ( ऐ० ब्रा० ३।८।१ ) इति चैवमादिषु ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसम्, तथापि पुरुषेण कर्तुमक-

भाष्यका अनुवाद

मन की क्रिया है तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान उससे विलक्षण है। क्रिया उसको कहते हैं जिसका वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा के बिना ही विधान किया जाता है और जो पुरुषके सङ्कल्पके अधीन है। जैसे कि 'यस्यै देवतायै०' ( जिस देवताके लिए अध्वर्युने हविका ग्रहण किया हो, उस देवताका होता वषट्[1]कार करता हुआ ध्यान करे) 'सन्ध्यां०' ( सन्ध्याका मनसे ध्यान करे ) इनमें और इसी प्रकार अन्य स्थलोंमें क्रियाका विधान है। ध्यान अर्थात् चिन्तन यद्यपि मानसिक है, तो भी पुरुषके अधीन होनेके कारण वह करने न करने

रत्नप्रभा

कृत्यसाध्यत्वात् च इत्याह—**नेति**। वैलक्षण्यं प्रपञ्चयति—**क्रिया हीति**। यत्र विषये तदनपेक्षैव या चोद्यते, तत्र सा हि क्रियेति योजना। विषयवस्त्वनपेक्षा कृतिसाध्या च क्रिया इत्यत्र दृष्टान्तमाह—**यथेति**। गृहीतमध्वर्युणा इति शेषः। "वषट् करिष्यन् होता, सन्ध्यां देवताम्" इति चैवमादिवाक्येषु यथा यादृशी ध्यानक्रिया वस्त्वनपेक्षा पुन्तन्त्रा च चोद्यते, तादृशी क्रिया इत्यर्थः। ध्यानमपि मानसत्वात् ज्ञानवत् न क्रिया इत्यत आह—**ध्यानमित्यादिना**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं। वैलक्षण्यका विस्तार करते हैं—"क्रिया हि" इत्यादिसे। जिस विषयमें वस्तु स्वरूपकी अपेक्षाके बिना जिसका विधान हो उस विषयमें वह क्रिया है ऐसी योजना करनी चाहिए। क्रिया अपने विषयभूत वस्तुके स्वरूपकी अपेक्षा नहीं करती है और कृतिसाध्य भी है, इस विषयमें दृष्टान्त देते हैं—"यथा" इत्यादिसे। 'गृहीतं' के बाद 'अध्वर्युणा' ( अध्वर्युसे ) इतना शेष समझना चाहिए। होता वषट्कार करता हुआ सन्ध्या देवताका ध्यान करे इत्यादि वाक्योंमें जैसे वस्तुनिरपेक्ष एवं पुरुषाधीन ध्यानक्रिया विहित है वह क्रिया है ऐसा अर्थ है। मानस ज्ञान जैसे क्रिया नहीं है, वैसे ही ध्यान भी मानस होनेके कारण

( १ ) 'स्वाहा देवहविर्दाने श्रौषट् वौषट् वषट् स्वधा' देवको हविर्दान करते समय स्वाहा, श्रौषट्, वौषट्, वषट्, स्वधा, इनमेंसे किसी एक शब्दका मंत्रके साथ प्रयोग होता है।

भाष्य

तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्, पुरुषतन्त्रत्वात् । ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम् प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्, अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्, न चोदनातन्त्रम्, नापि पुरुषतन्त्रम्, तस्मात् मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम् । यथा च 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः', 'योषा वाव गौतमाग्निः' ( छा० ५।७,८।१ ) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धि-र्मानसी भवति, केवलचोदनाजन्यत्वात् क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च । या तु

भाष्यका अनुवाद

अथवा अन्यप्रकारसे करनेके योग्य है । ज्ञान तो प्रमाणजन्य है । प्रमाण वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करता है । इसलिए ज्ञान करने, न करने अथवा अन्य प्रकारसे करनेके योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह केवल वस्तुके अधीन है; विधिके योग्य नहीं है और पुरुषके अधीन भी नहीं है । अतः ज्ञानके मानसिक होने पर भी ध्यानसे उसका बड़ा भेद है । जैसे 'पुरुषो०' ( हे गौतम ! पुरुष अग्नि है ) 'योषा०' ( हे गौतम ! स्त्री अग्नि है ) इनमें स्त्री और पुरुषमें अग्निबुद्धि मानसिक है । वह केवल विधि-

---

रत्नप्रभा

तथापि क्रियैव इति शेषः । कृत्यसाध्यत्वमुपाधिरिति भावः । ध्यानक्रियाम् उक्त्वा ततो वैलक्षण्यं ज्ञानस्य स्फुटयति—**ज्ञानन्त्विति** । अतः प्रमात्वात् न चोद-नातन्त्रं न विधेर्विषयः । पुरुषः कृतिद्वारा तन्त्रं हेतुर्यस्य तत्पुरुषतन्त्रम्, तस्माद् वस्त्वव्यभिचारात् अपुंतन्त्रत्वात् च ध्यानात् ज्ञानस्य महान् भेद इत्यर्थः । भेदमेव दृष्टान्तान्तरेण आह—**यथा चेति** । अभेदासत्त्वेऽपि विधितो ध्यानं कर्तुं शक्यम् , न ज्ञानमित्यर्थः । ननु प्रत्यक्षज्ञानस्य विषयजन्यतया तत्तन्त्रत्वेऽपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रिया नहीं है, इस बातका निराकरण करते हैं—''ध्यानं'' इत्यादिसे । 'तथापि' के बाद 'क्रियैव' ( क्रिया ही ) इतना शेष समझना चाहिए । भाव यह है कि उपर्युक्त अनुमानमें कृत्यसाध्यत्व ( कृतिसे साध्य न होना ) उपाधि है । ध्यानक्रियाको कहकर उससे ज्ञानका भेद स्पष्ट करते हैं—''ज्ञानं तु'' इत्यादिसे । ज्ञान प्रमारूप होनेसे चोदनातन्त्र नहीं है अर्थात् विधिका विषय नहीं है । पुरुष कृतिद्वारा जिसका हेतु हो वह पुरुषतंत्र है ( किन्तु ज्ञान ऐसा नहीं है ) । वस्तुके अधीन होनेसे और पुरुषके अधीन न होनेसे ध्यानसे ज्ञानका महान् भेद है । दूसरा दृष्टान्त देकर ज्ञान और ध्यानके भेदको ही स्पष्ट करते हैं—''यथा च'' इत्यादिसे । आशय यह है कि विधिसे ध्यान किया जा सकता है, ज्ञान नहीं

भाष्य

प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिर्न सा चोदनातन्त्रा, नापि पुरुषतन्त्रा, किं तर्हि ? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतत्, न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात् कुण्ठीभवन्त्युपलादिषु

भाष्यका अनुवाद

जन्य होनेके कारण क्रिया ही है और पुरुषके अधीन है। प्रसिद्ध अग्निमें जो अग्निबुद्धि होती है, वह न तो विधिके अधीन है और न पुरुषके अधीन है; किन्तु प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली वस्तु (अग्नि) के अधीन है, अतः वह ज्ञान ही है, क्रिया नहीं है। इसी प्रकार सब प्रमाणोंके अर्थात् अनुमान, शब्द आदि प्रमाणोंके विषयमें समझना चाहिए। जब व्यवहारमें ज्ञान विधेय नहीं है, ऐसा सिद्ध हो गया, तब यथाभूत—अबाधित ब्रह्मात्मविषयक ज्ञान भी विधिके अधीन नहीं है। यद्यपि ज्ञानके बारेमें लिङ्, लोट् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं, तो भी नियोगके अयोग्य ज्ञानविषयक होनेके कारण पत्थर आदिमें प्रयुक्त

रत्नप्रभा

शाब्दबोधस्य तदभावात् विधेयक्रियात्वम् इति, न इत्याह—**एवं सर्वेति**। शब्दानुमानाद्यर्थेष्वपि ज्ञानम् अविधेयक्रियात्वेन ज्ञातव्यम्। तत्रापि मानादेव ज्ञानस्य प्राप्तेर्विध्ययोगात् इत्यर्थः। तत्रैवं सति—लोके ज्ञानस्य अविधेयत्वे इत्यर्थः। यथाभूतत्वम्—अबाधितत्वम्। ननु "आत्मानं पश्येत्" "ब्रह्म त्वं विद्धि" (के० १।५) "आत्मा द्रष्टव्यः" (बृ० २।४।५) इति विज्ञाने लिङ्लोट्तव्यप्रत्यया विधायकाः श्रूयन्ते, अतो ज्ञानं विधेयमित्यत आह—**तद्विषये इति**। तस्मिन् ज्ञानरूपविषये विधयः पुरुषं प्रवर्तयितुमशक्ता भवन्ति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

किया जा सकता। यहाँ शंका होती है कि प्रत्यक्ष ज्ञान विषयजन्य है, इसलिए विषयके अधीन है, परन्तु शब्दज्ञान विषयके अधीन नहीं है, इसलिए वह विधेय क्रिया है। इस शंकाका निराकरण करते हैं—"एवं सर्व" इत्यादिसे। शब्द, अनुमान आदिमें भी ज्ञान अविधेय क्रिया है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि उनमें भी प्रमाणसे ही ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञान विधिके योग्य नहीं है। "तत्रैवं सति" अर्थात् लोकमें ज्ञानके अविधेय होनेपर। यथाभूत—अबाधित। कोई शंका करे कि 'आत्मानं०' (आत्माका साक्षात्कार करे) 'ब्रह्म त्वं०' (तुम ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करो) 'आत्मा द्रष्टव्यः' (आत्माका साक्षात्कार करे) इस प्रकार ज्ञानमें 'लिङ्' (विध्यर्थक प्रत्यय) 'लोट्' (आज्ञार्थक प्रत्यय) और 'तव्य' (विधिवाचक कृत् प्रत्यय) प्रत्यय विधिवाचक हैं, अतः ज्ञान विधेय है। इस शंकाको दूर

भाष्य

प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत् अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात् । किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि ? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः । यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते

भाष्यका अनुवाद

अस्त्रकी धारके समान कुण्ठित हो जाते हैं, ( ज्ञेय ब्रह्म भी विधिका विषय नहीं है ) क्योंकि ब्रह्म न हेय है और न उपादेय है । तब 'आत्मा वा०' ( आत्माका दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए ) इत्यादि विधितुल्य वाक्योंका क्या प्रयोजन है ? विषयमें मनुष्यकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उससे उसको पराङ्मुख करना ही उनका प्रयोजन है । जो पुरुष बाह्य विषयोंमें 'इष्ट वस्तु

रत्नप्रभा

अनियोज्यं कृत्यसाध्यं नियोज्यशून्यं वा ज्ञानं तद्विषयकत्वात् इत्यर्थः । मम अयं नियोग इति बोद्धा—नियोज्यो विषयश्च विधेः नास्ति इति भावः । तर्हि ज्ञेयं ब्रह्म विधीयताम्, न इत्याह—**अहेयेति** । वस्तुस्वरूपो विषयः तत्त्वाद् । ब्रह्मणो निरतिशयस्य असाध्यत्वात् न विधेयत्वमित्यर्थः । उदासीनवस्तुविषयकत्वाच्च ज्ञानं न विधेयम्, प्रवृत्त्यादिफलाभावात् इत्यर्थः । विधिपदानां गतिं पृच्छति—**किमर्थानीति** । विधिच्छायानि—प्रसिद्धयागादिविधितुल्यानि इत्यर्थः । विधिप्रत्ययैरात्मज्ञानं परमपुरुषार्थसाधनमिति स्तूयते, स्तुत्या आत्यन्तिकेष्टहेतुत्वभ्रान्त्या या विषयेषु प्रवृत्तिः आत्मश्रवणादिप्रतिबन्धिका, तन्निवृत्तिफलानि विधिपदानीत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेके लिए कहते हैं—"तद्विषये" इत्यादि । विधियाँ उस ज्ञानरूप विषयमें पुरुषको प्रवृत्त करनेमें समर्थ नहीं होती हैं, क्योंकि वे अनियोज्य—कृतिसे असाध्य अथवा कृतिसे उत्पन्न होनेवाले फलसे रहित जो ज्ञान उस ज्ञानको विषय करनेवाली हैं, ऐसा अर्थ है । 'यह मेरा कर्तव्य है' ऐसा समझनेवाला विधिका नियोज्य और विषय नहीं है । पूर्वपक्षी कहता है तब ज्ञेय ब्रह्मका विधान करो । "अहेय" इत्यादिसे कहते हैं—नहीं, यह कथन युक्त नहीं है । विषय वस्तु-स्वरूप है, इसलिए निरतिशय ब्रह्मके साध्य न होनेसे ब्रह्म विधेय नहीं है । उदासीन वस्तु ब्रह्म ज्ञानका विषय है, इससे ज्ञान भी विधेय नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति आदि फलका अभाव है । पूर्वपक्षी विधिवाक्योंका प्रयोजन पूछता है—"किमर्थानि" इत्यादिसे । विधितुल्य—प्रसिद्ध याग आदि विधिके समान । आत्मज्ञान परम पुरुषार्थका साधन है, विधिप्रत्ययोंसे इस प्रकार उसकी स्तुतिकी गई है । स्तुतिसे विषयमें प्रवृत्त होना आत्यन्तिक इष्टका हेतु है, इस भ्रान्तिसे पुरुष विषयमें प्रवृत्त होता है और वह प्रवृत्ति आत्माके श्रवण आदिमें प्रतिबन्धक होती है, उसकी निवृत्ति करना विधिपदोंका फल है, ऐसा कहते हैं—

भाष्य

पुरुषः 'इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूत्' इति, न च तत्राऽऽत्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसङ्घातप्रवृत्तिगोचराद् विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि। तस्याऽऽत्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याऽहेयमनुपादेयं चाऽऽत्मतत्त्वमुपदिश्यते 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्' (बृ० ४।५।१५) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २।५।१९) इत्यादिभिः। यदप्य-

भाष्यका अनुवाद

मुझे प्राप्त हो, अनिष्ट प्राप्त न हो' इस प्रकार बहिर्मुख होकर प्रवृत्त होता है, वह उन विषयोंसे परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकता, उस परम पुरुषार्थकी इच्छा करनेवालेको 'आत्मा वा०' ( आत्माका दर्शन करना चाहिए ) इत्यादि वाक्य शरीर और इन्द्रिय-समूहकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके विषय शब्द आदिसे निवृत्त करके उसकी चित्तवृत्तिके प्रवाहको प्रत्यगात्माकी तरफ जैसे हो सके वैसे प्रवृत्त कराते हैं। आत्मस्वरूपके अन्वेषणमें प्रवृत्त हुए उस पुरुषको 'इदं सर्वं०' ( यह जो कुछ है सब आत्मस्वरूप है ) 'यत्र त्वस्य०' ( परन्तु जिस अवस्थामें उसके लिए सब आत्मरूपही हो गया, उस अवस्थामें वह किस साधनसे किसको देखे और किससे किसको जाने।) 'विज्ञातार०' (जो जाननेवाला है, उसको किससे जाना जाय।) 'अयमात्मा०' ( यह आत्मा ब्रह्म है।) इत्यादि श्रुतियां अहेय और अनुपादेय आत्मतत्त्वका उपदेश करती हैं। आत्मज्ञान होनेपर कर्तव्य कर्म कुछ नहीं

---

रत्नप्रभा

स्वाभाविकेति। विवृणोति—यो हीत्यादिना। तत्र विषयेषु संघातस्य या प्रवृत्तिः तद्गोचरात् शब्दादेरित्यर्थः। स्रोतः—चित्तवृत्तिप्रवाहः। प्रवर्तयन्ति ज्ञानसाधनश्रवणादौ इति शेषः। श्रवणस्वरूपमाह—तस्येति। अन्वेषणं ज्ञानम्। यत् इदं जगत्, तत् सर्वम् आत्मैवेति अनात्मबाधेन आत्मा बोध्यते। अद्वितीया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"स्वाभाविक" इत्यादिसे। इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—"यो हि" इत्यादिसे। विषयोंमें इन्द्रियसंघातकी जो प्रवृत्ति है, उसके विषय शब्द आदि हैं ऐसा अर्थ है। स्रोतः—चित्त-वृत्तिका प्रवाह। 'प्रवृत्त कराते हैं' यहाँ 'ज्ञानके साधन श्रवण आदिमें' इतनेका अध्याहार समझना चाहिए। श्रवणका स्वरूप कहते हैं—"तस्य" इत्यादिसे। अन्वेषण—ज्ञान। आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिमें प्रवृत्त हुए पुरुषके लिए यह जगत् आत्मरूप ही है, इस प्रकार अनात्माके बाधसे आत्माका बोध कराया जाता है। अद्वितीय अदृश्य आत्मबोधमें वेचारी द्वैतवचनमें

भाष्य

कर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते। अलंकारो ह्ययमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति। तथा च श्रुतिः—

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।' (बृ० ४।४।१२) इति।
'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।' (भ० गी० १५।२०)

भाष्यका अनुवाद

रहता, इसलिए उस ज्ञानसे किसीका त्याग या ग्रहण नहीं होता ऐसा जो पूर्ववादीने कहा है, सो ठीक ही है, हम भी उसका अंगीकार करते हैं। ब्रह्म और प्रत्यगात्माके ऐक्यज्ञान होनेपर सब कर्तव्य कर्मोंका नाश होजाता है, अर्थात् कुछ भी कर्तव्य नहीं रह जाता और कृतार्थता हो जाती है यह कथन हम वेदान्तियोंके लिए भूषण है। इस विषयमें 'आत्मानं०' ('यह स्वयंप्रकाश आत्मा 'मैं हूँ' ऐसा जो पुरुष जान लेता है, वह किस फलकी इच्छासे और किस भोक्ताके प्रेमके लिए सन्तप्त होता हुआ शरीरके पीछे स्वयं सन्तप्त हो।) यह श्रुति और 'एतद् बुद्ध्वा०' (हे अर्जुन! इस गुह्यतम तत्त्वको जानकर पुरुष ज्ञानी और

रत्नप्रभा

द्दश्यात्मबोधे विधिः तपस्वी द्वैतवनोपजीवनः क्व स्थास्यति इति भावः। आत्मज्ञानिनः कर्तव्याभावे मानमाह—**तथा चेति**। 'अयं स्वयंप्रभानन्दः परमात्मा अहमस्मि' इति यदि कश्चित् पुरुष आत्मानं जानीयात्, तदा किं फलम् इच्छन् कस्य वा भोक्तुः प्रीतये शरीरं तप्यमानम् अनुसंज्वरेत् तप्येत। भोक्तृभोग्यद्वैताभावात् कृतकृत्य आत्मवित् इति अभिप्रायः। ज्ञानदौर्लभ्यार्थः चेत्शब्दः। एतद् गुह्यतमं तत्त्वम्। वृत्तिकारमतनिरासमुपसंहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीनेवाली विधि कहाँ रहेगी। आत्मज्ञानीके लिए कर्तव्य कर्म नहीं है, इसमें प्रमाण कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। यदि कोई मनुष्य 'यह स्वयंज्योति आनन्दस्वरूप ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा अपनेको जान ले, तो वह किस फलकी इच्छासे अथवा किस भोक्ताकी प्रीतिके लिए सन्तप्त शरीरके पीछे आप सन्तप्त हो। अभिप्राय यह है कि भोक्ता और भोग्यरूप द्वैतके अभावसे आत्मज्ञानी कृतार्थ हो जाता है। 'आत्मानं चेद्विजानीयात्' इस श्रुतिमें 'चेत्' शब्द ज्ञानकी दुर्लभताका द्योतक है। 'यह'—गुह्यतम तत्त्व। "तस्मात्" इत्यादिसे वृत्तिकारके मतके

भाष्य

इति च स्मृतिः । (तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम् ।) यदपि केचिदाहुः—'प्रवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवल-वस्तुवादी वेदभागो नास्ति' इति, तन्न, औपनिषदस्य पुरुषस्य

भाष्यका अनुवाद

कृतार्थ हो जाता है ) यह स्मृति प्रमाण है । इस कारण वेदान्त उपासना विधिके विषयत्वरूपसे ब्रह्मका बोध नहीं कराते हैं । कोई जो यह कहते हैं कि प्रवृत्ति-विधि, निवृत्तिविधि और उनके अङ्गसे अतिरिक्त केवल वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला वेदभाग नहीं है । उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उपनिषद्से ज्ञेय पुरुष अन्यका शेष नहीं होता । केवल उपनिषदोंसे ही ज्ञात जो असंसारी

रत्नप्रभा

तस्मादिति । प्राभाकरोक्तमुपन्यस्यति—यदपि केचिदिति । कर्त्ता आत्मा लोकसिद्ध-त्वात् न वेदान्तार्थः । तदन्यद् ब्रह्म नास्ति एव वेदस्य कार्यपरत्वेन मानाभावात् इत्यर्थः । मानाभावोऽसिद्ध इत्याह—तत् नेति । अज्ञातस्य फलस्वरूपस्य आत्मन उपनिषदेकवेद्यस्य अकार्यशेषत्वात् कृत्स्नवेदस्य कार्यपरत्वमसिद्धम् । न च प्रवृत्तिनिवृत्तिलिङ्गाभ्यां श्रोतुस्तद्धेतुं कार्यबोधमनुमाय वक्तृवाक्यस्य कार्यपरत्वं निश्चित्य वाक्यस्थपदानां कार्यान्विते शक्तिग्रहात् न सिद्धस्य अपदार्थस्य वाक्यार्थत्वम् इति वाच्यम् । पुत्रस्ते जात इति वाक्यश्रोतुः पितुर्हर्षलिङ्गेन इष्टं पुत्रजन्म अनुमाय पुत्रादिपदानां सिद्धे सङ्गतिग्रहात् कार्यान्विता-पेक्षया अन्वितार्थे शक्तिरिति अङ्गीकारे लाघवात् सिद्धस्य अपि वाक्यार्थत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरणका उपसंहार करते हैं । प्राभाकरके मतका उपन्यास करते हैं—"यदपि केचित्" इत्यादिसे । कर्तारूप आत्मा लोकसिद्ध है, इसलिए वेदान्तवेद्य नहीं है, उससे भिन्न ब्रह्म है ही नहीं, क्योंकि वेदके कार्यपरक होनेसे ब्रह्ममें कोई प्रमाण नहीं है । प्रमाणाभाव असिद्ध है इस मतका खण्डन करते हैं—"न" इत्यादिसे । अन्य प्रमाणसे अज्ञात फलस्वरूप आत्माका ज्ञान उपनिषद्से ही होता है । आत्मा कार्यशेष नहीं है, इसलिए समग्र वेद कार्यपरक है यह असिद्ध है और प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप हेतुसे श्रोता कार्यज्ञानका अनुमान कर, वक्ताका वाक्य कार्यपरक है ऐसा निश्चय करके वाक्यस्थ पदोंका कार्यान्वितमें शक्तिग्रह करता है, इसलिए कार्यान्वित अर्थमें वाक्यस्थ पदोंकी शक्ति है, सिद्ध अर्थमें नहीं है, अतः सिद्ध अर्थ वाक्यार्थ नहीं हो सकता, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तेरा पुत्र हुआ है इस वाक्य को सुननेवाले पिताके हर्षलिङ्गसे इष्ट पुत्रजन्मका अनुमान करके पुत्र आदि पदोंका सङ्गतिग्रह सिद्ध अर्थमें होनेसे

भाष्य

अनन्यशेषत्वात् । योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति

भाष्यका अनुवाद

पुरुष ( ब्रह्म ) है, वह उत्पाद्य, विकार्य आदि चार प्रकारके द्रव्योंसे विलक्षण है और अपने ही प्रकरणमें स्थित है, इसलिए वह अन्यशेष नहीं है, वह नहीं है अथवा नहीं जाना जाता, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'स एष०'

रत्नप्रभा

इत्यलम् । किञ्च, ब्रह्मणो नास्तित्वादेव कृत्स्नवेदस्य कार्यपरत्वम्, उत वेदान्तेषु तस्य अभानाद्, अथवा कार्यशेषत्वात्, किं वा लोकसिद्धत्वात्, आहोस्वित् मानान्तरविरोधात्? तत्र आद्यं पक्षत्रयं निराचष्टे—योऽसाविति । अनन्यशेषत्वार्थमसंसारी इत्यादि विशेषणम् । नास्तित्वाभावे हेतुं वेदान्तमानसिद्धत्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

और कार्यान्वितकी अपेक्षा अन्वित अर्थमें शक्ति है ऐसा माननेमें लाघव होनेसे सिद्ध भी वाक्यार्थ है। और समग्र वेद कार्यपरक है ऐसा जो तुम कहते हो उसमें क्या कारण है? क्या ब्रह्म नहीं ही है? अथवा वेदान्तोंसे उसका भान नहीं होता? अथवा ब्रह्म कार्यशेष है? अथवा वह लोकसिद्ध है? अथवा अन्य प्रमाणोंसे विरोध है? प्रथम तीन पक्षोंका निराकरण करते हैं—"योऽसौ" इत्यादिसे। आत्मा अन्यका शेष नहीं है, यह दिखलानेके लिए असंसारी आदि विशेषण दिये हैं। वेदान्तप्रमाणोंसे सिद्ध होनेके कारण आत्माका

(१) वाक्यसे अर्थका बोध कैसे होता है, इसमें मीमांसकों और नैयायिकोंका भिन्न २ मत हैं। नैयायिकोंके मतानुसार प्रत्येक पदका अर्थ सामान्य है। वाक्यमें जो एक पद दूसरे पदके साथ जोड़े जाते हैं, वे अन्वयसे जोड़े जाते हैं और यह अन्वय आकांक्षा, योग्यता और संनिधिसे होता है। इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और संनिधिके बलसे एक दूसरेके साथ जुड़े हुए पदोंका जो अर्थ है, वही वाक्यार्थ है। पदार्थ नहीं है, क्योंकि पदोंका अर्थ सामान्य है। वाक्यार्थको तात्पर्यार्थ भी कहते हैं। इस मतमें पदकी शक्ति केवल पदार्थमें है, अन्वयांशमें नहीं है। अभिहित हुए अर्थात् साधारण रीतिसे पदशक्तिसे प्रतिपादित हुए पदार्थोंका अन्वय आकांक्षा, योग्यता और संनिधिके बलसे होता है, यह जिन विद्वानोंका कथन है वे अभिहितान्वयवादी कहलाते हैं। भाट्ट मतानुयायियोंका मत भिन्न है। उनके मतानुसार पदका अर्थ सामान्य नहीं है, किन्तु विशिष्ट है अर्थात् परस्पर अन्वित ( जुड़ा हुआ ) है। पदशक्तिसे ही अन्वयका भी बोध होता है और अन्वय विशेषके बोधके लिए आकांक्षा, योग्यता और संनिधिकी भी अपेक्षा होती है। पद अन्वित अर्थका अभिधान करते हैं और पदोंका अन्वित अर्थ ही वाक्यार्थ है। ये अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं।

भाष्य

नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्, 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्। य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वप्रसङ्गात्। नन्वात्माहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्, न; तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्। न ह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थ-

भाष्यका अनुवाद

( यह नहीं, यह नहीं, इस प्रकार जो आत्मा उपदिष्ट है, वह यह है ) इस श्रुतिमें आत्मशब्द है, अतः आत्माका निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो निषेध करनेवाला है, वही आत्मा है। आत्मा 'मैं' इस प्रतीतिका विषय होनेसे उपनिषदोंसे ही जाना जाता है, यह कथन अयुक्त है। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आत्मा 'मैं' इस प्रतीतिका साक्षी है, विषय नहीं है। 'मैं' इस प्रत्ययका विषय जो कर्ता है, उससे भिन्न उसका साक्षी, सब भूतोंमें स्थित,

रत्नप्रभा

उक्त्वा हेत्वन्तरम् आत्मत्वमाह—**स एष इति**। इतिरिदमर्थे। 'इदं न इदं न' इति सर्वदृश्यनिषेधेन य आत्मा उपदिष्टः स एष इत्यर्थः। चतुर्थं शङ्कते—**नन्वात्माहमिति**। आत्मनोऽहङ्कारादिसाक्षित्वेन अहंधीविषयत्वस्य निरस्तत्वात् न लोकसिद्धता इत्याह—**नेति**। यं तीर्थकारा अपि न जानन्ति, तस्य अलौकिकत्वं किमु वाच्यमित्याह—**नहीति**। समः—तारतम्यवर्जितः। तत्तन्मते आत्मानधिगतिद्योतकानि विशेषणानि। पञ्चमं निरस्यति—**अत इति**। केनचिद् वादिना

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभाव नहीं है यह कहकर आत्मत्वरूप दूसरा हेतु कहते हैं—"स एष" इत्यादिसे। श्रुतिमें इति शब्द 'इदम्'के अर्थमें है। आशय यह है कि 'इदं न इदं न' ( यह नहीं, यह नहीं ) इस प्रकार सब दृश्य पदार्थोंके निषेधसे जिस आत्माका उपदेश किया गया है वह यही है। आत्मा लोकसिद्ध है, इस चतुर्थ पक्षकी शङ्का करते हैं—"नन्वात्माहम्" इत्यादिसे। आत्मा अहङ्कार आदिका साक्षी होनेसे 'मैं' इस प्रत्ययका विषय नहीं है, इससे वह लोकसिद्ध नहीं है, इस बातको "न" इत्यादिसे कहते हैं। जिसको शास्त्रकार भी नहीं जानते, वह अलौकिक है इसमें कहना ही क्या है, ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। सम—तारतम्यशून्य अर्थात् न्यूनाधिक्यरहित। अन्यान्यमतोंसे आत्मा अगम्य है, यह दिखलानेके लिए अनेक विशेषण दिये हैं। पांचवां पक्ष है—अन्य प्रमाणोंका विरोध है, इसलिए समग्र वेद कार्यपरक हैं, इस पक्षका निराकरण करते हैं—"अतः" इत्यादिसे। किसी वादीसे, प्रमाणसे

भाष्य

नित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा, अतः स न केनचित् प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम् । आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः। सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति । पुरुषो हि विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः, तस्मात् 'पुरुषान्न परं

भाष्यका अनुवाद

सम, एक, कूटस्थनित्य, सर्वस्वरूप, पुरुष कर्मकाण्डमें अथवा तर्कशास्त्रमें किसीसे जाना नहीं गया है। इसलिए उसका कोई निराकरण नहीं कर सकता और न वह विधिका अङ्गही ठहराया जा सकता है। वह सबका आत्मा है, इससे वह न हेय है और न उपादेय है। पुरुषको छोड़कर और सभी विकारी पदार्थ विनाशी हैं। पुरुष तो अविनाशी है, क्योंकि उसका कोई नाशक नहीं है, कूटस्थ नित्य है, क्योंकि उसमें विकारका कोई कारण नहीं है और निर्विकार होनेके कारण ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव है। इस कारण

---

रत्नप्रभा

प्रमाणेन युक्त्या वा इत्यर्थः । अगम्यत्वात् न मानान्तरविरोध इति भावः। कर्माङ्गम्, चेतनत्वात्, कर्तृवत् इति तत्र आह—**विधीति**। अज्ञातसाक्षिणोऽनुपयोगात् ज्ञातस्य व्याघातकत्वात् न कर्मशेषत्वम् इत्यर्थः। साक्षिणः सर्वशेषित्वात् अहेयानुपादेयत्वात् च न कर्मशेषत्वमित्याह—**आत्मत्वात् इति**। अनित्यत्वेन आत्मनो हेयत्वमाशङ्क्य आह—**सर्वं हीति**। परिणामित्वेन हेयतां निराचष्टे—**विक्रियेति**। उपादेयत्वं निराचष्टे—**अत एवेति**। निर्विकारित्वात् इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अथवा युक्ति द्वारा। अर्थात् अगम्य होनेके कारण अन्य प्रमाणोंसे विरोध नहीं है। कर्ताकी तरह चेतन होनेके कारण साक्षी कार्यशेष है—इस अनुमानका निराकरण करनेके लिए "विधि" इत्यादि कहते हैं। भावार्थ यह है कि कर्ममें अज्ञात साक्षीका उपयोग नहीं हो सकता है और साक्षीका ज्ञान होनेपर वह कर्मका नाशक होता है, इसलिए कार्यशेष नहीं है। साक्षी किसीका अङ्ग नहीं है, किन्तु सबका अङ्गी है, इस कारण न हेय है और न उपादेय है, इस कारणसे भी साक्षी कर्माङ्ग नहीं है ऐसा "आत्मत्वात्" इत्यादिसे कहते हैं। यदि कोई शङ्का करे कि आत्मा अनित्य होनेके कारण हेय है, तो उसका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—"सर्वं हि" इत्यादि। यदि कोई कहे कि आत्मा परिणामी होनेसे हेय है, तो इस शंकाको हटानेके लिए कहते हैं—"विक्रिय" इत्यादि। आत्मा उपादेय है इस बातका निराकरण करते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। अर्थात् विकाररहित होनेके कारण उपादेय

भाष्य

किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' (का० १।३।११) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३।९।२६) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्व उपपद्यते। अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम्। यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रम-

भाष्यका अनुवाद

'पुरुषान्न परं०' (पुरुषसे परे कुछ नहीं है, वह सबकी अवधि है, वही परम पुरुषार्थ है) इस श्रुतिमें पुरुषसे परे कोई, नहीं है ऐसा कहा गया है। और तं त्वौप०' (उस उपनिषत्गम्य पुरुषको मैं आपसे पूछता हूँ) इस श्रुतिमें पुरुषका 'औपनिषदम्' यह विशेषण, उपनिषदोंसे ही मुख्यतया पुरुषका ज्ञान होता है ऐसा माननेसे, उपपन्न होता है। इसलिए वेदभाग सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन नहीं करता है यह कथन साहसमात्र है। शास्त्रका तात्पर्य जानने-

---

रत्नप्रभा

उपादेयत्वं हि साध्यस्य, न तु आत्मनः, नित्यसिद्धत्वाद् इत्यर्थः। परप्राप्त्यर्थम् आत्मा हेय इत्यत आह—**तस्मात् पुरुषात् न परं किञ्चिद् इति**। काष्ठा सर्वस्य अवधिः। एवम् आत्मनोऽनन्यशेषत्वात्, अबाध्यत्वात् अपूर्वत्वात्, वेदान्तेषु स्फुटभावात् च वेदान्तैकवेद्यत्वमुक्तम्। तत्र श्रुतिमाह—**तन्त्वेति**। तं सकारणसूत्रस्य अधिष्ठानम्, पुरुषं पूर्णम्, हे शाकल्य! त्वा त्वां पृच्छामि इत्यर्थः। **अत इति**। उक्तलिङ्गैः श्रुत्या च वेदान्तानाम् आत्मवस्तुपरत्वनिश्चयात् इत्यर्थः। पूर्वोक्तमनुवदति—**यदपीति**। वेदस्य नैरर्थक्ये शङ्किते तस्य अर्थवत्तापरमिदं भाष्यम्—**दृष्टो हीति**। तत्र फलवदर्थावबोधनमिति वक्तव्ये धर्मविचारप्रक्रमात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

वह होता है जो कि साध्य है, आत्मा तो नित्यसिद्ध है, इसलिए उपादेय नहीं है। आत्मासे उत्कृष्ट वस्तु प्राप्त करनी है, इसलिए आत्मा हेय है इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—"तस्मात् पुरुषान्न परं किञ्चित्" इत्यादि। काष्ठा—सबकी अवधि, अन्तिम सीमा। इस प्रकार आत्मा अन्यशेष नहीं है, वह अबाध्य है, अपूर्व है और वेदान्तोंमें उसका स्पष्टीकरण है, इस प्रकार वेदान्तसे ही वेद्य है। इस कथनकी पुष्टिके लिए कहते हैं—"तं तु" इत्यादि। जो उपनिषदोंसे ही विज्ञेय है अन्य प्रमाणगम्य नहीं है, उस सकारण-सूत्रके अधिष्ठान पूर्ण आत्माको हे शाकल्य! मैं तुमसे पूछता हूँ, ऐसा याज्ञवल्क्य कहते हैं। अतः—उक्त हेतुओंसे और श्रुतिसे वेदान्त आत्मवस्तुका प्रतिपादन करते हैं ऐसा निश्चय होनेसे। पूर्व कहे हुए का अनुवाद करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे। वेद निरर्थक हैं

भाष्य

णम्—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इत्येवमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषय-

भाष्यका अनुवाद

वालोंके 'दृष्टो हि०' ( कर्मका बोध करानेमें उनका उपयोग है ) इत्यादि जो वचन दिखलाए हैं, वे धर्म जिज्ञासाके विषय होनेके कारण विधि प्रतिषेध-

रत्नप्रभा

कर्मावबोधनमित्युक्तम्, नैतावता वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वनिरासः। अत एव अनुपलब्धेऽर्थे "तत्प्रमाणमिति" सूत्रकारो धर्मस्य फलवदज्ञातत्वेनैव वेदार्थतां दर्शयति। तच्च अविशिष्टं ब्रह्मण इति न वृद्धवाक्यैः विरोध इत्याह—तद्धर्मेति। निषेधशास्त्रस्य अपि निवृत्तिकार्यपरत्वमस्ति, तत् सूत्रभाष्यवाक्यजातं कर्मकाण्डस्य कार्यपरत्वाभिप्रायम् इत्यर्थः। वस्तुतस्तु लिङर्थे कर्मकाण्डस्य तात्पर्यम्, लिङर्थश्च लोके प्रवर्तकज्ञानगोचरत्वेन क्लृप्तं यागादिक्रियागतम् इष्टसाधनत्वमेव, न क्रियातोऽतिरिक्तं कार्यम्, तस्य कूर्मलोमवदप्रसिद्धत्वात् इति तस्य अपि पराभिमतकार्यविलक्षणे सिद्धे दधिसोमादौ प्रामाण्यं किमुत ज्ञानकाण्डस्य इति मन्तव्यम्। किञ्च,

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी शंका होनेपर "दृष्टो हि" इत्यादि भाष्य उसकी अर्थवत्ता दिखलानेवाला है। यहाँ "फलवदर्थावबोधनम्" ( फलवत्—सप्रयोजन वस्तुका अवबोधन—ज्ञान ) ऐसा कहना चाहिए था, किन्तु धर्मविचाररूप प्रस्तुत विषयको लेकर "कर्मावबोधनम्" ( कर्मका ज्ञान ) ऐसा कहा है, इतनेसे ही वेदान्त ब्रह्मपरक हैं इसका निराकरण नहीं हो जाता, इसलिए सूत्रकार जैमिनिने 'अनुपलब्ध अर्थमें वेद प्रमाण है' ऐसा कहकर धर्म सप्रयोजनक एवं अज्ञात होनेके कारण ही वेदार्थ है ऐसा दिखलाया है। ब्रह्म भी फलवत् एवं अज्ञात होनेके कारण वेदार्थ है, अतः वृद्ध-वाक्योंसे विरोध नहीं है ऐसा कहते हैं—"तद्धर्म" इत्यादिसे। निषेध शास्त्र भी निवृत्तिरूप क्रियाका प्रतिपादन करता है। 'वह' अर्थात् सूत्र-भाष्यवाक्य, कर्मकाण्डपरक है ऐसा अभिप्राय दिखलाता है। वस्तुतः विधि अर्थमें कर्मकाण्डका तात्पर्य है। लोकमें प्रवर्तक ज्ञानका विषयतारूपसे निश्चित याग आदि क्रियामें जो इष्टसाधनत्व है, वही लिङ्का अर्थ है। यागादि क्रियासे भिन्न कोई अपूर्वरूप कार्य नहीं है, क्योंकि वह कूर्मके[1] लोमकी तरह अप्रसिद्ध है। इसलिए विचार करना चाहिए कि जब कर्मकाण्ड मीमांसकोंके अभिमत कार्यसे विलक्षण सिद्ध दही, सोम आदिमें प्रमाण

१ प्रश्न—अपूर्व—यागजन्य अदृष्टको आस्तिकमात्र मानते हैं, उसको कूर्मरोमकी उपमा कैसे दी गई?

उत्तर—अदृष्ट लिङर्थ है—इसमें कूर्म्मलोमकी उपमा है। इष्ट साधनत्वको लिङर्थ माननेवाले भी आशुविनाशी यागादि क्रियाकी कालान्तरभावी स्वर्गसाधनताकी अनुपपत्तिसे कल्प्य अदृष्टको मानते ही हैं। केवल अदृष्टको लिङर्थ नहीं मानते।

भाष्य

त्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम् । अपि च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः, प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति

भाष्यका अनुवाद

शास्त्रके प्रकरणमें जो सिद्ध अर्थके प्रतिपादक वाक्य हैं—तत्परक हैं ऐसा समझना चाहिए । और 'आम्नायस्य' ( वेद क्रियार्थक हैं, अतः अक्रियार्थक वाक्य अनर्थक हैं ) इस न्यायको नियमसे माननेवाले मीमांसकोंके मतमें दधि, सोम इत्यादि सिद्ध वस्तुओंका उपदेश—वाचकपद अनर्थक होंगे । यदि प्रवृत्तिविधि और निवृत्तिविधिसे अतिरिक्त सिद्ध वस्तुका भी, वह धर्मके लिए

रत्नप्रभा

वेदान्ताः सिद्धवस्तुपराः फलवद्भूतशब्दत्वाद् दध्यादिशब्दवद् इत्याह—**अपि चेति**। किम् अक्रियार्थकशब्दानाम् आनर्थक्यम् अभिधेयाभावः फलाभावो वा ? आद्ये आह—**आम्नायस्येति** । इति न्यायेन एतदभिधेयराहित्यं नियमेन अङ्गीकुर्वतां "सोमेन यजेत" "दध्ना जुहोति" इत्यादिवाक्येषु दधिसोमादिशब्दानामर्थशून्यत्वं स्यात् इत्यर्थः। ननु केन उक्तमभिधेराहित्यम् इत्याशङ्क्य आह—**प्रवृत्तीति**। कार्यातिरेकेण भव्यार्थत्वेन कार्यशेषत्वेन दध्यादिशब्दो भूतं वक्ति चेत्, तर्हि सत्यादिशब्दः कूटस्थं न वक्ति इत्यत्र को हेतुः किं कूटस्थस्य अक्रियात्वात् उताक्रियाशेषत्वाद् वा इति प्रश्नः । ननु दध्यादेः कार्यान्वयित्वेन कार्यत्वादुपदेशः, न

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं, तो ज्ञानकाण्डके बारेमें कहना ही क्या है । किञ्च, वेदान्त सिद्ध वस्तु परक है, फलवत् सिद्ध शब्दसमूह होनेके कारण, सोम आदि शब्दोंके समान, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । जो शब्द क्रियार्थक नहीं हैं उनकी अनर्थकता क्या है ? क्या उनका कुछ अर्थ ही नहीं है या वे निष्फल हैं ? प्रथम पक्षमें कहते हैं—"आम्नायस्य" इत्यादि । इस न्यायसे यदि अक्रियार्थक शब्द नियमसे अनर्थक हैं—अर्थ रहित हैं ऐसा मानें तो 'सोमेन यजेत' ( सोम याग करे ) 'दध्ना०' ( दहीसे होम करे ) इत्यादि वाक्योंमें सोम, दधि आदि शब्द अर्थशून्य हो जायंगे, इसलिये प्रथम पक्ष नहीं बनता । आनर्थक्यका अर्थराहित्य रूप अर्थ किसने कहा ? अर्थात् फलाभाव अर्थ है इस पक्षपर कहते हैं—"प्रवृत्ति" इत्यादिसे । यदि दधि आदि शब्द कार्यका बोध न करते हुए कार्यके अङ्गभूत दही आदि सिद्ध वस्तुका बोध कराते हैं, तो 'सत्य' आदि शब्द कूटस्थ ब्रह्मको नहीं कहते हैं इसमें क्या कारण हैं ? क्या कूटस्थ क्रिया नहीं है, अथवा क्रियापरक नहीं है जिससे कूटस्थरूप अर्थका 'सत्यादि' शब्द प्रतिपादन नहीं करता ? ऐसे दो पक्षोंको लेकर शंका करते हैं । दही आदि

भाष्य

भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः। नहि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति। अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्। नैष दोषः। क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव। क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न चैतावता

भाष्यका अनुवाद

उपयोगी है इस कारणसे, शास्त्र उपदेश करता है, तो कूटस्थ नित्य सिद्ध वस्तुका उपदेश क्यों नहीं करेगा। उपदिष्ट होनेवाली सिद्ध वस्तु केवल उपदेशसे ही क्रिया नहीं हो जाती। यदि कहो कि सिद्ध वस्तु भले ही क्रिया न हो, किन्तु क्रियाके साधन होनेके कारण उसका उपदेश क्रियार्थक ही है। यह दोष नहीं है, क्योंकि सिद्ध वस्तु क्रियार्थक यद्यपि है, तो भी शास्त्रसे केवल वस्तुका ही उपदेश होता है वह वस्तु वस्तुतः कार्योत्पादन शक्तिसे युक्त होती है। क्रियार्थत्व तो उसका प्रयोजन है। यदि दधि आदि सिद्ध पदार्थको कार्यशेष

रत्नप्रभा

कूटस्थस्य, अकार्यत्वात् इत्याद्यमाशङ्क्य निरस्यति—नहीति। दध्यादेः कार्यत्वे कार्याभेदे शेषत्वहानिः अतो भूतस्य कार्याद् भिन्नस्य दध्यादेः शब्दार्थत्वं लब्धमिति भावः। द्वितीयं शङ्कते—अक्रियात्वेऽपीति। क्रियार्थः कार्यशेषपरः। कूटस्थस्य तु अकार्यशेषत्वात् न उपदेश इति भावः। भूतस्य कार्यशेषत्वं शब्दार्थत्वाय फलाय वा? नाद्य इत्याह—नैष दोष इति। दध्यादेः कार्यशेषत्वे सत्यपि शब्देन वस्तुमात्रमेव उपदिष्टं न कार्यान्वयी शब्दार्थः अन्वितार्थमात्रे शब्दानां शक्तिग्रहणात् इत्यर्थः। द्वितीयम् अङ्गीकरोति—क्रियार्थत्वं त्विति। तस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यान्वयी होनेसे कार्य हैं, कूटस्थ तो कार्य नहीं है, ऐसी शंका करके उसका समाधान करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। दही आदिको कार्य मानें तो कार्यसे अभिन्न होनेके कारण वह कार्यशेष नहीं हो सकता, इसलिए कार्यसे भिन्न दही 'दधि' शब्दका अर्थ होता है। दूसरी शंका करते हैं—"अक्रियात्वेऽपि" इत्यादिसे। क्रियार्थक अर्थात् कार्यशेष। कूटस्थ तो कार्यशेष नहीं है, इससे उसका वेदवाक्योंसे उपदेश नहीं हो सकता है। भूतवस्तु कार्यशेष किसलिए हैं? क्या वह शब्दार्थ होसके इसलिए अथवा उसका कुछ प्रयोजन होसके इसलिए? प्रथम पक्ष नहीं बनता ऐसा कहते हैं—"नषै दोषः" इत्यादिसे। यद्यपि दधि आदि कार्य-शेष हैं, तो भी शब्दसे केवल वस्तुका ही बोध होता है, कार्यान्वयी शब्दार्थ नहीं है, क्योंकि शब्दकी शक्ति केवल अन्वित अर्थमें गृहीत है, कार्यान्वितमें गृहीत नहीं है। दूसरे पक्षका अङ्गीकार करते हैं—"क्रियार्थत्वं तु" इत्यादिसे। 'उसका' अर्थात् सिद्ध पदार्थ दही आदिका। दही आदि

भाष्य

वस्त्वनुपदिष्टं भवति। यदि नामोपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति। उच्यते—अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य

भाष्यका अनुवाद

मानें तो भी यह नहीं कह सकते कि वह पदार्थ दधि आदि शब्दसे उपदिष्ट नहीं है (दधि आदि शब्दका अर्थ नहीं है)। पूर्वपक्षी कहता है कि यदि सिद्ध वस्तुका उपदेश होता भी हो, तो उससे तुमको क्या लाभ होगा? (सिद्धान्ती) कहते हैं— दधि आदि पदार्थोंकी तरह अज्ञात आत्मवस्तुका भी शास्त्रसे उपदेश होना ठीक ही है। उसके ज्ञानसे संसारके कारणभूत

रत्नप्रभा

भूतविशेषस्य दध्यादेः क्रियाशेषत्वं फलमुद्दिश्य अङ्गीक्रियते इत्यर्थः। न तु ब्रह्मण इति तुशब्दार्थः। ननु भूतस्य कार्यशेषत्वाङ्गीकारे स्वातन्त्र्येण कथं शब्दार्थता इति तत्र आह—**न चेति**। फलार्थं शेषत्वाङ्गीकारमात्रेण शब्दार्थत्वभंगो नास्ति, शेषत्वस्य शब्दार्थतायामप्रवेशात् इत्यर्थः। आनर्थक्यं फलाभाव इति पक्षं शङ्कते—**यदीति**। यद्यपि दध्यादि स्वतो निष्फलमपि क्रियाद्वारा सफलत्वात् उपदिष्टम्, तथापि कूटस्थब्रह्मवादिनः क्रियाद्वाराभावात् तेन दृष्टान्तेन किं फलं स्यात् इत्यर्थः। भूतस्य साफल्ये क्रियैव द्वारम् इति न नियमः, रज्ज्वा ज्ञानमात्रेण साफल्यदर्शनात् इत्याह—**उच्यते इति**। तथैव—दध्यादिवत् एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

कार्यके अङ्ग फलके उद्देश्यसे माने जाते हैं, परन्तु किसी फलके उद्देशसे ब्रह्मको क्रियाका अङ्ग नहीं मान सकते, (क्योंकि ब्रह्म स्वयं फलरूप है अतः फलान्तरकी अपेक्षा नहीं है) यह भाष्यगत 'तु' शब्दका अर्थ है। सिद्ध वस्तुको कार्यशेष माननेपर वह स्वतंत्ररूपसे शब्दार्थ कैसे हो सकता है? वादीकी इस शङ्कापर कहते हैं—"न च" इत्यादि। आशय यह है कि केवल प्रयोजनके लिए दधि आदिको कार्यशेष माननेसे ही वे शब्दार्थ नहीं हो सकते ऐसा नहीं कहा जा सकता। (क्योंकि शेषत्वका शब्दार्थमें शक्यतावच्छेदक रूपसे प्रवेश नहीं है, जो क्रियाका अङ्ग होता है, वही शब्दका अर्थ होता है ऐसा कोई नियम नहीं है। कोई पदार्थ क्रियाका अङ्ग हो यह दूसरी बात है, और शब्दका अर्थ हो यह दूसरी बात है, इनमें परस्पर कुछ भी संबन्ध नहीं है।) अक्रियार्थक शब्द अनर्थक हैं इसमें आनर्थक्य फलाभाव है इस दूसरे पक्षको लेकर शङ्का करते हैं—"यदि" इत्यादिसे। आशय यह है कि यद्यपि दही आदिके स्वरूपसे निष्फल होने पर भी क्रिया द्वारा सफल होनेके कारण उनका उपदेश किया गया है, कूटस्थ ब्रह्मवादीके मतमें ब्रह्म क्रिया द्वारा सफल नहीं हो सकता है, अतः दधिके दृष्टान्तसे क्या प्रयोजन होगा? इस शङ्कापर सिद्ध अर्थकी सफलतामें क्रिया ही द्वार हो ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ज्ञानमात्र से रज्जुकी सफलता देखनेमें आती है,

भाष्य

संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियते इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन ।) अपि च 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति एवमाद्या निवृत्तिरुप-

भाष्यका अनुवाद

मिथ्याज्ञानका नाश होता है, इस कारण क्रियाके साधन वस्तुके उपदेशके समान आत्मवस्तुका उपदेश भी सार्थक है। और 'ब्राह्मणो०' ( ब्राह्मणका हनन नहीं करना चाहिए ) इत्यादि स्थलोंमें निवृत्तिका उपदेश किया जाता है। वह न

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। दध्यादेः क्रियाद्वारा साफल्यम्, ब्रह्मणस्तु स्वत इति विशेषे सत्यपि वेदान्तानां सफलभूतार्थकत्वमात्रेण दध्याद्युपदेशसाम्यमिति अनवद्यम्। इदानीं वेदान्तानां निषेधवाक्यवत् सिद्धार्थपरत्वम् इत्याह—अपि चेति। नञः प्रकृत्यर्थेन सम्बन्धाद् हननाभावो नञर्थः, इष्टसाधनत्वं तव्यादिप्रत्ययार्थः, इष्टश्च अत्र नरकदुःखाभावः, तत्परिपालको हननाभाव इति निषेधवाक्यार्थः। हननाभावो दुःखाभावहेतुः इत्युक्तौ अर्थात् हननस्य दुःखसाधनत्वधिया पुरुषो निवर्त्तते, न अत्र नियोगः कश्चिदस्ति, तस्य क्रियातत्साधनदध्यादिविषयत्वात्। न च हनना-भावरूपा नञ्वाच्या निवृत्तिः क्रिया, अभावत्वात्। नापि क्रियासाधनम्, अभावस्य भावार्थाहेतुत्वाद् भावार्थासत्त्वात् च इत्यर्थः। अतो निषेधशास्त्रस्य सिद्धार्थे

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। 'वैसे ही' अर्थात् दही आदिके समान ही। दही आदि क्रिया द्वारा सफल होते हैं, ब्रह्म अपने आप ही सफल है यद्यपि इतना भेद है, तो भी दधि आदि शब्द जैसे सफल सिद्ध वस्तुका बोध कराते हैं, उसी प्रकार वेदान्त भी सफल सिद्ध ब्रह्मका बोध कराते हैं इतने अंशमें समता है ही, अतः कोई दोष नहीं है। अब वेदान्त निषेधवाक्योंके समान सिद्धार्थपरक हैं ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। नञ् ( न ) का प्रकृति ( हन् धातु ) के अर्थके साथ सबन्ध होनेसे नञ्का अर्थ हननका अभाव है, 'हन्तव्यः' में 'तव्य' प्रत्ययका अर्थ इष्टसाधनत्व है, यहाँ नरकदुःखका अभाव इष्ट है, उस नरक दुःखके अभावका रक्षण करनेवाला हननाभाव है, यह निषेध वाक्यका अर्थ है। हननाभाव दुःखाभावका हेतु है ऐसा कहनेसे अर्थात् हनन दुःखका साधन है, इस विचारसे पुरुष हननसे निवृत्त होता है। यहाँ तो कोई विधि नहीं है, क्योंकि क्रिया अथवा क्रियाके साधन दही आदि विधिके विषय हैं। हननाभाव रूप नञर्थ निवृत्ति क्रिया है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि निवृत्ति अभावरूप है। वह क्रियासाधन भी नहीं है, क्योंकि अभाव भावरूप अर्थके प्रति कारण नहीं हो सकता है और वह कार्याभावरूप है अतः कार्यविरोधी

भाष्य

दिश्यते। न च सा क्रिया, नापि क्रियासाधनम्। अक्रियार्थाना-मुपदेशोऽनर्थकश्चेत् 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम्। तच्चाऽनिष्टम्। न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्रा-

भाष्यका अनुवाद

तो क्रिया है और न क्रियासाधन ही है। यदि अक्रियार्थक वाक्योंका उपदेश अनर्थक हो, तो 'ब्राह्मणो०' इत्यादि निवृत्तिका उपदेश व्यर्थ हो जायगा। उसका व्यर्थ होना इष्ट नहीं है। 'नञ्' का रागतः प्राप्त हनन क्रियाके साथ

---

रत्नप्रभा

प्रामाण्यम् इति भावः। विपक्षे दण्डमाह—अक्रियेति। ननु स्वभावतः—रागतः प्राप्तेन हन्त्यर्थेन अनुरागेण—नञः सम्बन्धेन हेतुना हननविरोधिनी संकल्पक्रिया बोध्यते, सा च नञर्थरूपा तत्र अप्राप्तत्वात् विधीयते 'अहननं कुर्यात्' इति। तथा च कार्यार्थमिदं वाक्यम् इत्याशङ्क्य निषेधति—न चेति। औदासीन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्, तच्च हननक्रियानिवृत्त्युपलक्षितं निवृत्त्यौदासीन्यम्, हननाभाव इति यावत्। तद्व्यतिरेकेण नञः क्रियार्थत्वं कल्पयितुं न च शक्यमिति योजना। मुख्यार्थस्य अभावस्य नञर्थत्वसम्भवे तद्विरोधिक्रियालक्षणाया अन्याय्यत्वात्, निषेधवाक्यस्य अपि कार्यार्थकत्वे विधिनिषेधभेदविप्लवापत्तेश्च इति भावः। ननु तदभाववत् तदन्यतद्विरुद्धयोरपि नञः शक्तिः किं न स्याद्, 'अब्राह्मणः, अधर्मः'

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी है ऐसा अभिप्राय है। इस कारण निषेधशास्त्र सिद्धार्थमें प्रमाण हैं। विपक्षमें—अक्रियार्थक निषेधशास्त्रके उपदेशको भी अनर्थक माननेमें—बाधक कहते हैं—"अक्रिय" इत्यादिसे। यहाँ शङ्का होती है कि रागसे प्राप्त हनन क्रियाके साथ नञ्का संबन्ध होनेके कारण हननविरोधी सङ्कल्पक्रियाका बोध होता है, वह क्रिया नञ्का अर्थ है और अन्य किसी विधिसे प्राप्त न होनेके कारण उसका 'अहननं कुर्यात्' (हनन नहीं करना चाहिए) ऐसा विधान होता है। इस प्रकार 'ब्राह्मणो०' यह वाक्य क्रियार्थक है ऐसी शङ्का करके उसका निराकरण करते हैं—"न च" इत्यादिसे। औदासीन्य पुरुषका स्वरूप है अर्थात् पुरुषका धर्म है, हनन क्रियाकी निवृत्तिसे उपलक्षित वह निवृत्त्यौदासीन्य है अर्थात् हननका अभावरूप है। हनन क्रियाकी निवृत्तिरूप औदासीन्यसे भिन्न नञ्के क्रियार्थत्वकी कल्पना नहीं की जा सकती, ऐसी योजना करनी चाहिए। जब अभाव नञ्का मुख्यार्थ हो सकता है, तब तद्विरोधी क्रियामें लक्षणा करना ठीक नहीं है, और निषेध वाक्य भी कार्यार्थक मानें जायँ, तो विधिवाक्य और निषेधवाक्यके भेदका ही नाश हो जायगा। यहाँ शङ्का होती है कि जैसे तदभाव (उसका अभाव) में नञ्की शक्ति है, उसी प्रकार तदन्य (उससे दूसरा) और तद्विरुद्ध (उससे विपरीत) में भी नञ्की

भाष्य

प्रक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण। नञश्चैष स्वभावो यत् स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधयतीति। अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकार-

भाष्यका अनुवाद

सम्बन्ध होनेसे हनन क्रियासे निवृत्त होकर औदासीन्य स्वीकार करना ही अर्थ है, इस अर्थसे भिन्न लक्षणाद्वारा अहनन संकल्प आदि—अप्राप्त क्रियारूप नञ्के अर्थकी कल्पना नहीं की जा सकती। अपने संबन्धी पदार्थके अभावका बोध कराना नञ्का स्वभाव है। अभावज्ञान औदासीन्यका कारण है। जिस प्रकार

रत्नप्रभा

इति प्रयोगदर्शनात्,* इति चेत्, न; अनेकार्थत्वस्य अन्याय्यत्वात् इत्याह—नञश्चेति। गवादिशब्दानां तु अगत्या नानार्थत्वम्। स्वर्गेषुवाग्वज्रादीनां शक्यपशुसम्बन्धाभावेन लक्षणानवतारात्। अन्यविरुद्धयोस्तु लक्ष्यत्वं युक्तम्, शक्यसम्बन्धात्। ब्राह्मणात् अन्यस्मिन् क्षत्रियादौ धर्मविरुद्धे वा पापे ब्राह्मणाद्य-भावस्य नञ्शक्यस्य सम्बन्धात्, प्रकृते च आख्यातयोगात् नञ् प्रसज्यप्रतिषेधक

रत्नप्रभाका अनुवाद

शक्ति क्यों नहीं है, क्योंकि 'अब्राह्मणः' ( ब्राह्मणसे भिन्न ) और 'अधर्मः' ( धर्मसे विरुद्ध ) ऐसे प्रयोग देखनेमें आते हैं और 'तत्सादृश्य.........प्रकीर्तिताः' के अनुसार नञ्के अनेक अर्थ हैं। यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि एक शब्दके अनेक अर्थ होना न्याय्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नञश्च" इत्यादिसे। गो आदि शब्दोंके अनेक अर्थ अन्य उपायके न होनेसे मानने पड़ते हैं, क्योंकि स्वर्ग, वाण, वाणी, वज्र आदि अर्थोंका शक्यार्थ—गायके साथ संबन्ध न होनेसे लक्षणा नहीं हो सकती। अन्य और विरुद्ध ये दो अर्थ नञ्के शक्यार्थके साथ संबद्ध हैं, इसलिए लाक्षणिक हैं ऐसा कहना युक्त है, क्योंकि 'अब्राह्मणः' ( ब्राह्मणसे अन्य क्षत्रिय आदि ) 'अधर्मः' ( धर्मविरुद्ध पाप ) इन स्थलोंमें ब्राह्मणसे भिन्न क्षत्रिय आदिमें और धर्मविरुद्ध पापमें ब्राह्मणाभावरूप नञ्के शक्यार्थका संबन्ध है। प्रकृतमें 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'

* "तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

इत्यनेकार्थत्वात्, कुत्रचिदादर्शे इत्यधिकः पाठः।

नञ्के छः अर्थ हैं—(१) तत्सादृश्य—उसके समान, जैसे कि 'अनिक्षुः' गन्ना नहीं है, गन्नेके सदृश अर्थात् सरकंडा। (२) अभाव, 'भूतले घटो नास्ति ( पृथिवीपर घड़ा नहीं है ) इसमें अत्यन्ताभाव है। (३) तदन्य—उससे दूसरा, जैसे कि 'अघटः' घड़ेसे भिन्न पट। (४) तदल्पता जैसे कि 'अनुदरम्' अल्प उदर, तरुणीका अल्प उदर। (५) अप्राशस्त्य—प्रशस्तताका अभाव, जैसे कि 'अकालः', 'अकार्यम्' अप्रशस्त—अयोग्य काल और कार्य। (६) विरोध जैसे कि अधर्म—पाप आदि।

भाष्य

णम्, सा च दग्धेन्धनाग्निवत् स्वयमेवोपशाम्यति। तस्मात् प्रसक्तक्रियानिवृ-

भाष्यका अनुवाद

अग्नि लकड़ीको जलाकर स्वयं बुझ जाती है, उसी प्रकार वह ज्ञान रागका नाश करके अपने आप शान्त हो जाता है। इस कारण प्रजापतिव्रत आदिको

रत्नप्रभा

एव, न पर्युदासलक्षक इति मन्तव्यम्। यद्वा, नञः प्रकृत्या न सम्बन्धः। प्रकृतेः प्रत्ययार्थोपसर्जनत्वात्, प्रधानसम्बन्धात् च अप्रधानानाम्, किन्तु प्रकृत्यर्थनिष्ठेन प्रत्ययार्थेन इष्टसाधनत्वेन सम्बन्धो नञः। इष्टं च स्वापेक्षया बलवदनिष्टाननुबन्धि यत् तदेव, न तात्कालिकसुखमात्रं विषसंयुक्तान्नभोगस्य अपि इष्टत्वापत्तेः, तथा च "न हन्तव्यः" इत्यत्र हननं बलवदनिष्टासाधनत्वे सति इष्टसाधनं न भवति इत्यर्थः। अत्र च "हन्तव्यः" इति हनने विशिष्टेष्टसाधनत्वं भ्रान्तिप्राप्तमनूद्य न इति अभावबोधने बलवदनिष्टसाधनं हननमिति बुद्धिर्भवति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसमें आख्यातका संबन्ध रहनेके कारण नञ् प्रसज्यप्रतिषेध[1] करनेवाला है पर्युदासलक्षक[2] नहीं है ऐसा तात्पर्य है। अथवा नञ्का प्रकृति ( हन् ) के साथ संबन्ध नहीं है, क्योंकि प्रकृति प्रत्ययार्थका उपसर्जन ( विशेषण ) है और अप्रधान पदार्थोंका प्रधानके साथ संबन्ध होता है। परन्तु नञ्का संबन्ध, प्रकृतिके अर्थमें वर्तमान प्रत्ययका अर्थ जो इष्टसाधनत्व है, उसके साथ है। जो अपनेसे बड़े अनिष्टका अनुसारी न हो, वही इष्ट है, केवल तात्कालिक सुख इष्ट नहीं है। अन्यथा विषमिश्रित अन्नका भोजन भी इष्ट हो जायगा। इसी प्रकार 'न हन्तव्यः' इसका अर्थ यह है कि हनन बलवान् अनिष्टका असाधन होकर इष्टका साधन नहीं होता। यहाँ 'हन्तव्यः' इसमें हनन बलवत् अनिष्टका असाधन होकर इष्टका साधन है ऐसा भ्रान्तिप्राप्त इष्टसाधनत्वका अनुवाद करके 'न' से अभावका

(१) 'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता। प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥' जिस वाक्यमें विधि अप्रधान और प्रतिषेध प्रधान हो और जहाँ नञ्का क्रियाके साथ संवन्ध हो, वहाँ नञ् का प्रसज्यप्रतिषेध अर्थ है। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इसमें वलवत् अनिष्टके असाधनत्वसे विशिष्ट इष्टसाधनत्वरूप विधिवाचक प्रत्ययके अर्थके अभावका भक्षण क्रियामें बोध नञ् कराता है, इसलिए विधि अप्रधान है और नञ्का अर्थ अभाव प्रधान है इसलिए क्रियापदके साथ जिसका अन्वय है ऐसा नञ् प्रसज्य प्रतिषेध है। प्रसज्य—प्रसक्त करके निषेध।

(२) 'प्राधान्यं हि विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता। पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥'

जिसमें विधि प्रधान और प्रतिषेध अप्रधान हो और जिसमें उत्तरपदके साथ नञ्का अन्वय हो, वहां नञ्का पर्युदास अर्थ है।

### रत्नप्रभा

हनने तात्कालिकेष्टसाधनत्वरूपविशेष्यसत्त्वेन विशिष्टाभावबुद्धेर्विशेषणाभावपर्यवसानात्। विशेषणं बलवदनिष्टासाधनत्वमिति तदभावो बलवदनिष्टसाधनत्वं नञर्थ इति पर्यवसन्नम्। तद्बुद्धिरौदासीन्यपरिपालिका इत्याह—**अभावेति**। चोऽप्यर्थः पक्षान्तरद्योती। प्रकृत्यर्थाभावबुद्धिवत् प्रत्ययार्थाभावबुद्धिरपि इत्यर्थः। बुद्धेः क्षणिकत्वात् तदभावे सति औदासीन्यात् प्रच्युतिरूपा हननादौ प्रवृत्तिः स्यात् इति तत्र आह— **सा चेति**। यथा अग्निः इन्धनं दग्ध्वा शाम्यति, एवं सा नञर्थाभावबुद्धिः हननादौ इष्टसाधनत्वभ्रान्तिमूलं रागेन्धनं दग्ध्वैव शाम्यति इत्यक्षरार्थः। रागनाशे कुतः प्रच्युतिः इति भावः। यद्वा, रागतः प्राप्ता सा क्रिया रागनाशे स्वयमेव शाम्यति इत्यर्थः। परपक्षे तु हननविरोधिक्रिया कार्या इति उक्तेऽपि हननस्य इष्टसाधनत्वभ्रान्त्यनिरासात् प्रच्युतिर्दुर्वारा। तस्मात् तदभाव एव नञर्थ इति उपसंहरति—**तस्मादिति**। भावार्थाभावेन तद्विषयककृत्यभावात् कार्याभावः तच्छब्दार्थः। यद्वा इति उक्तपक्षे निवृत्त्युपल-

### रत्नप्रभाका अनुवाद

बोध होनेपर हनन बलवत् अनिष्टका साधन है ऐसी बुद्धि होती है। हननमें तात्कालिक इष्टसाधनत्वरूप विशेष्य है, इसलिए विशिष्टाभाव बुद्धिका विशेषणाभावमें पर्यवसान होता है। बलवदनिष्टासाधनत्व विशेषण है, अतः बलवदनिष्टासाधनत्वका अभाव बलवदनिष्टसाधनत्व नञ्का अर्थ है, यह परिणाम निकलता है। और यह बुद्धि औदासीन्यका पोषणकरती है ऐसा कहते हैं—"अभाव" इत्यादिसे। भाष्यगत 'च' कार 'अपि' (भी) के अर्थमें है, अर्थात् पक्षान्तरका द्योतक है। तात्पर्य यह है कि प्रकृत्यर्थाभावबुद्धिके समान प्रत्ययार्थाभावबुद्धि भी औदासीन्यकी पोषिका है। बुद्धि क्षणिक है, इससे बुद्धिके अभावकालमें औदासीन्यसे प्रच्युति—भ्रंशरूप हनन आदिमें प्रवृत्ति होगी इस शंकापर कहते हैं—"सा च" इत्यादि। जैसे अग्नि ईन्धनको जलाकर शान्त हो जाती है, उसी प्रकार नञ्का अर्थ अभावबुद्धि भी हनन आदिमें इष्टसाधनत्वकी भ्रान्तिसे उत्पन्न रागरूप ईन्धनको जलाकर शान्त हो जाती है। इस प्रकार रागका नाश होनेपर औदासीन्यसे प्रच्युति कैसे हो ऐसा भावार्थ है। अथवा रागसे प्राप्त हुई हनन क्रिया रागका नाश होनेपर स्वयं शान्त हो जाती है ऐसा अर्थ है। वादीके कथनके अनुसार हननविरोधी क्रिया करनी चाहिए ऐसा कहनेसे हनन इष्टका साधन है इस भ्रान्तिका निरास नहीं होता, इसलिए औदासीन्यसे प्रच्युतिका निवारण नहीं हो सकता। इस कारण उस क्रियाका अभाव ही नञ्का अर्थ है ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। भावरूप अर्थ न होनेके कारण तद्विषयक कृतिका अभाव है, अतः कार्यका

(१) कार्य्य लिङर्थ है ऐसा माननेवाला। (२) अहननसंकल्प। (३) निराकरण।

(४) 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इसमें दो तरहका शाब्दबोध दिखलाया गया है। (I) नञ्का प्रकृत्यर्थ हननमें अन्वय करके 'हननाभावः इष्टसाधनम्, इत्याकारक और

भाष्य

स्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे,

भाष्यका अनुवाद

छोड़कर 'ब्राह्मणो०' इत्यादि स्थलोंमें प्रकरणप्राप्त क्रियासे निवृत्त होकर औदासीन्य स्वीकार करना ही 'नञ्' इस प्रतिषेधका अर्थ है ऐसा हम मानते हैं।

रत्नप्रभा

क्षितम् औदासीन्यं यस्मात् विशिष्टाभावायत्तमेव इति व्याख्येयम्। स्वतःसिद्धस्य औदासीन्यस्य नञर्थसाध्यत्वोपपादनार्थं निवृत्त्युपलक्षितत्वम् इति ध्येयम्। "तस्य बटोर्व्रतम्" इति अनुष्ठेयक्रियावाचिव्रतशब्देन कार्यमुपक्रम्य "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्" इति प्रजापतिव्रतमुक्तम्। अत उपक्रमबलात् तत्र नञ ईक्षणविरोधिसङ्कल्पक्रियालक्षणाऽङ्गीकृता, एवम् अगौः, असुराः, अधर्मः इत्यादौ नामधात्वर्थयुक्तस्य नञः प्रतिषेधवाचित्वायोगाद् अन्यविरुद्धलक्षकत्वम्। एतेभ्यः प्रजापति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभाव है, वह कार्याभाव यहाँ तत् शब्दका अर्थ है। यद्वा इत्यादिसे कहे हुए दूसरे पक्षमें निवृत्तिसे उपलक्षित औदासीन्य जिस कारणसे विशिष्टाभावके अधीन ही है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। स्वतः सिद्ध औदासीन्य नञर्थ–निषेधसे साध्य है ऐसा बतानेके लिए औदासीन्यमें निवृत्त्युपलक्षितत्व विशेषण है ऐसा समझना चाहिए। 'तस्य बटोर्व्रतम्। ( उस बटुका व्रत) इसमें अनुष्ठेय जो क्रिया तद्वाचक व्रत शब्दसे कार्यका उपक्रम करके 'नेक्षेतो०' (उदय होते हुए सूर्यको न देखे) इस प्रकार प्रजापतिव्रत कहा है। इसलिए उपक्रमके बलसे यहाँ नञ्का ईक्षण विरोधी सङ्कल्पक्रियारूप अर्थमें लक्षणाका स्वीकार किया है। इसी प्रकार 'अगौः' 'असुराः' 'अधर्मः' इनमें नामधात्वर्थसे[२] युक्त नञ्का प्रतिषेध अर्थ नहीं हो सकता है, इसलिए लक्षणासे अन्य और

(II) नञ्का प्रत्ययार्थमें अन्वय करके 'हननं बलवदनिष्टासाधनत्वविशिष्टेष्टसाधनत्वाभाववत्' इत्याकारक। कार्य कृतिसाध्य होता है, और कृतिका विषय भावरूप क्रिया होती है। नञ्का अर्थ अभाव होनेके कारण ( भावरूप न होनेके कारण ) भावविषयक कृति नहीं हो सकती है, कृतिके अभावसे कार्याभाव है। यद्वा इत्यादिसे कहे हुए दूसरे पक्षमें निवृत्त्युपलक्षित औदासीन्य विशिष्टाभाव ( बलवदनिष्टासाधनत्वविशिष्टेष्टसाधनत्वाभाव ) के अधीन होनेके कारण विशिष्टाभाव ही नञ्का अर्थ है, ऐसा व्याख्यान समझना चाहिए। औदासीन्य स्वतःसिद्ध है, साध्य नहीं है। निवृत्ति साध्य है, अतः निवृत्त्युपलक्षितत्व विशेषण दिया है। विशेषण साध्य होनेके कारण विशेषणविशिष्ट भी साध्य है ऐसा तात्पर्य है।

(१) बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वाभावसे जन्य है।

(२) अगौः, असुराः, इत्यादिस्थलमें नामार्थयुक्त नञ् है और 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इत्यादि स्थलमें धात्वर्थयुक्त है।

भाष्य

अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। तस्मात् पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम्। यदप्युक्तम्—'कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात् 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादिवत्' इति, तत् परिहृतम्, रज्जुरियं नायं सर्प इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्। ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम्। अत्रोच्यते—नाऽवगतब्रह्मात्मभावस्य

भाष्यका अनुवाद

इस कारण पुरुषार्थके अनुपयोगी उपाख्यान आदि भूतार्थवाद 'आम्नायस्य०' इस सूत्रसे अनर्थक कहे गये हैं ऐसा समझना चाहिए। कर्तव्य-विधिके साथ संबन्धके बिना ही कहे जानेवाले केवल पदार्थ 'सप्तद्वीपा०' ( सात द्वीपवाली पृथिवी ) इत्यादि कथनके समान निरर्थक हैं ऐसा जो कहा है, उसका 'यह रज्जु है, सर्प नहीं है' इस प्रकार वस्तुमात्रके कथनसे भी प्रयोजन देखनेमें आता है इत्यादि कहकर निराकरण किया गया है। जिसने ब्रह्मका श्रवण किया है, उसमें भी पहलेके समान सांसारिकता देखनेमें आती है, इस कारण रज्जुस्वरूपके कथनके समान ब्रह्मस्वरूपका कथन सार्थक नहीं है, ऐसी पीछे जो शङ्का की गई है, उसके उत्तरमें कहते हैं। जिसको 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव हो गया है

रत्नप्रभा

व्रतादिभ्योऽन्यत्र अभावमेव नञर्थं मन्यामहे इत्यर्थः। दुःखाभावफलके नञर्थे सिद्धे निषेधशास्त्रमानत्ववत् वेदान्तानां ब्रह्मणि मानत्वम् इति भावः। तर्हि 'अक्रियार्थानामानर्थक्यम्' इति सूत्रं किंविषयम् इति तत्र आह—तस्मादिति। वेदान्तानां स्वार्थे फलवत्त्वाद् व्यर्थकथाविषयं तत् इत्यर्थः। यदपि इत्यादि स्पष्टार्थम्। श्रवणज्ञानमात्रात् संसारानिवृत्तौ अपि साक्षात्कारात् जीवत एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

विरुद्धरूप अर्थ करना चाहिए। प्रजापतिव्रत आदिसे भिन्न स्थलोंपर अभाव ही नञ्का अर्थ है ऐसा हम मानते हैं यह अर्थ है। दुःखाभाव जिसका फल है ऐसे सिद्ध नञर्थमें जैसे निषेधशास्त्र प्रमाण है, उसी प्रकार ब्रह्ममें वेदान्त प्रमाण हैं ऐसा इसका भावार्थ है। तब 'अक्रियार्थानामानर्थक्यम्' ( अक्रियार्थक वाक्य अनर्थक हैं ) इस मीमांसाके सूत्रका विषय क्या है? इस प्रश्न पर कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादि। वेदान्त स्वार्थमें फलवत् हैं, इसलिए उक्त सूत्रके विषय व्यर्थ कथाका प्रतिपादन करनेवाले अर्थवाद ही हैं। "यदपि" इत्यादिका अर्थ स्पष्ट है। केवल

(१) यह 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इस सूत्र का अर्थ है सूत्र नहीं है।

भाष्य

यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात्। नहि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। नहि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति। न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमान-

भाष्यका अनुवाद

वह पहलेके समान संसारी है, ऐसा नहीं दिखा सकते, क्योंकि वेदरूप प्रमाणसे उत्पन्न ब्रह्मात्मभावसे संसारित्वका विरोध है। शरीर आदिमें आत्मबुद्धि रखनेवाले पुरुषमें दुःख, भय आदि देखनेमें आते हैं, तो वेदरूप प्रमाणसे उसी पुरुषको 'ब्रह्म आत्मा है' ऐसा ज्ञान होनेपर उस बुद्धिकी निवृत्ति हो जानेसे मिथ्याज्ञानसे होनेवाले दुःख, भय आदि उससें हो सकते हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। यह धन मेरा है ऐसा अभिमान करनेवाले धनी गृहस्थको उस धनकी चोरीसे दुःख होना देखा जाता है, यदि वही पुरुष संसारका त्याग कर दे और धनमें अभिमान छोड़ दे, तो उसे उस धनकी चोरीसे होनेवाला दुःख नहीं होता। इसी प्रकार कुण्डल पहिननेवालेमें 'मैंने कुण्डल पहिन रक्खे हैं' इस अभिमानसे उत्पन्न होनेवाला सुख देखनेमें आता है, यदि वही पुरुष कुण्डलरहित हो जाय या उसे कुण्डलित्वाभिमान न रहे तो 'कुण्डल पहिने हैं' इस अभिमानसे उत्पन्न होनेवाला वही सुख उस पुरुषको नहीं होता। यही बात 'अशरीरं०' (शरीररहित

रत्नप्रभा

मुक्तिः दुरपह्नवा इति सदृष्टान्तमाह—**अत्रोच्यते इत्यादिना**। ब्रह्म अहमिति साक्षात्कारविरोधात् इत्यर्थः। तत्त्वविदो जीवन्मुक्तौ मानम् आह—**तदुक्तं श्रुत्येति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रवणज्ञानसे संसारकी निवृत्ति नहीं होती है, तो भी ब्रह्मसाक्षात्कारसे जीतेजी ही मुक्ति प्राप्त होती है, उसका निषेध नहीं किया जा सकता इस बातको दृष्टान्तसहित कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। 'ब्रह्मात्मभावविरोधात्' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस साक्षात्कारसे विरोध होनेके कारण। तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त होता है इसमें प्रमाण कहते हैं—"तदुक्तं श्रुत्या" इत्यादिसे।

भाष्य

रहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या—'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' ( छा० ८।१२।१ ) इति। शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवत इति चेत्, न; सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। नह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम। तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेत्, न; शरीर-

भाष्यका अनुवाद

हुए आत्माको सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते ) इस श्रुतिसे भी कही गई है। शरीरपात होनेपर शरीररहित स्थिति होती है, जीतेजी नहीं हो सकती ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सशरीर स्थिति मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न होती है। 'शरीर ही आत्मा है' इस अभिमानरूप मिथ्याज्ञानको छोड़कर अन्य किसी कारणसे आत्मामें सशरीरत्वकी कल्पना नहीं की जा सकती। कर्मसे उत्पन्न न होनेके कारण शरीर-रहित स्थिति नित्य है ऐसा हम पीछे कह आये हैं। आत्मासे किये गये धर्म और अधर्मसे उसे शरीर प्राप्त होता है। यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि आत्माका शरीरके साथ संबन्ध ही असिद्ध है। इस कारण धर्म और अधर्म आत्मासे किये गये हैं, यह बात भी असिद्ध है।

रत्नप्रभा

जीवतोऽशरीरत्वं विरुद्धम् इति शङ्कते—**शरीर इति**। आत्मनो देहसम्बन्धस्य भ्रान्तिप्रयुक्तत्वात् तत्त्वधिया तन्नाशरूपम् अशरीरत्वं जीवतो युक्तम् इत्याह—**नेत्यादिना**। असङ्गात्मस्वरूपं त्वशरीरत्वं भ्रान्त्यावृतं तत्त्वधिया जीवतो व्यज्यते इत्याह—**नित्यमिति**। देहात्मनोः सम्बन्धः सत्य इति शङ्कते—**तत्कृतेति**। तन्नाशार्थं कार्यापेक्षेति भावः। आत्मनः शरीरसम्बन्धे जाते धर्माधर्मोत्पत्तिः तस्यां सत्यां

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीतेजी अशरीरस्थिति विरुद्ध है ऐसी शङ्का करते हैं—"शरीर" इत्यादिसे। आत्माका देहके साथ संबन्ध पारमार्थिक नहीं है, किन्तु भ्रान्तिप्रयुक्त है। इससे तत्त्वज्ञानसे उसका नाशरूप अशरीरत्व जीतेजी हो सकता है ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। असङ्ग आत्मरूप अशरीरत्व मिथ्याज्ञानसे आवृत रहता है, तत्त्वज्ञानसे आवरणका नाश होनेपर जीतेजी ही अशरीरत्व व्यक्त हो जाता है ऐसा कहते हैं—"नित्यं" इत्यादिसे। देह और आत्माका संबन्ध सत्य है ऐसी शङ्का "तत्कृत" इत्यादिसे करते हैं। तात्पर्य यह है कि धर्म और अधर्मसे कृत शरीरात्म सम्बन्धके नाशके लिए उपासनारूप कार्यकी अपेक्षा है। आत्माका शरीरके साथ संबन्ध

भाष्य

सम्बन्धस्य असिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः । शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषाऽनादित्व-कल्पना । क्रियासमवायाभावाच्चाऽऽत्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः । संनिधान-

भाष्यका अनुवाद

आत्मा का शरीरके साथ संबन्ध हो तो धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति हो और आत्मासे किये गये धर्म और अधर्मसे शरीरके साथ संबन्ध हो ऐसा अन्यो-न्याश्रय[1] होगा । इन दोनोंका परस्पर कार्यकारणभाव अनादि है ऐसा मानना भी केवल अन्धपरम्परा ही है । आत्माका क्रियाके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण वह कर्ता भी नहीं हो सकता । कर्मचारियोंके साथ सन्निधानमात्रसे राजा

रत्नप्रभा

सम्बन्धजन्म इति अन्योन्याश्रयात् एकस्यासिद्ध्या द्वितीयस्य असिद्धिः स्यात् इति परिहरति—**नेत्यादिना** । ननु एतद्देहजन्यधर्माधर्मकर्मण एतद्देहसम्बन्धहेतुत्वे स्यात् अन्योन्याश्रयः, पूर्वदेहकर्मण एतद्देहसम्बन्धोत्पत्तिः, पूर्वदेहश्च तत्पूर्व-देहकृतकर्मण इति बीजाङ्कुरवदनादित्वात् नायं दोष इत्यत आह—**अन्धेति** । अप्रामाणिकीत्यर्थः । नहि बीजात् अङ्कुरः ततो बीजान्तरं च यथा प्रत्यक्षेण दृश्यते, तद्वत् आत्मनो देहसम्बन्धः पूर्वकर्मकृतः प्रत्यक्षः, नापि अस्ति कश्चित् आगमः, प्रत्युत 'असङ्गो हि' इत्यादिः श्रुतिः सर्वकर्तृत्वं वारयति इति भावः । तत्र युक्तिम् आह—**क्रियेति** । कूटस्थस्य कृत्ययोगात् न कर्तृत्वम् इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति होती है और उनकी उत्पत्ति होनेपर संबन्ध उत्पन्न होता है, इस अन्योन्याश्रय दोषसे एकके असिद्ध होनेपर दूसरेकी भी असिद्धि हो जाती है इस प्रकार शङ्काका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे । यदि इस शरीरसे उत्पन्न धर्म और अधर्मरूप कर्मको इस शरीरके साथ आत्माके संबन्धके प्रति कारण मानें तो अन्योन्याश्रय हो । परन्तु पूर्वदेहमें किये हुए कर्मोंसे इस शरीरके साथ संबन्धकी उत्पत्ति होती है और पूर्वदेह उससे पहलेके देहसे किये हुए कर्मोंसे उत्पन्न होता है । इस प्रकार बीजाङ्कुरन्यायसे देहसंबन्ध और कर्मका कार्यकारणभाव अनादि है, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं है, इस शङ्कापर कहते हैं—"अन्ध" इत्यादि । आशय यह है कि अनादिताकी कल्पना अप्रामाणिक है । बीजसे अङ्कुर-का और अङ्कुरसे दूसरे बीजका जन्म जैसे प्रत्यक्ष देखनमें आता है, उस प्रकार पूर्वकर्मोंसे आत्माका देहके साथ संबन्ध होना प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता और इसमें कोई आगम ( शास्त्र ) भी प्रमाण नहीं है, किन्तु इसके विपरीत 'असङ्गो हि' इत्यादि श्रुति आत्माके कर्तृत्वका निवारण करती हैं ऐसा तात्पर्य है । आत्मामें कर्तृत्व नहीं है इस विषयमें युक्ति कहते हैं—"क्रिया"

( १ ) परस्पर सापेक्ष होना ।

भाष्य

मात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेत्, न; धनदानाद्युपार्जितभृत्यसम्बन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः। न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसम्बन्धनिमित्तं किञ्चिच्छक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्धहेतुः। एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम्। अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मन आत्मीये देहादावभि-

भाष्यका अनुवाद

आदिमें कर्तृत्व देखनेमें आता है ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि धनदान आदि उपायोंसे सम्पादित भृत्योंके साथ संवन्ध होनेके कारण राजा आदिमें कर्तृत्व होना ठीक है, परन्तु आत्माका शरीर आदिके साथ धनदान आदिके समान स्व-स्वामिसंबन्धके निमित्त—कारणकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन मिथ्या अभिमान तो सम्बन्धका प्रत्यक्ष कारण है। इस कथनसे आत्माके यजमानत्वका भी व्याख्यान हो गया अर्थात् जब तक मिथ्याभिमान है तभी तक आत्मामें यजमानत्व है। इस विषयमें प्रभाकर कहते हैं कि देह आदिसे भिन्न आत्माका अपने देह आदिमें अभिमान गौण है, मिथ्या नहीं है।

रत्नप्रभा

स्वतो निष्क्रियस्य अपि कारकसन्निधानात् कर्तृत्वमिति शङ्कां दृष्टान्तवैषम्येण निरस्यति—**नेति**। राजादीनां स्वक्रीतभृत्यकार्ये कर्तृत्वं युक्तं न आत्मन इत्यर्थः। देहकर्मणोरविद्याभूमौ बीजाङ्कुरवत् आवर्तमानयोरात्मना सम्बन्धो भ्रान्तिकृत एव इत्याह—**मिथ्येति**। ननु "यजेत" इति विध्यनुपपत्त्या आत्मनः कर्तृत्वम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। कूटस्थ आत्माका कृतिसे सम्बन्ध नहीं है, इसलिए आत्मा कर्ता नहीं है। यद्यपि स्वयं निष्क्रिय है, तो भी कारक शरीर इन्द्रियके समीप होनेसे आत्मा कर्ता होगा, इस शङ्काका दृष्टान्तमें विषमता दिखलाकर निराकरण करते हैं—"न" इत्यादिसे। राजा आदि सेवकको धन आदिसे खरीदते हैं, इसलिए भृत्यकार्य्यमें उनका कर्तृत्व युक्त ही है, शरीर आदिके कार्य्यमें आत्माका कर्तृत्व युक्त नहीं है यह भावार्थ है। अविद्याभूमिमें बीज और अङ्कुरके समान परिवर्तन पानेवाले देह और कर्मोंका आत्माके साथ संबन्ध भ्रान्तिसे हुआ है ऐसा कहते हैं—"मिथ्या" इत्यादिसे। पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि 'यजेत' इत्यादि विधिकी अनुपपत्ति होगी, अतः आत्मामें कर्तृत्व अवश्य मानना चाहिए। इसके उत्तरमें कहते है—"एतेन"

(१) जैसे धनदानसे राजा और सेवकमें सेव्यसेवक संबन्ध जुड़ता है, उस प्रकार शरीर और आत्मामें स्वस्वामिभाव संवन्ध जुड़नेका कोई निमित नहीं है।

भाष्य

मानो गौणो न मिथ्येति चेत्, न; प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः, यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चाऽन्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः संपन्नः सिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाऽप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमि-

भाष्यका अनुवाद

यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जो दो वस्तुओंके भेदको जानता है, उसीको गौण-मुख्य ज्ञान होता है यह बात प्रसिद्ध है। जिसको दो वस्तुओंका भेद मालूम है, जैसे कि केसर आदिसे युक्त आकृतिविशेष अन्वय-व्यतिरेकसे सिंहशब्द और सिंह इस ज्ञानका पात्र मुख्य अन्य प्रसिद्ध है और उससे भिन्न क्रूरता एवं शूरता आदि प्रायिक सिंहके गुणोंसे सम्पन्न पुरुष भी ज्ञात है, उस पुरुषके सिंहगुणसम्पन्न मनुष्यमें होनेवाला सिंहशब्दप्रयोग और सिंहज्ञान गौण होते हैं। परन्तु जिसको वस्तुओंका भेद ज्ञात नहीं है, उसको नहीं। उसको तो दूसरे अर्थमें दूसरे पदार्थके वाचक शब्दका प्रयोग और दूसरे शब्दसे दूसरेका

---

रत्नप्रभा

एष्टव्यम् इति तत्र आह—**एतेनेति**। भ्रान्तिकृतेन देहादिसम्बन्धेन यागादिकर्तृत्वम् आब्रह्मबोधाद् व्याख्यातम् इत्यर्थः। **अत्राहुः**। प्राभाकरा इत्यर्थः। भ्रान्त्यभावाद् देहसम्बन्धादिकं सत्यम् इति भावः। भेदज्ञानाभावाद् न गौण इत्याह—**नेति**। प्रसिद्धो ज्ञातो वस्तुनोर्भेदो येन तस्य गौणमुख्यज्ञानाश्रयत्वप्रसिद्धेः इत्यर्थः। यस्य तस्य पुंसो गौणौ भवत इति अन्वयः। शौर्यादिगुणविषयौ इत्यर्थः। **तस्य त्विति**। भेदज्ञानशून्यस्य पुंस इत्यर्थः। **शब्दप्रत्ययौ इति**। शब्दः शाब्दबोधश्च

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि। आत्माका देह आदिके साथ संबन्ध भ्रान्तिसे हुआ है, इसलिए जब तक ब्रह्मका बोध न हो, तब तक ही यागादिका कर्तृत्व आत्मामें है ऐसा समझना चाहिए। "अत्राहुः" अर्थात् प्रभाकरमतके अनुयायी कहते हैं। आशय यह है कि भ्रान्ति नहीं है, अतः देहसंबन्ध आदि सत्य है। भेदज्ञानके अभावसे अभिमान गौण नहीं है ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। जो मनुष्य दोनों वस्तुओंके भेदको जानता है, वह गौण और मुख्य ज्ञानका आश्रय होता यह बात प्रसिद्ध है। 'यस्य प्रसिद्धो वस्तुभेदः' इस वाक्यमें पठित यत् शब्दके साथ 'तस्य पुंसो गौणौ भवतः' इस वाक्यके तत् शब्दका अन्वय होता है। गौणका अर्थ है—शौर्यादि गुणविषय। "तस्य तु" अर्थात् भेदज्ञानशून्य पुरुषको। "शब्दप्रत्ययौ"—शब्द और शब्दजन्य बोध।

भाष्य

त्तावेव भवतो न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद् देहादिसङ्घातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम् । आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाऽविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्माद् देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव न गौणः। तस्मात् मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य सिद्धं जीव-

भाष्यका अनुवाद

ज्ञान भ्रान्तिसे ही होते हैं, गौण नहीं हैं। जैसे मन्द अन्धकारमें 'यह स्थाणु है' ऐसे विशेषज्ञानके अभावके समयमें 'पुरुष' यह शब्द और ज्ञान स्थाणुमें होते हैं और जैसे शुक्तिमें अकस्मात् 'यह रजत है' यह शब्दप्रयोग और ज्ञान निश्चित होते हैं, इसी प्रकार देह आदि समुदायमें प्रधानरूपसे होनेवाले 'मैं' ऐसा शब्दप्रयोग और ज्ञान आत्मा और अनात्माका विवेक न होनेसे उत्पन्न होते हैं, वे गौण कैसे कहे जायँ। आत्मा और अनात्माका भेद जाननेवाले पंडितोंके भी साधारण गड़रियेके समान शरीर आदिमें 'मैं' ऐसा शब्दप्रयोग और ज्ञान भ्रान्तिसे ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण आत्माको देह आदिसे भिन्न माननेवालोंका शरीर आदिमें होनेवाला 'मैं' यह ज्ञान मिथ्या ही है, गौण नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सशरीरत्व मिथ्याज्ञानसे होता है अतः ज्ञानीको

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। संशयमूलौ तौ उदाहरति—यथा मन्देति। यदा संशयमूलयोर्न गौणत्वं तदा भ्रान्तिमूलयोः किं वाच्यम् इत्याह—यथा वेति। अकस्मादिति। अतर्कितादृष्टादिना संस्कारोद्बोधे सति इत्यर्थः। निरुपचारेण—गुणज्ञानं विना इत्यर्थः। देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनामिति। देहात्मवादिनां तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

संशयसे होनेवाले शब्द और शाब्दबोधका उदाहरण देते हैं—"यथा मन्द" इत्यादिसे। जब संशयमूलक शब्द और शाब्दबोध गौण नहीं हैं, तब भ्रान्तिमूलक शब्द और बोध गौण नहीं है, इस विषयमें कहना ही क्या है ऐसा कहते हैं—"यथा वा" इत्यादिसे। "अकस्मात्"—अतर्कित अदृष्ट आदिसे संस्कारका उद्बोध होनेपर ऐसा अर्थ है। 'निरुपचारेण'—गुणज्ञानके विना। "देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनाम्" इत्यादि। आशय यह है कि देह आत्मा है

भाष्य

तोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् । तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते, अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' ( बृ० ४ । ४ । ७ ) इति । 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च । स्मृतिरपि च—'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' ( भ० गी० २ । ५४ ) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसम्बन्धं दर्शयति ।

भाष्यका अनुवाद

(जिसका मिथ्याज्ञान नष्ट हो गया है) जीतेजी भी अशरीरत्व स्थिति प्राप्त होती है। ब्रह्मज्ञानीके संबन्धमें 'तद्यथा०' (जिस प्रकार जिसमें सर्प ने अभिमान त्याग दिया है ऐसी सर्पकी त्वचा वल्मीक आदिमें फेंकी हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार विद्वान्‌ने जिसमें अभिमान त्याग दिया है, वह शरीर पड़ा रहता है और शरीरमें रहनेवाला आत्मा अशरीर है, मरणरहित है, प्राण है, ब्रह्म है, स्वयंप्रकाश आनन्द ही है) और 'सचक्षुरचक्षु०' (वस्तुतः वह नेत्ररहित होता हुआ भी नेत्रसहितके समान, कर्णरहित भी सकर्ण-सा वागिन्द्रियरहित भी वाणीसे सम्पन्न-सा मनरहित भी मनसहित-सा प्राणरहित भी सप्राण-सा है) ऐसी श्रुति है। 'स्थितप्रज्ञस्य०' (जिसकी प्रज्ञा स्थित है, उसकी भाषा क्या है) इत्यादि स्मृतियां भी स्थितप्रज्ञका लक्षण कहती हुई यही दिखलाती हैं कि विद्वान्‌का प्रवृत्तिके साथ कुछ भी संबन्ध नहीं

रत्नप्रभा

प्रमा इति अभिमान इति भावः । जीवन्मुक्तौ प्रमाणम् आह—तथा चेति । तत् तत्र जीवन्मुक्तस्य देहे यथा दृष्टान्तः । अहिनिर्ल्वयनी सर्पत्वक् वल्मीकादौ प्रत्यस्ता निक्षिप्ता मृता सर्पेण त्यक्ताभिमाना वर्तते, एवमेव इदं विदुषा त्यक्ताभिमानं शरीरं तिष्ठति । अथ तथा त्वचा निर्मुक्तसर्पवत् एव अयम् देहस्थः अशरीरः । विदुषो देहे सर्पस्य त्वचि इव अभिमानाभावाद् अशरीरत्वाद् अमृतः प्राणिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा माननेवालोंको तो देह आदिमें 'मैं' ऐसा ज्ञान प्रमा है ऐसा अभिमान है । जीवन्मुक्तिमें प्रमाण कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे । तत्—वहाँ—जीवन्मुक्तके देहमें "यथा"—दृष्टान्त । जैसे अहिनिर्ल्वयनी अर्थात् सापकी कांचली वल्मीक आदिमें फेंकी हुई मरी पड़ी रहती है—सर्पका उसमें यह मेरी है ऐसा अभिमान नहीं रहता है, उसी प्रकार विद्वान्‌का भी इस शरीरमें यह मेरा है ऐसा अभिमान नहीं रहता । त्वचासे मुक्त सर्पके समान विद्वान् देहस्थ होने पर भी अशरीर है, क्योंकि जैसे सर्पको अपनी त्वचामें अभिमान नहीं है, उसी प्रकार विद्वान्‌को भी शरीरमें अभिमान नहीं है ।

भाष्य

तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्। यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्। यत्पुनरुक्तं श्रवणात् पराचीनयोर्मननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति। न, श्रवणवत् तदवगत्यर्थत्वात् मनननिदिध्यासनयोः। यदि ह्यव-

भाष्यका अनुवाद

है। इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जिसने साक्षात्कार कर लिया है, वह पहलेके समान संसारी नहीं रहता। जो पूर्वके समान संसारी है उसने ब्रह्मात्मभाव जाना ही नहीं ऐसा समझना चाहिए; इस कारण शास्त्र निर्दोष है। पूर्वपक्षीने पहले जो यह कहा था कि श्रवण के अनन्तर मनन और निदिध्यासन देखनेमें आते हैं, अतः ब्रह्म विधिशेष है, स्वरूपमें पर्यवसायी नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रवणके तुल्य मनन और निदिध्यासन ब्रह्मके साक्षात् ज्ञानके लिए

रत्नप्रभा

इति प्राणो जीवन् अपि ब्रह्मैव। किं तद् ब्रह्म तेजः स्वयंज्योतिः आनन्द एव इत्यर्थः। वस्तुतोऽचक्षुरपि बाधितचक्षुराद्यनुवृत्त्या सचक्षुरिव इत्यादि योज्यम्। **इत्यनवद्यमिति**। ब्रह्मात्मज्ञानात् मुक्तिलाभात् सिद्धं वेदान्तानां प्रामाण्यं हितशासनात् शास्त्रत्वं च निर्दोषतया स्थितम् इत्यर्थः। ब्रह्मज्ञानमुद्दिश्य श्रवणवत् मनननिदिध्यासनयोरपि अवान्तरवाक्यभेदेन विध्यङ्गीकारात् न ब्रह्मणो विधिशेषत्वम् उद्देश्यज्ञानलभ्यतया प्राधान्यात् इत्याह—**नेति**। श्रवणं ज्ञानकरणवेदान्तगोचरत्वात् प्रधानम्, मनननिदिध्यासनयोः प्रमेयगोचरत्वात् अङ्गत्वम्, नियमादृष्टस्य ज्ञाने उपयोगः सर्वापेक्षान्यायात् इति मन्तव्यम्। तर्हि ज्ञाने

रत्नप्रभाका अनुवाद

शरीररहित होनेके कारण अमृत है, प्राणन क्रिया करता है, इसलिए प्राण है अर्थात् जीता हुआ भी ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म क्या है? स्वयं ज्योतिस्वरूप है आनन्द ही है। वस्तुतः नेत्र रहित होने पर भी बाधित नेत्रकी अनुवृत्तिसे नेत्रसहितके समान है इत्यादि योजना करनी चाहिए। "इत्यनवद्यम्"—इत्यन्त ग्रन्थका आशय यह है कि ब्रह्मात्मज्ञानसे मुक्तिका लाभ है, इसलिए वेदान्त प्रमाण हैं और हितका शासन करते हैं इसलिए शास्त्र हैं यह बात निर्दोष सिद्ध है। ब्रह्मज्ञानके उद्देशसे श्रवणके समान मनन और निदिध्यासनमें अवान्तरवाक्य भेदसे विधिका अङ्गीकार किया है, इसलिए ब्रह्म विधिशेष नहीं है, क्योंकि उद्देश्यज्ञानसे लभ्य होनेके कारण ब्रह्म प्रधान है ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। ज्ञानके साधनभूत वेदान्तका विषय होनेके कारण श्रवण प्रधान है। मनन और निदिध्यासन श्रवणके अङ्ग हैं, क्योंकि उनका विषय प्रमेय है, नियमादृष्टका सर्वापेक्षान्यायसे ज्ञानमें उपयोग है ऐसा समझना चाहिए।

भाष्य

गतं ब्रह्माऽन्यत्र विनियुज्येत, भवेत्तदा विधिशेषत्वम्। न तु तदस्ति, मननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम्। एवं च सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयः पृथक्शास्त्रारम्भ उपपद्यते। प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि 'अथातो

भाष्यका अनुवाद

हैं। यदि अवगत—साक्षात् ज्ञात ब्रह्मका कहीं कर्म आदिमें विनियोग होता, तो वह विधिका अंग हो सकता। पर ऐसा तो नहीं है इससे उपासना-विधिपरत्वरूपसे ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है, यह संभव नहीं है, विधिशेष न होनेके कारण ब्रह्म स्वतन्त्र ही शास्त्रप्रमाणक है, क्योंकि वेदान्तवाक्योंका समन्वय ब्रह्ममें ही है, ऐसा सिद्ध होता है। ऐसा होनेसे ही 'अथातो०' इस प्रकार ब्रह्मविषयक पृथक् शास्त्रका आरम्भ युक्त है। वेदान्त यदि उपासना-विधिके विषय होते तो 'अथातो धर्म०' इस शास्त्रके पहले ही आरब्ध होनेके

रत्नप्रभा

विधिः किमिति त्यक्तः, तत्र आह—**यदि हीति**। यदि ज्ञाने विधिमङ्गीकृत्य वेदान्तैः अवगतं ब्रह्म विधेयज्ञाने कर्मकारकत्वेन विनियुज्येत, तदा विधिशेषत्वं स्यात्। न तु अवगतस्य विनियुक्तत्वम् अस्ति, प्राप्तावगत्या फललाभे विध्ययोगात् इत्यर्थः। तस्मात्-विध्यसम्भवात्, अतः-शेषत्वासम्भवात्, सत्यादिवाक्यैः लब्धज्ञानेन अज्ञाननिवृत्तिरूपफललाभे सति इत्यर्थः। सूत्रं योजयति—**स्वतन्त्रमिति**। **एवं च सतीति**। चोऽवधारणे। उक्तरीत्या ब्रह्मणः स्वातन्त्र्ये सति एव भगवतो व्यासस्य पृथक् शास्त्रकृतिः युक्ता, धर्मविलक्षणप्रमेयलाभात्। वेदा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

तब ज्ञानमें विधिका त्याग क्यों किया ? इस प्रश्नपर कहते हैं—"यदि हि" इत्यादि। यदि ज्ञानमें विधिका अङ्गीकार करके वेदान्त वाक्योंसे ज्ञात ब्रह्मका विधेय ज्ञानमें कर्मकारकरूपसे विनियोग करें, तो ब्रह्म विधिशेष हो। परन्तु अवगत ब्रह्मका विनियोग ही नहीं है, क्योंकि ज्ञान प्राप्त होनेसे फलका लाभ हो जाता है, इसलिए विधि नहीं हो सकती ऐसा भावार्थ है। "तस्मात्" अर्थात् ब्रह्ममें विधिकी सम्भावना न होनेसे। "अतः" ब्रह्म विधिशेष नहीं हो सकता है अर्थात् 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्योंसे प्राप्त ज्ञान द्वारा अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रयोजनके निष्पन्न होनेसे। सूत्रकी योजना करते हैं—"स्वतन्त्रम्" इत्यादिसे। "एवं च सति" इत्यादि। 'च' कार अवधारण—निश्चयके अर्थमें है। उक्त रीतिसे ब्रह्म स्वतन्त्र है, विधिशेष नहीं है, ऐसा सिद्ध होने पर भगवान् व्यासका पृथक् शास्त्र बनाना युक्त है, क्योंकि उसके द्वारा धर्मसे

भाष्य

धर्मजिज्ञासा' इत्येवारब्धत्वान्न पृथक्शास्त्रमारभ्येत । आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत—'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति', 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा' (जै० सू० ४।१।१) इतिवत्, ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति । तस्मादहं ब्रह्मास्मी-

भाष्यका अनुवाद

कारण पृथक् शास्त्रका आरम्भ नहीं होता । यदि कदाचित् आरम्भ होता तो 'अथातः क्रत्वर्थ०' ( अब क्रत्वर्थ और पुरुषार्थकी जिज्ञासा ) सूत्रकी तरह 'अथातः परिशिष्ट०' (अब अवशिष्ट धर्मकी जिज्ञासा) इस प्रकार आरम्भ होता । ब्रह्म और आत्माके एकत्वके ज्ञानकी प्रतिज्ञा पूर्वमीमांसामें नहीं है, इससे उसके लिए 'अथातो ब्रह्म०' इस प्रकार नवीन शास्त्रका आरम्भ युक्त है ।

रत्नप्रभा

न्तानां कार्यपरत्वे तु प्रमेयाभेदात् न युक्ता इत्यर्थः । ननु मानसधर्मविचारार्थं पृथगारम्भ इत्याशङ्क्य आह—**आरभ्यमाणं चेति** । अथ बाह्यसाधनधर्मविचारानन्तरम्, अतः बाह्यधर्मस्य शुद्धिद्वारा मानसोपासनाधर्महेतुत्वात्, परिशिष्टो मानसधर्मो जिज्ञास्य इति सूत्रं स्यात् इति अत्र दृष्टान्तमाह—**अथेति** । तृतीयाध्याये श्रुत्यादिभिः शेषशेषित्वनिर्णयानन्तरं शेषिणा शेषस्य प्रयोगसम्भवात् कः क्रतुशेषः को वा पुरुषशेष इति जिज्ञास्यते इत्यर्थः । **एवमारभ्येत** न तु आरब्धं तस्माद् अवान्तरधर्मार्थम् आरम्भ इति अयुक्तम् इति भावः । स्वमते सूत्रानुगुण्यमस्ति इत्याह— **ब्रह्मेति** । जैमिनिना ब्रह्म न विचारितमिति तज्जिज्ञा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विलक्षण प्रमेय ( ब्रह्म ) का ज्ञान होता है । तात्पर्य यह है कि यदि वेदान्त कार्यपरक हों, तो प्रमेय भिन्न न होनेसे पृथक् शास्त्र रचना युक्त न होगी । मानस धर्मके विचारके लिए पृथक् शास्त्रका आरम्भ है ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"आरभ्यमाणं च" इत्यादि । 'अथ'—बाह्यसाधनसे धर्मके विचारके अनन्तर, 'अतः'—बाह्य धर्मके प्रति शुद्धिके द्वारा मानसिक उपासना रूपी धर्मके हेतु होनेसे, 'परिशिष्टधर्मजिज्ञासा'—अवशिष्ट मानसधर्म जिज्ञास्य है इस प्रकार सूत्रका आरम्भ होता, इसके लिए दृष्टान्त कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । पूर्वमीमांसाके तृतीय अध्यायमें श्रुति आदिसे शेष और शेषीका निर्णय करनेके बाद प्रधानके साथ अङ्गका प्रयोग हो सकता है, इसलिए क्रतुशेष कौन है और पुरुषशेष कौन है ऐसा विचार किया जाता हैं, यह तात्पर्य है । "एवमारभ्येत" इस प्रकार आरम्भ होता परन्तु आरम्भ हुआ नहीं है, इस कारण अवान्तरधर्म—मानसधर्मके लिए शास्त्रका आरम्भ है यह कथन अयुक्त है । अपने मतमें—स्वतन्त्र ब्रह्म ही शास्त्रप्रमाणक है, इस मतमें 'अथातो०' यह सूत्र अनुगुण है

भाष्य

त्येतदवसाना एव सर्वे विषयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि। न ह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति। अपि चाहुः—

'गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥

भाष्यका अनुवाद

इससे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होने तक ही सब प्रमाण हैं, क्योंकि हेय और उपादेय रहित अद्वैत आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर उस अवस्थामें जिनका न कोई विषय है और न प्रमाता है ऐसे प्रमाण ही नहीं हो सकते। और ब्रह्मवेत्ता कहते हैं—'गौणमिथ्यात्मनो०' ('अबाधित परिपूर्ण सर्वसाक्षी 'मैं हूँ' ऐसा बोध होनेपर पुत्र देह आदिका बाध होता है अर्थात् यह सब मायामात्र है, वास्तविक नहीं है ऐसा निश्चय होता है, उससे गौणमिथ्यात्मा—पुत्र दार, देह आदिमें आत्माभिमान निवृत्त हो जानेपर विधि, निषेध आदि सकल व्यवहार कैसे हो सकते हैं अर्थात्

रत्नप्रभा

स्यत्वसूत्रणं युक्तम् इत्यर्थः। वेदान्तार्थश्चेत् अद्वैतम्, तर्हि द्वैतसापेक्षविध्यादीनां का गतिः इत्याशङ्क्य, ज्ञानात् प्रागेव तेषां प्रामाण्यं न पश्चात् इत्याह—**तस्मादिति**। ज्ञानस्य प्रमेयप्रमातृबाधकत्वाद् इत्यर्थः। ब्रह्म न कार्यशेषः, तद्बोधात् प्रागेव सर्वव्यवहार इत्यत्र ब्रह्मविदां गाथाम् उदाहरति—**अपि चेति**। सत्, अबाधितंब्रह्म-पूर्णम्, आत्मा-विषयान् आदत्ते इति सर्वसाक्षी अहम् इति एवं बोधे जाते सति पुत्रदेहादेः सत्ताबाधनात् मायामात्रत्वनिश्चयात् पुत्रदारादिभिरहमिति स्वीयदुःखसुखभाक्त्वगुणयोगात् गौणात्माभिमानस्य 'नरोऽहं कर्त्ता मूढः' इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"ब्रह्म" इत्यादिसे। आशय यह है कि जैमिनि मुनिने ब्रह्मका विचार नहीं किया है, अतः ब्रह्मकी जिज्ञास्यताके प्रतिपादक सूत्रकी रचना आवश्यक है। यदि वेदान्तोंका अद्वैतमें तात्पर्य है, तो द्वैतकी अपेक्षा रखनेवाली विधि आदिकी क्या गति होगी, ऐसा आशङ्का करके ज्ञानसे पूर्व ही वे प्रमाण हैं तत्त्वज्ञानके बाद उनमें प्रामाण्य नहीं है ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। तस्मात्—ज्ञानके प्रमाता, प्रमेय आदिके बाधक होनेके कारण। ब्रह्म कार्यशेष नहीं है, ब्रह्मज्ञानके पहले ही सब व्यवहार हैं, इस विषयमें ब्रह्मवेत्ताओंकी गाथाको उद्धृत करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। सत्—अबाधित, ब्रह्म—पूर्ण, विषयोंका ग्रहण करता है, इसलिए आत्मा, मैं सर्वसाक्षी हूँ ऐसा बोध होनेपर पुत्र, देह आदिके अस्तित्वका बाध होता है—मायामात्र है ऐसा निश्चय होता है। पुत्र, भार्या आदि मैं हूँ—ऐसा समझकर उनके दुःख और

भाष्य

अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः ।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥' इति ।

इति चतुःसूत्री समाप्ता ।

भाष्यका अनुवाद

किसी प्रकार नहीं हो सकते ) 'अन्वेष्टव्या०' ( जिस आत्माका ज्ञान करना है उस आत्माका ज्ञान होनेके पहले आत्मा प्रमाता बन सकता है, प्रमाताके स्वरूपका ज्ञान होनेपर वही पाप, राग, द्वेष आदि दोषोंसे शून्य परमात्मा-स्वरूप हो जाता है ) 'देहात्म०' ( जिस प्रकार 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान कल्पित होनेपर भी प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाण भी आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त प्रमाण हैं )

---

रत्नप्रभा

मिथ्यात्माभिमानस्य च सर्वव्यवहारहेतोः असत्त्वे कार्यं विधिनिषेधादिव्यवहारः कथं भवेत्, हेत्वभावात् न कथंचित् भवेत् इत्यर्थः । ननु अहं ब्रह्म इति बोधो बाधितः, अहमर्थस्य प्रमातुः ब्रह्मत्वायोगात् इत्याशङ्क्य, प्रमातृत्वस्य अज्ञानबिल-सितान्तःकरणतादात्म्यकृतत्वात् न बाध इत्याह—**अन्वेष्टव्य इति** । "य आत्मा-पहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसंकल्पस्सोऽ-न्वेष्टव्यः" ( छा० ८।४।१ ) इति श्रुतेः ज्ञातव्यपरमात्मविज्ञानात् प्रागेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

सुखको पुरुष अपना सुख-दुःख मानकर दुःख और सुखका भाजन होता है, इसलिए पुत्र आदिमें आत्माभिमान गौण है, और शरीरादिमें 'मैं नर कर्ता, अज्ञ हूँ' इत्यादि मिथ्याभिमान है, इन अभिमानोंसे सब व्यवहार होते हैं, अतः इनके न होनेसे विधिनिषेध आदि व्यवहार कैसे होंगे ? आशय यह है कि उक्त अभिमानरूप कारणके न होनेसे व्यवहार किसी प्रकार नहीं हो सकता है । 'अहं ब्रह्म' ( मैं ब्रह्म हूँ ) यह बोध बाधित है, क्योंकि 'अहं' का अर्थ जो प्रमाता है, वह ब्रह्म नहीं हो सकता ऐसी आशङ्का करके अज्ञानके कार्यभूत अन्तःकरणसे तादात्म्य होनेके कारण आत्मामें प्रमातृत्व होता है, इसलिए वह ब्रह्मात्मबोधका बाधक नहीं है ऐसा कहते हैं—"अन्वेष्टव्य" इत्यादिसे । 'य आत्मापहतपाप्मा०' ( जो आत्मा सर्व-पापशून्य, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, अशनायारहित, पिपासाशून्य, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प है, उसका अन्वेषण करना चाहिए ) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि ज्ञातव्य

### रत्नप्रभा

अज्ञानात् चिद्धातोः आत्मनः प्रमातृत्वम्, प्रमातैव ज्ञातः सन् पाप्मरागद्वेषमरण-विवर्जितः परमात्मा स्यात् इत्यर्थः। प्रमातृत्वस्य कल्पितत्वे तदाश्रितानां प्रमाणानां प्रामाण्यं कथम् इत्यत आह—देहेति। यथा देहात्मत्वप्रत्ययः कल्पितो भ्रमोऽपि व्यवहाराङ्गतया मानत्वेन इष्यते वैदिकैः, तद्वत् लौकिकम्, अध्यक्षादिकम् आत्मबोधावधि व्यवहारकाले बाधाभावाद् व्यावहारिकं प्रामाण्यम् इष्यताम्, वेदान्तानां तु कालत्रयाबाध्यबोधित्वात् तत्त्वावेदकं प्रामाण्यमिति तुशब्दार्थः। आऽऽत्मनिश्चयात्। आ आत्मनिश्चयात् इति आङ्मर्यादायाम्। प्रमातृत्वस्य कल्पितत्वेऽपि विषयाबाधात् प्रामाण्यमिति भावः।

रामनाम्नि परे धाम्नि कृत्स्नाम्नायसमन्वयः।
कार्यतात्पर्यबाधेन साधितः शुद्धबुद्धये ॥ ४ ॥

इति चतुःसूत्री समाप्ता ॥

### रत्नप्रभाका अनुवाद

परमात्माके ज्ञानके पहले ही अज्ञानसे चिद्रूप आत्मामें प्रमातृत्व रहता है। वही प्रमाता स्वरूपसे ज्ञात होनेपर पाप, राग, द्वेष और मरणसे रहित परमात्मा हो जाता है ऐसा अर्थ है। यदि प्रमातृत्व कल्पित हो तो प्रमाताके आश्रयसे रहनेवाले प्रमाणोंमें प्रामाण्य कैसे होगा? इस शङ्कापर कहते हैं—"देह" इत्यादि। जिस प्रकार 'देह मैं हूँ' इत्यादि ज्ञान कल्पित—भ्रम होनेपर भी व्यवहारका अङ्ग होनेके कारण वैदिकों द्वारा प्रमाण माना गया है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण आत्मज्ञान होने तक प्रमाण हैं, व्यवहार कालमें उनका बाध नहीं होता है, इसलिए उनमें व्यावहारिक प्रामाण्य है। वेदान्त त्रिकालमें भी बाधित न होनेवाले ब्रह्मका बोध कराते हैं, इसलिए उनमें तत्त्वबोधक प्रामाण्य है ऐसा 'तु' शब्दका अर्थ है। "आऽऽत्मनिश्चयात्" यहाँपर 'आङ्' मर्यादा—अवधिरूप अर्थमें है। प्रमातृत्व यद्यपि कल्पित है, तो भी उसके विषयका बाध न होनेसे उसमें व्यावहारिक प्रामाण्य है ऐसा तात्पर्य है। इस प्रकार कार्य्यमें वेदान्तोंके तात्पर्यका बाध होनेसे रामनामक परमात्मामें सम्पूर्ण वेदका समन्वय सिद्ध हुआ।

* चतुःसूत्री समाप्त *

## [ ५ ईक्षत्यधिकरण सू० ५–११ ]

*तदैक्षतेति वाक्येन प्रधानं ब्रह्म वोच्यते । ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात् प्रधानं सर्वकारणम् ॥*
*ईक्षणात् चेतनं ब्रह्म क्रियाज्ञाने तु मायया । आत्मशब्दात्मतादात्म्ये प्रधानस्य विरोधिनी*॥*

## [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'तदैक्षत' यह वाक्य किसको जगत्का कारण कहता है, प्रधानको अथवा ब्रह्मको ?

**पूर्वपक्ष**—ज्ञानशक्तिशाली एवं क्रियाशक्तिशाली होनेके कारण प्रधान ही जगत्का कारण है, निर्गुण कूटस्थ ब्रह्म जगत्कारण नहीं हो सकता ।

**सिद्धान्त**—श्रुतिमें जगत्कारण ईक्षणका कर्ता कहा गया है, इससे सिद्ध है कि चेतन ब्रह्म ही जगत्कारण है, अचेतन प्रधानमें ईक्षणका संभव नहीं है । ब्रह्ममें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति मायासे होती हैं । यदि अचेतन प्रधान जगत्कारण माना जाय, तो जगत्कारणमें आत्मशब्दका प्रयोग एवं तादात्म्यका उपदेश विरुद्ध हो जायगा ।

---

*निष्कर्ष यह है कि छान्दोग्यके छठे अध्यायमें श्रुति ने 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' ( छा० ६।२।१ ) ( सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् सत्–अव्याकृत नामरूप एक अद्वितीय ही था ) ऐसा उपक्रम करके कहा है—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" ( छा० ६।२।३ ) ( उसने ईक्षण किया कि मैं बहुत होऊं—प्रजारूपमें उत्पन्न होऊँ उसने तेजकी सृष्टि की ) ।

इस विषयमें सांख्य सिद्धान्तावलम्बी कहते हैं कि श्रुतिने 'सत्' शब्दसे जिसका निर्देश किया है, वह सबका कारण प्रधान है, ब्रह्म नहीं है; क्योंकि सत्त्वगुणयुक्त होने और परिणामी होनेके कारण प्रधानमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति हो सकती हैं, किन्तु निर्गुण ब्रह्ममें उनका होना नितान्त असम्भव है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि श्रुतिमें 'ईक्षण'का प्रयोग है। ईक्षणशक्ति चेतनमें ही होती है, इसलिए चेतन ब्रह्म ही जगत्का कारण है, श्रुतिने 'सत्' शब्दसे उसीका निर्देश किया है । ब्रह्ममें माया द्वारा ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति भी हो सकती हैं । दूसरी बात यह भी है कि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" ( छा० ६।३।२ ) ( उस देवताने विचार किया कि मैं जीवरूप अपनी आत्मासे प्रवेश करके नाम और रूपको प्रकट करूं ) इत्यादि श्रुतिमें नाम और रूपको प्रकट करनेवाली देवता ( ब्रह्म ) ने स्ववाचक आत्मशब्दसे चेतन जीवका निर्देश किया है । और 'तत्त्वमसि' श्रुति द्वारा चेतन श्वेतकेतुमें गुरु जगत्कारणके अभेदका उपदेश करते हैं । यदि सांख्यसिद्धान्तानुसार अचेतन प्रधानको जगत्का कारण मानें, तो उपर्युक्त दोनों बातें असंगत हो जायंगी । इससे सिद्ध हुआ कि सत् शब्दसे चेतन ब्रह्मका श्रुतिने निर्देश किया है ।

*भाष्य*

एवं तावद् वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिप्रयोजनानां ब्रह्मात्मनि तात्पर्येण समन्वितानामन्तरेणाऽपि कार्यानुप्रवेशं ब्रह्मणि पर्यवसानमुक्तम्। ब्रह्म च सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणमित्युक्तम् (साङ्ख्या-दयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि

*भाष्यका अनुवाद*

इस प्रकार 'यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसा अपरोक्ष ज्ञान जिनका प्रयोजन है ब्रह्मात्मामें तात्पर्यसे समन्वित ऐसे वेदान्तवाक्य कार्यके सम्बन्धके बिना भी ब्रह्ममें पर्यवसित होते हैं—सफल बोधजनक होते हैं, यह पीछे कह आये हैं। ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और नाशका कारण है, ऐसा भी कहा जा चुका है। परन्तु सांख्य आदि ऐसा मानते हैं कि अन्य प्रमाणसे ही सिद्ध वस्तुका ज्ञान होता है, और प्रधान आदि अन्य कारणोंका अनुमान करके तत्परत्वसे—प्रधानादिपरत्वसे ही

*रत्नप्रभा*

वृत्तमनूद्य आक्षेपलक्षणाम् अवान्तरसङ्गतिमाह—**सांख्यादयस्त्विति**। भवतु सिद्धे वेदान्तानां समन्वयः, तथापि मानान्तरायोग्ये ब्रह्मणि शक्तिग्रहायोगात् कूटस्थत्वेन अविकारित्वेन कारणत्वायोगाच्च न समन्वयः, किन्तु सर्गाद्यं कार्यं जडप्रकृतिकम्, कार्यत्वात्, घटवद् इत्यनुमानगम्ये त्रिगुणे प्रधाने समन्वय इति आक्षिपन्ति इत्यर्थः। सिद्धं मानान्तरगम्यमेव इति आग्रहः शक्तिग्रहार्थः। अत एव प्रधानादौ अनुमानोपस्थिते शक्तिग्रहसम्भवात् तत्परतया वाक्यानि योजयन्ति इति उक्तम्। किञ्च, "तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ"

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

पूर्वोक्त विषयका अनुवाद करनेके बाद आक्षेपरूप अवान्तर सङ्गति कहते हैं—"सांख्यादयस्तु" इत्यादिसे। सिद्ध (वस्तु) में भले ही वेदान्तोंका समन्वय हो, परन्तु अन्य प्रमाणसे अज्ञेय ब्रह्ममें शक्तिग्रह करना संभव नहीं है और कूटस्थ एवं अविकारी होनेसे ब्रह्म कारण भी नहीं हो सकता, इसलिए वेदान्तोंका समन्वय ब्रह्ममें नहीं है; किन्तु सृष्टि आदि कार्य जड़से जन्य हैं, क्योंकि घटके समान कार्य हैं—इस अनुमानसे गम्य त्रिगुणात्मक प्रधानमें ही वेदान्तोंका समन्वय है, ऐसा आक्षेप करते हैं। सिद्ध वस्तु प्रमाणान्तरसे ही जानने योग्य है, ऐसा आग्रह उसमें शक्तिग्रहके लिए है। इसलिए अनुमानसे उपस्थित होनेवाले प्रधान आदिमें शक्तिका ग्रहण करना संभव है, अतः वेदान्तवाक्य प्रधानपरक हैं ऐसी योजना करते हैं ऐसा कहा है। और 'तेजसा सोम्य०' इत्यादि श्रुतियाँ शुङ्गसे—लिङ्गसे कारणका

भाष्य

कारणान्तराणि अनुमिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्ति, सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेषु अनुमानेनैव कार्येण कारणं लिलक्षयिषितम्। प्रधानपुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति सांख्या मन्यन्ते। काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते। अणूंश्च सम-

भाष्यका अनुवाद

वेदान्तवाक्योंकी योजना करते हैं। सब वेदान्तवाक्य, जिनका प्रतिपाद्य विषय सृष्टि है, उनमें अनुमान द्वारा ही कार्यसे कारणका ज्ञान कराना चाहते हैं। प्रधान, पुरुष और उनका संयोग अनुमानगम्य ही है ऐसा सांख्य मानते हैं। कणादके अनुयायी तो उन्हीं वाक्योंसे ऐसा अनुमान करते हैं कि ईश्वर निमित्तकारण है और अणु समवायी कारण हैं। इसी प्रकार

---

रत्नप्रभा

( छा० ६।८।४ ) इत्याद्याः श्रुतयः शुङ्गेन लिङ्गेन कारणस्य स्वतः अन्वेषणं दर्शयन्त्यो मानान्तरसिद्धमेव जगत्कारणं वदन्ति इत्याह—**सर्वेष्विति**। ननु अतीन्द्रियत्वेन प्रधानादेः व्याप्तिग्रहायोगात् कथमनुमानं तत्राह—**प्रधानेति**। यत् कार्यम्, तत् जडप्रकृतिकम्, यथा घटः; यद् जडम्, तत् चेतनसंयुक्तम्, यथा रथादिरिति सामान्यतो दृष्टानुमानगम्याः प्रधानपुरुषसंयोगा इत्यर्थः। अद्वितीयब्रह्मणः कारणत्वविरोधिमतान्तरमाह—**काणादास्त्विति**। सृष्टिवाक्येभ्य एव परार्थानुमानरूपेभ्यो यत्कार्यम्, तद् बुद्धिमत्कर्तृकमिति ईश्वरं कर्त्तारं परमाणूंश्च यत् कार्यद्रव्यम्, तत् स्वन्यूनपरिमाणद्रव्यारब्धम् इति अनुमिमते इत्यर्थः। अन्येऽपि बौद्धादयः "असद्वा इदमग्र आसीद्" ( तै० आ० २।७।१ )

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्वेषण दिखलाती हुई अन्य प्रमाणसे सिद्ध वस्तुको ही जगत्का कारण बतलाती हैं ऐसा कहते हैं—"सर्वेषु" इत्यादिसे। यहाँ शंका होती है कि प्रधान आदिके अतीन्द्रिय होनेके कारण व्याप्तिका ग्रहण ही नहीं होगा, व्याप्ति न होनेसे अनुमान किस प्रकार होगा? इस पर कहते हैं—"प्रधान" इत्यादि। जो कार्य है वह जड़से जन्य है, जैसे कि घट, और जो जड़ होता है, वह चेतन संयुक्त होता है जैसे रथादि। इस प्रकार सामान्य दृष्ट अनुमानसे प्रधान, पुरुष और उनका संयोग जाना जाता है। अद्वितीय ब्रह्म जगत्का कारण है इसका विरोधी दूसरा मत कहते हैं—"काणादास्तु" इत्यादिसे। अर्थात् परार्थानुमानरूप सृष्टिवाक्योंसे ही जो कार्य है वह बुद्धिमान् कर्तासे जन्य है, इस प्रकार ईश्वर कर्ता है और जो कार्यद्रव्य है, वह अपनेसे न्यून परिमाणवाले द्रव्यसे आरब्ध होता है, इस प्रकार परमाणु उपादान कारण है ऐसा अनुमान करते हैं। 'दूसरे' अर्थात् बौद्ध। 'असद्वा०' ( यह पूर्वमें असत् था ) यह वाक्याभास है। जो वस्तु है, वह

भाष्य

वायिकारणम् । एवमन्येऽपि तार्किका वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ते । तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाऽऽचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वप्रदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते । तत्र सांख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः

भाष्यका अनुवाद

दूसरे तार्किक भी वाक्याभास और युक्त्याभासका अवलम्बन लेते हुए अद्वैतमतमें पूर्वपक्षी बनकर उपस्थित होते हैं। उक्त वादियोंका विवाद उपस्थित होनेपर वेदान्तवाक्योंका प्रयोजन ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान कराना है यह दिखलानेके लिए वाक्याभास और युक्त्याभासके आधारसे होनेवाले विरोधोंको पूर्वपक्ष बनाकर पद, वाक्य और प्रमाणके ज्ञाता आचार्य उनका निराकरण करते हैं। उन पूर्वपक्षियोंमें त्रिगुणात्मक अचेतन प्रधानको जगत्का कारण माननेवाले सांख्य कहते हैं जो तुम कह आये हो कि वेदान्तवाक्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्मको

रत्नप्रभा

इत्यादिवाक्याभासः । यद् वस्तु तत् शून्यावसानम्, यथा दीप इति युक्त्याभासः । एवं वादिविप्रतिपत्तिम् उक्त्वा तन्निरासाय उत्तरसूत्रसन्दर्भमवतारयति—**तत्रेति** । वादिविवादे सति इत्यर्थः । व्याकरणमीमांसान्यायनिधित्वात् पदवाक्यप्रमाणज्ञत्वम् । यद् जगत्कारणं तत् चेतनम् अचेतनं वा इति ईक्षणस्य मुख्यत्वगौणत्वाभ्यां संशये पूर्वपक्षमाह—**तत्र सांख्या इति** । अपिशब्दौ एवकारार्थौ । 'सदेव' इत्यादिस्पष्टब्रह्मलिङ्गवाक्यानां प्रधानपरत्वनिरासेन ब्रह्मपरत्वोक्तेः श्रुत्यादिसङ्गतयः । पूर्वपक्षे जीवस्य प्रधानैक्योपास्तिः सिद्धान्ते ब्रह्मैक्यज्ञानमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्तमें शून्य हो जाता है, जैसे दीपक—यह युक्त्याभास है। इस प्रकार वादियोंके भिन्न भिन्न मत कहकर उनका खण्डन करनेके लिए उत्तर सूत्रसन्दर्भकी अवतरणिका देते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। अर्थात् वादियोंके विवाद उपस्थित होनेपर। आचार्य व्याकरण, मीमांसा और न्यायके निधि होनेके कारण पद, वाक्य और प्रमाणके ज्ञाता कहे गये हैं। जो जगत्का कारण है, वह चेतन है अथवा अचेतन है, इस प्रकार ईक्षण मुख्य है या गौण ऐसा संशय होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र सांख्याः" इत्यादिसे। भाष्यगत 'प्रधान कारणत्वपक्षेऽपि' 'प्रधानस्यापि' ये दोनों 'अपि' शब्द 'एव' के अर्थमें प्रयुक्त हैं अर्थात् 'प्रधानकारणता पक्षमें ही लगाये जा सकते हैं' 'प्रधान ही सर्वशक्तिमान् है' ऐसा वाक्यार्थ समझना चाहिए। 'सदेव' इत्यादि जिनमें ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट हैं ऐसे वाक्य प्रधानपरक नहीं हैं, इस प्रकार उनके प्रधानपरत्वका खण्डन करके वे ब्रह्मपरक हैं ऐसा दिखलाते हैं, इसलिए श्रुति आदिकी संगति है। पूर्वपक्षमें जीवका प्रधानके साथ ऐक्य

भाष्य

कारणमिति मन्यमाना आहुः—यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं दर्शयन्तीत्यवोचः तानि प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते । सर्वशक्तित्वं तावत् प्रधानस्याऽपि स्वविकारविषयमुपपद्यते । एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते । कथम् ? यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः, 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' (गी० १४।१७) इति स्मृतेः । तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्यकारणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः । सत्त्वस्य हि निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम् । न केवलस्याऽकार्यकारणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वं किञ्चिज्ज्ञत्वं वा कल्पयितुं शक्यम् । त्रिगुणत्वात्तु

भाष्यका अनुवाद

जगत्का कारण बतलाते हैं, वे वाक्य 'प्रधान जगत्का कारण है' इस पक्षमें ही लगाये जा सकते है । अपने विकारको उत्पन्न करनेके लिए प्रधानमें सर्वशक्तिमत्ता है ही । इसी प्रकार सर्वज्ञता भी है । प्रधानमें किस प्रकार सर्वज्ञता हो सकती है ? जिसको तुम ज्ञान मानते हो, वह सत्त्वगुणका धर्म है, क्योंकि 'सत्त्वात्०' ( सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है ) यह स्मृति है । उस सत्त्वके धर्मरूप ज्ञानसे कार्यकारणवाले—देहेन्द्रियवाले पुरुष योगी सर्वज्ञ प्रसिद्ध हैं, क्योंकि सत्त्वका निरतिशय—अत्यन्त उत्कर्ष होनेपर सर्वज्ञ होना प्रसिद्ध है । देह और इन्द्रियरहित केवल ज्ञानस्वरूप पुरुष सर्वज्ञ हो अथवा यत् किञ्चित् ज्ञाता हो, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । परन्तु प्रधान त्रिगुणात्मक है, इसलिए सब

रत्नप्रभा

विवेकः । अचेतनसत्त्वस्यैव सर्वज्ञत्वं न चेतनस्य इत्याह—**तेन च सत्त्वधर्मेणेति** । **न केवलस्येति** । जन्यज्ञानस्य सत्त्वधर्मत्वात् नित्योपलब्धेः अकार्यत्वात् चिन्मात्रस्य न सर्वज्ञानकर्तृत्वम् इत्यर्थः । ननु गुणानां साम्यावस्था प्रधानम् इति सांख्या वदन्ति । तदवस्थायां सत्त्वस्य उत्कर्षाभावात् कथं सर्वज्ञता

रत्नप्रभाका अनुवाद

मानकर उपासना करना फल है, और सिद्धान्तमें ब्रह्मके साथ ऐक्यका ज्ञान प्राप्त करना फल है, पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें यह अन्तर है। अचेतन जो सत्त्वगुण है, वही सर्वज्ञ है, चेतन सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तेन च सत्त्वधर्मेण" इत्यादिसे । "न केवलस्य" इत्यादि । उत्पन्न होनेवाला ज्ञान सत्त्वका धर्म है, नित्यज्ञान तो कार्य ( उत्पन्न होनेवाला ) नहीं है, अतः केवल ज्ञानरूप आत्मा सर्वज्ञानका कर्ता नहीं हो सकता है । यहाँ शङ्का होती है कि सांख्य गुणोंकी साम्यावस्थाको प्रधान कहते हैं । उस अवस्थामें सत्त्वका उत्कर्ष न होनेसे सर्वज्ञता किस प्रकार हो सकती है,

भाष्य

प्रधानस्य सर्वज्ञानकारणभूतं सत्त्वं प्रधानावस्थायामपि विद्यत इति प्रधानस्याऽचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्वमुपचर्यते वेदान्तवाक्येषु । अवश्यं च त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्माऽभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमभ्युपगन्तव्यम् । नहि सर्वविषयं ज्ञानं कुर्वदेव ब्रह्म वर्तते । तथाहि—ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयेत । अथाऽनित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमे उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति । अपि च प्रागुत्पत्तेः सर्वकारकशून्यं ब्रह्मेष्यते त्वया । न च

भाष्यका अनुवाद

ज्ञानोंका कारणभूत सत्त्वगुण प्रधान–अवस्थामें रहता ही है, इससे अचेतन होनेपर भी प्रधानमें ही वेदान्तवाक्यों द्वारा सर्वज्ञत्व गौणीवृत्तिसे कहा गया है । सर्वज्ञ ब्रह्म है ऐसा अंगीकार करनेवाले तुमको भी सर्वज्ञानशक्तिवाला होनेसे ही ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व मानना पड़ेगा, क्योंकि ब्रह्म सदा ही सर्वविषयोंका ज्ञान करता हुआ नहीं रहता । यदि ज्ञानको नित्य मानें तो ज्ञानक्रियाके प्रति ब्रह्मकी स्वतंत्रता नष्ट हो जायगी । और यदि उसे ( ज्ञानको ) अनित्य मानें तो ब्रह्म ज्ञानक्रियासे कदाचित् उपरत भी हो जायगा अर्थात् ज्ञानक्रिया करना छोड़ देगा । इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञानशक्तिमत्तासे ही ब्रह्म भी सर्वज्ञ है । और दूसरी बात यह भी है कि उत्पत्तिके पूर्व तुम ब्रह्मको तब कारकोंसे रहित

---

रत्नप्रभा

इत्याह–**त्रिगुणत्वादिति** । त्रयो गुणा एव प्रधानम्, तस्य साम्यावस्था तदभेदात् प्रधानम् इति उच्यते । तदवस्थायामपि प्रलये सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वरूपं सर्वज्ञत्वम् अक्षतमित्यर्थः । ननु मया किमिति शक्तिमत्त्वरूपं गौणं सर्वज्ञत्वमङ्गीकार्यम् इति तत्राह–**नहीति** । अनित्यज्ञानस्य प्रलये नाशात् शक्तिमत्त्वं वाच्यम्, कारकाभावात् च इत्याह–**अपि चेति** । मतद्वयसाम्यमुक्त्वा स्वमते विशेषम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसके लिए कहते हैं—"त्रिगुणत्वात्" इत्यादि । तीन गुण ही प्रधान है, उनकी साम्यावस्था उससे भिन्न नहीं है, इसलिए वह प्रधान कहलाता है । उस अवस्थामें भी अर्थात् प्रलय कालमें भी सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वरूप सर्वज्ञत्व अक्षत है । परन्तु हम ब्रह्मवादी शक्तिमत्त्वरूप गौण सर्वज्ञत्व क्यों मानें इसके उत्तरमें कहते हैं—"नहि" इत्यादि । अनित्य ज्ञानका प्रलयमें नाश हो जाता है, इसलिए शक्तिमत्त्व कहना चाहिए । कारकके अभावसे भी कहना चाहिये ऐसा कहते हैं—"अपि च' इत्यादिसे । दोनों मतोंका साम्य ( दोनों मत समान हैं ऐसा ) दिखलाकर अपने

### भाष्य

ज्ञानसाधनानां शरीरेन्द्रियादीनामभावे ज्ञानोत्पत्तिः कस्यचिदुपपन्ना। अपि च प्रधानस्याऽनेकात्मकस्य परिणामसंभवात् कारणत्वोपपत्तिर्मृदादिवत्, नाऽसंहतस्यैकात्मकस्य ब्रह्मणः इत्येवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

### भाष्यका अनुवाद

मानते हो, तब ज्ञानके साधन शरीर, इन्द्रिय आदिके अभावमें ज्ञानकी उत्पत्ति किसीके मतमें भी संगत नहीं है। और अनेक आत्मा—अवयववाले प्रधानके परिणाम का संभव है, इससे मृत्तिका आदिके समान प्रधानमें कारण होनेकी योग्यता है, और असंग एकाकी ब्रह्ममें ( योग्यता ) नहीं है, ऐसा ( पूर्वपक्ष* ) प्राप्त होनेपर इस सूत्रका आरम्भ किया जाता है—

---

### रत्नप्रभा

आह—अपि चेति। ब्रह्मणः कारणत्वं स्मृतिपादे समर्थ्यते, प्रधानादेः कारणत्वं तर्कपादे युक्तिभिः निरस्यति। अधुना तु श्रुत्या निरस्यति—ईक्षतेर्नाशब्दमिति।

### रत्नप्रभाका अनुवाद

मतमें विशेष कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। ब्रह्मकी कारणताका स्मृतिपादमें समर्थन किया जायगा और प्रधानके कारणत्वका तर्कपादमें खण्डन किया जायगा। अभी तो श्रुतिसे खण्डन करते हैं—"ईक्षतेर्नाशब्दम्"।

---

* सांख्यमतमें प्रकृति ही जगत्कारण है, पुरुष पुष्करपलाशके समान निर्लेप है, किन्तु चेतन है। पुरुषके भोगके लिए तथा मोक्षके लिए प्रधान सृष्टिमें प्रवृत्त होता है। पुरुष और प्रकृतिके संयोगसे सृष्टि होती है। अचेतन प्रधानका पुरुष अधिष्ठाता नहीं है, क्योंकि वह प्रकृतिके स्वरूपको ही नहीं जानता है। ईश्वर अधिष्ठाता है ऐसा भी नहीं कह सकते, जैसे वत्सकी वृद्धिके लिए अचेतन भी क्षीर प्रवृत्त होता है अर्थात् गोभुक्त तृण आदि क्षीररूपमें परिणत होकर पृथक् क्षीराशयमें संचित हो जाते हैं। इसमें न गौका प्रयत्न होता है और न वत्सका। उसी प्रकार प्रकृति अचेतन होनेपर भी सृष्टिमें प्रवृत्त होती है और नित्यतृप्त ईश्वरको सृष्टिकार्यसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह कारुण्यसे सृष्टिमें प्रवृत्त होता है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि सृष्टिके पूर्वमें शरीर, इन्द्रिय, विषय आदिके न होनेसे कोई दुःखी जीव था ही नहीं जिसके दुःखको देखकर ईश्वरको करुणा उत्पन्न होती। सृष्टिके बाद दुःखी जीवको देखकर करुणा होती है ऐसा तो नहीं कह सकते, क्योंकि कारुण्यसे सृष्टि होती है, सृष्टिसे कारुण्य होता है, ऐसा अन्योन्याश्रय हो जायगा। और यदि करुणासे प्रेरित होता तो सुखी प्राणियोंकी ही सृष्टि करता, दुःखी प्राणियोंकी सृष्टि नहीं करता। यदि कर्मवैचित्र्यसे सृष्टिवैचित्र्य है कहें तो कर्मसे ही सृष्टि हो सकती है, ईश्वरकी क्या आवश्यकता? ऐसी आपत्ति होगी। अचेतन प्रकृतिकी प्रवृत्तिमें कारुण्य आदि प्रयोजक नहीं है, अतः कोई दोष नहीं होता। जैसे नर्तकी परिषत्को अपना नृत्य दिखलाकर हट जाती है, उसी प्रकार प्रकृति अपना प्रपंच पुरुषको दिखलाकर हट जाती है।

## ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

पदच्छेद—ईक्षतेः, न, अशब्दम् ।

**पदार्थोक्ति**—प्रधानं [ जगत्कारणम् ] न अशब्दम्—शब्दाप्रतिपाद्यं [ हि तत, ] [ कुतः अशब्दम् ] ईक्षतेः तदैक्षतेति श्रुतौ [ जगत्कर्तुः ] ईक्षितृत्व-श्रवणात् ।

**भाषार्थ**—प्रधान जगत्का कारण नहीं है, क्योंकि वह श्रुतिसे अप्रतिपादित है । श्रुतिसे अप्रतिपादित कैसे है ? 'तदैक्षत' श्रुतिमें जगत्कारण ईक्षणका कर्ता कहा गया है, जड़ प्रधानमें ईक्षण करनेकी शक्ति नहीं है ।
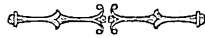
*भाष्य*

**न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम् । अशब्दं हि तत् । कथमशब्दत्वम् ? ईक्षतेः—ईक्षितृत्वश्रवणात् कारणस्य । कथम् ? एवं हि श्रूयते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेक-**

*भाष्यका अनुवाद*

सांख्य द्वारा कल्पित अचेतन प्रधानको[1] जगत्का कारण मानना वेदान्तमें संभव नहीं है, क्योंकि वह श्रुतिसिद्ध नहीं है । श्रुतिसिद्ध क्यों नहीं है ? इससे कि श्रुतिमें कारणको ईक्षण[2] करनेवाला कहा है । किस प्रकार ? श्रुति ऐसा स्पष्टतया कहती है कि 'सदेव' ( हे प्रियदर्शन[3] !

*रत्नप्रभा*

ईक्षणश्रवणात् वेदशब्दावाच्यम् अशब्दं प्रधानम् । अशब्दत्वात् न कारणमिति

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

श्रुतिमें ईक्षण करनेवाला जगत्का कारण कहा गया है, इसलिए प्रधान अशब्द है अर्थात् श्रुतिसे प्रतिपादित नहीं हैं और अशब्द होनेसे कारण नहीं है, ऐसी

वास्तवमें पुरुष न बद्ध होता है, न मुक्त होता है, किन्तु धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्यरूप स्वभावसिद्ध भावोंसे युक्त प्रकृतिके ही बन्ध, मोक्ष आदि होते हैं । जैसे भृत्यगत जय, पराजयका स्वामीमें उपचार होता है, उसी प्रकार प्रकृतिके बन्ध, मोक्ष और संसारका पुरुषमें उपचार होता है । अतः जगत्का कारण प्रधान ही है । इसी सांख्यमतके खण्डनके लिए ईक्षत्यधिकरण प्रारम्भ होता है ।

( १ ) सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणोंकी साम्यावस्था—समता प्रधान है । वह अचेतन है, जगत्का कारण है और उसे किसी अधिष्ठाताकी अपेक्षा नहीं है ऐसा सांख्यमत है ।
( २ ) दृष्टि करनेवाला, देखनेवाला, चिन्तन करनेवाला, ज्ञानी । ( ३ ) अरुणके पौत्र श्वेतकेतुको संबोधन करके पिता कहता है हे सौम्य, जिसका दर्शन प्रिय अर्थात् सुभग है ।

भाष्य

मेवाद्वितीयम्' ( छा० ६।६।१ ) इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' ( छा० ६।२।३ ) इति। तत्रेदंशब्दवाच्यं नामरूपव्याकृतं जगत् प्रागुत्पत्तेः सदात्मनाऽवधार्य तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्दवाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजःप्रभृतेः स्रष्टृत्वं दर्शयति। तथाऽन्यत्र---'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत' ( ऐ० १।१।१ ) इतीक्षापूर्विकामेव

भाष्यका अनुवाद

सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् एक अद्वितीय सद्रूप ही था ) ऐसा उपक्रम[1] करके कहा है—'तदैक्षत०' ( उसने—सत्स्वरूपने मैं बहुत होऊँ ऐसा विचार किया उसने तेजको उत्पन्न किया। ) उक्त श्रुति 'इदम्' शब्दके अर्थ—नाम और रूप द्वारा प्रकट हुए जगत्का सत्स्वरूपसे निश्चय करके वही प्रकृत[2] सत्शब्दवाच्य ( ब्रह्म ) ईक्षणपूर्वक तेज आदिका उत्पन्न करनेवाला है ऐसा दिखलाती है। इसी प्रकार दूसरे स्थलपर 'आत्मा वा०' ( निस्सन्देह पूर्वमें यह एक ही आत्मा था। उससे भिन्न कोई दूसरी स्वतन्त्र वस्तु नहीं थी। उसने विचार किया कि मैं लोकोंको उत्पन्न करूं। उसने इन लोकोंकी

रत्नप्रभा

सूत्रयोजना। तत् सच्छब्दवाच्यं कारणम् ऐक्षत। ईक्षणमेव आह—बह्विति। बहु—प्रपञ्चरूपेण। स्थित्यर्थम् अहमेव उपादानतया कार्याभेदात् जनिष्यामि इत्याह—प्रजेति। एवं तत् सत् ईक्षित्वा आकाशं वायुं च सृष्ट्वा तेजः सृष्टवत् इत्याह—तदिति। मिषत्—चलत्, सत्त्वाक्रान्तमिति यावत्। स जीवाभिन्नः परमात्मा। "प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्न-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रकी योजना करनी चाहिए। "तदैक्षत" इसमें 'तद्' का अर्थ सच्छब्दवाच्य[3] कारण है। ईक्षण ही दिखलाते हैं—"बहु" इत्यादिसे। बहु[4]—प्रपञ्चरूपसे। स्थिति करनेके लिए मैं ही उपादान[5]रूपसे कार्यसे अभिन्न होकर उत्पन्न होऊँ ( ऐसा विचार किया ) ऐसा कहते हैं—"प्रजायेय" से। इस प्रकार उस सत्स्वरूपने ईक्षण कर, आकाश और वायुको उत्पन्न करके तेजको उत्पन्न किया ऐसा कहते हैं—"तत्" इत्यादिसे। "मिषत्" चलता हुआ, अस्तित्वको प्राप्त हुआ। 'सः'—जीवसे अभिन्न परमात्मा। "प्राणमसृजत प्राणा०" ( पहले

( १ ) आरम्भ। ( २ ) प्रकरणभूत विषय। ( ३ ) सत् शब्दसे जिसका अर्थ कहा जा सके। ( ४ ) अनेक स्वरूपसे बहुत विस्तीर्णरूपसे। ( ५ ) समवायिकारण।

भाष्य

सृष्टिमाचष्टे। क्वचिच्च षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्याऽऽह—स ईक्षांचक्रे। स प्राणमसृजत' ( प्र० ६।३ ) इति। ईक्षतेरिति च धात्वर्थनिर्देशोऽभिप्रेतः, यजतेरितिवत्, न धातुनिर्देशः। तेन 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः

भाष्यका अनुवाद

सृष्टि की।) इस प्रकार ईक्षणपूर्वक ही सृष्टि की। 'यजति' के समान 'ईक्षति' से धातुके अर्थका निर्देश अभीष्ट है, धातुका निर्देश अभिप्रेत नहीं है। इससे 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य०' ( जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है, जिसका

रत्नप्रभा

मन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोकाः लोकेषु नाम च" ( प्र० ६।४ ) इत्युक्ताः षोडशकलाः। ननु "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे" इति कात्यायनस्मरणात् ईक्षतेः इति पदेन श्तिबन्तेन धातुरुच्यते, तेन धात्वर्थ ईक्षणं कथं व्याख्यायते इत्याशङ्क्य लक्षणया इत्याह—**ईक्षतेरिति चेति**। "इतिकर्तव्यताविधेः यजतेः पूर्ववत्त्वम्" (७।४।१) इति जैमिनिसूत्रे यथा यजतिपदेन लक्षणया धात्वर्थो याग उच्यते, तद्वत् इहापि इत्यर्थः। सौर्यादिविकृतियागस्य अङ्गानामविधानात् पूर्वदर्शादिप्रकृतिस्थाङ्गवत्त्वम् इति सूत्रार्थः। धात्वर्थनिर्देशेन लाभमाह—**तेनेति**। सामान्यतः सर्वज्ञो विशेषतः सर्वविद् इति भेदः। ज्ञानम् ईक्षणमेव तपः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राण—हिरण्यगर्भ नामक अन्तरात्माको उत्पन्न किया, प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रियों [ ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों ], मन [ इन्द्रियोंका ईश्वर, अन्तःस्थ, सङ्कल्प विकल्पात्मक ] और अन्न [ व्रीहि यवादि लक्षण ] अन्नसे वीर्य, तप [ शुद्धिका साधन ] मंत्र [ ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व और अङ्गिरस आदि ], कर्म [ अग्नि होत्रादि लक्षण ], लोक [ कर्मफल ] और लोकोंमें उत्पन्न किये हुए प्राणियोंके नाम देवदत्त, यज्ञदत्त आदिको ) इस प्रकार पुरुषकी सोलह कलाएँ कही गई हैं। यहाँपर शङ्का होती है कि 'इक्श्तिपौ०' ( इक् और श्तिप् प्रत्यय धातुके निर्देशमें होते हैं ) इस कात्यायनके वचनके अनुसार 'ईक्षतेः' श्तिबन्तपदसे ईक्ष धातु वाच्य होता है, फिर व्याख्यामें–भाष्यमें धातुका अर्थ ईक्षण–चिन्तन कैसे किया गया है, यह शङ्का करके लक्षणासे यह अर्थ होता है, यह कहते हैं–"ईक्षतेः" इत्यादिसे। 'इति०' इस जैमिनि सूत्रमें जैसे 'यजति' पद लक्षणासे धातुके अर्थ––यागका बोधक होता है, उसी प्रकार यहाँ भी 'ईक्षति' शब्द धातुके अर्थका बोधक है। सौर्य आदि विकृति यागोंके अङ्गोंका विधान नहीं किया है, इससे पूर्व दर्श आदि प्रकृतिके अंगही उसके अङ्ग समझने चाहिए ऐसा पूर्वमीमांसा सूत्रका अर्थ है। धातुका नहीं किन्तु धातुके अर्थका निर्देश है, ऐसा लक्षणा द्वारा अर्थ करनेसे दूसरे वाक्य भी प्रधान पक्षका निरसन

भाष्य

तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' ( मु० १।१९ ) इत्येवमादीन्यपि सर्वज्ञेश्वरकारणपराणि वाक्यान्युदाहर्तव्यानि । (यदुक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति, तन्नोपपद्यते । नहि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात् सत्त्वधर्मो ज्ञानं संभवति । ननूक्तं सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भविष्यतीति, तदपि नोपपद्यते । यदि गुणसाम्ये सति सत्त्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत, कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमा-

भाष्यका अनुवाद

ज्ञानमय—विचाररूप तप है, उससे यह ब्रह्म, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है ) ये और सर्वज्ञ ईश्वरको जगत्‌का कारण प्रतिपादन करनेवाले दूसरे वाक्य उदाहरण रूपसे देने चाहियें। सत्त्वगुणके धर्मरूप ज्ञानसे प्रधान सर्वज्ञ होगा, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रधानावस्थामें गुणों की समता रहती है, अतः ज्ञान सत्त्वका धर्म नहीं हो सकता। और जो यह कहा है कि सर्वज्ञानकी शक्ति होनेके कारण ( प्रधान ) सर्वज्ञ होगा। यह कथन भी संगत नहीं है; क्योंकि यदि गुणोंकी समता होनेपर भी सत्त्वमें रहनेवाली ज्ञानशक्तिके आधारपर प्रधानको सर्वज्ञ कहें, तो रजोगुण और तमोगुणमें रहनेवाली ज्ञानप्रतिबन्धक शक्तिके आधारपर उसे अल्पज्ञ भी

रत्नप्रभा

तपस्विनः फलमाह—**तस्मादिति** । एतत् कार्यं सूत्राख्यं ब्रह्म । केवलसत्त्ववृत्तेः ज्ञानत्वम् अङ्गीकृत्य प्रधानस्य सर्वज्ञत्वं निरस्तम्, सम्प्रति न केवलजडवृत्तिः ज्ञानशब्दार्थः, किन्तु साक्षिबोधविशिष्टा वृत्तिः वृत्तिव्यक्तबोधो वा ज्ञानम्, तच्च अन्धस्य प्रधानस्य नास्ति इत्याह—**अपि चेति** । साक्षित्वमस्ति, येन उक्तज्ञानवत्त्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेके लिए हैं, ऐसा लाभ कहते हैं—"तेन" इत्यादिसे। सामान्यज्ञानवाला सर्वज्ञ है और विशेष ज्ञानवाला सर्ववित् है, यह सर्वज्ञ और सर्ववित्‌के अर्थमें भेद है। 'ज्ञानमयं तपः'—ज्ञान जो ईक्षण है, वही तप है, आयासरूप तप नहीं है। तपस्वीका फल कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। 'यह' अर्थात् कार्यरूप हिरण्यगर्भसंज्ञक ब्रह्म। केवल सत्त्ववृत्ति ज्ञान है ऐसा मानकर प्रधान सर्वज्ञ है इस बातका निराकरण किया है। अब केवल जड़वृत्ति ज्ञान शब्दका अर्थ नहीं है, किन्तु साक्षिबोधविशिष्ट वृत्ति अथवा वृत्तिसे व्यक्त बोध ज्ञान है, वह ज्ञान अन्ध प्रधानमें नहीं है ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। 'साक्षित्व है नहीं' के बाद 'जिससे पूर्वोक्त ज्ञानवत्त्व हो सके' इतना शेष समझना चाहिए। परन्तु सत्त्ववृत्तिमात्रसे योगी सर्वज्ञ है ऐसा कहा गया है इस शंकापर

भाष्य

श्रित्य किंचिज्ज्ञमुच्येत । अपि च नाऽसाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिना ऽभिधीयते । न चाऽचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्ति । तस्मादनुपपन्नं प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम् । योगिनां तु चेतनत्वात् सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदाहरणम् । अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्प्येत, यथाऽग्निनिमित्तमयःपिण्डादेर्दग्धृत्वम् । तथा सति यन्निमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञं मुख्यं ब्रह्म जगतः कारणमिति युक्तम् । यत् पुनरुक्तम्—ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वमुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यासम्भवादिति । अत्रोच्यते—इदं तावद् भवान्

भाष्यका अनुवाद

कहना होगा। किञ्च, साक्षीरहित सत्त्ववृत्तिका अभिधान 'ज्ञा' धातुसे नहीं हो सकता और अचेतन प्रधान साक्षी नहीं हो सकता है। उक्त हेतुसे सिद्ध है कि प्रधानमें सर्वज्ञता नहीं है। योगी तो चेतन हैं, इससे उनमें सत्त्वके उत्कर्षसे सर्वज्ञता हो सकती है, इससे यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। जैसे लोहेके गोले आदिमें अग्निसे दहनशक्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रधानमें ईक्षणशक्ति साक्षीसे प्राप्त होती है, ऐसी यदि कल्पना की जाय, तो ऐसा होनेपर प्रधानको ईक्षणशक्ति जिससे प्राप्त होती है, वही मुख्य ब्रह्म जगत्का कारण है, यह युक्त है। यह जो पीछे कहा गया है कि ब्रह्ममें मुख्य सर्वज्ञता नहीं है, क्योंकि ब्रह्मकी ज्ञानक्रिया नित्य होनेके कारण ज्ञानक्रियाके प्रति उस (ब्रह्म) की स्वतंत्रता संभव नहीं है। उसके उत्तरमें यहाँ कहा जाता है—पहले तो आप यह बतलाइये

---

रत्नप्रभा

स्यादिति शेषः। ननु सत्त्ववृत्तिमात्रेण योगिनां सर्वज्ञत्वमुक्तम् इत्यत आह—**योगिनां त्विति**। सेश्वरसाङ्ख्यमतमाह—**अथेति**। सर्वज्ञत्वं नाम सर्वगोचरज्ञानवत्त्वम्, न ज्ञानकर्तृत्वम्, ज्ञानस्य कृत्यसाध्यत्वात् इति हृदि कृत्वा पृच्छति—**इदं तावदिति**। सर्वं जानातीति शब्दासाधुत्वं शङ्कते—**ज्ञान-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"योगिनां" इत्यादि। सेश्वर सांख्य—पातञ्जल मत कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। सर्वज्ञत्वका अर्थ सर्वविषयक ज्ञान है, ज्ञानकर्तृत्व नहीं है, क्योंकि ज्ञान कृतिसाध्य नहीं है, ऐसा हृदयमें रखकर पूछते हैं—"इदं तावत्" इत्यादिसे। यहाँपर "ज्ञाननित्यत्वे" इत्यादिसे शङ्का करते हैं कि 'जानाति' से ज्ञानकर्तृत्वकी प्रतीति होती है, ज्ञानके नित्य होनेके

भाष्य

प्रष्टव्यः, कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति। यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति, सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम्। अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य, कदाचिद् जानाति कदाचिद् न जानातीत्यसर्वज्ञत्वमपि स्यात्। नाऽसौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति। ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेत्, नः प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेशदर्शनात्। ननु सवितुर्दाह्यप्रकाश्यसंयोगे सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेशः स्यात्, न तु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञानकर्मसंयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः। न; असत्यपि कर्मणि

भाष्यका अनुवाद

कि ज्ञानक्रियाके नित्यहोनेके कारण सर्वज्ञताकी हानि किस प्रकार होती है? सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला जिसका ज्ञान नित्य है, वह असर्वज्ञ हो यह कथन विरुद्ध है। यदि ज्ञानको अनित्य मानें तो कभी जानता है और कभी नहीं जानता है, इस प्रकार असर्वज्ञता भी हो सकती है। परन्तु ज्ञानके नित्यत्वपक्षमें यह दोष नहीं है। यदि कहो कि ज्ञानके नित्यत्वपक्षमें ज्ञानके विषयमें जो स्वतंत्रता कही गई है, वह ठीक नहीं है। यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सूर्यकी उष्णता और प्रकाश स्थायी हैं, तो भी 'जलता है' 'प्रकाशित होता है' इस प्रकार स्वतंत्रताका व्यपदेश देखा जाता है। यदि कहो कि दाह्य[1] और प्रकाश्य[2] पदार्थोंके साथ सूर्यका संयोग होनेपर 'जलता है' 'प्रकाशित करता है' ऐसा व्यपदेश किया जाता है, परन्तु

रत्नप्रभा

**नित्यत्व इति।** नित्यस्यापि ज्ञानस्य तत्तदर्थोपहितत्वेन ब्रह्मस्वरूपाद् भेदं कल्पयित्वा कार्यत्वोपचाराद् ब्रह्मणः तत्कर्तृत्वव्यपदेशः साधुः इति सदृष्टान्तमाह— **न प्रततेति।** सन्ततेत्यर्थः। असति अपि—अविवक्षितेऽपि। ननु प्रकाशतेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारण—कार्य न होनेसे उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता, ऐसी अवस्थामें 'सर्वं जानाति—सर्वज्ञः' इन शब्दोंकी सिद्धि कैसे होगी? ज्ञान—शुद्ध चैतन्य यद्यपि नित्य है, तो भी तत् तत् विषयरूप उपाधियोंसे युक्त होनेके कारण ब्रह्मस्वरूपसे उसमें भेदकी कल्पना कर अनित्यताका गौण व्यवहार होता है और उसका कर्ता ब्रह्म है ऐसा व्यपदेश होता है, अतः 'सर्वं जानाति' इत्यादि शब्दोंकी शुद्धिमें कोई हानि नहीं है, इस बातको दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—"न प्रतत" इत्यादिसे।

(१) जलने योग्य। (२) प्रकाश पाने योग्य।

भाष्य

**सविता प्रकाशत इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात्, एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तदैक्षत' इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम्। कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः। किं पुनस्तत्कर्म, यत् प्रागुत्पत्तेरी-**

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्तिके पूर्वमें तो ब्रह्मके ज्ञानका कर्मके साथ संयोग ही नहीं है, इससे यह दृष्टान्त विषम है। इस शङ्कापर कहते हैं—नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मके न होनेपर भी 'सूर्य प्रकाशित होता है' इस प्रकार सूर्यमें कर्तृत्वका व्यपदेश देखा जाता है, इसी प्रकार ज्ञानक्रियाके कर्मके न होनेपर भी 'तदैक्षत' ( उसने ईक्षण किया ) इस प्रकार ब्रह्मका कर्तारूपसे व्यपदेश ठीक ही है, अतः ( दृष्टान्तमें ) विषमता नहीं है। कर्मकी अपेक्षामें तो ब्रह्ममें ईक्षणका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां सर्वथा युक्त हैं। वह कर्म क्या है

रत्नप्रभा

अकर्मकत्वात् सविता प्रकाशते इति प्रयोगेऽपि जानातेः सकर्मकत्वात् कर्माभावे तदैक्षत इति अयुक्तमिति तत्राह—**कर्मापेक्षायां त्विति**। कर्माविवक्षायामपि प्रकाशरूपे सवितरि प्रकाशते इति कथञ्चित् प्रकाशक्रियाश्रयत्वेन कर्तृत्वोपचारवत् चिदात्मनि अपि चिद्रूपेक्षणकर्तृत्वोपचारात् न वैषम्यम् इत्युक्तं पूर्वम्। अधुना तु कुम्भकारस्य स्वोपाध्यन्तःकरणवृत्तिरूपेक्षणवत् ईश्वरस्याऽपि स्वोपाध्यविद्यायाः विविधसृष्टिसंस्कारायाः प्रलयावसानेन उद्बुद्धसंस्कारायाः सर्गोन्मुखः कश्चित् परिणामः सम्भवति, अतः तस्यां सूक्ष्मरूपेण निलीनसर्वकार्यविषयकम् ईक्षणं तस्य कार्यत्वात् कर्मसद्भावात् च तत्कर्तृत्वं मुख्यमिति द्योतयति—**सुतरामिति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतत–सन्तत अर्थात् निरन्तर। 'कर्मके न होनेपर'–कर्मके अविवक्षित होनेपर। 'प्रकाश'के अकर्मक होनेसे 'सविता प्रकाशते' ( सूर्य प्रकाशित होता है ) ऐसा प्रयोग हो सकता है, परन्तु 'जानाति'के सकर्मक होनेसे कर्मके अभावमें 'तदैक्षत' ( उसने चिन्तन किया ) यह अयुक्त है। इसपर कहते हैं—"कर्मापेक्षायां तु" इत्यादिसे। कर्मकी अविवक्षामें भी प्रकाशरूप सूर्य प्रकाशित होता है, इस प्रकार प्रकाश क्रियाका यथाकथञ्चित् आश्रय होनेसे सूर्यमें कर्तृत्वका उपचार होता है। इसी प्रकार आत्मामें भी चैतन्यरूप ईक्षणके कर्तृत्वका उपचार करनेसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें विषमता नहीं है, यह पीछे कह आये हैं। अब जैसे अनेक प्रकारकी वस्तु बनानेकी इच्छा करनेवाले कुम्हारका ईक्षण उसके उपाधिभूत अन्तःकरणकी वृत्ति ही है, इसी प्रकार अनेक प्रकारकी सृष्टिके संस्कारोंसे सम्पन्न तथा प्रलयके अवसानमें जिसके संस्कार जाग्रत् होते

भाष्य

श्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति ? तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः। यत्प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति।

भाष्यका अनुवाद

जो कि उत्पत्तिके पूर्वमें ईश्वरके ज्ञानका विषय होता है ? जिनका सत् रूपसे और असत् रूपसे निर्वचन नहीं हो सकता और जो अव्याकृत हैं एवं व्याकृत करनेके लिए अभीष्ट हैं वे नाम और रूप कर्म हैं। वस्तुतः जिसके प्रसादसे योगियोंको भी भूत और भविष्यका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है ऐसा योगशास्त्रके जाननेवाले कहते हैं, उस नित्य सिद्ध ईश्वरका सृष्टि, स्थिति और संहार विषयक ज्ञान नित्य है, इस विषयमें कहना ही क्या है ? और यह जो

रत्नप्रभा

ननु मायोपाधिकबिम्बचिन्मात्रस्य ईश्वरस्य कथम् ईक्षणं प्रति मुख्यं कर्तृत्वम्, कृत्यभावात् इति चेत्, न; कार्यानुकूलज्ञानवत एव कर्तृत्वाद् ईश्वरस्यापि ईक्षणानुकूलनित्यज्ञानवत्त्वात्। न च नित्यज्ञानेनैव कर्तृत्वनिर्वाहात् किम् ईक्षणेनेति वाच्यम्। वाय्वादेरेव शब्दवत्त्वसम्भवात् किमाकाशेन इति अतिप्रसङ्गात् अतः। श्रुतत्वाद् वाय्वादिकारणत्वेन आकाशवत् ऐक्षत इत्यागन्तुकत्वेन श्रुतम् ईक्षणम् ईकाशादिहेतुत्वेन अङ्गीकार्यम् इत्यलम्—अव्याकृते। सूक्ष्मात्मना

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं, ईश्वरकी उपाधिरूप उस अविद्याका सृष्टि करनेके लिए कोई एक परिणाम होता है, उसमें सूक्ष्मरूपसे वर्तमान सकल कार्योंका ईश्वरकर्तृक ईक्षण कार्यरूप है और उसका कर्म भी है अतः ब्रह्ममें ईक्षणकर्तृत्व मुख्य ही है इस बातको "सुतराम्" पदसे द्योतित करते हैं। यहाँपर शङ्का होती है कि जिसकी उपाधि माया है, वह बिम्बभूत चिन्मात्र ईश्वर ईक्षणका मुख्य कर्ता किस प्रकार हो सकता है, क्योंकि उसमें कृति नहीं है। यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यानुकूल ज्ञानवाला ही कर्ता होता है और ईश्वर भी ईक्षणके अनुकूल नित्यज्ञानवाला है, इससे कर्ता है। यदि नित्यज्ञानसे ही कर्तृत्वका निर्वाह होता है, तो ईक्षण क्यों मानना चाहिए ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दका आश्रय वायु ही हो सकता है तो आकाश क्यों माना जाय इत्यादि आपत्तियां उपस्थित होंगी। इससे जैसे श्रुत्युक्त होनेके कारण वायुके प्रति आकाश कारण माना

---

( १ ) प्रकट न हुआ।

( २ ) भूत—बीता हुआ, भविष्य—होनेवाला, इन दोनोंका संबंधी।

भाष्य

यदप्युक्तम्—प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरादिसंबन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्न-मिति, न तच्चोद्यमवतरति, सवितृप्रकाशवद् ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। अपि चाऽविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्; न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य। मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानतां च दर्शयतः—

भाष्यका अनुवाद

पीछे कहा गया है कि उत्पत्तिके पूर्वमें शरीर आदिके साथ सम्बन्ध न होनेसे ब्रह्ममें ईक्षणशक्ति संगत नहीं होती, यह आक्षेप युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्मका ज्ञान सूर्यके प्रकाशके समान नित्य है, इससे उसको ज्ञानके साधनोंकी अपेक्षा ही नहीं है। और अविद्या आदिसे युक्त संसारी जीवको ज्ञानोत्पत्तिमें भले ही शरीर आदि अपेक्षित हों, परन्तु ज्ञानके रोकनेवाले कारणोंसे रहित ईश्वरको ज्ञानोत्पत्तिमें शरीर आदिकी अपेक्षा नहीं है। और ये दो मंत्र ईश्वरको शरीर आदिकी अपेक्षा नहीं है एवं उसका ज्ञान आवरण रहित है ऐसा दिखलाते

---

रत्नप्रभा

स्थिते, व्याकर्तुं स्थूलीकर्तुम् इष्टे इत्यर्थः। अव्याकृतकार्योपरक्तचैतन्यरूपेक्षणस्य कारकानपेक्षत्वेऽपि वृत्तिरूपेक्षणस्य कारकं वाच्यम् इति आशङ्क्याह—**अपि चाऽविद्यादिमत इति**। यथा एकस्य ज्ञानं तथा अन्यस्याऽपि इति नियमाभावाद् मायिनोऽशरीरस्याऽपि जन्येक्षणकारकत्वम् इति भावः। ननु यद् जन्यज्ञानं तत् शरीरसाध्यम् इति व्याप्तिः अस्ति इत्याशङ्क्य श्रुतिबाधमाह—**मन्त्रौ चेति**। कार्यम्—शरीरम्। कारणम्—इन्द्रियम्। अस्य—ईश्वरस्य। शक्तिः माया स्वकार्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

गया है, वैसे ही 'ऐक्षत' इस श्रुतिमें वर्णित ईक्षणको आकाश आदिके प्रति कारण मानना चाहिए। अव्याकृत—सूक्ष्मरूपसे स्थित। व्याचिकीर्षित-स्थूल रूपसे प्रकट करनेके लिए अभीप्सित। अविद्यासे उपहित चैतन्यरूप ईक्षणको कारककी अपेक्षा न होनेपर भी वृत्तिरूप ईक्षणको कारककी अवश्य आवश्यकता है, अर्थात् यद्यपि नित्य स्वरूपभूत ज्ञानको शरीर आदिकी अपेक्षा नहीं है, तो भी वृत्तिज्ञानको उसकी अपेक्षा होनी चाहिए ऐसी शङ्का करके कहते हैं—"अपि चाऽविद्यादिमतः" इत्यादिसे। जैसा एकका ज्ञान है, वैसा ही दूसरेका ज्ञान हो ऐसा नियम नहीं है, इससे मायायुक्त, शरीररहित ईश्वर भी जन्य ईक्षणका कर्ता है, ऐसा समझना चाहिए। जो जन्यज्ञान है, वह शरीरसाध्य है, ऐसी व्याप्ति है, यह आशङ्का करके इसमें श्रुतिका बाध दिखलाते हैं—"मन्त्रौ च" इत्यादिसे। कार्यम्—शरीर। कारणम्—इन्द्रियां। अस्य—इस ईश्वरकी।

भाष्य

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥'
( श्वे० ६।८ ) इति ।

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥'
( श्वे० ३।१९ ) इति च ।

भाष्यका अनुवाद

हैं—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते०' ( उसके कार्य—शरीर और करण—नेत्र आदि इन्द्रियां नहीं हैं, उसके समान—सदृश और उससे अधिक—उत्कृष्ट कोई देखनेमें नहीं आता, उसकी शक्ति—मूलकारण माया, परा और अनेक प्रकारकी ही सुनी जाती है, और ज्ञानरूप बलसे जो सृष्टि क्रिया होती है, वहस्वभाव-सिद्ध है ) तथा 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता०' ( उसके हाथ नहीं हैं, तो भी सब पदार्थोंको ग्रहण करता है और पैर नहीं हैं, तो भी वेगशाली है, वह नेत्ररहित है, तो भी देखता है और कर्णरहित है, तो भी सुनता है, वह वेदनीय वस्तुको जानता है और उसको कोई नहीं जानता [सर्वकारण होनेसे] उसको प्रथम, पुरुष—पूर्ण और महान्

रत्नप्रभा

पेक्षया परा, विचित्रकार्यकारित्वाद् विविधा सा तु ऐतिह्यमात्रसिद्धा न प्रमाणसिद्धा इत्याह—श्रूयत इति । ज्ञानरूपेण बलेन या सृष्टिक्रिया, सा स्वाभाविकी । अनादिमायात्मकत्वाद् इत्यर्थः । ज्ञानस्य चैतन्यस्य बलं मायावृत्तिप्रतिबिम्बितत्वेन स्फुटत्वम् । तस्य क्रिया नाम बिम्बत्वेन ब्रह्मणो जनकता ज्ञातृताऽपि स्वभाविकी इति वाऽर्थः । अपाणिरपि ग्रहीता । अपादोऽपि जवनः । ईश्वरस्य स्वकार्ये लौकिक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

शक्तिः—मूलकारण, माया । अपने कार्यकी अपेक्षा 'परा'—उत्कृष्ट और विचित्र कार्य करती है, इसलिए 'विविधा' विविध—अनेक प्रकारकी कही गई । माया केवल इतिहाससे[1] ही सिद्ध है, प्रमाणसिद्ध नहीं हैं, इस शङ्काको निवृत्ति करनेके लिए 'श्रूयते' ( सुननेमें आती है ) ऐसा कहा है । ज्ञानरूप बलसे जो सृष्टि होती है, वह स्वाभाविक है, क्योंकि वह अनादि—मायात्मक है । अथवा ज्ञानका—चैतन्यका बल—मायावृत्तिमें प्रतिबिम्बितरूपसे भासना, उसकी क्रिया—ब्रह्मके बिम्ब होनेके कारण उसकी जनकता और ज्ञातृताभी स्वभावसिद्ध है ऐसा अर्थ है । हाथोंसे रहित है, तो भी ग्रहण करता है, पाँवरहित है तो भी वेगवान् है । तात्पर्य यह है

( १ ) जिसका वक्ता अनिर्दिष्ट अथवा अज्ञात हो, ऐसा परंपरागत वाक्य । इसको पौराणिक प्रमाण मानते हैं ।

भाष्य

ननु नास्ति तावज्ज्ञानप्रतिबन्धकारणवानीश्वरादन्यः संसारी, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३) इति श्रुतेः। तत्र किमिदमुच्यते—संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः, नेश्वरस्येति? अत्रोच्यते—सत्यम्, नेश्वरादन्यः संसारी। तथापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसंबन्ध इव व्योम्नः, तत्कृतश्च शब्दप्रत्ययव्यवहारो लोकस्य दृष्टः—'घटच्छिद्रम्, करकादिच्छिद्रम्' इत्यादिः, आकाशाव्यतिरेकेऽपि; तत्कृता चाऽऽकाशे घटाकाशादिभेदमिथ्या-

भाष्यका अनुवाद

कहते हैं)। परन्तु तुम्हारे मतमें तो ईश्वरसे भिन्न ज्ञानप्रतिबन्धकारणवाला कोई संसारी है ही नहीं, क्योकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा०' (उसको छोड़कर दूसरा द्रष्टा नहीं है और उससे अतिरिक्त दूसरा विज्ञाता नहीं है) ऐसा श्रुति कहती है, तो यह कैसे कहते हो कि संसारीको ज्ञानोत्पत्तिमें शरीर आदिकी अपेक्षा है, ईश्वरको ज्ञानोत्पत्तिमें नहीं है। इसका उत्तर कहा जाता है—ईश्वरसे अन्य संसारी नहीं है यह सत्य है, तो भी जैसे घट, कमण्डलु, गुफा आदि उपाधियोंके साथ आकाशका संबन्ध है, उसी प्रकार देहादि संघात[1]रूप उपाधियोंके साथ (ईश्वर) का संबन्ध इष्ट ही है। जैसे आकाशसे अभिन्न होनेपर भी उपाधिके संबन्धसे घटाकाश, करकाकाश[2] आदि शब्दव्यवहार और ज्ञानव्यवहार लोकमें देखे जाते हैं और उपाधिसंबन्धकृत घटाकाश आदि भेदरूप मिथ्याबुद्धि

रत्नप्रभा

हेत्वपेक्षा नास्ति इति भावः। अग्र्यम्—अनादिम्, पुरुषम्—अनन्तम्, महान्तम्—विभुम् इत्यर्थः। अपसिद्धान्तं शङ्कते—नन्विति। ज्ञाने प्रतिबन्धककारणानि अविद्यारागादीनि। श्रुतौ अत ईश्वरात् अन्यो नास्ति इत्यन्वयः। औपाधिकस्य जीवेश्वरभेदस्य मया उक्तत्वात् न अपसिद्धान्त इत्याह—अत्रोच्यत इति। तत्कृत

रत्नप्रभाका अनुवाद

कि ईश्वरको अपने कार्यमें लौकिक हेतुओंकी अपेक्षा नहीं है। अग्र्य—अनादि, पुरुष—अनन्त, महान्—विभु। अपसिद्धान्तकी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। ज्ञानमें प्रतिबन्धके कारण अविद्या, राग आदि हैं। श्रुतिमें अतः—ईश्वरसे अन्य कोई नहीं है ऐसा अन्वय है। हम पीछे कह चुके हैं कि जीव और ईश्वरका उपाधिकृत भेद है, इसलिए अपसिद्धान्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। तत्कृत—उपाधि सबन्धसे जन्य शब्द

(१) संहत—जुड़ा हुआ, समूह। (२) कमण्डलुका आकाश।

भाष्य

बुद्धिः दृष्टा । तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेद-मिथ्याबुद्धिः । दृश्यते चाऽऽत्मन एव सतो देहादिसंघातेऽनात्मन्यात्मत्वा-भिनिवेशो मिथ्याबुद्धिमात्रेण पूर्वपूर्वेण । सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्ष-

भाष्यका अनुवाद

आकाशमें देखनेमें आती है, उसी प्रकार यहां भी देहादि संघातरूप उपाधिके साथ संबन्ध होनेके कारण अज्ञानसे उत्पन्न हुई ईश्वर और संसारीकी भेद-रूप मिथ्याबुद्धि है । वस्तुतः अतिरिक्त ही आत्माका देहादि संघातरूप अनात्म-पदार्थोंमें आत्मत्वका अभिनिवेश पूर्वपूर्व मिथ्याबुद्धिसे ही देखनेमें आता है, और

---

रत्नप्रभा

उपाधिसम्बन्धकृतः शब्दतज्जन्यप्रत्ययरूपो व्यवहारः । असङ्कीर्ण इति शेषः । अव्यतिरेके कथम् असङ्करः तत्राह—**तत्कृता चेति** । उपाधिसम्बन्धकृता इत्यर्थः । **तथेति** । देहादिसम्बन्धस्य हेतुः अविवेकः—अनाद्यविद्या तया कृत इत्यर्थः । अविद्यायां हि प्रतिबिम्बो जीवः, बिम्बचैतन्यम् ईश्वरः इति भेदोऽविद्या-धीनसत्ताकः, अनादिभेदस्य कार्यत्वायोगात् । कार्यबुद्ध्यादिकृतप्रमात्रादिभेदश्च कार्य एवेति विवेकः । ननु अखण्डस्वप्रकाशात्मनि कथम् अविवेकः, तत्राह—**दृश्यते चेति** । वस्तुतो देहादिभिन्नस्वप्रकाशस्यैव सत आत्मनो 'नरोऽहम्' इति भ्रमो दृष्टत्वाद् दुरपह्नवः । स च मिथ्याबुद्ध्या मीयते इति मिथ्याबुद्धिमात्रेण

रत्नप्रभाका अनुवाद

और शाब्दबोधरूप व्यवहार । भाष्यमें 'व्यवहारः' के बाद 'असङ्कीर्णः' इतना अध्याहार है । यदि आकाश तत्त्वतः भिन्न नहीं है, तो व्यवहारोंका साङ्कर्य क्यों नहीं है इस शङ्कापर कहते हैं—"तत्कृता च" इत्यादिसे । तत्कृता—उपाधि संबन्धसे की हुई । "तथा" इत्यादि । अर्थात् आत्माका देह आदिके साथ संबन्धका कारण अविवेक—अनादि अविद्या, उससे कल्पित—है । अविद्यामें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह जीव है, जिसका प्रतिबिम्ब है, वह बिम्बचैतन्य ईश्वर है, इस भेदकी सत्ता अविद्याकी सत्ताके अधीन है, क्योंकि अनादि भेद कार्य नहीं हो सकता है, परन्तु कार्यरूप बुद्धि आदिसे होनेवाले प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि भेद कार्य ही हैं ऐसा समझना चाहिए । परन्तु अखण्ड स्वप्रकाश आत्मामें भ्रान्ति किस प्रकार हो सकती है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—"दृश्यते च" इत्यादि । वस्तुतः देह आदिसे भिन्न स्वप्रकाश सद्रूप आत्मामें 'नरोऽहम्' ( मैं नर हूँ ) ऐसा भ्रम दिखाई देता है, इसलिए उसका निषेध नहीं हो सकता । मिथ्याबुद्धिसे उस अध्यस्त शरीरादि का भान होता है, इससे केवल मिथ्याबुद्धिसे—भ्रमसिद्ध अज्ञानसे कल्पित है ऐसा 'च' कारका

भाष्य

मीक्षितृत्वमुपपन्नं संसारिणः। यदप्युक्तम्—प्रधानस्याऽनेकात्मकत्वात् मृदादिवत् कारणत्वोपपत्तिर्नाऽसंहतस्य ब्रह्मण इति, तत्प्रधानस्याऽशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम्। यथा तु तर्केणाऽपि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वोढुं शक्यते, न प्रधानादीनाम्, तथा प्रपञ्चयिष्यति—'न विलक्षणत्वादस्य' (ब्र०सू० २।१।४) इत्येवमादिना ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार संसारित्वके औपाधिक होनेसे संसारीकी ईक्षणशक्तिको देहादिकी अपेक्षा होना उचित ही है। मृत्तिका आदिकी तरह अनेकस्वरूप होनेसे प्रधान जगत्‌का कारण हो सकता है, एकाकी ब्रह्म जगत्कारण नहीं हो सकता, यह जो पीछे कहा गया है उसका 'प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है' इस कथनसे ही निराकरण हो गया। जगत्कारण ब्रह्म ही है, प्रधान आदि नहीं है यह बात जिस प्रकार युक्तिसे सिद्ध होती है, वह रीति 'न विलक्षणत्वादस्य' इत्यादि सूत्रोंसे विस्तार-पूर्वक कही जायगी ॥५॥

---

रत्नप्रभा

भ्रान्तिसिद्धाज्ञानेन कल्पित इति चकारार्थः। यद्वा, उक्तमिथ्याबुद्धौ लोकानुभवमाह—दृश्यते चेति। इत्थंभावे तृतीया। भ्रान्त्यात्मना दृश्यते इत्यर्थः। पूर्वपूर्वभ्रान्तिमात्रेण दृश्यते, न च प्रमेयतया इति वाऽर्थः। कूटस्थस्याऽपि मायिकं कारणत्वं युक्तम् इति आह—यथा त्विति। यत्तु अवेद्ये शब्दशक्तिग्रहायोग इति, तत् न; सत्यादिपदानाम् अबाधिताद्यर्थेषु लोकावगतशक्तिकानां वाच्यैक-देशत्वेन उपस्थिताखण्डब्रह्मलक्षकत्वात् इति स्थितम् ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ है। अथवा उक्त मिथ्याबुद्धिमें लोकानुभव कहते हैं—"दृश्यते च" इत्यादिसे। 'मिथ्या-बुद्धिमात्रेण' इसमें तृतीया इत्थम्भावमें है। भ्रान्तिरूपसे दीखता है ऐसा अर्थ है। अथवा केवल पूर्व-पूर्व भ्रान्तिसे दीखता है, वस्तुतः है नहीं ऐसा अर्थ है। कूटस्थ आत्माका भी मायिक[1] कारणत्व युक्त ही है, ऐसा कहते हैं—"यथा तु" इत्यादिसे। ब्रह्म अज्ञेय है इससे उसमें शब्दशक्तिका ग्रहण नहीं हो सकता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहारमें 'सत्य' आदि पदोंकी 'अबाधित' आदि अर्थोंमें शक्ति गृहीत है अतः वे अपने वाच्यके एक-देश अखण्ड ब्रह्मके लक्षक हो सकते हैं, यह निर्विवाद है ॥ ५ ॥

---

(१) मायासे कृत।

### भाष्य

अत्राह—यदुक्तं नाऽचेतनं प्रधानं जगत्कारणमीक्षितृत्वश्रवणादिति। तदन्यथाप्युपपद्यते, अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात्। यथा प्रत्यासन्नपतनतां नद्याः कूलस्याऽऽलक्ष्य कूलं पिपतिषतीत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तद्वदचेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्नसर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति 'तदैक्षत' इति। यथा लोके कश्चिच्चेतनः स्नात्वा भुक्त्वा चाऽपराह्णे ग्रामं रथेन गमिष्यामीति ईक्षित्वाऽनन्तरं तथैव नियमेन प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेण नियमेन प्रवर्तते। तस्मात् चेतनवदुपचर्यते। कस्मात् पुनः कारणाद् विहाय मुख्यमीक्षितृत्वमौपचारिकं

### भाष्यका अनुवाद

यहाँ पर पूर्वपक्षी कहता है कि अचेतन प्रधान जगत्‌का कारण नहीं है, क्योंकि श्रुतिने ईक्षणकर्ताको ही ( जगत्कारण ) बतलाया है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह दूसरी तरह भी संगत हो सकता है, क्योंकि अचेतनमें भी गौणीवृत्तिसे चेतनका-सा व्यवहार दिखाई देता है। जैसे नदीका किनारा जल्दी गिरनेवाला है यह देखकर 'किनारा गिरना चाहता है' इस प्रकार अचेतन किनारेमें चेतनका-सा व्यवहार देखनेमें आता है, उसी प्रकार सृष्टि समीप होने पर अचेतन प्रधानमें 'उसने दृष्टिकी' इस प्रकार चेतनका-सा व्यवहार हो सकता है। जैसे लोकमें कोई पुरुष स्नान करके, भोजन करके, पिछले पहर रथसे गाँवको जाऊँगा, ऐसा विचार कर पीछे वैसा ही करता है, उसी प्रकार प्रधान भी महदादिके आकारसे नियमतः परिणत होता है, इसलिए चेतनका-सा उसमें उपचार किया जाता है। मुख्य ईक्षणशक्तिका त्याग करके औपचारिक ईक्षणकर्तृत्वकी कल्पना करनेमें क्या कारण है ?

---

### रत्नप्रभा

सम्प्रति उत्तरसूत्रनिरस्याशङ्कामाह—**अत्राहेति**। अन्यथापि अचेतनत्वेऽपि। ननु प्रधानस्य चेतनेन किं साम्यं येन गौणम् ईक्षणम् इति तत्राह—**यथेति**। नियतक्रमवत् कार्यकारित्वं साम्यम् इत्यर्थः। उपचारप्राये वचनादिति।

### रत्नप्रभाका अनुवाद

अब अग्रिम सूत्रसे निराकरणीय शङ्काको कहते हैं—"अत्राह" इत्यादिसे। 'अन्यथाऽपि'—अचेतन होनेपर भी। प्रधानका चेतनसे क्या सादृश्य है, जिससे कि प्रधानमें गौण ईक्षण माना जाय, इस शङ्कापर कहते हैं "यथा" इत्यादि। नियमित रूपसे क्रमबद्ध कार्य करना दोनोंका साधर्म्य है ऐसा अर्थ है। "उपचारप्राये वचनात्"---जिस प्रकरणमें बहुत स्थलोंपर

भाष्य

कल्प्यते, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६।२।४) इति चाऽचेतनयोरप्यप्तेजसोश्चेतनवदुपचारदर्शनात्। तस्मात् सत्कर्तृकमपीक्षण-मौपचारिकमिति गम्यते, उपचारप्राये वचनात् इति। एवं प्राप्ते इदं सूत्रमारभ्यते—

भाष्यका अनुवाद

'तत्तेज०' (उस तेजने ईक्षण किया) 'ता आप०' (उस जलने ईक्षण किया) इस प्रकार अचेतन तेज और जलमें चेतनके समान उपचार[1] देखनेमें आता है, इसलिए (हम उपर्युक्त कल्पना करते हैं)। इस कारण जिसका कर्ता सत् है, वह ईक्षण भी औपचारिक है, ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि उपचार प्रचुर[2] प्रकरणमें उसका कथन है ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर इस सूत्रका आरम्भ किया जाता है—

---

रत्नप्रभा

गौणार्थप्रचुरे प्रकरणे समाम्नानात् इत्यर्थः। अप्तेजसोरिव अचेतने सति गौणी ईक्षतिरिति चेत्, न; आत्मशब्दात् सतः चेतनत्वनिश्चयात् इति सूत्रार्थमाह— **यदुक्तमित्यादिना।**

रत्नप्रभाका अनुवाद

गौणार्थ मानना पड़ता है, उस प्रकरणमें कहे जानेके कारण। जैसे जल और तेजके अचेतन होनेसे उनमें गौण ईक्षण लेना पड़ता है, उसी प्रकार सत् (सत्स्वरूप मूलकारण) को अचेतन मानकर उसमें 'ईक्षति' (ईक्षण) का प्रयोग गौण है ऐसा यदि सांख्य कहें, तो वह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मशब्दके प्रयोगसे सत् चेतन है ऐसा निश्चय होता है, इस प्रकार सूत्रका अर्थ करते हैं—"यदुक्तम्" इत्यादिसे।

---

(१) लाक्षणिक—गौण प्रयोग। (२) जिस प्रकरणमें बहुत स्थलोंपर उपचार (लक्षण) मानना पड़े अर्थात् गौण प्रयोग हों।

## गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

**पदच्छेद**—गौणः, चेत्, न आत्मशब्दात् [ मुख्यमेव ईक्षणम् ]

**पदार्थोक्ति**—ईक्षतिशब्दो गौणः–इति चेत्, न ऐतदात्म्यमिति श्रुतौ जगत्कारणे आत्मशब्दप्रयोगात् मुख्यमेव ईक्षणं न गौणम् ।

**भाषार्थ**—श्रुतिमें उक्त ईक्षति शब्द लाक्षणिक है यह नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुतिने जगत्कारणमें आत्मशब्दका प्रयोग किया है, इससे सत् जगत्-कारण चेतन है । अतः ईक्षतिशब्द गौण नहीं है, किन्तु मुख्य ही है ।

*भाष्य*
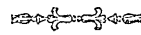
**यदुक्तम्--प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं तस्मिन्नौपचारिक ईक्षतिः, अप्तेजसोरिवेति । तदसत् । कस्मात् ? आत्मशब्दात् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' ( छा० ६।२।३ ) इति च तेजोऽबन्नानां सृष्टिमुक्त्वा तदेव प्रकृतं सदीक्षितृ, तानि च तेजोऽबन्नानि देवताशब्देन परामृश्याऽऽह--'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो**

*भाष्यका अनुवाद*

'सत्' शब्दका अर्थ अचेतन प्रधान है, जैसे जल और तेजमें ईक्षण औपचारिक है, उसी प्रकार प्रधानमें भी ईक्षण औपचारिक है, ऐसा जो कहा गया है वह असत्—बाधित है, क्यों ( बाधित है ) ? श्रुतिमें आत्मशब्दका प्रयोग होनेसे । 'सदेव०' ( हे प्रियदर्शन ! उत्पत्तिके पहले यह जगत् केवल सद्रूप था ) ऐसा उपक्रम करके 'तदैक्षत' ( उसने ईक्षण–चिन्तन किया ) 'तत्तेजो०' ( उसने तेज उत्पन्न किया ) इस प्रकार तेज, जल और अन्नकी सृष्टि कहकर उसी चिन्तन करनेवाले प्रकृत सत्का और उन तेज, जल और अन्नका देवता शब्दसे परामर्श करके कहा है 'सेयं देवतैक्षत०' 'हन्ताहमि-

*रत्नप्रभा*

सा प्रकृता सच्छब्दवाच्या, इयम् ईक्षित्री देवता परोक्षा । हन्त इदानीं भूतसृष्ट्यनन्तरम्, इमाः सृष्टाः तिस्रः तेजोऽबन्नरूपाः, परोक्षत्वात्

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

'सा'—प्रकृत सच्चब्दवाच्य—सत्संज्ञक । 'इयम्' संनिहित, ईक्षण करनेवाली देवता परोक्ष । 'हन्त'—अब, भूतसृष्टिके बाद । सृष्ट—उत्पन्न किये गये । 'इमाः तिस्रः'—ये तीन तेज, जल और अन्न । सूक्ष्मभूत प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसलिए उनमें देवताशब्दका प्रयोग

भाष्य

देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति । तत्र यदि प्रधानमचेतनं गुणवृत्त्येक्षितृ कल्प्येत, तदेव प्रकृतत्वात् सेयं देवतेति परामृश्येत; न तदा देवता जीवमात्मशब्देनाऽभिदध्यात् । जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता, तत्प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च । स कथमचेतनस्य प्रधानस्याऽऽत्मा भवेत् ? आत्मा हि नाम स्वरूपम् । नाऽचेतनस्य प्रधानस्य चेतनो जीवः स्वरूपं भवितुमर्हति । अथ तु चेतनं ब्रह्म मुख्यमीक्षितृ परिगृह्यते, तस्य जीव-

भाष्यका अनुवाद

मास्तिस्रो०' ( सो उस देवताने चिन्तन किया—अब इन तीन देवताओंमें इस जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके मैं नाम और रूपको प्रकट करूं । ) यदि इस ईक्षण-वाक्यमें अचेतन प्रधानको गौणीवृत्तिसे ईक्षण करनेवाला माना जाय, तो प्रकरणप्राप्त होनेके कारण 'सेयं देवता०' इस श्रुतिमें उसीका परामर्श होगा । और ऐसा मानें तो वह देवता जीवका आत्मशब्दसे उल्लेख नहीं करेगी, क्योंकि जीव वस्तुतः चेतन, शरीरका अध्यक्ष—स्वामी और प्राणोंको धारण करनेवाला है, यह अर्थ प्रसिद्ध है और धातुके अर्थके अनुसार है । वह चेतन जीव अचेतन प्रधानका आत्मा किस प्रकार होगा ? यह प्रसिद्ध है कि 'आत्मा' का अर्थ स्वरूप है । चेतन जीव अचेतन प्रधानका स्वरूप नहीं हो सकता ।

रत्नप्रभा

देवता इति द्वितीयाबहुवचनम् । अनेन पूर्वकल्पानुभूतेन जीवेन आत्मना मम स्वरूपेण ता अनुप्रविश्य तासां भोग्यत्वाय नाम च रूपं च स्थूलं करिष्यामि इति ऐक्षत इति अन्वयः । लौकिकप्रसिद्धेः 'जीव प्राणधारणे' इति धातोः जीवति प्राणान् धारयतीति निर्वचनात् च इत्यर्थः । **अथ त्विति** । स्वपक्षे तु बिम्ब-प्रतिबिम्बयोः लोके भेदस्य कल्पितत्वदर्शनात् जीवो ब्रह्मणः सत आत्मा इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

यहाँ पर 'देवताः' यह शब्द द्वितीयाबहुवचनान्त है । 'अनेन' पूर्वसृष्टिमें अनुभूत 'जीवेनात्मना' सद्रूप अपने स्वरूप द्वारा यथोक्त देवताओंमें प्रवेश करके उनके भोगके लिए नाम और रूपको स्थूलरूपमें लाऊँ—प्रकट करूँ, इस प्रकार श्रेष्ठ देवता सत्संज्ञक परमात्माने चिन्तन किया ऐसा अर्थ है । 'प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च'—लौकिक प्रसिद्धिसे अर्थात् 'जीवप्राणधारणे' ( जीव—प्राणधारण करना ) इस धातुसे और 'जीवति प्राणान् धारयति' ( जीता है—प्राणोंको धारण करता है ) इस प्रकार जीवशब्दका निर्वचन होनेसे । "अथ तु"

भाष्य

विषय आत्मशब्दप्रयोग उपपद्यते। तथा 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' ( छा० ६।१४।३ ) इत्यत्र 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमात्मानमात्मशब्देनोपदिश्य 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेनोपदिशति। अप्तेजसोस्तु

भाष्यका अनुवाद

यदि चेतन ब्रह्म मुख्य ईक्षण करनेवाला माना जाय, तो उसका जीवमें आत्मशब्दका प्रयोग युक्त होता है। इसी प्रकार 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदम्' ( जो सत्संज्ञक कहा गया है वह अणिमा—अतिसूक्ष्मरूप है, यह सब जगत् उसीका स्वरूप है, वह सत्संज्ञक सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो वह तू है ) इस श्रुतिमें 'स आत्मा' (वह आत्मा है) इस प्रकार प्रस्तुत सत्संज्ञक, सूक्ष्मरूप आत्माका आत्मशब्दसे उपदेश करके 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' ( हे श्वेतकेतो वह तू है ) इस प्रकार चेतन श्वेतकेतुका आत्मरूपसे उपदेश

रत्नप्रभा

युक्तमित्यर्थः। जीवस्य सच्छब्दार्थं प्रति आत्मशब्दात् सत् न प्रधानम् इति उक्त्वा सतो जीवं प्रति आत्मशब्दात् न प्रधानमिति विधान्तरेण हेतुं व्याचष्टे—तथेति। स यः सदाख्य एषोऽणिमा परमसूक्ष्मः, ऐतदात्मकम् इदं सर्वं जगत् तत् सदेव सत्यम्, विकारस्य मिथ्यात्वात्, सः सत्पदार्थः सर्वस्य आत्मा। हे श्वेतकेतो ! त्वं च नाऽसि संसारी, किन्तु तदेव सदबाधितं सर्वात्मकं ब्रह्म असि इति श्रुत्यर्थः। उपदिशति इत्यत्र अतश्चेतनात्मकत्वात् सत् चेतनमेव इति वाक्यशेषः। यदुक्तम् अप्तेजसोरिव सत ईक्षणं गौणम् इति तत्राह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि। तात्पर्य यह है कि वेदान्तीके मतमें बिम्ब और प्रतिबिम्बका भेद लोकमें कल्पित देखा गया है, इससे जीव सद्रूप ब्रह्मका आत्मा—स्वरूप है यह कथन युक्त है। 'जीवेनात्मना' इस श्रुतिमें आत्मशब्दके प्रयोगसे सत्की आत्मा जीव है, इससे सत्का अर्थ प्रधान नहीं है ऐसा कहकर जीवकी आत्मा सत् है, क्योंकि 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस श्रुतिमें आत्मशब्दका प्रयोग है। इससे सत्का अर्थ प्रधान नहीं है। इस प्रकार दूसरी रीतिसे सूत्रस्थ 'आत्मशब्दात्' इस हेतुका व्याख्यान करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। जो सत्संज्ञक है, वह अणिमा—परम सूक्ष्म है, यह सम्पूर्ण जगत् सत्स्वरूप ही है, वह सत् ही सत्य पारमार्थिक तत्त्व है, क्योंकि विकार मिथ्या है, वह सत् सबका आत्मा—स्वरूप है, हे श्वेतकेतो ! तू संसारी नहीं है, किन्तु वही अबाधित सर्वात्मक सत् ब्रह्म है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। उपदिशति—'उपदेश करती है' इससे अनन्तर 'चेतन श्वेतकेतुका आत्मा होनेसे सत् चेतन ही है' इतना वाक्यशेष है। जल और तेजके ईक्षणके समान सत्का ईक्षण गौण है

भाष्य

**विषयत्वादचेतनत्वम्, नामरूपव्याकरणादौ च प्रयोज्यत्वेनैव निर्देशात्, न चाऽऽत्मशब्दवत् किंचिन्मुख्यत्वे कारणमस्तीति युक्तं कूलवद् गौणत्वमीक्षितृत्वस्य। तयोरपि च सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेक्षितृत्वम्। सतस्त्वात्मशब्दान्न गौणमीक्षितृत्वमित्युक्तम् ॥ ६ ॥**

भाष्यका अनुवाद

किया है। जल और तेजका तो ईक्षण नदीके किनारेके गिरनेकी इच्छाके समान गौण होना युक्त है, क्योंकि जल और तेज विषय होनेसे अचेतन हैं, नाम और रूपके सृष्टि करने आदि में प्रयोज्यरूपसे उनका निर्देश हुआ है और आत्मशब्दके समान उनके मुख्य ईक्षण माननेमें कोई कारण नहीं है। तथा उनका (जल और तेजका) ईक्षण भी सद्रूप अधिष्ठानकी अपेक्षासे ही है। और यह बात कही गई है कि आत्मशब्दके प्रयोगके कारण सत्का ईक्षण गौण नहीं है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

**अप्तेजसोस्त्विति।** नामरूपयोः व्याकरणं सृष्टिः। आदिपदात् नियमनम्। अप्तेजसोः दृग्विषयत्वात् सृज्यत्वात् नियम्यत्वात् अचेतनत्वम् ईक्षणस्य मुख्यत्वे बाधकम् अस्ति, साधकं च नास्ति इति हेतोः युक्तम् ईक्षणस्य गौणत्वम् इति योजना। चेतनवत् कार्यकारित्वं गुणः, 'तेज ऐक्षत' चेतनवत् कार्यकारि इत्यर्थः। यद्वा तेजःपदेन तदधिष्ठानं सत् लक्ष्यते, तथा च मुख्यम् ईक्षणम् इत्याह— **तयोरिति।** स्यात् एतत् यदि सत ईक्षणं मुख्यं स्यात्, तदेव कुत इत्यत आह— **सतस्त्विति।** गौणमुख्ययोरतुल्ययोः संशयाभावेन गौणप्रायपाठस्य अनिश्चायकत्वात् आत्मशब्दाच्च सत ईक्षणं मुख्यम् इत्यर्थः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा जो कहा गया है, उसके उत्तरमें कहते हैं—"अप्तेजसोस्तु" इत्यादि। नाम और रूपका व्याकरण—प्रकट करना अर्थात् सृष्टि। 'आदि' शब्दसे नियमन आदि समझने चाहियें। जल और तेज दृष्टिगोचर हैं, उत्पाद्य हैं और नियम्य हैं, अतः वे अचेतन हैं; इस कारण उनमें मुख्य ईक्षणका बाध है और उसे मुख्य माननेमें कोई साधक प्रमाण भी नहीं है, अतः जल और तेजका ईक्षण गौण ही लेना ठीक है। चेतनके समान कार्य करना गुण है। 'तेज ऐक्षत' अर्थात् तेजने चेतनके समान कार्य किया। अथवा 'तेजः' शब्दका लक्षणा द्वारा तेजका अधिष्ठान सत् अर्थ है। इस प्रकार अप् और तेजका ईक्षण मुख्य ही है ऐसा कहते हैं—"तयोः" इत्यादिसे। यदि सत्का ईक्षण मुख्य हो तो ऐसा हो, परन्तु वह किस प्रमाणसे हो इस शङ्कापर कहते हैं—"सतस्तु" इत्यादि। तात्पर्य यह है कि गौण ईक्षणकर्ता अप् और तेज और मुख्य ईक्षणकर्ता सत् ये दोनों तुल्य नहीं हैं, क्योंकि अप् और तेज विषय और जड़ है, सत् विषयी

भाष्य

अथोच्येत—अचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः, आत्मनः सर्वार्थकारित्वात्, यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्यात्मशब्दो ममाऽऽत्मा भद्रसेन इति। प्रधानं हि पुरुषस्याऽऽत्मनो भोगापवर्गौ कुर्वदुपकरोति, राज्ञ इव भृत्यः सन्धिविग्रहादिषु वर्तमानः। अथवैक एवाऽऽत्मशब्दश्चेतनाचेतनविषयो भविष्यति, भूतात्मेन्द्रियात्मेति च प्रयोगदर्शनात्। यथैक एव ज्योतिःशब्दः क्रतुज्वलनविषयः। तत्र कुत एतदात्मशब्दादीक्षतेरगौणत्वमिति अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि जैसे राजाका सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले सेवकमें भद्रसेन मेरी आत्मा है इस प्रकार आत्मशब्दका प्रयोग होता है, उसी प्रकार अचेतन प्रधानमें भी आत्मशब्दका प्रयोग होता है, क्योंकि प्रधान आत्माके सब प्रयोजनोंको सिद्ध करता है। जैसे सन्धि, विग्रह आदि कार्योंमें नियुक्त भृत्य राजाका उपकार करता है, उसी प्रकार आत्माको भोग और मोक्ष देनेवाला प्रधान अवश्य ही आत्माका उपकारक होता है। अथवा जैसे एक ही 'ज्योतिः' शब्द यज्ञ और अग्निमें प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार एक ही आत्मशब्द चेतन और अचेतनमें प्रयुक्त हो सकेगा, क्योंकि भूतात्मा, इन्द्रियात्मा ऐसे प्रयोग देखनेमें आते हैं। तो आत्मशब्दके प्रयोगसे ईक्षण-मुख्य है यह किस प्रकार माना जाय ? पूर्वपक्षीके इस कथनका उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

आत्महितकारित्वगुणयोगात् आत्मशब्दोऽपि प्रधाने गौण इति शङ्कते—**अथेत्यादिना**। आत्मशब्दः प्रधानेऽपि मुख्यो नानार्थकत्वात् इत्याह—**अथवेति**। नानार्थकत्वे दृष्टान्तः—**यथेति**। 'अथैष ज्योतिः' इति श्रुत्या सहस्रदक्षिणाके क्रतौ ज्योतिष्टोमे लोकप्रयोगाद् अग्नौ च ज्योतिश्शब्दो यथा मुख्यः तद्वत् इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

तथा चेतन है, अतः यहाँ सत्में मुख्य ईक्षण है या गौण ईक्षण है यह सन्देह नहीं होगा। गौण ईक्षणके मध्यमें पाठ भी गौणताका निर्णायक नहीं है, एवं श्रुतिमें आत्मशब्दके प्रयोगसे भी सत्में मुख्य ही ईक्षण है ॥६॥

आत्माका हित करना, इस गुणके योगसे आत्मशब्द भी प्रधानके अर्थमें गौण है। ऐसी शङ्का करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। आत्मशब्दके अर्थ अनेक हैं, इसलिए प्रधानमें भी आत्मशब्दका प्रयोग मुख्य है, ऐसा कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। आत्मशब्दके भिन्न भिन्न अर्थ हैं इसमें दृष्टान्त देते हैं—"यथा" इत्यादिसे। 'अथैष ज्योतिः' इस श्रुतिसे सहस्र दक्षिणावाले ज्योतिष्टोम यज्ञमें और लौकिक प्रयोगसे अग्निमें जैसे ज्योतिःशब्द मुख्य है, इसी प्रकार।

## तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

**पदच्छेद**—तन्निष्ठस्य, मोक्षोपदेशात् ।

**पदार्थोक्ति**—तन्निष्ठस्य—ब्रह्मनिष्ठस्य, मोक्षोपदेशात्—मुक्तिश्रवणात् [ अचेतनप्रधानैक्यज्ञानेन तदसम्भवात् ] ।

**भाषार्थ**—श्रुति उपदेश करती है कि जगत्कारण (ब्रह्म) के ऐक्यज्ञानसे पुरुषको मोक्ष मिलता है । अचेतन प्रधानके ऐक्यज्ञानसे मोक्ष मिलना सम्भव नहीं है ।
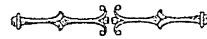
*भाष्य*

**न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति, 'स आत्मा' (छा० ६।१४।३) इति प्रकृतं सदणिमानमादाय, 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्मोक्षयितव्यस्य तन्निष्ठामुपदिश्य 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति मोक्षोपदेशात् । यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं तदसीति ग्राहयेत्; मुमुक्षुं चेतनं सन्त-**

*भाष्यका अनुवाद*

अचेतन प्रधान आत्मशब्दका आधार नहीं हो सकता, क्योंकि 'स आत्मा' (वह आत्मा है) इस प्रकार प्रकृत सूक्ष्म सत्को लेकर 'तत्त्वमसि०' (हे श्वेतकेतो ! वह तू है) मोक्षप्राप्ति कराने योग्य चेतन श्वेतकेतुको 'तू सत्स्वरूप है' ऐसा उपदेश करके 'आचार्यवान्०' (आचार्यवान् पुरुष सत्को जानता है) 'तस्य तावदेव०' (उस आत्मनिष्ठ पुरुषके मुक्त होनेमें उतना ही विलम्ब रहता है, जब तक शरीरपात नहीं होता, शरीरपात होते ही वह सद्रूप हो जाता है) इस प्रकार मोक्षका उपदेश किया है । यदि सत् शब्दका अर्थ अचेतन प्रधान हो और शास्त्र मोक्ष पानेकी इच्छा करनेवाले चेतनको 'तदसि'[1] (वह तू है) अर्थात्

*रत्नप्रभा*

तस्मिन् सत्पदार्थे निष्ठा अभेदज्ञानं यस्य स तन्निष्ठः तस्य मुक्तिश्रवणात् इति सूत्रार्थमाह—**नेत्यादिना** । श्रुतिः समन्वयसूत्रे व्याख्याता । अनर्थाय इत्युक्तं

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

जिस पुरुषको सत्पदार्थमें अभेदज्ञान हो, उसको मोक्ष होता है ऐसा श्रुति कहती है इस प्रकार सूत्रका अर्थ कहते हैं—"न" इत्यादिसे । श्रुतिका व्याख्यान समन्वय सूत्रमें

(१) यह 'तत्त्वमसि' का 'त्वं' पदरहित वाक्य है ।

भाष्य

मचेतनोऽसीति तदा विपरीतवादि शास्त्रं पुरुषस्याऽनर्थायेत्यप्रमाणं स्यात्, न तु निर्दोषं शास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम्। यदि चाऽज्ञस्य सतो मुमुक्षोः अचेतनमनात्मानमात्मेत्युपदिशेत् प्रमाणभूतं शास्त्रम्, स श्रद्धानतयाऽन्धगोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्, तद्व्यतिरिक्तं चाऽऽत्मानं न प्रतिपद्येत, तथा सति पुरुषार्थाद् विहन्येत अनर्थं च ऋच्छेत्। तस्माद् यथा

भाष्यका अनुवाद

तू अचेतन है ऐसा ज्ञान करावे, तो विपरीत[1] उपदेश करनेवाला वह शास्त्र पुरुषका अनिष्टकारक होनेके कारण अप्रमाण हो जायगा। परन्तु इस निर्दोष शास्त्रमें अप्रमाणत्वकी कल्पना करना ठीक नहीं है। यदि प्रमाणभूत शास्त्र अज्ञ मुमुक्षुको 'अचेतन अनात्मपदार्थ आत्मा है' ऐसा उपदेश करे तो अन्धगोपुच्छन्यायसे श्रद्धा रखकर वह पुरुष अनात्मपदार्थमें आत्मदृष्टिका त्याग न करेगा और अनात्मासे भिन्न आत्माका ग्रहण भी नहीं करेगा, ऐसा होनेसे वह पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जायगा और अनर्थको प्राप्त होगा। इस कारण

रत्नप्रभा

प्रपञ्चयति—यदि चाऽज्ञस्येति। कश्चित् किल दुष्टात्मा महारण्यमार्गे पतितम् अन्धं स्वबन्धुनगरं जिगमिषुं बभाषे किमत्र आयुष्मता दुःखितेन स्थीयते इति। स च अन्धः सुखां वाणीमाकर्ण्य तम् आप्तं मत्वा उवाच--अहो मद्भागधेयम्, यदत्र भवान् मां दीनं स्वाभीष्टनगरप्राप्त्यसमर्थं भाषते इति। स च विप्रलिप्सुः दुष्टगोयुवानम् आनीय तदीयलाङ्गूलम् अन्धं ग्राहयामास, उपदिदेश च एनम् अन्धम्—एष गोयुवा त्वां नगरं नेष्यति, मा त्यज

रत्नप्रभाका अनुवाद

(१–१–४) किया गया है। 'अनर्थकारक हो' ऐसा जो कहा गया है, उसका विस्तारसे वर्णन करते हैं—"यदि चाऽज्ञस्य" इत्यादिसे। किसी एक दुष्टात्माने महा अरण्यके मार्गमें पड़े हुए, अपने बन्धुनगरमें जानेकी इच्छा करनेवाले अन्धेसे कहा—'आयुष्मन्! यहाँ दुःखमें क्यों पड़े हो?' उस अन्धेने सुखकारक वाणी सुनकर, उस दुष्टको आप्त पुरुष समझकर कहा—'मैं अपने इष्ट-नगरको जानेमें असमर्थ हूँ, मुझ दीनसे आप बोलते हैं, यह मैं अपना अहो भाग्य समझता हूँ।' उस अन्धेको भटकानेकी इच्छावाले उस दुष्ट पुरुषने एक मस्त साँड़को लाकर उसकी पूंछ अन्धेको पकड़ा दी और उससे कहा कि 'यह बैल तुम्हें तुम्हारे नगरमें पहुँचा देगा, इसकी पूंछ मत

(१) उलटा कहनेवाला, चेतन श्वेतकेतुको 'तू अचेतन प्रधान है' ऐसा उपदेश करनेवाला।

भाष्य

स्वर्गाद्यर्थिनोऽग्निहोत्रादिसाधनं यथाभूतमुपदिशति, तथा मुमुक्षोरपि 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति यथाभूतमेवाऽऽत्मानमुपदिशतीति युक्तम्। एवञ्च सति तप्तपरशुग्रहणमोक्षदृष्टान्तेन सत्याभिसन्धस्य मोक्षोपदेश उपपद्यते। अन्यथा ह्यमुख्ये सदात्मतत्त्वोपदेशे 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्'

भाष्यका अनुवाद

स्वर्ग आदिकी कामनावाले पुरुषको जैसे अग्निहोत्र आदि योग्य साधनोंका शास्त्र उपदेश करता है, उसी प्रकार मुमुक्षुको भी 'स आत्मा०' (वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो वह तू है) इस प्रकार यथार्थ आत्माका ही उपदेश करता है यह युक्त है। ऐसा होनेसे 'गरम फरसेको पकड़नेसे (चौर्यसे) मुक्ति होती है' इस दृष्टान्तसे सत्य ब्रह्ममें 'मैं' ऐसी बुद्धि रखनेवाले पुरुषके लिए मोक्षका उपदेश युक्त है। ऐसा न मानकर 'सत् आत्मतत्त्व है' इस उपदेशको गौण मानें, तो 'अहमुक्थ०' (मैं प्राण हूँ ऐसा समझे) इसके समान यह

---

रत्नप्रभा

लाङ्गूलम् इति। स च अन्धः श्रद्धालुतया तदत्यजन् स्वाभीष्टम् अप्राप्य अनर्थपरम्परां प्राप्तः, तेन न्यायेन इत्यर्थः। तथा सतीति। आत्मज्ञानाभावे सति विहन्येत मोक्षं न प्राप्नुयात्, प्रत्युत अनर्थम्—संसारं च प्राप्नुयाद् इत्यर्थः। ननु जीवस्य प्रधानैक्यसम्पदुपासनार्थमिदं वाक्यमस्तु इति तत्राह—एवं च सतीति। अबाधितात्मप्रमायां सत्याम् इत्यर्थः। कस्यचिद् आरोपितचोरत्वस्य सत्येन तप्तं परशुं गृह्णतो मोक्षो दृष्टः, तद्दृष्टान्तेन सत्ये ब्रह्मणि 'अहम्' इत्यभिसन्धिमतः मोक्षः, 'यथा सत्याभिसन्धः तप्तं परशुं गृह्णाति

रत्नप्रभाका अनुवाद

छोड़ना' उस अन्धेने विश्वास करके पूंछ नहीं छोड़ी और महा कष्ट पाया, और अपने इष्ट-नगरमें नहीं पहुँच सका। [तात्पर्य यह है कि इस न्याय—'अन्धगोपुच्छन्याय' के समान अनात्म पदार्थमें आत्मदृष्टि करनेवाला अनर्थभोगी होता है] "तथा सति" आत्मज्ञानका अभाव होनेपर 'पुरुषार्थसे भ्रष्ट होता है' अर्थात् मोक्ष नहीं पाता, किन्तु उलटे अनर्थरूप संसारको प्राप्त होता है, यह अर्थ है। यदि कोई कहे कि तत्त्वमसि' यह वाक्य जीवका प्रधानके साथ ऐक्यका आरोप कर सम्पत्—उपासनाके लिए है, इस शङ्का पर कहते हैं—"एवं च सति" इत्यादि। 'ऐसा होनेपर'—अबाधित आत्मप्रमा होनेपर। कोई पुरुष, जिसपर चोरीका आरोप हुआ है, तपाए हुए फरसेको सत्यके बलसे ग्रहण करे, तो उस आरोपसे उसकी मुक्ति देखनेमें आती है। इस दृष्टान्तसे सत्य ब्रह्ममें 'मैं' ऐसी अभिसन्धि रखनेवाला—जीवका आत्माके साथ तादात्म्य समझनेवाला पुरुष मोक्ष पाता है

भाष्य

( ऐ० आ० २।१।२।६ ) इतिवत् संपन्मात्रमिदमनित्यफलं स्यात् । तत्र मोक्षोपदेशो नोपपद्येत । तस्मान्न सदणिमन्यात्मशब्दस्य गौणत्वम्, भृत्ये तु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वादुपपन्नो गौण आत्मशब्दो ममाऽऽत्मा भद्रसेन इति । अपि च क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्राऽनाश्वासप्रसङ्गात् । यत्तूक्तम्--चेतनाचेतनयोः साधारण आत्मशब्दः क्रतुज्वलनयोरिव ज्योतिःशब्द इति, तन्न,

भाष्यका अनुवाद

उपदेश केवल संपद्रूप होनेसे अनित्यफलदायक होगा । और उससे मोक्षका उपदेश संगत नहीं होगा । इस कारण सूक्ष्मरूप सत्‌में आत्मशब्द गौण नहीं है । 'मेरा आत्मा भद्रसेन है' यहाँपर तो भृत्यके लिए आत्मशब्दका गौण प्रयोग ठीक है, क्योंकि स्वामी और भृत्यका भेद प्रत्यक्ष है । किञ्च, शब्द कहीं गौण देखनेमें आता है, इसीसे सर्वत्र[1] शब्दप्रमाणक[2] अर्थमें गौणत्वकी कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे सब प्रयोगोंमें अविश्वास हो जायगा । जैसे 'ज्योतिः' शब्द याग और अग्निके अर्थमें साधारण है, वैसे ही आत्मशब्द चेतन और अचेतन अर्थमें साधारण है, ऐसा जो कहा है, वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि

रत्नप्रभा

स न दह्यते अथ मुच्यते' इति श्रुत्या उपदिष्टः स उपदेशः सम्पत्पक्षे न युक्त इत्याह—**अन्यथेति** । देहमुत्थापयति इति उक्थम्—प्राणः । तस्मात् मोक्षोपदेशात् मुख्ये सम्भवति गौणत्वस्य अन्याय्यत्वात् च आत्मशब्दः सति मुख्य इत्याह—**अपि चेति** । क्वचिद्—भृत्यादौ । सर्वत्र अहम् आत्मा इत्यत्रापि मुख्य आत्मशब्दो न

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा 'यथा सत्याभिसन्धः०' ( जैसे सत्यवक्ता पुरुष तप्त परशुको पकड़ता है, पर जलता नहीं है और अभियोगसे मुक्त होता है ) इस श्रुतिसे उपदेश होता है । यह उपदेश सम्पत्पक्षमें संगत नहीं हो सकता ऐसा कहते हैं—"अन्यथा" इत्यादिसे । शरीरको उठाता है इससे उक्थ—प्राण है । श्रुतिमें मोक्षका उपदेश है और मुख्य अर्थका संभव होनेपर गौण अर्थकी कल्पना करना ठीक नहीं है, इस कारण भी आत्मशब्द सत्‌में मुख्य है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । 'कहीं'—भृत्य आदिमें । सर्वत्र—'अहमात्मा' ( मैं आत्मा हूँ ) इसमें भी आत्मशब्द मुख्य न होगा ऐसा अर्थ है । "चेतन-

( १ ) सब स्थलोंपर । ( २ ) शब्द जिसका प्रमाण है ।

भाष्य

अनेकार्थत्वस्याऽन्याय्यत्वात् । तस्माच्चेतनविषय एव मुख्य आत्मशब्दश्चेतनत्वोपचाराद् भूतादिषु प्रयुज्यते भूतात्मेन्द्रियात्मेति च । साधारणत्वेऽप्यात्मशब्दस्य न प्रकरणमुपपदं वा किंचिन्निश्चायकमन्तरेणाऽन्यतरवृत्तिता निर्धारयितुं शक्यते । न चाऽत्राऽचेतनस्य निश्चायकं किंचित्कारणमस्ति, प्रकृतं तु सदीक्षितृ संनिहितश्चेतनः श्वेतकेतुः, नहि चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतन आत्मा संभवतीत्यवोचाम । तस्माच्चेतनविषय इहाऽऽत्मशब्द इति

भाष्यका अनुवाद

एक शब्दके अनेक अर्थ मानना अनुचित है। इससे चेतनरूप अर्थमें ही आत्मशब्दका प्रयोग मुख्य है और चेतनके संसर्गके अध्याससे भूत आदियोंमें भूतात्मा, इन्द्रियात्मा ऐसे प्रयोग होते हैं। यदि आत्मशब्द (चेतन और अचेतन अर्थमें) साधारण मान लिया जाय, तो भी प्रकरण अथवा उपपद[1] किसी एक निश्चायकके बिना, दोनोंमेंसे किस अर्थमें आत्मशब्द प्रयुक्त है इसका निर्णय नहीं हो सकता, और यहाँ अचेतनरूप अर्थका निश्चायक कोई कारण नहीं है। परन्तु यहाँ ईक्षण करनेवाला सत् प्रकृत है (अर्थात् सत्का प्रकरण है) और चेतन श्वेतकेतु संनिहित है। अचेतन पदार्थ चेतन श्वेतकेतुका आत्मा—स्वरूप नहीं हो सकता ऐसा हम पीछे कह चुके हैं। इसलिए यहाँ आत्मशब्द

रत्नप्रभा

स्यात् इत्यर्थः । **चेतनत्वोपचाराद् भूतादिषु** । सर्वत्र चैतन्यतादात्म्यात् इत्यर्थः । आत्मशब्दः चेतनस्य एव असाधारण इत्युक्तम् । अस्तु वा अव्यापिवस्तूनां साधारणः, तथापि तस्य अत्र श्रुतौ प्रधानपरत्वेऽपि निश्चायकाभावात् न प्रधानवृत्तिता इत्याह—**साधारणत्वेऽपीति** । चेतनवाचित्वे तु प्रकरणं श्वेतकेतुपदं च निश्चायकम् अस्ति इत्याह—**प्रकृतं त्विति** । उपपदस्य निश्चायकत्वं स्फुटयति—**नहीति** । ततः किं तत्राह—**तस्मादिति** । आत्मशब्दो ज्योतिश्शब्दवत् नानार्थक इत्युक्त दृष्टान्तं

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्वोपचाराद् भूतादिषु" अर्थात् भूत आदिमें सर्वत्र चैतन्यका तादात्म्य होनेसे। आत्मशब्द चेतनमें ही असाधारण है। चेतन और अचेतनमें साधारण है ऐसा मानने पर भी वह प्रधान-परक है इसका कोई निश्चायक न होनेसे वह प्रधानका वाचक नहीं है ऐसा कहते हैं—"साधारणत्वेऽपि" इत्यादिसे। "प्रकृतं तु" इत्यादिसे कहते हैं कि आत्मशब्द चेतनवाची है इस पक्षमें तो प्रकरण और श्वेतकेतु पद निश्चायक हैं। उपपद निश्चायक है। ऐसा स्पष्ट करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। इससे क्या हुआ? इस शङ्कापर कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे।

(१) समीपमें प्रयुक्त शब्द।

भाष्य

निश्चीयते। ज्योतिःशब्दोऽपि लौकिकेन प्रयोगेण ज्वलन एव रूढः, अर्थवादकल्पितेन तु ज्वलनसादृश्येन क्रतौ प्रवृत्त इत्यदृष्टान्तः। अथवा पूर्वसूत्रे एवाऽऽत्मशब्दं निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारणत्वशङ्कतया

भाष्यका अनुवाद

चेतनविषयक है, ऐसा निश्चय होता है। 'ज्योतिः' शब्द भी लौकिक प्रयोगसे अग्निमें ही रूढ़ है, परन्तु अर्थवादसे कल्पित हुए अग्निके सादृश्यसे यागमें प्रवृत्त होता है, इससे वह दृष्टान्त ठीक नहीं है। अथवा पूर्वसूत्रमें ही आत्म-शब्दके समस्त गौण और साधारण अर्थोंकी शङ्काके निरसनसे व्याख्यान

रत्नप्रभा

निरस्यति—**ज्योतिरिति**। कथं तर्हि 'ज्योतिषा यजेत' इति ज्योतिष्टोमे प्रयोगः, तत्राह—**अर्थवादेति**। "एतानि वाव तानि ज्योतींषि य एतस्य स्तोमाः" (तै० ब्रा० १।५।११) इत्यर्थवादेन कल्पितं ज्वलनेन सादृश्यम्, "त्रिवृत्पञ्चदशस्त्रिवृत्सप्तदशस्त्रिवृदेकविंश इति स्तोमाः" तत्तदर्थप्रकाशकत्वेन गुणेन ज्योतिष्पदोक्ता ऋक्संघाः। तथा च ज्योतींषि स्तोमाः अस्येति ज्योतिष्टोम इत्यत्र ज्योतिश्शब्दो गौण इत्यर्थः। ननु आत्मशब्दादिति पूर्वसूत्र एव आत्मशब्दस्य प्रधाने गौणत्वसाधारणत्वशङ्कानिरासः कर्तुमुचितः, मुख्यार्थस्य लाघवेन उक्तिसम्भवे गौणत्वनानार्थकत्वशङ्काया दुर्बलत्वेन तन्निरासार्थं पृथक्सूत्रायासानपेक्षणात्। तथा च शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रव्याख्यानं नातीव शोभते, इत्यरुचेराह—**अथवेति**। निरस्ता समस्ता गौणत्वनानार्थत्वशङ्का यस्य आत्मशब्दस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मशब्द ज्योतिःशब्दके समान नानार्थक है, यह पीछे कहा गया है, इस दृष्टान्तका निरसन करते हैं—"ज्योतिः" इत्यादिसे। तब 'ज्योतिषा यजेत' इसमें 'ज्योतिः' शब्दका ज्योतिष्टोमके अर्थमें प्रयोग कैसे है? इसपर कहते हैं—"अर्थवाद" इत्यादिसे। 'एतानि०' इस अर्थवादसे ज्वलनके साथ सादृश्य कल्पित है। 'त्रिवृत्पञ्चदशः०' इत्यादि स्तोम—ऋक्समूह उस उस अर्थके प्रकाशकत्वरूप गुणसे प्रकाशक अग्निमें रूढ़ 'ज्योतिः' शब्दसे कहे गये हैं। और 'ज्योतींषि स्तोमा अस्येति ज्योतिष्टोमः' इसमें ज्योतिःशब्द गौण है। यहाँपर शङ्का होती है कि 'गौण-श्चेन्ना०' इस पूर्व सूत्रमें आत्मशब्द प्रयुक्त हुआ है, इसलिए उसी सूत्रमें आत्मशब्द प्रधानके लिए गौण है अथवा साधारण है, इस शङ्काका निरसन करना उचित था, क्योंकि मुख्य अर्थका कथन तो लाघवके कारण संभव है, गौणत्व और नानार्थकत्वकी शङ्का दुर्बल होनेके कारण उसका निरसन करनेके लिए पृथक् सूत्र रचनेके श्रमकी आवश्यकता नहीं थी। इससे इस शङ्काके उत्तर रूपसे इस ( सप्तम ) सूत्रका व्याख्यान अधिक शोभा नहीं देता, ऐसी अरुचिसे

भाष्य

व्याख्याय ततः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणनिराकरणहेतुर्व्याख्येयः 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इति। तस्मान्नाऽचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥७॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

भाष्यका अनुवाद

किया गया है, इससे 'तन्निष्ठस्य०' यह सूत्र प्रधानकारणतावादके निराकरण करनेके लिए स्वतंत्र ही हेतु है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। इससे अचेतन प्रधान सत् शब्दका अर्थ नहीं है ॥ ७ ॥

प्रधान सत्शब्दका अर्थ क्यों नहीं है ?

---

रत्नप्रभा

स तच्छङ्कः तस्य भावः तत्ता तया इत्यर्थः। तत इति। सत आत्मशब्देन जीवाभिन्नत्वात् इति हेत्वपेक्षया मोक्षोपदेशः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणत्वनिरासे हेतुरित्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु यथा कश्चिदरुन्धतीं दर्शयितुं निकटस्थां स्थूलां ताराम् अरुन्धतीत्वेन उपदिशति तद्वदनात्मन एव प्रधानस्य सत्पदार्थस्य आत्मत्वोपदेश इति शङ्कते—कुतश्चेति। प्रधानं सच्छब्दवाच्यं नेति कुत इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। निरस्त हैं सब गौणत्व और अनेकार्थत्वकी शङ्का जिस आत्मशब्दकी वह निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारणत्वशङ्क है ऐसा समास जानना चाहिए। "ततः" इत्यादि। आत्मशब्द द्वारा सत्का जीवके साथ अभेद है इस हेतुकी अपेक्षासे मोक्षका उपदेश प्रधान-कारणतावादका निरास करनेके लिए स्वतंत्र ही हेतु है ॥ ७ ॥

जैसे अति सूक्ष्म 'अरुन्धती' तारेको दिखलनेवाला किसी एक उसके समीपके स्थूल तारेको अरुन्धती कहकर दिखलाता है, इसी प्रकार सच्छब्दवाच्य, अनात्मा प्रधानका ही आत्मरूपसे उपदेश है ऐसी शङ्का करते हैं—"कुतश्च" इत्यादिसे। अर्थात् प्रधान सत्शब्दका मुख्यार्थ नहीं है, इसमें क्या कारण है ?

## हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

**पदच्छेद**—हेयत्वावचनात्, च

**पदार्थोक्ति**—हेयत्वावचनात्—निषेधस्य अनुक्तेः, च—अपि [ न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ]

**भाषार्थ**—प्रधानके ध्यानसे मोक्ष नहीं होता ऐसा निषेध भी नहीं किया गया है, अतः स्थूलारुन्धतीन्यायसे भी प्रधान सच्छब्दवाच्य नहीं हो सकता।
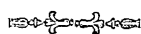
*भाष्य*

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा तत्त्वमसि' इतीहोपदिष्टं स्यात्, स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति, मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षुस्तस्य हेयत्वं ब्रूयात्। यथाऽरुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां ताराममुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा, तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति, तद्वन्नाऽयमात्मेति ब्रूयात्। न चैवमवोचत्। सन्मात्रात्मावगतिनिष्ठैव हि षष्ठप्रपाठकपरिसमाप्तिर्दृश्यते। चशब्दः

*भाष्यका अनुवाद*

'स आत्मा०' (वह आत्मा है, वह तू है) यह श्रुति यदि अनात्मा प्रधान ही सत्‌शब्दका अर्थ है ऐसा उपदेश करे, तो उस उपदेशको सुनकर आत्माके ज्ञानसे वह कहीं अनात्मनिष्ठ न हो जाय, इसलिए मुख्य आत्माका उपदेश करनेकी इच्छा करनेवाले (आचार्य) को अनात्माकी हेयता कहनी चाहिए। जैसे अरुन्धती तारेको दिखलानेकी इच्छावाला उसके पासके स्थूल-अमुख्य तारेको, यह अरुन्धती है ऐसा पहले कहकर, पीछे उसका निषेध कर मुख्य अरुन्धतीको ही दिखलाता है, इसी प्रकार यह (प्रधान) आत्मा नहीं है, ऐसा आचार्यको कहना चाहिए था, परन्तु उसने ऐसा कहा नहीं है। केवल सद्रूप आत्माका

---

*रत्नप्रभा*

सौत्रश्चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ इत्याह—च शब्द इति। विवृणोति—सत्यपीति।

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

सूत्रमें जो 'च' शब्द है, वह अनुक्तका समुच्चायक है अर्थात् जो नहीं कहा है,

भाष्य

प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थः। सत्यपि हेयत्ववचने प्रतिज्ञाविरोधः प्रसज्येत, कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम्। 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति' 'कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति' 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।२-४)

भाष्यका अनुवाद

साक्षात्कार करनेमें ही छान्दोग्यके षष्ठ प्रपाठककी समाप्ति देखी जाती है। 'च' शब्द जोड़नेका प्रयोजन है प्रतिज्ञा-विरोधका समुच्चय दिखलाना। यदि प्रधान हेय भी कहा गया होता, तो भी प्रतिज्ञाविरोध होता, क्योंकि कारणके विज्ञानसे ही सबका विज्ञान होता है, ऐसी प्रतिज्ञा की है, कारण कि वाक्यके उपक्रममें इस प्रकार श्रुति है—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो०' (हे श्वेतकेतु! तुमने गुरुसे शास्त्रैक-गम्य वह वस्तु पूछी थी, जिससे कि अश्रुत वस्तु श्रुत हो जाती है, अतर्कित तर्कित हो जाती है, अनिश्चित निश्चित हो जाती है) 'कथं नु भगवः०' (हे भगवन्! किस प्रकारसे वह आदेश होता है) 'यथा सोम्यैकेन०' (हे प्रियदर्शन!

रत्नप्रभा

अपिशब्दात् नास्ति एवेति सूचयति। वेदानधीत्य आगतं स्तब्धं पुत्रं पिता उवाच—हे पुत्र! उत—अपि आदिश्यते इति आदेशः उपदेशैकलभ्यः सदात्मा तमपि अप्राक्ष्यः—गुरुनिकटे पृष्टवानसि, यस्य श्रवणेन मननेन विज्ञानेन अन्यस्य श्रवणादिकं भवति इति अन्वयः। ननु अन्येन ज्ञातेन कथम् अन्यद् अज्ञातमपि ज्ञातं स्यादिति पुत्रः शङ्कते—**कथमिति**। हे भगवः कथं नु खलु स भवति इत्यर्थः। कार्यस्य कारणान्यत्वं नास्ति इत्याह—**यथेति**। पिण्डः—स्वरूपम्, तेन विज्ञातेन इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसके समुच्चयके लिए है। "सत्यपि" इत्यादिसे 'च' कारके अर्थका विवरण करते हैं। 'अपि' शब्दसे हेयत्ववचन है ही नहीं ऐसा सूचित किया है। वेदोंका अध्ययन करके आये हुए स्तब्ध—अविनीत पुत्र श्वेतकेतुसे आरुणि पिताने कहा—'हे पुत्र जिसके श्रवण, मनन और विज्ञानसे अन्य वस्तुओंका श्रवण, मनन और विज्ञान हो जाता है, केवल उपदेशसे लभ्य उस सत्—आत्माके सबन्धमें क्या तुमने गुरुसे प्रश्न किया था? उत—अपि। 'आदिश्यते इत्यादेशः' अर्थात् जिसका केवल शास्त्र या आचार्यके उपदेशसे ज्ञान हो। "कथम्" इत्यादिसे पुत्र शङ्का करता है कि दूसरी वस्तुके ज्ञानसे दूसरी अज्ञात वस्तुका किस प्रकार ज्ञान हो सकता है। पिताकी ऐसी अद्भुत वाणी सुनकर पुत्र कहता है कि हे भगवन्!

भाष्य

'एवं सोम्य स आदेशो भवति' ( छा० ६।१।६ ) इति वाक्योपक्रमे

भाष्यका अनुवाद

जिस प्रकार मिट्टीके स्वरूपके विज्ञानसे मिट्टीके सब विकारोंका विज्ञान हो जाता है, नाम, रूप विकार वाणीके आलम्बनसे ही है, वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है ) 'एवं सोम्य०' ( हे प्रियदर्शन ! इस प्रकार वह आदेश होता है )

रत्नप्रभा

शेषः। तत्र युक्तिमाह--**वाचेति**। वाचा वागिन्द्रियेण आरभ्यते इति विकारो वाचारम्भणम्। ननु वाचा नाम एव आरभ्यते, न घटादिः इत्याशङ्क्य नाममात्रमेव विकार इत्याह---**नामधेयमिति**।

"नामधेयं विकारोऽयं वाचा केवलमुच्यते।
वस्तुतः कारणाद् भिन्नो नास्ति तस्मान्मृषैव सः॥"

इति भावः। विकारमिथ्यात्वे तदभिन्नकारणस्य अपि मिथ्यात्वम् इति न इत्याह--**मृत्तिकेति**। कारणं कार्याद् भिन्नसत्ताकम्, न कार्यं कारणाद् भिन्नम्, अतः कारणातिरिक्तस्य कार्यस्वरूपस्य अभावात् कारणज्ञानेन तज्ज्ञानं भवतीति स्थिते दार्ष्टान्तिकमाह---**एवमिति**। मृद्वद् ब्रह्मैव सत्यं वियदादिविकारो मृषेति ब्रह्म-ज्ञाने सति ज्ञेयं किञ्चित् न अवशिष्यते इत्यर्थः। यद्यपि प्रधाने ज्ञाते तत्तादात्म्यात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह आदेश किस प्रकारका है ? "यथा" इत्यादिसे पिता कहता है कि कार्य कारणसे पृथक् नहीं है। 'मृत्पिण्डेन' के बाद 'विज्ञातेन' इसका अध्याहार करना चाहिए। उसमें युक्ति कहते हैं---"वाचा" इत्यादिसे। वागिन्द्रियसे आरम्भ किया जाता है, इस कारण विकार वाचारम्भण है। वागिन्द्रियसे केवल नामका ही आरम्भ होता है, घटादिका तो आरम्भ नहीं होता ऐसी शङ्का करके केवल नाम ही विकार है ऐसा कहते हैं---"नामधेयम्" पदसे। 'नामधेयं विकारोऽयं०' ( नाम मात्र विकार है, केवल वाणीसे कहा जाता है, वस्तुतः कारणसे भिन्न नहीं है, इससे वह असत्य है ) यहाँपर शङ्का होती है कि यदि विकार मिथ्या होता, तो उससे अभिन्न कारण भी मिथ्या ही ठहरता। नहीं, यह कथन ठीक नहीं है ऐसा कहते हैं--- "मृत्तिका" इत्यादिसे। कारण कार्यसे भिन्नसत्ताक है---कार्यसे कारण भिन्न है, परन्तु कार्य कारणसे भिन्न नहीं है, अतः कारणसे अतिरिक्त कार्यस्वरूपका अभाव होनेसे कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान होता है, ऐसा निश्चय होनेपर दार्ष्टान्तिक कहते हैं---"एवं" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि मृत्तिकाके समान ब्रह्म ही सत्य वस्तु है, आकाश आदि विकार मिथ्या हैं, अतः ब्रह्मका ज्ञान होनेपर कुछ भी ज्ञेय अवशिष्ट नहीं रहता। यद्यपि प्रधानका ज्ञान

भाष्य

श्रवणात् । न च सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाऽहेयत्वेन वा विज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवति, अप्रधानविकारत्वाद्भोक्तृवर्गस्य । तस्मान्न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ८ ॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

भाष्यका अनुवाद

यदि प्रधान सच्छब्दवाच्य हो तो उस भोग्यवर्ग[1]के कारणका हेय अथवा अहेय रूपसे ज्ञान होनेपर भी भोक्तृवर्ग[2]का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि भोक्तृवर्ग प्रधानका विकार नहीं है, इस कारण प्रधान सत् शब्दका अर्थ नहीं है ॥ ८ ॥

और किस कारणसे प्रधान सत् शब्दका अर्थ नहीं है ?

रत्नप्रभा

विकाराणां ज्ञानं भवति तथापि न पुरुषाणाम्, तेषां प्रधानविकारत्वाभावाद् इत्याह— न चेति । अस्माकं जीवानां सद्रूपत्वात् तज्ज्ञाने ज्ञानमिति भावः ॥ ८ ॥

कुतश्चेति । पुनरपि कस्मात् हेतोः इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेपर विकारोंके तत्स्वरूप प्रधानसे अभिन्न होनेके कारण उनका ज्ञान होता है, परन्तु पुरुषोंका—आत्माओंका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे प्रधानके विकार नहीं हैं ऐसा कहते हैं— "न च" इत्यादिसे । आशय यह है कि वेदान्त मतमें जीव सद्रूप है इससे सत्—आत्माका ज्ञान होनेपर जीवोंका ज्ञान हो ही जाता है ॥८॥

"कुतश्च" अर्थात् और किस हेतुसे प्रधान सत् शब्दका अर्थ नहीं है ?
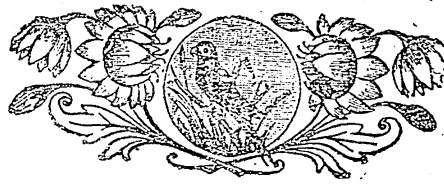
(१) सब भोग्य पदार्थ। उनका कारण सांख्यमतानुसार प्रधान है ।

(२) भोगनेवाले जीव ।

# स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

**पदार्थोक्ति**—स्वाप्ययात्—सुषुप्तिकाले जीवस्य स्वस्मिन् अधिष्ठाने लयश्रवणात् [ चेतनमेव सच्छब्दवाच्यम् , न प्रधानम् ] ।

**भाषार्थ**—श्रुति कहती है कि सुषुप्तिसमयमें जीव अपने अधिष्ठानमें लीन होता है, इस कारण चेतन ही सच्छब्दवाच्य है, प्रधान नहीं है ( चेतन जीव अचेतन प्रधानमें लीन नहीं हो सकता ) ।
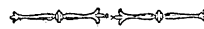
*भाष्य*

**तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' ( छा० ६।८।१ ) इति, एषा श्रुतिः स्वपिती-**

*भाष्यका अनुवाद*

उसी सत् शब्दवाच्य प्रस्तुत कारणके प्रकरणमें यह श्रुति है—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति०' ( जब सुषुप्तिमें पुरुषका 'स्वपिति' ऐसा नाम होता है, तब हे सोम्य ! वह सत्के साथ एक होता है, अपनेमें लीन होता है, इसलिए उसको 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं, क्योंकि वह अपनेमें लीन होता है )

---

*रत्नप्रभा*

सुषुप्तौ जीवस्य सदात्मनि—स्वस्मिन् अप्ययश्रवणात् सत् चेतनमेव इति सूत्रयोजना । एतत् स्वपनं यथा स्यात् तथा यत्र सुषुप्तौ स्वपिति इति नाम भवति, तदा पुरुषः सता सम्पन्न एकीभवति । सदैक्येऽपि नामप्रवृत्तिः कथम् ? तत्र आह—**स्वमिति** । तत्र लोकप्रसिद्धिमाह—**तस्मादिति** । हि यस्मात् स्वं सदात्मानम् अपीतो भवति तस्मात् इत्यर्थः । श्रुतेः तात्पर्यमाह—**एषेत्यादिना** । कथमेतावता प्रधाननिरास

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

श्रुति कहती है कि सुषुप्तिमें जीवका अपनेमें अर्थात् सदात्मामें लय होता है, इससे सत् चेतन ही है, इस प्रकार सूत्रकी योजना करनी चाहिए । सुषुप्तिमें जब पुरुषका 'स्वपिति' नाम होता है, तब पुरुष सत्के साथ एक हो जाता है । सत्के साथ एक होनेपर भी 'स्वपिति' नामकी प्रवृत्ति किस प्रकार होती है, इस पर कहते हैं—"स्वम्" इत्यादि । इसमें लोकप्रसिद्धि कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे । अर्थात् जिस कारण अपनेमें—सदात्मामें

भाष्य

त्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति। स्वशब्देनेहाऽऽत्मोच्यते, यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः। अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धम्, प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात् मनःप्रचारोपाधिविशेषसंबन्धादिन्द्रियार्थान् गृह्णंस्तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति। तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान् पश्यन् मनःशब्दवाच्यो भवति। स उपाधि-

भाष्यका अनुवाद

यह श्रुति पुरुषके 'स्वपिति' इस लोकप्रसिद्ध नामका निर्वचन करती है। 'स्व' शब्दसे यहाँ आत्मा कहा गया है। जो प्रकृत और सत् शब्दका अर्थ है, उसमें जीव अपीत होता है अर्थात् लीन होता है। 'अपि' पूर्वक 'इण्' धातुका अर्थ—लय प्रसिद्ध है, क्योंकि 'प्रभवाप्ययौ' ( उत्पत्ति और प्रलय ) ऐसे प्रयोग देखनेमें आते हैं। मनके प्रचार—इन्द्रियों द्वारा बुद्धिका परिणामरूप उपाधिविशेषके संबन्धसे विषयोंको ग्रहण करता हुआ तद्विशेष ( स्थूल देहके साथ ऐक्यकी भ्रान्ति ) को प्राप्त हुआ जीव जागता है ( ऐसा व्यवहार होता है )। उसकी वासनाओंसे युक्त होकर—जाग्रदवस्थाओंमें अनुभूत विषयोंकी वासनासे युक्त मनसहित होकर—स्वप्न देखता हुआ 'मनः' शब्दसे वाच्य होता है। दोनों उपा-

रत्नप्रभा

इत्यत आह—**स्वशब्देनेति**। एतेर्धातोः गत्यर्थस्य अपिपूर्वस्य लयार्थत्वेऽपि कथं नित्यस्य जीवस्य लय इति आशङ्क्य उपाधिलयात् इति वक्तुं जाग्रत्स्वप्नयोः उपाधिमाह—**मन इति**। ऐन्द्रियकमनोवृत्तय उपाधयः, तैः घटादिस्थूलार्थविशेषाणाम् आत्मना संबन्धात् आत्मा तानिन्द्रियार्थान् पश्यन् स्थूलविशेषेण देहेन ऐक्यभ्रान्तिम् आपन्नो विश्वसंज्ञो जागर्ति, जाग्रद्वासनाश्रयमनोविशिष्टः सन् तैजससंज्ञः स्वप्ने

रत्नप्रभाका अनुवाद

लय होता है, उसी कारण। श्रुतिका तात्पर्य कहते हैं—"एषा" इत्यादिसे। इतनेसे ही प्रधानका निराकरण किस प्रकार होता है, इसपर कहते हैं—"स्वशब्देन" इत्यादिसे। यद्यपि 'अपि' पूर्वक गत्यर्थ 'इण्' धातु लयार्थक है, तो भी नित्य जीवका लय किस प्रकार हो सकता है, ऐसी आशङ्का करके, उपाधिके लयसे जीवका लय होता है यह कहनेके लिए जाग्रत् और स्वप्नकी उपाधियाँ कहते हैं—"मनः" इत्यादिसे। इन्द्रियोंसे होनेवाली मनकी वृत्तियां बुद्धिपरिणाम उपाधियाँ है, उन उपाधियोंके द्वारा जीवका घटादि स्थूल पदार्थोंके साथ संबन्ध होता है और नेत्रादि इन्द्रियोंसे इन्द्रियोंके अर्थों–रूप, रस आदिका अनुभव करता हुआ जीव स्थूल देहके साथ एकताकी भ्रान्ति होनेसे विश्वसंज्ञक होकर जागता है ऐसा व्यवहार होता है। जाग्रदवस्थाकी वासनाओंके आश्रय मनसे संयुक्त होकर जीव तैजस

भाष्य

द्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात् स्वात्मनि प्रलीन इवेति 'स्वं ह्यपीतो भवति' इत्युच्यते। यथा हृदयशब्दनिर्वचनं श्रुत्या दर्शितम्–'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति, तस्माद्धृदयम्' ( छा० ८।३।३ ) इति, यथा वाऽशनायोदन्याशब्दप्रवृत्तिमूलं दर्शयति श्रुतिः–'आप एव तदशितं नयन्ते तेज एव तत्पीतं नयते' (छा० ६।८।२,५)

भाष्यका अनुवाद

धियोंका जब विराम हो जाता है, तब सुषुप्ति अवस्थामें उपाधिजन्य विशेषके अभावसे स्वात्मामें निलीन-सा होता है, अतः आत्मामें लीन होता है, ऐसा व्यवहार होता है। जैसे 'हृदय' शब्दका निर्वचन श्रुति दिखलाती है—'स वा एष आत्मा०' ( वह यह आत्मा हृदयमें है, यही उस हृदयशब्दका निर्वचन है, 'हृदि' हृदयमें 'अयम्' यह आत्मा वर्तमान है, इससे हृदय कहलाता है ) और जैसे 'अशनाया' और 'उदन्या' शब्दोंका निर्वचन श्रुति दिखलाती है—'आप एव०' 'तेज एव०' ( जल पुरुषसे भुक्त अन्नको द्रवीभूत करके रसादिरूपमें परिणत करता है, तेज ही उस जलको शोषण करके रक्त और प्राण रूपमें लाता है ) उसी प्रकार अपनेमें अर्थात् सत्शब्दवाच्य आत्मामें

रत्नप्रभा

विचित्रवासनासहकृतमायापरिणामान् पश्यन् "सोम्य तन्मनः" इति श्रुतिस्थ-मनःशब्दवाच्यो भवति, स आत्मा स्थूलसूक्ष्मोपाधिद्वयोपरमे "अहं नरः कर्ता" इति विशेषाभिमानाभावात् लीन इति उपचर्यते इत्यर्थः। ननु स्वपिति इति नामनिरुक्तेः अर्थवादत्वात् न यथार्थता इत्यत आह—यथेति। तस्य हृदयशब्दस्य एतत् निर्वचनम्। तदशितम् अन्नं द्रवीकृत्य नयन्ते जरयन्तीति आप एव अशनायापदार्थः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

संज्ञक होता है और स्वप्नमें विचित्र वासनाओंके साथ मायाके परिणामोंको देखता हुआ वह 'सोम्य तन्मनः' ( सोम्य ! वह मन है ) इस श्रुतिमें कहे गये मनःशब्दसे वाच्य होता है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों उपाधियोंके न रहनेसे 'मैं नर हूँ कर्ता हूँ' ऐसे विशेष अभिमानके अभावसे वही जीव गौणीवृत्तिसे लीन कहा जाता है। यहाँ पर शङ्का होती है कि 'स्वपिति' इस नामका निर्वचन अर्थवादरूप होनेसे, यथार्थ नहीं है, इसके उत्तरमें कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। जैसे हृदयशब्दका 'हृदि अयम्' यह निर्वचन यथार्थ है और जैसे 'तदशित-मन्नं०' ( यह जल पुरुषसे भुक्त अन्नको गला कर पाक करता है, इससे अशनाया कहलाता है,

( १ ) उपाधिसे उत्पन्न किया हुआ विशेष—गन्तृत्व, दृष्टृत्व आदि अभिमान।

भाष्य

इति च, एवं स्वमात्मानं सच्छब्दवाच्यमपीतो भवति इतीममर्थं स्वपिति-नामनिर्वचनेन दर्शयति । न च चेतन आत्माऽचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिपद्येत । यदि पुनः प्रधानमेवाऽऽत्मीयत्वात् स्वशब्देनैवोच्येत, एवमपि चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत । श्रुत्यन्तरं च— 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१.) इति सुषुप्तावस्थायां चेतनेऽप्ययं दर्शयति । अतो यस्मिन्नप्ययः सर्वेषां चेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणं न प्रधानम् ॥९॥

कुतश्च न प्रधानं जगतः कारणम्—

भाष्यका अनुवाद

लीन होता है इस अर्थको श्रुति 'स्वपिति' शब्दके निर्वचनसे दिखलाती है। और चेतन आत्मा अचेतन प्रधानको अभेदसे प्राप्त नहीं हो सकता। यदि आत्मसंबन्धी होनेके कारण प्रधान ही आत्मशब्दसे कहा जाय, तो भी चेतन अचेतनमें लीन होता है यह कथन विरुद्ध ही होगा। 'प्राज्ञेनात्मना०' (प्राज्ञ आत्माके साथ ऐक्यको प्राप्त हुआ जीव न किसी बाहरी वस्तुको जानता और न किसी भीतरी वस्तुको जानता है) यह दूसरी श्रुति सुषुप्ति अवस्थामें चेतनमें जीवका लय दिखलाती है। इस कारण जिसमें सब चेतनोंका लय होता है, वही चेतन सत् शब्दवाच्य एवं जगत्का कारण है, प्रधान नहीं है ॥ ९ ॥

और किस कारणसे प्रधान जगत्का कारण नहीं है—

रत्नप्रभा

तत्पीतम् उदकं नयते शोषयति इति तेज एव उदन्यम्। अत्र दीर्घश्छान्दसः, एवम् इदम् अपि निर्वचनं यथार्थम् इत्याह—**एवमिति**। इदं च प्रधानपक्षे न युक्तम् इत्याह—**न चेति**। स्वशब्दस्य आत्मनीव आत्मीयेऽपि शक्तिरस्ति इति आशङ्क्य आह—**यदीति**। प्राज्ञेन बिम्बचैतन्येन ईश्वरेण सम्परिष्वङ्गो भेद-भ्रमाभावेन अभेद इत्यर्थः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उस पिये हुए जलको तेज सुखा डालता है, इससे तेज उदन्य कहलाता है), श्रुतिमें 'उदन्या' पदमें आकार छान्दस है, इत्यादि निर्वचन यथार्थ हैं, उसी प्रकार इस 'स्वपिति'का निर्वचन भी यथार्थ है, ऐसा कहते हैं—"एवं" इत्यादिसे। यह प्रधान पक्षमें युक्त नहीं है ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। 'स्व' शब्दकी शक्ति जैसे आत्मा (अपने) में है, वैसे ही आत्मीय (अपना संबन्धी) में भी है ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"यदि" इत्यादिसे। 'प्राज्ञेन'—बिम्बचैतन्य ईश्वरके साथ। 'संपरिष्वङ्गः' भेद भ्रमके अभावसे अभेदको प्राप्त यह श्रुत्यर्थ है ॥९॥

## गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

**पदार्थोक्ति**—गतिसामान्यात्—[ तत्तद्वेदान्तजन्यानामवगतीनाम् ] चेतन-कारणविषयकत्वेन साम्यात् [ न अचेतनं प्रधानं जगतः कारणम् ] ।

**भाषार्थ**—सभी वेदान्तसे जन्य ज्ञानमें समानता है, क्योंकि सब वेदान्तोंसे चेतनही जगत्का कारण है ऐसा समान ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः अचेतन प्रधान जगत्का कारण नहीं है ।

*भाष्य*

**यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत् क्वचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं क्वचिदचेतनं प्रधानं क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित् प्रधानकारणवादानुरोधेनाऽपीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत्, नत्वे-तदस्ति, समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः । 'यथाग्ने-**

*भाष्यका अनुवाद*

तार्किक-सिद्धान्तोंके समान यदि वेदान्तमें भी भिन्न भिन्न कारणोंका ज्ञान होता अर्थात् कहीं चेतन ब्रह्म, कहीं अचेतन प्रधान और कहीं दूसरा ही जगत्का कारण होता, तो कदाचित् प्रधानकारणवादके अनुरोधसे प्रधानके विषयमें 'ईक्षति' आदि श्रुतियोंकी गौणताकी कल्पना की जा सकती, परन्तु ऐसा है नहीं; क्योंकि सब वेदान्तोंमें चेतन ही कारण है यह ज्ञान समान ही है । 'यथाग्नेर्ज्वलतः०' ( जैसे जलती हुई आगमेंसे चिनगारियां

---

*रत्नप्रभा*

तत्तद्वेदान्तजन्यानाम् अवगतीनां चेतनकारणविषयकत्वेन सामान्यात् न अचेतनं जगतः कारणमिति सूत्रार्थं व्यतिरेकमुखेन आह—**यदि तार्किके-त्यादिना** । अन्यत् परमाण्वादिकम् । **न त्वेतदिति** । अवगतिवैषम्यम् इत्यर्थः । विप्रतिष्ठेरन्—विविधं नानादिशः प्रति गच्छेयुः । प्राणाः—चक्षुरादयो

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

सभी वेदान्तोंसे जन्य ज्ञानमें समानता है, क्योंकि सब वेदान्तोंसे चेतन ही जगत्का कारण है ऐसा समान ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिए अचेतन प्रधान जगत्का कारण नहीं है इस प्रकार व्यतिरेकसे सूत्रार्थ कहते हैं—"यदि तार्किक" इत्यादिसे । 'दूसरा ही'—परमाणु आदि । "न त्वेतत्"—अवगतिकी विषमता । 'विप्रतिष्ठेरन्'—अनेक प्रकारसे भिन्न-भिन्न दिशाओंमें जाते हैं । 'प्राणः'—चक्षु आदि । सुषुप्तिमें जिस जिस गोलकमेंसे

भाष्य

ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' ( कौ० ३।३ ) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' ( तै० २।१ ) इति 'आत्मत एवेदं सर्वम्' ( छा० ७।२६।१ ) इति 'आत्मन एष प्राणो जायते' ( प्र० ३।३ ) इति चाऽऽत्मनः कारणत्वं दर्शयन्ति सर्वे वेदान्ताः । आत्मशब्दश्च चेतनवचन इत्यवोचाम । महच्च प्रामाण्यकारणमेतद्यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वं चक्षुरादीनामिव रूपादिषु । अतो गतिसामान्यात् सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ॥ १० ॥

कुतश्च सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्—

भाष्यका अनुवाद

सब दिशाओंमें फैलती हैं, उसी प्रकार उस आत्मामेंसे सब प्राण यथास्थान फैलते हैं, प्राणोंसे देव और देवोंसे लोक ), तस्माद्वा०' ( उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ ), 'आत्मत०' ( आत्मासे यह सब प्रपञ्च होता है ) इस प्रकार सब वेदान्त 'आत्मा कारण है' यह दिखलाते हैं । आत्मशब्द चेतनवाचक है यह हम कह चुके हैं । जैसे नेत्र आदिसे रूप आदिकी अवगति समान है, वैसे ही चेतन कारण है ऐसी वेदान्तवाक्योंसे अवगति समान है, यह महान् प्रामाण्यका कारण है । इस कारण—वेदान्तवाक्योंसे अवगति समान होनेके कारण—सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है ॥ १० ॥

और किस कारणसे सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है—

रत्नप्रभा

यथागोलकं प्रादुर्भवन्ति, प्राणेभ्योऽनन्तरम् देवाः सूर्यादयः तदनुग्राहकाः, तदनन्तरं लोक्यन्ते इति लोकाः विषया इत्यर्थः । ननु वेदान्तानां स्वतः प्रामाण्येन प्रत्येकं स्वार्थनिश्चायकत्वसम्भवात् किं गतिसामान्येन इत्याह—**महच्चेति** । एकरूपावगतिहेतुत्वं वेदान्तानां प्रामाण्यसंशयनिवृत्तिहेतुः इत्यत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

निकलकर जो जो इन्द्रियाँ हृदयमें स्थित आत्मामें लीन होती हैं, वे इन्द्रियाँ जाग्रदवस्थाके आरम्भमें आत्मासे निकलकर उस-उस गोलकमें प्रकट होती हैं । प्राणोंसे अर्थात् इन्द्रियोंसे पीछे उनके उपकारक आदित्य आदि देवता अभिव्यक्त—प्रकट होते हैं और इसके बाद विषय अभिव्यक्त होते हैं । 'लोक'—विषय । वेदान्त स्वरूपसे ही प्रमाणभूत हैं, इससे उनमें प्रत्येक वाक्य स्वार्थनिश्चायक है, ऐसा संभव है, तो उनके प्रामाण्यको 'गति सामान्यात्' इस सूत्रसे दिखानेका क्या प्रयोजन है ? इस शङ्कापर कहते हैं—"महच्च"

## श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

**पदच्छेद**—श्रुतत्वात्, च ।

**पदार्थोक्ति**—श्रुतत्वात्—'स कारणं करणाधिपाधिपो' इत्यादिश्रुतौ जगत्कारणस्य सर्वज्ञत्वश्रवणात् [ ब्रह्मैव जगत्कारणम्, न अचेतनम् ] ।

**भाषार्थ**—'स कारणम्' इत्यादि श्रुतिमें जगत्का कारण सर्वज्ञ कहा गया है, अतः ब्रह्म ही जगत्का कारण है, अचेतन प्रधान जगत्कारण नहीं है ।
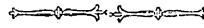
*भाष्य*

**स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य 'स कारणं करणाधिपाधिपो न**

*भाष्यका अनुवाद*

ईश्वर सब जगत्का कारण है ऐसा स्वशब्द[1]से ही श्रुति प्रतिपादन करती है । श्वेताश्वतरोंके मंत्रोपनिषद्में सर्वज्ञ ईश्वरको प्रस्तुत करके 'स कारण०' ( वह

*रत्नप्रभा*

दृष्टान्तमाह—**चक्षुरिति** । यथा सर्वेषां चक्षुषामेकरूपावगतिहेतुत्वं श्रवणानां शब्दावगतिहेतुत्वं घ्राणादीनां गन्धादिषु, एवं ब्रह्मणि वेदान्तानां गतिसामान्यं प्रामाण्यदार्ढ्ये हेतुः इत्यर्थः ॥ १० ॥

एवम् ईक्षत्यादिलिङ्गैः अचेतने वेदान्तानां समन्वयं निरस्य चेतनवाचकशब्देनाऽपि निरस्यति—**श्रुतत्वाच्चेति** । सूत्रं व्याचष्टे—**स्वशब्देनेति** । स्वस्य

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

इत्यादि । वेदान्तोंसे समान ज्ञान उत्पन्न होनेके कारण प्रामाण्य संशयकी निवृत्ति होती है इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—"चक्षुः" इत्यादिसे । जैसे प्राणिमात्रका नेत्र रूपका ही ग्रहण कराता है, किसीका भी नेत्र रस आदिका ग्रहण नहीं कराता, श्रोत्र शब्दका ग्रहण कराता है, घ्राण आदि गन्ध आदिकी अवगतिके हेतु हैं, इसी प्रकार वेदान्तोंसे ब्रह्मकी समान अवगति प्रामाण्यकी दृढ़तामें हेतु है ॥१०॥

इस प्रकार 'ईक्षति' आदि लिङ्गोंसे अचेतन प्रधानमें वेदान्तोंके समन्वयका निरसन करके चेतनवाचक शब्दसे भी निरसन करते हैं—"श्रुतत्वाच्च" से । सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"स्वशब्देन" इत्यादिसे । अपना—चेतनका वाचक 'सर्ववित्' शब्द है । 'ज्ञः कालकालो०'

( १ ) स्ववाचक शब्द—ईश्वरवाचक शब्द ।

भाष्य

चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' ( श्वे० ६।९ ) इति । तस्मात् सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्, नाऽचेतनं प्रधानमन्यद्वेति सिद्धम् ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

सर्वज्ञ परमेश्वर कारण है, वह जीवोंका अधिष्ठाता है, उसका कोई उत्पादक अथवा अधिष्ठाता नहीं है ) ऐसा श्रुति कहती है । इस कारण सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है, अचेतन प्रधान अथवा दूसरा कोई ( कारण ) नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

रत्नप्रभा

चेतनस्य वाचकः सर्वविच्छब्दः । "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः" ( श्वे० ६।२।१६ ) इति सर्वज्ञं परमेश्वरं प्रकृत्य स सर्ववित् कारणमिति श्रुतत्वान्नाऽचेतनं कारणमिति सूत्रार्थः । करणाधिपा जीवाः तेषामधिपः । अधिकरणार्थम् उपसंहरति—तस्मादिति । ईक्षणात्मशब्दादिकं परमाण्वादौ अपि अयुक्तमिति मत्वा आह—अन्यद्वेति ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

( जो कालका भी काल, गुणी और सर्वज्ञ है ) ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वरको प्रस्तुत करके 'स सर्ववित् कारणम्' ( वह सर्ववित् ईश्वर कारण है ) इस प्रकार श्रुति प्रतिपादन करती है, अतः अचेतन कारण नहीं है, ऐसा सूत्रार्थ है । 'करणाधिपाः'—इन्द्रियोंके अधिपति जीव, उनका अधिपति । अधिकरणके अर्थका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे । परमाणुओंमें भी ईक्षण आत्मशब्द आदि अयुक्त हैं, ऐसा मानकर कहते हैं—"अन्यद्वा" इत्यादिसे ॥११॥

ईक्षत्यधिकरण समाप्त ॥ ५ ॥
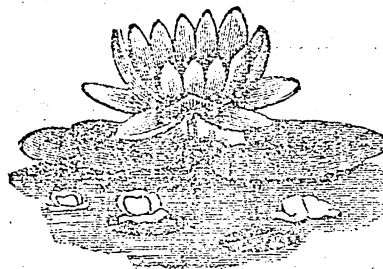
## [ ६ आनन्दमयाधिकरण सू० १२–१९ ]

( प्रथम वर्णक )

*संसारी ब्रह्म वाऽऽनन्दमयः संसार्ययं भवेत् ।*
*विकारार्थमयट्शब्दात्प्रियाद्यवयवोक्तितः ॥*
*अभ्यासोपक्रमादिभ्यो ब्रह्माऽऽनन्दमयो भवेत् ।*
*प्राचुर्यार्थो मयट्शब्दः प्रियाद्याःस्युरुपाधिगाः ॥*

### [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—आनन्दमय जीव है अथवा ब्रह्म है ।

**पूर्वपक्ष**—विकारार्थक 'मयट्' प्रत्ययके योगसे तथा प्रिय आदि अवयवोंके कथनसे आनन्दमय जीव ही है ।

**सिद्धान्त**—अभ्यास, उपक्रम आदि हेतुओंसे आनन्दमय ब्रह्म ही है । यहाँ पर 'मयट्' प्रत्ययका प्रयोग प्राचुर्य्यरूप अर्थमें है, और प्रिय आदि अवयव आनन्दमयके उपाधिरूप विज्ञानमयके हैं ।

( द्वितीय वर्णक )

*अन्याङ्गं स्वप्रधानं वा ब्रह्मपुच्छमिति श्रुतम् ।*
*स्यादानन्दमयस्याङ्गं पुच्छेऽङ्गत्वप्रसिद्धितः ॥*
*लाङ्गूलासंभवादत्र पुच्छेनाऽऽधारलक्षणा ।*
*आनन्दमयजीवोऽस्मिन्नाश्रितोऽतः प्रधानता ॥*

### [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ( तै० २।५ ) इस वाक्यमें उक्त ब्रह्मका अन्यके अङ्गरूपसे प्रतिपादन है या प्रधानतासे ।

**पूर्वपक्ष**—ब्रह्म आनन्दमयका अङ्ग है, क्योंकि श्रुतिमें पुच्छ शब्दका प्रयोग है, लोकमें प्रसिद्ध है कि पूँछ किसी देही की होती है ।

**सिद्धान्त**—ब्रह्म आनन्दमयकी पूँछ नहीं है, इसलिए यहाँ पर पुच्छ शब्दका लक्षणासे आधार अर्थ है । आनन्दमय जीव ब्रह्ममें आश्रित है, अतः ब्रह्म प्रधानरूपसे कहा गया है ।

भाष्य

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'श्रुतत्वाच्च' इत्येवमन्तैः सूत्रैर्यान्युदाहृतानि वेदान्तवाक्यानि, तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्याऽर्थस्य प्रतिपादकत्वं न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम् । गतिसामान्योपन्यासेन च सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारणवादिन इति व्याख्यातम् । अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमिति । उच्यते—द्विरूपं हि ब्रह्म

भाष्यका अनुवाद

'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रसे लेकर 'श्रुतत्वाच्च' पर्यन्त सूत्रोंसे जो जो वेदान्तवाक्य उद्धृत किये हैं, वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, ईश्वर जगत्के जन्म, स्थिति और लयका कारण है इस अर्थके प्रतिपादक हैं यह बात युक्तिपूर्वक कही गई है। सब वेदान्तवाक्योंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान एकरूप है यह कहकर सब वेदान्तवाक्य चेतनकारणवादी हैं ऐसा व्याख्यान किया गया है, तो अब आगेके ग्रन्थके आरम्भमें क्या कारण है? ऐसा आक्षेप होनेपर कहते हैं—ब्रह्म दो

रत्नप्रभा

वृत्तानुवादेन उत्तरसूत्रसन्दर्भम् आक्षिपति—**जन्मादीति** । प्रथमसूत्रस्य शास्त्रोपोद्घातत्वात् जन्मादिसूत्रमारभ्य इत्युक्तम्, सर्ववेदान्तानां कार्ये प्रधानाद्यचेतने च समन्वयनिरासेन ब्रह्मपरत्वं व्याख्यातम्, अतः प्रथमाध्यायार्थस्य समाप्तत्वात् उत्तरग्रन्थारम्भे किं कारणम् इत्यर्थः । वेदान्तेषु सगुणनिर्गुणब्रह्मवाक्यानां बहुलम् उपलब्धेः, तत्र कस्य वाक्यस्य सगुणोपासनाविधिद्वारा निर्गुणे समन्वयः, कस्य वा गुणविवक्षां विना साक्षादेव ब्रह्मणि समन्वय इत्याकाङ्क्षैव कारणम् इत्याह—**उच्यते इति** । संक्षिप्य सगुण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्तका अनुवाद करके उत्तरसूत्र समूहका आक्षेप—निषेध करते हैं—"जन्मादि०" इत्यादिसे। प्रथम सूत्र शास्त्रका उपोद्घातरूप है, अतः 'जन्मादि सूत्रका आरम्भ करके' ऐसा कहा है। वेदान्तमात्रका समन्वय कार्यमें है अथवा अचेतन प्रधान आदिमें है, इस मतका खण्डन करके वेदान्तोंका समन्वय ब्रह्ममें है अर्थात् वेदान्त ब्रह्मपरक हैं ऐसा कहा जा चुका है। इस प्रकार प्रथम अध्यायका अर्थ समाप्त होता है, अब आगेके ग्रन्थके आरम्भ करनेका क्या कारण है ऐसा आक्षेप करते हैं। वेदान्तोंमें सगुण और निर्गुण ब्रह्मके बोधक वाक्य बहुत उपलब्ध होते हैं। उनमें कौनसे वाक्य सगुण ब्रह्मकी उपासना द्वारा निर्गुण ब्रह्मके प्रतिपादक हैं और कौनसे वाक्य गुणकी विवक्षाके विना—साक्षात् निर्गुण ब्रह्मके प्रतिपादक हैं, यह जाननेकी आकांक्षा ही आगेके ग्रन्थके आरम्भमें हेतु है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते"

भाष्य

अवगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टम्, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्य-

भाष्यका अनुवाद

प्रकारका है। (१) नाम-रूपात्मक विकार—जगत्के भेद हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूप उपाधिसे युक्त और (२) उससे विपरीत सब उपाधियोंसे रहित। 'यत्र हि द्वैतमिव०' (जिस अवस्थामें [अज्ञानावस्थामें] द्वैत-सा होता है, उस अवस्थामें एक दूसरेको देखता है), 'यत्र त्वस्य०' (परन्तु जिस ज्ञानकालमें उस विद्वान्के लिए सब जगत् आत्मरूप हो जाता है, उस कालमें कौन कर्ता किस करणसे किस विषयको देखे), 'यत्र नान्यत्पश्यति०' (जिसका ज्ञान होनेपर अपनेसे अतिरिक्त कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, कुछ नहीं जानता अर्थात् नेत्रसे अन्य द्रष्टव्य पदार्थको नहीं देखता, श्रोत्रसे अन्य श्रोतव्य पदार्थको नहीं सुनता, मनसे अन्य मनन करने

रत्नप्रभा

निर्गुणवाक्यार्थमाह—**द्विरूपं हीति**। नामरूपात्मको विकारः सर्वं जगत्, तद्भेदो हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशेषः इति वाक्यार्थः। वाक्यानि उदाहरति—**यत्र हीत्यादिना**। यस्यां खलु अज्ञानावस्थायां द्वैतमिव कल्पितं भवति, तत् तदा इतरः सन् इतरं पश्यति इति दृश्योपाधिकं वस्तु भाति। यत्र ज्ञानकाले विदुषः सर्वं जगत् आत्ममात्रम् अभूत्, तदा तु 'केन कं पश्येत्' इति आक्षेपात् निरुपाधिकं तत्त्वं भाति। यत्र भूम्नि निश्रितो[1] विद्वान् द्वितीयं किमपि न वेत्ति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। सगुण और निर्गुण ब्रह्मके प्रतिपादक वाक्योंका अर्थ संक्षेपसे समझाते हैं—"द्विरूपं हि" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि सब जगत् नामरूपात्मक विकार है और हिरण्यश्मश्रु आदि उसके भेद हैं। वाक्योंको उद्धृत करते हैं—"यत्र हि०" इत्यादिसे। जिस अज्ञानावस्थामें आभासरूप द्वैतकी कल्पना होती है, उस अवस्थामें एक पुरुष दूसरा होकर दूसरी वस्तुको देखता है, अतः दृष्टि आदिके गोचर होनेवाली सोपाधिक वस्तु भासती है, परन्तु जिस ज्ञानकालमें जगत्-मात्र विद्वान्के लिए आत्मा ही हो गया, आत्माके सिवा कुछ रहा ही नहीं, उस अवस्थामें किस करणसे किस विषयको कौन कर्ता देखे, ऐसा आक्षेप किया है, अतः व्यवहारके अयोग्य उपाधिरहित वस्तु ही तत्त्व है ऐसा मालूम होता है। जिस महान् वस्तुमें स्थित विद्वान् दूसरी किसी वस्तुको नहीं जानता

१ 'निश्रितः' इत्यत्र 'स्थितः' इति साधु प्रतीयते।

भाष्य

त्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्, यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' ( छा० ७।२४।१ ) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः, नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' ( तै० आ० ३।१२।७ )

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥' ( श्वे० ६।१९ )

भाष्यका अनुवाद

योग्य पदार्थका मनन नहीं करता और बुद्धिसे अन्य बोद्धव्य पदार्थको नहीं जानता, वह भूमा है, परन्तु जिसका ज्ञान न होने पर अपनेसे भिन्न दूसरेको देखता है, दूसरेको सुनता है, दूसरेको जानता है, वह अल्प है, जो भूमा है, वह अमृत है और जो अल्प है, वह मरणशील है ) 'सर्वाणि रूपाणि०' ( जो पुरुष सब रूपोंको—देव, मनुष्य आदि शरीरोंको—उत्पन्न करके 'यह देव है' 'यह मनुष्य है' इत्यादि नाम रखकर उन नामोंसे स्वयं व्यवहार करता है [उसको मैं जानता हूँ] ) 'निष्कलं निष्क्रियं०' ( अवयवरहित, क्रियारहित, परिणामशून्य, दोषरहित, पापरहित, मोक्षके उत्कृष्ट सेतु—पुल, जिसकी सब

---

रत्नप्रभा

सोऽद्वितीयो भूमा परमात्मा निर्गुणः । अथ निर्गुणोक्त्यनन्तरं सगुणमुच्यते, यत्र सगुणे स्थितो द्वितीयं वेत्ति, तदल्पं परिच्छिन्नम्, यः तु भूमा तदमृतं नित्यम् । अथेति--पूर्ववद् व्याख्येयम् । धीरः परमात्मैव सर्वाणि रूपाणि विचित्य सृष्ट्वा नामानि च कृत्वा बुद्ध्यादौ प्रविश्य जीवसंज्ञो व्यवहरन् यो वर्त्तते, स सगुणः तं निर्गुणत्वेन विद्वान् अपि अमृतो भवति । निर्गताः कलाः अंशा यस्मात् तत् निष्कलम्, अतो निरंशत्वात् निष्क्रियम्, अतः शान्तम् अपरिणामि । निरवद्यं रागादिदोषशून्यम्, अञ्जनं मूलतमस्सम्बन्धो धर्मादिकं वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, वह अद्वितीय निरतिशय महत्त्वसम्पन्न परमात्मा निर्गुण है । निर्गुण ब्रह्मको कहकर सगुणको कहते हैं । जिस सगुण पदार्थमें स्थित पुरुष दूसरी वस्तुको जानता है, वह परिच्छिन्न है—सातिशय है । जो भूमा है वह अमृत—नित्य है । 'अथ' शब्दका पहलेकी तरह व्याख्यान समझना चाहिए । धीर–विद्वान् परमात्मा ही सब रूपोंका चिन्तन करके—उत्पन्न करके नाम रखकर, बुद्धि आदिमें प्रवेश करके, जीव नामक होकर व्यवहार करता रहता है, वह सगुण ब्रह्म है, उसको निर्गुणरूपसे जाननेवाला विद्वान् अमृत हो जाता है । निष्कल--अवयवरहित, अतः निष्क्रिय--क्रियारहित, अतः शान्त--अपरिणामी, निरवद्य--राग आदि दोषोंसे शून्य, अञ्जन--कारणरूप अविद्याका संबन्ध अथवा धर्म,

भाष्य

'नेति नेति' ( बृ० २।३।६ ) 'अस्थूलमनणु' ( बृ० ३।८।८ ) 'न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्' इति च, एवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि। तत्राऽविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः। तत्र कानिचिद् ब्रह्मण उपासनान्य-

भाष्यका अनुवाद

लकड़ियां जल गईं हैं उस अग्निके समान शान्त आत्माको जानना चाहिए ), 'नेति' ( यह नहीं, यह नहीं, ऐसा ), 'अस्थूलमनणु०' ( जो न स्थूल है, न सूक्ष्म है ), 'न्यूनमन्यत्०' ( एक स्थान न्यून है, अन्य स्थान सम्पूर्ण है ) ऐसे हजारों वाक्य विद्या और अविद्याके विषय-विभागसे ब्रह्म दो प्रकारका है, ऐसा दिखलाते हैं। उनमें अविद्यावस्थामें ब्रह्ममें उपास्य, उपासक आदि सब व्यवहार होते हैं। उपासनाओंमें ब्रह्मकी कई एक उपासनाओंका प्रयोजन

रत्नप्रभा

तच्छून्यं निरञ्जनम्। किञ्च, अमृतस्य मोक्षस्य स्वयमेव वाक्योत्थवृत्तिस्थत्वेन परम् उत्कृष्टं सेतुं लौकिकसेतुवत् प्रापकम्, यथा दग्धेन्धनोऽनलः शाम्यति तमिव अविद्यां तज्जं च दग्ध्वा प्रशान्तं निर्गुणम् आत्मानं विद्यात् इत्यर्थः। **नेति नेतीति**। व्याख्यातम्—स्थूलादिद्वैतशून्यम्। रूपद्वये श्रुतिमाह—**न्यूनमिति**। द्वैतस्थानं न्यूनम् अल्पं सगुणरूपं निर्गुणाद् अन्यत्, तथा सम्पूर्णं निर्गुणं सगुणात् अन्यदित्यर्थः। एकस्य द्विरूपत्वं विरुद्धमित्यत आह—**विद्येति**। विद्याविषयो ज्ञेयं निर्गुणं सत्यम्, अविद्याविषय उपास्यं सगुणं कल्पितम् इति अविरोधः। तत्र अविद्याविषयं विवृणोति—**तत्रेति**। निर्गुणज्ञानार्थम् आरोपितप्रपञ्चम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

अधर्म आदि, उनसे रहित—निरञ्जन। जैसे पुल नदीके दूसरे किनारे पर पहुँचानेका साधन है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे उत्पन्न ब्रह्माकारवृत्तिमें स्वयं स्थित ब्रह्म संसारसागरके उस पार जानेका उपाय है। जैसे दग्धेन्धन—जिसकी लकड़ियाँ जल गई हैं, वह अग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञान और उसके कार्यको जलाकर प्रशान्त—प्रसन्न होता है, उस आत्माको जानना चाहिए। "नेति नेति" इसका विवरण पीछे किया गया है। 'अस्थूलम्'--स्थूल आदि द्वैतशून्य। ब्रह्म दो प्रकारका है, इसमें श्रुतिको प्रमाणरूपसे उद्धृत करते हैं--"न्यूनम्" इत्यादिसे। द्वैत न्यून--अल्प, सगुण और निर्गुणसे भिन्न है। इसी प्रकार सम्पूर्ण-निर्गुण सगुणसे भिन्न है एकके दो रूप विरुद्ध हैं, ऐसी शङ्का करके कहते हैं--"विद्या" इत्यादि। विद्याका विषय ज्ञेय, निर्गुण एवं सत्य है। अविद्याका विषय उपास्य, सगुण एवं कल्पित है, इस प्रकार दोनोंका विषय भेद होनेसे विरोध नहीं है। उनमें अविद्याके विषयका विवरण करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। निर्गुण ब्रह्मके

भाष्य

भ्युदयार्थानि, कानिचित् क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित् कर्मसमृद्ध्यर्थानि। तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः। एक एव तु परमात्मेश्वरस्तैस्तैर्गुणविशेषै-र्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति, तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि

भाष्यका अनुवाद

अभ्युदय, कई एकका क्रममुक्ति और कई एकका कर्म-समृद्धि है। गुण-विशेषसे और उपाधिके भेदसे उनका परस्पर भेद है। यद्यपि उन गुणोंसे विशिष्ट एक ही ईश्वर परमात्मा उपास्य है, तो भी जिस गुणकी उपासना करता है, उसीके अनुसार भिन्न

रत्नप्रभा

आश्रित्य बोधात् प्राक्काले गुडजिह्विकान्यायेन तत्तत्फलार्थानि उपासनानि विधीयन्ते। तेषां चित्तैकाग्र्यद्वारा ज्ञानं मुख्यं फलम् इति तद्वाक्यानाम् अपि महातात्पर्यं ब्रह्मणि इति मन्तव्यम्। 'नाम ब्रह्म' इत्याद्युपास्तीनां कामचारादिः अभ्युदयः फलम्, दहराद्युपास्तीनां क्रममुक्तिः, उद्गीथादिध्यानस्य कर्मसमृद्धिः फलमिति भेदः। ध्यानानां मानसत्वात् ज्ञानान्तरङ्गत्वाच्च ज्ञानकाण्डे विधानमिति भावः। ननु उपास्यब्रह्मण एक-त्वात् कथमुपासनानां भेदः, तत्राह—**तेषामिति**। गुणविशेषाः सत्यकामत्वादयः। हृदयादिरुपाधिः। अत्र स्वयमेव आशङ्क्य परिहरति—**एक इति**। परमात्मस्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञानके लिए अध्यस्त प्रपञ्चको आश्रय करके प्रपञ्चके बाधसे पूर्व गुडजिह्विकान्यायसे अन्यान्य फलके लिए उपासनाओंका विधान किया गया है, उन उपासनाओंका भी चित्तके ऐकाग्र्य द्वारा ब्रह्मज्ञान ही मुख्य फल है, इसलिए उपासनावाक्योंका भी महातात्पर्य ब्रह्ममें है, ऐसा समझना चाहिए। 'नाम ब्रह्म है' इत्यादि उपासनाओंका कामचार—यथेष्टाचार अर्थात् अपनी इच्छासे जहाँ चाहे वहाँ जाना आदि अभ्युदय फल है। दहर आदि उपासनाओंका फल क्रममुक्ति है। उद्गीथ आदिके ध्यानका कर्मसमृद्धि फल है, ऐसा भेद जानना चाहिए। ध्यान मानस है और ज्ञानका अन्तरङ्ग साधन है, इसलिए ज्ञानकाण्डमें उसका विधान किया गया है। उपास्य ब्रह्म एक है तो उपासनाओंमें भेद कैसे है? इस शङ्काका निवारण करते है—"तेषाम्" इत्यादिसे। सत्यकामत्व आदि गुणविशेष हैं, हृदय आदि उपाधि है। यहाँ स्वयं ही शङ्का करके

(१) कड़ुवी दवा न पीनेवाले लड़केकी जीभमें गुड़का लेप करके उस दवाको पिलाते हैं, ऐसे स्थलोंमें यह न्याय प्रवृत्त होता है। अथवा 'पिब निम्बं प्रदास्यामि खलु खण्डकलड्डु-कान्। पित्रैवमुक्तः पिबति तिक्तमप्यति बालकः॥" जब लड़के कटु औषध नहीं पीते हैं, तब पिता आदि लोभ दिखलाते हैं कि दवा पीओ तो लड्डू देंगे इत्यादि। तब लड़के शर्करा आदिके लोभसे अति कटु औषधको पी जाते हैं। इसमें दवा पीनेका फल शर्करालाभ नहीं हैं, किन्तु आरोग्य होना ही फल है, उसी प्रकार कर्ममें जो पुरुष प्रवृत्त नहीं होता है, उसको वेद स्वर्ग आदि अवान्तर फलोंका लोभ दिखाकर प्रवृत्त कराता है, परन्तु उस कर्मानुष्ठानका फल मोक्ष ही है।

भाष्य

भिद्यन्ते। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः, 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' ( छा० ३।१४।१ ) इति च। स्मृतेश्च—

'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ( गी० ८।६ ) इति।

यद्यप्येक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढः, तथापि चित्तोपाधि-

भाष्यका अनुवाद

भिन्न फल होते हैं, क्योंकि 'तं तथा०' (उसकी जिस जिस रूपसे उपासना करता है, वही रूप प्राप्त करता है ) और 'यथा क्रतुरस्मिँल्लोके०' (पुरुष इस लोकमें जैसा संकल्प करता है, परलोकमें जाकर वैसा ही होता है) ये श्रुतियां एवं 'यं यं वापि स्मरन्०' ( हे कुन्तीपुत्र ! मनुष्य जिस जिस भावका स्मरण करता हुआ अन्तमें शरीर छोड़ता है, उस भावकी भावनावाला वह पुरुष उसी भावको प्राप्त होता है ) यह स्मृति ऐसा ही प्रतिपादन करती हैं। यद्यपि एक ही आत्मा स्थावर

---

रत्नप्रभा

रूपाभेदेऽपि उपाधिभेदेन उपहितोपास्यरूपभेदाद् उपासनानां भेदे सति फलभेद इति भावः। तं परमात्मानं यद्यद्गुणत्वेन लोका राजानमिव उपासते, तत्तद्गुणवत्त्वमेव तेषां फलं भवति। क्रतुः सङ्कल्पो ध्यानम्। इह यादृशध्यानवान् भवति, मृत्वा तादृशोपास्यरूपो भवति। इत्यत्र एव भगवद्वाक्यमाह—स्मृतेश्चेति। ननु सर्वभूतेषु निरतिशयात्मन एकत्वात् उपास्योपासकयोः तारतम्यश्रुतयः कथं इति आशङ्क्य परिहरति—यद्यप्येक इति। उक्तानामुपाधीनां शुद्धितारत-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका परिहार करते हैं—"एक" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि यद्यपि परमात्माके स्वरूपका भेद नहीं है, तो भी उपाधिभेदसे—उपाधिसहित जो उपास्य है, उसका भेद होनेसे उपासनाओंमें भेद होता है और उनमें भेद होनेसे फलोंमें भेद होता है। लोग राजाकी उपासनाकी तरह उस परमात्माकी जिस जिस रूपसे उपासना करते हैं, उस उस रूपको प्राप्त करना ही उनके लिए फल होता है। 'क्रतुः'—सङ्कल्प, ध्यान। इस लोकमें पुरुष जिस देवताका जिस रूपसे ध्यान करता है, मरनेके बाद उसी उपास्य देवताके स्वरूपको प्राप्त होता है। इस विषयमें भगवान्‌का वाक्य उद्धृत करते हैं—"स्मृतेश्च" इत्यादिसे। यहाँपर शङ्का होती है कि सब भूतोंमें निरतिशय आत्मा एक ही है, तो उपास्य और उपासकका तारतम्य-भेद दिखानेवाली श्रुतियाँ किस प्रकार संगत होती हैं, इस शंकाका

भाष्य

विशेषतारतम्यादात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याऽप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते—'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' ( ऐ० आ० २।३।२।१ ) इत्यत्र । स्मृतावपि—

'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवाऽवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥' ( गी० १०।४१ )

इति । यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपास्यतया चोद्यते ।

भाष्यका अनुवाद

और जंगम सब भूतोंमें गूढ़ है, तो भी चित्तरूपी उपाधिविशेषके भेदसे उत्तरोत्तर प्रकट हुए कूटस्थ नित्य एकरूप आत्माका ऐश्वर्यशक्तिविशेषसे भेद 'तस्य य०' ( उस उक्थरूप पुरुषके शरीरमें वर्तमान चिद्रूप आत्माको जो पुरुष अतिशय जानता है—उपासना करता है ) इस श्रुतिमें सुना जाता है। और यही विषय 'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं०' ( जो जो ऐश्वर्यशाली पदार्थ श्रीमत् अथवा उत्कृष्ट है, उसको तुम मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुआ जानो ) इस स्मृतिमें भी है। जहाँ जहाँ विभूति आदिका अतिशय है, उसकी ईश्वर समझकर उपासना करनी चाहिए ऐसा विधान है। इसी प्रकार यहाँ ( सूत्रमें )

---

रत्नप्रभा

म्याद् ऐश्वर्यज्ञानसुखरूपशक्तीनां तारतम्यरूपा विशेषा भवन्ति तैः एकरूपस्य आत्मन उत्तरोत्तरं मनुष्यादिहिरण्यगर्भान्तेषु आविर्भावतारतम्यं श्रूयते । तस्य आत्मन आत्मानं स्वरूपं आविस्तरां प्रकटतरं यो वेद उपास्ते सोऽश्नुते तदिति तरप्प्रत्ययाद् इत्यर्थः । तथा च निकृष्टोपाधिः आत्मैवोपासकः, उत्कृष्टोपाधिः ईश्वर उपास्यः, इति औपाधिकं तारतम्यम् अविरुद्धम् इति भावः । अत्राऽर्थे भगवद्गीताम् उदाहरति—स्मृताविति । अत्र सूर्यादेरपि न जीवत्वेनोपास्यता,

रत्नप्रभाका अनुवाद

समाधान करते हैं—"यद्यप्येक" इत्यादिसे । उक्त उपाधियोंकी शुद्धिके तारतम्यसे ऐश्वर्य, ज्ञान और सुखरूप शक्तिके तारतम्य होते हैं, उन भेदोंसे एकरूप आत्माका मनुष्य आदिसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्तमें न्यूनाधिकरूपसे आविर्भाव सुना जाता है । जो आत्माके सविशेष रूपकी उपासना करता है, वह अतिशय प्राप्त करता है, ऐसा 'तरप्' प्रत्ययसे मालूम होता है । इस कारण निकृष्ट उपाधिवाला आत्मा ही उपासक है और उत्कृष्ट उपाधिवाला ईश्वर उपास्य है, इस प्रकार उपाधिसे हुआ तारतम्य अविरुद्ध है । उपास्य ईश्वरका तारतम्य भगवद्गीतासे भी सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"स्मृतावपि" इत्यादिसे ।

भाष्य

एवमिहाऽप्यादित्यमण्डले हिरण्मयः पुरुषः सर्वपाप्मोदयलिङ्गात् पर एवेति वक्ष्यति। एवं 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' ( ब्र० सू० १।१।२२ ) इत्यादिषु द्रष्टव्यम् । एवं सद्योमुक्तिकारणमप्यात्मज्ञानमुपाधिविशेषद्वारेणोपदिश्यमानमप्यविवक्षितोपाधिसंबन्धविशेषं परापरविषयत्वेन सन्दिह्यमानं वाक्यगतिपर्यालोचनया निर्णेतव्यं भवति। यथेहैव तावत् 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति। एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यत इति प्रदर्शयितुं परो ग्रन्थ आरभ्यते। यच्च 'गतिसामान्यात्' इत्यचेतनकारणनिराकरणमुक्तम्, तदपि वाक्यान्तराणि ब्रह्मविषयाणि व्याचक्षाणेन ब्रह्मविपरीतकारणनिषेधेन प्रपञ्च्यते—

भाष्यका अनुवाद

भी आदित्यमण्डलमें हिरण्मय पुरुष है, वह सब पापोंके संसर्गसे रहित होनेके कारण परमात्मा ही है ऐसा आगे कहेंगे, उसी प्रकार 'आकाश०' इत्यादि स्थलोंमें समझना चाहिए। इस प्रकार सद्योमुक्तिका[१] कारण आत्मज्ञान भी उपाधिविशेष द्वारा उपदिष्ट होनेसे और उपाधिसंबन्धविशेषकी विवक्षा न होनेसे परविषयक[२] है अथवा अपरविषयक[३] है, ऐसा सन्देह होता है, अतः तात्पर्यका पर्यालोचन करके उसका निर्णय करना चाहिए। जैसे कि यहीं 'आनन्दमयो०' इस सूत्रमें किया है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म उपाधिसंबन्धकी अपेक्षा होनेसे उपास्य और उपाधिसंबन्धरहित होनेसे ज्ञेय है, ऐसा वेदान्तोंमें उपदेश किया गया है, यह दिखलानेके लिए अब आगेके ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है। वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्मकी समान अवगति होनेसे अचेतन कारणका जो निराकरण किया है, उसका भी ब्रह्मविषयक दूसरे वाक्योंका व्याख्यान करनेवाले सूत्रकार ब्रह्मभिन्न

रत्नप्रभा

किन्तु ईश्वरत्वेन इत्युक्तं भवति। तत्र सूत्रकारसम्मतिमाह—एवमिति। उदयः असम्बन्धः। एवं यस्मिन् वाक्ये उपाधिः विवक्षितः तद्वाक्यमुपासनापरम् इति वक्तुमुत्तरसूत्रसन्दर्भस्य आरम्भ इत्युक्त्वा यत्र न विवक्षितः तद्वाक्यं ज्ञेयब्रह्मपरमिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसमें सूर्य आदि भी जीवस्वरूपसे उपास्य नहीं हैं, किन्तु ईश्वररूपसे उपास्य हैं ऐसा तात्पर्य है। उसमें सूत्रकारकी संमति कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। उदय—असंबन्ध। इस प्रकार जिस वाक्यमें उपाधि विवक्षित है, वह वाक्य उपासनापरक है, यह दिखानेके

( १ ) तुरन्त मुक्ति। ( २ ) परब्रह्म जिसका विषय है। ( ३ ) अपरब्रह्म जिसका विषय है।

# आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

**पदच्छेद**—आनन्दमयः, अभ्यासात् ।

**पदार्थोक्ति**—आनन्दमयः—'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इति श्रुतौ आनन्दमयः [ परमात्मैव, न जीवः, कुतः ] अभ्यासात्—आनन्दशब्दस्य बहुश्रुतिषु ब्रह्मण्येव प्रयोगदर्शनात् ।

**भाषार्थ**—'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इस श्रुतिमें 'आनन्दमय' शब्दसे परमात्मा ही लिया गया है, जीव नहीं लिया गया है, क्योंकि अनेक श्रुतियोंमें ब्रह्मके लिए ही आनन्द शब्दका प्रयोग देखा गया है ।

*भाष्य*

**तैत्तिरीयकेऽन्नमयम्, प्राणमयम्, मनोमयम्, विज्ञानमयम्, चाऽनुक्रम्य आम्नायते—'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः'**

*भाष्यका अनुवाद*

कारणके निषेधसे विस्तार करेंगे । तैत्तिरीयक उपनिषद्में क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमयको आत्मा कहकर—'तस्माद्वा०' ( उस विज्ञानमयसे भिन्न उससे अन्तर आत्मा आनन्दमय है ) इस श्रुतिसे आनन्दमय

---

*रत्नप्रभा*

निर्णयार्थमारम्भ इत्याह—**एवं सद्य इति** । अन्नमयादिकोशा उपाधिविशेषाः । वाक्यगतिः तात्पर्यम् । आरम्भसमर्थनमुपसंहरति—**एवमेकमपीति** । सिद्धवदुक्तगतिसामान्यस्य साधनार्थमप्युत्तरारम्भ इत्याह—**यच्चेति** । अन्नं प्रसिद्धं प्राणमनोबुद्धयः हिरण्यगर्भरूपाः, बिम्बचैतन्यम् ईश्वर आनन्दः, "तेषां पञ्चानां विकारा

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

लिए उत्तर ग्रन्थका आरम्भ है, ऐसा कहकर जिसमें उपाधि विवक्षित नहीं है, वह वाक्य ज्ञेय ब्रह्मपरक है, यह निर्णय करनेके लिए आरम्भ है ऐसा कहते हैं—"एवं सद्यः" इत्यादिसे । अन्नमय आदि कोश उपाधिविशेष हैं । 'वाक्यगतिः'–तात्पर्य । उत्तरसूत्र सन्दर्भके आरम्भके समर्थनका उपसंहार करते हैं—"एवमेकमपि" इत्यादिसे । वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य सिद्ध ब्रह्ममें है ऐसा पहले कहा जा चुका है, उसको सिद्ध करनेके लिए भी अग्रिम ग्रन्थका आरम्भ है ऐसा कहते हैं—"यच्च" इत्यादिसे । अन्न प्रसिद्ध है, प्राण, मन और बुद्धि ये तीन हिरण्यगर्भरूप हैं, बिम्बचैतन्य—ईश्वर

भाष्य

( तै० २।५ ) इति। तत्र संशयः—किमिहाऽऽनन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मो-च्यते यत् प्रकृतम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति, किं वाऽन्नमया-दिवद् ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति। किं तावत् प्राप्तम्, ब्रह्मणोऽर्थान्तरममुख्य आत्माऽऽनन्दमयः स्यात्। कस्मात्? अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वात्। अथापि स्यात् सर्वान्तरत्वादानन्दमयो मुख्य एवाऽऽत्मेति। न स्यात्,

भाष्यका अनुवाद

आत्मा कहा है। इसमें संशय होता है कि यहां पर आनन्दमय शब्दसे 'सत्यं ज्ञान०' ( ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त है ) इस प्रस्तुत परब्रह्मका ही प्रतिपादन है अथवा अन्नमय आदिके समान ब्रह्मसे भिन्न पदार्थका प्रतिपादन है।

पूर्वपक्षी—आनन्दमय शब्दसे ब्रह्मसे भिन्न जीव अमुख्य आत्माका प्रति-पादन किया गया है; क्योंकि आनन्दमयका उस स्थलपर वर्णन हुआ है, जहांपर कि अन्नमय आदि अमुख्य आत्माका वर्णन है।

सिद्धान्ती—सर्वान्तर होनेके कारण आनन्दमय मुख्य आत्मा ही होना चाहिए।

---

रत्नप्रभा

आध्यात्मिका देहप्राणमनोबुद्धिजीवा अन्नमयादयः पञ्चकोशाः" इति श्रुतेः परमार्थः। पूर्वाधिकरणे गौणमुख्येक्षणयोः अतुल्यत्वेन संशयाभावाद् गौणप्रायपाठो न निश्चायक इत्युक्तं तर्हि मयटो विकारे प्राचुर्ये च मुख्यत्वात् संशये विकारप्रायपाठादानन्दविकारो जीव आनन्दमय इति निश्चयोऽस्ति इति प्रत्युदाहरणसङ्गत्या पूर्वपक्षमाह—**किं तावदिति**। आनन्दमयपदस्य अमुख्यार्थग्रहे हेतुं पृच्छति—**कस्मादिति**। विकारप्रायपाठ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आनन्द है। अन्न, प्राण, मन, बुद्धि और आनन्द इन पांचोंके विकार आध्यात्मिक देह, प्राण, मन, बुद्धि जीव ये पांच अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पञ्चकोश हैं, यह श्रुतिका तात्पर्यार्थ है। पीछे ईक्षत्यधिकरणमें गौण ईक्षण और मुख्य ईक्षण इन दोनोंके तुल्य न होनेसे संशयका उदय नहीं होता इससे गौणप्रचुर पाठ निश्चायक नहीं है ऐसा कहा है, तो 'आनन्दमय' में मयट् प्रत्यय विकार और प्राचुर्य दोनों अर्थोंमें मुख्य है, उन दोनोंके तुल्य होनेसे संशय उत्पन्न होता है कि यहाँपर मयट् विकारार्थक है अथवा प्राचुर्यार्थक है। संशय उत्पन्न होनेपर विकारप्रकरणमें ( अन्नमय आदिमें ) आनन्दका पाठ होनेसे निश्चय होता है कि आनन्दका विकार जीव आनन्दमय है। इस प्रकार प्रत्युदाहरणकी संगति दिखलाकर पूर्वपक्ष करते हैं— 'किं तावत्' इत्यादिसे। आनन्दमय पदके अमुख्य ( गौण ) अर्थके ग्रहणमें कारण पूछते

भाष्य

प्रियाद्यवयवयोगाच्छारीरत्वश्रवणाच्च। मुख्यश्चेदात्माऽऽनन्दमयः स्यान्न प्रियादिसंस्पर्शः स्यात्। इह तु 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादि श्रूयते। शारीरत्वं च श्रूयते—'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' इति। तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शारीर आत्मा य एष आनन्दमय इत्यर्थः। न च सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियसंस्पर्शो वारयितुं शक्यः। तस्मात् संसार्येवाऽऽनन्दमय आत्मा, इत्येवं प्राप्त इदमुच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। पर एव आत्माऽऽनन्दमयो भवितुमर्हति। कुतः? अभ्यासात्। परस्मि-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—नहीं आनन्दमय मुख्य आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुतिने आत्माके प्रिय आदि अवयवों और शरीरके साथ सम्बन्धका प्रतिपादन किया हैं। आनन्दमय यदि मुख्य आत्मा होता, तो उससे प्रिय आदिका संबन्ध न होता। परन्तु यहाँ श्रुति 'तस्य प्रिय०' (उसका प्रियही शिर है) इत्यादिका प्रतिपादन करती है। और शारीरत्व भी 'तस्यैष एव०' (यह जो आनन्दमय आत्मा है, उस पूर्वका—विज्ञानमयका यही शारीर—शरीरान्तर्गत है) इस श्रुतिसे प्रतिपादित है। उस पूर्वका अर्थात् विज्ञानमय आत्माका यही शारीर आत्मा है, यह जो आनन्दमय है ऐसा श्रुतिका अर्थ है। और सशरीर आत्मामें प्रिय और अप्रियके संबन्धका निवारण नहीं किया जा सकता। इस कारण आनन्दमय संसारी—जीव ही है।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उसके खण्डनके लिए 'आनन्दमयो०' यह सूत्र कहा जाता है। परमात्माको ही आनन्दमय कहना उचित है,

रत्नप्रभा

हेतुमाह—**अन्नमयादीति**। श्रुत्यादिसंगतयः स्फुटा एव। पूर्वपक्षे वृत्तिकारमते जीवोपास्त्या प्रियादिप्राप्तिः फलम्, सिद्धान्ते तु ब्रह्मोपास्त्या इति भेदः। शङ्कते—**अथापीति**। परिहरति—**न स्यादिति**। संगृहीतं विवृणोति—**मुख्य**

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"कस्मात्" से। विकारप्रायपाठरूप हेतु कहते हैं—"अन्नमयादि" इत्यादिसे। श्रुति आदि संगतियां स्पष्ट ही हैं। पूर्वपक्षमें अर्थात् वृत्तिकारके मतमें जीवकी उपासनासे प्रिय आदिकी प्राप्ति फल है। सिद्धान्तमें ब्रह्मकी उपासनासे प्रिय आदिकी प्राप्ति फल है, दोनोंमें यही अन्तर है। "अथापि" इत्यादिसे शङ्का करते हैं। "न स्यात्" इत्यादिसे शङ्काका परिहार करते हैं। सङ्कलित अर्थका विवरण करते हैं—"मुख्य" इत्यादिसे। 'मुख्य आत्मा'—परमात्मा। शरीरयुक्त होनेपर भी वह ईश्वर क्यों न कहा जाय इस शङ्कापर कहते हैं—"न च"

भाष्य

त्मेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते। आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वै सः' इति तस्यैव रसत्वमुक्त्वोच्यते—'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति। 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति' (तै० २।७) 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति,(तै० २।८।१) एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति

भाष्यका अनुवाद

क्यों ? अभ्याससे। परमात्मामें ही आनन्दशब्द बारबार प्रयुक्त हुआ है, आनन्दमयको प्रस्तुत करके 'रसो०' इस प्रकार उसका रसत्व कहकर 'रसं ह्येवायं०' (यह पुरुष रसको ही प्राप्त करके आनन्दयुक्त होता है) 'को ह्येवान्यात्कः०' (यदि आकाश—पूर्ण परब्रह्मरूप यह आनन्द न होता, तो कौन चेष्टा करता और कौन जीता, यह परमात्मा ही आनन्द प्राप्त कराता है) 'सैषानन्दस्य०' (यह आनन्दकी विचारणा होती है) 'एतमानन्दमयं०'

---

रत्नप्रभा

इति। परमात्मेत्यर्थः। शारीरत्वेऽपि ईश्वरत्वं किं न स्यादित्यत आह—न चेति। जीवत्वं दुर्वारमित्यर्थः। ननु आनन्दपदाभ्यासेऽपि आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वं कथम् इत्याशङ्क्य ज्योतिष्टोमाधिकारे ज्योतिष्पदस्य ज्योतिष्टोमपरत्ववत् आनन्दमय-प्रकरणस्थानन्दपदस्य आनन्दमयपरत्वात् तदभ्यासः तस्य ब्रह्मत्वसाधक इति अभिप्रेत्य आह—**आनन्दमयं प्रस्तुत्येति**। रसः—सारः आनन्द इत्यर्थः। अयं लोकः, यद् यदि एष आकाशः पूर्णः आनन्दः साक्षी प्रेरको न स्यात्, तदा को वा अन्यात् चलेत्, को वा विशिष्य प्राण्यात् जीवेत्, तस्माद् एष एव आनन्दयाति आनन्दयतीत्यर्थः। "युवा स्यात् साधुयुवा" [ तै० २।८।१ ]

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि। जीवत्वका निवारण करना कठिन है ऐसा आशय है। यहाँपर शङ्का होती है कि 'आनन्द' पदका अभ्यास होनेपर भी 'आनन्दमय' ब्रह्मवाचक किस प्रकार है ऐसी शङ्का करके उसका समाधान करते हैं कि जैसे ज्योतिष्टोमके प्रकरणमें पठित 'ज्योतिः' पदका अर्थ ज्योतिष्टोम है, उसी प्रकार आनन्दमय प्रकरणमें पठित आनन्दपद आनन्दमयपरक है, आनन्दपदका अभ्यास आनन्दमयमें ब्रह्मत्वका साधक है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—"आनन्दमयं प्रस्तुत्य" इत्यादि। रस—सार, अर्थात् आनन्द। यह—जन। यदि यह पूर्ण, साक्षी प्रेरणा करनेवाला आनन्द न होता तो कौन चेष्टा करता और कौन जीता, इसलिए यह आनन्दरूप आत्मा ही सबको आनन्द देता है यह श्रुतिका अर्थ है। 'युवा स्यात्०'

भाष्य

कुतश्चन' ( तै० २।८,९ ) इति । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' ( तै० ३।६ ) इति च । श्रुत्यन्तरे च—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ( बृ० ३।९।२८ ) इति ब्रह्मण्येवाऽऽनन्दशब्दो दृष्टः । एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासादानन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते । यत्तूक्तम्—"अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्याऽप्यमुख्यत्वमिति, नाऽसौ दोषः । आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात् । मुख्यमेव

भाष्यका अनुवाद

( विद्वान् उस आनन्दमय आत्माको प्राप्त करता है ) 'आनन्दं०' आनन्दरूप ( ब्रह्मको जाननेवाला किसीसे भय नहीं करता ) और 'आनन्दो०' ( आनन्द ब्रह्म है ऐसा भृगुने समझा ) ऐसा श्रुति कहती है । दूसरी श्रुतिमें भी 'विज्ञानमानन्दं०' ( विज्ञान आनन्द ब्रह्म है ) इस प्रकार ब्रह्ममें ही आनन्दशब्द देखनेमें आता है । इसी प्रकार आनन्दशब्दका ब्रह्मरूप अर्थमें बहुत बार प्रयोग हुआ है, अतः आनन्दमय आत्मा ब्रह्म ही है ऐसा ज्ञात होता है । यह जो कहा था कि अन्नमय आदि अमुख्य आत्माओंकी परम्परामें पठित होनेके कारण आनन्दमय आत्मा भी अमुख्य ही है, यह दोष नहीं है,

---

रत्नप्रभा

इत्यादिना वक्ष्यमाणमनुष्ययुवानन्दम् आरभ्य ब्रह्मानन्दावसाना एषा सन्निहिता आनन्दस्य तारतम्यमीमांसा भवति । उपसंक्रामति विद्वान् प्राप्नोति इति एकदेशिनामर्थः । मुख्यसिद्धान्ते तु उपसंक्रमणं विदुषः कोशानां प्रत्यङ्मात्रत्वेन विलापनमिति ज्ञेयम् । शिष्टमुक्तार्थम् । आनन्दशब्दाद् ब्रह्मावगतिः सर्वत्र समाना इति गतिसामान्यार्थमाह—**श्रुत्यन्तरे चेति** । लिङ्गात् अमुख्यात्मसन्निधेः बाध इति मत्वा आह—**नासाविति** । सर्वान्तरत्वं न श्रुतम् इत्याशङ्क्य ततोऽन्यस्य अनुक्तेः तस्य सर्वान्तरत्वमिति विवृणोति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार ब्रह्मवल्लीके आठवें अनुवाकमें युवा पुरुषके आनन्दसे लेकर ब्रह्मानन्दपर्यन्त आनन्दके तारतम्यकी आलोचना की है । 'उपसंक्रामति'—विद्वान् प्राप्त करता है यह एकदेशीके मतसे अर्थ है । मुख्य सिद्धान्तमें तो कोशोंको प्रत्यग् (आत्म) रूपसे देखता है ऐसा कोशोंका विलापन अर्थ समझना चाहिए । अवशिष्ट ग्रन्थ स्पष्टार्थ है । सर्वत्र आनन्द शब्दसे ब्रह्मकी ही अवगति होती है, इस विषयमें प्रमाणरूपसे दूसरी श्रुतियोंको उद्धृत करते हैं—"श्रुत्यन्तरे च" इत्यादिसे । सर्वान्तरत्वरूप हेतुसे अमुख्य आत्माकी सन्निधिका बाध होता है ऐसा समझकर "नाऽसौ"

### भाष्य

ह्यात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरत् अन्नमयं शरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽन्तरमित्येवं पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राहयत् प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरं मुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरम्। यथाऽरुन्धतीनिदर्शने बह्वीष्वपि तारास्वमुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु याऽन्त्या प्रदर्श्यते सा मुख्यैवाऽरुन्धती भवति, एवमिहाऽप्यानन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात् मुख्यमात्मत्वम्।

### भाष्यका अनुवाद

क्योंकि आनन्दमय आत्मा सबका अन्तर है। मुख्य आत्माका ही उपदेश करनेकी इच्छावाले शास्त्रने लोकबुद्धिके अनुसार अत्यन्त मूढ़ोंमें आत्मारूपसे प्रसिद्ध अनात्मा अन्नमय शरीरका अनुवाद करके सांचेमें डाले हुए तांबेके रस आदिकी प्रतिमाके समान उससे अन्तर, उससे अन्तर इस प्रकार पूर्व पूर्व अनात्माके समान उत्तरोत्तर अनात्माका ज्ञानसौकर्यके लिए आत्मारूपसे ग्रहण कराके बादमें सबके अन्तर मुख्य आनन्दमय आत्माका उपदेश किया है ऐसा कहना सर्वथा युक्त है। जैसे अरुन्धतीके दर्शन करानेमें बहुत तारोंको असुख्य अरुन्धतीरूपसे दिखलानेके बाद जो अन्तका तारा दिखलाया जाता है, वह मुख्य अरुन्धती ही होती है, उसी प्रकार यहाँ भी आनन्दमय सबका अन्तर होनेके कारण मुख्य आत्मा ही है। यह जो कहते हो कि मुख्य

---

### रत्नप्रभा

मुख्यमिति। लोकबुद्धिमिति। तस्याः स्थूलग्राहितामनुसरत् इत्यर्थः। ताम्रस्य मूषाकारत्ववत् प्राणस्य देहाकारत्वं देहेन सामान्यम्, तथा मनः प्राणाकारं तेन सममित्याह—**पूर्वेणेति**। अतीतो योऽनन्तर उपाधिः विज्ञानकोशः

### रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि कहते हैं। आनन्दमय सर्वान्तर है, यह श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, इस कारण वही सर्वान्तर है ऐसा विवरण करते हैं—"मुख्यमेव" इत्यादिसे। "लोकबुद्धि०"—लोकबुद्धिकी स्थूलग्राहिताका अनुसरण करता हुआ। जैसे तांबा सांचेके आकारमें हो जाता है, वैसे ही प्राण देहके आकारमें होता है अर्थात् देहके समान होता है, वैसे ही मन प्राणाकार होता है, अर्थात् प्राणके समान होता है ऐसा कहते हैं—"पूर्वेण" इत्यादिसे। लगी हुई पिछली उपाधि—विज्ञानमय कोश। तत्कृत-उस उपाधिके संबन्धसे सावयवत्वकी कल्पना

भाष्य

यत्तु ब्रूषे--प्रियादीनां शिरस्त्वादिकल्पनाऽनुपपन्ना मुख्यस्याऽऽत्मन इति । अतीतानन्तरोपाधिजनिता सा न स्वाभाविकीत्यदोषः । शारीरत्वमप्यानन्दमयस्याऽन्नमयादिशरीरपरम्परया प्रदर्श्यमानत्वात्, न पुनः साक्षादेव शारीरत्वं संसारिवत्, तस्मादानन्दमयः पर एवाऽऽत्मा ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

आनन्दमय आत्माका प्रिय शिर है इत्यादि कल्पना करना ठीक नहीं है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि वह कल्पना अत्यन्त सन्निहित पिछली उपाधिसे हुई है, स्वाभाविक नहीं है । आनन्दमयका शारीरत्व भी अन्नमय आदि शरीर-परम्परासे दिखलाया गया है, संसारी जीवके समान साक्षात् नहीं है । इस कारण आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १२ ॥

---

रत्नप्रभा

तत्कृता सावयवत्वकल्पना शरीरेण ज्ञेयत्वात् शारीरत्वमिति लिङ्गद्वयं दुर्बलम्, अतः सहायाभावाद् अभ्याससर्वान्तरत्वाभ्यां विकारसन्निधेः बाध इति भावः॥१२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है और शरीरसे ज्ञेय होनेके कारण शारीर है । इस प्रकार सावयवत्व कल्पना और शारीरत्व ये दोनों हेतु दुर्बल हैं, इस लिए सहाय न होनेसे अभ्यास और सर्वान्तरत्वसे विकार-संनिधिका बाध है ऐसा तात्पर्य है ॥ १२ ॥

---

( १ ) विकार वाचक अन्नमय आदि शब्दोंके समीपमें आनन्दमय शब्द है, वह सामीप्य ।
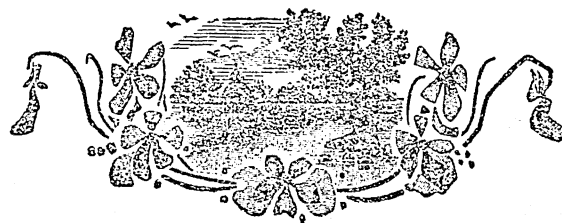
# विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

**पदच्छेद**—विकारशब्दात्, न, इति, चेत्, न, प्राचुर्यात्।

**पदार्थोक्ति**—विकारशब्दात्—मयट्प्रत्ययस्य विकारवाचकत्वात्, न—आनन्दमयः न परमात्मा, इति चेत् न, प्राचुर्यात्—प्राचुर्यार्थेऽपि मयट्प्रत्ययविधानात् [ आनन्दमयः परमात्मैव ]

**भाषार्थ**—मयट् प्रत्यय विकाररूप अर्थका वाचक है, अतः ब्रह्म आनन्दमय शब्दका अर्थ नहीं है, [ क्योंकि ब्रह्म आनन्दका विकार नहीं हो सकता है ] यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्राचुर्यरूप अर्थमें भी मयट् प्रत्ययका विधान है, [ ब्रह्म आनन्दप्रचुर हो सकता है ] अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।
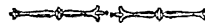
*भाष्य*

अत्राह—नाऽऽनन्दमयः पर आत्मा भवितुमर्हति। कस्मात्, विकारशब्दात्। प्रकृतिवचनादयमन्यः शब्दो विकारवचनः समधिगतः, आनन्दमय इति मयटो विकारार्थत्वात्। तस्मादन्नमयादिशब्दवद्विकार-

*भाष्यका अनुवाद*

यहाँपर पूर्वपक्षी कहता है कि आनन्दमय परमात्मा नहीं हो सकता है। क्यों नहीं हो सकता, इसलिए कि मयट् प्रत्ययका अर्थ विकार है, यह आनन्दमय शब्द प्राचुर्यवाचक आनन्दमय शब्दसे भिन्न विकारवाचक समझा जाता है, मयट् प्रत्यय विकारवाचक है। अतः अन्नमय आदि शब्दके समान आनन्दमय शब्द भी

---

*रत्नप्रभा*

विकारार्थकमयट् श्रुतिसहाय इत्याशङ्क्य मयटः प्राचुर्येऽपि विधानाद् मैवमित्याह—**विकारेत्यादिना**। "तत्प्रकृतवचने मयड्" ( पा० सू० ५।४।२१ ) इति। तदिति प्रथमासमर्थात् शब्दात् प्राचुर्यविशिष्टस्य प्रस्तुतस्य वचनेऽभिधाने

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

मयट् प्रत्ययका विकाररूप अर्थ श्रुतिका सहायक है ऐसी आशङ्का करके प्राचुर्यरूप अर्थमें भी मयट् का विधान है, केवल विकारार्थक ही मयट् नहीं है ऐसा कहते हैं—"विकार" इत्यादिसे। 'तत्प्रकृत०' इस सूत्रमें प्रथमान्त शब्दसे प्राचुर्यविशिष्ट प्रस्तुत अर्थके अभिधानमें मयट् प्रत्यय होता है,

भाष्य

विषय एवाऽऽनन्दमयशब्द इति चेत्, न; प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात्। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पा० सू० ५।४।२१) इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते। यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इति अन्नप्रचुर उच्यते, एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्म आनन्दमयम् उच्यते। आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात्। तस्मात् प्राचुर्यार्थे मयट्॥ १३॥

भाष्यका अनुवाद

विकारार्थक ही है। ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि प्राचुर्यरूप अर्थमें भी मयट् होता है। 'तत्प्रकृत०' (प्राचुर्यसे प्रस्तुत जो प्रकृत तद्वाचक शब्दसे मयट् प्रत्यय होता है) इस सूत्रसे प्राचुर्यमें भी मयट् कहा गया है। जैसे अन्नप्रचुर याग अन्नमय यज्ञ कहलाता है। और ब्रह्म आनन्द प्रचुर है, क्योंकि मनुष्यत्वसे आरम्भ करके मनुष्यगन्धर्व आदि उत्तरोत्तर स्थानमें सौगुना आनन्द है यह कहकर ब्रह्मानन्द निरतिशय है ऐसा निश्चय किया है। इस कारण प्राचुर्यरूप अर्थमें मयट् प्रत्यय है॥१३॥

---

रत्नप्रभा

गम्यमाने मयट्प्रत्ययो भवतीति सूत्रार्थः। अत्र वचनग्रहणात् प्रकृतस्य प्राचुर्यवैशिष्ट्यसिद्धिः। तादृशस्य लोके मयटोऽभिधानाद् यथा अन्नमयो यज्ञ इति। अत्र ह्यन्नं प्रचुरमस्मिन् इति अन्नशब्दः प्रथमाविभक्तियुक्तः, तस्माद् मयट् यज्ञस्य प्रकृत्यर्थान्नप्राचुर्यवाची दृश्यते, न शुद्धप्रकृतवचन इति ध्येयम्॥ १३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा सूत्रका अर्थ है। इसमें 'वचन' का ग्रहण किया है, अतः प्रकृत प्राचुर्यविशिष्ट होना चाहिए ऐसा सिद्ध होता है, क्योंकि उसीका लोकमें मयट् प्रत्ययसे अभिधान होता है, जैसे कि 'अन्नमयो यज्ञः' इसमें, अन्न है प्रचुर जिसमें इस प्रकार अन्न शब्द प्रथमाविभक्तियुक्त है, इसलिए उससे मयट् प्रत्यय होता है और वह यज्ञके प्रकृत्यर्थ अन्नकी प्रचुरताका वाचक है, केवल प्रकृतवचन नहीं है॥१३॥

# तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

**पदच्छेद**—तद्धेतुव्यपदेशात्, च ।

**पदार्थोक्ति**—तद्धेतुव्यपदेशात्—'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्' इति श्रुतौ सकलजीवानन्दहेतुत्वस्य ब्रह्मणि कथनात् च—अपि [ आनन्दमयः परमात्मैव ] ।

**भाषार्थ**—'को ह्येवान्यात्०' इस श्रुतिमें सब जीवोंके आनन्दके प्रति ब्रह्म ही कारण कहा गया है, इस कारण भी आनन्दमय परमात्मा ही है ।
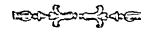
*भाष्य*

इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट् । यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः—'एष ह्येवानन्दयाति' इति । आनन्दयतीत्यर्थः । यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति । यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत् । तस्मात् प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः सम्भवादानन्दमयः पर एवाऽऽत्मा ॥ १४ ॥

*भाष्यका अनुवाद*

और इस कारण भी मयट् प्राचुर्यार्थक है कि ब्रह्म आनन्दका हेतु है ऐसा 'एष ह्येवा०' ( निश्चय यही आनन्द देता है ) यह श्रुति कहती है । 'आनन्दयाति' अर्थात् 'आनन्दयति' ( आनन्द देता है ) । जो दूसरेको आनन्द देता है, वह निस्सन्देह प्रचुर आनन्दयुक्त है यह प्रसिद्ध है। जैसे कि लोकमें जो अन्यको धनी बनाता है, वह प्रचुर धनयुक्त है यह जाना जाता है । इस कारण मयट् प्राचुर्यरूप अर्थका भी प्रतिपादक है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १४ ॥

---

*रत्नप्रभा*

सूत्रस्थचशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थ इति मत्वा व्याचष्टे—इतश्चेति । तच्च अनुक्तं ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणं पूर्वमुक्तम् ॥ १४ ॥

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

सूत्रमें पठित 'च' शब्द अनुक्त पदार्थका संग्रह कराता है ऐसा समझकर व्याख्यान करते हैं—"इतश्च" इत्यादिसे । अकथित विषय है—ब्रह्मानन्दको निरतिशय समझना । यह पीछे कहा गया है ॥१४॥

## मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

**पदच्छेद**—मान्त्रवर्णिकम्, एव, च, गीयते ।

**पदार्थोक्ति**—मान्त्रवर्णिकमेव च—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति मन्त्रवर्णे निर्धारितं ब्रह्मैव गीयते—आनन्दमयवाक्ये कथ्यते [ तस्मात् आनन्दमयः परमात्मैव ]

**भाषार्थ**—'सत्यं ज्ञानम्' इस मन्त्रमें निर्धारित ब्रह्म ही 'अन्योऽन्तर आत्मा-नन्दमयः' इस वाक्यमें कहा जाता है, क्योंकि वही प्रकरणप्राप्त है, अतः आनन्द-मय परमात्मा ही है ।

### भाष्य
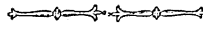
इतश्चाऽऽनन्दमयः पर एवाऽऽत्मा, यस्मात् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युपक्रम्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इत्यस्मिन् मन्त्रे यत् प्रकृतं ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तविशेषणैर्निर्धारितम्, यस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्ग-मानि भूतान्यजायन्त, यच्च भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थितं

### भाष्यका अनुवाद

और इस कारण भी आनन्दमय परमात्मा ही है कि 'ब्रह्मविदा०' ( ब्रह्म-वेत्ता पर—ब्रह्मको पाता है ) ऐसा उपक्रम करके 'सत्यं ज्ञान०' ( ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त है ) इस मंत्रमें सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप विशेषणोंसे जिस प्रकृत ब्रह्मका निश्चय किया है, जिससे आकाश आदि क्रमसे स्थावर और जङ्गम भूत उत्पन्न हुए हैं, जो भूतोंको उत्पन्न करके उनमें प्रवेश करके बुद्धि रूप

---

### रत्नप्रभा

आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे लिङ्गमुक्त्वा प्रकरणमाह—**मान्त्रेति** । यस्मादेवं प्रकृतं तस्माद् तत् मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मानन्दमय इति वाक्ये गीयते इति योजना । ननु मन्त्रोक्तमेवाऽत्र ग्राह्यमिति को निर्बन्धः तत्राह—**मन्त्रेति** । ब्राह्मणस्य

### रत्नप्रभाका अनुवाद

लिङ्गसे आनन्दमय ब्रह्म है यह प्रतिपादन करके अब प्रकरणसे प्रतिपादन करते हैं—"मान्त्र" इत्यादिसे । मंत्रमें वर्णित प्रस्तुत ब्रह्म ही वाक्यमें आनन्दमय कहा जाता है ऐसी सूत्रकी योजना है । मंत्रोक्त ही यहाँ ग्रहण करना चाहिए, इसमें क्या आग्रह है ? इसपर कहते हैं—"मन्त्र" इत्यादि । ब्राह्मण मंत्रका व्याख्यान-

भाष्य

सर्वान्तरम्, यस्य विज्ञानाय 'अन्योऽन्तर आत्माऽन्योऽन्तर आत्मा' इति प्रक्रान्तं तन्मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मेह गीयते 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' ( तै० २।५ ) इति। मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तम्, अविरोधात्। अन्यथा हि प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये स्याताम्। न चाऽन्नमयादिभ्य इवाऽऽनन्दमयादन्योऽन्तर आत्माऽभिधीयते। 'एतन्निष्ठैव च सैषा भार्गवी वारुणी विद्या' ( तै० ३।६ ) तस्मादानन्दमयः पर एवाऽऽत्मा ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

गुहामें स्थित एवं सर्वान्तर है और जिसके ज्ञानके लिए दूसरा अन्तर आत्मा है दूसरा अन्तर आत्मा है ऐसा वर्णन किया है, वह मंत्रमें वर्णित ब्रह्म ही यहाँ 'अन्योऽन्तर०' इस श्रुतिमें कहा गया है। मंत्र और ब्राह्मणका एकार्थक होना ठीक है, क्योंकि उनमें विरोध नहीं है। अन्यथा—मंत्र और ब्राह्मणको एकार्थक न मानें, तो प्रकृतकी हानि और अप्रकृतकी प्रक्रिया—प्रस्तुत विषयको छोड़कर नई बातका प्रारम्भ करना—रूप दोष होगा। और जैसे अन्नमय आदिसे अन्य आत्माका अभिधान किया है, वैसे आनन्दमयसे अन्य आत्माका अभिधान नहीं किया है। और 'सैषा भार्गवी०' ( यह भृगुको वरुणकी दी हुई विद्या ) इस श्रुतिसे जिस ब्रह्मविद्याका वर्णन किया है, वह भी आनन्दमयमें ही परिसमाप्त होती है। अतः आनन्दमय परमात्मा ही है ॥१५॥

रत्नप्रभा

मन्त्रव्याख्यानत्वात् उपायत्वमस्ति; मन्त्रस्तु उपेयः, तदिदमुक्तम्—अविरोधादिति। तयोः उपायोपेयभावात् इत्यर्थः। तर्हि अन्नमयादीनामपि मान्त्रवर्णिकब्रह्मत्वं स्यात् इत्यत आह—न चेति। किञ्च, भृगवे प्रोक्ता वरुणेन उपदिष्टा भृगुवल्ली पञ्चमपर्यायस्थानन्दे प्रतिष्ठिता, ततः स्थानन्यायेन तदेकार्थब्रह्मवल्ल्या आनन्दमये निष्ठा इत्याह—एतन्निष्ठैवेति ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

रूप है, इस कारण वह उपाय है और मंत्र उपेय है, अतः "अविरोधात्" कहा है अर्थात् मंत्र और ब्राह्मणमें उपायोपेयभाव है। तब अन्नमय आदि भी मंत्रमें वर्णित ब्रह्म ही हों? इस शङ्कापर कहते हैं—"न च" इत्यादि। वरुणने अपने पुत्र भृगुको जो उपदेश किया है, उस भृगुवल्लीके पांचवें पर्यायमें आनन्दका उपदेश है और उसी आनन्दमें भृगुवल्लीके तात्पर्यका पर्यवसान है एवं ब्रह्मवल्ली भी उसी अर्थका द्योतन करती है, उसके भी पांचवें पर्यायमें आनन्दमयका वर्णन है, अतः स्थानन्यायसे ब्रह्मवल्लीके तात्पर्यका पर्यवसान भी आनन्दमयमें ही है ऐसा कहते हैं—"एतन्निष्ठैव" इत्यादिसे ॥ १५ ॥

## नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

**पदच्छेद**—न, इतरः, अनुपपत्तेः ।

**पदार्थोक्ति**—इतरः—जीवः, न—आनन्दमयो न भवति, [ कुतः ] अनुपपत्तेः—कामयितृत्वादिधर्म्माणाम् जीवेऽसम्भवात् [ अतः आनन्दमयः परमात्मैव ]

**भाषार्थ**—जीव आनन्दमय नहीं हो सकता है, क्योंकि 'सोऽकामयत' इस श्रुतिमें उक्त कामयितृत्व आदि धर्मका जीवमें संभव नहीं है, इस कारण आनन्दमय परमात्मा ही है ।

*भाष्य*
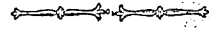
इतश्चाऽऽनन्दमयः पर एवाऽऽत्मा नेतरः । इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः । न जीव आनन्दमयशब्देनाऽभिधीयते । कस्मात्? अनुपपत्तेः । आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' ( तै० २।६ ) इति । तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते ॥ १६ ॥

*भाष्यका अनुवाद*

और इस कारण भी आनन्दमय परमात्मा ही है, इतर नहीं है । इतर अर्थात् संसारी जीव । आनन्दमय शब्दसे जीवका अभिधान नहीं होता । क्यों नहीं होता, इसलिए कि जीवमें आनन्दमयत्व उपपन्न नहीं होता है । आनन्दमयको प्रस्तुत करके श्रुति कहती है—'सोऽकामयत०' ( उसने कामना की कि बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ । उसने तप—विचार किया । उसने विचार कर यह जो कुछ है सब उत्पन्न किया । ) इस श्रुतिसे प्रतिपादित शरीर आदिकी उत्पत्तिके पूर्व चिन्तन, उत्पन्न किये जानेवाले विकारोंका स्रष्टासे अभेद और सर्वविकारकी सृष्टि परमात्माके सिवा अन्यमें उपपन्न नहीं होती ॥ १६ ॥

---

*रत्नप्रभा*

स ईश्वरः । तपः सृष्ट्यालोचनम् अतप्यत कृतवानित्यर्थः । अभिध्यानं कामना । बहु स्यामिति अव्यतिरेकः ॥ १६ ॥

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

सः—ईश्वर । तप किया—सृष्टिविषयक आलोचन किया । अभिध्यान—कामना, सृज्यविषयक इच्छा । 'बहु स्याम्' यह श्रुति सृज्यमान विकारोंका स्रष्टासे अभेद दिखलाती है ॥ १६ ॥

# भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

पदच्छेद—भेदव्यपदेशात्, च ।

पदार्थोक्ति—भेदव्यपदेशात् 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति श्रुतौ आनन्दमयस्य जीवाद् भेदकथनात्, च—अपि [ आनन्दमयः परमात्मैव, न जीवः ] ।

भाषार्थ—'रसं ह्येवायं' इस श्रुतिमें आनन्दमय जीवसे भिन्न है ऐसा कहा है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है, जीव नहीं है ।
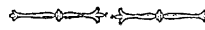
### भाष्य

**इतश्च नाऽऽनन्दमयः संसारी यस्मादानन्दमयाधिकारे—'रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तै० २।७) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। नहि लब्धैव लब्धव्यो भवति। कथं तर्हि 'आत्माऽन्वेष्टव्यः' 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति च श्रुतिस्मृती, यावता न**

### भाष्यका अनुवाद

और इस कारण भी आनन्दमय संसारी जीव नहीं है कि आनन्दमयके अधिकारमें 'रसो वै सः। रसं०' ( वह रस है, यह पुरुष रस पाकर ही आनन्दयुक्त होता है ) यह श्रुति जीव और आनन्दमयका भेदसे निर्देश करती है। क्योंकि प्राप्तिकर्ता ही प्राप्तिका कर्म नहीं होता है। तब 'आत्मान्वे०' ( आत्माका अन्वेषण करना चाहिए ) 'आत्मलाभान्न०' ( आत्मलाभसे बढ़कर कुछ नहीं

---

### रत्नप्रभा

अधिकारे प्रकरणे। सः आनन्दमयो रसः । ननु लब्धृलब्धव्यभावेऽपि अभेदः किं न स्यादत आह—**नहि लब्धैवेति**। ननु लब्धृलब्धव्ययोर्भेदस्य आवश्यकत्वे श्रुतिस्मृत्योः बाधः स्यादिति आशङ्कते—**कथमिति**। यावता यतः त्वया इति उक्तम्, अतः श्रुतिस्मृती कथमिति अन्वयः। उक्तां शङ्कामङ्गीकरोति—

### रत्नप्रभाका अनुवाद

अधिकार—प्रकरण। सः—आनन्दमय रस। लब्धा और लब्धव्यभाव होनेपर भी अभेद क्यों न हो इस शङ्कापर कहते हैं—"नहि लब्धैव" इत्यादि। यदि लब्धा और लब्धव्यमें भेद मानना आवश्यक हो तो श्रुति और स्मृतिका बाध होगा ऐसी शङ्का करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। क्योंकि तुमने ऐसा ( लब्धा ही लब्धव्य नहीं होता है ऐसा ) कहा है, अतः श्रुति और स्मृति कैसे संगत होती हैं ऐसा अन्वय है। "बाढम्" इत्यादिसे

भाष्य

लब्धैव लब्धव्यो भवतीत्युक्तम्। बाढम्। तथाप्यात्मनोऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सतस्तत्त्वानवबोधनिमित्तो मिथ्यैव देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः, तेन देहादिभूतस्याऽऽत्मनोऽप्यात्माऽनन्विष्टोऽन्वेष्टव्योऽलब्धो लब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्योऽविज्ञातो विज्ञातव्य इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते। प्रतिषिध्यत एव तु परमार्थतः सर्वज्ञात् परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' ( बृ० ३।७।२३ )

भाष्यका अनुवाद

है ) इत्यादि श्रुति और स्मृतियां कैसे उपपन्न होगीं ? जब कि लब्धा ही लब्धव्य नहीं होता ऐसा कहा है। ठीक है, जिसका आत्मभाव—स्वरूप नष्ट नहीं हुआ है अर्थात् अखण्ड, एकरस आत्माके यथार्थ स्वरूपके अज्ञानसे उत्पन्न हुए देह आदि अनात्म पदार्थोंमें आत्मत्वनिश्चय व्यवहारमें देखनेमें आता है। मिथ्याज्ञानसे देह आदिमें आत्मत्वनिश्चय होनेके कारण देहादिरूप आत्माका भी ( आत्मा अन्विष्ट नहीं है किन्तु अन्वेष्टव्य है, लब्ध नहीं है किन्तु लब्धव्य है, श्रुत नहीं है किन्तु श्रोतव्य है, मत नहीं है किन्तु मन्तव्य है, विज्ञात नहीं है किन्तु विज्ञातव्य है इत्यादि भेद कथन युक्त ही है। परमार्थ से तो सर्वज्ञ

रत्नप्रभा

**बाढमिति**। तर्हि आत्मन एव आत्मना लभ्यत्वोक्तिबाधः अभेदादिति आशङ्क्य कल्पितभेदात् न बाध इत्याह—**तथापीति**। अभेदेऽपि इत्यर्थः। लौकिकः भ्रमः। आत्मनः स्वाज्ञानजभ्रमेण देहाद्यभिन्नस्य भेदभ्रान्त्या परमात्मनो ज्ञेयत्वाद्युक्तिः इत्यर्थः। अन्वेष्टव्यो देहादिव्यतिरिक्ततया ज्ञेयः, विवेकज्ञानेन लब्धव्यः, साक्षात् कर्तव्यः, तदर्थं श्रोतव्यः, विज्ञानं निदिध्यासनं साक्षात्कारो वा। श्रुत्यन्तरस्थार्थानुवादादपौनरुक्त्यम्। ननु भेदः सत्य एवाऽस्तु, तत्राह—**प्रतिषिध्यत इति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त शङ्काको स्वीकार करते हैं। तब आत्मा ही आत्मासे लभ्य होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु एक ही है ऐसी शङ्का करके उक्त कथन कल्पित भेदसे है, अतः दोष नहीं है ऐसा कहते हैं—'तथापि'' इत्यादिसे। अर्थात् अभेद होनेपर भी। लौकिक—अप्रामाणिक भ्रम। अपने अज्ञानसे देह आदि ही आत्मा है ऐसा ज्ञान होता है, अतः परमात्मा अपनेसे भिन्न है ऐसा भ्रम होता है, इसी भ्रमको लक्ष्य कर परमात्मा ज्ञेय है इत्यादि कहा गया है। 'अन्वेष्टव्य है'—देह आदिसे भिन्नरूपसे ज्ञेय है। 'लब्धव्य है'—विवेकज्ञानसे साक्षात्कर्तव्य है। साक्षात्कारके लिए श्रोतव्य है। विज्ञान—निदिध्यासन अथवा साक्षात्कार। अन्य श्रुतिके अर्थका अनुवाद किया गया है, अतः 'लब्धव्यः' और 'विज्ञातव्यः' इनमें पुनरुक्ति दोष नहीं है। यदि कोई कहे कि भेद सत्य ही हो, तो उसपर कहते हैं—

भाष्य

इत्यादिना। परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात् कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः, यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात् सूत्रेणाऽऽकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः। यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः। ईदृशं च विज्ञानात्मपरमात्मभेदमाश्रित्य 'नेतरोऽनुपपत्तेः' 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्युक्तम् ॥१७॥

भाष्यका अनुवाद

परमेश्वरसे अन्य द्रष्टा और श्रोताका 'नान्योऽतो०' ( उससे अन्य द्रष्टा नहीं है ) इत्यादि श्रुतियां प्रतिषेध ही करतीं हैं, परमेश्वर तो अविद्यासे कल्पितशरीर, कर्ता, भोक्ता विज्ञानात्मासे अन्य है, जैसे ढाल और खड्ग धारण करनेवाले, सूत्रसे आकाशमें चढ़नेवाले मायावीसे भूमिपर खड़ा हुआ परमार्थरूप वही मायावी अन्य है। अथवा जैसे कि उपाधिसे परिच्छिन्न घटाकाशसे उपाधिसे अपरिच्छिन्न आकाश अन्य है। ऐसे विज्ञानात्मा और आत्माके भेदको लेकर 'नेतरो०' और 'भेदव्यप०' ये सूत्र कहे गये हैं ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

अत ईश्वराद् द्रष्टा जीवोऽन्यो नास्ति इति चेद् जीवाभेदाद् ईश्वरस्याऽपि मिथ्यात्वं स्यादत आह—**परमेश्वर इति**। अविद्याप्रतिबिम्बत्वेन कल्पितात् जीवात् चिन्मात्र ईश्वरः पृथगस्तीति न मिथ्यात्वम्। कल्पितस्य अधिष्ठानाभेदेऽपि अधिष्ठानस्य ततो भेद इत्यत्र दृष्टान्तमाह—**यथेति**। सूत्रारूढः स्वतोऽपि मिथ्या, न जीव इत्यरुच्या भेदमात्रमिथ्यात्वे दृष्टान्तान्तरमाह—**यथा वेति**। ननु सूत्रबलाद् भेदः सत्य इत्यत आह—**ईदृशं चेति**। कल्पितमेवेत्यर्थः। सूत्रे भेदः सत्य इति पदाभावात् "तदन्यत्वं" [ब्र०, सू०, २।१।१४] आदिसूत्रणात् श्रुत्यनुसारात् च इति भावः ॥१७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"प्रतिषिध्यते" इत्यादि। ईश्वरसे जीव भिन्न न होगा, तो जीवके साथ अभेद होनेके कारण ईश्वर भी मिथ्या हो जायगा, इसके उत्तरमें कहते हैं—"परमेश्वरः" इत्यादि। अविद्यामें प्रतिबिम्बरूपसे कल्पित जीवसे चिन्मात्र ईश्वर भिन्न है, इसलिए ईश्वर मिथ्या नहीं है। यद्यपि कल्पित वस्तु अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती, तो भी अधिष्ठानका उससे भेद रहता है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। सूत्रपर आरूढ़ ऐन्द्रजालिक स्वयं भी मिथ्या है, जीव मिथ्या नहीं है, इस प्रकार मायावीके दृष्टान्तमें अरुचि होनेसे भेदमात्र जिसमें मिथ्या है, ऐसा दूसरा दृष्टान्त देते हैं—"यथा वा" इत्यादिसे। यदि यह शङ्का हो कि सूत्रमें कहनेके कारण भेद सत्य है, तो उसके उत्तरमें कहते हैं—"ईदृशं च" इत्यादिसे। कल्पित ही ऐसा अर्थ है। सूत्रमें 'भेदः सत्यः' ( भेद सत्य है ) ऐसा पद नहीं है और 'तदनन्यत्व०' आदि सूत्रोंसे परमात्मा और जीवात्माका अभेद कहा है, और श्रुति भी ऐसा ही प्रतिपादन करती है, अतः भेद कल्पित है ऐसा तात्पर्य है ॥१७॥

## कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१८॥

**पदच्छेद**—कामात्, च, न, अनुमानापेक्षा।

**पदार्थोक्ति**—कामाच्च—'सोऽकामयत' इति श्रुतौ कामयितृत्वश्रवणात्, अनुमानापेक्षा—अनुमानप्रतिपाद्यप्रधानस्य आशा, न—न कर्तव्या [ जडस्य प्रधानस्य इच्छायाः असम्भवात् ]।

**भाषार्थ**—'सोऽकामयत' इस श्रुतिमें आनन्दमय इच्छा करनेवाला कहा गया है, अतः अनुमानगम्य प्रधान आनन्दमय नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ प्रधानमें इच्छाका संभव नहीं है।
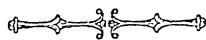
*भाष्य*

**आनन्दमयाधिकारे च 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति कामयितृत्वनिर्देशान्नाऽऽनुमानिकमपि सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वाऽपेक्षितव्यम्। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५) इति निराकृतमपि प्रधानं पूर्वसूत्रोदाहृतां कामयितृत्वश्रुतिमाश्रित्य प्रसङ्गात् पुनर्निराक्रियते गतिसामान्यप्रपञ्चनाय ॥ १८ ॥**

*भाष्यका अनुवाद*

और आनन्दमयके प्रकरणमें 'सोऽकामयत' ( उसने कामना की, बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ ) इस प्रकार कामनाकर्तृत्वका निर्देश है, इससे अनुमानसे गम्य—सांख्यपरिकल्पित अचेतन प्रधान भी आनन्दमय अथवा कारण नहीं कहा जा सकता। 'ईक्षते०' इस सूत्रसे यद्यपि प्रधानका निरसन किया गया है, तो भी सब वेदान्तवाक्योंसे अवगति समान है ऐसा दिखलानेके लिए पूर्वसूत्र ( ईक्षतेर्नाशब्दम् ) में धात्वर्थनिर्देशसे वर्णित कामयितृत्व श्रुतिको लेकर प्रसङ्गसे यहाँ पुनः खण्डन किया गया है ॥ १८ ॥

---

*रत्नप्रभा*

ननु आनन्दात्मकसत्त्वप्रचुरं प्रधानम् आनन्दमयम् अस्तु, तत्राह---**कामाच्चेति**। अनुमानगम्यम्----आनुमानिकम्। पुनरुक्तिमाशङ्क्य आह----**ईक्षतेरिति** ॥१८॥

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

यदि कोई कहे कि आनन्दमयका अर्थ आनन्दात्मक सत्त्वप्रचुर प्रधान क्यों नहीं है? इसपर कहते हैं—"कामाच्च" इत्यादि। आनुमानिक—अनुमानसे गम्य। पुनरुक्तिकी शङ्का करके कहते हैं—"ईक्षते" इत्यादि ॥१८॥

# अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१९॥

**पदच्छेद**—अस्मिन्, अस्य, च, तद्योगं, शास्ति ।

**पदार्थोक्ति**—'यदा ह्येवैष' इत्यादिश्रुतिः अस्मिन्—आनन्दमये, अस्य—तच्चित्तस्य मुमुक्षोः तद्योगं तदभेदम्, शास्ति—प्रतिपादयति [ अतः आनन्दमयः न प्रधानम्, अचेतने चेतनाभेदासम्भवात्, तस्मात् आनन्दमयः परमात्मैव । ]

**भाषार्थ**—'यदा ह्येवैष०' इत्यादि श्रुतियां आनन्दमयके ध्यानमें आसक्त मुमुक्षुका उसके साथ अभेद प्रतिपादन करती हैं, इस कारण प्रधान आनन्दमय नहीं हो सकता है, क्योंकि अचेतनके साथ चेतनका अभेद नहीं हो सकता । अतः आनन्दमय परमात्मा ही है ।
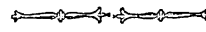
*भाष्य*

**इतश्च न प्रधाने जीवे वाऽऽनन्दमयशब्दः, यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्याऽस्य जीवस्य तद्योगं शास्ति, तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः मुक्तिरित्यर्थः । तद्योगं शास्ति शास्त्रम्—**

*भाष्यका अनुवाद*

और इस कारण भी प्रधान अथवा जीवमें आनन्दमय शब्दका प्रयोग नहीं हो सकता कि ( शास्त्र ) इस प्रतिबुद्ध—आनन्दमय आत्माको जाननेवालेका प्रकृत आनन्दमय आत्मामें तद्योग (अभेद) बतलाता है । तद्योग—तादात्म्यरूपसे योग—तद्भावप्राप्ति अर्थात् मुक्ति । 'यदा ह्येवैष०' ( जब यह साधक अदृश्य,

---

*रत्नप्रभा*

अस्मिन् इति विषयसप्तमी । आनन्दमयविषयप्रबोधवतो जीवस्य तद्योगं यस्मात् शास्ति, तस्मात् न प्रधानमिति योजना । जीवस्य प्रधानयोगोऽप्यस्तीत्यत आह—**तदात्मनेति** । जीवस्य जीवाभेदो अस्ति इत्यत आह—**मुक्तिरिति** । अदृश्ये स्थूलप्रपञ्चशून्ये, आत्मसम्बद्धम् आत्म्यम्—लिङ्गशरीरं तद्रहिते, निरुक्तं

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

अस्मिन् इस पदमें विषयसप्तमी है । शास्त्र आनन्दमयविषयक ज्ञानवाले जीवका उस परब्रह्मसे संबन्धका निर्देश करता है, इसलिए आनन्दमय प्रधान नहीं है ऐसी योजना करनी चाहिए । यदि कोई कहे कि जीवका प्रधानके साथ भी सबन्ध है इसपर कहते हैं—"तदात्मना" इत्यादि । जीवका जीवके साथ अभेद है ही इसपर कहते हैं—"मुक्तिः" । 'अदृश्य'—स्थूलप्रपञ्चशून्य । 'अनात्म्य' आत्मसंबद्ध—लिङ्गशरीरसे रहित 'अनिरुक्त'—

भाष्य

'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' (तै० २।७) इति। एतदुक्तं भवति—यदैतस्मिन्नानन्दमयेऽल्पमप्यन्तरमतादात्म्यरूपं पश्यति, तदा संसारभयान्न निवर्तते। यदा त्वेतस्मिन्नानन्दमये निरन्तरं तादात्म्येन प्रतितिष्ठति, तदा संसारभयान्निवर्तत इति। तच्च परमात्मपरिग्रहे घटते, न प्रधानपरिग्रहे जीवपरिग्रहे वा। तस्मादानन्दमयः परमात्मेति स्थितम्। इदं त्विह वक्तव्यम्—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'। 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'। 'तस्मात्...अन्योऽन्तर

भाष्यका अनुवाद

अशरीर, अनिर्वचनीय, मायाशून्य इस ब्रह्ममें भयरहित प्रतिष्ठा—आत्मभाव प्राप्त करता है, तब वह अभय प्राप्त करता है। और जब उस (ब्रह्म) में किञ्चित् भी भेददृष्टि करता है तब उसको भय होता है) यह शास्त्र अभेदका शासन करता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब इस आनन्दमयमें कुछ भी भेद देखता है, तब संसार-भयसे निवृत्त नहीं होता, परन्तु जब इस आनन्दमयमें निरन्तर अभेद ज्ञान रखता है, तब संसारभयसे निवृत्त हो जाता है। और यह तात्पर्य तभी संगत हो सकता है, जब कि आनन्दमय शब्दसे परमात्माका परिग्रह करें, यदि प्रधान अथवा जीवका परिग्रह करें तो उपर्युक्त तात्पर्य नहीं घट सकता। इससे सिद्ध होता है कि आनन्दमय परमात्मा ही है, परन्तु यहाँपर यह वक्तव्य है—'स वा०' (वह पुरुष अन्नरसमय है) 'तस्माद्वा०' (उस अन्नरसमयसे अन्य अन्तर आत्मा प्राणमय है) तस्मादन्यो०' (उससे

---

रत्नप्रभा

शब्दशक्यं तद्भिन्ने, निश्शेषलयस्थानं निलयनं माया तच्छून्ये, ब्रह्मणि अभयं यथा स्यात् तथा यदैव प्रतिष्ठां मनसः प्रकृष्टां वृत्तिम् एष विद्वान् लभते, अथ तदैव अभयं ब्रह्म प्राप्नोति इत्यर्थः। उद्—अपि, अरम्—अल्पमल्पमपि, अन्तरं भेदं यदैव एष नरः पश्यति, अथ तदा तस्य भयम् इति योजना इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिसका निर्वचन न हो सके। 'अनिलयन'—निःशेषलयस्थान निलयन अर्थात् माया, उससे रहित। ऐसे ब्रह्ममें अभयरूपसे प्रतिष्ठा अर्थात् मनकी उत्कृष्ट वृत्तिको जब यह विद्वान् प्राप्त करता है, तभी ब्रह्मको प्राप्त करता है। 'उत् अरम्'—अल्प भी। जब तक यह नर अल्प

भाष्य

आत्मा मनोमयः'। 'तस्मात्...अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' ( तै० २।१,२,३,४ ) इति च विकारार्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाऽकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाऽऽश्रीयत इति। मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत्। न। अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः।

अत्राऽऽह—युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वम्, तस्मात्तस्मादान्तरस्याऽऽन्तरस्याऽन्यस्याऽन्यस्याऽऽत्मन उच्यमानत्वात्, आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्य आन्तर आत्मोच्यते, तेनाऽऽनन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्, अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गादिति।

भाष्यका अनुवाद

अन्य अन्तर आत्मा मनोमय है ) 'तस्मादन्यो' ( उससे अन्य अन्तर आत्मा विज्ञानमय है ) इत्यादि विकारार्थ मयट् प्रवाहमें बिना किसी कारण अर्धजरतीय न्यायसे आनन्दमयमें मयट् प्राचुर्यार्थक है और आनन्दमय ब्रह्मविषयक है यह कैसे कहते हो ? । मंत्रमें वर्णित ब्रह्मके प्रकरणसे यह कहा गया है ऐसा यदि कहो तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्नमय आदिको भी ब्रह्म मानना पड़ेगा।

पूर्वपक्षी—अन्नमय आदि ब्रह्म नहीं हैं, क्योंकि एकके भीतर दूसरा और दूसरेके भीतर तीसरा इस प्रकार आत्मा कहा गया है, किन्तु आनन्दमयके भीतर और कोई आत्मा नहीं कहा गया है, इस कारण आनन्दमय ब्रह्म है, नहीं तो प्रकृतकी हानि और अप्रकृतकी प्रक्रिया का प्रसंग आवेगा।

रत्नप्रभा

वृत्तिकारमतं दूषयति—इदं त्विति। इह—परव्याख्यायां विकारार्थके मयटि बुद्धिस्थे सति अकस्मात्—कारणं विना एकप्रकरणस्थस्य मयटः पूर्वं विकारार्थकत्वम्, अन्ते प्राचुर्यार्थकत्वमिति अर्धजरतीयं कथमिव केन दृष्टान्तेन आश्रीयते इति इदं वक्तव्यम् इत्यन्वयः। प्रश्नं मत्वा शङ्कते—मान्त्रेति। स्फुटमुत्तरम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी भेद देखता है, तब तक उसको भय होता है। वृत्तिकारके मतका खण्डन करते हैं—"इदं तु" इत्यादिसे। 'यहाँ'—पूर्वपक्षीकी व्याख्यामें, विकारार्थक मयट् बुद्धिस्थ है और बिना कारण एक ही प्रकरणमें स्थित मयट् पूर्वमें विकारार्थक है और अन्तमें प्राचुर्यार्थक है ऐसा अर्द्धजरतीय[1] किस दृष्टान्तके अनुसार कहते हो, यह तुम्हें ( वृत्तिकारको ) कहना चाहिए। ऐसा अन्वय

( १ ) जैसे एक ही स्त्रीका कुछ हिस्सेमें युवती और कुछ हिस्सेमें बुड्ढी होना असम्भव एवं अनुचित है।

भाष्य

अत्रोच्यते—यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवाऽऽनन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति न श्रूयते, तथापि नाऽऽनन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्, यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते—'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ( तै० २।५ ) इति। तत्र यद् ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, तदिह 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते। तद्विजिज्ञापयिषयैवाऽन्नमयादय आनन्दमयपर्य-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—यद्यपि अन्नमय आदिके समान आनन्दमयसे अन्य आन्तर आत्मा श्रुतिमें नहीं कहा गया है, तो भी आनन्दमय ब्रह्म नहीं है, क्योंकि आनन्दमयको प्रस्तुत करके श्रुति कहती है—'तस्य प्रियमेव०' ( प्रिय ही उसका शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है, ब्रह्म पुच्छ और प्रतिष्ठा है। जो ब्रह्म 'सत्यं ज्ञान०' ( ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त है ) इस मंत्रवर्णमें प्रकृत है, उस ब्रह्मको यहां पुच्छ, प्रतिष्ठा कहा है। उसका ज्ञान करानेकी इच्छासे ही अन्नमय आदि आनन्दमय पर्यन्त पांच कोशोंकी

रत्नप्रभा

किमान्तर इति न श्रूयते, किं वा वस्तुतोऽप्यान्तरं ब्रह्म न श्रूयते इति विकल्प्य आद्यम् अङ्गीकरोति—**अत्रोच्यते यद्यपीति**। विकारप्रायपाठानुगृहीत-मयट्श्रुतेः सावयवत्वलिङ्गात् च इत्याह—**तथापीति**। इष्टार्थस्य दृष्ट्वा जातं सुखं प्रियम्, स्मृत्याऽऽमोदः, स चाऽभ्यासात् प्रकृष्टः प्रमोदः, आनन्दस्तु कारणं बिम्बचैतन्यम्, आत्मा शिरःपुच्छयोर्मध्यकायः, ब्रह्म शुद्धमिति श्रुत्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह—**तत्र यदिति**। यत् मन्त्रे प्रकृतं गुहानिहितत्वेन सर्वान्तरं ब्रह्म, तदिह पुच्छवाक्ये ब्रह्मशब्दात् प्रत्यभिज्ञायते, तस्यैव विज्ञापनेच्छया पञ्चकोशरूपा

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। इस 'इदं तु' इत्यादि वाक्यको प्रश्न समझकर शङ्का करते हैं—"मान्त्र" इत्यादिसे। उत्तर स्पष्ट है। क्या आनन्दमयसे आन्तरका अन्तर शब्दसे श्रवण नहीं है अथवा वस्तुतः जो आन्तर ब्रह्म है, उसका श्रवण नहीं है? ऐसा विकल्प करके प्रथम पक्षका अङ्गीकार करते हैं—"अत्रोच्यते—यद्यपि" इत्यादिसे। विकारप्राय पाठसे अनुगृहीत मयट्का श्रवण है तथा अवयव कहे गये हैं अतः ( आनन्दमय ब्रह्म नहीं है ) ऐसा कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। अभिलषित विषयके दर्शनसे उत्पन्न हुआ सुख—'प्रिय' है, उसकी स्मृतिसे उत्पन्न हुआ सुख—'मोद' है, वही सुख अभ्याससे अधिक हो तो 'प्रमोद' कहलाता है; आनन्द तो कारण, बिम्ब चैतन्य है, शिर और पुच्छका मध्यशरीर भाग आत्मा है, ब्रह्म शुद्ध है ऐसा श्रुतिका अर्थ है। द्वितीय ( वस्तुतः जो आन्तर ब्रह्म है, उसका श्रवण नहीं है इस ) पक्षके विषयमें कहते हैं—"तत्र यत्" इत्यादिसे। मंत्रमें प्रकृत, हृदयाकाशमें स्थित

भाष्य

न्ताः पञ्च कोशाः कल्प्यन्ते । तत्र कुतः प्रकृतहानाऽप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गः ।

नन्वानन्दमयस्याऽवयवत्वेन 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते अन्नमयादीनामिव 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादि । तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम् ? प्रकृतत्वादिति ब्रूमः । नन्वानन्दमयावयवत्वेनाऽपि ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते, आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादिति ।

भाष्यका अनुवाद

कल्पना की गई है, तो ऐसी अवस्थामें प्रकृतकी हानि और अप्रकृतकी प्रक्रियाके प्रसंगका अवसर ही कहां है ।

पूर्वपक्षी—जैसे अन्नमय आदिके अवयवरूपसे 'इदं पुच्छं०' यह पुच्छ और प्रतिष्ठा है कहा है वैसे ही आनन्दमयके अवयवरूपसे 'ब्रह्म पुच्छं०' ब्रह्म पुच्छ और प्रतिष्ठा कहा है । इसमें ब्रह्म स्वयं प्रधान है, यह कैसे जाना जा सकता है ?

सिद्धान्ती—ब्रह्म प्रकृत है, अतः हम ऐसा कहते हैं ।

पूर्वपक्षी—यदि आनन्दमयके अवयवरूपसे ब्रह्म जाना जाय, तो भी उसका प्रकृतत्व नष्ट नहीं होता, क्योंकि आनन्दमय ब्रह्म है ।

---

रत्नप्रभा

गुहा प्रपञ्चिता, तत्र तात्पर्यं नास्तीति वक्तुं "कल्प्यन्ते" इत्युक्तम् । एवं पुच्छवाक्ये प्रकृतस्वप्रधानब्रह्मपरे सति न प्रकृतहान्यादिदोष इत्यर्थः । ब्रह्मणः प्रधानत्वं पुच्छश्रुतिविरुद्धमिति शङ्कते—नन्विति । अत्र ब्रह्मशब्दात् प्रकृतस्वप्रधानब्रह्मप्रत्यभिज्ञाने सति पुच्छशब्दविरोधप्राप्तौ एकस्मिन् वाक्ये प्रथमचरमश्रुतशब्दयोः आद्यस्य अनुपसञ्जातविरोधिनो बलीयस्त्वात् पुच्छशब्देन प्राप्तगुणत्वस्य बाध इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे सर्वान्तर जो ब्रह्म है, उसी ब्रह्मकी पुच्छवाक्यमें ब्रह्म शब्दसे प्रत्यभिज्ञा होती है, उसीको जतानेकी इच्छासे पञ्चकोश रूप गुहाका विस्तारसे वर्णन किया गया है, परन्तु उनमें—पञ्चकोशोंमें तात्पर्य नहीं है, यह दिखलानेके लिए भाष्यमें 'कल्प्यन्ते' ( उनकी कल्पना है ) कहा है । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार पुच्छवाक्य प्रस्तुत स्वप्रधान ब्रह्मका प्रतिपादन करता है, इसलिए प्रकृतहानि आदि दोष नहीं हैं । "ननु" इत्यादिसे शङ्का करते हैं कि श्रुतिमें पुच्छरूपसे वर्णित ब्रह्मको प्रधान कहना विरुद्ध है । यहाँ ब्रह्मशब्दसे प्रस्तुत स्वप्रधान ब्रह्मकी अभिधेयरूपसे प्रत्यभिज्ञा होती है, और पुच्छशब्दसे ब्रह्मकी प्रधानतामें विरोध प्राप्त होता है, ऐसे एक वाक्यमें आदि और अंतमें सुने गये ब्रह्म और पुच्छशब्दोंमें प्रथम ब्रह्मशब्दका विरोधी कोई न होनेसे वह अधिक बलवान् है और उससे पुच्छशब्द द्वारा प्राप्त

---

(१) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिमें प्रस्तुत ।

भाष्य

अत्रोच्यते—तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्माऽवयवी, तदेव च ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यात्। अन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुं ब्रह्मशब्दसंयोगात्, नाऽऽनन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति। अपि च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्त्वेदमुच्यते—'तदप्येष श्लोको भवति, असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्, अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेनं ततो विदुः' ( तै० २।६ ) इति। अस्मिंश्च श्लोकेऽननुकृष्याऽऽनन्दमयं ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद् गम्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति। न चाऽऽनन्दमयस्याऽऽत्मनो भावाभाव-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा माना जाय तो वही ब्रह्म आनन्दमय आत्मा अवयवी है और वही ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा, अवयव है, यह कथन अयुक्त होगा। दोनोंमेंसे एक लें तो ब्रह्म पुच्छ, प्रतिष्ठा है, इसमें ही ब्रह्मका निर्देश उचित है, क्योंकि उसी वाक्यमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग है, आनन्दमय वाक्यमें ब्रह्मनिर्देश उचित नहीं है, क्योंकि उसमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि 'ब्रह्म पुच्छं०' ( ब्रह्म पुच्छ, प्रतिष्ठा है ) ऐसा कहकर कहते हैं कि 'तदप्येष०' ( इसमें और यह श्लोक है, ब्रह्म अविद्यमान है ऐसा जो जानता है, वह अविद्यमान ही हो जाता है, ब्रह्म विद्यमान है ऐसा जो जानता हैं, ब्रह्मवेत्ता उसको ब्रह्मरूपसे विद्यमान जानते हैं ) इस श्लोकमें आनन्दमयकी अनुवृत्ति किये बिना ब्रह्मके ही भाव और अभावके ज्ञानसे गुण और दोषका कथन किया है, इस कारण 'ब्रह्म पुच्छं०' इस वाक्यमें ब्रह्म स्वयं ही प्रधान है ऐसा अनुमान होता है।

रत्नप्रभा

मत्वा आह—**प्रकृतत्वादिति**। प्रकरणस्य अन्यथासिद्धिमाह—**नन्विति**। एकस्यैव गुणत्वं प्रधानत्वं च विरुद्धमित्याह—**अत्रोच्यत इति**। तत्र विरोध-निरासाय अन्यतरस्मिन् वाक्ये ब्रह्मस्वीकारे पुच्छवाक्ये ब्रह्म स्वीकार्यमित्याह—**अन्य-**

रत्नप्रभाका अनुवाद

गुणत्व—अप्रधानत्वका बोध होता है, ऐसा मानकर कहते हैं—"प्रकृतत्वात्" इत्यादिसे। ब्रह्मका प्रकरण है, यह अन्यथा—दूसरे प्रकारसे सिद्ध है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादि-से। एक ही वस्तु प्रधान और अप्रधान हो, यह विरुद्ध है ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। उस विरोधका निराकरण करनेके लिए एक वाक्यमें ब्रह्मका स्वीकार करें तो पुच्छवाक्यमें ही ब्रह्मका स्वीकार करना ठीक है ऐसा कहते हैं—"अन्यतर" इत्यादिसे।

भाष्य

शङ्का युक्ता, प्रियमोदादिविशेषस्याऽऽनन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् ।

कथं पुनः स्वप्रधानं सद् ब्रह्म आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति ।

नैष दोषः । पुच्छवत् पुच्छं प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्याऽऽनन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते, नाऽवयवत्वम्,

भाष्यका अनुवाद

आनन्दमयके भाव और अभावकी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि प्रिय मोद आदि विशेषयुक्त आनन्दमय सब लोगोंमें प्रसिद्ध है ।

पूर्वपक्षी—तब स्वप्रधान ब्रह्मको 'ब्रह्म पुच्छं०' इस प्रकार आनन्दमयके पुच्छरूपसे श्रुतिमें क्यों कहा है ।

सिद्धान्ती—यह दोष नहीं है । पुच्छ—पुच्छसदृश, प्रतिष्ठा—वासस्थान, अर्थात् लौकिक आनन्दसमूहका ब्रह्मानन्द परस्थान, एक अधिष्ठान है ऐसा अर्थ

रत्नप्रभा

तरेति । वाक्यशेषात् च एवमित्याह—**अपि चेति** । तत्—तत्र ब्रह्मणि, श्लोकोऽपि इत्यर्थः । पुच्छशब्दस्य गतिं पृच्छति—**कथं पुनरिति** । त्वयापि पुच्छशब्दस्य मुख्यार्थो वक्तुमशक्यः ब्रह्मण आनन्दमयलाङ्गूलत्वाभावात्, पुच्छदृष्टिलक्षणायां च आधारलक्षणा युक्ता प्रतिष्ठापदयोगात्, ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थलाभात् च । त्वत्पक्षे ब्रह्मपदस्याऽप्यवयवलक्षकत्वादित्याह—**नैष दोष इति** । पुच्छमित्याधारत्वमात्रमुक्तम्, प्रतिष्ठेत्येकनीडत्वम्, एकं मुख्यं नीडम् अधिष्ठानं सोपादानस्य जगत इत्यर्थः । ननु वृत्तिकारैरपि तैत्तिरीयवाक्यं ब्रह्मणि समन्वितमिष्टम्, तत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अपि च" इत्यादिसे कहते हैं कि वाक्यशेषसे भी यही बात सिद्ध होती है । 'तदप्येष०' अर्थात् उस ब्रह्मके विषयमें श्लोक भी है । पुच्छशब्दका अर्थ पूछते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। तुम भी ऐसा नहीं कह सकते हो कि पुच्छशब्द मुख्य अर्थमें हैं, क्योंकि ब्रह्म आनन्दमयकी पूंछ नहीं है । अतः पुच्छपदका पुच्छदृष्टि ( पुच्छके समान देखना ) में लक्षणा करनी होगी, उसकी अपेक्षा आधारमें लक्षणा करना ठीक है, क्योंकि साथमें प्रतिष्ठापद है और ब्रह्मशब्दका मुख्यार्थ भी हो सकता है । तुम्हारे मतमें तो ब्रह्मपदकी भी अवयवरूप अर्थमें लक्षणा करनी पड़ेगी ऐसा कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे । पुच्छ अर्थात् आधार, प्रतिष्ठा–मुख्य अधिष्ठान उपादान सहित जगत्का मुख्य अधिष्ठान । तैत्तिरीय श्रुतिवाक्यका ब्रह्ममें समन्वय होना वृत्तिकारको भी अभीष्ट है, तो बृहदारण्यक श्रुतिका उदाहरण देनेका क्या प्रयोजन ? इस

भाष्य

'एतस्यैवाऽऽनन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ( बृ० ४।३।३२ ) इति श्रुत्यन्तरात् । अपि च आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माऽभ्युपगन्तव्यम् । निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते, वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्—'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चनेति' ( तै० २।९ )। अपि च आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखास्तित्वमपि गम्यते, प्राचुर्यस्य लोके

भाष्यका अनुवाद

विवक्षित है, अवयवरूप अर्थ विवक्षित नहीं है, क्योंकि दूसरी श्रुतिमें भी 'एतस्यैवानन्दस्य०' ( इसी आनन्दके अंशपर अन्य भूत निर्भर हैं ) ऐसा कहा है और आनन्दमयको यदि ब्रह्म कहें, तो उसके प्रिय आदि अवयवोंके होनेसे सगुण ब्रह्मका स्वीकार करना होगा। परन्तु वाक्यशेषमें निर्गुण ब्रह्म श्रुत है, क्योंकि वाणी और मनका वह अगोचर है, ऐसा कहा है—'यतो वाचो०' ( मन और वाणी जिसको ग्रहण करनेमें असमर्थ होकर लौट जाते हैं, उस ब्रह्मके आनन्द स्वरूपको जाननेवाला किसीसे भय नहीं खाता। ) और आनन्द प्रचुर ऐसा कहनेसे दुःखके अस्तित्वका भी अनुमान होता है, क्योंकि लोकमें जिस वस्तुका

रत्नप्रभा

किमुदाहरणभेदेन इत्याशङ्क्य आह—अपि चेति। यत्र सविशेषत्वं तत्र वाङ्मनसगोचरत्वमिति व्याप्तेः अत्र व्यापकाभावोक्त्या निर्विशेषमुच्यते इत्याह—निर्विशेषमिति। निवर्तन्ते अशक्ता इत्यर्थः। सविशेषस्य मृषात्वादभयं चाऽयुक्तम्, अतो निर्विशेषज्ञानार्थं पुच्छवाक्यम् एव उदाहरणमिति भावः। प्राचुर्यार्थकमयटा सविशेषोक्तौ निर्विशेषश्रुतिबाध उक्तः। दोषान्तरमाह—अपि चेति। प्रत्ययार्थत्वेन प्रधानस्य प्राचुर्यस्य प्रकृत्यर्थो विशेषणम्, विशेषणस्य यः प्रतियोगी—विरोधीति

रत्नप्रभाका अनुवाद

शंकापर कहते हैं—"अपि च" इत्यादि। जो सविशेष है, वह वाणी और मनका गोचर है यह व्याप्ति है अतः वाणी और मनका गोचर न होनेके कारण ब्रह्म निर्विशेष है ऐसा कहते हैं—"निर्विशेषम्" इत्यादिसे। 'निवर्तन्ते'—असमर्थ होकर लौटती हैं। सगुण ब्रह्म मिथ्या है, अतः उससे अभयप्राप्ति नहीं हो सकती, अतः निर्गुण ब्रह्मके ज्ञानके लिए ही पुच्छवाक्य उदाहरण है, ऐसा तात्पर्य है। प्राचुर्यार्थक मयट्से सगुण ब्रह्म कहा जाय तो निर्गुण ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतिका बाध होगा ऐसा कहा गया है। "अपि च" इत्यादिसे अन्य दोष दिखलाते हैं। प्राचुर्य प्रत्ययार्थ होनेसे प्रधान है और प्रकृत्यर्थ उसका विशेषण है।

(१) अविषय।

भाष्य

प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात् । तथा च सति 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' ( छा० ७।२४।१ ) इति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत । प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्याऽपि भिन्नत्वम् । ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ( तै० २।१ ) इत्यानन्त्यश्रुतेः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' ( श्वे० ६।११ ) इति च श्रुत्यन्तरात् । न चाऽऽनन्दमयस्याऽभ्यासः श्रूयते, प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राऽभ्यस्यते—'रसो वै

भाष्यका अनुवाद

प्राचुर्य कहा जाता है, वह उसके विरोधी वस्तुकी अल्पताकी अपेक्षा रखता है। ऐसा होनेपर 'यत्र नान्यत् पश्यति०' ( जहां दूसरा कुछ नहीं देखता, दूसरा कुछ नहीं सुनता, दूसरा कुछ नहीं जानता, वह भूमा—ब्रह्म है ) इस प्रकार भूमामें—ब्रह्ममें उससे भिन्न वस्तुका अभाव दिखलानेवाली श्रुतिका बाध हो जायगा। और प्रत्येक शरीरमें प्रियादि भिन्न होनेसे आनन्दमय भले ही भिन्न हो, परन्तु ब्रह्म प्रत्येक शरीरमें भिन्न नहीं है, क्योंकि 'सत्यं०' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है ] यह श्रुति ब्रह्मको अनन्त–अपरिच्छिन्न कहती है, और 'एको देवः०' ( एक देव सब भूतोंमें गूढ़, सर्वव्यापक और सब भूतोंका अन्तरात्मा है ) यह दूसरी श्रुति है। आनन्दमयका अभ्यास श्रुतिमें नहीं है, क्योंकि सर्वत्र

---

रत्नप्रभा

तस्याऽल्पत्वमपेक्षते, यथा विप्रमयो ग्राम इति शूद्राल्पत्वम् । अस्तु को दोषः तत्राह—**तथा चेति** । प्रकृत्यर्थप्राधान्ये त्वयं दोषो नास्ति, प्रचुरप्रकाशः सविता इत्यत्र तमसोऽल्पस्याऽपि अभानात्, परन्तु आनन्दमयपदस्य प्रचुरानन्दे लक्षणादोषः स्यादिति मन्तव्यम् । किञ्च, भिन्नत्वाद् घटवन्न ब्रह्मेत्याह—**प्रतिशरीरमिति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेषणका जो प्रतियोगी—विरोधी है, उसके अल्पत्वकी अपेक्षा है, जैसे ग्राम विप्रप्रचुर है अर्थात् बहुत ब्राह्मणोंवाला है ऐसा कहनेसे उसमें शूद्र थोड़े हैं ऐसा मालूम होता है। ऐसा हो, उसमें क्या दोष है ? इसपर कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। प्रकृत्यर्थ प्रधान हो तो यह दोष नहीं है। प्रचुर प्रकाशरूप सूर्य है इसमें अल्प भी अन्धकारका भान नहीं होता। परन्तु आनन्दमयपदका, प्रकृत्यर्थको प्रधान मानकर, प्रचुर आनन्द ऐसाअर्थ करें तो इस अर्थमें आनन्दमय शब्दकी लक्षणा माननी होगी, अतः लक्षणादोष होगा ऐसा समझना चाहिए। "प्रतिशरीरम्" इत्यादिसे कहते हैं कि आनन्दमय प्रतिशरीर भिन्न भिन्न है,

भाष्य

सः, रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति' 'सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति' ( तै० २।७,८,९ ) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, ( तै० ६।६ ) इति च। यदि च आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत्, तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत, न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम। तस्मात् श्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ( बृ० ३।९।२८ ) इत्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि

भाष्यका अनुवाद

प्रातिपदिकके[1] अर्थमात्रका अभ्यास है। जैसे कि 'रसो वै सः०' ( वह रस है, रसको ही प्राप्त करके यह आनन्दवान् होता है, यदि आकाश—स्वप्रकाशरूप यह आनन्द न होता, तो कौन चेष्टा करता और कौन जीता; यही परमात्मा आनन्द प्राप्त कराता है ) 'सैषा०' ( यह आनन्दकी विचारणा होती है ) 'आनन्दं०' ( ब्रह्मके आनन्दस्वरूप को जाननेवाला किसीसे भय नहीं पाता ) 'आनन्दो०' (आनन्द ब्रह्म है ऐसा जानना) इत्यादि स्थलोंमें स्पष्ट है। यदि आनन्दमय शब्द ब्रह्मविषयक है, ऐसा निश्चित हो, तो आगे जहाँ केवल आनन्द शब्दका प्रयोग है वहाँ भी लक्षणासे आनन्दमयके अभ्यासकी कल्पना करनी होगी, परन्तु आनन्दमय ब्रह्म नहीं है, कारण कि उसके प्रिय शिर आदि अवयव हैं, ऐसा हम पीछे कह चुके हैं। इसलिए 'विज्ञान०' ( ब्रह्म विज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है ) इस दूसरी श्रुतिमें आनन्दशब्दका ब्रह्ममें प्रयोग

---

रत्नप्रभा

ननु अभ्यस्यमानानन्दपदं लक्षणया आनन्दमयपरम् इति अभ्याससिद्धिः इत्यत आह—**यदि चेति**। आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे निर्णीते सत्यानन्दपदस्य तत्परत्वज्ञानादभ्याससिद्धिः तत्सिद्धौ तन्निर्णय इति परस्पराश्रय इति भावः। अयमभ्यासः पुच्छब्रह्मणः

रत्नप्रभाका अनुवाद

अतः घटकी तरह अनेक होनेके कारण वह ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। परन्तु अभ्यासको प्राप्त हुआ आनन्दपद लक्षणासे आनन्दमयको कहता है, अतः आनन्दमयके अभ्यासकी सिद्धि है, इसपर कहते हैं—"यदि च" इत्यादिसे। आशय यह कि आनन्दमय ब्रह्म है ऐसा निर्णय होनेपर आनन्दपद आनन्दमय विषयक है ऐसे ज्ञानसे अभ्यास सिद्ध हो और

---

(१) शब्दका मूलरूप। आनन्दमयमें आनन्द प्रातिपदिक है।

भाष्य

प्रयोगदर्शनात् 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिर्ब्रह्मविषयः प्रयोगो न त्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यम् । यस्त्वयं मयडन्तस्यैवाऽऽनन्दशब्दस्याऽभ्यासः—'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' ( तै० २।८ ) इति, न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति, विकारात्मनामेवाऽन्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पठितत्वात् ।

नन्वानन्दमयस्योपसंक्रमितव्यस्याऽन्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिफलं निर्दिष्टं भवेत् । नैष दोषः । आनन्दमयोपसंक्रमण-

भाष्यका अनुवाद

देखा जाता है, इससे 'यदेष०' इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मके लिये आनन्दशब्दका प्रयोग है, आनन्दमयका अभ्यास नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। 'एतमानन्दमय०' (इस आनन्दमय आत्माका वह बाध करता है) इसमें मयट् प्रत्ययान्त जो आनन्दशब्दका अभ्यास है वह ब्रह्मविषयक नहीं है, क्योंकि विकारात्मक अन्नमयादि अनात्म वस्तुएँ जो बाध करनेके योग्य हैं, उनकी परम्परामें वह पड़ा हुआ है।

पूर्वपक्ष—यदि प्राप्त करने योग्य आनन्दमय अन्नमयादिके समान ब्रह्म न हो, तो श्रुतिमें विद्वान्को ब्रह्मप्राप्तिरूप फलका निर्देश नहीं हुआ ?

सिद्धान्त—यह दोष नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें आनन्दमयकी प्राप्तिके कथनसे

रत्नप्रभा

इत्याह—तस्मादिति । उपसंक्रमणं बाधः । ननु 'स य एवंवित्' इति ब्रह्मविदं प्रक्रम्य उपसंक्रमणवाक्येन फलं निर्दिश्यते तत्तस्य अब्रह्मत्वे न सिध्यति इति शङ्कते—नन्विति । उपसंक्रमणं प्राप्तिः इत्यङ्गीकृत्य विशिष्टप्राप्त्युक्त्या विशेषणप्राप्तिः फलमुक्तम् इति आह—नैष इति । ज्ञानेन कोशानां बाधः तदिति सिद्धान्ते बाधा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभ्यास सिद्ध होनेपर आनन्दमय ब्रह्मविषयक है ऐसा निर्णय हो, इस प्रकार परस्पराश्रय दोष प्राप्त होता है। "तस्मात्" इत्यादिसे कहते हैं कि यह अभ्यास ( आनन्दमयविषयक नहीं है किन्तु ) पुच्छवाक्यमें उपदिष्ट ब्रह्मविषयक है। उपसंक्रमण—बाध। परन्तु 'स य०' इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताका उपक्रम करके उपसंक्रमणवाक्यसे फलका कथन किया है, वह यदि उपसंक्रमितव्य ब्रह्म न हो, तो ब्रह्मप्राप्तिरूप फल सिद्ध न होगा ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। उपसंक्रमणका अर्थ प्राप्ति है ऐसा अंगीकार करके विशिष्टकी प्राप्ति कहनेसे विशेषण प्राप्तिरूप फल कहा ही है, ऐसा कहते हैं—"नैष" इत्यादिसे। ज्ञानद्वारा कोशोंका

(१) उपसंक्रम शब्दका अर्थ बाध है, प्राप्ति नहीं है। आनन्दमयके बाधसे पुच्छ—आधार ब्रह्म

भाष्य

निर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात्। 'तदप्येष श्लोको भवति। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिना च प्रपञ्च्यमानत्वात्। या त्वानन्दमयसंनिधाने 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति इयं श्रुतिरुदाहृता सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यनेन संनिहिततरेण ब्रह्मणा संबध्यमाना नाऽऽनन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति। तदपेक्षत्वाच्चोत्तरस्य ग्रन्थस्य 'रसो वै सः' इत्यादेर्नाऽऽनन्दमयविषयता।

ननु 'सोऽकामयत' इति ब्रह्मणि पुंलिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते। नायं

भाष्यका अनुवाद

ही पुच्छ और प्रतिष्ठाभूत ब्रह्मकी प्राप्तिरूप फलका निर्देश है। और 'तदप्येष०' ( उसमें यह श्लोक है ) 'यतो वाचो०' इत्यादिसे उसका विस्तार किया गया है। आनन्दमयके सन्निधानमें 'सोऽकामयत०' यह जो श्रुति उद्धृत की गई है, वह 'ब्रह्म पुच्छं०' इस अत्यन्त समीपस्थ ब्रह्मके साथ सम्बन्ध रखती है, इसलिए आनन्दमय ब्रह्म है, ऐसा बोध नहीं कराती और 'रसो वै सः०' ( वह रस है ) इत्यादि उत्तर ग्रन्थको उसकी अपेक्षा है, इसलिए वह आनन्दमयसे सम्बन्ध नहीं रखती।

पूर्वपक्ष—'सोऽकामयत' ( उसने कामना की ) इस प्रकार ब्रह्ममें पुंलिङ्गका निर्देश युक्त नहीं है।

सिद्धान्त—यह दोष नहीं है, क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मा०' ( उस आत्मासे

रत्नप्रभा

वधिप्रत्यगानन्दलाभोऽर्थादुक्त उत्तरश्लोकेन स्फुटीकृत इत्याह—तदपीति। तदपेक्षत्वादिति। कामयितृपुच्छब्रह्मविषयत्वादित्यर्थः। यदुक्तं पञ्चमस्थानस्थत्वादानन्द-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाध होना उपसंक्रमण है इस सिद्धान्तमें बाधके अवधिरूप प्रत्यगानन्दका लाभ अर्थात् कहा गया, उसका अग्रिम श्लोकसे स्पष्टीकरण किया गया है ऐसा कहते हैं—"तदपि" इत्यादिसे। "तदपेक्षत्वात्"—कामनाकर्तृ पुच्छब्रह्मविषयक होनेके कारण। जैसे भृगुवल्ली पञ्चम स्थानमें उपदिष्ट आनन्दमें परिसमाप्त है, उसी प्रकार

प्राप्तिरूप फल अर्थात् प्राप्त होता है यह भाष्यका अर्थ है। रत्नप्रभामें अभ्युपगमवादसे उपसंक्रम शब्दका अर्थ प्राप्ति किया है और उसीके अनुसार पूर्वपक्ष है। यह बात रत्नप्रभाकी 'उपसंक्रमणं बाधः' इस पंक्तिपर ध्यान देनेसे प्रतीत होती है।

भाष्य

दोषः । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्र पुंलिङ्गेनाऽप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् । यत्तु भार्गवी वारुणी विद्या 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति, तस्यां मयडश्रवणात् प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाच्च युक्तमानन्दस्य ब्रह्मत्वम् । तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते । न चेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितम्, वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः । तस्मादन्नमयादिष्विवाऽऽनन्दमयेऽपि विकारार्थ एव मयट् विज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः ।

भाष्यका अनुवाद

आकाश उत्पन्न हुआ ) इसमें पुंलिङ्ग आत्मशब्दसे ब्रह्म प्रकृत है । 'आनन्दो०' ( आनन्द ब्रह्म है ऐसा जाना ) यह जो भृगुको वरुणद्वारा कही गई विद्या है, इसमें मयट् प्रत्ययका श्रवण नहीं है और प्रिय ही शिर है इत्यादिका भी श्रवण नहीं है, इसलिए आनन्द ब्रह्म है यह कथन युक्त है । अतः किंचित् भी विशेषका आश्रय किये बिना अपने आप ही प्रियशिरस्त्व आदि धर्म ब्रह्ममें उपपन्न नहीं होते हैं । यहां पर सगुण ब्रह्मका प्रतिपादन करना इष्ट नहीं है, क्योंकि ब्रह्म वाणी और मनका अगोचर है, ऐसा श्रुतिमें कहा गया है । इसलिए जैसे अन्नमयादिमें मयट् विकारार्थक है, उसी प्रकार आनन्दमयमें भी विकारार्थक ही है, प्राचुर्यार्थक नहीं है ऐसा जानना चाहिये ।

---

रत्नप्रभा

मये ब्रह्मवल्ली समाप्ता भृगुवल्लीवदिति, तत्राह—यत्त्विति । या त्वित्यर्थः । मयट्श्रुत्या, सावयवत्वादिलिङ्गेन च स्थानं बाध्यमिति भावः । गोचरातिक्रमः गोचरत्वाभावः । 'वेदसूत्रयोर्विरोधे गुणे तु अन्याय्यकल्पना इति' सूत्राणि अन्यथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मवल्ली भी पञ्चम स्थानमें—उक्त आनन्दमयमें परिसमाप्त है ऐसा जो कहा था उसपर कहते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे । "यत्" पदका प्रयोग—"या" के अर्थमें है, ( क्योंकि यहाँ पर यत् "विद्या" का विशेषण है ) । ब्रह्मवल्लीमें विकारार्थक मयट्का श्रवण है और प्रिय शिर हैं इत्यादि अवयव कहे गये हैं, अतः स्थानका बाध है ऐसा तात्पर्य है । "गोचरातिक्रम"—अविषय । वेद और सूत्रमें विरोध हो तो—"गुणे०" इस न्यायसे सूत्रोंका अर्थ वेदार्थानुसार ही करना चाहिए ( न कि सूत्रार्थानुसार वेदार्थकी कल्पना करनी चाहिए ) ऐसा कहते हैं—

---

( १ ) जहाँ प्रधान और अप्रधान दो विषयोंमें विरोध हो, यदि अप्रधान विषयके अनुसार प्रधान विषयका समन्वय करें, तो वहाँ इस न्यायकी प्रवृत्ति होती है ।

भाष्य

सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र किमानन्दमयावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यत उत स्वप्रधानत्वेनेति। पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्त उच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। आनन्दमय आत्मेत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते, अभ्यासात्। 'असन्नेव स भवति' इत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलस्याऽभ्यस्यमानत्वात्, 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्'। विकारशब्देनाऽवयवशब्दोऽभिप्रेतः, पुच्छमित्यत्रावयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वं ब्रह्मण इति यदुक्तम्,

भाष्यका अनुवाद

सूत्रोंका व्याख्यान तो इस प्रकार करना चाहिए कि 'ब्रह्म०' इसमें क्या आनन्दमयके अवयवरूपसे ब्रह्मकी विवक्षा है अथवा स्वतन्त्रतासे। पुच्छशब्दके प्रयोगके कारण अवयवरूपसे विवक्षा है ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार कहते हैं—"आनन्दमयोऽभ्यासात्" (सू० १२)। 'आनन्दमय आत्मा' इसमें 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है ऐसा जो कहा गया है, उससे स्वतन्त्र ब्रह्म ही अभ्याससे उपदिष्ट है, क्योंकि 'असन्नेव०' (वह अविद्यमान ही होता है) इस उपसंहार श्लोकमें केवल ब्रह्मका ही अभ्यास किया है। विकार० (सू० १३) इसमें विकार शब्द से अवयव शब्द विवक्षित है। 'पुच्छं' इस अवयव शब्दसे ब्रह्म स्वप्रधान नहीं

---

रत्नप्रभा

नेतव्यानि इत्याह—सूत्राणीति। पूर्वम् ईक्षतेः संशयाभावादिति युक्त्या प्रायपाठो न निश्चायक इत्युक्तम्। तर्हि अत्र पुच्छपदस्य आधारावयवयोर्लक्षणासाम्यात् संशयोऽस्ति इति अवयवप्रायपाठो निश्चायक इति पूर्वाधिकरणसिद्धान्तयुक्त्यभावेन पूर्वपक्षयति—पुच्छशब्दादिति। तथा च प्रत्युदाहरणसङ्गतिः। पूर्वपक्षे सगुणोपास्तिः, सिद्धान्ते निर्गुणप्रमितिः फलम्। वेदान्तवाक्यसमन्वयोक्तेः श्रुत्यादिसङ्गतयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सूत्राणि" इत्यादिसे। पूर्वाधिकरणमें ईक्षण गौण और मुख्य दोनोंमें (अप्‌-तेज और सत्‌में) अतुल्य है, इस कारण संशय नहीं होता है, अतः गौणप्रायपाठ अर्थनिश्चायक नहीं है ऐसा कहा है, यहाँ तो "पुच्छ" पदकी आधार और अवयव दोनों अर्थोंमें लक्षणा होनेके कारण संशय होता है, इस कारण अवयवप्रायपाठ अर्थनिश्चायक है अर्थात् पुच्छशब्दका अर्थ आधार नहीं है, किन्तु अवयव है ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"पुच्छशब्दात्" इत्यादिसे। इस प्रकार पूर्वाधिकरणसे प्रत्युदाहरण संगति है। पूर्वपक्षमें सगुण ब्रह्मकी उपासना फल है और सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है। वेदान्तवाक्योंका समन्वय कहा है, इसलिए श्रुति आदि संगतियां

भाष्य

तस्य परिहारो वक्तव्यः । अत्रोच्यते—नायं दोषः, प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः । प्राचुर्यं प्रायापत्तिः, अवयवप्राये वचनमित्यर्थः । अन्नमयादीनां हि शिरआदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिरआदीन्यवयवान्तराण्युक्त्वाऽवयवप्रायापत्त्या 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्याह, नाऽवयवविवक्षया यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम् । 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' । सर्वस्य च विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा जो कहा है उसका परिहार करना चाहिए । इस विषयमें कहा जाता है—यह दोष नहीं है । प्राचुर्यसे भी अवयवशब्द उपपन्न होता है । प्राचुर्य अर्थात् प्रायः आपत्ति—अवयव-क्रमकी बुद्धिमें प्राप्ति, अवयवप्रायमें कथन है ऐसा अर्थ है । अन्नमयादिके शिरोभागसे लेकर पुच्छ पर्यन्त अवयव कहनेके बाद आनन्दमयके भी शिरोभाग आदि अवयव कहकर अवयव-क्रमका ज्ञान करानेके लिए ब्रह्म पुच्छ, प्रतिष्ठा है, ऐसा कहा है, अवयवकी विवक्षासे ऐसा नहीं कहा गया । और इसी कारणसे 'अभ्यासात्' इस प्रकार ब्रह्मकी स्वतन्त्रताका समर्थन किया है । 'तद्धेतु०'—आनन्दमय सहित सब विकार समूहके कारणरूपसे

रत्नप्रभा

स्फुटा एव । सूत्रस्थानन्दमयपदेन तद्वाक्यस्थं ब्रह्मपदं लक्ष्यते । विक्रियतेऽनेनेति विकारोऽवयवः । प्रायापत्तिरिति । अवयवक्रमस्य बुद्धौ प्राप्तिरित्यर्थः । अत्र हि प्रकृतस्य ब्रह्मणो ज्ञानार्थं कोशाः पक्षित्वेन कल्प्यन्ते, नाऽत्र तात्पर्यमस्ति, तत्र आनन्दमयस्यापि अवयवान्तरोक्त्यनन्तरं कस्मिंश्चित् पुच्छे वक्तव्ये प्रकृतं ब्रह्म पुच्छपदेन उक्तम् , तस्य आनन्दमयाधारत्वेन अवश्यं वक्तव्यत्वादित्यर्थः । तद्धेतुव्यपदेशाच्च (ब्र० सू० १।१।१४) तस्य ब्रह्मणः सर्वकार्यहेतुत्वव्यपदेशात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्पष्ट ही हैं । सूत्रमें स्थित आनन्दमय शब्दसे आनन्दमयवाक्यगत ब्रह्मशब्दका लक्षणासे बोध होता है । जिससे विकृत होता है—इस व्युत्पत्तिसे विकारशब्दका अर्थ अवयव होता है । "प्रायापत्तिः"—अवयव क्रमका बुद्धिमें आना । यहाँ प्रकृत ब्रह्मके ज्ञानके लिए कोशोंकी पक्षी रूपसे कल्पना होती है, उनमें तात्पर्य नहीं है । आनन्दमयके दूसरे अवयवोंके कहनेके बाद किसीको पूंछरूपसे भी कहना चाहिए, अतः प्रकृत ब्रह्मको पुच्छरूपसे कहा है, क्योंकि वह आनन्दमयके आधार रूपसे अवश्य वक्तव्य है । "तद्धेतु०"—ब्रह्म सब कार्योंका हेतु है ऐसा

भाष्य

व्यपदिश्यते—'इदꣳसर्वमसृजत यदिदं किञ्च' ( तै० २।६ ) इति । न च कारणं सत् ब्रह्म स्वविकारस्याऽऽनन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्याऽवयव उप-

भाष्यका अनुवाद

'इदं सर्व०' ( उसने यह सब उत्पन्न किया, यह जो कुछ है ) इस प्रकार ब्रह्मका कथन किया है । और ब्रह्म कारण होकर मुख्यवृत्तिसे अपने विकार आनन्दमयका

रत्नप्रभा

प्रियादिविशिष्टत्वाकारेण आनन्दमयस्य जीवस्य कार्यत्वात् तं प्रति शेषत्वं ब्रह्मणो न युक्तमित्यर्थः । "मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते" (ब्र० सू० १।१।१५) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति यस्य ज्ञानात् मुक्तिः उक्ता, यत् 'सत्यं ज्ञानम्' इति मन्त्रोक्तं ब्रह्म, तत् अत्रैव पुच्छवाक्ये गीयते, ब्रह्मपदसंयोगात्, नाऽऽनन्दमयवाक्ये इत्यर्थः । "नेतरोऽनुपपत्तेः" (ब्र० सू० १।१।१६) इतर आनन्दमयो जीवोऽत्र न प्रतिपाद्यः, सर्वस्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तेः इत्यर्थः । "भेदव्यपदेशाच्च" ( ब्र० सू० १।१।१७ ) । अयम् आनन्दमयो ब्रह्मरसं लब्ध्वा आनन्दी भवति इति, भेदोक्तेश्च तस्य अप्रतिपाद्यता इत्यर्थः । आनन्दमयो ब्रह्म, तैत्तिरीयकपञ्चमस्थानस्थत्वात्, भृगुवल्लीस्थानन्दवदिति आशङ्क्याऽऽह—"कामाच्च नानुमानापेक्षा" (ब्र० सू० १।१।१८) । काम्यत इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिमें कहा गया है, इससे प्रियादिविशिष्टरूपसे आनन्दमय जीव भी कार्य है इससे उसके प्रति ब्रह्म अङ्ग हो यह युक्त नहीं है । "मान्त्रवर्णिक०" 'ब्रह्म०' ( ब्रह्मवेत्ता पर—ब्रह्मको पाता है ) इस प्रकार जिसके ज्ञानसे मुक्ति कही गई है और जो 'सत्यं ज्ञान०' मंत्रमें कहा गया है, वह ब्रह्म यहाँ—पुच्छ वाक्यमें ही कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मपदका सांनिध्य है, आनन्दमय-वाक्यमें नहीं कहा गया, यह तात्पर्य है । "नेतरो०"—इतर अर्थात् आनन्दमय जीव यहाँ प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि सब पदार्थोंका स्रष्टृत्व आदि जीवमें उपपन्न नहीं हैं अर्थात् जीव सब पदार्थोंका स्रष्टा नहीं हो सकता । "भेद०" यह आनन्दमय ब्रह्मरस प्राप्त करके आनन्द-युत होता है । इस प्रकार ब्रह्म और आनन्दमयका भेद कहा है, अतः आनन्दमय—जीव श्रुति-प्रतिपाद्य नहीं है । आनन्दमय ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्मवल्लीके पांचवें स्थानमें है, भृगुवल्लीमें आये हुए आनन्दके समान, ऐसे अनुमानको शङ्का करके कहते हैं—"कामाच्च०" । सबसे आनन्दको

भाष्य

पद्यते । अपराण्यपि सूत्राणि यथासंभवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानि ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

अवयव हो यह सम्भव नहीं है। दूसरे भी सूत्र यथासम्भव पुच्छवाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्मके उपपादक हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

काम आनन्दः, तस्य भृगुवल्ल्यां पञ्चमस्य ब्रह्मत्वदृष्टेः आनन्दमयस्याऽपि ब्रह्मत्वानुमानापेक्षा न कार्या, विकारार्थकमयड्विरोधात् इत्यर्थः । भेदव्यपदेशः चेत् सगुणं ब्रह्म अत्र वेद्यं स्याद् इति आशङ्क्याऽऽह—"अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति" ( ब्र० सू० १।१।१९ ) । गुहानिहितत्वेन प्रतीचि 'स एकः' इत्युपसंहृते पुच्छवाक्योक्ते ब्रह्मणि अहमेव परं ब्रह्म इति प्रबोधवत आनन्दमयस्य 'यदा हि' इति शास्त्रं ब्रह्मभावं शास्ति, अतो निर्गुणब्रह्मैक्यज्ञानार्थं जीवभेदानुवाद इति अभिप्रेत्य आह—अपराण्यपीति ॥१९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इच्छा की जाती है, इसलिए काम आनन्द है, वह भृगुवल्लीमें पाँचवाँ है और ब्रह्मका वाचक है, इस कारण ब्रह्मवल्लीका आनन्दमय भी ब्रह्म है ऐसे अनुमानकी आशा न करनी चाहिए; क्योंकि विकारार्थक मयट्का विरोध होता है। यहाँ यदि भेदका व्यपदेश हो तो सगुण ब्रह्म ही वेद्य प्रतिपादित हुआ ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"अस्मिन्नस्य०" गुहानिहित है, इसलिए प्रत्यक्, पुच्छवाक्यमें कहे हुए ब्रह्मका जो यह मनुष्य-शरीरमें है और जो आदित्यमें है वह एक ही है, ऐसा उपसंहार होनेपर 'मैं ही परब्रह्म हूं' ऐसा प्रबोधवाले आनन्दमय—जीवका "यदा हि" इस शास्त्रमें ब्रह्मभावका उपदेश किया है, इस कारण निर्गुणब्रह्मैक्य ज्ञानके लिए जीवभेदका अनुवाद है ऐसा "अपराण्यपि" इत्यादिसे कहते हैं ॥ १९ ॥

* आनन्दमयाधिकरण समाप्त *
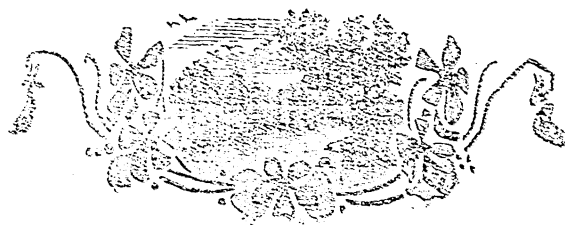
## [७ अन्तरधिकरण सू० २०--२१]

*हिरण्मयो देवतात्मा किं वाऽसौ परमेश्वरः ।*
*मर्यादाधाररूपोक्तेर्देवतात्मैव नेश्वरः ॥ १ ॥*
*सार्वात्म्यात् सर्वदुरितराहित्याच्चेश्वरो मतः ।*
*मर्यादाद्या उपास्त्यर्थमीशेऽपि स्युरुपाधिगाः ॥ २ ॥*

### [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—"अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते" इस श्रुतिमें उक्त हिरण्मय पुरुष देवता है अथवा परमेश्वर है ?

**पूर्वपक्ष**—उसके ऐश्वर्यकी सीमा, उसका आधार और रूप कहे गये हैं, इस कारण हिरण्मय पुरुष देवता ही है, परमेश्वर नहीं है [क्योंकि परमेश्वरका ऐश्वर्य सीमित नहीं है, उसका कोई आधार भी नहीं है और वह रूपरहित है]

**सिद्धान्त**—श्रुतिमें वह सर्वात्मक एवं सर्वपापशून्य है ऐसा कहा गया है, अतः हिरण्मय पुरुष परमेश्वर ही है। [जीव सर्वात्मक और सर्वपापशून्य नहीं हो सकता] यद्यपि मर्यादा आदि साक्षात् ईश्वरमें नहीं हैं, किन्तु उपाधिगत हैं, तो भी उपाधि द्वारा सोपाधिक ईश्वरमें हैं अतः उपासनाके लिए कहे गये हैं।

## अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

**पदच्छेद**—अन्तः, तद्धर्मोपदेशात् ।

**पदार्थोक्ति**—अन्तः—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये' इति श्रुतौ आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती हिरण्मयः पुरुषः [न सूर्यः, कुतः] तद्धर्मोपदेशात्—अपहतपाप्मत्वादिब्रह्मधर्माणामुपदेशात् [परमेश्वर एव] ।

**भाषार्थ**—'अथ य एषो०' इस श्रुतिमें उक्त आदित्यमण्डलके भीतर रहनेवाला हिरण्मय पुरुष सूर्य नहीं है, क्योंकि पापशून्यत्व आदि ब्रह्मके धर्म कहे गये हैं, वे धर्म सूर्यमें नहीं घट सकते हैं, अतः वह पुरुष परमेश्वर ही है।

भाष्य

इदमाम्नायते—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः' 'तस्य यथा कप्यासं

भाष्यका अनुवाद

श्रुति यह कहती है—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये०' आदित्यके भीतर ज्योतिर्मय जो यह पुरुष दिखाई देता है, उसकी ज्योतिर्मय मूछें हैं, ज्योतिर्मय केश हैं, वह नखाग्रपर्यन्त सारा ही ज्योतिर्मय है ), 'तस्य यथा०' ( बन्दरके पुच्छ भाग जैसे

रत्नप्रभा

छान्दोग्यवाक्यम् उदाहरति—**अथ य इति**। 'अथ' इति उपास्तिप्रारम्भार्थः। हिरण्मयः ज्योतिर्विकारः, पुरुषः पूर्णोऽपि मूर्तिमान् उपासकैः दृश्यते। मूर्तिमाह—**हिरण्येति**। प्रणखः नखाग्रम्, तेन सह इत्यभिविधौ आङ्। नेत्रयोः विशेषम् आह—**तस्येति**। कपेर्मर्कटस्य आसः पुच्छभागोऽत्यन्ततेजस्वी तत्तुल्यं पुण्डरीकं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अथ य०" इत्यादिसे छान्दोग्यवाक्यको उद्धृत करते हैं। उपासनाका आरम्भ दिखानेके लिए 'अथ' कहा है। हिरण्मय—ज्योतिका विकार। पुरुष पूर्ण है तो भी उपासक उसको मूर्तिमान् देखते हैं। "हिरण्य" इत्यादिसे मूर्तिको कहते हैं। प्रणखः—नखाग्र। आप्रणखात्—नखके अग्र भागको लेकर इस अभिविधिको सूचित करनेके लिए यहाँ 'आङ्' है। नेत्रोंमें विशेषता दिखलाते हैं—"तस्य" इत्यादिसे। जैसे बन्दरका पुच्छभाग अति तेजस्वी है, उसके

( १ ) यहाँ पर वृत्तिकार हीनोपमा दोषके भयसे 'कं जलं पिबतीति कपिः सूर्यः, तेनासितं विकसितं कप्यासम्'—जल पीता है अतः कपि—सूर्य, उससे विकसित पुण्डरीक, 'कं पिबतीति कपिः पद्मनालः, तत्रास्ते इति कप्यासम्'—कपि—पद्मनाल, उसमें रहनेवाला पुण्डरीक इत्यादि अनेक तरहके समास मानकर 'कप्यास' शब्दका अर्थ अन्य प्रकारसे करते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि बन्दरके पुच्छभागको हिरण्मय पुरुषके नेत्रका उपमान बनाना ठीक नहीं है। यह उनका कथन अयुक्त है, क्योंकि सूर्यकी किरणोंसे जल सूखता है, अतः शोषणमें ग्रहणत्वका आरोप करके, ग्रहणमें पानत्वका आरोप ( अर्थात् किरणें जल पीती हैं ऐसा आरोप ) करके, किरणगत पानकर्तृत्वका सूर्यमें आरोप कर अतिक्लेशसे 'कपि' शब्दका अर्थ सूर्य होता है। रूढ्यर्थके बलवत्तर होनेके कारण इस प्रकार खींचातानीसे अर्थ करना ठीक नहीं है। हीनोपमाका वर्णन होता है, वह दोष रूपसे स्वीकृत नहीं है। इसीलिए—'महामहानील-शिलारुचः पुरो न्यसेदिवान् कंसकृपः स विष्टरे। श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरत् चन्द्रमसोऽभि-रामताम्' यहाँ पर हीन सायंकाल भगवान्का उपमान बनाया गया है। किञ्च, बन्दरके पुच्छ भागगत रक्तिमारूप धर्म पुण्डरीकमें कहा गया है, तादृश रक्त-पुण्डरीकसदृश नेत्र कहे गये हैं, अतः नेत्रमें साक्षात् बन्दरके पुच्छभागका सादृश्य भी नहीं कहा गया है, इस कारण हीनोपमा दोष भी नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि प्रसिद्धार्थको छोड़कर योगसाध्य अप्रसिद्धार्थके कहनेमें निहतार्थत्वदोष भी होता है।

भाष्य

पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद' 'इत्यधिदैवतम्' ( छा० १।६।६,७,८ )। 'अथाऽध्यात्मम्' 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १।७।१,५) इत्यादि। तत्र संशयः—किं विद्याकर्मातिशय-वशात् प्राप्तोत्कर्षः कश्चित्संसारी सूर्यमण्डले चक्षुषि चोपास्यत्वेन श्रूयते किं वा नित्यसिद्धः परमेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तम् ?

भाष्यका अनुवाद

पुण्डरीककी तरह उसकी आँखें हैं। उसका नाम 'उद्' है, वह देव सब पापोंसे मुक्त है, जो ऐसे गुणोंसे सम्पन्न 'उत्' नामक देवकी यथोक्त प्रकारसे उपासना करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ) यह अधिदैवत है। अब अध्यात्म कहा जाता है—'अथ य०' ( जो आँखके भीतर पुरुष दीखता है ) इत्यादि। यहाँ पर संशय होता है कि अतिशय विद्या और कर्मके प्रभावसे जिसने श्रेष्ठता प्राप्त की है, ऐसा कोई संसारी सूर्यमण्डलमें और आँखमें उपास्यरूपसे श्रुति द्वारा प्रतिपादित है अथवा नित्यसिद्ध परमेश्वर ?

रत्नप्रभा

यथा दीप्तिमद् एवं तस्य पुरुषस्य अक्षिणी, सद्योविकसितरक्ताम्भोजनयन इत्यर्थः। उपासनार्थम् आदित्यमण्डलं स्थानं रूपं च उक्त्वा नाम करोति—**तस्योदिति**। उन्नाम निर्वक्ति—**स इति**। उदित उद्गतः, सर्वपाप्मास्पृष्ट इत्यर्थः। उपासनार्थं नामज्ञानफलमाह—**उदेति हेति**। देवतास्थानम् आदित्यम् अधिकृत्य उपास्युक्त्य-नन्तरम् आत्मानं देहमधिकृत्याऽपि तदुक्तिरित्याह—**अथेति**। पूर्वत्र ब्रह्मपदम् आनन्दमयपरम् आनन्दपदाभ्यासश्चेति मुख्यत्रितयादिबहुप्रमाणवशात् निर्गुणनिर्णय-

रत्नप्रभाका अनुवाद

समान दीप्तिमान् जो कमल उससे मिलती जुलती उस पुरुषकी आंखें हैं अर्थात् तत्काल विकासित लाल कमलके समान उसकी आंखें हैं। उपासनाके लिए आदित्यमण्डल रूपी स्थान और रूप कहकर उसका नाम कहते हैं—"तस्योदिति" इत्यादिसे। उदितः—पापमात्रके संसर्गसे रहित। उपासनाके लिए नामके ज्ञानका फल कहते हैं—"उदेति ह" इत्यादिसे। देवताके स्थान आदित्य मण्डलमें उपासना कहकर आत्मा—देहमें भी उपासना है ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। पूर्व अधिकरणमें ब्रह्मपद, आनन्दमयपद और आनन्दका अभ्यास इन तीन प्रमाणों तथा अन्य प्रमा-णोंसे जैसे निर्गुण ब्रह्मका निर्णय किया है, वैसे ही रूपवत्त्व आदि अनेक प्रमाणोंसे जीव हिरण्मय

भाष्य

संसारीति । कुतः ? रूपवत्त्वश्रवणात् । आदित्यपुरुषे तावत् 'हिरण्यश्मश्रुः' इत्यादि रूपमुदाहृतम् । अक्षिपुरुषेऽपि तदेवाऽतिदेशेन प्राप्यते—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' इति । न च परमेश्वरस्य रूपवत्त्वं युक्तम्, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'(का० १।३।१५) इति श्रुतेः । आधारश्रवणाच्च–'य एषोऽन्तरादित्ये' 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति । नह्यनाधारस्य स्वमहिमप्रतिष्ठस्य सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्याऽऽधार उपदिश्येत । 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' ( छा०७।२४।१ ) इति, 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इति च श्रुती भवतः ।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—संसारी ही उपास्यरूपसे प्रतिपादित है, क्योंकि श्रुतिमें वह रूपवान् कहा गया है। आदित्यमें जो पुरुष है, उसकी ज्योतिर्मय मूछें हैं इत्यादि उसके रूपका वर्णन किया गया है। और 'तस्यैतस्य०' ( इस अक्षिपुरुषका वही रूप है जो कि उस आदित्यपुरुषका है ) इस श्रुति द्वारा आँखमें जो पुरुष है, उसमें भी अतिदेशसे वही रूप प्राप्त होता है। परन्तु परमेश्वरका रूप होना सम्भव नहीं है, क्योंकि 'अशब्द०' (शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और नाशरहित) यह श्रुति उसमें रूपवत्ताका निषेध करती है और 'य एषोऽन्तरादित्ये, य एषोऽन्तरक्षिणि' ( जो उस आदित्यमण्डलमें है, जो इस आँखमें है ) इस श्रुतिमें उसका [आदित्यपुरुष और अक्षिपुरुषका ] आधार कहा गया है। आधाररहित अपनी महिमामें प्रतिष्ठित सर्वव्यापी परमेश्वरका भी यहाँ उपदेश होता तो आधारका उपदेश न किया जाता। प्रत्युत इसके विपरीत 'स भगवः०' ( हे भगवन्! वह भूमा–ब्रह्म किसमें प्रतिष्ठित है इस प्रकार पूछनेवाले नारदके प्रति सनत्कुमार कहते हैं—वह अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है ) ऐसी और 'आकाशवत्०' ( आकाशके समान

---

रत्नप्रभा

वत्, रूपवत्त्वादिबहुप्रमाणवशात् जीवो हिरण्मय इति पूर्वसिद्धान्तदृष्टान्तसङ्गत्या पूर्वम् उत्सर्गतः सिद्धनिर्गुणसमन्वयस्य अपवादार्थं पूर्वपक्षयति—**संसारीति** । अत्र पूर्वोत्तरपक्षयोः जीवब्रह्मणोः उपास्तिः फलम् , अक्षिणि इति आधारश्रवणाच्च

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, यह निर्णय किया गया है इस प्रकार पूर्वाधिकरण सिद्धान्तसे दृष्टान्तरूप संगति द्वारा पहले सामान्यतः सिद्ध निर्गुण ब्रह्म समन्वयके अपवादके लिए पूर्वपक्ष करते हैं—"संसारी" इत्यादिसे। यहाँ पूर्वपक्षमें जीवकी उपासना और सिद्धान्तमें ब्रह्मकी उपासना फल है। 'आँखमें' ऐसा श्रुतिमें

भाष्य

ऐश्वर्यमर्यादाश्रुतेश्च । 'स एष ये चाऽमुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' ( छा० १।६।८ ) इत्यादित्यपुरुषस्यैश्वर्यमर्यादा । 'स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' ( छा० १।७।६ ) इत्यक्षिपुरुषस्य । न च परमेश्वरस्य मर्यादावदैश्वर्यं युक्तम्, 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय'

भाष्यका अनुवाद

सर्वव्यापी और नित्य है ) ऐसी श्रुतियां हैं। तथा [ इस आदित्यपुरुष और अक्षिपरुषके ] ऐश्वर्यकी मर्यादा श्रुतिमें कही गई है, इसलिए [ ब्रह्म आदित्यगत और अक्षिगत नहीं है ] 'स एष०' ( यह उ संज्ञक देव जो लोक उस आदित्यसे ऊपर हैं, उनपर और देवोंके कामों—भोगोंपर शासन करता है ) ऐसी आदित्यपुरुषके ऐश्वर्यकी मर्यादा है। और 'स एष०' ( यह उत्संज्ञक देव जो लोक नेत्रसे नीचे हैं, उनपर और मनुष्योंके कामों—भोगोंपर शासन करता है ) इस प्रकार अक्षिपुरुषके ऐश्वर्यकी मर्यादा है। और परमेश्वरका ऐश्वर्य सीमित नहीं है, क्योंकि 'एष सर्वेश्वर०' ( यह सबका ईश्वर है, यह भूतोंका अधिपति है, यह भूतोंका पालक है, लोकोंकी मर्यादा छिन्न-भिन्न न हो जाय इसके लिए यह

रत्नप्रभा

संसारी इति सम्बन्धः । श्रुतिमाह—**स एष इति** । आदित्यस्थः पुरुषः, अमुष्माद् आदित्याद् ऊर्ध्वगा ये केचन लोकाः, तेषाम् ईश्वरो देवभोगानां च इत्यर्थः । स एषोऽक्षिस्थः पुरुष एतस्माद् अक्ष्णोऽधस्तना ये लोकाः, ये च मनुष्यकामा भोगाः तेषाम् ईश्वर इति मर्यादा श्रूयते । अतः श्रुतेश्च संसारी इत्यर्थः । एष सर्वेश्वर इति अविशेषश्रुतेः इति सम्बन्धः । भूताधिपतिः यमः भूतपाल इन्द्रादिश्च एष एव । किञ्च, जलानाम् असङ्कराय लोके विधारको यथा सेतुः, एवम् एषां

रत्नप्रभाका अनुवाद

आधार कहा है, इसलिए हिरण्यमय पुरुष जीव है, ऐसी योजना करनी चाहिए। श्रुति कहते हैं—"स एषः" इत्यादिसे। 'स एषः'—आदित्यस्थ पुरुष। सूर्यसे जो लोक ऊपर हैं, उनका और देवभोगोंका वह आदित्य पुरुष ईश्वर है, और अक्षिपुरुष आँखसे नीचे जो लोक हैं, उनका और मनुष्यभोगोंका ईश्वर है। इस प्रकार श्रुतिमें मर्यादाका प्रतिपादन है, इसलिए आदित्यपुरुष और अक्षिपुरुष संसारी हैं। 'एष सर्वेश्वरः' इसका 'अविशेषश्रुतेः' इसके साथ सम्बन्ध है। भूताधिपतिः—यम, भूतपालः—इन्द्र आदि। यह सर्वेश्वर है, यम और इन्द्र आदि भी यही है। और ज़लका मिश्रण न हो इसलिए लोकमें जैसे सेतु जलधारक

भाष्य

(बृ०४।४।२२) इत्यविशेषश्रुतेः। तस्मान्नाऽक्ष्यादित्ययोरन्तः परमेश्वर इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इति। 'य एषोऽन्तरादित्ये' 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति च श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव, न संसारी। कुतः? तद्धर्मोपदेशात्। तस्य हि परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टाः, तद्यथा— 'तस्योदिति नाम' इति श्रावयित्वा अस्याऽऽदित्यपुरुषस्य नाम 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति सर्वपाप्मापगमेन निर्वक्ति। तदेव च

भाष्यका अनुवाद

व्यवस्था करनेवाला सेतु है ) यह श्रुति परमेश्वरके विषयमें किसी प्रकारकी सीमाका निर्धारण नहीं करती है। इससे सिद्ध हुआ कि आंख और आदित्यके भीतरका पुरुष परमेश्वर नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'अन्त'। 'य एषो०' ( जो यह आदित्यके भीतर ) और 'य एषो०' ( जो इस आंखके भीतर ) इस प्रकार श्रुतिमें जो पुरुष कहा गया है, वह परमेश्वर ही है, संसारी नहीं है। क्यों? तद्धर्म्म०—उस परमेश्वरके धर्मोंका ही यहांपर उपदेश किया गया है। वे इस प्रकार हैं—'तस्योदिति नाम' ( उसका 'उद्' नाम है ) इस प्रकार आदित्य पुरुषके नामका प्रतिपादन करके 'स एष सर्वेभ्यः०'

---

रत्नप्रभा

लोकानां वर्णाश्रमादीनां मर्यादाहेतुत्वात् सेतुः एष एव। अतः सर्वेश्वर इत्यर्थः। सूत्रं व्याचष्टे—**य एष इति**। यद्यपि एकस्मिन् वाक्ये प्रथमश्रुतानुसारेण चरमं नेयम्। तथापि अत्र प्रथमं श्रुतं रूपवत्त्वं निष्फलं ध्यानार्थम् ईश्वरे नेतुं शक्यं च सर्वपाप्मासङ्गित्वं सर्वात्मैकत्वं तु सफलं जीवे नेतुम् अशक्यं च इति प्रबलम्। न च "न ह वै देवान् पापं गच्छति" (बृ० १।५।२०) इति श्रुतेः आदित्यजीवस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, उसी प्रकार लोकोंके वर्णाश्रमादिका संकर—मिश्रण न हो, इसलिए उनकी मर्यादाका हेतुरूप यह सेतु है और इसी कारण सर्वेश्वर है, ऐसा अर्थ है। सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"य एषः" इत्यादिसे। यद्यपि एक वाक्यमें प्रथम श्रुत भागके अनुसार अन्त श्रुत भागका अर्थ करना चाहिए, तो भी प्रथम श्रुत रूपवत्त्व निष्फल है और ध्यानके लिए ईश्वरमें भी लागू हो सकता है, परन्तु सब पापोंसे मुक्ति एवं सर्वात्मैकत्व सफल हैं और जीवमें लागू नहीं हैं, इससे वे बलवत्तर लिङ्ग हैं और उनके अनुसार अर्थ करना ठीक है। यहाँ कोई शङ्का करे कि 'न ह वै०' ( देवताओंको पाप लगता ही नहीं है )

भाष्य

कृतनिर्वचनं नामाऽक्षिपुरुषस्याऽप्यतिदिशति—'यन्नाम तन्नाम' इति। सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव श्रूयते—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा०८।७।१) इत्यादौ। तथा चाक्षुषे पुरुषे 'सैवर्क् तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म' इत्यृक्सामाद्यात्मकतां निर्धारयति। सा च परमेश्वरस्योपपद्यते,

भाष्यका अनुवाद

( वह सब पापोंसे मुक्त है ) ऐसा श्रुति उत्नामका निर्वचन करती है और निर्वचन किये हुए इस नामका अक्षिपुरुषमें 'यन्नाम' तन्नाम' ( जो आदित्य-पुरुषका नाम है, वह अक्षिपुरुषका नाम है ) इस प्रकार अतिदेश करती है। और 'य आत्मा०' ( जो आत्मा पापरहित है ) इत्यादि श्रुतियां परमात्माको ही सब पापोंसे मुक्त कहती हैं। इसी प्रकार 'सैव ऋक्०' ( वही अक्षिपुरुष ऋक्, वही साम, वही उक्थ, वही यजु और वही ब्रह्म है ) यह श्रुति अक्षिपुरुषमें ऋक्, साम आदिका 'वह आत्मा है' ऐसा निर्धारण करती है। यह परमेश्वरके

---

रत्नप्रभा

अपि पाप्मास्पर्शित्वमिति वाच्यम्। श्रुतेः अधुना कर्मानधिकारिणां देवानां क्रियमाणपाप्मासम्बन्धे तत्फलास्पर्शे वा तात्पर्यात्। तेषां सञ्चितपापाभावे "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" ( भ० गी० ९।२१ ) इति अयोगात् इति अभिप्रेत्य आह—**सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एवेति**। सार्वात्म्यम् आह—**तथेति**। अत्र तच्छब्दैः चाक्षुषः पुरुष उच्यते। ऋगाद्यपेक्षया लिङ्गव्यत्ययः। उक्थं शस्त्रविशेषः, तत्साहचर्यात् साम स्तोत्रम्। उक्थादन्यत् शस्त्रम् ऋग् उच्यते।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा श्रुति कहती है, इसलिए आदित्यस्थ पुरुष जीव भी पापस्पर्शरहित है। यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उस श्रुतिका तात्पर्य यह है कि देवत्वकालमें कर्मके अन-धिकारी देवोंका क्रियमाण पापके साथ संबन्ध नहीं है अथवा उनके फलका उन्हें स्पर्श नहीं होता [परन्तु देवोंके पूर्व-जन्मके संचित पाप होनेसे सर्वपापसे उनकी मुक्ति संभव नहीं है] यदि उनके संचित पाप न हों, तो 'क्षीणे पुण्ये०' ( पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें प्रवेश करते हैं ) यह कथन युक्त न होगा, इस अभिप्रायसे कहते हैं—"सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव" इत्यादिसे। "तथा" इत्यादिसे कहते हैं कि परमेश्वर सर्वात्मक है। इसमें श्रुतिगत 'तत्' शब्दोंका अर्थ चाक्षुष पुरुष है। भिन्न भिन्न विशेष्य—ऋक्, साम, उक्थ, यजु, और ब्रह्मके अनुसार तच्छब्दका लिङ्गविपर्यय—लिङ्गका हेरफेर हुआ है। 'उक्थम्'—शस्त्र-विशेष। उसके निकटवर्ती होनेके कारण 'साम' का अर्थ स्तोत्र है। उक्थसे अन्य शस्त्र 'ऋक्' है।

भाष्य

सर्वकारणत्वात् सर्वात्मकत्वोपपत्तेः । पृथिव्यग्न्याद्यात्मके चाऽधिदैवतं ऋक्सामे, वाक्प्राणाद्यात्मके चाऽध्यात्ममनुक्रम्याऽऽह—'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ' इत्यधिदैवतम् । तथाऽध्यात्ममपि—'यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ' इति । तच्च सर्वात्मन एव उपपद्यते 'तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं

भाष्यका अनुवाद

लिए ही युक्त है, क्योंकि वह सबका कारण होनेसे सबका आत्मा है । और ऋक् पृथिवी है, साम अग्नि है, इस प्रकार अधिदैव और वाक् ऋक् है, प्राण साम है, ऐसे अध्यात्मका अनुक्रम—आरम्भ कर श्रुति कहती है—'तस्य ऋक् च०' ( ऋक् और साम उसके पर्व हैं ) यह अधिदैवत है, इसी प्रकार 'यावमुष्य गैष्णौ०' ( आदित्य पुरुषके जो पर्व हैं, वे अक्षिपुरुषके पर्व हैं ) अध्यात्म भी है । और यह ( ऋक् और साम पर्व हैं यह ) सर्वात्मकमें ही

रत्नप्रभा

यजुर्वेदो यजुः । ब्रह्म त्रयो वेदा इत्यर्थः । **पृथिव्यग्न्याद्यात्मक इति** । अधिदैवतम् ऋक्—पृथिव्यन्तरिक्षद्युनक्षत्रादित्यगतशुक्लभारूपा पञ्चविधा श्रुत्युक्ता । साम च—अग्निवाय्वादित्यचन्द्रादित्यगतातिकृष्णरूपमुक्तं पञ्चविधम् । अध्यात्मं तु ऋक् वाक्चक्षुःश्रोत्राक्षिस्थशुक्लभारूपा चतुर्विधा । साम च प्राणच्छायात्ममनोऽक्षिगतातिनीलरूपं चतुर्विधमुक्तम् । एवं क्रमेण ऋक्सामे अनुक्रम्य आह श्रुतिः—**तस्येति** । यौ सर्वात्मकर्क्सामात्मकौ गेष्णौ अमुष्य आदित्यस्थस्य तौ एव अक्षिस्थस्य गेष्णौ पर्वणी इत्यर्थः । **तच्चेति** । ऋक्सामगेष्णत्वम् इत्यर्थः । सर्व-

**रत्नप्रभाका अनुवाद**

'यजुः'—यजुर्वेद । ब्रह्म—तीन वेद । "पृथिव्यग्न्याद्यात्मके" इत्यादि । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, नक्षत्र और आदित्यमें रहनेवाली शुक्ल प्रकाश रूप पांच प्रकारकी ऋक् अधिदैवत प्रकरणमें कही गई है । अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र और आदित्यमें रहनेवाला अतिकृष्ण रूप यह पांच प्रकारका साम अधिदैवत प्रकरणमें कहा गया है । वाक्, चक्षु, श्रोत्र और अक्षिमें रहनेवाला शुक्ल रूप चार प्रकारकी ऋक् अध्यात्म प्रकरणमें कही गई है, इसी प्रकार प्राण, छायात्मा, मन और अक्षिमें रहनेवाला अतिनील रूप चार प्रकारका साम भी है । इस प्रकार ऋक् और सामको प्रस्तुत करके "तस्य" इत्यादि श्रुति कहती है कि जो आदित्य पुरुषके सर्वात्मक ऋक् और साम पर्व हैं, वे ही पर्व चाक्षुष पुरुषके हैं । "तच्च"—ऋक् और सामका पर्व होना । सब गानोंसे परमात्मा ही गेय है, इस दूसरे लिङ्गसे भी आदित्यपुरुष और चाक्षुष

(१) ऋक् और साम सर्वात्मक होनेसे सर्वात्मक उत् नामक पुरुषके अवयवसन्धि कहलाते हैं अथवा सोपान पर्वद्वयके समान उत् नामक पुरुषकी स्तुतिमें ऋक् और साम दोनों साधन हैं, अतः पर्व कहलाते हैं । विशेष यह है कि ऋक् स्तुतिमें साक्षात् साधन है, साम ऋक्की अभिव्यक्तिके द्वारा साधन है ।

भाष्य

ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः' ( छा० १।७।६ ) इति च लौकिकेष्वपि गानेष्वस्यैव गीयमानत्वं दर्शयति। तच्च परमेश्वरपरिग्रहे घटते—

'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्' ॥ (भ०गी०१०।४१)

इति भगवद्गीतादर्शनात्। लोककामेशितृत्वमपि निरङ्कुशं श्रूयमाणं परमेश्वरं गमयति। यत्तूक्तं हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यत इति, अत्र ब्रूमः—स्यात् परमेश्वरस्याऽपीच्छावशात् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्,

भाष्यका अनुवाद

संगत हो सकते हैं। 'तद्य इमे वीणायां०' ( जो ये गायक वीणामें गाते हैं, वे उस ईश्वरको ही गाते हैं, इसीसे वे धनलाभ करते हैं ) इस प्रकार लौकिक गानमें भी वही गाया जाता है, ऐसा श्रुति दिखलाती है। यह तभी घटता है जब परमेश्वररूप अर्थ लें। 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं०' (हे कुन्तीपुत्र! जो जो ऐश्वर्यशाली, श्रीयुक्त और बलयुक्त सत्त्व है, वह सब मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुआ है ) ऐसा भगवद्गीतामें देखा जाता है। तथा लोक और भोगपर जो निरङ्कुश स्वामित्व सुननेमें आता है, वह भी परमेश्वरका ही अनुमान कराता है। उसकी ज्योतिर्मय मूछें हैं, ऐसा जो रूप श्रुतिमें कहा गया है, वह परमेश्वरमें नहीं घटता ऐसा जो पीछे कहा गया है, उस विषयमें कहते हैं—साधकके अनुग्रहके लिए इच्छावशसे परमेश्वरका भी मायामय रूप हो सकता है, क्योंकि

रत्नप्रभा

गानगेयत्वं लिङ्गान्तरमाह—तद्य इति। तत् तत्र लोके धनस्य सनिः लाभो येषां ते धनसनयो विभूतिमन्त इत्यर्थः। ननु लोके राजानो गीयन्ते नेश्वर इत्यत आह—यद्यदिति। पशुवित्तादिः विभूतिः, श्रीः कान्तिः, उर्जितत्वं बलम्, तद्युक्तं सत्त्वं राजादिकं मदंश एवेत्युक्तेः तद्गानम् ईश्वरस्य एवेत्यर्थः। निरङ्कुशम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुष परमात्मा ही हैं, ऐसा कहते हैं—"तद्य०" इत्यादिसे। 'तत्'—लोकमें 'धनसनयः'—धनसे युक्त अर्थात् ऐश्वर्यशाली। परन्तु लोकमें राजा गाये जाते हैं ईश्वर नहीं गाया जाता है, इसपर कहते हैं—"यद्यत्" इत्यादिसे। पशु, धन आदि 'विभूति'। श्री—कान्ति। ऊर्जितत्व—बल। विभूति, श्री और बलसे युक्त जो प्राणी—राजादि हैं, वे मेरे अंश ही हैं ऐसा श्रीकृष्णजीने कहा है, इसलिए उनका गान ईश्वरका ही गान है। निरङ्कुश—जो अन्यके अधीन न हो

भाष्य

'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ! ।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि' ॥

इति स्मरणात् । अपि च यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपमुपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि । सर्वकारणत्वात् तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते— 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' ( छा० ३।१४।२ ) इत्यादिना । तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति । यदप्याधारश्रवणान्न

भाष्यका अनुवाद

'माया ह्येषा मया सृष्टा०' ( हे नारद ! तू जो मुझको देखता है, यह मेरी विचित्रमूर्त्ति रची हुई माया है, और सब भूतोंके गुणोंसे युक्त ऐसा ही वस्तुतः मैं हूँ—यह तू न समझना ) ऐसा स्मृति कहती है । और जहां, सब उपाधियां जिससे दूर हो गई हैं, ऐसे परमेश्वरके रूपका उपदेश है, वहां 'अशब्द०' ( वह शब्द-रहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, और नाशरहित है ) इत्यादि शास्त्र लागू हैं । परन्तु परमेश्वर सबका कारण होनेसे कितने ही विकारधर्मोंसे विशिष्ट परमेश्वरका भी उपास्यरूपसे 'सर्वकर्मा०' ( सर्वकामनावाला, सर्वगंधयुक्त और सर्वरस-युक्त है ) इत्यादिसे निर्देश होता है । इसी प्रकार ज्योतिर्मयश्मश्रुत्व[1] आदिका

रत्नप्रभा

अनन्याधीनम् । एषा विचित्ररूपा मूर्तिः माया विकृतित्वात् माया मया सृष्टा इत्यर्थः । यदुक्तम् अशब्दम् इत्यादिवाक्यं तत् ज्ञेयपरम् इत्याह—**अपि चेति** । तर्हि रूपं कुतः ।? तत्राह—**सर्वेति** । यत्र तु उपास्यत्वेन उच्यते तत्रेति अध्याहृत्य सर्वकारणत्वात् प्राप्तरूपवत्त्वं 'सर्वकर्मा' इत्यादिश्रुत्या निर्दिश्यते इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् स्वतंत्र । तात्पर्य यह है कि यह मेरी विचित्ररूपवाली मूर्ति मायाका विकार है इस कारण माया कहलाती है, मुझसे ही इसकी रचना हुई है । "अपि च" इत्यादिसे कहते हैं कि 'अशब्दम्' इत्यादि जो वाक्य कहे गये हैं, वे ज्ञेय ब्रह्मपरक हैं । तब रूप कहाँसे आया, इसपर कहते हैं—"सर्व" इत्यादि । 'जहाँ उपास्य कहा गया है, वहाँ' इतना अध्याहार करके सबके कारण होनेसे ईश्वरने जिस रूपको पाया है, वही रूप 'सर्वकर्मा' इत्यादि श्रुतिसे कहा जाता है ऐसी योजना करनी चाहिए । ईश्वरका ऐश्वर्य सीमित नहीं है, ऐसा जो पीछे

(१) श्मश्रु—मूंछ ।

भाष्य

परमेश्वर इति। अत्रोच्यते—स्वमहिमप्रतिष्ठस्याऽप्याधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वाद् ब्रह्मणो व्योमवत् सर्वान्तरत्वोपपत्तेः। ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमुपासनार्थमेव। तस्मात् परमेश्वर एवाऽक्ष्यादित्ययोरन्तरुपदिश्यते ॥ २० ॥

भाष्यका अनुवाद

कथन भी हो सकता है। और श्रुतिमें उसका आधार कहा गया है, इसलिए आदित्यपुरुष अथवा अक्षिपुरुष परमेश्वर नहीं है ऐसा जो कहा है, उस विषयमें कहा जाता है। अपनी महिमामें प्रतिष्ठित परमेश्वरके भी आधारका उपदेश उपासनाके लिए है, क्योंकि आकाशके समान सर्वव्यापक होनेसे उसका सर्वान्तरत्व युक्त है[1]। ऐश्वर्यकी मर्यादा कहनेवाली श्रुति भी अध्यात्म और अधिदैवत विभागकी अपेक्षा रखती है और वह उपासनाके लिए ही है। इसलिए आंख और आदित्यके भीतर परमेश्वरका ही उपदेश है ॥२०॥

रत्नप्रभा

योजना। मर्यादावद् ऐश्वर्यम् ईश्वरस्य न इत्युक्तं निराकरोति—ऐश्वर्येति। अध्यात्माधिदैवतध्यानयोः विभागः पृथक्प्रयोगः, तदपेक्षमेव न तु ऐश्वर्यस्य परिच्छेदार्थम् इत्यर्थः ॥२०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहा गया है उसका निराकरण करते हैं—"ऐश्वर्य" इत्यादिसे। अध्यात्म और अधिदैवत ध्यानके विभाग अर्थात् पृथक् प्रयोगके लिए ही ऐश्वर्यकी मर्यादा श्रुतिमें है, ऐश्वर्यकी सीमा—मर्यादा करनेके लिए नहीं है। तात्पर्य यह है कि एक ही ईश्वरका स्थानभेदसे—देव और देहके भेदसे—जो ऐश्वर्य नियमित किया है, वह पृथक् ध्यानके लिए है, मर्यादा दिखलानेके लिए नहीं है ॥ २० ॥

(१) यहां शङ्का हो सकती है कि आदित्यपुरुष—जीव भी सर्वात्मक होनेके कारण सर्वगत तथा सर्वान्तर है, क्योंकि 'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति तत्र ता ऋच०' (तै० आ० १०।१३) (आदित्यका जो वर्तुलाकार मण्डल तपता है, उस मण्डलमें ऋक् तथा ऋगभिमानी देवता हैं, अतः वह ऋगात्मक है। मण्डलमें जो भास्वर तेज प्रकाशित होता है वह साम है, उसमें सामाभिमानी देवता हैं अतः वह सामात्मक है। मण्डल तथा भास्वर तेजमें जो देवतात्मा है वह यजुरात्मक है, अतः आदित्यपुरुष ऋग्यजुःसामात्मक है) ऐसी श्रुति है। ऋक् और साम सर्वात्मक होनेके कारण ऋक्सामात्मक देवतात्मा भी सर्वात्मक है। इस शङ्काका निवारण इस प्रकार है। मण्डल आदिमें जो ऋक्सामादिरूपता कही गई है, वह स्तुतिके लिए अथवा उपासनाके लिए है। और इस मंत्रके पूर्व 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म०' मंत्रमें ब्रह्म ही प्रकृत है, अतः इसमें भी आदित्यमण्डलोपाधिक ब्रह्मको ही ऋक्सामाद्यात्मक कहना उचित है। तथा सर्वोपादान होनेके कारण ब्रह्म ही सर्वात्मक है—आदित्यात्मा अथवा अक्षिपुरुष सर्वात्मक नहीं हो सकते हैं।

## भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

**पदच्छेद**—भेदव्यपदेशात्, च, अन्यः ।

**पदार्थोक्ति**—भेदव्यपदेशात्—'य आदित्ये तिष्ठन्' इति श्रुतौ नियम्य-नियामकत्वेन आदित्यब्रह्मणोः भेदश्रवणात्, च—अपि, अन्यः—'अथ य०' इति श्रुत्युक्तः सूर्याद्भिन्नः [ कुतः श्रुतिसामान्यात् ] ।

**भाषार्थ**—'य आदित्ये०' इस श्रुतिमें सूर्य नियम्य है और ब्रह्म नियामक है ऐसा भेद कहा गया है, इस कारण भी 'अथ य०' इस श्रुतिमें उक्त पुरुष सूर्यसे भिन्न परमेश्वर ही है, क्योंकि दोनों श्रुतियोंमें आदित्यके अन्तर्वर्ती पुरुषका उपदेश है ।
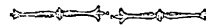
*भाष्य*

**अस्ति चाऽऽदित्यादिशरीराभिमानिभ्यो जीवेभ्योऽन्य ईश्वरोऽन्तर्यामी, 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्याऽऽदित्यः शरीरं**

*भाष्यका अनुवाद*

और आदित्य आदि शरीरोंका अभिमान रखनेवाले जीवोंसे अन्य अन्तर्यामी ईश्वर है, क्योंकि 'य आदित्ये०' ( जो आदित्यमें रहता है, और आदित्यसे अन्तर है, जिसको आदित्य नहीं जानता, जिसका आदित्य शरीर

---

*रत्नप्रभा*

ननु उपास्योद्देशेन उपास्तिविधेः विधेयक्रियाकर्मणो व्रीह्यादिवदन्यतः सिद्धिः वाच्या इत्याशङ्क्य आह—**भेदेति**। आदित्यजीवादीश्वरस्य भेदोक्तेः श्रुत्य-न्तरे जीवादन्य ईश्वरः सिद्ध इति सूत्रार्थम् आह—**अस्तीति** । आदित्ये स्थित-रश्मिनिरासार्थम् आदित्यादन्तर इति। जीवं निरस्यति—**यमिति**। अशरीरस्य कथं

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

'व्रीहीन् अवहन्ति' जहाँ व्रीहिको उद्देश्यकर अवघातका विधान होता है, वहाँ जैसे व्रीहि प्रत्यक्षसिद्ध हैं, वैसे ही उपास्य आदित्यपुरुषके उद्देश्यसे उपासनाका विधान है, अतः यहाँ भी उपास्यकी सिद्धि अन्यसे कहनी चाहिए ऐसी शंका कर कहते हैं—"भेद" इत्यादि। "अस्ति" इत्यादिसे सूत्रका अर्थ कहते हैं। आदित्यरूपी जीवसे अन्तर्यामी भिन्न है, ऐसा अन्य श्रुतिमें कहा गया है, इससे सिद्ध है कि जीवसे ईश्वर अन्य है। आदित्यमें रहनेवाली तो उसकी

भाष्य

य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' ( बृ० ३।७।९ ) इति श्रुत्यन्तरे भेदव्यपदेशात् । तत्र हि 'आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद' इति वेदितुरादित्याद् विज्ञानात्मनोऽन्योऽन्तर्यामी स्पष्टं निर्दिश्यते । स एवेहाप्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति, श्रुतिसामान्यात् । तस्मात् परमेश्वर एवेहोपदिश्यत इति सिद्धम् ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

है, जो अन्तरात्मा आदित्यपर शासन करता है, यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है) ऐसा अन्य श्रुतिमें भेद कहा गया है । यहां 'आदित्या०' (आदित्यसे भीतर, जिसको आदित्य नहीं जानता ) इस प्रकार जाननेवाले आदित्यसे— विज्ञानात्मासे अन्य अन्तर्यामी है, ऐसा स्पष्ट कहा गया है । यहां भी उसीको आदित्यान्तर्गत पुरुष मानना योग्य है, क्योंकि दोनों जगह श्रुतियां एक ही प्रकारकी हैं । अतः सिद्ध हुआ कि यहां परमेश्वरका ही उपदेश किया गया है ॥२१॥

---

रत्नप्रभा

नियन्तृत्वं तत्राह—यस्येति । अन्तर्यामिपदार्थम् आह—य इति । तस्य-अनात्मत्वनिरासाय आह—एष त इति । ते तव स्वरूपम् इत्यर्थः । आदित्यान्त-रत्वश्रुतेः समानत्वाद् इत्यर्थः । तस्मात् पर एव आदित्यादिस्थानक उद्गीथे उपास्य इति सिद्धम् ॥ २१ ॥ (७)

रत्नप्रभाका अनुवाद

किरणें भी हैं, उनका निरास करनेके लिए कहते हैं—"आदित्यादन्तरः" । ( आदित्यसे अन्तर ) आदित्यजीवका निरास करनेके लिए कहते हैं—"यं०" इत्यादि । शरीररहित नियन्ता किस प्रकार हो सकता है, इस पर कहते हैं—"यस्य" इत्यादि । अन्तर्यामी पदका अर्थ कहते हैं—"य०" इत्यादिसे । वह अनात्मा है, इस शङ्काका निरास करनेके लिए कहते हैं—"एष त०" इत्यादिसे । अर्थात् तेरा स्वरूप है । [श्रुतिसामान्यात्] अर्थात् आदित्यके अन्तर है यह श्रुति समान है । इसलिए आदित्यमें जो पुरुष है, वही परमात्मा उद्गीथमें उपास्य है ऐसा सिद्ध है ॥२१॥

* अन्तरधिकरण समाप्त *

## [८ आकाशाधिकरण]

*आकाश इति होवाचेत्यत्र खं ब्रह्म वाऽत्र खम् ।*
*शब्दस्य तत्र रूढत्वाद्वाय्वादेः सर्जनादपि ॥ १ ॥*
*साकाशजगदुत्पत्तिहेतुत्वाच्छ्रौतरूढितः ।*
*एवकारादिना चाऽत्र ब्रह्मैवाकाशशब्दितम् ॥ २ ॥*

## [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—"आकाश इति होवाच" इस श्रुतिमें 'आकाश' पद ब्रह्मका अभिधान करता है अथवा भूताकाशका ?

**पूर्वपक्ष**—'आकाश' पद भूताकाशमें ही प्रसिद्ध है और वायु आदिकी उत्पत्तिमें कारण भी है, इससे यहांपर 'आकाश' पद भूताकाशका ही बोधक है ।

**सिद्धान्त**—श्रुतिमें 'आकाश' पद ब्रह्मका भी बोध कराता है और श्रुतिमें आकाश सब भूतोंका कारण कहा गया है। सब भूतोंके अन्तर्गत भूताकाश भी है और 'आकाशादेव' में 'एव' पद दूसरे कारणोंका निराकरण करता है। अतः यहांपर आकाश-पदसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना उचित है।
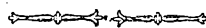
## आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

**पदच्छेद**—आकाशः, तल्लिङ्गात् ।

**पदार्थोक्ति**—आकाशः—'आकाश इति होवाच' इति श्रुतौ उक्तः आकाशः ब्रह्मैव [ न, भूताकाशः, कुतः ] तल्लिङ्गात्—सर्वभूतोत्पत्तिलयहेतुत्वादिब्रह्मलिङ्ग-सद्भावात् [ भूताकाशे तदसंभवात् ] ।

**भाषार्थ**—'आकाश इति०' इस श्रुतिमें उक्त आकाश ब्रह्म ही है, क्योंकि आकाशसे सब भूतोंकी उत्पत्ति तथा लय कहे गये हैं, सब भूतोंको उत्पन्न करना और नाश करना ब्रह्मका लिङ्ग है । भूताकाशसे सब भूतोंकी उत्पत्ति तथा लय होना संभव नहीं है ।
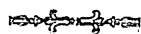
भाष्य

इदमामनन्ति—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' ( छा० १।९।१ ) इति। तत्र संशयः किमाकाशशब्देन परं ब्रह्माऽभिधीयते, उत भूताकाशमिति। कुतः संशयः ? उभयत्र प्रयोगदर्शनात्। भूतविशेषे तावत् सुप्रसिद्धो लोकवेदयोराकाशशब्दः ब्रह्मण्यपि क्वचित् प्रयुज्यमानो दृश्यते, यत्र वाक्य-शेषवशादसाधारणगुणश्रवणाद् वा निर्धारितं ब्रह्म भवति, यथा 'यदेष

भाष्यका अनुवाद

छन्दोग कहते हैं—'अस्य लोकस्य का गतिः०' ( इस लोकका क्या आधार है इस प्रकार पूछनेपर राजाने कहा—आकाश आधार है, ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं, आकाशमें अस्त होते हैं, क्योंकि आकाश इनसे अधिक बड़ा है और आकाश परम गति है ) यहांपर संशय होता है कि क्या आकाश परब्रह्मका अभिधान करता है अथवा भूताकाशका ? क्यों संशय होता है ? इससे कि दोनों अर्थोंमें 'आकाश' का प्रयोग देखा जाता है । लोक और वेदमें आकाशशब्द भूतविशेष—भूताकाशमें सुप्रसिद्ध है । ब्रह्ममें भी कहीं कहीं उसका प्रयोग देखा जाता है । जहांपर कि वाक्यशेषके बलसे अथवा असाधारण गुणके श्रवणसे ब्रह्मका निश्चय होता है, जैसे 'यदेष आकाश०' ( यदि आनन्दरूप

---

रत्नप्रभा

भवतु रूपवत्त्वादिदुर्बललिङ्गानां पापास्पर्शित्वाद्यव्यभिचारिब्रह्मलिङ्गैः अन्यथा-नयनम्, इह तु आकाशपदश्रुतिः लिङ्गाद् बलीयसीति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते प्रत्याह—**आकाशस्तल्लिङ्गादिति**। छान्दोग्यवाक्यम् उदाहरति—**इदमिति**। शालावत्यो ब्राह्मणो जैवलिं राजानं पृच्छति—अस्य पृथ्वीलोकस्य अन्यस्य च कः आधार इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वाधिकरणमें पापास्पर्शित्वरूप[1] अव्यभिचारी ब्रह्मलिङ्गसे रूपवत्त्व आदि दुर्बल लिङ्गोंकी व्यवस्था उपाधिद्वारा जो की गई है, सो हो, पर यहाँ आकाशपदकी श्रुति लिङ्गसे बलवती है, [ इसलिए अन्य प्रकारसे उसकी व्यवस्था नहीं की जा सकती ]। इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर कहते हैं—"आकाश०" । छान्दोग्यवाक्यका उल्लेख करते हैं—"इदम्" इत्यादिसे। शालावत्के पुत्र शिलक नामक ब्राह्मणने जीवलके पुत्र प्रवाहण राजासे पूछा कि इस पृथिवीका और अन्य लोकोंका क्या आधार है ? राजाने उत्तर दिया—'आकाश०'

( १ ) पापका स्पर्श न होना ।

भाष्य

आकाश आनन्दो न स्यात्' ( तै० २।७ ) इति, 'आकाशो वै नाम नाम-रूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' ( छा० ८।१४।१ ) इति चैवमादौ। अतः संशयः। किं पुनरत्र युक्तम् ?

भूताकाशमिति। कुतः ? तद्धि प्रसिद्धतरेण प्रयोगेण शीघ्रं बुद्धिमारोहति। न चाऽयमाकाशशब्द उभयोः साधारणः शक्यो विज्ञातुम्, अनेकार्थत्वप्रसङ्गात्। तस्माद् ब्रह्मणि गौण आकाशशब्दो भवितुमर्हति विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति।

भाष्यका अनुवाद

यह आकाश न हो ) और 'आकाशो वै० ( आकाश ही प्रसिद्ध नाम और रूपको व्यक्त करनेवाला है, वे ( नाम और रूप ) जिससे भिन्न हैं अथवा नाम और रूप जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है ) आदि श्रुतियोंमें है। इस कारणसे पूर्वोक्त संशय होता है। तब युक्त क्या है ?

पूर्वपक्षी—आकाशपदका अर्थ भूताकाश है, क्योंकि आकाशशब्दका भूताकाशमें प्रयोग प्रसिद्ध है, अतः वही जल्दी बुद्धिमें आता है। और यह आकाशशब्द दोनों अर्थोंमें साधारण है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक शब्दके अनेक अर्थ मानना उचित नहीं है। इस कारण ब्रह्ममें आकाशशब्द गौण होना चाहिए। वस्तुतः व्यापकत्व आदि अनेक धर्मोंसे

रत्नप्रभा

राजा ब्रूते 'आकाश इति ह' इति। यदेष आकाश इति आनन्दत्वस्य असाधारणस्य श्रवणाद् आकाशो ब्रह्म इत्यवधारितम्। 'आकाशो वै नाम' इत्यत्र 'तद् ब्रह्म' इति वाक्यशेषाद् इति विभागः। निर्वहिता—उत्पत्तिस्थितिहेतुः। ते नामरूपे। यदन्तरा यस्माद् भिन्ने, यत्र कल्पितत्वेन मध्ये स्त इति वाऽर्थः। अत्र पूर्वपक्षे भूताकाशात्मना उद्गीथोपास्तिः, सिद्धान्ते ब्रह्मात्मना इति फलम्। उपास्ये

रत्नप्रभाका अनुवाद

आकाश है। 'यदेष आकाशः' इस श्रुतिमें भूताकाशमें सम्भव न होनेवाले असाधारण आनन्दका आकाशपदके साथ सामानाधिकरण्य है, अतः आकाशपदका अर्थ ब्रह्म है ऐसा निर्णय किया है। 'आकाशो वै नाम' इस श्रुतिमें 'तद्ब्रह्म' ( वह ब्रह्म है ) इस वाक्यशेषके बलसे यह निश्चय होता है, यह अन्तर है। 'निर्वहिता'—उत्पत्ति और स्थितिका कारण। 'ते'—नाम और रूप। 'यदन्तरा'—जिससे भिन्न हैं अथवा जिसके भीतर कल्पितरूपसे हैं। यहाँ पूर्वपक्षमें उद्गीथकी भूताकाशरूपसे उपासना, सिद्धान्तमें ब्रह्मरूपसे उपासना फल है। उपास्य—ब्रह्ममें ब्रह्मलिङ्गक

भाष्य

न च मुख्यसंभवे गौणोऽर्थो ग्रहणमर्हति। संभवति चेह मुख्यस्यैवाऽऽकाशस्य ग्रहणम्। ननु भूताकाशपरिग्रहे वाक्यशेषो नोपपद्यते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादिः। नैष दोषः। भूताकाशस्याऽपि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वोपपत्तेः। विज्ञायते हि—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः' (तै० २।१) इत्यादि। ज्यायस्त्वपरायणत्वे अपि भूतान्तरापेक्षयोपपद्येते भूताकाशस्यापि। तस्मादाकाशशब्देन भूताकाशस्य ग्रहणमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'आकाशस्तल्लिङ्गात्'। आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम्। कुतः? तल्लिङ्गात्। परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि

भाष्यका अनुवाद

युक्त होनेके कारण ब्रह्म आकाशके सदृश है। दूसरी बात यह भी है कि यदि मुख्य अर्थका संभव हो तो गौण अर्थका ग्रहण करना युक्त नहीं है। यहांपर मुख्य आकाशका ही ग्रहण हो सकता है। यहांपर शङ्का होती है कि भूताकाशका ग्रहण करें, तो 'सर्वाणि ह वा०' ( निश्चय ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं ) इत्यादि वाक्यशेष असंगत हो जायेंगे। यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि भूताकाश भी वायु, तेज आदिका क्रमसे कारण हो सकता है। और 'तस्माद्वा एतस्मा०' ( उस आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु और वायुसे अग्नि उत्पन्न होते हैं ) इत्यादि श्रुतिसे आकाशमें कारणता ज्ञात होती है। अन्य वायु आदि भूतोंकी अपेक्षा भूताकाश अधिक बड़ा और परम स्थान है यह बात युक्त है ही। अतः आकाशशब्दसे भूताकाश लिया जाना चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहा जाता है—'आकाश०'। आकाशशब्दसे ब्रह्मको लेना ठीक है, क्योंकि श्रुतिमें ब्रह्मके चिह्न कहे गये हैं। 'सर्वाणि ह वा

रत्नप्रभा

स्पष्टब्रह्मलिङ्गवाक्यसमन्वयोक्तेः आपादं श्रुत्यादिसंगतयः। स्पष्टम् अत्र भाष्यम्। तेजःप्रभृतिषु वाय्वादेः अपि कारणत्वाद् एवकारश्रुतिबाधः। सर्वश्रुतेश्च

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्योंका समन्वय किया गया है, इस कारण श्रुतिसंगतिसे पादसंगति तक सब संगतियाँ हैं। 'अतः संशयः' से लेकर 'कारणत्वं दर्शितम्' यहाँ तकके भाष्यका अर्थ स्पष्ट है। तेज आदिकी उत्पत्तिमें वायु आदि भी कारण हैं, अतः 'आकाशादेव' में 'एव' का बाध होता है, इसी प्रकार 'सर्वाणि भूतानि' में सर्वपद आकाशसे भिन्न सब विषयका बोधक है ऐसा अर्थसंकोच भी

भाष्य

ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति। परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा। ननु भूताकाशस्याऽपि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम्। सत्यम्, दर्शितम्। तथापि मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहादाकाशादेवेत्यवधारणम्, सर्वाणीति च भूतविशेषणं नाऽनुकूलं स्यात्। तथा 'आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इति ब्रह्मलिङ्गम् 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' इति च ज्यायस्त्वपरायणत्वे। ज्यायस्त्वं ह्यनापेक्षिकं परमात्मन्येवैकस्मिन्नाम्नातम्—'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१४।३) इति। तथा परायण-

भाष्यका अनुवाद

इमानि०' (ये सब भूत निश्चय आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं) यह ब्रह्मका ही ज्ञापक है। परब्रह्मसे ही भूतोंकी उत्पत्ति होती है, ऐसा वेदान्त प्रतिपादन करते हैं। यदि कोई कहे कि भूताकाश भी वायु आदिका क्रमसे कारण है, ऐसा दिखलाया है। ठीक है, यद्यपि दिखलाया है तो भी मूलकारण ब्रह्मका ग्रहण न करें तो 'आकाशादेव' ( आकाशसे ही ) ऐसा अवधारण न हो और 'सर्वाणि' ( सब ) ऐसा 'भूतानि' ( भूतों ) का विशेषण संगत न हो। इसी प्रकार 'आकाशं०' (आकाशमें सब भूत अस्त–लीन होते हैं ) यह भी ब्रह्मलिङ्ग है और 'आकाशो ह्येवैभ्यो०' ( आकाश इनसे अधिक बड़ा है और आकाश परमस्थान है ) इस प्रकार विशेष महत्त्व और परमस्थानत्व भी ब्रह्मलिङ्ग हैं। 'ज्यायान् पृथिव्या०' ( पृथिवीसे अधिक बड़ा, अन्तरिक्षसे अधिक बड़ा, स्वर्गसे अधिक बड़ा, इन लोकोंसे अधिक बड़ा ) यह श्रुति केवल परमात्मामें ही अपेक्षारहित महत्त्व दिखलाती है।

---

रत्नप्रभा

आकाशातिरिक्तविषयत्वेन सङ्कोचः स्यात् इत्याह—**सत्यं दर्शितमिति**। ब्रह्मणस्तु सर्वात्मकत्वात् तस्मादेव 'सर्वम्' इति श्रुतिः युक्ता इति भावः। तथा सर्वलयाधारत्वं निरतिशयमहत्त्वम् स्थितौ अपि परमाश्रयत्वम् इत्येतानि स्पष्टानि ब्रह्मलिङ्गानि इत्याह—**तथा आकाशमित्यादिना**। रातेः धनस्य दातुः। 'रातिः' इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

करना पड़ेगा, ऐसा "सत्यं दर्शितम्" इत्यादिसे कहते हैं। ब्रह्म तो सर्वात्मक है, इसलिए 'तस्मादेव०' ( उसीसे सबकी उत्पत्ति होती है ) इस श्रुतिकी उपपत्तिमें कोई अड़चन नहीं होती। इसी प्रकार सब पदार्थोंके लयका आश्रय होना, असीम महत्त्व, स्थितिकालमें भी जगत्का श्रेष्ठ आश्रय होना, ये ब्रह्मके स्पष्ट लिङ्ग हैं, ऐसा कहते हैं—"तथा आकाशम्"

भाष्य

त्वमपि परमकारणत्वात् परमात्मन्येवोपपन्नतरम् । श्रुतिश्च भवति—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्' (बृ० ३।९।२८) इति । अपि चान्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य पक्षं निन्दित्वाऽनन्तं किञ्चिद् वक्तुकामेन जैवलिना आकाशः परिगृहीतः, तं चाऽऽकाशमुद्गीथे संपाद्योपसंहरति--'स एष परो-

भाष्यका अनुवाद

इसी प्रकार परम स्थान भी परम कारण परमात्मा ही हो सकता है। और 'विज्ञानमानन्दं०' ( ब्रह्म विज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप है, वह धन देनेवाले यजमानका परम स्थान है ) ऐसी श्रुति भी है। उसी प्रकार विनाशित्वरूप दोषसे शालावत्यके पक्षकी निन्दा करके किसी एक अविनाशी पदार्थको कहनेकी इच्छा करनेवाले जैवलिने आकाशका ग्रहण किया है और उस आकाशकी उद्गीथके साथ एकता करके 'स एष०' ( यह उद्गीथ परसे पर है और यह

रत्नप्रभा

पाठे बन्धुः इत्यर्थः । लिङ्गान्तरमाह—**अपि चेति** । दाल्भ्यशालावत्यौ ब्राह्मणौ राजा चेति त्रय उद्गीथविद्याकुशला विचारयामासुः—किम् उद्गीथस्य परायणम् इति । तत्र स्वर्गाद् आगताभिः अद्भिः जीवितेन प्राणेन क्रियमाणोद्गीथस्य स्वर्ग एव परायणम् इति दाल्भ्यपक्षम् अप्रतिष्ठादोषेण शालावत्यो निन्दित्वा स्वर्गस्याऽपि कर्मद्वारा हेतुरयं लोकः प्रतिष्ठा इति उवाच । तं शालावत्यस्य पक्षम् "अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम" (छा०१।८।८) इति राजा निन्दित्वा अनन्तमेव आकाशं वक्ति । भूताकाशोक्तौ अन्तवत्त्वदोषतादवस्थ्यात् इत्यर्थः । ननु आकाशोऽनन्त इति न श्रुतम् इत्याशङ्क्य आह—**तं चेति**। उद्गीथ आकाश एव इति सम्पादनात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादि ग्रन्थसे । 'रातेः'—धन देनेवालेका । 'रातिः' इस पाठमें 'बन्धु' ऐसा अर्थ समझना चाहिए। "अपि च" इत्यादिसे दूसरा लिङ्ग कहते हैं। दाल्भ्य और शालावत्य ब्राह्मण और राजा जैवलि ये तीन उद्गीथ विद्यामें कुशल थे। उन्होंने विचारचर्चा चलाई कि उद्गीथका परायण (प्रतिष्ठा) क्या है । उस विचारचर्चामें दाल्भ्यने कहा—स्वर्गसे आनेवाले जलसे जीते हुए प्राणसे उद्गीथ होता है, अतः उद्गीथका स्वर्ग ही परायण है । उनके मतकी अप्रतिष्ठाके दोषसे निन्दा करके शालावत्यने कहा कि स्वर्गका भी कर्मद्वारा यही लोक हेतु है—इससे यह लोक उद्गीथकी प्रतिष्ठा है। 'अन्तवद्वै०'—हे शालावत्य! तुम्हारा साम निश्चय विनाशी है, इस प्रकार शालावत्यके पक्षकी निन्दा करके राजा जैवलिने कहा—उद्गीथका अविनाशी आकाश परायण—परमस्थान अर्थात् प्रतिष्ठा है। भूताकाश लें तो अन्तवत्त्वरूप दोष रह ही जायगा, इस कारण आकाशका अर्थ ब्रह्म लेना चाहिए। यदि कोई शङ्का करे कि आकाश अनन्त है ऐसा

भाष्य

वरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १।९।२) इति । तच्चाऽऽनन्त्यं ब्रह्मलिङ्गम् । यत्पुनरुक्तं भूताकाशं प्रसिद्धिबलेन प्रथमतरं प्रतीयत इति । अत्र ब्रूमः----प्रथमतरं प्रतीतमपि सत् वाक्यशेषगतान् ब्रह्मगुणान् दृष्ट्वा

भाष्यका अनुवाद

अनन्त है ] ऐसा उपसंहार किया है । वह अनन्तता ब्रह्मलिङ्ग है । और जो कहा है कि प्रसिद्धिके बलसे 'आकाश' पदसे पहले भूताकाशकी प्रतीति होती है, उस विषयमें कहते हैं—आकाशपदसे यद्यपि पहले भूताकाश ही प्रतीत होता है, तो भी वाक्यशेषमें कहे हुए ब्रह्मगुणोंको देखकर उसका ग्रहण नहीं किया जाता।

रत्नप्रभा

उद्गीथस्य अनन्तत्वादिकं न स्वत इति भावः । स उद्गीथावयव ॐकारः, एषः आकाशात्मकः, परः रसतमत्वादिगुणैः उत्कृष्टः, अतोऽक्षरान्तरेभ्यो वरीयान् श्रेष्ठ इत्यर्थः । पर इति अव्ययं सकारान्तं वा, 'परः कृष्णम्' इति प्रयोगात् परश्चाऽसौ वरेभ्योऽतिशयेन वरः परोवरीयान् इत्यर्थः । प्राथम्यात् श्रुतत्वाच्च आकाशशब्दो बलीयान् इति उक्तं स्मारयति—**यत्पुनरिति** । एवकारसर्वशब्दानुगृहीतानन्त्यादिबहुलिङ्गानाम् अनुग्रहाय "त्यजेदेकं कुलस्याऽर्थे" इति न्यायेन एकस्याः श्रुतेः बाधो युक्त इत्याह---**अत्र ब्रूम इति**। आकाशपदाद् भूतस्य एव प्रथमप्रतीतिः इति नियमो नास्ति इति अपिशब्देन द्योतितम् । तत्र युक्तिमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो श्रुति कहती नहीं है, श्रुति तो उद्गीथ को अनन्त कहती है इस शंकापर कहते हैं--"तं च" इत्यादिसे । तात्पर्य यह है कि उद्गीथ आकाश ही है इस प्रकार एकता करनेसे आकाशके अनन्तत्व आदि धर्मोंसे युक्त उद्गीथ होता है । वह स्वतः अनन्तत्व आदि धर्मोंसे युक्त नहीं है । वह—उद्गीथका अवयव ओंकार । यह—आकाशस्वरूप । पर—रसतम आदि गुणोंसे उत्कृष्ट । इस कारण दूसरे अक्षरोंसे वरीयान्—श्रेष्ठ है । 'परोवरीयान्' 'परः' यह अव्यय है अथवा 'परः' सकारान्त नपुंसकलिङ्ग है, क्योंकि 'परः कृष्णम्' आदि प्रयोग देखे जाते हैं । परश्चासौ वरेभ्योऽतिशयेन वरः परोवरीयान्—बहुत ही उत्कृष्ट । आकाशशब्दसे पहले भूताकाशका ही ज्ञान होता है, और वह शब्द श्रुत्युक्त है, अतः लिङ्गसे बलवान् है, ऐसा जो पहले कहा था उसका स्मरण कराते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे । 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' कुलके लिए एकका त्याग करे इस न्यायसे एवकार और सर्वशब्दोंसे अनुगृहीत बहुतसी ब्रह्मलिङ्ग श्रुतियोंके अनुग्रहके लिए एक आकाशश्रुतिका बाध होना ठीक है, ऐसा कहते हैं—"अत्र ब्रूमः" इत्यादिसे । 'अपि' शब्दसे सूचित होता है कि आकाशशब्दसे सबसे पहले भूताकाशका ही

भाष्य

न परिगृह्यते। दर्शितश्च ब्रह्मण्यप्याकाशशब्दः 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादौ। तथाऽऽकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः' (ऋ० सं० १।१६४।३९) 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' (तै० ३।६) 'ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'खं पुराणम्' (बृ० ५।१।१) इति चैवमादौ। वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्याऽऽकाशशब्दस्य

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्ममें भी आकाशशब्दका प्रयोग 'आकाशो वै०' (आकाश निश्चय नाम और रूपका व्यक्त करनेवाला है) इत्यादि स्थलोंपर किया है। इसी प्रकार आकाशके पर्यायवाचकशब्दोंका भी ब्रह्ममें प्रयोग 'ऋचो अक्षरे परमे०' (उत्कृष्ट, कूटस्थ आकाश–ब्रह्ममें वेद प्रमाण हैं, और उसीमें सब देव अधिष्ठित हैं), 'सैषा भार्गवी०' (यह भृगुको वरुणकी दी हुई विद्या परब्रह्ममें स्थित है) 'ओं कं ब्रह्म०' (ओंकार, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है) और 'खं पुराणम्' (ब्रह्म अनादि है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें देखा जाता है। वाक्य के आरम्भमें भी

---

रत्नप्रभा

दर्शितश्चेति। आकाशपदाद् गौणार्थस्य ब्रह्मणोऽपि प्रथमप्रतीतिः अस्ति, तस्य तत्पर्यायाणां च ब्रह्मणि प्रयोगप्राचुर्यात् इति भावः। अक्षरे कूटस्थे, व्योमन् व्योम्नि, ऋचः वेदाः सन्ति प्रमाणत्वेन। यस्मिन् अक्षरे विश्वे देवा अधिष्ठिता इत्यर्थः। ॐकारः कं सुखं ब्रह्म खं व्यापकम् इति उपासीत। श्रुत्यन्तरप्रयोगम् आह–खं पुराणमिति। व्यापि अनादि ब्रह्म इत्यर्थः। "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति छान्दोग्यम्, "ॐ खं ब्रह्म खं पुराणम्" इति बृहदारण्यकम् इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञान होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है, इस विषयमें युक्ति कहते हैं—"दर्शितश्च" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि आकाशशब्दका और उसके पर्याय शब्दोंका ब्रह्ममें प्रचुरतासे प्रयोग दिखाई देता है, अतः आकाशपदसे गौण अर्थ ब्रह्मकी भी प्रथम प्रतीति होती है। अक्षरे—कूटस्थमें अर्थात् नाशरहित ब्रह्ममें। व्योमन्—व्योम्नि—आकाशमें। ऋचः—ऋक्से उपलक्षित सब वेद। वेद कूटस्थ ब्रह्ममें प्रमाण हैं और उस ब्रह्ममें सब देव अधिष्ठित हैं। ब्रह्म ओंकाररूप, सुखरूप एवं व्यापक है, ऐसी उपासना करनी चाहिए। श्रुत्यन्तरका प्रयोग कहते हैं—"खं पुराणम्"। ब्रह्म व्यापक अनादि है। 'ओं कं ब्रह्म खं ब्रह्म' यह छान्दोग्यवाक्य है, 'ओं खं ब्रह्म खं

भाष्य

वाक्यशेषवशात् युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा । 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' इति हि वाक्योपक्रमगतोऽप्यग्निशब्दो माणवकविषयो दृश्यते । तस्मादाकाश-शब्दं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥२२॥

भाष्यका अनुवाद

स्थित आकाशशब्द वाक्यशेषके बलसे ब्रह्मके लिए ही प्रयुक्त है ऐसा निश्चय करना युक्त है। 'अग्निरधीते०' ( अग्नि अनुवाक[1]का अध्ययन करती है ) इसमें वाक्यके आरम्भमें आए हुए अग्निशब्दका बालकमें प्रयोग देखा जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि आकाशशब्द ब्रह्मपरक है ॥ २२ ॥

---

रत्नप्रभा

भेदः । किञ्च, तत्रैव प्रथमानुसारेण उत्तरं नेयम्, यत्र तन्नेतुं शक्यम्, यत्र तु अशक्यं तत्र उत्तरानुसारेण प्रथमं नेयम् इत्याह—वाक्येति । तस्माद् उपास्ये ब्रह्मणि वाक्यं समन्वितम् इति उपसंहरति—तस्मादिति ॥२२॥ (८)

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुराणम्' यह बृहदारण्यकवाक्य है ऐसा भेद समझना चाहिए। और जहाँ प्रथम भागके अनुसार उत्तर भागका अर्थ हो सकता है, वहाँ प्रथम भागके अनुसार उत्तरभागका अर्थ करना चाहिए, और जहाँ वैसा न हो सके, वहाँ उत्तर भागके अनुसार प्रथम भागका अर्थ करना चाहिए ऐसा कहते हैं—"वाक्य" इत्यादिसे। इस कारण उपास्य ब्रह्ममें 'आकाश इति होवाच' इस वाक्यका समन्वय है इस प्रकार उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ २२ ॥

* आकाशाधिकरण समाप्त *

---

( १ ) वेदका भाग।
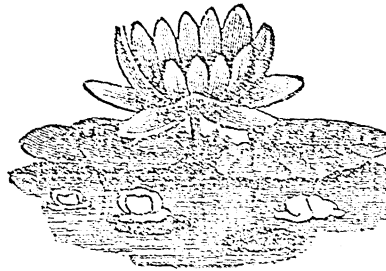
## [ ९ प्राणाधिकरण सू० २३ ]

सुखस्थो वायुरीशो वा प्राणः प्रस्तावदेवता ।
वायुर्भवेत्तत्र सुप्तौ भूतसारेन्द्रियक्षयात् ॥ १ ॥
संकोचोऽक्षपरत्वे स्यात् सर्वभूतलयश्रुतेः ।
आकाशशब्दवत् प्राणशब्दस्तेनेशवाचकः ॥ २* ॥

## [अधिकरणसार]

**सन्देह**—'प्राण इति होवाच' इस श्रुतिमें उक्त प्राण वायुविकार है अथवा ब्रह्म है?

**पूर्वपक्ष**—सुषुप्तिकालमें सब भूतोंकी सारभूत इन्द्रियां प्राणवायुमें लीन होती हैं, अतः यहां प्राण वायुविकार ही है।

**सिद्धान्त**—सुषुप्तिमें केवल इन्द्रियोंका ही प्राणवायुमें लय होता है। यहां तो सब भूतोंका लय कहा गया है। यदि इस श्रुतिमें प्राण वायुविकार माना जाय, तो 'सर्वाणि ह वा' श्रुतिगत 'सर्व' शब्दका सङ्कोच करना पड़ेगा। अतः आकाशशब्दके समान प्राण-शब्द भी श्रुतिरूढ़िसे ब्रह्मका वाचक है। 'प्राणमेव' इसमें एवकारके प्रयोगसे भी सिद्ध होता है कि प्राण ब्रह्म ही है।

---

*निष्कर्ष यह है कि आकाशवाक्यके अनन्तर वाक्यमें प्रस्तोताने उषस्ति ऋषिसे प्रस्ताव नामक सामभागके अधिष्ठाता देवके विषयमें प्रश्न किया कि प्रस्तावका देवता कौन है? उन्होंने उत्तर दिया प्राण। वहांका वाक्य है—"प्राण इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभि-संविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता" (छा० १।११।४,५) उन्होंने कहा—प्रस्तावका देवता प्राण है। ये सब भूत प्राणमें ही लीन होते हैं और प्राणसे ही उद्गत होते हैं, इसलिए यही देवता प्रस्तावमें अनुगत है।

यहांपर सन्देह होता है कि उक्त श्रुतिमें पढ़ा गया प्राणशब्द प्राणवायुका वाचक है अथवा ब्रह्मका?

पूर्वपक्षी कहता है कि प्राणशब्द प्राणवायुका ही प्रतिपादक है, क्योंकि सब भूतोंका उसमें लय होता है, कारण कि सुषुप्तिकालमें भूतोंकी साररूप इन्द्रियां प्राणवायुमें ही विलीन होती हैं।

सिद्धान्ती कहते हैं कि जिसमें केवल इन्द्रियोंका लय होता है वह प्राणवायु ही यदि प्राणशब्दसे अभिप्रेत हो तो 'सर्वाणि ह वै' इसमें सर्वशब्दके अर्थका संकोच करना पड़ेगा। जैसे आकाशशब्द श्रुतिरूढ़ि और एवकारके प्रयोगसे ब्रह्मवाचक है, उसी प्रकार प्राणशब्द भी ब्रह्मवाचक है। प्राणशब्द श्रुतिमें ब्रह्मप्रतिपादक है। 'प्राणस्य प्राणम्' यहाँपर ब्रह्मको कहनेकी इच्छासे दूसरे प्राणशब्दका प्रयोग है। इससे सिद्ध हुआ कि उक्त श्रुतिमें स्थित प्राणशब्द ब्रह्मका ही वाचक है।

## अत एव प्राणः ॥२३॥

**पदच्छेद**—अतः, एव, प्राणः

**पदार्थोक्ति**—प्राणः—'प्रस्तोतर्या देवता' इति श्रुतौ प्राणः परमात्मा [ न प्राणवायुः, कुतः ] अत एव—सर्वभूतोत्पत्तिलयहेतुत्वादिब्रह्मलिङ्गादेव ।

**भाषार्थ**—'प्रस्तोतर्या०' इस श्रुतिमें प्राणशब्दवाच्य परमात्मा ही है, प्राणवायु नहीं है; क्योंकि प्राणसे सब भूतोंकी उत्पत्ति तथा लय कहे गये हैं, सब भूतोंको उत्पन्न करना और नाश करना यह ब्रह्ममें ही सम्भव है ।
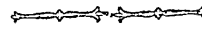
*भाष्य*

**उद्गीथे—'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' इत्युपक्रम्य श्रूयते--'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राण-**

*भाष्यका अनुवाद*

उद्गीथ[1] प्रकरणमें 'प्रस्तोतर्या देवता०' ( हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्तावमें अनुगत है ) ऐसा आरम्भ करके 'कतमा सा०' ( वह देवता कौन है ? ) इस प्रश्नपर 'प्राण इति होवाच सर्वाणि०' ( उसने कहा प्राण प्रस्तावका देवता है,

*रत्नप्रभा*

आकाशवाक्योक्तन्यायं तदुत्तरवाक्येऽतिदिशति–अत एव प्राणः । उद्गीथ-प्रकरणम् इति ज्ञापनार्थम् "उद्गीथे" इति भाष्यपदम् । उद्गीथप्रकरणे श्रूयते इति अन्वयः । कश्चिद् ऋषिः चाक्रायणः प्रस्तोतारम् उवाच, हे प्रस्तोतः या देवता प्रस्तावं सामभक्तिमनुगता ध्यानार्थम्, तां चेत् देवताम् अज्ञात्वा मम विदुषो

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

आकाशवाक्यमें उक्त न्यायका अग्रिम 'प्राण इति होवाच' इस वाक्यमें अतिदेश[2] करते हैं—"अत एव प्राणः" । यह उद्गीथका प्रकरण है यह स्मरण करानेके लिए भाष्यमें 'उद्गीथ' पद दिया गया है । भाष्यगत 'उद्गीथे' का अन्वय 'श्रूयते' के साथ है । चाक्रायण नामक किसी ऋषिने प्रस्तोतासे कहा कि हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्तावरूप सामके भागमें ध्यानके लिए अनुगत है, उस देवताके ज्ञानके बिना यदि उसको जाननेवाले मेरे समक्षमें तुम उसकी स्तुति

( १ ) उद्गीथ--सामभाग विशेष, प्रस्ताव--सामभाग विशेष । उद्गीथकी उपासनाके प्रसंगमें प्रस्तावकी उपासनाको लेकर भाष्यमें प्रस्तावप्रकरणके बदले उद्गीथप्रकरण कहा है ।

( २ ) अतिक्रम्य स्वाविषयमुल्लङ्घ्य अन्यत्र विषये देशः उपदेशः—एक स्थलमें कहे हुए पदार्थका दूसरी जगह सम्बन्ध करना ।

भाष्य

मेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' (छा० १।११।४,५) इति। तत्र संशयनिर्णयौ पूर्ववदेव द्रष्टव्यौ। 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः (छा० ६।८।२) 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) इति चैवमादौ ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते, वायुविकारे तु प्रसिद्धतरो लोकवेदयोः, अत इह प्राणशब्देन कतरस्योपादानं युक्तमिति भवति संशयः। किं पुनरत्र युक्तम् ?

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि ये सब भूत प्राणमें ही लीन होते हैं और प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं, वही देवता प्रस्तावमें अनुगत है ) ऐसा श्रुति कहती है। उसमें संशय और निर्णय पूर्वके समान ही समझने चाहियें। 'प्राणबन्धनं०' ( हे प्रिय ! मन जिसकी उपाधि है, ऐसा जीव प्राण—ब्रह्मके साथ सुषुप्तिमें एक होता है ) और 'प्राणस्य०' ( प्राण—प्राणवायुका प्रेरक ) इत्यादिमें प्राणशब्द ब्रह्मके लिए प्रयुक्त है और वायुविकारमें तो लोक और वेदमें अति प्रसिद्ध है, इसलिए यहां प्राणशब्दसे किसका ग्रहण करना चाहिए ऐसा संशय होता है। तब यहां किसका ग्रहण करना ठीक है ?

---

रत्नप्रभा

निकटे प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते पतिष्यति इति। ततो भीतः सन् पप्रच्छ, कतमा सा देवता इति। उत्तरम्—प्राण इति। प्राणम् अभिलक्ष्य सम्यक् विशन्ति लीयन्ते तम् अभिलक्ष्य उज्जिहते उत्पद्यन्ते इत्यर्थः। अतिदेशत्वात् पूर्ववत् संशयादि द्रष्टव्यम् इति उक्तं विवृणोति—**प्राणेति**। मनउपाधिको जीवः प्राणेन ब्रह्मणा बध्यते, सुषुप्तौ एकीभवति। प्राणस्य—वायोः प्राणम्—प्रेरकं तस्य सत्तास्फूर्तिप्रदम् आत्मानं ये विदुः, ते ब्रह्मविद इत्यर्थः। पूर्वेण गतार्थत्वात् पृथक् सूत्रं

रत्नप्रभाका अनुवाद

करोगे, तो तुम्हारा सिर गिर जायगा। तब उसने भयभीत होकर पूछा कि वह देवता कौन है ? इसके उत्तरमें चाक्रायणने कहा कि वह प्राण है। 'प्राणमेवाभिसंविशन्ति'—प्राणमें ही लीन होते हैं। "प्राणमभ्युज्जिहते"—प्राणसे उत्पन्न होते हैं। अतिदेश है इसलिए पूर्वके समान ही संशय आदि समझने चाहियें, ऐसा जो पीछे कहा है, उसका विवरण करते हैं—"प्राण" इत्यादिसे। मन है उपाधि जिसकी, ऐसा जीव प्राण—ब्रह्मसे संबद्ध होता है अर्थात् सुषुप्तिमें एक होता है। प्राणका—वायुका प्राण—प्रेरक, तात्पर्य यह है कि उसे सत्ता और स्फूर्ति देनेवाले आत्माको जो जानते हैं वे आत्मज्ञानी हैं। पूर्वसूत्रसे यह सूत्र गतार्थ है इसकी पृथक् रचना व्यर्थ है, ऐसी शङ्का

भाष्य

वायुविकारस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्योपादानं युक्तम् । तत्र हि प्रसिद्धतरः प्राणशब्द इत्यवोचाम । ननु पूर्ववदिहापि तल्लिङ्गाद् ब्रह्मण एव ग्रहणं युक्तम् , इहापि वाक्यशेषे भूतानां संवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं कर्म प्रतीयते । न, मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेशनोद्गमनस्य दर्शनात् । एवं ह्याम्नायते--'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते' (श० ब्रा० १०।३।३।६) इति । प्रत्यक्षं चैतत् स्वापकाले प्राणवृत्तावपरिलुप्यमानायामिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते, प्रबोधकाले च प्रादुर्भवन्तीति । इन्द्रियसारत्वाच्च भूतानामविरुद्धो

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—वायुके विकार पांच प्रकारके प्राणका ग्रहण करना ठीक है, क्योंकि उसमें प्राणशब्द विशेष प्रसिद्ध है ऐसा हमने कहा है। यदि कहो कि पूर्वके समान यहां भी ब्रह्मके लिङ्गोंसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना ठीक है, क्योंकि यहां भी वाक्यशेषमें भूतोंका लय और उत्पत्तिरूप परमेश्वरका कर्म प्रतीत होता है। नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मुख्य प्राणमें भी भूतोंके लय और उद्गम देखे जाते हैं। श्रुति ऐसा कहती है कि 'यदा वै पुरुषः स्वपिति०' ( जब पुरुष सोता है, तब वाणी प्राणमें लीन होती है, चक्षु प्राणमें, श्रोत्र प्राणमें और मन प्राणमें लीन होता है, जब पुरुष जागता है, तब प्राणसे ही ये उत्पन्न होते हैं ) और यह बात प्रत्यक्ष है कि जब निद्राके समय प्राणका व्यापार लुप्त नहीं होता, तब इन्द्रियोंका व्यापार लुप्त हो जाता है और जागरणके समयमें प्रकट होता है।

रत्नप्रभा

व्यर्थम् इति शङ्कते—**ननु पूर्ववदिति** । अधिकाशङ्कानिरासार्थम् अतिदेशसूत्रम् इति मत्वा समाधानमाह—**न मुख्येऽपीति** । तर्हि—तदा चक्षुः अप्येति इति एवम्प्रकारेण सर्वत्र सम्बन्धः । ननु अत्र इन्द्रियाणां प्राणे लयोदयौ श्रूयेते, तावता महाभूतलयादिप्रतिपादकवाक्यशेषोपपत्तिः कथम् इति अत आह—**इन्द्रियसारत्वादिति** । "त्यस्य ह्येष रसः" ( बृ० २।३।५ ) इति श्रुतेः इन्द्रियाणि

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"ननु पूर्ववत्" इत्यादिसे । पूर्वसूत्रमें जो शङ्काएँ की गई हैं उनसे अधिक शङ्काओंका निराकरण करनेके लिए इस अतिदेशसूत्रकी रचना की गई है ऐसा सोचकर शंकाका समाधान करते हैं—"न मुख्येऽपि" इत्यादिसे । 'तर्हि'–उस समय, 'लीन होता है,' इसका चक्षु, श्रोत्र, मनसे संबन्ध समझना चाहिए । परन्तु यहां श्रुति प्राणमें इन्द्रियोंके लय और उत्पत्तिका प्रतिपादन करती है, तो इतनेसे महाभूतोंके लय आदिका प्रतिपादक वाक्यशेष किस प्रकार संगत

भाष्य

मुख्ये प्राणेऽपि भूतसंवेशनोद्गमनवादी वाक्यशेषः। अपि चादित्योऽन्नं चोद्गीथप्रतिहारयोर्देवते प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्याऽनन्तरं निर्दिश्येते। न च तयोर्ब्रह्मत्वमस्ति, तत्सामान्याच्च प्राणस्यापि न ब्रह्मत्वमिति।

एवं प्राप्ते सूत्रकार आह—'अत एव प्राणः' इति। 'तल्लिङ्गात्' इति पूर्वसूत्रे निर्दिष्टम्। अत एव तल्लिङ्गात् प्राणशब्दमपि परं ब्रह्म भवितुमर्हति। प्राणस्यापि हि ब्रह्मलिङ्गसम्बन्धः श्रूयते 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राण-

भाष्यका अनुवाद

और इन्द्रियां भूतोंकी साररूप हैं, इसलिए भूतोंके लय और उत्पत्तिको कहनेवाला वाक्यशेष मुख्य प्राणमें भी विरुद्ध नहीं है। किञ्च, प्रस्ताव देवता प्राणके कथनके बाद उद्गीथदेवता आदित्य और प्रतिहारदेवता अन्न है ऐसा निर्देश किया है और वे दोनों (आदित्य और अन्न) ब्रह्म नहीं हैं, इसलिए उनके सादृश्यसे प्राण भी ब्रह्म नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर सूत्रकार कहते हैं—"अत एव०"। उसके लिंगोंसे–ब्रह्मके चिह्नोंसे, ऐसा पूर्वसूत्रमें निर्देश किया है। इससे—उसके लिङ्गोंसे प्राणशब्द भी परब्रह्मपरक है। प्राणका भी ब्रह्मलिङ्गके साथ संबन्ध श्रुतिमें कहा गया है। जैसे कि 'सर्वाणि ह वा इमानि०' (निश्चय ये सब भूत प्राणमें ही

रत्नप्रभा

लिङ्गात्मरूपाणि अपञ्चीकृतभूतानां साराणि तेषां लयाद्युक्त्या भूतानामपि प्राणे लयादिसिद्धेः वाक्यशेषोपपत्तिरित्यर्थः। अब्रह्मसहपाठाच्च प्राणो न ब्रह्म इति आह—**अपि चेति**। उद्गातृप्रतिहर्तृभ्याम् उद्गीथे प्रतिहारे च का देवता इति पृष्टेन चाक्रायणेन आदित्योऽन्नं च निर्दिश्येते, "आदित्य इति होवाच" 'अन्न-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है, इसपर कहते हैं—"इन्द्रियसारत्वात्" इत्यादिसे। 'त्यस्य ह्येष०' (इन्द्रियां भूतोंकी सार हैं) इस श्रुतिसे ज्ञात होता है कि लिङ्गात्मरूप[1] इन्द्रियां अपञ्चीकृत भूतोंकी साररूप हैं, उनके लय आदि कहनेसे भूतोंके भी प्राणमें लय आदि सिद्ध होते हैं, इस कारण वाक्यशेष उपपन्न होता है, ऐसा अर्थ है। प्रस्तुत वाक्यमें ब्रह्मभिन्न आदित्य-अन्नके साथ प्राणशब्दका पाठ है, इस कारण भी प्राणशब्दका अर्थ ब्रह्म नहीं है ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। उद्गाताके चाक्रायणसे यों पूछनेपर कि उद्गीथमें कौन देवता अनुगत है? चाक्रायणने कहा–उद्गीथमें आदित्य देवता अनुगत है। प्रतिहर्ताके उससे यों पूछनेपर कि प्रतिहारमें कौन देवता अनुगत है? उसने उत्तर दिया कि प्रतिहारमें अन्न देवता अनुगत है यह बात 'आदित्य इति०'

(१) कारणशरीरके स्वरूप हैं।

भाष्य

मेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' (छा० १।११।५) इति। प्राणनिमित्तौ सर्वेषां भूतानामुत्पत्तिप्रलयावुच्यमानौ प्राणस्य ब्रह्मतां गमयतः। ननूक्तं मुख्यप्राणपरिग्रहेऽपि संवेशनोद्गमनदर्शनमविरुद्धं, स्वापप्रबोधयोर्दर्शनादिति। अत्रोच्यते—स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेव केवलानां प्राणाश्रयं संवेशनोद्गमनं दृश्यते, न सर्वेषां भूतानाम्, इह तु सेन्द्रियाणां सशरीराणां

भाष्यका अनुवाद

लीन होते हैं और प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं।) इसमें सब भूतोंके लय और उत्पत्तिका निमित्त प्राण है, ऐसा कहा है, इससे प्राण ब्रह्म है यह अनुमान होता है। परन्तु कहा है कि मुख्य प्राण अर्थ लें तो भी लय और उत्पत्तिका दर्शन विरुद्ध नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति और प्रबोध कालमें सब इन्द्रियां प्राणमें लीन होती हैं और प्राणसे निकलती हैं यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इस पर कहते हैं—सुषुप्ति और प्रबोधमें केवल इन्द्रियोंके ही लय और उद्गम प्राणमें होते हैं, सब भूतोंके नहीं। यहां तो 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि इन्द्रियसहित

रत्नप्रभा

मिति होवाच' इति श्रुतौ इत्यर्थः। सामान्यं सन्निधानम्। सन्निध्यनुगृहीतप्रथमश्रुतप्राणश्रुत्या मुख्यप्राणनिर्णये तद्दृष्ट्या प्रस्तावोपास्तिः इति पूर्वपक्षफलम्। सिद्धान्ते ब्रह्मदृष्टिरूपोपास्तिः। अस्याऽधिकरणस्य अतिदेशत्वमेव पूर्वेण सङ्गतिः इति विभागः। भवन्ति इति भूतानि इति व्युत्पत्त्या यत्किञ्चिद्भवनधर्मकं कार्यमात्रम्, तस्य लयोदयौ वायुविकारे प्राणे न युक्तौ इति उक्त्वा भूतशब्दस्य रूढार्थग्रहेऽपि लयादेः ब्रह्मनिर्णायकत्वम् इति आह—यदापीति। भौतिकप्राणस्य भूतयोनित्वायोगात् इत्यर्थः। तस्य तद्योनित्वं श्रुत्या शङ्कते—नन्विति। अथ यदा

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अन्न इति०' इस श्रुतिमें स्पष्ट है। सामान्य—सन्निधि। सन्निधिसे अनुगृहीत प्रथम श्रुत प्राणशब्दका अर्थ वायुविकार है यह निर्णय होनेपर उस दृष्टिसे प्रस्तावकी उपासना करनी चाहिए यह पूर्वपक्षमें फल है। सिद्धान्तमें ब्रह्मदृष्टिसे प्रस्तावकी उपासना फल है। पूर्वाधिकरणसे इस अधिकरणकी अतिदेशत्व संगति है। 'भवन्तीति भूतानि' इस व्युत्पत्तिसे भूत अर्थात् उत्पन्न होना जिनका धर्म है, उन कार्यमात्रोंके लय और उदय ( उत्पत्ति ) वायुविकार प्राणमें नहीं हो सकते हैं ऐसा कहकर भूतशब्दके यौगिक अर्थके बदले रूढ़ अर्थ लें तो भी लय आदिसे ब्रह्मका ही निर्णय होता है, ऐसा कहते हैं—"यदापि" इत्यादिसे। भौतिक प्राण भूतोंका कारण हो यह संभव नहीं है। "ननु" इत्यादिसे शङ्का करते हैं कि श्रुतिमें प्राण भूतोंका

भाष्य

च जीवाविष्टानां भूतानाम्, 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इति श्रुतेः। यदाऽपि भूतश्रुतिर्महाभूतविषया परिगृह्यते तदापि ब्रह्मलिङ्गत्वमविरुद्धम्। ननु सहापि विषयैरिन्द्रियाणां स्वापप्रबोधयोः प्राणेऽप्ययं प्राणाच्च प्रभवं शृणुमः—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' (कौ० ३।३) इति। तत्राऽपि तल्लिङ्गात् प्राणशब्दं ब्रह्मैव। यत्पुनरन्नादित्यसंनिधानात् प्राणस्याब्रह्मत्वमिति। तदयुक्तम्, वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायां संनिधानस्याऽकिञ्चित्करत्वात्। यत्पुनः प्राणशब्दस्य पञ्चवृत्तौ प्रसिद्धतरत्वम्, तदाकाशशब्दस्येव प्रतिविधेयम्। तस्मात्सिद्धं प्रस्ताव-

भाष्यका अनुवाद

और शरीरसहित, जीवसे आविष्ट भूतोंके लय और उद्गम प्राणके आश्रित हैं। उक्त श्रुति महाभूतोंका बोध कराती है, ऐसा यदि मानें तो भी उनके (महाभूतोंके उद्गम और प्रलयके) ब्रह्मलिङ्ग होनेमें कोई विरोध नहीं है। परन्तु सुषुप्ति और प्रबोधमें विषयोंके साथ इन्द्रियोंका प्राणमें लय और प्राणसे उत्पत्ति देखी जाती है—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन०' (जब सोता हुआ कुछ स्वप्न नहीं देखता तब यह प्राणमें ही एक होता है और उसी समय उसमें सब नामोंके साथ वाणी लीन होती है) इस प्रश्न पर कहते हैं कि इसमें भी ब्रह्मके लिंगोंकी सत्ता होनेसे प्राणशब्द ब्रह्मवाचक ही है। और यह जो पहले कहा गया है कि अन्न तथा आदित्यकी सन्निधिसे प्राण ब्रह्मवाचक नहीं है, यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि वाक्यशेषके बलसे प्राणशब्द ब्रह्ममें प्रयुक्त होता है, ऐसा प्रतीत होता है, अतः सन्निधि निःसार है। इसी प्रकार प्राणशब्दका अर्थ पांच प्रकारका प्राण प्रसिद्ध है, इस आक्षेपका निराकरण उसी प्रकार करना चाहिए जैसे कि

रत्नप्रभा

सुषुप्तौ जीवः प्राणे ब्रह्मणि एकीभवति तदा एनं प्राणं सविषया वागादयोऽपियन्ति इत्यर्थः। अत्र जीवाभिन्नत्वे सर्वलयाधारत्वलिङ्गात् न मुख्यः प्राण इति आह—तत्रापीति। वाक्यान्तरसन्निध्यपेक्षया स्ववाक्यगतं लिङ्गं बलीय इत्याह—तदयुक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारण कहा गया है। श्रुतिका अर्थ यह है जब सुषुप्तिमें जीव प्राणमें—ब्रह्ममें लीन हो जाता है, तब उस प्राणमें—ब्रह्ममें विषय सहित वाणी आदिका लय हो जाता है। यहाँ जीवसे अभेद और सब लयोंके आधार इन लिङ्गोंसे प्राण वायुविकार नहीं है, ऐसा समाधान कहते हैं—"तत्रापि" इत्यादिसे। दूसरे वाक्यकी संनिधिकी अपेक्षा एक ही वाक्यमें आया हुआ लिङ्ग बलवान् है,

भाष्य

देवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम् । अत्र केचिदुदाहरन्ति—'प्राणस्य प्राणम्' 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति च । तदयुक्तम् । शब्दभेदात्प्रकरणाच्च संशयानुपपत्तेः । यथा पितुः पितेति प्रयोगेऽन्यः पिता षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्यः प्रथमानिर्दिष्टः पितुः पितेति गम्यते, तद्वत् प्राणस्य प्राणम् इति शब्दभेदात् प्रसिद्धात् प्राणादन्यः प्राणस्य प्राणम् इति निश्चीयते । नहि स एव तस्येति भेदनिर्देशार्हो भवति । यस्य च प्रकरणे यो निर्दिश्यते नामा-न्तरेणाऽपि स एव तत्र प्रकरणनिर्दिष्ट इति गम्यते । यथा ज्योतिष्टोमा-

भाष्यका अनुवाद

आकाशशब्दमें किया जा चुका है । इससे सिद्ध हुआ कि प्रस्तावदेवतारूप प्राण ब्रह्म है । यहां वृत्तिकार 'प्राणस्य प्राणम्' (प्राणका अर्थात् वायुका प्रेरक) और 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (हे प्रिय ! मन जिसकी उपाधि है ऐसा जीव प्राण-ब्रह्मके साथ सुषुप्तिमें एक होता है) इन दो श्रुतियोंका उदाहरण रूपसे उल्लेख करते हैं । यह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दभेदसे और प्रकरणसे संशय ही नहीं हो सकता । जैसे 'पितुः पिता' ( बाप का बाप ) इस प्रयोगमें षष्ठी विभक्तिसे निर्दिष्ट पितासे प्रथमा विभक्तिसे निर्दिष्ट पिता भिन्न है, ऐसा समझा जाता है, उसी प्रकार 'प्राणस्य प्राणम्' इसमें शब्दभेदसे प्रसिद्ध प्राणसे भिन्न प्राणका प्राण है, ऐसा निश्चय होता है, क्योंकि एक ही पदार्थ जो 'तत्' शब्दसे कहा जाय, वही 'तस्य' इस प्रकार भेद रूपसे नहीं कहा जा सकता । जिसके प्रकरणमें जिसका

रत्नप्रभा

मिति । एकवाक्यत्वं वाक्यशेषः । तस्य बलं—तद्गतं लिङ्गं तेन इत्यर्थः । प्राण-मेव इति अवधारणेन सर्वभूतप्रकृतित्वलिङ्गेन च प्राणपदेन तत्कारणं ब्रह्म लक्ष्यम् इत्याह—**तदाकाशशब्दस्यैवेति** । वृत्तिकृताम् उदाहरणं संशयाभावेन अयुक्तम् इत्याह—**अत्रेत्यादिना** । शब्दभेदम् उक्त्वा प्रकरणं प्रपञ्चयति—**यस्य चेति**॥२३॥(९)

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"तदयुक्तम्" इत्यादिसे । वाक्यशेषके बलसे—वाक्यशेष अर्थात् वाक्यका शेष भाग अर्थात् एकवाक्यता, उसका बल अर्थात् उसमें आये हुए लिङ्गसे । 'प्राणमेव' इसमें एवकार द्वारा अवधारण करनेसे और सब भूतोंकी योनि, इस लिङ्गसे प्राणपदसे उसका कारण ब्रह्म ही लक्ष्य है, ऐसा कहते हैं—"तदाकाशशब्दस्यैव" इत्यादिसे । वृत्तिकारका उदाहरण संशयके अभावसे अयुक्त है, ऐसा कहते हैं—"अत्र" इत्यादिसे । शब्दभेदको कहकर प्रकरणको विस्तारसे कहते हैं—"यस्य च" इत्यादिसे ॥ ३ ॥

भाष्य

धिकारे—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्यत्र ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयो भवति, तथा परस्य ब्रह्मणः प्रकरणे 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इति श्रुतः प्राणशब्दो वायुविकारमात्रं कथमवगमयेत्। अतः संशयाविषयत्वान्नैतदुदाहरणं युक्तम्। प्रस्तावदेवतायां तु प्राणे संशयपूर्वपक्षनिर्णया उपपादिताः ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

निर्देश होता है, उस प्रकरणमें अन्य नामसे भी वही निर्दिष्ट होता है, ऐसा समझा जाता है। जैसे ज्योतिष्टोमके प्रकरणमें 'वसन्ते वसन्ते०' (प्रतिवसन्त ऋतुमें ज्योति याग करना चाहिए) इसमें ज्योतिःशब्द ज्योतिष्टोमरूप अर्थमें प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार परब्रह्मके प्रकरणमें 'प्राणबन्धनं' इस श्रुतिमें उक्त प्राणशब्द केवल वायुविकारमात्रका किस प्रकार बोध करावे। अतः संशयका विषय न होनेसे यह उदाहरण ठीक नहीं है। प्रस्तावदेवतारूप प्राणमें तो संशय, पूर्वपक्ष और निर्णयकी उपपत्ति दिखलाई है ॥ २३ ॥

* प्राणाधिकरण समाप्त *

## [ १० ज्योतिश्चरणाधिकरण सू० २४–२७ ]

*कार्यं ज्योतिरुत ब्रह्म ज्योतिर्दीप्यत इत्यदः ।*
*ब्रह्मणोऽसंनिधेः कार्यं तेजो लिङ्गबलादपि ॥ १ ॥*
*चतुष्पात् प्रकृतं ब्रह्म यच्छब्देनाऽनुवर्त्यते ।*
*ज्योतिः स्याद्भासकं ब्रह्म लिङ्गन्तूपाधियोगतः ॥ २ ॥*

## [अधिकरणसार]

**सन्देह**—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इस श्रुतिमें उक्त ज्योति कार्य-ज्योति है अथवा ब्रह्म है ?

**पूर्वपक्ष**—ब्रह्मका प्रकरण न होनेसे तथा 'इदं वाव तद्यादिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' इस श्रुतिमें जठराग्निके साथ अभेदरूप तेजोलिङ्गके बलसे प्रतीत होता है कि इस श्रुतिमें कार्यज्योति ही कही गई है ।

**सिद्धान्त**—'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इस पूर्व श्रुतिमें चतुष्पात् ब्रह्म प्रकृत है उसीकी यहां 'यत्' शब्दसे अनुवृत्ति होती है । ज्योति शब्दका अर्थ है भासक होना, ब्रह्म जगत्का भासक है ही। तेजोलिङ्गकी तो उपाधिविशिष्ट ब्रह्ममें कल्पना की जाती है । अतः उक्त श्रुतिमें ज्योति ब्रह्म ही है ।

---

छान्दोग्यके तीसरे अध्यायमें गायत्रीविद्याके प्रकरणमें हृदयच्छिद्रकी उपासना कहकर "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" कहा है । यहां पर संशय होता है कि द्युलोकसे परे प्रकाशमान वस्तु चक्षुपर अनुग्रह करने वाली कार्यरूप ज्योति है अथवा ब्रह्म है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि वाक्यमें ब्रह्मपदका श्रवण नहीं है और "इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः-पुरुष ज्योतिः०" ( वह यही है जो कि पुरुषके अन्दर ज्योति है अर्थात् जठराग्नि है ) इस श्रुतिसे जठराग्निसे अभेदरूप तेजोलिङ्ग स्पष्ट मालूम होता है, अतः वह कार्यज्योति है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि पहले गायत्रीखण्डमें "पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" ( सब भूत ब्रह्मके एक अंश रूप हैं, पादत्रयसे उपलक्षित ब्रह्मका अनन्तस्वरूप प्रकाशमान द्युलोकमें अर्थात् अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है ) इस प्रकार चतुष्पाद ब्रह्म प्रकृत है । उसी ब्रह्मका 'अथ यदतः परो' यहाँ 'यत्' शब्दसे परामर्श होता है, अतः ब्रह्मकी सन्निधि है । यदि कहो कि 'ज्योतिः' शब्द ब्रह्मका वाचक नहीं हैं । यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'ज्योतिः' शब्दका अर्थ है भासक होना, ब्रह्म तो जगद्भासक है ही, अतः 'ज्योतिः' शब्दकी वृत्ति ब्रह्ममें है । तेजो-लिङ्ग तो सोपाधिक ब्रह्ममें कल्पित है । इससे सिद्ध हुआ कि ज्योति ब्रह्म ही है ।

## ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

**पदच्छेद**—ज्योतिः, चरणाभिधानात् ।

**पदार्थोक्ति**—ज्योतिः—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इति श्रुतौ ज्योतिः परमात्मा [ न सूर्यादिज्योतिः, कुतः ] चरणाभिधानात्—'पादोऽस्य सर्वा' इति पूर्ववाक्ये ब्रह्मणः पादत्रयाभिधानात् [ तस्यैव ब्रह्मणः अत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् ] ।

**भावार्थ**—'अथ यदतः' इस श्रुतिमें ज्योतिः शब्दसे परमात्मा ही कहा गया है, सूर्य आदि ज्योति नहीं कही गई है क्योंकि 'पादोऽस्य' इस पूर्व वाक्यमें ब्रह्मके तीन पाद कहे गये हैं, यहां ज्योतिर्वाक्यमें द्युलोकसंबन्धसे उसी ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा होती है ।

### भाष्य
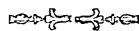
**इदमामनन्ति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा० ३।१३।७) इति। तत्र संशयः—किमिह ज्योतिःशब्देनाऽऽ-**

### भाष्यका अनुवाद

छन्दोग कहते हैं—'अथ यदतः परो दिवो०' ( द्युलोकसे परे, विश्व प्राणिवर्गसे ऊपर, सब भू आदि लोकोंसे ऊपर, सर्वोत्तम, उत्कृष्ट लोकोंमें जो ज्योति प्रकाशित होती है, वह यही है जो कि पुरुष—देहके भीतर जठराग्नि है)

---

### रत्नप्रभा

**ज्योतिश्चरणाभिधानात्**। छान्दोग्यमेव उदाहरति—**इदमिति**। गायत्र्युपाधिकब्रह्मोपास्त्यानन्तर्यार्थः अथशब्दः । अतो दिवो द्युलोकात् परः परस्ताद् यत् ज्योतिर्दीप्यते तत् यद् इदम् इति जाठराग्नौ अध्यस्यते । कुत्र दीप्यते तत्र आह—**विश्वत इति**। विश्वस्मात् प्राणिवर्गाद् उपरि सर्वस्मात् भूरादिलोकाद् उपरि ये

### रत्नप्रभाका अनुवाद

"इदम्" इत्यादिसे छान्दोग्य वाक्यका ही उल्लेख करते हैं । गायत्री है उपाधि जिसकी उस ब्रह्मकी उपास्तिके बाद, यह 'अथ' शब्दका अर्थ है । इस द्युलोकसे पर जो ज्योति प्रकाशित होती है, उसका 'तद्यदिदम् ( वह यही है ) ऐसा जठराग्निमें अध्यास करते हैं। कहां प्रकाशित है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—"विश्वतः" । सब

भाष्य

दित्यादि ज्योतिरभिधीयते किंवा पर आत्मेति । अर्थान्तरविषयस्याऽपि शब्दस्य तल्लिङ्गाद् ब्रह्मविषयत्वमुक्तम्, इह तु तल्लिङ्गमेवाऽस्ति नास्तीति विचार्यते । किं तावत् प्राप्तम्?

आदित्यादिकमेव ज्योतिःशब्देन परिगृह्यत इति । कुतः? प्रसिद्धेः । तमोज्योतिरिति हीमौ शब्दौ परस्परप्रतिद्वन्द्विविषयौ प्रसिद्धौ । चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकं

भाष्यका अनुवाद

यहां पर संशय होता है कि इस श्रुतिमें ज्योतिःशब्दसे आदित्य आदि ज्योतिका अभिधान होता है अथवा परमात्माका? दूसरे अर्थमें प्रयुक्त हुआ शब्द भी ब्रह्मलिङ्गके कारण ब्रह्मका बोधक होता है, ऐसा पीछे कहा जा चुका है। यहां ब्रह्मलिङ्ग है, या नहीं है, ऐसा विचार किया जाता है। तब क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—ज्योतिःशब्दसे आदित्य आदिका अभिधान होता है, क्योंकि उन्हींमें ज्योतिःशब्दकी प्रसिद्धि है। यह प्रसिद्ध है कि तमस् (अन्धकार) और ज्योतिष् (ज्योति) ये दो शब्द परस्पर विरोधी अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

---

रत्नप्रभा

लोकाः तेषु उत्तमेषु न विद्यन्ते उत्तमा येभ्य इति अनुत्तमेषु सर्वसंसारमण्डलातीतं परं ज्योतिः इदमेव यद् देहस्थम् इत्यर्थः । पूर्वेण अगतार्थत्वं वदन् प्रत्युदाहरणसङ्गतिम् आह—**अर्थान्तरेति** । अत्र स्ववाक्ये स्पष्टब्रह्मलिङ्गाभावेऽपि "पादोऽस्य" इति पूर्ववाक्ये भूतपादत्वं लिङ्गम् अस्तीति पादसङ्गतिः । पूर्वोत्तरपक्षयोः जडब्रह्मज्योतिषोः उपास्तिः फलम् इति भेदः । ननु ज्ञानतमोविरोधित्वाद् ब्रह्माऽपि ज्योतिःपदशक्यतया प्रसिद्धमस्ति नेत्याह—**चक्षुरिति** । शर्वर्यां रात्रौ भवं शार्वरम्, नीलमिति यावत् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राणिवर्ग तथा भूलोक आदि सब लोकोंके ऊपर जो लोक हैं, उन श्रेष्ठ लोकोंमें सारे संसार-मण्डलसे पर जो परज्योति है, वह यही है जो कि शरीरमें है। यह सूत्र पूर्वसूत्रसे गतार्थ नहीं है, ऐसा कहते हुए प्रत्युदाहरण संगति दिखलाते हैं—"अर्थान्तर" इत्यादिसे। यहां अपने वाक्यमें (ज्योतिवाक्यमें) ब्रह्मलिङ्ग स्पष्टरूपसे नहीं है, तो भी 'पादोऽस्य' इस पूर्व-वाक्यमें सब भूत उसका एक पाद है, इस प्रकार भूतपादत्वरूप ब्रह्मलिङ्ग है, इसलिए पादसंगति है। पूर्वपक्षमें जड़ ज्योतिकी उपासना फल है और उत्तरपक्षमें ब्रह्मज्योतिकी उपासना फल है, यह भेद है। यदि कोई कहे कि अज्ञानरूपी अन्धकारका विरोधी ब्रह्म भी ज्योतिःशब्दसे वाच्य है इस बातका खण्डन करते हैं—"चक्षुः" इत्यादिसे। रात्रिमें

भाष्य

शार्वरादिकं तम उच्यते । तस्या एवाऽनुग्राहकमादित्यादिकं ज्योतिः । तथा 'दीप्यते' इतीयमपि श्रुतिरादित्यादिविषया प्रसिद्धा । नहि रूपादिहीनं ब्रह्म दीप्यत इति मुख्यां श्रुतिमर्हति । द्युमर्यादत्वश्रुतेश्च । नहि चराचरबीजस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य द्यौर्मर्यादा युक्ता कार्यस्य तु ज्योतिषः परिच्छिन्नस्य द्यौर्मर्यादा स्यात् । 'परो दिवो ज्योतिः' इति च ब्राह्मणम् ।

भाष्यका अनुवाद

नेत्रके व्यापारको रोकनेवाला रात्रि आदिका अन्धकार तम कहलाता है और उसी व्यापारके सहायक आदित्य आदि ज्योति कहलाते हैं । उसी प्रकार 'दीप्यते' (प्रकाशित होता है) यह श्रुति भी आदित्य आदिका अभिधान करती है, यह प्रसिद्ध है । यथार्थमें रूप आदिसे रहित ब्रह्ममें 'दीप्यते' यह श्रुति उपपन्न नहीं हो सकती । और द्युलोक ज्योतिकी सीमा है ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है, इसलिए ज्योति मुख्यतया आदित्यका ही अभिधान करती है । चर और अचर सृष्टिका बीज, सबका आत्मा जो ब्रह्म है, उसको द्युलोक तक ही सीमित करना युक्त नहीं है । कार्यरूप जो परिच्छिन्न ज्योति है, वह द्युलोकसे परमें ही सीमित हो सकती है । द्युलोकसे पर ज्योति है, इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ ज्योतिकी सीमाका निर्देश करता है । यदि कहो

रत्नप्रभा

अनेन आवरकत्वाद् रूपवत्त्वात् च कुड्यवद् भावरूपं तम इत्यर्थाद् उक्तं भवति । ज्योतिःश्रुतेः अनुग्राहकलिङ्गानि आह—**तथेत्यादिना** । भास्वररूपात्मिका दीप्तिस्तेजस एव लिङ्गम् इत्याह—**नहीति** । मास्तु मर्यादा इत्याशङ्क्य श्रुतत्वात् मैवम् इत्याह—**परो दिव इति** । मर्यादां ब्रूते इति शेषः । ब्रह्मवत् कार्यस्याऽपि मर्यादायोगात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेवाला अर्थात् नील। आवरण करनेवाला और रूपवाला होनेसे दीवारके समान अन्धकार भावरूप है, ऐसा अर्थात् कहा गया। ज्योतिः श्रुतिके अनुग्राहक हेतु कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। भास्वररूपवाली दीप्ति तेजका ही लिङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। ज्योतिकी मर्यादा न हो ऐसी आशङ्का करके श्रुतिमें मर्यादा कही गई है, अतः उसका ( मर्यादाका ) निषेध नहीं कर सकते हैं ऐसा कहते हैं—"परो दिवः" इत्यादिसे। 'ब्राह्मणम्' के बाद 'मर्यादां ब्रूते' ( मर्यादाको बताता है ) इतना शेष समझना चाहिए। ब्रह्मके समान कार्य

(१) शुक्लरूप दो तरहका है, भास्वर और अभास्वर। अभास्वर शुक्लरूप जलमें है और भास्वर शुक्ल तेजमें है। भास्वर—प्रकाशमान।

भाष्य

ननु कार्यस्याऽपि ज्योतिषः सर्वत्र गम्यमानत्वाद् द्युमर्यादावत्त्वमसमञ्जसम्। अस्तु तर्ह्यत्रिवृत्कृतं तेजः प्रथमजम्। न, अत्रिवृत्कृतस्य तेजसः प्रयोजनाभावादिति। इदमेव प्रयोजनं यदुपास्यत्वमिति चेत्, न; प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवाऽऽदित्यादेरुपास्यत्वदर्शनात्। 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' ( छा० ६।३।३ ) इति चाऽविशेषश्रुतेः। न चाऽत्रिवृत्कृतस्याऽपि

भाष्यका अनुवाद

कि कार्यरूप ज्योति भी सर्वत्र विद्यमान है, अतः द्युलोक उसकी मर्यादा है, यह कथन संगत नहीं है, तो प्रथम उत्पन्न हुए, अन्न और जलके साथ न मिले हुए तेजको ज्योति मानो। नहीं, क्योंकि अन्न और जलके साथ न मिले हुए तेजका प्रयोजन नहीं है। उपास्य होना ही अत्रिवृत्कृत तेजका प्रयोजन है, ऐसा कहो तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरे प्रयोजनोंसे जो उपयोगी सिद्ध होते हैं, वे आदित्य आदि ही उपास्य हैं ऐसा देखनेमें आता है और 'तासां त्रिवृतं त्रिवृत०' ( उनमेंसे एक एकको तीन तीन गुणवाला करूँगा ) यह श्रुति साधारण है, इसलिए अत्रिवृत्कृत तेज है ही नहीं।

---

रत्नप्रभा

निरर्थकं ब्राह्मणम् इति कश्चिद् आक्षिपति—नन्विति। एकदेशी ब्रूते—अस्त्विति। स्वर्गादौ जातं किञ्चिद् अतीन्द्रियं तेजो दिवः परस्ताद् अस्ति श्रुतिप्रामाण्याद् इत्यर्थः। अध्ययनविध्युपात्तश्रुतेः निष्फलं वस्तु न अर्थ इति आक्षेप्ता ब्रूते— नेति। ध्यानं फलमित्याशङ्क्य निष्फलस्य क्वाऽपि ध्यानं नाऽस्ति इत्याह—इदमेवेत्यादिना। प्रयोजनान्तरं तमोनाशादिकम्। अत्रिवृत्कृतं तेजोऽङ्गीकृत्य अफलत्वम् उक्त्वा तदेव नास्ति इत्याह—तासामिति। तेजोऽबन्नानां देवतानाम् एकैकां द्विधा

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्योतिकी भी मर्यादा नहीं हो सकती है, इस कारण ब्राह्मण निरर्थक है, ऐसा कोई आक्षेप करता है—"ननु" इत्यादिसे। एकदेशी कहता है—"अस्तु" इत्यादिसे। स्वर्ग आदिमें उत्पन्न हुआ कोई अतीन्द्रिय तेज द्युलोकसे पर है, क्योंकि उसमें श्रुति प्रमाण है, ऐसा अर्थ है। अध्ययन विधिसे ग्रहण की गई श्रुतिका निष्फल पदार्थ विषय नहीं हो सकता ऐसा आक्षेप करनेवाला (ननु इत्यादिसे प्रश्नकर्त्ता) "न" इत्यादि कहता है। ध्यान फल है ऐसी आशङ्का करके निष्फल वस्तुका कहीं ध्यान नहीं होता है ऐसा समाधान करते हैं—"इदमेव" इत्यादिसे। दूसरे प्रयोजन—अन्धकारका नाश आदि। तीन गुणवाले न हुए तेजका अङ्गीकार करके वह निष्फल है ऐसा कहकर अब "तासाम्" इत्यादिसे कहते हैं कि वैसा तेज है ही

भाष्य

तेजसो द्युमर्यादत्वं प्रसिद्धम्। अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तत्तेजो ज्योतिः-शब्दम्। ननूक्तमर्वागपि दिवोऽवगम्यतेऽग्न्यादिकं ज्योतिरिति। नैष दोषः। सर्वत्राऽपि गम्यमानस्य ज्योतिषः 'परो दिवः' इत्युपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते, न तु निष्प्रदेशस्याऽपि ब्रह्मणः प्रदेश-

भाष्यका अनुवाद

इसी प्रकार तीन गुणवाले न हुए तेजकी स्वर्गलोक सीमा है, यह प्रसिद्ध नहीं है। तब तीन गुणवाला तेज ही ज्योतिःशब्दका वाच्य है, ऐसा मानो। परन्तु जो तुमने यह कहा है कि द्युलोकसे नीचे भी अग्नि आदि ज्योति है। यह दोष नहीं है। सर्वत्र उपलभ्यमान ज्योतिका भी 'परो दिवः' (द्युलोकसे पर) ऐसा उपासनाके लिए प्रदेशविशेषका ग्रहण विरुद्ध नहीं है। परन्तु अवयवरहित ब्रह्मके अवयवविशेषकी कल्पना करना ठीक नहीं है। और

रत्नप्रभा

विभज्य पुनश्च एकैकं भागं द्वेधा कृत्वा स्वभागाद् इतरभागयोः निक्षिप्य तत् त्रिगुणरज्जुवत् त्रिवृतं करवाणि इति अविशेषोक्तेः नास्ति अत्रिवृत्कृतं किञ्चिद् इत्यर्थः। किञ्च, अत्र "यदतः परः" इति यच्छब्देन अन्यतः प्रसिद्धं द्युमर्यादत्वं ध्यानाय अनूद्यते। न च अत्रिवृत्कृतस्य तस्य तत् क्वचित् प्रसिद्धम् इत्याह—**न चेति**। एकदेशिमते निरस्ते साक्षात् पूर्वपक्षी ब्रूते—**अस्तु तर्हीति**। प्रदेशविशेषः दिवः परस्ताद् देदीप्यमानः सूर्यादितेजोऽवयवविशेषः, तस्य परिग्रह उपासनार्थो न विरुध्यते इति अन्वयः। स एव कौक्षेये ज्योतिषि उपास्यते, तस्याऽपि तेजस्त्वाद् इति भावः। ब्रह्मणोऽपि ध्यानार्थं प्रदेशस्थत्वं कल्प्यतां नेत्याह—**नत्विति**। निष्प्रदेशस्य निर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं। तेज, जल और अन्न इन देवताओंके एक एकके दो दो भाग करके फिर एक एक भागके दो दो भाग करके उन दो भागोंको अपने भागसे दूसरे दो भागोंमें मिलाकर उनको तीन वलवाली रस्सीके समान तीन गुणवाला करूँगा, इस प्रकार साधारणतया कहा है, अतः तीन गुणवाला न हुआ तेज है ही नहीं ऐसा अर्थ है। और यहाँ 'यदतः परः' (जो इससे पर है) इसमें 'यत्' शब्दसे अन्यत्र प्रसिद्ध द्युमर्यादत्वका ध्यानके लिए अनुवाद किया जाता है और तीन गुणवाले न हुए तेजकी द्युमर्यादा किसी स्थलपर प्रसिद्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। एकदेशीके मतका निराकरण होनेपर साक्षात् पूर्वपक्षी कहता है—"अस्तु तर्हि" इत्यादिसे। 'प्रदेश विशेष'—द्युलोकसे पर अतिप्रकाशमान सूर्यादि तेजका अवयव विशेष, उपासनाके निमित्त उसका परिग्रह विरुद्ध नहीं है, इस तरह अन्वय करना चाहिए। उसीकी कुक्षिस्थ ज्योतिमें उपासना होती है, क्योंकि वह भी तेज है, ऐसा

भाष्य

विशेषकल्पना भागिनी । 'सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु' इति चाऽऽधारबहुत्वश्रुतिः कार्ये ज्योतिष्युपपद्यतेतराम् । इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' ( छा० ३।१३।७ ) इति च कौक्षेये ज्योतिषि परं ज्योतिरध्यस्यमानं दृश्यते । सारूप्यनिमित्ताश्चाऽध्यासा भवन्ति । यथा—'तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरम्' ( बृ० ५।५।३ ) इति । कौक्षेयस्य तु ज्योतिषः प्रसिद्धमब्रह्मत्वम् । 'तस्यैषा दृष्टिः 'तस्यैषा श्रुतिः'

भाष्यका अनुवाद

'सर्वतः पृष्ठेष्वनु०' (सब भू आदि लोकोंसे ऊपर, जिससे कुछ उत्तम नहीं है, ऐसे उत्कृष्ट लोकोंमें) यह बहुतसे आधारोंका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति कार्यज्योतिमें अधिक संगत होती है। 'इदं वाव तद्यदिद०' ( इस पुरुषमें जो भीतरकी ज्योति है, यह वही है ) इस श्रुतिमें कुक्षिस्थ ज्योतिमें पर ज्योतिका आरोप किया हुआ जान पड़ता है और आरोपका निमित्त सादृश्य होता है, जैसे 'तस्य भूरिति शिर एकं०' ( उस पुरुषका भूः शिर है, क्योंकि शिर एक है और यह अक्षर भी एक है )। परन्तु कुक्षिस्थ ज्योति ब्रह्म नहीं है, यह प्रसिद्ध है, क्योंकि 'तस्यैषा दृष्टिः', 'तस्यैषा श्रुतिः' ( यह उसकी दृष्टि है यह उसकी श्रुति है )

---

रत्नप्रभा

वयवस्याऽविशेषेऽपि दिवः परस्ताद् देदीप्यमानब्रह्मावयवकल्पना भागिनी युक्ता न तु इति अन्वयः । अप्रामाणिकगौरवापातात् इति भावः । ततः किं तत्राऽऽह—**सारूप्येति** । तथा एकत्वसाम्याद् भूरिति व्याहृतौ प्रजापतेः शिरोदृष्टिः श्रुता, तथा जाठराग्नौ अब्रह्मत्वं घोषादिश्रुत्या प्रसिद्धमिति जडज्योतिष्ट्वं साम्यम् इत्यर्थः । यद् देहस्पर्शनेन औष्ण्यज्ञानं प्रसिद्धं सा एषा तस्य जाठराग्नेः दृष्टिः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

तात्पर्य है। तब ध्यानके लिए ब्रह्मके भी प्रदेशकी कल्पना करो, तो कल्पना नहीं हो सकती है, ऐसा कहते हैं—"न तु" इत्यादिसे । प्रदेशरहित—अवयवशून्य । द्युलोकसे पर अति प्रकाशमान ब्रह्मकी अवयव कल्पना करना ठीक नहीं है ऐसा अन्वय है। आशय यह कि ऐसी कल्पना करनेसे गौरव होगा और उस गौरवको स्वीकार करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। पर ज्योतिका अध्यास मानें तो उससे क्या होगा ? इसका उत्तर देते हैं—"सारूप्य" इत्यादिसे। जैसे एकत्वरूप सादृश्यसे 'भूः' इस व्याहृतिमें प्रजापतिके सिरकी दृष्टि कही गई है, वैसे जाठराग्नि ब्रह्म नहीं है यह बात घोष आदि श्रुतिसे सिद्ध है, इसलिए जड ज्योतिष्ट्व सादृश्य कहना चाहिए देहको स्पर्श करनेसे उष्णताका जो ज्ञान

भाष्य

( छा० ३।१३।७ ) इति चौष्ण्यघोषविशिष्टत्वस्य श्रवणात् । 'तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति च श्रुतेः । 'चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद' ( छा० ३।१३।८ ) इति चाऽल्पफलश्रवणादब्रह्मत्वम् । महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते । न चाऽन्यदपि किञ्चित्स्ववाक्ये प्राणाकाशवज्ज्योतिषोऽस्ति ब्रह्मलिङ्गम् । न च पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टमस्ति, 'गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतम्' इति छन्दोनिर्देशात् । अथाऽपि

भाष्यका अनुवाद

ऐसी उष्णता और घोषविशिष्टकी श्रुति है। 'तदेतद् दृष्टं च' ( वह दृष्ट है और श्रुत है, इस प्रकार उपासना करनी चाहिए ) इस श्रुतिसे और 'चाक्षुष्यः श्रुतो० ( जो ऐसा जानता है, वह दर्शनीय और विख्यात होता है ) इस अल्प फलकी श्रुतिसे ज्योति ब्रह्म नहीं है। निस्सन्देह ब्रह्मकी उपासना महान् फलके लिए वाञ्छनीय होती है। और प्राण एवं आकाशके समान ज्योति ब्रह्म है, यह दिखलानेवाले स्ववाक्यमें कोई दूसरा चिह्न ( ब्रह्मलिङ्ग ) नहीं है, पूर्ववाक्यमें भी चतुष्पात् ब्रह्म निर्दिष्ट नहीं है, क्योंकि 'गायत्री वा इदं०' ( ये सब भूत गायत्री हैं ) इस प्रकार छन्दका निर्देश किया है, और पूर्व-

रत्नप्रभा

यत् कर्णपिधानेन घोषश्रवणं सा एषा तस्य श्रुतिः इत्यर्थः । ज्योतिषो जडत्वे लिङ्गान्तरम् आह—**तदेतदिति** । ज्योतिः इत्यर्थः । चक्षुष्यः चक्षुर्हितः सुन्दरः, श्रुतो विख्यातः । **न चान्यदपीति** । ब्रह्मलिङ्गमपि किञ्चिदन्यत् नास्तीति अन्वयः । ननु "त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" इति पूर्ववाक्योक्तं ब्रह्म अत्र ज्योतिःपदेन गृह्यताम् इत्याशङ्क्य आह—**न चेति** । ननु सर्वात्मकत्वामृतत्वाभ्यां ब्रह्मोक्तम् इत्यत आह—**अथापीति** । कथञ्चित् छन्दोद्वारा इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है वह जठराग्निकी दृष्टि है और कान बन्द करनेसे शब्द जैसा जो सुनाई देता है, वह उसकी श्रुति है। ज्योति जड़ है इसमें दूसरा हेतु कहते हैं—"तदेतत्" इत्यादिसे। तत् अर्थात् ज्योति। चक्षुष्य—चक्षुको अच्छा लगनेवाला अर्थात् सुन्दर, श्रुत—प्रसिद्ध। "न चान्यदपि" यहां पर और कोई दूसरा ब्रह्मलिङ्ग भी नहीं है ऐसा अन्वय है। 'त्रिपादस्या०' इस पूर्ववाक्यमें कहे हुए ब्रह्मका यहां ज्योतिः शब्दसे ग्रहण करो ऐसी शङ्का करके कहते हैं–"न च" इत्यादिसे। सबका आत्मा है, अमृत है, ऐसा पूर्व वाक्यमें ब्रह्म कहा ही है, इस आशङ्कापर कहते हैं—"अथापि" इत्यादिसे। कथञ्चित्—छन्दोद्वारा। 'दिवि और दिवः' इस प्रकार सप्तमी और पञ्चमी

भाष्य

कथंचित् पूर्वस्मिन् वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टं स्यादेवमपि न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्ति, तत्र हि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' ( ३।१२।१,६ ) इति द्यौराधिकरणत्वेन श्रूयते, अत्र पुनः 'परो दिवो ज्योतिः' इति द्यौर्मर्यादात्वेन। तस्मात् प्राकृतं ज्योतिरिह ग्राह्यम्।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—ज्योतिरिह ब्रह्म ग्राह्यम्। कुतः ? चरणाभिधानात्, पादाभिधानादित्यर्थः। पूर्वस्मिन् हि वाक्ये चतुष्पाद् ब्रह्म निर्दिष्टम्—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥'

भाष्यका अनुवाद

वाक्यमें किसी प्रकारसे ब्रह्म निर्दिष्ट है ऐसा यदि मान भी लिया जाय तो भी उसका यहां प्रत्यभिज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसमें 'त्रिपादस्या०' (इसके तीन पाद अमृत द्युलोकमें हैं) इस प्रकार द्युलोक आधाररूप कहा गया है। और यहां तो 'परो दिवो०' ( ज्योति द्युलोकसे पर है ) इसमें द्युलोक मर्यादारूपसे सुना जाता है। इस कारण साधारण ज्योतिका यहां ग्रहण करना चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर हम कहते हैं—इस श्रुतिमें 'ज्योतिः' पदसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि चरणका अभिधान है अर्थात् पादका अभिधान है। पूर्ववाक्यमें 'तावानस्य महिमा ततो०' ( उतनी इसकी महिमा है, इससे पुरुष बड़ा है, उसका एक पाद सब भूत हैं और तीन

---

रत्नप्रभा

"दिवि" "दिवः" इति विभक्तिभेदात् न प्रत्यभिज्ञा इत्यर्थः। प्रकृतेः जातं प्राकृतम्, कार्यमित्यर्थः। आचारं निरस्यति—पादेति। "गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्, वाग्वै गायत्री, येयं पृथिवी, यदिदम् शरीरम्, अस्मिन् पुरुषे हृदयम्, इमे प्राणाः" (छा० ३।१२।१, २, ३) इति भूतवाक्पृथिवीशरीरहृदयप्राणात्मिका षड्विधा षड्भिः अक्षरैः चतुष्पदा गायत्रीति। यदुक्तं तावान् तत्परिमाणः

रत्नप्रभाका अनुवाद

विभक्तिके भेदसे ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है, ऐसा अर्थ है। प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ प्राकृत—कार्य कहलाता है। कोई चरणसे आचार न समझ ले, अतः उसके निवारणके लिए 'पाद' कहते हैं। 'गायत्री वा इदं०', 'वाग्वै०', 'येयं०', 'यदिदं०', 'यदस्मिन् पुरुषे०', 'इमे०' इन श्रुतियोंसे कहते हैं कि भूत, वाक्, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राण रूपसे छः प्रकारकी छः अक्षरोंसे युक्त चार पादवाली गायत्री है, गायत्रीमें अनुगत ब्रह्मकी उतनी

भाष्य

( छा० ३।१२।६ ) इत्यनेन मन्त्रेण। तत्र यच्चतुष्पदो ब्रह्मणस्त्रिपादमृतं द्युसम्बन्धिरूपं निर्दिष्टं तदेवेह द्युसम्बन्धात् निर्दिष्टमिति प्रत्यभिज्ञायते। तत् परित्यज्य प्राकृतं ज्योतिः कल्पयतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्ये-

भाष्यका अनुवाद

पाद अमृत दिव्में हैं ) इस मन्त्रसे चतुष्पाद् ब्रह्मका निर्देश है। उसमें चार पादवाले ब्रह्मके जो तीन पाद अमृत द्युसंबन्धी निर्दिष्ट हैं, द्युलोकके संबन्धसे वे ही यहां निर्दिष्ट हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। उसका परित्याग करके प्राकृत ज्योतिकी कल्पना करनेवाला प्रकृतकी हानि और अप्रकृतकी

---

रत्नप्रभा

सर्वः प्रपञ्चः अस्य गायत्र्यनुगतस्य ब्रह्मणो महिमा विभूतिः, पुरुषः तु पूर्णब्रह्मरूपः, ततः प्रपञ्चात् ज्यायान् अधिकः। आधिक्यमेव आह----पाद इति। सर्वं जगत् एकः पादः—अंशः, "विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" ( भ० गी० १०।४२ ) इति स्मृतेः। अस्य पुरुषस्य दिवि स्वप्रकाशस्वरूपे त्रिपात् अमृतरूपम् अस्ति, दिवि सूर्यमण्डले वा ध्यानार्थम् अस्ति, कल्पितात् जगतो ब्रह्मस्वरूपम् अनन्तम् अस्ति इत्यर्थः। यथा लोके पादात् पादत्रयम् अधिकम्, तथेदम् अधिकम् इति बोधनार्थं त्रिपादमृतम् इति उक्तम्, न त्रिपात्त्वं विवक्षितम् इति मन्तव्यम्। "यदतः परः" इति यच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थवाचित्वात् पूर्ववाक्यप्रसिद्धं ब्रह्म ग्राह्यम् इत्याह—-तत्रेति। ननु "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" इत्यत्र यत्पदस्य अप्रकृतार्थकत्वं दृष्टम् इत्यत्र आह---तत्परित्यज्येति। तत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् सारा प्रपञ्च महिमा—विभूति है। पुरुष तो पूर्ण ब्रह्मरूप है, प्रपञ्चसे महान् है। "पाद" इत्यादिसे आधिक्यको ही कहते हैं। सारा जगत् एक पाद अर्थात् अंश है, क्योंकि 'विष्टभ्याहमिदं०' (मैं इस सारे जगत्को एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ) ऐसी स्मृति है। उस पुरुषके स्वप्रकाश स्वरूपमें त्रिपाद अमृतरूप है अथवा दिव् अर्थात् सूर्यमण्डलमें ध्यानके लिए है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मस्वरूप कल्पित जगत्से अनन्त है। जैसे लोकमें एक पाद ( अंश ) से तीन पाद ( अंश ) अधिक होते हैं, वैसे ही यह अधिक है, ऐसा बोध करानेके लिए तीन पाद अमृत हैं ऐसा कहा है। वस्तुतः तीन पादोंकी विवक्षा नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। 'यदतः परः' इसमें 'यद्' शब्द प्रसिद्ध अर्थका अभिधान करता है अतः पूर्व वाक्यमें प्रसिद्ध ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। कोई शङ्का करे कि 'यदाग्नेयो०' यहाँ पर देखा गया है कि 'यत्' पद प्रस्तुत अर्थको नहीं

भाष्य

याताम्। न केवलं पूर्ववाक्याज्ज्योतिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः, परस्यामपि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म। तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्। यत्तूक्तम्—'ज्योतिर्दीप्यते' इति चैतौ शब्दौ कार्ये ज्योतिषि प्रसिद्धाविति। नायं दोषः, प्रकरणाद्ब्रह्मावगमे सत्यनयोः शब्दयोरविशेष-

भाष्यका अनुवाद

प्रक्रियारूप दोषका भागी होगा। और ज्योतिर्वाक्यमें ही ब्रह्मकी अनुवृत्ति हो, ऐसा नहीं है, किन्तु आगे कही जानेवाली शाण्डिल्यविद्यामें भी ब्रह्मकी अनुवृत्ति है। इस कारण यहां ज्योति ब्रह्म ही है ऐसा समझना चाहिए। 'ज्योतिः' और 'दीप्यते' ये शब्द कार्यरूप ज्योतिमें प्रसिद्ध हैं, ऐसा जो कहा है, यह दोष नहीं है। प्रकरणसे ब्रह्मका ज्ञान होनेपर ये दोनों शब्द अन्य अर्थका

रत्नप्रभा

यागस्याऽन्यतः प्रसिद्धेः अभावेन अपूर्वत्वात् अगत्या यदोऽप्रसिद्धार्थत्वम् आश्रितम्, इह तु पूर्ववाक्यप्रसिद्धस्य ब्रह्मणो द्युसम्बन्धेन प्रत्यभिज्ञातस्य यदर्थत्वनिश्चयात् यत्पदैकार्थकज्योतिःपदस्याऽपि स एव अर्थ इत्यर्थः। सन्दंशन्यायात् अपि एवम् इत्याह----न केवलमिति। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ( छा० ३।१४।१ ) इत्युत्तरत्र ब्रह्मानुवृत्तेर्मध्यस्थं ज्योतिर्वाक्यं ब्रह्मपरम् इत्यर्थः। प्रकरणादिति। प्रकृता-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बतलाता है, इस पर "तत्परित्यज्य" इत्यादिसे कहते हैं। वहांपर यागके किसी तरह प्रसिद्ध न होनेके कारण वह अपूर्व है, इसलिए दूसरी गति न होनेसे 'यत्' पदका अप्रसिद्ध अर्थ स्वीकार किया है। यहां तो द्युलोकके संबन्धसे पूर्व वाक्यमें प्रसिद्ध ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः वह ब्रह्म 'यत्' पदका अर्थ है ऐसा निश्चय होता है, इस कारण 'यत्' पदके अर्थका ही बोध करानेवाले 'ज्योतिः' पदका भी ब्रह्म ही अर्थ है। संदंशन्यायसे भी वही अर्थ होता है ऐसा कहते हैं—"न केवलम्" इत्यादिसे। आशय यह कि 'सर्वं खल्विदं०' इस उत्तर वाक्यमें ब्रह्मकी अनुवृत्ति है, इसलिए मध्यमें स्थित ज्योतिर्वाक्य भी ब्रह्मविषयक

(१) संदंश–सड़सी। सड़सीसे किसी वस्तुको लेनेमें दो भागोंका ग्रहण होता है, मध्य भागका सड़सीसे संवन्ध न होने पर भी मध्यभाग अन्य भागोंके मध्यमें आ जाता है, इसी प्रकार किसी पदार्थके पूर्वोत्तर भागका ग्रहण करनेसे मध्य पदार्थके ग्रहणकी भी जहां विवक्षा होती है, वहां इस ( संदंश ) न्यायकी प्रवृत्ति होती है। जैसे पूर्वमीमांसामें दर्शप्रकरणमें प्रयाजरूप दर्शाङ्गके अनुवाद स्थलमें जुहूपात्रमें घृतानयनरूप प्रयाजाङ्गका पहले विधान है, उसके बाद अभिक्रमण होमका विधान है, अनन्तर प्रयाजके अन्य अङ्गोंका विधान है। वहां अभिक्रमणके पहले और अनन्तर प्रयाजके अङ्गका विधान होनेके कारण उन अङ्गोंके मध्यमें पठित होने के कारण अभिक्रमण भी प्रयाजाङ्ग ही समझा जाता है।

भाष्य

कत्वात् दीप्यमानकार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसम्भवात्। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै०ब्रा० ३।१२।९।७) इति च मन्त्रवर्णात्। यद्वा, नायं ज्योतिःशब्दश्चक्षुर्वृत्तेरेवानुग्राहके तेजसि वर्तते, अन्यत्रापि प्रयोगदर्शनात्—'वाचैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४।३।५), 'मनो ज्योतिर्जुषताम्' (तै० १।६।३।३) इति च। तस्माद्यद्यत्कस्यचिदवभासकं तत्तज्ज्योतिः-

भाष्यका अनुवाद

प्रतिपादन नहीं करते। प्रकाशमान कार्यज्योतिसे उपलक्षित ब्रह्ममें भी उन शब्दोंका प्रयोग हो सकता है। इसमें 'येन सूर्य०' (जिस तेजसे दीप्त सूर्य तपता है) यह श्रुति प्रमाण है। अथवा यह ज्योतिःशब्द नेत्रव्यापारके अनुग्राहक तेजमें रूढ़ नहीं है, क्योंकि दूसरे अर्थोंमें भी ज्योतिःशब्दका प्रयोग देखा जाता है, जैसे कि 'वाचैवाऽयं०' (वाणीरूप ज्योतिसे ही पुरुष व्यापार करता है) और 'मनो ज्योति०' (घृत पीनेवालोंका मन प्रकाशक होता है)। इसलिए जो जो किसी वस्तुके प्रकाशक हैं उनका ज्योतिःशब्दसे

---

रत्नप्रभा

पेक्षयत्पदश्रुत्या द्युसम्बन्धभूतपादत्वादिलिङ्गैश्च इत्यर्थः। अतः प्रकरणात् ज्योतिःश्रुतिबाधो न युक्त इति निरस्तम्। अविशेषकत्वादिति। ब्रह्मव्यावर्तकत्वाभावात् इत्यर्थः। येन तेजसा चैतन्येन इद्धः प्रकाशितः सूर्यः तपति प्रकाशयति तं बृहन्तम् अवेदवित् न मनुते इत्यर्थः। ज्योतिश्शब्दस्य कार्यज्योतिष्येव शक्तिः इति अङ्गीकृत्य कारणब्रह्मलक्षकत्वम् उक्त्वा ब्रह्मणि अपि शक्तिम् आह—यद्वेति। गाढान्धकारे वाचैव ज्योतिषा लोक आसनादिव्यवहारं करोति इत्यर्थः। आज्यं जुषतां पिबताम् मनो ज्योतिः प्रकाशकं भवति इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही है। "प्रकरणात्"—प्रस्तुतकी अपेक्षा करनेवाले 'यत्' पदकी श्रुतिसे और द्युलोकसंबन्ध एवं भूतपादत्व आदि लिङ्गोंसे भी ऐसा अर्थ है। इससे 'प्रकरणसे ज्योतिःश्रुतिका बाध होना ठीक नहीं है' इस कथनका निराकरण हो गया। "अविशेषकत्वात्"—ब्रह्मके व्यावर्तक न होनेके कारण। जिस चैतन्यसे प्रकाशित सूर्य सब जगत्को प्रकाशित करता है, उस महान् चैतन्यको वेदके अर्थको न जाननेवाला—अज्ञानी पुरुष नहीं जान सकता। ज्योतिःशब्दका मुख्य अर्थ कार्यज्योति है, ऐसा अङ्गीकार करके कारण—ब्रह्म उसका लक्ष्यार्थ है ऐसा कहा। अब 'ज्योतिः' शब्दकी ब्रह्ममें भी शक्ति है—ब्रह्म भी उसका मुख्यार्थ है ऐसा कहते हैं—"यद्वा" इत्यादिसे। जब सूर्य आदि अस्त हो जाते हैं और जगत् अन्धकारसे व्याप्त हो जाता

भाष्य

शब्देनाऽभिधीयते। तथा सति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यरूपस्य समस्तजगदव-भासहेतुत्वादुपपन्नो ज्योतिःशब्दः। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कौ० २।५।१५) 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४।४।१६) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। यदप्युक्तम्—द्युमर्यादत्वं सर्वगतस्य ब्रह्मणो नोपपद्यत इति। अत्रोच्यते—सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते। ननूक्तम्—निष्प्रदेशस्य

भाष्यका अनुवाद

अभिधान होता है। ऐसा होनेसे चैतन्यरूप ब्रह्म जो समस्त जगत्के प्रकाशका हेतु है, उसमें ज्योतिःशब्दका प्रयोग उचित है और इन दो श्रुतियोंसे भी [युक्त है]—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं०' ( उसके प्रकाशमान होनेपर ही सब प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है ) और 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योति०' (देवता उसकी ज्योतियोंकी ज्योतिरूपसे, आयुषरूपसे और अमृतरूपसे उपासना करते हैं )। और सर्वगत ब्रह्मको द्युलोक तक ही सीमित करना युक्त नहीं है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसके उत्तरमें कहते हैं—उपासनाके लिए सर्वगत ब्रह्ममें भी प्रदेश विशेषके स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं है। परन्तु कहा है कि निरवयव ब्रह्मके

रत्नप्रभा

आज्यस्तुतिः। यथा गच्छन्तम् अनुगच्छतः स्वस्याऽपि गतिरस्ति, तथा सर्वस्य स्वनिष्ठं भानं स्यात् इत्यत आह—**तस्य भासेति**। तत् कालानवच्छिन्नं ब्रह्म सूर्यादिज्योतिषां साक्षिभूतम् आयुरमृतम् इति च देवा उपासते इत्यर्थः। योषितोऽग्नित्ववद् द्युमर्यादत्वादिकं ध्यानार्थं कल्पितं ब्रह्मणो युक्तम् इत्याह—**अत्रोच्यते इत्यादिना**। दिवः परम् अपि इत्यन्वयः। आरोप्यस्य ध्येयस्य आलम्बनस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, तब वाणीरूप ज्योतिसे ही ये लोक आसनादि व्यवहार करते हैं। घीका सेवन करनेवालेका मन ज्योति—प्रकाश करनेवाला होता है, यह घीकी स्तुति है। जैसे चलते हुए मनुष्यके पीछे चलनेवालेका अपना भी गमन होता है, वैसे ही सब पदार्थोंका प्रकाश भी अपना अपना ही हो, इस पर कहते हैं—"तस्य भासा" इत्यादिसे। कालसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म सूर्यादि ज्योतियोंका साक्षिभूत, आयुष् और अमृत है इस प्रकार देवता उपासना करते हैं। उपासनाके निमित्त जैसे स्त्रीको अग्नि कहा है, वैसे द्युलोक ब्रह्मकी मर्यादा है, ऐसी कल्पना ध्यानके लिए है, यह युक्त ही है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। 'परमपि दिवः कार्यम्' इसमें

भाष्य

ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यत इति। नायं दोषः। निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसम्बन्धात् प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः। तथाहि—आदित्ये चक्षुषि हृदये इति प्रदेशविशेषसम्बन्धीनि ब्रह्मण उपासनानि श्रूयन्ते। एतेन 'विश्वतः पृष्ठेषु' इत्याधारबहुत्वमुपपादितम्। यदप्येतदुक्तम्—औष्ण्य-घोषानुमिते कौक्षेये कार्ये ज्योतिष्यध्यस्यमानत्वात् परमपि दिवः कार्य-ज्योतिरेव इति। तदप्ययुक्तम्, परस्यापि ब्रह्मणो नामादिप्रतीकत्व-वत्कौक्षेयज्योतिष्प्रतीकत्वोपपत्तेः। 'दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति तु प्रतीकद्वारकं दृष्टत्वं श्रुतत्वं च भविष्यति। यदप्यल्पफलश्रवणान्न ब्रह्मेति। तदप्यनुपपन्नम्। नहीयते फलाय ब्रह्माश्रयणीयम्, इयते नेति नियम-

भाष्यका अनुवाद

प्रदेशविशेषकी कल्पना करना ठीक नहीं है। यह दोष नहीं है। निरवयव ब्रह्ममें भी उपाधिके संबन्धसे प्रदेशविशेषकी कल्पना हो सकती है, क्योंकि आदित्यमें, नेत्रमें, हृदयमें, इस प्रकार प्रदेशविशेषमें ब्रह्मकी उपासनाएँ श्रुतिमें प्रतिपादित हैं। इससे 'विश्वतः पृष्ठेषु०' (विश्व प्राणिवर्गसे ऊपर) ऐसे बहुतसे आधारोंकी उपपत्ति समझनी चाहिए। और ऐसा जो पूर्वमें कहा गया है कि उष्णता और शब्दसे अनुमित कुक्षिस्थ कार्यज्योतिमें आरोपित होनेके कारण द्युलोकसे पर ज्योति कार्यज्योति ही है, यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि नाम आदि प्रतीकोंके समान कुक्षिस्थ ज्योति भी परब्रह्म का प्रतीक हो सकती है। 'दृष्टं च श्रुतं०' (दृष्ट है और श्रुत है इस प्रकार उपासना करनी चाहिए) ब्रह्म प्रतीकद्वारा देखा और सुना जा सकता है। अल्प फलकी श्रुतिसे ज्योति ब्रह्म नहीं है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि इतने फलके लिए ब्रह्मका आश्रय करना चाहिए और इतने फलके लिए ब्रह्मका आश्रयण नहीं करना चाहिए इस नियममें कोई

रत्नप्रभा

च सादृश्यनियमो नास्ति इत्याह—**परस्यापीति**। भविष्यति ब्रह्मज्योतिष इति शेषः। तं यथा यथा उपासते तथा तथा फलं भवति इति श्रुतेः इत्याह—**नहीयते इति**। ज्ञानफलवत् उपास्तिफलम् एकरूपं किं न स्यादत आह—**यत्र**

रत्नप्रभाका अनुवाद

'दिवः परमपि कार्यं' ऐसा अन्वय है। जिस आलम्बन—आश्रयमें जिस उपास्य वस्तुका आरोप करते हैं, उन दोनोंका सादृश्य रहना चाहिए ऐसा नियम नहीं है ) ऐसा कहते हैं— "परस्यापि" इत्यादिसे। 'भविष्यति' के बाद 'ब्रह्मज्योतिषः' इतना शेष समझना चाहिए। अर्थात् जाठराग्निरूप प्रतीक द्वारा ब्रह्म दृष्ट और श्रुत हो सकता है। 'तं यथा यथोपासते०' ( परमात्माकी जिस जिस प्रकारसे उपासना करता है, वैसा वैसा फल होता है, ऐसा श्रुति

भाष्य

हेतुरस्ति। यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसम्बन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेनोपदिश्यते, तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते। यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीकविशेषसम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येवोच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते–'अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद' ( बृ० ४।४।२४ ) इत्याद्यासु श्रुतिषु। यद्यपि न स्ववाक्ये किञ्चिज्ज्योतिषो ब्रह्मलिङ्गमस्ति, तथापि पूर्वस्मिन्वाक्ये दृश्यमानं ग्रहीतव्यं भवति। तदुक्तं सूत्रकारेण–ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति। कथं पुनर्वाक्यान्तरगतेन ब्रह्मसंनिधानेन

भाष्यका अनुवाद

हेतु नहीं है। वस्तुतः जहां सब विशेषोंके संबन्धसे रहित परब्रह्मका आत्मारूपसे उपदेश है, वहां एकरूप मोक्ष ही फल है, ऐसा समझा जाता है और जहां गुणविशेषके संबन्धसे अथवा प्रतीकविशेषके संबन्धसे ब्रह्मका उपदेश किया है, वहां नाना प्रकारके सांसारिक फल दिखाई देते हैं, जैसे कि 'अन्नादो०' ( यह आत्मा सब अन्नोंको खानेवाला, धन देनेवाला है, जो ऐसा समझता है, वह धन प्राप्त करता है ) इत्यादि श्रुतियोंमें स्पष्ट है। यद्यपि स्ववाक्यमें ज्योतिका कुछ भी ब्रह्मलिङ्ग नहीं है, तो भी पूर्ववाक्यमें स्थित ब्रह्मलिङ्गका ग्रहण करना चाहिए, इसलिए सूत्रकार कहते हैं—"ज्योतिश्चरणाभिधानात्। परन्तु दूसरे वाक्यमें आए हुए ब्रह्मकी संनिधिसे ज्योतिः

रत्नप्रभा

हीति। ज्ञेयैकत्वाद् इत्यर्थः। ध्येयं तु नाना इत्याह–यत्र त्विति। ईश्वरो जीवरूपेण अन्नमत्ति इति अन्नादोऽन्नस्य आसमन्ताद् दाता वा। वसु हिरण्यं ददाति इति वसुदान इति गुणविशेषसम्बन्धं यो वेद स धनं विन्दते दीप्ताग्निश्च भवति। "नाम्नो वाग् उत्तमा मनो वा प्रतीकं वाचो भूयः" इति प्रतीकविशेषध्यानश्रुतिसंग्रहार्थम् आद्यपदम्। सन्निधेः श्रुतिः बलीयसी इति शङ्कते–कथं

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहती है यह कहते हैं—"नहीयते" इत्यादिसे। ज्ञानके फलके समान उपासनाका फल एकरूप क्यों न हो, इसपर कहते हैं—"यत्र हि" इत्यादिसे। अर्थात् ज्ञेय वस्तुके एक होनेसे ज्ञानका फल एक है। ध्येय वस्तुएँ भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं, ऐसा कहते हैं—"यत्र तु" इत्यादिसे। ईश्वर जीवरूपसे अन्न खाता है, अतः 'अन्नाद' है अथवा सर्व प्रकारसे अन्नका दाता है, अतः 'अन्नाद' है। वसु अर्थात् धन देता है, इसलिए वसुदान' है। इस प्रकार जो गुणविशेषका संबन्ध जानता है, वह धन प्राप्त करता है और दीप्ताग्नि होता है। नामसे वाणी उत्तम है, मनरूप प्रतीक वाणीसे विशेष है, ऐसा प्रतीकविशेषका ध्यान दिखलाने-

भाष्य

ज्योतिःश्रुतिः स्वविषयात् शक्या प्रच्यावयितुम् । नैष दोषः । 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति प्रथमतरपठितेन यच्छब्देन सर्वनाम्ना द्युसम्बन्धात् प्रत्यभिज्ञायमाने पूर्ववाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि स्वसामर्थ्येन परामृष्टे सति अर्थात् ज्योतिःशब्दस्याऽपि ब्रह्मविषयत्वोपपत्तेः । तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ॥ २४ ॥

भाष्यका अनुवाद

श्रुति स्वविषयसे कैसे दूर की जा सकती है ? यह दोष नहीं है । 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' ( जो उस द्युलोकसे पर ज्योति है ) इसमें सबसे पहले पढ़े हुए सर्वनाम 'यत्' शब्द द्वारा अपनी सामर्थ्यसे ब्रह्मका परामर्श होनेसे और द्युसंबन्धसे पूर्ववाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्मका प्रत्यभिज्ञान होनेसे ज्योतिःशब्द भी तात्पर्यसे ब्रह्मविषयक होता है । इस कारण यहां ज्योतिसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिए ॥ २४ ॥

---

रत्नप्रभा

पुनरिति । अथ प्रथमश्रुत्यनुसारेण चरमश्रुतिः नीयते इत्याह—नैष इति । सर्वनाम्ना स्वसामर्थ्येन स्वस्य सर्वनाम्नः सामर्थ्यं सन्निहितवाचित्वं तद्बलेन परामृष्टे सति इति योजना । अर्थात् यत्पदसामानाधिकरण्यात् इत्यर्थः ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाली श्रुतिके संग्रहके लिए 'आद्य' पद है । संनिधिसे श्रुति विशेष बलवती है, ऐसी शङ्का करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे । प्रथम श्रुतिके अनुसार पिछली श्रुतिका अर्थ करना चाहिये ऐसा कहते हैं—"नैष" इत्यादिसे । सर्वनाम द्वारा स्व सामर्थ्यसे अर्थात् सर्वनामकी जो सामर्थ्य—समीपस्थको कहना है, उसके बलसे परामर्श होनेपर ऐसी योजना है । अर्थात्—'यत्' पदका सामानाधिकरण्य होनेसे ॥ २४ ॥

## छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदा-त्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

**पदच्छेद**—छन्दोऽभिधानात्, न, इति, चेत्, न, तथा, चेतोऽर्पणनिगदात्, तथा, हि, दर्शनम्।

**पदार्थोक्ति**—छन्दोऽभिधानात्—'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' इति श्रुतौ गायत्र्याख्यच्छन्दसः उपक्रान्तत्वात् [ पादत्रयवत्त्वम् गायत्र्या एव उक्तम् ], न—न तु ब्रह्मणः, इति चेत् न, तथा—गायत्रीछन्दोद्वारा तदनुगते ब्रह्मणि, चेतोऽर्पण-निगदात्—चित्तप्रक्षेपस्य कथनात् [ पादत्रयवत्त्वं ब्रह्मण एवोक्तम् ]। तथा हि दर्शनम्—अन्यत्राऽपि 'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते' इत्यादौ विकारद्वारेण ब्रह्मणः उपासनं दृष्टम्।

**भाषार्थ**—'गायत्री वा०' इस श्रुतिमें गायत्रीछन्दका उपक्रम है, अतः गायत्री ही त्रिपाद कही गई है, ब्रह्म त्रिपाद नहीं है ऐसा कहना संगत नहीं हैं, क्योंकि श्रुतिमें गायत्रीछन्दद्वारा गायत्रीमें अनुगत ब्रह्ममें चित्तकी एकाग्रता करनी चाहिए ऐसा उपदेश किया गया है, अतः ब्रह्म ही त्रिपाद कहा गया है। और 'एतं ह्येव०' ( ऋग्वेदी होतृगण उक्थशास्त्रद्वारा उस परमात्माकी उपासना करते हैं ) इत्यादि स्थलोंमें भी विकारद्वारा ही ब्रह्मकी उपासना देखी गई है।

*भाष्य*

**अथ यदुक्तम्—पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये न ब्रह्माऽभिहितमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' ( छा० ३।१२।१ ) इति गायत्र्याख्यस्य छन्दसोऽभिहितत्वात् इति। तत्परिहर्तव्यम्। कथं पुनश्छन्दोभिधा-नान्न ब्रह्माऽभिहितमिति शक्यते वक्तुम्, यावता 'तावानस्य महिमा' इत्ये-**

*भाष्यका अनुवाद*

पूर्वपक्षीने यह जो कहा था कि पूर्ववाक्यमें भी ब्रह्मका अभिधान नहीं है, क्योंकि 'गायत्री वा इदं सर्वं०' ( यह सब प्राणिसमूह और यह जो कुछ है, वह सब गायत्री ही है ) इसमें गायत्री नामके छन्दका अभिधान है, उसका समाधान करना चाहिए। जब कि 'तावानस्य०' (इतनी उसकी महिमा है )

---

*रत्नप्रभा*

छन्दोऽभिधानाद् ब्रह्म प्रकृतं नास्ति इति शङ्कामेकदेशी दूषयति—**कथमिति**।

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

पूर्ववाक्यमें छन्द कहा गया है इससे—छन्दके अभिधानसे ब्रह्म प्रकृत नहीं है, एकदेशी इस

भाष्य

तस्यामृचि चतुष्पाद् ब्रह्म दर्शितम्। नैतदस्ति। 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति गायत्रीमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदैर्व्याख्याय 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तं तावानस्य महिमा' इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माद्ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात्। योऽपि तत्र 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३।१२।५,६) इति ब्रह्मशब्दः सोऽपि छन्दसः प्रकृतत्वात् छन्दोविषय एव। 'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छा० ३।११।३) इत्यत्र हि वेदोपनिषदमिति व्याचक्षते, तस्मात् छन्दोभिधानान्न ब्रह्मणः प्रकृतत्वमिति चेत्।

भाष्यका अनुवाद

इस ऋचामें चतुष्पात् ब्रह्मका वर्णन किया गया है, तब पूर्वोक्त वाक्यमें छन्दका कथन होनेसे ब्रह्म नहीं कहा गया है यह कैसे कह सकते हो।

पूर्वपक्षी—यह प्रमाण ठीक नहीं है, क्योंकि 'गायत्री वा०' (यह सब गायत्री ही है) इस प्रकार गायत्रीका उपक्रम करके उसका ही भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय, वाणी और प्राणके भेदसे व्याख्यान करके उसी व्याख्यात गायत्रीके विषयमें 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री०' (यह चार पाद-वाली, छः प्रकारकी गायत्री है, यह इस ऋचासे कहा गया है कि उसकी इतनी महिमा है) यह मन्त्र उदाहरणरूपसे दिया गया है। यह मंत्र अकस्मात्—बिना किसी कारणके चतुष्पाद ब्रह्मका किस प्रकार अभिधान करेगा। उसी प्रकरणमें 'यद्वै तद् ब्रह्म' श्रुतिमें जो ब्रह्मशब्द है, वह भी छन्दके ही प्रकरणमें पठित होनेके कारण छन्दका ही वाचक है, क्योंकि 'य एतामेवं०' (जो इस ब्रह्मोपनिषद्को—वेदरहस्यको इस प्रकार जानता है) इस श्रुतिमें ब्रह्मोपनिषद्का व्याख्यान वेदोपनिषद् है, अतः छन्दके अभिधानसे ब्रह्म प्रकृत नहीं है।

---

रत्नप्रभा

शङ्कां साधयति—**नैतदित्यादिना**। चतुष्पदत्वादिकं पूर्वमेव व्याख्यातम्। **य एतामेवमिति**। वेदरहस्यभूतां मधुविद्याम् एवम् उक्तरीत्या यः कश्चिद् वेद, तस्य उदयास्तमयरहितब्रह्मप्राप्तिः भवति इत्यर्थः। तथा च वेदत्वाद् गायत्र्यां

रत्नप्रभाका अनुवाद

शङ्काको दूषित करता है—"कथम्" इत्यादिसे। शङ्काको सिद्ध करता है—"नैतत्" इत्यादिसे। गायत्री चतुष्पदा है इत्यादिका पहले ही व्याख्यान किया गया है। "य एतामेवं" इत्यादि। वेदरहस्यभूत मधुविद्याको पूर्वोक्त प्रकारसे जो जानता है, उसको जन्म और लय रहित ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है। अतः वेद होनेके कारण गायत्रीमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग ठीक है अर्थात् गायत्रीको

भाष्य

नैष दोषः । 'तथा चेतोर्पणनिगदात्' तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽर्पणं चित्तसमाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते—'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति । नह्यक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं सम्भवति । तस्माद् यद् गायत्र्याख्यविकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म तदिह सर्वमित्युच्यते । यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति । कार्यं च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः—'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्र । तथाऽन्यत्राऽपि विकारद्वारेण ब्रह्मण उपासनं दृश्यते—'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि गायत्री नामके छन्द द्वारा उसमें अनुगत ब्रह्ममें चित्तकी एकाग्रता 'गायत्री वा०' ( यह सब गायत्री ही है ) इस ब्राह्मणवाक्यसे कही गई है । वस्तुतः अक्षर-रचनारूप गायत्री सर्वात्मक नहीं हो सकती, इसलिए गायत्रीनामक विकारमें अनुगत जगत्का कारण जो ब्रह्म है, वही 'सर्व' शब्दसे कहा जाता है, जैसे कि 'सर्वं खल्विदं०' ( यह सब ब्रह्म ही है ) इसमें है । और कार्य कारणसे अभिन्न है, यह 'तदनन्यत्व०' इस सूत्रमें कहेंगे । इसी प्रकार 'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे०' ( इस परमात्माकी ही ऋग्वेदी महान् शस्त्रमें उपासना करते हैं, इसीकी यजुर्वेदी

रत्नप्रभा

ब्रह्मशब्दो युक्त इति भावः । गायत्रीशब्देन तदुपादानत्वेन अनुगतब्रह्मलक्षणायां बीजमनुपपत्तिमाह—नह्यक्षरेति । ब्रह्मणोऽपि कथं सर्वात्मकत्वम्, तत्राह—कार्यञ्चेति । न च गायत्र्या ध्यानार्थं सर्वात्मकत्वारोप इति वाच्यम् । स्वतः सर्वात्मनो ध्यानसम्भवेन असदारोपायोगादिति भावः । 'तथाहि दर्शनम्' इति सूत्रशेषं व्याचष्टे—तथान्यत्रेति । दृश्यते इति दर्शनं दृष्टमित्यर्थः । एतं परमात्मानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म कहना ठीक है । गायत्रीका उपादान होनेके कारण उसमें अनुगत ब्रह्ममें गायत्रीशब्दकी लक्षणा करनी चाहिए, इसमें अनुपपत्तिरूप कारण बतलाते हैं—"नह्यक्षर" इत्यादिसे । ब्रह्म भी कैसे सर्वात्मक है ? इसपर कहते हैं—"कार्यं च" इत्यादिसे । ध्यानके निमित्त गायत्रीमें सर्वात्मकताका आरोप किया है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जो स्वतः सर्वात्मक है, उसका ध्यान हो सकता है, तो असत्का आरोप करना ठीक नहीं है । 'तथा हि दर्शनम्' इस सूत्रके शेष अंशका व्याख्यान करते हैं—"तथान्यत्र" इत्यादिसे ।

भाष्य

एतं महाव्रते छन्दोगाः' ( ऐ० आ० ३।२।३।१२) इति। तस्मादस्ति छन्दोभिधानेऽपि पूर्वस्मिन् वाक्ये चतुष्पात् ब्रह्म निर्दिष्टम्। तदेव ज्योतिर्वाक्येऽपि परामृश्यते उपासनान्तरविधानाय।

अपर आह—साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते, संख्यासामा-

भाष्यका अनुवाद

अग्निमें उपासना करते हैं, इसीकी ही सामवेदी महाव्रतनामक क्रतुमें उपासना करते हैं ) इत्यादि दूसरे स्थलोंमें भी विकार द्वारा ब्रह्मकी उपासना देखी जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि पूर्ववाक्यमें छन्दका अभिधान होनेपर भी उसके द्वारा चतुष्पात् ब्रह्म ही निर्दिष्ट है। उसीका ज्योतिर्वाक्यमें दूसरी उपासनाका विधान करनेके लिए परामर्श होता है।

दूसरे कहते हैं कि गायत्री शब्दसे साक्षात् ही ब्रह्मका प्रतिपादन होता है, क्योंकि संख्याकी समानता है। जैसे गायत्री छः अक्षरवाले चार पादोंसे युक्त

रत्नप्रभा

बह्वृचा ऋग्वेदिनो महति उक्थे शस्त्रे तदनुगतमुपासते। एतमेव अग्निरहस्ये "तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते" इति श्रुतेः यजुर्वेदिनोऽग्नौ उपासते। एतमेव छन्दोगाः सामवेदिनो महाव्रते क्रतौ उपासते' इति ऐतरेयारण्यके दृष्टमित्यर्थः।

गायत्रीशब्दो ब्रह्मलक्षक इति व्याख्याय गौण इत्याह—अपर इति। साक्षादेव वाच्यार्थग्रहणं विना एव इति यावत्। पूर्वं तु उपास्यतया गायत्रीपदेन अजहल्लक्षणया गायत्रीब्रह्मणी द्वे अपि लक्षिते। न च 'गायत्री सर्वम्' इत्यन्वया-सम्भवः। घटो रूपीति पदार्थैकदेशे व्यक्तौ रूपान्वयवद् गायत्रीपदार्थैकदेशे

रत्नप्रभाका अनुवाद

'दृश्यते' इस व्युत्पत्तिसे दर्शनशब्दका अर्थ 'दृष्ट' है ऋग्वेदी लोग अर्थात् होतृगण इस परमात्माका महान् शस्त्रमें विचार करते हैं अर्थात् वह शस्त्रमें अनुगत है ऐसा ध्यान करते हैं। अग्निरहस्यमें 'तमेतमग्निरि०' ( अध्वर्युगण अग्निरूपसे इस ब्रह्मकी उपासना करते हैं ) ऐसा श्रुति कहती है, अतः यजुर्वेदी अग्निमें ब्रह्मकी उपासना करते हैं। सामवेदी महाव्रत नामक यागमें ब्रह्मकी उपासना करते हैं, ऐसा ऐतरेयारण्यकमें देखा गया है।

गायत्रीशब्द ब्रह्मलक्षक[1] है ऐसा व्याख्यान करके अब उसको गौण कहते हैं—"अपरः" इत्यादिसे। 'साक्षादेव'—वाच्यार्थग्रहण किये बिना ही। पहले तो गायत्रीपद अजहल्लक्षणासे गायत्री और ब्रह्म दोनोंका उपास्यरूपसे प्रतिपादन करता है ऐसा कहा। इस प्रकार लक्षणाका सहारा लेनेसे 'गायत्री सर्वं' इसका अन्वय नहीं हो सकेगा, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जैसे 'घटो रूपी' ( घट रूपवान् है ) इसमें पदार्थके एकदेश व्यक्तिमें रूपका अन्वय है, वैसे ही

( १ ) लक्षणासे ब्रह्मरूप अर्थका प्रतिपादक।

भाष्य

न्यात्, यथा गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैः तथा ब्रह्म चतुष्पात्। तथाऽन्यत्रापि छन्दोऽभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे संख्यासामान्यात् प्रयुज्यमानो दृश्यते। तद्यथा—'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्'

भाष्यका अनुवाद

है, वैसे ही ब्रह्म भी चतुष्पाद है। इसी प्रकार दूसरे स्थलोंमें भी छन्दका अभिधान करनेवाले शब्दोंका, संख्याकी समानतासे, दूसरे अर्थमें प्रयोग देखा जाता है, जैसे कि 'ते वा एते पञ्चान्ये०' ( ये पांच और दूसरे पांच, दस होकर

रत्नप्रभा

गायत्र्यनुगते ब्रह्मणि प्रधाने सर्वात्मकत्वान्वयसम्भवात् इति भावः। तथा च सूत्रे सिद्धान्तभागस्य अयमर्थः। तथा गायत्रीवत् चतुष्पात्त्वगुणसामान्यात् चेतो ब्रह्मणि समर्प्यते येन स चेतोऽर्पणो गायत्रीशब्दस्तेन ब्रह्मण एव निगदाद् अभिधानात्, छन्दोऽभिधानम् असिद्धमिति। अधुना "तथाहि दर्शनम्" इति शेषं व्याचष्टे—**तथेति**। संवर्गविद्यायाम् अधिदैवम् अग्निसूर्यचन्द्राम्भांसि वायौ लीयन्ते। अध्यात्मं वाक्चक्षुश्श्रोत्रमनांसि प्राणमपियन्ति इत्युक्तम्। ते वा एते पञ्चाऽन्ये आधिदैविकाः, पञ्चाऽन्ये आध्यात्मिकास्ते मिलित्वा दशसंख्याकाः सन्तः कृतम् इति उच्यन्ते। अस्ति हि कृतत्रेताद्वापरकलिसंज्ञकानि चत्वारि द्यूतानि क्रमेण चतुरङ्कत्र्यङ्कद्व्यङ्कैकाङ्कानि। तत्र कृतं दशात्मकं भवति, चतुर्षु अङ्केषु त्रयाणां

रत्नप्रभाका अनुवाद

गायत्रीपदार्थके एकदेश गायत्रीमें अनुगत ब्रह्म जो प्रधान वस्तु है, उसमें सर्वात्मकत्वका अन्वय हो सकता है, ऐसा तात्पर्य है। अतः सूत्रमें सिद्धान्तभागका यह अर्थ है—इस प्रकारसे-गायत्रीके समान चतुष्पात्त्व ( चतुष्पाद होना ) गुणके सादृश्यसे ( गायत्री और ब्रह्मके चतुष्पाद होने से ) चित्त ब्रह्ममें समर्पित किया जाता है जिससे, वह 'चेतोर्पण' अर्थात् गायत्री-शब्द है, उससे ब्रह्मका ही अभिधान होता है, इस कारण छन्दका अभिधान असिद्ध है। अब 'तथाहि दर्शनम्' इस शेष भागका व्याख्यान करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। संवर्गविद्यामें देवताओंमें अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल वायुमें लीन होते हैं और शरीरमें वाणी, नेत्र, कर्ण और मन प्राणमें लीन होते हैं। ये पांच आधिदैविक और पांच आध्यात्मिक मिलकर दस 'कृत' कहलाते हैं। वस्तुतः कृत, त्रेता, द्वापर और कलि इस नामके चार द्यूत[3] क्रमसे चार, तीन, दो और एक अङ्कके हैं। कृत–४, त्रेता–३, द्वापर–२

( १ ) सर्वभूत स्थावर और जंगम एक पाद है, स्वप्रकाश चिदात्मामें अथवा प्रसिद्ध द्युलोकमें तीन पाद हैं, इस प्रकार ब्रह्म चतुष्पाद है।

( २ ) छान्दोग्योपनिषद् ४ अध्याय ३ खण्डमें संवर्गविद्या कही गई है।

( ३ ) द्यूत—जुआ। द्यूतका साधन—पासा।

भाष्य

इत्युपक्रम्याऽऽह—'सैषा विराडन्नादी' (छा० ४।३।८) इति। अस्मिन् पक्षे ब्रह्मैवाऽभिहितमिति न छन्दोभिधानम्। सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन् वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म ॥ २५ ॥

भाष्यका अनुवाद

वे कृत कहलाते हैं) ऐसा उपक्रम करके 'सैषा विराड०' (यह अन्न भक्षक विराट् है) ऐसा कहा है। इस पक्षमें ब्रह्मका ही अभिधान है, छन्दका अभिधान नहीं है। पूर्ववाक्यमें सर्वथा ब्रह्म ही प्रकृत है ॥ २५ ॥

रत्नप्रभा

त्रिषु द्वयोः द्वयोः एकस्य च अन्तर्भावात्, तथा च दशत्वगुणेन वाय्वादयः कृतशब्देन उच्यन्ते। एवं कृतत्वं वाय्वादीनाम् उपक्रम्य आह—सैषेति। विधेयापेक्षया स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। विराट्पदं छन्दोवाचकम्, "दशाक्षरा विराड्" इति श्रुतेः। दशत्वसाम्येन वाय्वादयो विराडिति उच्यन्ते। एवञ्च दशत्वद्वारा वाय्वादिषु कृतत्वं विराट्त्वञ्च ध्येयम्। तत्र विराट्त्वध्यानात् सर्वमस्य अन्नं भवति, "अन्नं विराड्" इति श्रुतेः, कृतत्वध्यानादन्नादो भवति, कृतद्यूतस्य अन्नादत्वात्। कृतं हि स्वीयचतुरङ्केषु त्र्यङ्कादिकम् अन्तर्भावयत् अन्नम् अत्तीव लक्ष्यते। अत एव कृतजयाद् इतरद्यूतजयः श्रुत्युक्तः। "कृतायविजितायाऽधरेयाः संयन्ति" इति। अयः द्यूतम्, कृतसंज्ञोऽयः कृतायः स विजितो येन तस्मै, अधरेयाः त्र्यङ्कादयः अयाः संयन्ति उपनमन्ते तेन जिता भवन्ति इत्यर्थः। एवञ्च सा वाय्वादिदशा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कलि—१। चार संख्यासे युक्त कृत दस संख्यावाला होता है, क्योंकि चारमें तीनका तीनमें दोका और दोमें एकका अन्तर्भाव होनेसे दस होते हैं। वायु आदि भी दस हैं। इस प्रकार संख्याकी समानतासे कृतत्वका उपचार है। इस प्रकार वायु आदिके कृतत्वका उपक्रम करके कहते हैं—"सैषा" इत्यादि। विराट्शब्द स्त्रीलिङ्ग है, अतः 'सा' 'एषा' ऐसा स्त्रीलिङ्गका निर्देश किया है। विराट्पद छन्दोवाचक है, क्योंकि 'दशाक्षरा०' (दस अक्षरवाला छन्द विराट् है) ऐसी श्रुति है। दशत्वकी समानतासे वायु आदि विराट् कहलाते हैं। इस प्रकार दशत्व द्वारा वायु आदिमें कृतत्व और विराट्त्वका ध्यान करना चाहिए। उनमें विराट्त्वके ध्यानसे उपासकके सब अन्न होते हैं, क्योंकि 'अन्नं०' ऐसी श्रुति है। कृतत्वके ध्यानसे अन्नभक्षक होता है, क्योंकि कृतद्यूत अन्नभक्षक है। कृत अपने चार अङ्कोंमें तीन अङ्क आदिका अन्तर्भाव करता है, अतः अन्नभक्षक-सा मालूम पड़ता है। इसी कारण श्रुतिमें कृतके जयसे अन्य द्यूतका जय कहा है—'कृतायविजिताया०' अय—द्यूत, कृतसंज्ञक अय कृताय है, उसको जिसने जीता है, वह तीन, दो और एक अङ्कवाले पासोंको जीतता है। इस प्रकार वायु आदि दशा-

## रत्नप्रभा

त्मिका एषा कृतशब्दिता विराट् अन्नम्, कृतत्वात् अन्नादिनी इत्यर्थः। सर्वथापीति। गायत्रीतिपदस्य लक्षकत्वे गौणत्वेऽपि च इत्यर्थः। अत्र अपर आह इति अपरपदेन गौणत्वं स्वमतं न इति द्योतयति। अजहल्लक्षणापक्षे हि 'वाग्वै गायत्री' इति वागात्मत्वं 'गायति च त्रायते च' इति निरुक्तनामकत्वञ्च गायत्र्या उपाधित्वेन उपास्यत्वाद् उपपन्नतरम्। गौणपक्षे गायत्रीत्यागात् तदुभयं सर्वात्मकत्वमात्रेण उपपादनीयम्। एवं गायत्रीपदस्य स्वार्थत्यागोऽप्रसिद्धचतुष्पात्त्वगुणद्वारा विप्रकृष्टलक्षणा चेति बहु असमञ्जसम् ॥ २५ ॥

## रत्नप्रभाका अनुवाद

त्मक होकर कृतसंज्ञक विराट् अन्न है और कृतत्वके कारण अन्नभक्षक कहलाती है। "सर्वथापि" अर्थात् गायत्रीपदको लक्षक मानें अथवा गौण मानें तो भी। यहां 'अपर आह' इसमें 'अपर' पदसे गौणत्व स्वमत नहीं है ऐसा सूचित किया है। पहले पक्षमें जिसमें गायत्री पदकी अजहल्लक्षणा होती है 'वाग्वै०' इस प्रकार वाग्रूपत्व और 'गायति०' इस प्रकार निरुक्तनामकत्व ये दोनों गायत्रीरूप उपाधिद्वारा उपास्य ब्रह्ममें ठीक उपपन्न होते हैं, गौण पक्षमें गायत्रीका त्याग हो जाता है, अतः उन दोनोंका केवल सर्वात्मकत्वरूप हेतुसे उपपादन करना पड़ेगा। इसलिए इस पक्षमें गायत्रीपदका मुख्यार्थत्याग और अप्रसिद्ध चतुष्पात्त्व आदि गुणद्वारा बहुत दूरकी लक्षणा इत्यादि बहुत असमंजस प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

---
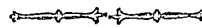
(१) "वाच्यार्थमपरित्यज्य वृत्तिरन्यार्थके तु या।
कथितेयमजहती शोणोऽयं धावतीतिवत् ॥"

वाच्य अर्थका त्याग न कर वाच्य अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अर्थमें जो शब्दकी वृत्ति है, वह अजहल्लक्षणा कही जाती है। इसका उदाहरण है—'शोणो धावति'। यहां पर 'शोण' शब्दका वाच्य अर्थ रक्तवर्ण है। वह गुण है, उसमें धावन क्रिया किसी प्रकारसे भी सम्भव नहीं है, इसलिए 'शोण' शब्द वाच्य अर्थ—रक्तवर्णका त्याग किये विना रक्तवर्ण-सम्बन्धी अश्वको कहता है।

उक्त अजहती लक्षणाके पक्षमें 'गायत्री वा इदं सर्वम्' श्रुतिमें पठित गायत्रीपद अपने वाच्य अर्थका त्याग किये विना स्वोपाधिक ब्रह्मका बोध कराता है।

गौणपक्षमें "सैषा चतुष्पदा" श्रुतिमें गायत्री चतुष्पात् कही गई है और "पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतम्"में ब्रह्म चतुष्पात् कहा गया है। इस चतुष्पात्त्वरूप सादृश्यसे 'गायत्री' पद अपने अर्थका त्यागकर श्रुतिमें उक्त सर्वात्मकताकी सिद्धिके लिए ब्रह्मका बोध कराता है। इससे प्रतीत होता है कि जिस प्रकार आलङ्कारिक सादृश्य सम्बन्धसे गौणी लक्षणा मानते हैं और सादृश्यसे अतिरिक्त सम्बन्धसे शुद्धा लक्षणा मानते हैं, वैसा ये नहीं मानते किन्तु लक्षणाके विना ही उपचारसे अन्य शब्दका अन्य अर्थमें प्रयोग होता है ऐसा मानते हैं।

## भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः, च, एवम् ।

पदार्थोक्ति—भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः—'गायत्री वा इदं सर्वं०' इति श्रुतौ कथितस्य भूतादिपादत्वस्य ब्रह्मण्येव उपपन्नत्वात्, च—अपि, एवम्—गायत्रीशब्देन गायत्र्यनुगतं ब्रह्मैव उच्यते ।

भाषार्थ—'गायत्री वा' इस श्रुतिमें भूत, पृथिवी, शरीर और हृदय पाद कहे गये हैं, यह कथन ब्रह्ममें ही उपपन्न हो सकता है ( केवल छन्दोरूप गायत्री-के भूत, पृथिवी आदि पाद नहीं हो सकते हैं ), इससे भी स्पष्ट है कि गायत्री-शब्दसे गायत्रीमें अनुगत ब्रह्मका ही बोध होता है ।
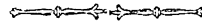
### भाष्य

इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति पूर्वस्मिन् वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मेति, यतो भूतादीन् पादान् व्यपदिशति । भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निर्दिश्याऽऽह—'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इति । नहि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य

### भाष्यका अनुवाद

इस कारण भी पूर्ववाक्यमें ब्रह्म ही प्रकृत है, यह स्वीकार करना चाहिए, क्यों-कि श्रुति पादरूपसे भूतादिका व्यपदेश करती है । भूत, पृथिवी, शरीर और हृदयका निर्देश करके कहते हैं—'सैषा चतुष्पदा०' ( वह चार पादवाली छः

### रत्नप्रभा

ननु "गायत्री वा इदं सर्वम्" इति प्रथमगायत्रीश्रुतेः कथं लक्षणा इति आशङ्क्य वाक्यशेषगतसर्वात्मकत्वाद्यनेकबलवत्प्रमाणसंवादेन ब्रह्मणि तात्पर्याव-गमाद् इत्याह—भूतादिपादेति । एवंपदार्थमाह—इतश्चेति । सूत्रस्थादिपदार्थं दर्शयति—भूतपृथिवीति । अत्र सूत्रभाष्यकारयोः भूतादिभिः चतुष्पदा

### रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि कोई कहे कि 'गायत्री वा०' ( यह सब गायत्री ही है ) इस प्रकार प्रथम श्रुत गायत्री शब्दकी लक्षणा किस प्रमाणसे की जाय ? इस आशङ्कापर वाक्यशेषमें रहनेवाले सर्वा-त्मकत्व आदि अनेक बलवान् प्रमाणोंकी एक वाक्यतासे ब्रह्ममें तात्पर्य समझा जाता है, अतः लक्षणा करनी चाहिए ऐसा कहते हैं—"भूतादिपाद" इत्यादिसे । 'एवं' पदका अर्थ कहते हैं—"इतश्च" इत्यादिसे । सूत्रगत 'आदि' पदका अर्थ कहते हैं—"भूतपृथिवी" इत्यादिसे । यहां-

*भाष्य*

छन्दसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते। अपि च ब्रह्मानाश्रयणे नेयमृक् संबध्येत—'तावानस्य महिमा' इति। अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाऽभिधीयते, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।५) इति सर्वात्मत्वोपपत्तेः। पुरुषसूक्तेऽपीयमृग् ब्रह्मपरतयैव समाम्नायते। स्मृतिश्च ब्रह्मण एवंरूपतां दर्शयति—'विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ०गी० १०।४२) इति। 'यद्वै तद् ब्रह्म' (छा० ३।१२।७) इति च निर्देश एवं सति मुख्यार्थ उपपद्यते। 'ते वा एते पञ्च

*भाष्यका अनुवाद*

प्रकारकी गायत्री है ) यदि ब्रह्मका ग्रहण न करें, तो भूतादि केवल छन्दके पाद नहीं हो सकेंगे। दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्मका ग्रहण न करें, तो 'तावानस्य०' ( उसकी इतनी महिमा है ) इस ऋचाका समन्वय नहीं हो सकेगा। वस्तुतः इस ऋचा द्वारा स्वरससे ब्रह्मका ही अभिधान होता है, क्योंकि 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि०' ( सब भूत उसका एक पाद है और दिवमें तीन पाद अमृत हैं ) इस प्रकार सर्वात्मता उपपन्न होती है। पुरुष सूक्तमें भी यह ऋचा ब्रह्म-विषयक ही कही गई है। 'विष्टभ्याहमिदं०' ( एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके मैं स्थित हूँ ) यह स्मृति भी ब्रह्ममें सर्वात्मता दिखलाती है। पूर्ववाक्यमें ब्रह्मके स्वीकार करनेसे ही 'यद्वै तद् ब्रह्म' यह निर्देश मुख्यार्थमें संगत होता है। 'पञ्च

---

*रत्नप्रभा*

गायत्रीति सम्मतम्, षडक्षरैश्चतुष्पात्त्वं वृत्तिकारोक्तम् अप्रसिद्धम्। चकार-सूचितं युक्त्यन्तरम् आह—**अपि चेति**। ब्रह्मपरसूक्तोत्पन्नत्वात् च तस्याः तत्परत्वम् इत्याह—**पुरुषेति**। ब्रह्मपदस्य छन्दोवाचित्वम् उक्तं निरस्यति—**यद्वै तद् ब्रह्मेति**। [एवं सति]—पूर्वस्यामृचि ब्रह्मोक्तौ इत्यर्थः। हृदयस्य चतुर्दिक्षु

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

पर सूत्रकार और भाष्यकारका यह मत है कि गायत्री भूत, पृथिवी, शरीर और हृदयसे चतुष्पदा है और छः छः अक्षरोंके चार पादोंसे चतुष्पदा है, यह जो वृत्तिकार कहते हैं, वह अप्रसिद्ध है। सूत्रगत चकारसे सूचित दूसरी युक्ति कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। ब्रह्मप्रतिपादक सूक्तसे उत्पन्न है, इससे भी वह ऋक् ब्रह्मपरक है ऐसा कहते हैं—"पुरुष" इत्यादिसे। ब्रह्मपद छन्दोवाचक है यह जो पीछे कहा है, उसका निराकरण करते हैं—"यद्वै

भाष्य

ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३।१३।६) इति च हृदयसुषिषु ब्रह्मपुरुषश्रुतिर्ब्रह्मसम्बन्धितायां विवक्षितायां सम्भवति। तस्मादस्ति पूर्वस्मिन् वाक्ये ब्रह्म प्रकृतम्। तदेव ब्रह्म ज्योतिर्वाक्ये द्युसम्बन्धात् प्रत्यभिज्ञायमानं परामृश्यते इति स्थितम् ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मपुरुषाः' (ये पांच ब्रह्मपुरुष हैं) और 'हृदयसुषिषु०' (हृदयके छिद्रोंमें ब्रह्मपुरुष हैं) ये श्रुतियां पूर्ववाक्यका ब्रह्मके साथ संबन्ध है ऐसा निश्चित होनेपर ही संगत होती हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पूर्ववाक्यमें ब्रह्म प्रकृत है। और द्युसंबन्धसे प्रत्यभिज्ञायमान उसी ब्रह्मका ज्योतिर्वाक्यमें परामर्श होता है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

ऊर्ध्वं च पञ्चसुषयः सन्ति। तेषु ब्रह्मस्थानहृन्नगरस्य प्रागादिद्वारेषु क्रमेण प्राणव्यानापानसमानोदानाः पञ्च द्वारपाला इति ध्यानार्थं श्रुत्या कल्पितम्। तत्र हृदयच्छिद्रस्थप्राणेषु ब्रह्मपुरुषत्वश्रुतिः हृदि गायत्र्याख्यब्रह्मण उपासनासम्बन्धितायां ब्रह्मणो द्वारपालत्वाद् ब्रह्मपुरुषा इति सम्भवति इत्याह—**पञ्च ब्रह्मेति** ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तद् ब्रह्म" इत्यादिसे। [एवं सति]—पूर्ववाक्यमें ब्रह्मका अभिधान होनेपर। हृदयकी चारों दिशाओंमें और ऊपर पांच छिद्र हैं। ब्रह्मके स्थान हृदयरूप नगरके उन पूर्वादि द्वारोंमें ध्यानके लिए प्राण, व्यान, अपान, समान और उदान इन पांच द्वारपालोंकी कल्पना श्रुतिमें की गई है, हृदयमें गायत्रीसंज्ञक ब्रह्मकी उपासनाके संबन्धमें ब्रह्मके द्वारपालक होनेसे प्राण आदि ब्रह्मपुरुष कहलाते हैं, अतः हृदयके छिद्रोंमें रहनेवाले प्राण आदि ब्रह्मपुरुष हैं ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुति उपपन्न होती है ऐसा कहते हैं—"पञ्च ब्रह्म" इत्यादिसे ॥ २६ ॥
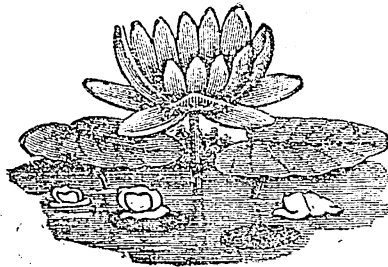
## उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

**पदच्छेद**—उपदेशभेदात्, न, इति, चेत्, न, उभयस्मिन्, अपि, अविरोधात् ।

**पदार्थोक्ति**—[ 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति गायत्रीवाक्ये ब्रह्मणः ब्रह्माण्डान्तर्वर्तित्वमुक्तम् । 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इति ज्योतिर्वाक्ये ब्रह्मणः ब्रह्माण्डादुपरि अवस्थानमुक्तम् तथा च ] उपदेशभेदात्—गायत्रीवाक्यज्योतिर्वाक्ययोः परस्परविरुद्धार्थकत्वात् न—प्रामाण्यं नास्ति, इति चेत् न, उभयस्मिन् अपि—वाक्यद्वयेऽपि अविरोधात्—विरोधाभावात्—'दिवि' इति सप्तमीविभक्तेः लक्षणया पञ्चमीविभक्त्यर्थबोधकत्वात् [ उभयवाक्ययोः प्रामाण्यमस्तीति सिद्धं ज्योतिर्वाक्यस्य ब्रह्मबोधकत्वम् ]

**भाषार्थ**—'त्रिपादस्या०' इस गायत्रीवाक्यमें कहा गया है कि ब्रह्म ब्रह्माण्डके अन्तर्वर्ती है और 'अथ यदतः०' इस ज्योतिर्वाक्यमें कहा गया है कि ब्रह्म ब्रह्माण्डके ऊपर है, अतः परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादक होनेके कारण दोनों वाक्य प्रमाण नहीं हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि 'दिवि' इसमें सप्तमी विभक्ति लक्षणासे पञ्चमी विभक्तिके अर्थका ही बोध कराती है, अतः कोई विरोध न होनेके कारण दोनों वाक्य प्रमाण हैं। इससे सिद्ध हुआ कि ज्योतिर्वाक्यमें ज्योतिःशब्दसे ब्रह्मका ही बोध होता है ।

*भाष्य*

**यदप्येतदुक्तम्—पूर्वत्र 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति सप्तम्या द्यौः आधारत्वेनोपदिष्टा, इह पुनः 'अथ यदतः परो दिवः' इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन, तस्मादुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्तीति, तत्परिहर्तव्यम् ।**

*भाष्यका अनुवाद*

'त्रिपादस्या०' इसमें सप्तमी विभक्ति द्वारा द्यौ आधाररूपसे उपदिष्ट है और 'अथ यदतः परो०' इसमें पंचमी विभक्ति द्वारा द्यौ मर्यादारूपसे उपदिष्ट है, अतः

---

*रत्नप्रभा*

"दिवि" "दिवः" इति विभक्तिभेदात् प्रकृतप्रत्यभिज्ञा नास्ति इति उक्तं नोपेक्षणीयम् इत्याह—तत्परिहर्तव्यमिति । परिहारं प्रतिजानीते—अत्रेति ।

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

'दिवि' और 'दिवः' इस प्रकार विभक्ति-भेदसे प्रस्तुत ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—"तत्परिहर्तव्यम्"

भाष्य

अत्रोच्यते—नायं दोषः। उभयस्मिन्नप्यविरोधात्, उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोपदेशे न प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते। यथा लोके वृक्षाग्रसंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते—वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात् परतः श्येन इति च। एवं दिव्येव सद् ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते।

भाष्यका अनुवाद

उपदेशके भेदसे उसका (ब्रह्मका) यहां प्रत्यभिज्ञान नहीं है, ऐसा जो पूर्वमें कहा है, उसका परिहार करना चाहिए। उसके उत्तरमें कहते हैं—यह दोष नहीं है, क्योंकि दोनोंमें विरोध नहीं है। दोनोंमें—सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त उपदेशोंमें प्रत्यभिज्ञानका विरोध नहीं है। जैसे लोकमें वृक्षके अग्रभागमें बैठा हुआ श्येन-पक्षी 'वृक्षके अग्रभागमें श्येन है' 'वृक्षके अग्रभागसे परे श्येन है' इस तरह दोनों प्रकारसे कहा जाता है।

---

रत्नप्रभा

सूत्रे नञर्थं वदन् परिहारमाह—**नायमिति**। एवं सर्वत्र व्याख्येयम्। प्रधानप्रातिपदिकार्थद्युसम्बन्धेन प्रत्यभिज्ञाया विभक्त्यर्थभेदो न प्रतिबन्धकः, कथंचिद् आधारस्यापि मर्यादात्वसम्भवात्। यथा वृक्षाग्रं स्वलग्नभागावच्छिन्नश्येनस्य आधारः सन्नेव स्वालग्नभागावच्छिन्नस्य तस्यैव मर्यादा भवति, एवं दिवि सूर्ये हार्दाकाशे वा मुख्ये आधारे सद् ब्रह्म दिवो मर्यादात्वं तदलग्नाकाशावच्छिन्नं ब्रह्म प्रति कल्पयित्वा दिवः परम् इति उच्यते इत्यर्थः। यदि आकाशेन अनवच्छिन्नं ब्रह्म

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। परिहारकी प्रतिज्ञा करते हैं—"अत्र" इत्यादिसे। सूत्रमें स्थित 'न' शब्दका अर्थ कह कर परिहार करते हैं—"नायं" इत्यादिसे। इसी प्रकार सब जगह व्याख्यान समझना चाहिए। प्रधानभूत प्रातिपदिकार्थरूप द्युलोकके संबन्धसे प्रत्यभिज्ञा होती है, विभक्तियोंके अर्थका भेद उसमें प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि जो आधार होता है वह किसी प्रकारसे मर्यादा भी हो सकता है। जैसे वृक्षके अग्रभागमें श्येनके जितने अवयव संयुक्त रहते हैं उतनेका वह आधार होता हुआ ही उससे असंयुक्त अवयवोंको लेकर वही अग्रभाग उसी श्येनकी मर्यादा होता है, उसी प्रकार सूर्य अथवा हृदयाकाश रूप मुख्य आधारमें ब्रह्म है, उस आधारसे भिन्न आकाशावच्छिन्न ब्रह्मका वही आधार मर्यादा होता है ऐसी कल्पना करके ब्रह्म द्युलोकसे पर है ऐसा कहा जाता है।

भाष्य

अपर आह—यथा लोके वृक्षाग्रेणाऽसंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात् परतः श्येन इति च, एवं च दिवः परमपि सद् ब्रह्म दिवीत्युपदिश्यते । तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभिज्ञानम् । अतः परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दमिति सिद्धम् ॥२७॥

भाष्यका अनुवाद

दूसरे कहते हैं—जैसे लोकमें वृक्षके अग्रभागसे श्येनका संबन्ध न होनेपर भी 'वृक्षके अग्रभागमें श्येनपक्षी है' और 'वृक्षाग्रसे परे श्येन है' इस तरह दोनों प्रकारसे उपदेश किया जाता है, इसी प्रकार दिव्‌से परे रहनेवाले ब्रह्मका 'दिव्‌में' ऐसा उपदेश किया जाता है । अतः पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्मका यहां प्रत्यभिज्ञान है । इससे सिद्ध हुआ कि ज्योतिःशब्द परब्रह्मका ही वाचक है ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

गृहीत्वा पञ्चम्या दिवो मर्यादात्वमेव मुख्यम्, तदा गङ्गायां घोष इतिवत् सप्तम्या सामीप्यलक्षणया आधारत्वं व्याख्येयम् इत्याह—अपर इति । सम्बद्धं प्रति आधारत्वं मुख्यं पूर्वमुक्तं दिव्येव सदिति, असम्बद्धं प्रति मर्यादात्वं मुख्यम् अधुना उच्यते दिवः परमपीति भेदः । तस्मात् ज्योतिर्वाक्यम् उपास्ये ब्रह्मणि समन्वितम् इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि आकाशसे अनवच्छिन्न अर्थात् निरुपाधिक ब्रह्मको लेकर पञ्चमीका मर्यादात्व ही मुख्य अर्थ कहेंगे तो 'गङ्गायां घोषः' इत्यादिमें जैसे सप्तमीका अर्थ लक्षणासे सामीप्य होता है, उसी प्रकार 'दिवि' इसमें सप्तमीकी लक्षणासे सामीप्यरूप अर्थ करके पदार्थको आधार कहना चाहिए ऐसा कहते हैं—"अपरः" इत्यादिसे । पीछे द्युलोकसे संबद्ध ब्रह्मके प्रति आधारत्व मुख्य है ऐसा 'दिव्येव सत्' इत्यादिसे कहा गया है । अब 'दिवः परमपि' इत्यादिसे द्युलोकसे असंबद्ध ब्रह्मके प्रति मर्यादात्व मुख्य है ऐसा कहते हैं, इतना भेद है । इससे सिद्ध होता है कि ज्योतिर्वाक्यका समन्वय ब्रह्ममें है ॥ २७ ॥
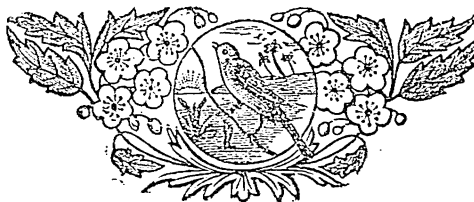
## [ ११ प्रतर्दनाधिकरण सू० २८--३१ ]

*प्राणोऽस्मीत्यत्र वाय्विन्द्रजीवब्रह्मसु संशयः ।*
*चतुर्णां लिङ्गसद्भावात्पूर्वपक्षस्त्वनिर्णयः ॥ १ ॥*
*ब्रह्मणोऽनेकलिङ्गानि तानि सिद्धान्यनन्यथा ।*
*अन्येषामन्यथासिद्धेर्व्युत्पाद्यं ब्रह्म नेतरत् * ॥ २ ॥*

## [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इस श्रुतिमें प्राणशब्द वायुका अथवा इन्द्रका अथवा जीवका या ब्रह्मका वाचक है ?

**पूर्वपक्ष**—उक्त श्रुतिमें चारोंके लिङ्ग हैं, इसलिए निश्चितरूपसे यह नहीं कहा जा सकता है कि प्राणशब्द अमुकका वाचक है ।

**सिद्धान्त**—यहां ब्रह्मके अनेक लिङ्ग हैं और वे अन्यथासिद्ध भी नहीं हैं, अतः वे प्रबल हैं और उनका प्राण, इन्द्र और जीवके पक्षमें समन्वय नहीं हो सकता, इसके विपरीत प्राण, इन्द्र और जीवके लिङ्गोंका ब्रह्ममें समन्वय हो सकता है । अतः प्राण आदिके लिङ्ग अन्यथासिद्ध होनेके कारण दुर्बल हैं । इस कारण उक्त श्रुतिमें प्राणशब्दसे ब्रह्मका ही बोध होता है, प्राणवायु आदिका नहीं होता ।

---

* निष्कर्ष यह है कि कौषीतकि उपनिषद्में इन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकामें प्रतर्दनके प्रति इन्द्र कहता है—"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व" ( मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ, मेरी आयुष् और अमृतरूपसे उपासना करो ) ।

यहांपर संशय होता है कि 'प्राण' पदसे किसका ग्रहण किया जाय, प्राणवायुका या इन्द्रका या जीवात्माका अथवा ब्रह्मका ? क्योंकि 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' ( इस शरीरको पकड़कर उठाता है ) यह प्राणवायुका लिङ्ग है । इन्द्र 'अस्मि' ( मैं हूँ ) कहता है, यह इन्द्रका लिङ्ग है । 'वक्तारं विद्यात्' ( वक्ताको जाने ) यह जीवका लिङ्ग है । 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' ( आनन्द अजर और अमृत है ) यह ब्रह्मका लिङ्ग है । इस प्रकार चारोंके लिङ्ग होनेसे संशय होता है ।

पूर्वपक्षी कहता है कि इन चारोंके लिङ्गोंमें कौन लिङ्ग प्रबल है, कौन दुर्बल है, यह निश्चय न होनेके कारण ठीक नहीं कहा जा सकता कि 'प्राण' पदसे किसका ग्रहण करना चाहिए ।

सिद्धान्ती कहता है कि यहां ब्रह्मके लिङ्ग बहुत हैं जैसे कि 'त्वमेव मे वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' ( आप ही वह वर दीजिए जिसको आप मनुष्यके लिए अत्यन्त हितकारक समझते हों ) इसमें हिततमत्व ब्रह्मका लिङ्ग है । ब्रह्मसे बढ़कर कोई हिततम वस्तु नहीं है । 'यो मां विजानीयात् नास्य केनचन कर्मणा लोको मीयते, न मातृवधेन, न पितृवधेन' ( जो मुझको जानेगा, उसका लोक–मोक्ष मातृवध, पितृवध आदि पापतम कर्मोंसे भी नष्ट नहीं होता ) इस प्रकार ज्ञानमात्रसे सकल पापास्पर्शित्व कहा गया है, यह भी ब्रह्मका लिङ्ग है । इत्यादि ब्रह्मलिङ्ग प्रबल हैं, क्योंकि इन लिङ्गोंका प्राणमें, इन्द्रमें या जीवमें समन्वय नहीं हो सकता । प्राण, इन्द्र तथा जीवके लिङ्ग सर्वात्मक ब्रह्ममें समन्वित हो सकते हैं, अतः अन्यथासिद्ध होनेके कारण वे दुर्बल हैं । इससे सिद्ध हुआ कि प्रबललिङ्ग होनेके कारण यहां प्राणशब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण होता है, प्राण, इन्द्र या जीवका ग्रहण नहीं हो सकता है ।

## प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

पदच्छेद—प्राणः, तथा, अनुगमात् ।

पदार्थोक्ति—प्राणः—'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति श्रुतौ प्राणः परमात्मैव [ न प्राणवायुः, कुतः ? ] तथा—ब्रह्मपरत्वेन, अनुगमात्—पदानाम् अन्वयावगमात्—'प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमृतः' इति वाक्ये ब्रह्मलिङ्गाभिधानात् ।

भाषार्थ—'प्राणोऽस्मि०' इस श्रुतिमें उक्त प्राण परमात्मा ही है, प्राणवायु नहीं है, क्योंकि 'प्राण एव प्रज्ञात्मा०' इस वाक्यमें आनन्दत्व, अजरत्व, अमृतत्व रूप ब्रह्मलिङ्ग कहे गये हैं ।
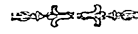
### भाष्य

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि इन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्य आम्नाता । तस्यां श्रूयते—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृत-

### भाष्यका अनुवाद

कौषीतकिब्राह्मण उपनिषद्में इन्द्र और प्रतर्दनकी आख्यायिका 'प्रतर्दनो ह वै०' (दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन युद्धके लिये और पराक्रमके हेतुसे इन्द्रके प्रिय धाम—स्वर्गको गया ) इस प्रकार आरम्भ करके कही गई है । उसमें सुना जाता है कि 'स होवाच प्राणोऽस्मि०' ( उस [इन्द्र] ने कहा—मैं प्राण हूँ,

### रत्नप्रभा

प्राणस्तथानुगमात् । दिवोदासस्य अपत्यं दैवोदासिः प्रतर्दनो नाम राजा युद्धेन पुरुषकारेण च कारणेन इन्द्रस्य प्रेमास्पदं गृहं जगाम । तं ह इन्द्र उवाच—प्रतर्दन वरं ते ददानि इति । स होवाच प्रतर्दनः—यं त्वं मर्त्याय हिततमं मन्यसे, तं वरं त्वमेव आलोच्य मह्यं देहि इति । तत इन्द्र इदमाह—प्राणोस्मि, इत्यादि । मुख्यं प्राणं निरसितुं प्रज्ञात्मत्वम् उक्तम् । निर्विशेषचिन्मात्र

### रत्नप्रभाका अनुवाद

दिवोदासका पुत्र दैवोदासि प्रतर्दन नामक राजा युद्धके लिये और पराक्रमके कारण इन्द्रके प्रेमास्पद गृहको गया । उससे इन्द्रने कहा—प्रतर्दन ! मैं तुम्हें वर देता हूँ । प्रतर्दनने कहा—आप मनुष्यके लिए हिततम—सबसे बढ़ कर हितकारक जो वर समझते हों विचार करके वही वर मुझे दीजिये । तब इन्द्रने कहा—'प्राणोऽस्मि' इत्यादि । मुख्य-

भाष्य

मित्युपास्स्व' इति। तथोत्तरत्रापि 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' ( कौ० ३।१,२,३ ) इति। तथा 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि। अन्ते च 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' ( कौ० ३।८ ) इत्यादि। तत्र संशयः किमिह प्राणशब्देन वायुमात्रमभिधीयते, उत देवतात्मा, उत जीवः, अथवा परं ब्रह्मेति। ननु 'अत एव प्राणः' इत्यत्र वर्णितं प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वम्। इहापि च ब्रह्मलिङ्गमस्ति—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि, कथमिह पुनः संशयः संभवति।

भाष्यका अनुवाद

प्रज्ञात्मा हूँ, मेरी आयु और अमृतरूपसे उपासना करो ) उसी प्रकार आगे भी सुना जाता है कि 'अथ खलु प्राण एव०' ( वाग् आदि इन्द्रियोंकी देह धारण करनेमें शक्ति नहीं है ऐसा निश्चय होनेके बाद निश्चय प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीरको अहंता और ममतासे स्वीकार कर शयन, आसन आदिसे उठाता है ) उसी प्रकार यहां भी सुना जाता है कि 'न वाचं०' ( वाणीको जाननेकी इच्छा न करे, वक्ताको जाने ) इत्यादि। और अन्तमें 'स एष प्राण एव०' ( वह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है ) कहा गया है। यहांपर संशय होता है कि क्या यहां प्राणशब्दसे वायुमात्रका अभिधान होता है अथवा देवतात्माका अथवा जीवका या परब्रह्मका। परन्तु 'अत एव०' इस सूत्रमें प्राणशब्द ब्रह्मविषयक है ऐसा वर्णन हो चुका है और यहां भी 'आनन्दोऽजरो०' ( आनन्द, अजर और अमृत है ) इत्यादि ब्रह्मलिङ्ग हैं, तो यहां संशय होनेका अवसर ही

रत्नप्रभा

निरस्यति—**तं मामिति**। इदं प्राणस्य इन्द्रदेवतात्वे लिङ्गम्। मुख्यप्राणत्वे लिङ्गमाह—**अथेति**। वागादीनां देहधारणशक्त्यभावनिश्चयानन्तरमित्यर्थः। प्राणस्य देहधारकत्वम् उत्थापकत्वञ्च प्रसिद्धम् इति वक्तुं खलु इत्युक्तम्। प्राणस्य जीवत्वे वक्तृत्वं लिङ्गमाह—**न वाचमिति**। आनन्दत्वादिकं ब्रह्मलिङ्गमाह—**अन्ते चेति**।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राणका निवारण करनेके लिए 'प्रज्ञात्मा' कहा है। विशेष-रहित चिन्मात्रका निरसन करते हैं—"तं माम्" इत्यादिसे। यह 'प्राण इन्द्रदेवता है' ऐसा दिखलानेवाला लिङ्ग है। 'प्राण मुख्यप्राण है' इसमें कारण कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। 'अथ'—वाणी आदिमें देहधारणकी सामर्थ्यका अभाव है, ऐसा निश्चय होनेके बाद। प्राण देहका धारण करता है और देहको उठाता है, यह प्रसिद्ध है, ऐसा दिखलानेके लिए 'खलु' कहा है। 'प्राण जीव है' इसमें लिङ्ग वक्तृत्व है, ऐसा कहते हैं—"न वाचम्" इत्यादिसे। आनन्दत्व आदि ब्रह्मलिङ्ग

भाष्य

अनेकलिङ्गदर्शनादिति ब्रूमः । न केवलमिह ब्रह्मलिङ्गमेवोपलभ्यते । सन्ति हीतरलिङ्गान्यपि 'मामेव विजानीहि' ( कौ० ३।१ ) इतीन्द्रस्य वचनं देवतात्मलिङ्गम्, इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति, इति प्राणलिङ्गम्, 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गम् । अत उपपन्नः संशयः । तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राण इति प्राप्ते उच्यते प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम् ।

भाष्यका अनुवाद

कहां है ? अनेक लिङ्गोंके दर्शनसे यहां संशय होता है। यहां केवल ब्रह्मलिङ्ग ही उपलब्ध नहीं होता, किन्तु दूसरोंके लिङ्ग भी हैं। 'मामेव०' (मुझको ही जान) यह इन्द्रका वचन देवतात्माका लिङ्ग है। 'इदं शरीरं०' इस शरीरको ग्रहण करके उठाता है ) यह प्राणवायुका लिङ्ग है। 'न वाचं०' ( वाणीको जाननेकी इच्छा न करे, वक्ताको जाने ) इत्यादि जीवका लिङ्ग है। इस कारण संशय उत्पन्न होता है। संशय होने पर प्रसिद्धिके अनुसार प्राण वायु ही है ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त

रत्नप्रभा

अनेकेषु लिङ्गेषु दृश्यमानेषु बलाबलनिर्णयार्थम् इदमधिकरणम् इत्यगतार्थतामाह—**अनेकलिङ्गेति** । पूर्वत्र प्रकृतब्रह्मवाचकयच्छब्दबलाद् ज्योतिःश्रुतिः ब्रह्मपरा इति उक्तम्, न तथेह प्राणश्रुतिभङ्गे किञ्चिद् बलम् अस्ति । मिथोविरुद्धानेकलिङ्गानाम् अनिश्चायकत्वाद् इति प्रत्युदाहरणसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—**तत्रेति** । पूर्वं प्रधानप्रातिपदिकार्थबलाद् विभक्त्यर्थबाधवत् वाक्यार्थज्ञानं प्रति हेतुत्वेन प्रधानानेकपदार्थबलाद् एकवाक्यताभङ्ग इति दृष्टान्तसङ्गतिर्वाऽस्तु । पूर्वपक्षे प्राणाद्यनेकोपास्तिः सिद्धान्ते प्रत्यग्ब्रह्मधीः इति विवेकः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं, ऐसा कहते हैं—"अन्ते च" इत्यादिसे। अनेक लिङ्ग दीखते हैं इनमें कौन लिङ्ग बलिष्ठ हैं और कौन दुर्बल हैं इस बातका निर्णय करनेके लिए यह अधिकरण है, अतः प्राणाधिकरणसे गतार्थ नहीं है ऐसा कहते हैं—"अनेकलिङ्ग" इत्यादिसे। इसके पूर्वाधिकरणमें प्रस्तुत ब्रह्मवाचक 'यत्' शब्दके बलसे ज्योतिःश्रुति ब्रह्मविषयक है, ऐसा कहा है, उस प्रकार यहां प्राणश्रुतिका भङ्ग करनेवाला कुछ बल नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध अनेक लिङ्ग कुछ निश्चय करनेमें समर्थ नहीं होते हैं, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। अथवा पूर्वाधिकरणमें प्रधानभूत प्रातिपदिकार्थके बलसे सप्तमी विभक्तिके अर्थका जैसे बाध हुआ इसी प्रकार पदार्थज्ञानके वाक्यार्थज्ञानमें कारण होनेसे एक पदके अनेक प्रधान अर्थोंके बलसे एकवाक्यताका भङ्ग होता है, ऐसी दृष्टान्तसंगति भी हो सकती है। पूर्वपक्षमें प्राण, देवता, जीव आदिकी उपासना फल है और सिद्धान्तमें ब्रह्मज्ञान फल है। ब्रह्मपरत्वसे ही

भाष्य

कुतः? तथानुगमात्। तथा हि पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते। उपक्रमे तावत् 'वरं वृणीष्व' इतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनः परमं पुरुषार्थं वरमुपचिक्षेप—'त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति। तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात्। नह्यन्यत्र परमात्मज्ञानाद्धिततमप्राप्तिरस्ति 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया' (कौ० ३।१) इत्यादि च ब्रह्म-

भाष्यका अनुवाद

होनेपर कहते हैं—प्राणशब्दको ब्रह्मका वाचक समझना चाहिए, क्योंकि श्रुतिसे ऐसा ही बोध होता है। वह इस प्रकार है—पूर्वापर ग्रन्थका पर्यालोचन करने पर वाक्यमें पदार्थोंका समन्वय ब्रह्मप्रतिपादनविषयक है, ऐसा ज्ञात होता है। पहले उपक्रममें 'वरं०' (वर मांग) इस प्रकार इन्द्र द्वारा कहे गये प्रतर्दनने परम पुरुषार्थरूप वर मांगा—'त्वमेव मे वृणीष्व०' (आप ही मेरे लिए वह वर दो, जिसको आप मनुष्यके लिए सबसे बढ़कर हितकारक समझते हों)। उसके लिये सबसे बढ़कर हितकारकरूपसे उपदिष्ट प्राण परमात्मा क्यों न हो! परमात्माके ज्ञानके सिवा दूसरे उपायोंसे हिततमकी प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि 'तमेव विदित्वा०' (उसको ही जानकर मोक्षको पाता है उसको प्राप्त करने के लिए और दूसरा मार्ग नहीं है) ऐसी श्रुति है। इसी प्रकार 'स यो मां वेद न ह वै तस्य०' (जो मुझको जानता है उसका लोक—मोक्ष किसी भी कर्मसे स्तेय या भ्रूणहत्यासे नष्ट नहीं होता)

रत्नप्रभा

तथा ब्रह्मपरत्वेन पदानाम् अन्वयावगमाद् इति हेत्वर्थम् आह—**तथा हीति**। हिततमत्वकर्मक्षयादिपदार्थानां सम्बन्धो ब्रह्मणि तात्पर्यनिश्चायक उपलभ्यते इत्युक्तं विवृणोति—**उपक्रम इत्यादिना**। यं मन्यसे तं वरं त्वमेव प्रयच्छ इत्यर्थः। स यः कश्चित् मां ब्रह्मरूपं वेद साक्षाद् अनुभवति तस्य विदुषो लोको मोक्षो महताऽपि पातकेन न ह मीयते नैव हिंस्यते न प्रतिबध्यते

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदोंका समन्वय है ऐसा बोध होता है, इस प्रकार "तथा हि" इत्यादिसे हेत्वर्थ कहते हैं। हिततमत्व, कर्मक्षय आदि पदार्थोंका संबन्ध ब्रह्ममें तात्पर्य-निश्चय करानेवाला है, यह जो कहा, उसका विवरण करते हैं—"उपक्रम" इत्यादिसे। जो वर आप मनुष्यके लिए अतिशय हितकारक समझते हैं, वह वर मेरे लिए आप ही दें ऐसा अर्थ है। वह जो कोई अधिकारी मुझ ब्रह्मको साक्षात् अनुभव करता है, उस विद्वान्‌का लोक-मोक्ष महान् पापसे भी नष्ट नहीं

भाष्य

परिग्रहे घटते। ब्रह्मविज्ञानेन हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः—'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' ( मु० २।२।८ ) इत्याद्यासु श्रुतिषु। प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मपक्ष एवोपपद्यते। नह्यचेतनस्य वायोः प्रज्ञात्मत्वं सम्भवति। तथोपसंहारेऽपि—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यानन्दत्वादीनि न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्यक् संभवन्ति। 'स न साधुना कर्मणा भूयान् भवति नो एवाऽसाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते' इति, 'एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः' ( कौ० ३।८ ) इति च। सर्वमेतत् परस्मिन् ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते न मुख्ये प्राणे। तस्मात् प्राणो ब्रह्म ॥ २८ ॥

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि श्रुति ब्रह्मका ग्रहण करनेसे ही संगत होती है। क्योंकि ब्रह्मविज्ञानसे सब कर्मोंका क्षय होना 'क्षीयन्ते चास्य०' ( उस सर्वश्रेष्ठका ज्ञान होनेपर इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं ) इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है। प्रज्ञात्मत्व भी ब्रह्मपक्षमें ही घटता है। [ प्रज्ञात्मा भी ब्रह्म ही है ] अचेतन वायुका प्रज्ञात्मा होना संभव नहीं है। उसी प्रकार उपसंहारमें भी 'आनन्दोऽजरो०' ऐसे आनन्दत्व आदि ब्रह्मके सिवा अन्यमें सर्वात्मना संभव नहीं हैं। 'स न साधुना कर्मणा०' ( वह पुण्य कर्मोंसे महान् नहीं होता और पाप कर्मोंसे छोटा नहीं होता, यही उससे पुण्य कर्म कराता है, जिसको इस लोकसे ऊंचा ले जाना चाहता है और यही उससे पाप कर्म कराता है, जिसको इस लोकसे नीचे ले जाना चाहता है ) यह और 'एष लोकाधिपति०' ( यह लोकाधिपति है, यह लोकपाल है, यह लोकेश है ) इत्यादि श्रुतियां हैं। ये सब धर्माधर्मकारयितृत्व, लोकेशत्व आदि धर्म परब्रह्मके आश्रयण करनेसे ही ठीक ठीक संगत होते हैं, प्राणका आश्रय करनेसे संगत नहीं होते। इससे सिद्ध हुआ कि प्राण ब्रह्म ही है ॥२८॥

रत्नप्रभा

ज्ञानाग्निना कर्मतूलराशेः दग्धत्वात् इत्याह—स य इति। साध्वसाधुनी पुण्यपापे ताभ्याम् अस्पृष्टत्वं तत्कारयितृत्वं निरङ्कुशैश्वर्यं च सर्वमेतद् इत्यर्थः ॥ २८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता, क्योंकि ज्ञानरूप अग्निसे कर्मरूप रूईका ढेर जल जाता है ऐसा कहते हैं—"स य" इत्यादिसे। साधु—पुण्य, असाधु—पाप, पुण्य और पापसे अलिप्त रहना, उनको कराना और निरङ्कुश ऐश्वर्य यह सब ( परब्रह्ममें ही संगत होता है, मुख्य प्राणमें नहीं ) ऐसा अर्थ है ॥२८॥

# न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्ध-भूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

**पदच्छेद**—न, वक्तुः, आत्मोपदेशात्, इति, चेत्, अध्यात्मसम्बन्धभूमा, हि, अस्मिन् ।

**पदार्थोक्ति**—वक्तुः—इन्द्रस्य, आत्मोपदेशात्—स्वोपदेशात् [ आत्म-विशिष्टेन्द्रशरीरमेव उपास्यम् ] इति चेत् न, अध्यात्मसम्बन्धभूमा—आनन्दामृतत्वादिप्रत्यगात्मलिङ्गबाहुल्यम्, अस्मिन्—अस्मिन् वाक्ये [ उपलभ्यते अतः ब्रह्मैवोपास्यम्, न इन्द्रः ] ।

**भाषार्थ**—इन्द्रने प्रतर्दनसे 'तुम मुझको ही जानो' इस प्रकार अपने आत्म-विशिष्ट शरीरको ही ज्ञेय कहा है, अतः 'प्राणोऽस्मि०' इस श्रुतिमें इन्द्र ही उपास्य है यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'प्राण एव प्रज्ञात्मा०' इस वाक्यमें ब्रह्मके ही आनन्दत्व, अमृतत्व आदि बहुतसे धर्म कहे गए हैं, अतः ब्रह्म ही उपास्य है, इन्द्र उपास्य नहीं है।

*भाष्य*

**यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति, तदाक्षिप्यते। न परं ब्रह्म प्राणशब्दम्। कस्मात्? वक्तुरात्मोपदेशात्। वक्ता हीन्द्रो नाम कश्चिद्विग्रहवान् देवताविशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनायाऽऽचचक्षे—'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यहङ्कारवादेन। स एष वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं ब्रह्म स्यात्। नहि ब्रह्मणो वक्तृत्वं सम्भवति 'अवागमनाः' ( बृ०**

*भाष्यका अनुवाद*

प्राण ब्रह्म है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसपर आक्षेप करते हैं। वक्ता अपनी आत्माका उपदेश करता है, इससे प्रतीत होता है कि प्राणशब्द परब्रह्मका वाचक नहीं है। यहांपर वक्ता इन्द्रनामका कोई एक देहधारी देवताविशेष है, उसने 'मामेव०' ( मुझको ही जानो ) ऐसा उपक्रम करके 'प्राणोऽस्मि०' ( मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ ) इस प्रकार अपनी आत्माका ही अहङ्कारवादसे प्रतर्दनको उपदेश किया है। वक्ता द्वारा आत्मारूपसे उपदेश किया हुआ वही प्राण ब्रह्म

---

**रत्नप्रभा**

अहङ्कारवादेन स्वात्मवाचकशब्दैः आचचक्षे उक्तवान् इत्यर्थः। वाक्यस्य

**रत्नप्रभाका अनुवाद**

अहङ्कारवादसे—स्वात्मवाचक शब्दोंसे कहा है ऐसा अर्थ है। यह वाक्य इन्द्रकी उपासनामें

भाष्य

३।८।८ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा विग्रहसम्बन्धिभिरेव ब्रह्मण्यसम्भवद्भिर्धर्मैरात्मानं तुष्टाव—'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इत्येवमादिभिः। प्राणत्वं चेन्द्रस्य बलवत्त्वादुपपद्यते, 'प्राणो वै बलम्' इति हि विज्ञायते। बलस्य चेन्द्रो देवता प्रसिद्धा। 'या च काचिद्बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' इति हि वदन्ति। प्रज्ञात्मत्वमप्यप्रतिहत-

भाष्यका अनुवाद

किस प्रकार हो सकता है ? ब्रह्म वक्ता हो यह संभव नहीं है, क्योंकि 'अवाग०' ( वह वाणीरहित और मनरहित है ) इत्यादि श्रुतियाँ वक्तृत्वका निषेध करती हैं। इसी प्रकार ब्रह्ममें सम्भव न होनेवाले शरीरसंबन्धी धर्मों द्वारा इन्द्रने 'त्रिशीर्षाणं०' ( त्वष्टाके तीन शिरवाले पुत्रका मैंने हनन किया, वेदान्तसे विमुख यतियोंको वनके कुत्तोंको खिलाया) इत्यादि वचनोंसे अपनी स्तुति की है। इन्द्र प्राण है, यह कथन उसके बलवान् होनेसे उपपन्न होता है। क्योंकि 'प्राणो वै०' ( प्राण ही बल है ) ऐसा कहा है। और बलका देवता इन्द्र है यह प्रसिद्ध है। जो कोई बलका काम है, वह इन्द्रका ही कर्म है, ऐसा लोग कहते हैं। देवतात्मा भी प्रज्ञात्मा हो सकती है, क्योंकि उसका ज्ञान अकुण्ठित

रत्नप्रभा

इन्द्रोपासनापरत्वे लिङ्गान्तरमाह—**तथा विग्रहेति**। त्रीणि शीर्षाणि यस्य इति त्रिशीर्षा त्वष्टुः पुत्रो विश्वरूपो नाम ब्राह्मणः तं हतवानस्मि। रौति यथार्थं शब्दयति इति रुद् वेदान्तवाक्यं तन्मुखे येषां ते रुन्मुखास्तेभ्योऽन्यान् वेदान्तबहिर्मुखान् यतीन् अरण्यश्वभ्यो दत्तवानस्मि इत्यर्थः। इन्द्रे प्राणशब्दोपपत्तिमाह—**प्राणत्वं चेति**। वदन्ति लौकिका अपि इत्यर्थः। बलवाचिना प्राणशब्देन बलदेवता लक्ष्यते इति भावः। इन्द्रो हितप्रदातृत्वात् हिततमः कर्मानधिकाराद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

लागू है, इस विषयमें दूसरा हेतु कहते हैं—"तथा विग्रह" इत्यादिसे। जिसके तीन सिर थे, उस विश्वरूप नामक त्वष्टाके पुत्र ब्राह्मणको मैंने मारा। वास्तविक अर्थ बतानेवाले शब्द जिनके मुखमें हैं वे रुन्मुख कहलाते हैं, जो ऐसे नहीं हैं अर्थात् वेदान्तसे विमुख हैं वे अरुन्मुख हैं, मैंने उन अरुन्मुख संन्यासियोंको वनके कुत्तोंको खिला दिया। प्राणशब्द इन्द्रमें उपपन्न–युक्त है इस बातको "प्राणत्वं च" इत्यादिसे दिखलाते हैं। 'वदन्ति'–लौकिक लोग भी कहते हैं। प्राणशब्दका अर्थ बल है, अतः प्राणशब्दसे बलकी देवताका लक्षणासे ज्ञान होता है। इन्द्र अभीष्ट

### भाष्य

ज्ञानत्वाद्देवतात्मनः सम्भवति, अप्रतिहतज्ञाना देवता इति हि वदन्ति। निश्चिते चैवं देवतात्मोपदेशे हिततमत्वादिवचनानि यथासम्भवं तद्विषयाण्येव योजयितव्यानि। तस्माद्वक्तुरिन्द्रस्याऽऽत्मोपदेशान्न प्राणो ब्रह्मेत्याक्षिप्य प्रतिसमाधीयते—'अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्' इति। अध्यात्मसम्बन्धः प्रत्यगात्मसम्बन्धस्तस्य भूमा बाहुल्यमस्मिन्नध्याय उपलभ्यते। 'यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः प्रत्यग्भूतस्याऽऽयुष्प्रदानोपसंहारयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति, न देवताविशेषस्य

### भाष्यका अनुवाद

है। देवता अकुण्ठित ज्ञानवाला है, ऐसा लोग कहते हैं। इस प्रकार देवतात्माका उपदेश निश्चित होने पर हिततमत्व आदि वचनोंका यथासंभव उसीमें ही अन्वय करना चाहिए। इस कारणसे वक्ता इन्द्रका आत्मोपदेश है, इसलिए प्राण ब्रह्म नहीं है ऐसा आक्षेप करके उसका समाधान करते हैं—'अध्यात्म०' इत्यादिसे। अध्यात्मसंबन्ध अर्थात् प्रत्यागात्माके संबन्धकी प्रचुरता—अधिकता इस अध्यायमें देखी जाती है। 'यावद्ध्यस्मिञ्शरीरे०' (जब तक इस शरीरमें प्राण रहता है, तभी तक ही आयु है) यह श्रुति प्रज्ञात्मा, प्रत्यग्भूत प्राणकी ही आयु देने और हरनेमें स्वतन्त्रता दिखलाती है, बाह्य देवताविशेषकी

### रत्नप्रभा

अपाप इत्येवं व्याख्येयानि इत्याह—निश्चिते चेति। किम् इन्द्रपदेन विग्रहोपलक्षितं चिन्मात्रमुच्यते उत विग्रहः। आद्ये वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वं सिद्धम्, न द्वितीय इत्याह—अध्यात्मेति। आत्मनि देहेऽधिगत इति अध्यात्मं प्रत्यगात्मा स सम्बध्यते यैः शरीरस्थत्वादिभिः इन्द्रतनौ असम्भावितैः धर्मैः ते अध्यात्मसम्बन्धास्तेषां भूमा इत्यर्थः। आयुः अत्र देहे प्राणवायुसञ्चारः।

### रत्नप्रभाका अनुवाद

वस्तुका दाता होनेके कारण हिततम है, कर्ममें अधिकारी न होनेसे निष्पाप है ऐसा व्याख्यान करना चाहिए ऐसा कहते हैं—"निश्चिते च" इत्यादिसे। क्या इन्द्रपद देहसे उपलक्षित चिन्मात्र को कहता है अथवा देहको? पहले पक्षमें वाक्य ब्रह्मविषयक है यह सिद्ध है। दूसरे पक्षमें यह बात सिद्ध नहीं होती है ऐसा कहते हैं—"अध्यात्म" इत्यादिसे। जो देहमें ज्ञात होता है वह अध्यात्म अर्थात् प्रत्यगात्मा है, जीवात्माका शरीरमें रहना आदि जिन धर्मोंसे संबन्ध है और जो धर्म इन्द्रके शरीरमें नहीं हो सकते हैं, उन्हीं धर्मोंका (इस अध्यायमें) बाहुल्य है,

भाष्य

पराचीनस्य । तथाऽस्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसमित्यध्यात्ममेवेन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति । तथा 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' ( कौ० ३।३ ) इति, 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इति चोपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव

भाष्यका अनुवाद

स्वतंत्रता नहीं दिखलाती। उसी प्रकार 'अस्तित्वे प्राणानां०' ( प्राण हो, तो निःश्रेयस—इन्द्रियोंकी शरीरमें स्थिति होती है ) यह श्रुति इन्द्रियोंका आश्रय प्रत्यगात्मा प्राणको ही दिखलाती है। उसी प्रकार 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं०' ( प्राण ही प्रज्ञात्मा इस शरीरको ग्रहण करके उठाता है ) ऐसा और 'न वाचं०' (वाणीको जाननेकी इच्छा न करे, वक्ताको जाने) ऐसा उपक्रम करके 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमि०' ( जैसे रथके अरोंमें नेमि लगी रहती है और नाभिमें अर लगे रहते हैं, उसी प्रकार ये विषय इन्द्रियोंसे जुड़े हुए हैं और इन्द्रियां प्राणसे जुड़ी

रत्नप्रभा

अस्तित्वे प्राणस्थितौ प्राणानाम् इन्द्रियाणां स्थितिः इत्यर्थतः श्रुतिमाह—**अस्तित्व इति**। 'अथातो निःश्रेयसादानम्' इत्याद्या श्रुतिः। इन्द्रियस्थापकत्ववद् देहोत्थापकत्वमाह—**तथेति**। वक्तृत्वमुक्त्वा सर्वाधिष्ठानत्वं दर्शितमित्याह—**इति चोपक्रम्येति**। तत् तत्र नानाप्रपञ्चस्य आत्मनि कल्पनायाम्, यथा दृष्टान्तः, लोके प्रसिद्धस्य रथस्य अरेषु नेमिनाभ्योः मध्यस्थशलाकासु चक्रोपान्तरूपा नेमिः अर्पिता, नाभौ चक्रपिण्डिकायाम् अरा अर्पिताः एवं भूतानि पञ्च पृथिव्यादीनि, मीयन्ते इति मात्राः भोग्याः शब्दादयः पञ्च इति दश भूतमात्राः प्रज्ञामात्रासु

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। इस शरीरमें प्राणवायुका जो संचार है वही आयुष् है। प्राण रहे तो इन्द्रियां भी रहती हैं ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिको अर्थतः लेकर कहते हैं—"अस्तित्वे" इत्यादिसे। 'अथातो निःश्रेयसादानम्' इत्यादि श्रुति है। प्राण जैसे इन्द्रियोंका स्थापक है, उसी प्रकार शरीरको उठानेवाला भी है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। प्राण वक्ता है ऐसा कहकर वह सबका अधिष्ठान है, ऐसा दिखलाया है ऐसा कहते हैं—"इति चोपक्रम्य" इत्यादिसे। तत्—नाना प्रपञ्चकी आत्मामें कल्पना करनेमें, जैसे दृष्टान्त है, लोकमें प्रसिद्ध रथके अरोंमें—नेमि और नाभिके मध्यमें रहनेवाली शलाकाओं ( लकड़ीके डण्डों ) में चक्रके पासकी नेमि जुड़ी हुई है, नाभि—धुरीमें अर जैसे जुड़े हैं, उसी प्रकार पृथिवी आदि पांच भूत और शब्द आदि पांच विषयरूप मात्रा इस प्रकार दस भूत और मात्रा, दस प्रज्ञामात्राओंमें अर्पित हैं।

### भाष्य

प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इति विषयेन्द्रियव्यवहारारनाभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति । 'स म आत्मेति विद्यात्' इति चोपसंहारः प्रत्यगात्मपरिग्रहे साधुर्न पराचीनपरिग्रहे । 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' ( बृ० २।५।१९ ) इति च श्रुत्यन्तरम् । तस्मादध्यात्मसम्बन्धबाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेशः ॥ २९ ॥

कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेशः—

### भाष्यका अनुवाद

हुई हैं, यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है ) इस प्रकार विषय और इन्द्रियोंके व्यवहाररूप अरेके नाभिभूत प्रत्यगात्माका ही उपसंहार करती है । 'स म आत्मेति०' ( वह मेरा आत्मा है ऐसा जाने ) यह उपसंहार प्रत्यगात्माका ग्रहण करनेपर ही संगत होता है, बाह्य देवताके ग्रहणसे संगत नहीं हो सकता । 'अयमात्मा०' ( यह आत्मा ब्रह्म है, सबका अनुभव करनेवाला है ) ऐसी दूसरी श्रुति है । इससे सिद्ध हुआ कि यहां प्रत्यगात्माके संबन्धकी अधिकता होनेके कारण ब्रह्मका ही उपदेश है, देवतात्माका उपदेश नहीं है ॥ २९ ॥

तब वक्ताने अपनी आत्माका उपदेश किस प्रकार किया है ?

---

### रत्नप्रभा

दशसु अर्पिताः । इन्द्रियजाः पञ्च शब्दादिविषयप्रज्ञाः, मीयन्ते आभिः इति मात्राः पञ्च धीन्द्रियाणि । नेमिवत् ग्राह्यं ग्राहकेषु अरेषु कल्पितम् इत्युक्त्वा नाभिस्थानीये प्राणे सर्वं कल्पितम् इत्याह—**प्राणेऽर्पिता इति** । स प्राणो मम स्वरूपम् इत्याह—**स म इति** । तर्हि प्रत्यगात्मनि समन्वयो न तु ब्रह्मणि, तत्र आह—**अयमिति** ॥ २९ ॥

### रत्नप्रभाका अनुवाद

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले पांच शब्द आदि विषयोंके ज्ञान, जिनसे ज्ञान होता है वे मात्राएं पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । नेमिकी तरह ग्राह्यवस्तु ग्रहण करनेवाले अरोंमें कल्पित है ऐसा कहकर नाभिरूप प्राणमें सब कल्पित हैं, ऐसा कहते हैं—"प्राणेऽर्पिताः" इत्यादिसे । वह प्राण मेरा स्वरूप है इस प्रकार उपसंहारार्थक वाक्य कहते हैं—"स म" इत्यादिसे । तब समन्वय प्रत्यगात्मा—जीवमें हुआ, ब्रह्ममें तो नहीं हुआ, इसपर "अयम्" इत्यादि कहते हैं ॥ २९ ॥

## शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

**पदच्छेद**—शास्त्रदृष्ट्या, तु, उपदेशः, वामदेववत् ।

**पदार्थोक्ति**—उपदेशः तु—'मामेव विजानीहि' इत्युपदेशस्तु, शास्त्रदृष्ट्या—शास्त्रजन्यब्रह्मसाक्षात्कारवत्त्वात् [ उपपद्यते ] वामदेववत्—वामदेवादिवत् [ इन्द्रस्यापि ब्रह्मज्ञानित्वात्, अतः 'प्राणोऽस्मि' श्रुतौ प्राणः ब्रह्मैव ]।

**भाषार्थ**—वामदेव, शुक आदिके समान इन्द्र भी ब्रह्मज्ञानी था अर्थात् इन्द्रको 'मैं परब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान हो गया था, उसी ब्रह्मदृष्टिसे उसने 'मामेव०' ( मुझको ही जानो ) इस प्रकार प्रतर्दनको उपदेश किया था, इस कारण 'प्राणोऽस्मि०' इस श्रुतिमें प्राण परमात्मा ही है ।
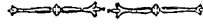
*भाष्य*

**इन्द्रो नाम देवतात्मा स्वमात्मानं परमात्मत्वेन 'अहमेव परं ब्रह्म' इत्यार्षेण दर्शनेन यथाशास्त्रं पश्यन्नुपदिशति स्म—'मामेव विजानीहि' इति । यथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति तद्वत्, 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' ( बृ० १।४।१० ) इति श्रुतेः । यत्पुनरुक्तं 'मामेव विजानीहि' इत्युक्त्वा विग्रहधर्मैरिन्द्र**

*भाष्यका अनुवाद*

अपनी आत्माको परमात्मारूपसे 'अहमेव परं ब्रह्म' (मैं ही परब्रह्म हूँ ) इस तरह आर्ष दर्शनसे शास्त्रानुसार देखकर इन्द्रनामक देवताने 'मामेव०' ( मुझको ही जान ) ऐसा उपदेश किया है । जैसे कि 'तद्धैतत्पश्यन्नृषि०' ( उस ब्रह्मको आत्मारूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने मैं मनु था, मैं सूर्य था, ऐसा ज्ञान प्राप्त किया )। क्योंकि 'तद्यो यो देवानां०' ( उन देवताओंमें जिस जिसको आत्मज्ञान हुआ, वही ब्रह्म हुआ ) ऐसी श्रुति है । और 'मामेव०' ( मुझको

---

*रत्नप्रभा*

अहङ्कारवादस्य गतिं पृच्छति—**कथमिति** । सूत्रमुत्तरम् । तद् व्याख्याति—**इन्द्र इति** । जन्मान्तरकृतश्रवणादिना अस्मिन् जन्मनि स्वतः सिद्धं दर्शनम् आर्षम् । विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थ उपन्यासः न चेत् कथं तर्हि स इति पृच्छति—**कथं**

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

अहङ्कारवादकी गति पूछते हैं—"कथम्" इत्यादिसे । यह सूत्र उसका उत्तर है । उसका व्याख्यान करते हैं—"इन्द्र" इत्यादिसे । जन्मान्तरमें कृत श्रवण आदिसे इस जन्ममें स्वतः सिद्ध जो दर्शन–ज्ञान है, वह आर्षदर्शन है । विज्ञेय इन्द्रकी स्तुतिके लिए उपन्यास नहीं है

भाष्य

आत्मानं तुष्टाव त्वाष्ट्रवधादिभिरिति, तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—न त्वाष्ट्रवधादीनां विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थत्वेनोपन्यासः यस्मादेवंकर्माऽहं तस्मात् मां विजानीहि इति, कथं तर्हि ? विज्ञानस्तुत्यर्थत्वेन । यत्कारणं त्वाष्ट्रवधादीनि साहसान्युपन्यस्य परेण विज्ञानस्तुतिमनुसन्दधाति—'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते' इत्यादिना । एतदुक्तं भवति यस्मादीदृशान्यपि क्रूराणि कर्माणि कृतवतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमाऽपि न हिंस्यते, स योऽन्योऽपि मां वेद न तस्य केनचिदपि कर्मणा लोको हिंस्यते इति । विज्ञेयं तु ब्रह्मैव 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति वक्ष्यमाणम् । तस्मात् ब्रह्मवाक्यमेतत् ॥ ३० ॥

भाष्यका अनुवाद

ही जान ) ऐसा कह कर इन्द्रने त्वष्टाके पुत्रके वध आदि देहके धर्मोंसे अपनी स्तुति की ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इस विषयमें कहते हैं—त्वष्टृपुत्रवध आदिका उपन्यास—'मैं ऐसा पराक्रमी हूँ, अतः मेरा ज्ञान प्राप्त करो'—यह विज्ञेय इन्द्रकी स्तुतिके लिए नहीं है। तब किसके लिए है ? विज्ञानकी स्तुतिके लिए है, क्योंकि त्वाष्ट्रवध आदि साहसका उपन्यास करके विज्ञानकी स्तुतिका 'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते०' ( वहां मुझ पराक्रमशालीका बाल भी बांका नहीं होता, जो मुझको जानता है, उसका मोक्ष किसी भी कर्मसे नष्ट नहीं होता ) इत्यादि उत्तरवाक्यसे अनुसन्धान करता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानी होकर इस प्रकारके क्रूर कर्म करनेपर भी मेरा एक बाल भी नष्ट नहीं हुआ, जो अन्य भी मुझको जानता है, उसका मोक्ष किसी भी कर्मसे नष्ट नहीं होता। विज्ञेय तो 'प्राणोऽस्मि०' ( मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ ) इस प्रकार वक्ष्यमाण ब्रह्म ही है। इस कारण यह वाक्य ब्रह्म-विषयक है ॥३०॥

रत्नप्रभा

**तर्हीति** । ब्रह्मज्ञानस्तुत्यर्थः स इत्याह—**विज्ञानेति** । नियामकं ब्रूते—**यदिति** । परेण तस्य मे इत्यादिना वाक्येन इति अन्वयः । स्तुतिम् आह—**एतदुक्तमिति** । तस्मात् ज्ञानं श्रेष्ठमिति शेषः । किं स्तुतज्ञानविषय इन्द्र इत्यत आह—**विज्ञेयं त्विति** ॥३०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो वह किसके लिए है, यह पूछते हैं—"कथं तर्हि" इत्यादिसे। "विज्ञान" इत्यादिसे कहते हैं कि वह ब्रह्मज्ञानकी स्तुतिके लिए है। "यद्" इत्यादिसे उसका नियामक कहते हैं। "परेण" का अन्वय 'तस्य मे' इत्यादि वाक्यके साथ है। "एतदुक्तम्" इत्यादिसे स्तुति कहते हैं। 'इसलिए ज्ञान श्रेष्ठ है' इतना वाक्यशेष समझना चाहिए। स्तुत ज्ञानका विषय इन्द्र ही हो, इसके उत्तरमें कहते हैं—"विज्ञेयं तु" इत्यादि॥ ३०॥

# जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्या-दाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

**पदच्छेद**—जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्, न, इति, चेत्, न, उपासात्रैविध्यात्, आश्रितत्वात्, इह, तद्योगात् ।

**पदार्थोक्ति**—जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्—'वक्तारं विद्यात्' इति जीवलिङ्गात्, इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति मुख्यप्राणलिङ्गात्, न—'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति श्रुतेः न केवलं ब्रह्मपरत्वम् [ किन्तु जीवमुख्यप्राणोभयपरत्वम् अपि ] इति चेत् न, उपासात्रैविध्यात्—उपासनात्रयस्वीकारप्रसङ्गात् [ तस्य चउपक्रमोपसंहारविरोधेनानिष्टत्वात् ) आश्रितत्वात्—अन्यत्र ब्रह्मलिङ्गवशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मवृत्तित्वाङ्गीकारात्, इह—अस्यां श्रुतावपि, तद्योगात्—हिततमत्वादिब्रह्मलिङ्गानां विद्यमानत्वात् [ प्राणशब्देन ब्रह्मैवोच्यते, न जीवादिः ] ।

**भाषार्थ**—श्रुतिमें 'वक्तारं'० [ वक्ताको जानना चाहिए ] इस प्रकार जीवलिङ्गके और 'इदं शरीरं०' [ इस शरीरको पकड़कर उठाता है ] इस प्रकार मुख्यप्राणलिङ्गके होनेसे 'प्राणोऽस्मि०' इस वाक्यमें प्राणशब्दसे केवल ब्रह्मका बोध नहीं होता है, किन्तु जीव और मुख्यप्राणका भी बोध होता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे तीन उपासनाएँ माननी पड़ेंगी । उपक्रम और उपसंहारसे विरोध होनेके कारण ऐसा स्वीकार करना तो अभीष्ट नहीं है । किञ्च, 'प्राण इति होवाच' ( छा० १।११।५ ) इत्यादि स्थलोंमें ब्रह्मलिङ्ग होनेके कारण प्राणशब्दका अर्थ ब्रह्म है ऐसा स्वीकार किया गया है । इस श्रुतिमें भी हिततमत्व [ अत्यन्त हित होना ] आदि ब्रह्मके लिङ्ग हैं इन कारणोंसे प्राणशब्दसे यहां ब्रह्मका ही बोध होता है, जीव आदिका नहीं ।

*भाष्य*

**यद्यप्यध्यात्मसंबन्धभूमदर्शनान्न पराचीनस्य देवतात्मन उपदेशः, तथापि न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति । कुतः ? जीवलिङ्गात् मुख्यप्राणलिङ्गाच्च । जीवस्य तावदस्मिन् वाक्ये विस्पष्टं लिङ्गमुपलभ्यते—'न वाचं**

*भाष्यका अनुवाद*

यद्यपि अध्यात्मसंबन्धका बाहुल्य दिखाई देता है, इससे बाह्य देवतात्माका उपदेश नहीं है, तो भी प्राणवाक्य केवल ब्रह्मविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि यहां जीवके और मुख्यप्राणके भी लिङ्ग उपलब्ध होते हैं । जीवका लिङ्ग तो

भाष्य

विजिज्ञासीत, वक्तारं विद्यात्' इत्यादि । अत्र हि वागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते । तथा मुख्यप्राणलिङ्गमपि—'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति । शरीरधारणं च मुख्यप्राणस्य धर्मः । प्राणसंवादे वागादीन् प्राणान् प्रकृत्य--'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' ( प्र० २।३ ) इति

भाष्यका अनुवाद

'न वाचं०' ( वाणीको जाननेकी इच्छा न करे, वक्ताको जाने ) इत्यादि वाक्यमें स्पष्टतया उपलब्ध होता है; क्योंकि यहां वाणी आदि इन्द्रियोंसे व्यापार करनेवाला, शरीर और इन्द्रियोंका अध्यक्ष जीव विज्ञेय है, ऐसा कहा है । इसी प्रकार 'अथ खलु प्राण एव०' निश्चय प्राण ही प्रज्ञात्मा इस शरीरको ग्रहण करके उठाता है ) इसमें मुख्यप्राणका भी लिङ्ग है । शरीर धारण करना मुख्यप्राणका धर्म है, क्योंकि प्राणसंवादमें वाक् आदि प्राणोंको प्रस्तुत करके 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोह०' ( उनमेंसे श्रेष्ठ प्राणने उनसे कहा, मोहको मत प्राप्त होओ, मैं ही पांच प्रकारसे अपने विभाग करके इस अस्थिर शरीरको आलम्बन देकर

रत्नप्रभा

देहोत्थापनं जीवलिङ्गं किं न स्यात् तत्राह—**शरीरधारणं चेति** । सर्वे वागादयः प्राणा अहमहं श्रेष्ठ इति विवदमानाः प्रजापतिम् उपजग्मुः । स च तान् उवाच यस्मिन् उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरं पतिष्यति स वः श्रेष्ठ इति । तथा क्रमेण वागादिषु उत्क्रान्तेषु अपि मूकादिभावेन शरीरं स्वस्थमस्थात् । मुख्यप्राणस्य तु उच्चिक्रमिषायां सर्वेषां व्याकुलत्वात्पौ तान् वागादीन् वरिष्ठः प्राण उवाच यूयं मा मोहमापद्यथ यतः अहमेवैतत् करोमि । किं तत ? पञ्चधा प्राणापानादिभावेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

देहको उठाना, यह जीवलिङ्ग क्यों न हो इस शङ्कापर कहते हैं–"शरीरधारणं च" इत्यादि। वाग् आदि सब इन्द्रियां अपने अपनेको श्रेष्ठ मानकर विवाद करती हुईं [ निर्णय करनेकी इच्छासे ] प्रजापतिके पास पहुँचीं । प्रजापतिने उनसे कहा, तुममेंसे जिसके निकल जानेपर शरीर अतिपापिष्ठ होकर नष्ट हो जाय, वह तुममें श्रेष्ठ है । तब क्रमसे वाणी आदिके निकल जानेपर शरीर मूक, अन्ध आदि होकर स्वस्थ रहा; परन्तु जब उनमें मुख्य–श्रेष्ठ प्राण निकलने लगा, तब सब इन्द्रियां व्याकुल होने लगीं । तब प्राणने वाणी–आदिसे कहा—तुम मोहको मत प्राप्त होओ, मैं ही ऐसा करता हूँ । प्राण अपान आदि रूपसे मैं अपने पांच भाग करके इस

भाष्य

श्रवणात्। ये तु 'इमं शरीरं परिगृह्य' इति पठन्ति तेषामिमं जीवमिन्द्रियग्रामं वा परिगृह्य शरीरमुत्थापयतीति व्याख्येयम्। प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे तावच्चेतनत्वादुपपन्नम्। मुख्येऽपि प्राणे प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादुपपन्नमेव। जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च प्राणप्रज्ञात्मनोः सहवृत्तित्वेनाऽभेदनिर्देशः स्वरूपेण च भेदनिर्देश इत्युभयथा निर्देश उपपद्यते—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति। ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद् भिद्येत। तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा प्रतीयेयातां न ब्रह्मेति चेत्।

भाष्यका अनुवाद

धारण करता हूँ ) ऐसी श्रुति है। जो 'इमं शरीरं० ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं, उनके मतमें 'इमम्' अर्थात् इस जीवको अथवा इन्द्रियसमूहको ग्रहण करके शरीरको उठाता है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। चेतन होनेके कारण जीव प्रज्ञात्मा भी है। मुख्यप्राण भी प्रज्ञाके साधन अन्य इन्द्रियोंका आश्रय है, इससे वह भी प्रज्ञात्मा हो सकता है। प्राणका अर्थ जीव और मुख्यप्राण मानें तो प्राण और प्रज्ञात्मा साथ रहते हैं अतः उनका अभेदनिर्देश और स्वरूपसे भेदनिर्देश, इस तरह दोनों प्रकारसे निर्देश संगत होते हैं। 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा०' ( जो प्राण है वह प्रज्ञा है जो प्रज्ञा है वह प्राण है, निश्चय ही ये दोनों शरीरमें साथ ही साथ रहते हैं, साथ ही साथ निकलते हैं ) यह श्रुति जीव और प्राणके परिग्रहसे ही संगत होती है। प्राणका अर्थ ब्रह्म मानें तो कौन किससे भिन्न होगा ? इससे यहां जीव और मुख्यप्राण, इन दोनोंमेंसे एक अथवा

रत्नप्रभा

आत्मानं विभज्य एतत् वाति गच्छतीति बानं तदेव बाणम् अस्थिरं शरीरम् अवष्टभ्य आश्रित्य धारयामि इत्यर्थः। द्विवचनसहवासोत्क्रान्तिश्रुतेश्च न ब्रह्म ग्राह्यम् इत्याह—**जीवमुख्येति**। अभेदनिर्देशम् आह—**यो वा इति**। भेदम् आह—**सहेति**। यदि जीवमुख्यप्राणयोः लिङ्गाद् उपास्यत्वम्, तर्हि ब्रह्मणोऽपि लिङ्गानामुक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

[ वाति गच्छतीति वानं तदेव वाणं अर्थात् ] अस्थिर शरीरको अवलम्बन देकर धारण करता हूँ, ऐसा अर्थ है। श्रुतिमें द्विवचन, एक साथ रहना और एक साथ उत्क्रम होना कहा गया है, इससे ब्रह्मका ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"जीवमुख्य" इत्यादिसे। "यो वा" इत्यादिसे दोनोंका अभेद कहते हैं। "सह" इत्यादिसे भेद कहते हैं। जीव और मुख्यप्राणके लिङ्गसे वे दोनों उपास्य हों तो, ब्रह्मके लिङ्ग भी कहे गये हैं, अतः उसकी भी उपासना होनी

भाष्य

नैतदेवम्, उपासात्रैविध्यात्। एवं सति त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत, जीवोपासनं मुख्यप्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति। न चैतदेकस्मिन् वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम्, उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमवगम्यते। 'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इत्युक्त्वाऽन्ते 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्येकरूपावुपक्रमोपसंहारौ दृश्येते। तत्रार्थैकत्वं युक्तमाश्रयितुम्। न च ब्रह्मलिङ्गमन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्यम्, दशानां भूतमात्राणां प्रज्ञामात्राणां च

भाष्यका अनुवाद

दोनों प्राणशब्दसे प्रतीत होते हैं, ब्रह्म प्रतीत नहीं होता यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा यदि माना जाय, तो तीन प्रकारकी उपासनाएँ माननी पड़ेंगी— जीवकी उपासना, मुख्यप्राणकी उपासना और ब्रह्मकी उपासना। एक वाक्यमें ऐसा स्वीकार करना संभव नहीं है। क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे एकवाक्यता समझी जाती है। 'मामेव०' (मुझको ही जान) ऐसा उपक्रम करके 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा०' (मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ, मेरी आयुष् और अमृतरूपसे उपासना करो) ऐसा कहकर अन्तमें 'स एष प्राण एव०' (यह प्राण ही प्रज्ञात्मा आनन्द, अजर और अमृत है) ऐसा कहा है, अतः उपक्रम और उपसंहार समान दिखाई देते हैं। इसमें एक अर्थका आश्रय करना युक्त है।

---

रत्नप्रभा

त्वाद् उपासनं स्यात्, न च इष्टापत्तिः, उपक्रमादिना निश्चितैकवाक्यताभङ्गप्रसङ्गात् इत्याह—**नैतदेवमित्यादिना**। न च स्वतन्त्रपदार्थभेदाद् वाक्यभेदः किं न स्यादिति वाच्यम्। जीवमुख्यप्राणयोः उक्तलिङ्गानां ब्रह्मणि नेतुं शक्यतया स्वातन्त्र्यासिद्धेः, अफलपदार्थस्य फलवद्वाक्यार्थशेषत्वेन प्रधानवाक्यार्थानुसारेण तल्लिङ्गनयनस्य उचितत्वाच्च। नहि प्रधानवाक्यार्थब्रह्मलिङ्गम् अन्यथा नेतुं शक्यम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए। इस विषयमें इष्टापत्ति नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उपक्रम आदिसे निश्चित जो एकवाक्यता है, उसका भंग हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"नैतदेवम्" इत्यादिसे। स्वतंत्र पदार्थका भेद होनेसे वाक्यभेद क्यों न होगा, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जीव और मुख्यप्राणके जो लिङ्ग कहे गये हैं, वे ब्रह्ममें भी लगाये जा सकते हैं, इस कारण वे (जीव और मुख्यप्राण) स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं और जो निष्फल पदार्थ है, वह सफल वाक्यार्थका अङ्ग होता है। अतः प्रधानवाक्यके अर्थके अनुसार निष्फल पदार्थके लिङ्गका समन्वय करना युक्त है। परन्तु प्रधान

भाष्य

ब्रह्मणोऽन्यत्रार्पणानुपपत्तेः। आश्रितत्वाच्च, अन्यत्रापि ब्रह्मलिङ्गवशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि वृत्तेः। इहापि च हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्ग-योगाद् ब्रह्मोपदेश एवायमिति गम्यते। यत्तु मुख्यप्राणलिङ्गं दर्शितम्--'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति। तदसत्। प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात् परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात्,

भाष्यका अनुवाद

और ब्रह्मलिङ्गका अन्यमें समन्वय नहीं कर सकते, क्योंकि दस भूतमात्राओं[1] और दस प्रज्ञामात्राओंको[2] ब्रह्मसे अन्यमें अर्पण करना युक्त नहीं है। दूसरे स्थलोंमें भी ब्रह्मलिङ्ग होनेके कारण प्राणशब्दका अर्थ ब्रह्म माना गया है और यहां भी हिततमत्वके[3] उपन्यास आदि ब्रह्मलिङ्गोंके संबन्धसे यह ब्रह्मका ही उपदेश है ऐसा समझा जाता है। 'इदं शरीरं०' (इस शरीरको पकड़कर उठाता है। ऐसे जो मुख्यप्राणका लिङ्ग दिखलाया है, वह तो अयुक्त है, क्योंकि प्राणका व्यापारभी परमात्माके अधीन होनेसे परमात्मामें उसका उप-चार किया जा सकता है, क्योंकि 'न प्राणेन नापानेन०' (कोई भी मर्त्य प्राणसे

रत्नप्रभा

न वा तदुचितम् इत्याह—**न च ब्रह्मलिङ्गमिति**। सूत्रशेषं व्याचष्टे—**आश्रितत्वाच्चेति**। अन्यत्र "अत एव प्राणः" (ब्र० सू० १।१।१२) इत्यादौ वृत्तेः आश्रितत्वाद् इहापि तस्य ब्रह्मलिङ्गस्य योगाद् ब्रह्मपर एव प्राणशब्द इत्यर्थः। प्राणादिलिङ्गानि सर्वात्मके ब्रह्मणि अनायासेन नेतुं शक्यानि इत्याह—**यत्त्वित्यादिना**। यस्मिन्नेतौ प्रेर्यत्वेन स्थितौ तेन इतरेण ब्रह्मणा सर्वे प्राणादिव्यापारं

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्यार्थ जो ब्रह्म है उसके लिङ्गोंका दूसरे अर्थके अनुसार योजन करना संभव नहीं है और न योग्य ही है, ऐसा कहते हैं—"न च ब्रह्मलिङ्गम्" इत्यादिसे। "आश्रितत्वाच्च" इत्यादिसे सूत्रके अवशिष्ट भागका व्याख्यान करते हैं। दूसरे स्थलोंमें—'अतएव प्राणः' इत्यादि सूत्रोंसे 'प्राण इति होवाच' इत्यादि स्थलेमें प्राणका अर्थ ब्रह्म माना गया है, इसी प्रकार यहां भी ब्रह्मलिङ्गके संबन्धसे प्राणशब्द ब्रह्मविषयक ही है ऐसा अर्थ है। प्राणादिके लिङ्ग सर्वस्वरूप ब्रह्ममें आसानीसे अन्वित हो सकते हैं, ऐसा कहते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। प्राण और अपान जिससे प्रेरित होते हैं, उस ब्रह्मके द्वारा सब प्राणन आदि व्यापार करते हैं अर्थात् जीते हैं ऐसा समझना

(१) पाँच महाभूत और शब्द आदि पांच विषय।

(२) शब्द आदि पांच विषयोंके ज्ञान और पांच ज्ञानेन्द्रियां।

(३) सबसे विशेष हितकारक है ऐसा उपदेश।

भाष्य

'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥'

( का० २।५।५ ) इति श्रुतेः । यदपि 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गं दर्शितम्, तदपि न ब्रह्मपक्षं निवारयति। नहि जीवो नामाऽत्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः, 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुतिभ्यः। बुद्ध्याद्युपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सन् जीवः कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते। तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म दर्शयितुम् 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादिना प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थमुपदेशो न विरुध्यते । 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं

भाष्यका अनुवाद

अथवा अपानसे नहीं जीता, ये दोनों जिसमें आश्रित हैं, उस दूसरेसे जीते हैं ) ऐसी श्रुति है। 'न वाच०' इत्यादि जो जीवलिंग दिखलाये हैं, वे ब्रह्मपक्षका निवारण नहीं करते। क्योंकि 'तत्त्वमसि' ( वह तू है ) 'अहं०' ( मैं ब्रह्म हूँ ) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि वस्तुतः जीव ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न नहीं है । जीव यद्यपि ब्रह्म ही है, तो भी बुद्धि आदि उपाधियोंसे किये हुए विशेषका आश्रय करके कर्ता और भोक्ता कहलाता है। उपाधिजनित विशेषका परित्याग करके स्वरूपभूत ब्रह्मको दिखलानेके लिए 'न वाचं०' इत्यादिसे जीवको प्रत्यगात्माकी ओर अभिमुख करानेके लिए उपदेश देना अनुचित नहीं है । 'यद्वाचानभ्युदितं' ( जो वाणीसे उदित नहीं है जिससे वाणी प्रेरित होती है, उसीको तुम

रत्नप्रभा

कुर्वन्ति इत्यर्थः । विशेषम्—परिच्छेदाभिमानम् इत्यर्थः । 'वक्तारं विद्याद्' इति न वक्तुः ज्ञेयत्वम् उच्यते, तस्य लोकसिद्धत्वात्, किन्तु तस्य ब्रह्मत्वं बोध्यते । तद्बोधाभिमुख्याय लिङ्गादय इति । अत्र श्रुत्यन्तरमाह—यद्वाचेति । येन चैतन्येन वाग् अभ्युद्यते स्वकार्याभिमुख्येन प्रेर्यते तदेव वागादेरगम्यं ब्रह्म इत्यर्थः । तत्त्वम्पद-

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए । भाष्यस्थ 'उपाधिकृतविशेषपरित्यागेन' इस वाक्यमें विशेषका अर्थ है—परिच्छेदका अभिमान । 'वक्तारं विद्यात्' इसमें वक्ता ज्ञेय है ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि वह लोकसिद्ध है, परन्तु वह ब्रह्म है, ऐसा बोध कराया जाता है । ब्रह्मका बोध करानेके लिए लिङ् आदि हैं इस विषयमें दूसरी श्रुति उद्धृत करते हैं—"यद्वाचा" इत्यादिसे । तात्पर्य यह है कि जिस चैतन्यसे वाणी अपने कार्यमें प्रेरित होती है अर्थात् भाषण सामर्थ्यसे युक्त की जाती है, वाणी आदिसे अगम्य

भाष्य

यदिदमुपासते' (क० १।४) इत्यादि च श्रुत्यन्तरं वचनादिक्रियाव्यापृतस्यैवाऽऽत्मनो ब्रह्मत्वं दर्शयति। यत्पुनरेतदुक्तम्—'सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति प्राणप्रज्ञात्मनोर्भेददर्शनं ब्रह्मवादे नोपपद्यत इति। नैष दोषः। ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयाश्रययोर्बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्भेदनिर्देशोपपत्तेः। उपाधिद्वयोपहितस्य तु प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाऽभेद इत्यतः प्राण एव प्रज्ञात्मेत्येकीकरणमविरुद्धम्।

अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इत्यस्याऽयमन्योऽर्थः—न ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विरुध्यते। कथम्?

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म जानो, इसको नहीं जिसकी कि लोग उपासना करते हैं ) इत्यादि दूसरी श्रुति वचन आदि क्रियाओंमें व्यापृत आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा दिखलाती है। 'सह ह्येतावस्मि०' (निश्चय ये दोनों इस शरीरमें साथ ही साथ रहते हैं और साथ ही साथ निकलते हैं) इस प्रकार प्राण और प्रज्ञात्माका भेददर्शन ब्रह्मवादमें युक्त नहीं होता ऐसा जो पीछे कहा गया है, यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रत्यगात्माके उपाधिभूत ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिके आश्रय बुद्धि और प्राणका भिन्नरूपसे निर्देश युक्त है। परन्तु दोनों उपाधियोंसे विशिष्ट प्रत्यगात्मा स्वरूपसे अभिन्न है, इसलिए प्राण ही प्रत्यगात्मा है ऐसा एकीकरण अविरुद्ध है।

अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इस सूत्र-भागका यह दूसरा अर्थ है—ब्रह्मवाक्यमें भी जीवके और मुख्यप्राणके लिङ्गका

---

रत्नप्रभा

वाच्ययोः स्वरूपतो भेदः ताभ्याम् उपलक्ष्यात्मस्वरूपाभेदाद् एकत्वं निर्दिश्यते इत्याह—**नैष दोष इति**। स्वमतेन सूत्रं व्याख्याय वृत्तिकृन्मतेन व्याचष्टे—**अथवेति**। उपासनात्रित्वप्रसङ्गादिति पूर्वमुक्तम्। अत्र त्रिप्रकारकस्य एकब्रह्मविशेष्यकस्य एकस्य उपासनस्य विवक्षितत्वाद् इत्यर्थः। अतो न वाक्यभेद इति भावः। देहचेष्टात्मकजीवनहेतुत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

वही ब्रह्म है। 'तत्' और 'त्वं' पदसे वाच्य परमात्मा और जीवात्माका स्वरूपसे भेद है, किन्तु उन पदोंके लक्ष्यार्थ आत्मामें स्वरूपसे भेद नहीं है ऐसा निर्देश होता है ऐसा कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। अपने मतसे सूत्रका व्याख्यान कर अब वृत्तिकारके मतसे व्याख्यान करते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि उपासना तीन प्रकारकी माननी पड़ेगी ऐसा पहले कहा है। यहांपर ब्रह्मकी एक ही उपासना धर्मभेदसे तीन प्रकारकी कही गई है।

भाष्य

उपासात्रैविध्यात् । त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितं प्राणधर्मेण, प्रज्ञाधर्मेण, स्वधर्मेण च । तत्र 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः प्राणः' इति, 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, 'तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' इति च प्राणधर्मः । 'अथ यथाऽस्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति तद्व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्यै नाम परस्तात् प्रतिविहिताः भूतमात्राः

भाष्यका अनुवाद

विरोध नहीं है । विरोध क्यों नहीं है ? इसलिए कि उपासनाएँ तीन प्रकारकी हैं । यहाँ प्राणधर्मसे, प्रज्ञाधर्मसे और स्वधर्मसे तीन प्रकारकी ब्रह्मोपासनाएँ कही गई हैं । उनमें 'आयुरमृतमु०' ( आयुष्रूपसे, अमृतरूप से मेरी उपासना करो, आयुष् प्राण है ) 'इदं शरीरं०' ( प्राण इस शरीरको ग्रहण करके उठाता है ) और 'तस्मादेत०' ( इसलिए उसकी उक्थरूपसे उपासना करे ) ये प्राणधर्म हैं । 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै०' ( अब जिस प्रकार इस प्रज्ञा जीवके सम्बन्धी सब भूत—दृश्य अधिष्ठानचिद्रूपमें एकताको प्राप्त होते हैं, उस प्रकारका व्याख्यान करेंगे ) ऐसा उपक्रम करके 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्०' ( वाणीने ही इस प्रज्ञाके एक अङ्गको—देहार्धको पूर्ण किया उसकी [ चक्षु आदिसे ]

---

रत्नप्रभा

प्राणस्य आयुष्ट्वम्, देहापेक्षया तस्य आमुक्तेः अवस्थानाद् अमृतत्वम्, उत्थापयति इति उक्थत्वम्, इति प्राणधर्मः । जीवधर्ममाह—**अथेति** । बुद्धिप्राणयोः सहस्थित्युत्क्रान्त्युक्त्यनन्तरम् इत्यर्थः । अत्र प्रज्ञापदेन साभासा जीवाख्या बुद्धिः उच्यते । तस्याः सम्बन्धीनि दृश्यानि सर्वाणि भूतानि यथैकं भवन्ति अधिष्ठानचिदात्मना, तथा व्याख्यास्याम इति उपक्रम्य उक्तम्—**वागेवेत्यादि** । चक्षुः एव अस्याः एकम् अङ्गम् अदूदुहद् इत्यादिपर्यायाणां संक्षिप्तार्थ उच्यते । उत्पन्नायाः अस-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस कारणसे वाक्यभेद नहीं है । देहके चेष्टात्मक जीवनका हेतु प्राण है, अतः प्राण आयु कहलाता है । मुक्तिपर्यन्त प्राणकी स्थिति होती है इस कारण वह देहकी अपेक्षा अमृत है । शरीरको उठाता है, इससे प्राण उक्थ कहलाता है, ये प्राणके धर्म हैं । जीवके धर्म कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । "अथ"—बुद्धि और प्राण साथ ही साथ रहते हैं और साथ ही साथ निकलते हैं, इस कथनके अनन्तर । यहांपर प्रज्ञाशब्दका अर्थ है—आभाससहित जीवसंज्ञक बुद्धि । उसके संबन्धी सब दृश्य भूत अधिष्ठान चिदात्मामें जिस तरह मिल जाते हैं, उस प्रकारका हम व्याख्यान करेंगे, ऐसा उपक्रम करके कहा है—"वागेव" इत्यादि । नेत्रने ही इसके एक अङ्गको

भाष्य

प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादिः प्रज्ञाधर्मः ।

भाष्यका अनुवाद

ज्ञापित भूतमात्रा अपर अर्धमें कारण होती हैं। बुद्धिद्वारा चिदात्मा वाणीपर समारोहण करके सब नामोंको प्राप्त करता है ) इत्यादि प्रज्ञाधर्म है,

रत्नप्रभा

त्कल्पायाः साभासबुद्धेः नामप्रपञ्चविषयित्वम् अर्धशरीरम्, अर्थात्मकरूपप्रपञ्चविषयित्वम् अर्धशरीरम् इति मिलित्वा विषयित्वाख्यं पूर्णं शरीरम् इन्द्रियसाध्यम् । तत्र कर्मेन्द्रियेषु वागेव अस्याः प्रज्ञाया एकम् अङ्गं देहार्धम् अदूदुहत् पूरयामास । वागिन्द्रियद्वारा नामप्रपञ्चविषयित्वं बुद्धिः लभते इत्यर्थः । चतुर्थी षष्ठ्यर्थी । तस्याः पुनर्नाम किल चक्षुरादिना प्रतिविहिता ज्ञापिता भूतमात्रा रूपाद्यर्थरूपा परस्ताद् अपरार्धे कारणं भवति । ज्ञानकरणद्वाराऽर्थप्रपञ्चविषयित्वं बुद्धिः प्राप्नोति इत्यर्थः । एवं बुद्धेः सर्वार्थद्रष्टृत्वम् उपपाद्य तन्निष्ठचित्प्रतिबिम्बद्वारा साक्षिणि द्रष्टृत्वाध्यासमाह—प्रज्ञयेति । बुद्धिद्वारा चिदात्मा वाचम् इन्द्रियं समारुह्य तस्याः प्रेरको भूत्वा वाचा करणेन सर्वाणि नामानि वक्तव्यत्वेन आप्नोति, चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि पश्यति इत्येवं द्रष्टा भवति इत्यर्थः । तथा च सर्वद्रष्टृत्वं चिदा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्ण किया इत्यादि पर्यायोंका संक्षिप्त अर्थ कहते हैं। उत्पन्न हुई असत्कल्प आभास सहित बुद्धिका अर्धशरीर नामप्रपञ्चविषयित्व है और दूसरा अर्धशरीर अर्थात्मक रूपप्रपञ्चविषयित्व है। इस प्रकार दो अर्ध मिलकर विषयित्व नामक पूर्ण शरीर होता है जो कि इन्द्रियसाध्य है। उसमें कर्मेन्द्रियोंमेंसे वाणीने ही इस प्रज्ञाके एक अङ्ग-देहार्धको पूर्ण किया। नामात्मकप्रपञ्च विषय है, उसमें वाणी द्वारा प्रविष्ट हुई बुद्धि उस विषयके प्रति विषयिता प्राप्त करती है। 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्यै नाम' इस श्रुतिमें 'तस्यै' यहांपर चतुर्थीका प्रयोग षष्ठीविभक्तिके अर्थमें है। और चक्षु आदिसे ज्ञापित अर्थात्मक रूप आदि स्वरूप भूतमात्राएँ इस प्रज्ञाके अपर भागमें कारण होती हैं। बुद्धि ज्ञानेन्द्रिय द्वारा अर्थप्रपञ्चका विषयित्व प्राप्त करती है ऐसा तात्पर्य है। इस प्रकार बुद्धि सब पदार्थोंको देखनेवाली है, ऐसा युक्तिपूर्वक दिखलाकर, उसमें स्थित चैतन्य-प्रतिबिम्बके द्वारा साक्षीमें द्रष्टृत्वका अध्यास होता है, ऐसा कहते हैं—"प्रज्ञया" इत्यादिसे। चिदात्मा बुद्धि द्वारा वागिन्द्रियपर आरूढ़ होकर अर्थात् उसका प्रेरक होकर वागिन्द्रिय द्वारा सब नामप्रपंचको वक्तव्यत्वरूपसे प्राप्त करता है अर्थात् वक्ता होता है। नेत्रसे सब रूपोंको देखता है, इस प्रकार द्रष्टा होता है, इसी प्रकार सब पदार्थोंका द्रष्टृत्व और चिदात्मामें उस

( १ ) मिथ्या जैसी।

भाष्य

'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्। यदि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः, यदि प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः। नह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिद्ध्येत्। नो एतन्नाना। 'तद्यथा रथस्याऽरेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा' इत्यादि-

भाष्यका अनुवाद

'ता वा एता दशैव भूतमात्रा०' (वे ये दस ही भूतमात्राएँ प्रज्ञाके अधीन हैं, और दस प्रज्ञामात्राएँ भूतके अधीन हैं। यदि भूतमात्राएँ न हों, तो प्रज्ञामात्राएँ न हों, और यदि प्रज्ञामात्राएँ न हों, तो भूतमात्राएँ न हों, क्योंकि दोनोंमें एकसे कोई रूप सिद्ध न होगा। यह नाना नहीं हैं। जैसे रथके अरोंमें नेमि अर्पित है और नेमिमें अर अर्पित हैं, इसी प्रकार ये भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्राओंमें अर्पित हैं और प्रज्ञामात्राएँ प्राणमें अर्पित हैं, यह प्राण ही प्रज्ञात्मा है ) इत्यादि ब्रह्मधर्म हैं। इस कारण ब्रह्मकी ही एक उपासना उन

रत्नप्रभा

त्मनि द्रष्टृत्वाध्यासनिमित्तत्वं च बुद्धेः धर्म इत्युक्तं भवति। सर्वाधारत्वानन्दत्वादिः ब्रह्मधर्म इत्याह—**ता वा इति**। दशत्वं व्याख्यातम्। प्रज्ञाः इन्द्रियजाः, ताः अधिकृत्य ग्राह्या भूतमात्रा वर्त्तन्ते, प्रज्ञामात्राः इन्द्रियाणि ग्राह्यं भूतजातम् अधिकृत्य वर्त्तन्ते इति ग्राह्यग्राहकयोः मिथः सापेक्षत्वम् उक्तं साधयति—**यदिति**। तदेव स्फुटयति—**नहीति**। ग्राह्येण ग्राह्यस्वरूपं न सिद्ध्यति किन्तु ग्राहकेण, एवं ग्राहकमपि ग्राह्यमनपेक्ष्य न सिध्यति, तस्मात् सापेक्षत्वाद् एतद् ग्राह्यग्राहकद्वयं वस्तुतो न भिन्नम्, किन्तु चिदात्मनि आरोपितम् इत्याह—**नो इति**। तद्यथेत्यादि

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्रष्टृत्वके अध्यासका कारण होना बुद्धिके ही धर्म हैं ऐसा कहा गया है। सबका आधार होना और आनन्दस्वरूपत्व ब्रह्मधर्म हैं ऐसा कहते हैं—"ता वा" इत्यादिसे। दस किस प्रकार हैं, उसका व्याख्यान पहले किया गया है। ग्राह्य-भूतमात्राएँ इन्द्रियसे उत्पन्न हुई प्रज्ञामात्राओंके अधीन रहती हैं और प्रज्ञामात्राएँ—इन्द्रियां ग्राह्य भूतसमूहके अधीन रहती हैं, इस प्रकार ग्राह्य और ग्राहक परस्पर सापेक्ष हैं, ऐसा जो कहा है उसकी पुष्टि करते हैं—"यद्" इत्यादिसे। उसे ही स्पष्ट करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। ग्राह्यसे ही ग्राह्यका स्वरूप सिद्ध नहीं होता, किन्तु ग्राहकसे सिद्ध होता है, इसी प्रकार ग्राहक भी ग्राह्यकी अपेक्षा बिना सिद्ध नहीं होता। इस तरह ग्राह्य और ग्राहक, परस्पर सापेक्ष होनेसे, वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, किन्तु चिदात्मामें आरोपित हैं, ऐसा

भाष्य

ब्रह्मधर्मः । तस्माद्ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितम् । अन्यत्रापि 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इत्या-

भाष्यका अनुवाद

दोनों उपाधियोंके धर्मसे और ब्रह्मके धर्मसे तीन प्रकारकी है, ऐसा विवक्षित है। दूसरे स्थलोंमें भी 'मनोमयः०' ( प्राण जिसका शरीर है ऐसा मनोमय ) इत्यादिमें उपाधिधर्मसे ब्रह्मकी उपासनाका आश्रय किया गया है। यहां भी

---

रत्नप्रभा

कृतव्याख्यानम् । सूत्रार्थम् उपसंहरति—**तस्मादिति** । अन्यधर्मेणाऽन्यस्य उपासनं कथम् इत्याशङ्क्याऽऽश्रितत्वाद् इत्याह—**अन्यत्रापीति** । उपाधिर्जीवः । तत् अन्यधर्मेण उपासनम् । इयमसङ्गता व्याख्या । तथा हि न तावदारुण्याद्यनेकगुणविशिष्टाप्राप्तक्रयणवद् उपासात्रयविशिष्टस्य ब्रह्मणो विधिः सम्भवति, सिद्धस्य विध्यनर्हत्वात् । नापि ब्रह्मानुवादेनोपासात्रयविधिः, वाक्यभेदात् । न च नानाधर्मविशिष्टमेकमुपासनं विधीयते इति वाच्यम् । तादृशविधिवाक्यस्याऽत्राऽश्रवणात् । न च "तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व" ( कौ० ३।२ ) इत्यत्र मामिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं "नो" इत्यादिसे । 'तद्यथा' इत्यादिका व्याख्यान पीछे किया जा चुका है। सूत्रके अर्थका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। दूसरेके धर्मसे दूसरेकी उपासना किस प्रकार हो सकती है, ऐसी शङ्का करके आश्रित होनेके कारण हो सकती है इस प्रकार समाधान करते हैं—"अन्यत्रापि" इत्यादिसे । उपाधि—जीव । वह—अन्यधर्मसे उपासना । वृत्तिकारका यह व्याख्यान असंगत है; क्योंकि जैसे रक्तत्व आदि अनेक गुणोंसे विशिष्ट अप्राप्त क्रयविधि होती है, उस प्रकार ब्रह्मकी विधि नहीं हो सकती है, क्योंकि सिद्ध पदार्थ विधिके योग्य नहीं है। ब्रह्मके अनुवादसे तीन प्रकारकी उपासनाकी विधि है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा कहनेसे वाक्यभेद होता है और अनेकधर्मविशिष्ट एक उपासनाकी विधि है, यह भी नहीं कहा

---

(१) 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' इसमें आरुण्य ( रक्तवर्ण ), पिङ्गाक्षीत्व ( पीली आँख होना ) और एकहायनीत्व ( एक वर्षकी होना ) इन गुणोंसे युक्त गौसे सोमक्रयणका विधान है। 'सोमं क्रीणाति' से सोमका क्रयण तो प्राप्त है, परन्तु आरुण्यादिगुणयुक्त गौसे क्रयण प्राप्त नहीं है, अतः वह विधिवाक्य है। इसमें मीमांसाके सिद्धान्तके अनुसार आरुण्य, पिङ्गाक्षीत्व और एकहायनीत्वका पहले क्रयसे अन्वय होता है अनन्तर गौसे । इस प्रकार आरुण्यादि अनेक गुणोंसे विशिष्ट गौसे क्रयकी विधिकी तरह उपासनात्रयविशिष्ट ब्रह्मकी भी विधि क्यों नहीं है, यह पूर्वपक्षीका आशय है।

भाष्य

दावुपाधिधर्मेण ब्रह्मण उपासनमाश्रितम्, इहापि तद्युज्यते वाक्यस्योपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थत्वावगमात् प्राणप्रज्ञाब्रह्मलिङ्गावगमाच्च। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतदिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

युक्त है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे वाक्यकी एकार्थता समझी जाती है और प्राण, प्रज्ञा एवं ब्रह्मके लिङ्ग देखनेमें आते हैं। इस कारण सिद्ध हुआ कि यह ब्रह्मवाक्य है ॥ ३१ ॥

यतिवर श्री भोलेबाबा कृत प्रथम अध्यायके प्रथम पादके भाष्यका
अनुवाद समाप्त।

---
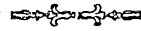
रत्नप्रभा

जीवेन, आयुरिति प्राणेन, अमृतमिति ब्रह्मणा स्वस्वधर्मवता विशिष्टोपासनाविधिरिति वाच्यम्, सर्वेषां धर्माणामश्रवणाद्; ब्रह्माश्रुतेश्च। "प्राणो वा अमृतम्" इति प्राणस्य एवामृतत्वश्रुतेः। अत्र उपासनाविधिलुब्धेन "वक्तारं विद्याद्" (कौ० ३।८) "एतदेवोक्थमुपासीत" (कौ० ३।३) "स म आत्मेति विद्याद्" (कौ० ३।८) इति जीवप्राणब्रह्मोपासनविधयः, अन्ये गुणविधय इति स्वीकृत्य एकवाक्यत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

जा सकता, क्योंकि यहां ऐसे विधिवाक्यका श्रवण नहीं है। इसी प्रकार 'तं मामायु०' ( उस मेरी आयु, अमृतरूपसे उपासना करो ) इसमें 'माम्' अर्थात् जीवरूपसे, 'आयुः' अर्थात् प्राणरूपसे और 'अमृतम्' अर्थात् ब्रह्मरूपसे अपने अपने धर्मसे युक्त विशिष्ट उपासनाकी विधि है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सबके धर्मकी और ब्रह्मकी श्रुति ( श्रवण ) नहीं है। 'प्राणो वा०' ( प्राण ही अमृत है ) इसमें प्राणमें ही अमृतत्व कहा गया है। इस कारणसे 'वक्तारं०' ( वक्ताको जाने ), 'एतदेवोक्थ०' ( उसी उक्थकी उपासना करे ) 'स म आत्मे०' ( वह मेरी आत्मा है ऐसा जाने ) यह जीव, प्राण और ब्रह्मकी उपासनाविधि है, दूसरी गुणविधियां हैं ऐसा मानकर उपासनाविधिमें लुब्ध पुरुषको एकवाक्यता लानी पड़ेगी, वह तो

रत्नप्रभा

त्याज्यम्, तच्चाऽयुक्तम् उपक्रमादिना एकवाक्यतानिर्णयात् । तस्माद् ज्ञेयप्रत्यग्ब्रह्म-परमिदं वाक्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥३१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीरामानन्दसरस्वतीकृतौ †श्रीमच्छारीरकमीमांसादर्शन-
भाष्यव्याख्यायां रत्नप्रभायां प्रथमाध्यायस्य
प्रथमः पादः समाप्तः ॥१॥१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

युक्त नहीं है, क्योंकि उपक्रम आदिसे एकवाक्यताका निर्णय होता है। इस कारण यह वाक्य ज्ञेय प्रत्यग्ब्रह्मपरक है, ऐसा "तस्मात्" इत्यादिसे उपसंहार करते हैं ॥ ३१ ॥

* यतिवर श्री भोलेबाबा कृत प्रथमाध्यायके प्रथमपादका रत्नप्रभानुवाद समाप्त *
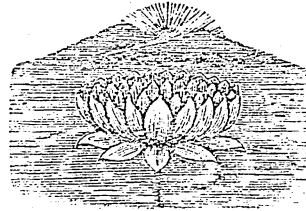
† मुद्रित पुस्तकोंके अनुसार पहले हम भी यही समझते थे कि रत्नप्रभाकार गोविन्दानन्दसरस्वती नामसे प्रसिद्ध थे। किन्तु अनुसन्धान करनेसे प्रतीत हुआ है कि उनका नाम रामानन्द सरस्वती था। भूमिकामें इस विषयपर विशेषरूपसे प्रकाश डालनेकी चेष्टा की जायगी।

* ॐ नमः परमात्मने *

# प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ।

[ अत्राऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तवाक्यानामुपास्यब्रह्मविषयाणां विचारः ]

भाष्य

प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्युक्तम् । तस्य समस्तजगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं नित्यत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं सर्वात्मकत्वमित्येवंजातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति । अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषाञ्चिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतु-

भाष्यका अनुवाद

प्रथम पादमें 'जन्माद्यस्य यतः' से आकाश आदि समस्त जगत्के जन्म आदिका कारण ब्रह्म कहा गया है । समस्त जगत्का कारण जो ब्रह्म है उसके व्यापित्व, नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व(१), सर्वात्मत्व(२) आदि धर्म अर्थतः कहे ही गये हैं । दूसरे अर्थमें प्रसिद्ध कुछ शब्द ब्रह्मविषयक हैं इसमें हेतु दिखलाकर कुछ वाक्य जिनमें ब्रह्मलिङ्ग तो स्पष्ट हैं, परन्तु सन्देह होता है कि वे ब्रह्मविषयक हैं

रत्नप्रभा

श्रीरामं सिद्धमत्तारं गुहाशायिनमन्तरम् ।
अन्तर्यामिणमज्ञेयं वैश्वानरमहं भजे ॥ १ ॥

पूर्वपादेन उत्तरपादयोः सङ्गतिं वक्तुं वृत्तमनुवदति—प्रथम इति । जगत्कारणत्वोक्त्या व्यापित्वादिकमर्थात् सिद्धम् । तदुपजीव्य उत्तरं पादद्वयं प्रवर्त्तते इति हेतुहेतुमद्भावः सङ्गतिः । कथं पादभेद इत्याशङ्क्य पादानां प्रमेयभेद-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नित्य, सब जगत्का संहार करनेवाले, बुद्धिरूप गुहामें स्थित, पांच कोशोंके भीतर रहनेवाले, सर्वव्यापक, वाणी आदि इन्द्रियोंके अगोचर, सकल प्रपञ्चस्वरूप श्रीरामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ(३)। पूर्वपादके साथ आगेके दो पादोंकी संगति कहनेके लिए पूर्वोक्तका अनुवाद करते हैं—''प्रथम'' इत्यादिसे । ब्रह्म जगत्का कारण है, ऐसा कहनेसे व्यापित्व आदि धर्म ब्रह्ममें अर्थतः सिद्ध होते हैं । उसके आधारपर अगले दो पादोंका उत्थान होता है, अतः प्रथम पादसे इनकी हेतुहेतुमद्भाव(४) संगति है । पादभेद किस प्रकार है ऐसी आशङ्का करके पादोंमें

(१) सर्वशक्तिमान् होना । (२) सबकी आत्मा होना । (३) इस श्लोकसे रत्नप्रभाकारने इस पादके सब अधिकरणोंका दिग्दर्शन कराया है । (४) कार्यकारण भाव ।

भाष्य

प्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि सन्दिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि। पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि सन्दिह्यन्ते—किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किञ्चिदिति। तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते—

भाष्यका अनुवाद

या नहीं ? वे भी ब्रह्मविषयक ही हैं, ऐसा निर्णय किया गया है। अब जिनमें ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है, उन वाक्योंके विषयमें सन्देह होता है कि क्या वे परब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं अथवा किसी दूसरे अर्थका प्रतिपादन करते हैं। उनका निर्णय करनेके लिए दूसरे और तीसरे पादका आरम्भ किया जाता है—

रत्नप्रभा

माह—**अर्थान्तरेति**। आकाशादिशब्दानां स्पष्टब्रह्मलिङ्गैः ब्रह्मणि समन्वयो दर्शितः। अस्पष्टब्रह्मलिङ्गवाक्यसमन्वयः पादद्वये वक्ष्यते। प्रायेण उपास्यज्ञेयब्रह्मभेदात् पादयोः अवान्तरभेद इति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिपाद्य वस्तुका भेद है ऐसा कहते हैं—"अर्थान्तर" इत्यादिसे। प्रथमपादमें आकाश आदि शब्दोंका स्पष्टब्रह्मलिङ्ग होनेसे ब्रह्ममें समन्वय दिखलाया है। अगले दो पादोंमें जिनमें ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है[1], उन वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय दिखलावेंगे। द्वितीय पादमें मुख्यरूपसे उपास्य ब्रह्मका निरूपण है और तृतीय पादमें ज्ञेय ब्रह्मका निरूपण है, यही इन दो पादोंका अवान्तर भेद है।

(१) जिन लिङ्गोंमें जीवादिविषयकत्वकी संभावना रहती है और स्वरसतया जीव आदिमें ही समन्वित हो सकनेके कारण जिनके ब्रह्मविषयकत्वका अभिभव हो जाता है, वे अस्पष्टब्रह्मलिङ्ग कहलाते हैं। प्रथमपादमें अंतरधिकरणमें यद्यपि रूपवत्त्व आदि लिङ्ग जीवविषयक प्रतीत होते हैं तो भी वे स्वरसतया ब्रह्मका भी प्रतिपादन करते हैं, अतः उनके ब्रह्मविषयकत्वका अभिभव नहीं है। आकाश और प्रस्ताववाक्यमें अन्यविषयक श्रुतिसे बाध कहकर उसका उद्धार किया गया है, ब्रह्मलिङ्ग तो स्पष्ट ही हैं। ज्योतिवाक्यमें भी प्रसिद्धि और श्रुतिसे पूर्वपक्ष है, लिङ्ग तो ब्रह्मके ही हैं। तेजोलिङ्ग तो कौक्षेय ज्योतिमें ही दिखाया गया है, परन्तु प्रकरणबलसे उसमें ब्रह्मलिङ्गत्व स्पष्ट ही है। प्रतर्दनवाक्यमें भी उपक्रम और उपसंहार वाक्यकी प्रबलतासे ब्रह्मविषयकत्व स्पष्ट है। अतः पूर्वपादमें विषयत्वेन उदाहृत सब वाक्य स्पष्टब्रह्मलिङ्गक ही हैं। द्वितीय और तृतीय पादमें तो विषयवाक्यगत लिङ्ग स्वरसतया जीवादिमें ही समन्वित होते हैं, अतः वहां ब्रह्मविषयकत्वका अभिभव है।

## [ १ सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरण सू० १–८ ]

*मनोमयोऽयं शारीर ईशो वा प्राणमानसे ।*
*हृदयस्थित्यणीयस्त्वे जीवे स्युस्तेन जीवगाः ॥ १ ॥*
*शमवाक्यगतं ब्रह्म तद्धितादिरपेक्षते ।*
*प्राणादियोगश्चिन्तार्थश्चिन्त्यं ब्रह्म प्रसिद्धितः ॥ २* ॥*

### [ अधिकरणसार ]

सन्देह—'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' इसमें उक्त मनोमय जीव है या परमेश्वर ?

पूर्वपक्ष—प्राण और मनसे सम्बन्ध होना, हृदयमें रहना एवं अतिसूक्ष्म होना जीवमें ही सम्भव है, अतः मनोमयत्व आदि धर्मोंका समन्वय होनेसे मनोमय जीव ही है ।

सिद्धान्त—'मनोमय' पदगत ( मयट् ) तद्धित और प्राणशरीरपदका बहुव्रीहिसमास 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस शमवाक्यमें प्रस्तुत ब्रह्मकी अपेक्षा करते हैं । ब्रह्ममें प्राण और मनका सम्बन्ध उपासनाके लिए कहा गया है । सब वेदान्त-वाक्योंमें उपास्यरूपसे प्रसिद्ध ब्रह्मका ही यहाँ ग्रहण करना उचित है, अतः मनोमय ब्रह्म ही है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि छान्दोग्यके तृतीय अध्यायमें शाण्डिल्यविद्यामें श्रुति है—"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः" ( छा० ३।१४।२ ) ( मनोमय प्रकाशरूप है और उसका प्राण ही शरीर है ) यहाँपर सन्देह होता है कि मनोमयपदसे जीव लिया जाय अथवा ब्रह्म ?

पूर्वपक्षी कहता है कि मनोमयपदसे जीवका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि मनके सम्बन्धका और प्राणके सम्बन्धका जीवमें ही अच्छी तरह समन्वय हो सकता है । 'मनका विकार ही मनोमय कहलाता है' इससे मनका सम्बन्ध और 'प्राण है शरीर जिसका उसे प्राणशरीर कहते हैं' इससे प्राणका संबन्ध स्पष्टतया प्रतीत होते हैं । ईश्वरमें मन और प्राणके सम्बन्धका समन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि 'अप्राणो ह्यमनाः' (ईश्वर प्राणरहित और मनरहित है) इत्यादि श्रुतिसे उसमें मन और प्राणके संबंधका निषेध है। दूसरी बात यह भी है कि 'एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्' ( यह मेरा आत्मा मेरे हृदयमें अत्यन्त अणुरूप है ) इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपादित हृदयमें स्थिति और अत्यन्त सूक्ष्मता निराधार और सर्वव्यापक परमात्मामें किसी प्रकार भी उपपन्न नहीं हो सकती, इसलिए मनोमयसे जीवका ही ग्रहण है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् शान्त उपासीत" इस शमविधिपरक पूर्व-वाक्यमें जो ब्रह्म प्रस्तुत है, वही यहाँपर 'मनोमय' 'प्राणशरीर' क्रमशः तद्धित और बहुव्रीहि समास घटित पदोंके विशेष्यरूपसे अभीष्ट है । शमवाक्यका यह अर्थ है कि यह सारा जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होने, ब्रह्ममें लीन होने और ब्रह्ममें जीनेके कारण ब्रह्म है इसलिए सर्वस्वरूप ब्रह्ममें राग, द्वेष आदि विषयोंका सम्भव न होनेसे उपासनाकालमें शान्त होवे । इस वाक्यमें प्रस्तुत ब्रह्मका

# सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

**पदच्छेद**—सर्वत्र, प्रसिद्धोपदेशात् ।

**पदार्थोक्ति**—सर्वत्र—सर्वेषु वेदान्तेषु, प्रसिद्धोपदेशात्—प्रसिद्धस्य जगत्कारणस्य ब्रह्मण एव 'सर्वं खल्विदं' इत्यादिवाक्ये उपक्रान्तस्य 'मनोमयः' इति वाक्ये उपास्यत्वेन उपदेशात् [ मनोमयः ब्रह्मैव न जीवः ] ।

**भाषार्थ**—सब वेदान्तोंमें प्रसिद्ध तथा 'सर्वं खल्विदं' इत्यादि वाक्यमें उपक्रान्त जगत्कारण ब्रह्मका ही 'मनोमय' वाक्यमें उपदेश है, अतः मनोमय ब्रह्म ही है, मनोमय जीव नहीं है ।
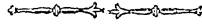
*भाष्य*

इदमाम्नायते—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत,

*भाष्यका अनुवाद*

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति०' ( निश्चय यह सब ब्रह्म ही है, क्योंकि उससे—ब्रह्मसे यह उत्पन्न हुआ है, उसमें लीन होता है और उसमें चेष्टा करता है,

*रत्नप्रभा*

छान्दोग्यवाक्यम् उदाहरति—**इदमिति** । तस्मात् जायते इति तज्जम्, तस्मिन् लीयते इति तल्लम्, तस्मिन्ननिति चेष्टते इति तदनम् । तज्जञ्च तल्लञ्च तदनञ्चेति तज्जलान् । कर्मधारयेऽस्मिन् शाकपार्थिवन्यायेन मध्यमपदस्य तच्छब्दस्य लोपः ।

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

छान्दोग्यवाक्यको उद्धृत करते हैं—"इदं" इत्यादिसे । यह जगत् उससे उत्पन्न होता है अतः 'तज्ज' कहलाता है, उसमें लीन होता है अतः 'तल्ल' कहलाता है, उससे व्यवहार करता है अतः 'तदन' कहलाता है, वही तज्ज और तल्ल एवं तदन है ऐसा कर्मधारय समास है । 'शाकप्रियः पार्थिवः—शाकपार्थिवः' इसमें जैसे मध्यम 'प्रिय' पदका लोप होता है, उसी प्रकार तज्ज, तल्ल, तदन पदोंके समासमें मध्यम तत् पदोंका लोप होकर 'तज्जलान्' ऐसा रूप बना

विशेष्यरूपसे अन्वय होनेपर मनोमयवाक्य भी ब्रह्मपरक ही होगा । यह भी नहीं कह सकते हैं कि ब्रह्मके साथ मन और प्राणका संबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि निर्गुण ब्रह्ममें मन और प्राणके संबन्धका सामंजस्य न होनेपर भी सोपाधिक उपास्य ब्रह्ममें ध्यानके लिए उनके संबन्धका सामञ्जस्य है ही । इसलिए सभी वेदान्तवाक्योंमें जो उपास्यरूपसे प्रसिद्ध है, वही ब्रह्म यहाँ भी उपास्यरूपसे कहा गया है । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही उपास्य है ।

भाष्य

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत, मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।१,२)

भाष्यका अनुवाद

इस कारण शान्त होकर उस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए। जीव सङ्कल्पमय है, पुरुष इस लोकमें जैसे सङ्कल्प करता है, इस लोकसे मरकर वैसा ही होता है। इसलिए पुरुषको मनोमय, प्राणशरीर और चैतन्यस्वरूपका ध्यान करना चाहिए)

रत्नप्रभा

तज्जलानम् इति वाच्ये छान्दसोऽवयवलोपः। इतिशब्दो हेतौ। सर्वमिदं जगद् ब्रह्मैव, तद्विवर्तत्वाद् इत्यर्थः। ब्रह्मणि मित्रामित्रभेदाभावात् शान्तो रागादिरहितो भवेद् इति गुणविधिः। स क्रतुम्—उपासनं कुर्वीत इति विहितोपासनस्य 'उपासीत'इत्यनुवादात् फलमाह—अथेति। क्रतुमयः संकल्पविकार इत्यर्थः। पुरुषस्य ध्यानविकारत्वं स्फुटयति—यथेति। इह यद् ध्यायति मृत्वा ध्यान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। वस्तुतः 'तज्जलानम्' रूप होना चाहिए किन्तु उसमें अन्तिम भाग 'अम्' का लोप हो जाता है, यह लोप छान्दस है। 'तज्जलानिति' में 'इति' शब्द हेतुवाचक है। ब्रह्मका विवर्त[1] होनेके कारण यह सब जगत् ब्रह्म ही है। ब्रह्ममें मित्र और शत्रुका भेद न होनेसे शान्त—रागादिरहित होना चाहिए, ऐसी गुणविधि[2] है। 'स क्रतुं०' (वह उपासना करे) इस प्रकार उपासनाका विधान है, उस उपासनाका 'उपासीत' पदसे अनुवाद किया गया है उसका फल कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे।

(१) विवर्त—अतात्त्विक अन्यथाभाव। ब्रह्मवादीके मतसे ब्रह्म ही सत्य है और जगत् ब्रह्मका अतात्त्विक अन्यथाभाव है। जिसने पूर्वरूपका त्याग नहीं किया, ऐसे ब्रह्मका रूपान्तर ( जगत्त्व ) जिसमें प्रकार है ऐसा प्रतीतिविषयत्व विवर्त है। ब्रह्मवादी वेदान्तियोंके मतानुसार कारण ही कार्यरूपसे भासता है, अतः कारण ही सत्य है, कार्य सत्य नहीं है। शुक्तिमें रजत-ज्ञान होनेके बाद अधिष्ठानभूत शुक्तिका ज्ञान होनेपर बाधज्ञानसे पहले जाना हुआ रजतत्व जैसे निवृत्त हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होनेपर जगत् आदि भेदप्रपञ्च निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार कारण ही कार्यरूपसे भासता है, यह वाद विवर्तवाद कहलाता है। यह सत्कार्यवाद है। सांख्य भी सत्कार्यवादी हैं, परन्तु वे परिणामवाद मानते हैं अर्थात् वे कारण का ही कार्यरूपसे परिणाम मानते हैं। परिणामवादमें कारण और कार्य अभिन्न हैं और सत्य हैं। विवर्त-वादमें भी कारण और कार्य अभिन्न हैं, परन्तु कारण ही सत्य है, कार्य मिथ्या है। रामानुजीय भी सांख्यके समान परिणामवाद मानते हैं। नैयायिक और माध्व असत्कार्यवादी हैं। उत्पत्तिके पहले कार्य है ही नहीं। अनन्तर कारण—सामग्रीसे कार्य उत्पन्न होता है और वह कारणसे भिन्न है। यह असत्कार्यवाद है।

(२) शान्ति गुण है, अतः शान्त होना गुणविधि कहलाती है।

भाष्य

इत्यादि । तत्र संशयः—किमिह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः शारीर आत्मोपास्यत्वेनोपदिश्यते, आहोस्वित् परं ब्रह्मेति । किं तावत्प्राप्तम् ?

शारीर इति । कुतः ? तस्य हि कार्यकरणाधिपतेः प्रसिद्धो मन-

भाष्यका अनुवाद

ऐसी श्रुति है । यहांपर संशय होता है कि क्या यहां मनोमयत्व आदि धर्मोंसे शारीर आत्माका उपास्यरूपसे उपदेश किया गया है अथवा परब्रह्मका । क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—शारीर आत्मा है, क्योंकि शरीर और इन्द्रियोंके अधिपति शारीर आत्माका मन आदिके साथ संबन्ध प्रसिद्ध है,[१] परब्रह्मका मन

रत्नप्रभा

महिम्ना तद्ध्येयरूपेण जायते इत्यर्थः । क्रतुमयः सङ्कल्पप्रधान इति वाऽर्थः । क्रतोः विषयमाह—**मन इति** । ब्रह्मेत्युपक्रमात् मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसङ्कल्पम् अन्तर्हृदये ध्येयम् इत्यर्थः । पूर्वत्र ब्रह्मलिङ्गैः अब्रह्मलिङ्गबाध उक्तः, न तथा इह उपक्रमे ब्रह्मणो लिङ्गमस्ति, किन्तु प्रकरणम् । तच्च शान्तिगुणविधानार्थम् अन्यथासिद्धम् । अतो जीवलिङ्गं बलीय इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—**शारीर इत्यादिना** । श्रुतिम् आशङ्क्य अन्यथासिद्ध्या परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रतुमय—सङ्कल्पविकार । पुरुष ध्यानविकार है इस बातको स्पष्ट करते हैं—''यथा'' इत्यादिसे । यहाँ जिसका ध्यान करते हैं मरनेके बाद ध्यानकी महिमासे उस ध्येयरूपसे जन्म पाते हैं । क्रतुमयका अर्थ सङ्कल्पप्रधान भी हो सकता है ध्यानका विषय कहते हैं—''मन'' इत्यादिसे । वाक्यके आरम्भमें ब्रह्मशब्द है, अतः उसके अनुसार लिङ्गव्यत्यास करके 'मनोमयं' आदि रूपसे शब्दप्रयोग समझना चाहिए । मनोमय, प्राणशरीर, चैतन्यरूप और सत्यसङ्कल्प है ऐसा हृदयमें ध्यान करे ऐसा अर्थ है । पूर्वपादमें ब्रह्मलिङ्गोंसे जिनमें ब्रह्मलिङ्ग नहीं है, उन भौतिक ज्योति आदिका बाध कहा गया है । यहाँ उस प्रकार उपक्रममें ब्रह्मलिङ्ग नहीं है परन्तु ब्रह्मका प्रकरण है । वह शान्तिरूप गुणका विधान करनेके लिए है अतः अन्यथासिद्ध

(१) यद्यपि जीव मनोविकार नहीं है, न प्राण जीवका शरीर है, अतः मनोमयत्व एवं प्राणशरीरत्व जीवलिङ्ग नहीं हो सकते हैं । यदि केवल मन तथा प्राणका संबन्ध कहा जाय तो वह संबन्ध ब्रह्मके साथ भी हो सकता है । ब्रह्म अप्राण है, अमनाः है ( प्राणरहित तथा मनरहित है ) ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे भी विरोध नहीं है, क्योंकि उस श्रुतिसे यहाँ बोध होता है कि मन तथा प्राण ब्रह्मके उपकरण अर्थात् सहायक नहीं हैं । तथापि 'यह मनुष्य धनवान् है' ऐसा कहनेसे धन और मनुष्यका स्वस्वामिभाव संबन्ध जैसे शीघ्र प्रतीत होता है उसी प्रकार

भाष्य

आदिभिः सम्बन्धो न परस्य ब्रह्मणः 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २।१।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति स्वशब्देनैव ब्रह्मोपात्तम्, कथमिह शारीर आत्मोपास्यत्वेन आशङ्क्यते। नैष दोषः। नेदं वाक्यं ब्रह्मोपासनाविधिपरम्, किं तर्हि? शमविधिपरम्। यत्कारणं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्याह। एतदुक्तं भवति—यस्मात् सर्वमिदं विकारजातं ब्रह्मैव, तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्च। न च सर्वस्यैकात्मत्वे रागादयः संभवन्ति, तस्माच्छान्त उपासीतेति। न च

भाष्यका अनुवाद

आदिसे सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि 'अप्राणो०' (प्राणसे रहित, मनसे रहित और शुभ्र) इत्यादि श्रुतियोंसे उसका मन आदिके साथ सम्बन्धका निषेध किया है। परन्तु 'सर्वं खल्विदं०' (निश्चय यह सब ब्रह्म ही है) इसमें स्वशब्दसे—ब्रह्मशब्दसे ही ब्रह्मका ग्रहण किया है, तो शारीर आत्मा उपास्य है, ऐसी आशङ्का क्यों की जाती है? नहीं, यह दोष नहीं है। यह वाक्य ब्रह्मकी उपासनाविधिका प्रतिपादक नहीं है। किन्तु शमविधिका प्रतिपादक है, क्योंकि श्रुति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म०' (निश्चय ही यह सब ब्रह्म है, क्योंकि यह जगत् उससे उत्पन्न हुआ है, उसमें लीन होता है और उसमें चेष्टा करता है इस कारण उस ब्रह्मका उपासक शान्त होवे) ऐसा कहती है। तात्पर्य यह है कि यह सारा प्रपञ्च ब्रह्म ही है, क्योंकि उससे उत्पन्न होता है, उसमें लीन होता है और उसमें चेष्टा करता है। और सब एकात्मक—ब्रह्मस्वरूप है अतः राग आदि

---

रत्नप्रभा

**नैष दोष इति**। शमविधिपरत्वे हेतुमाह—**यत्कारणमिति**। यत एवमाह, तस्मात् शमविधिपरम् इत्यन्वयः। **न च शमेति**। शमध्यानयोः विधौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। इसलिए जीवलिङ्ग बलवान् है, ऐसा प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष करते हैं—"शारीर" इत्यादिसे। श्रुतिकी शङ्का करके वह अन्यथासिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। 'सर्वं खल्विदं०' यह वाक्य शमविधिपरक है इस विषयमें कारण कहते हैं—"यत्कारणं" इत्यादिसे।

---

मनोमय, प्राणशरीर कहनेसे मन, प्राण और जीवका उपकरणोपकरणिभावरूप संबन्ध शीघ्र उपस्थित होता है, क्योंकि मन तथा प्राण जीवके भोगके उपकरण हैं। ब्रह्मके किसी कार्यमें भी सहायक नहीं है। अतः मनोमयत्व और प्राणशरीरत्व जीवलिङ्ग ही हैं।

भाष्य

शमविधिपरत्वे सत्यनेन वाक्येन ब्रह्मोपासनं नियन्तुं शक्यते । उपासनं तु 'स क्रतुं कुर्वीत' इत्यनेन विधीयते । क्रतुः सङ्कल्पो ध्यानमित्यर्थः । तस्य च विषयत्वेन श्रूयते—'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गम् । अतो ब्रूमो जीवविषयमेतदुपासनमिति । 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्याद्यपि श्रूयमाणं पर्यायेण जीवविषयमुपपद्यते । 'एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इति च हृदयायतनत्वमणीयस्त्वं च आराग्रमात्रस्य जीवस्याऽवकल्पते नाऽपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः । ननु 'ज्यायान्पृथिव्या' इत्याद्यपि न परिच्छिन्नेऽवकल्पत इति । अत्र ब्रूमः—न तावदणीयस्त्वं ज्यायस्त्वं

भाष्यका अनुवाद

संभव नहीं है, इस कारण ब्रह्मोपासक शान्त होवे। और शमविधिका प्रतिपादक होनेके कारण यह वाक्य ब्रह्मकी उपासनाका विधान नहीं कर सकता। उपासनाका तो 'स क्रतुं०' ( वह ध्यान करे ) इस वाक्यसे विधान किया गया है। 'क्रतु'—सङ्कल्प अर्थात् ध्यान। उस उपासनाविधिके विषयरूपसे 'मनोमयः०' ऐसी जीवलिङ्गकी श्रुति है। इस कारण ऐसा कहते हैं कि उपासना जीवविषयक है। 'सर्वकर्मा०' ( सर्वकर्मवाला, सर्वकामनावाला ) इत्यादि श्रुतिसे जो प्रतिपादित है वह भी अनेक जन्म परम्परासे जीवविषयक हो सकता है ) 'एष म आत्मा०' ( यह मेरी आत्मा हृदयके भीतर, व्रीहिसे अथवा यवसे भी छोटी है ) इस प्रकार हृदयमें रहना, छोटापन, आरके अग्रभाग सदृश सूक्ष्म होना ये धर्म जीवमें ही संभव हैं। निःसीम ब्रह्ममें नहीं हो सकते। परन्तु 'ज्यायान्०' ( पृथिवीसे बड़ा ) इत्यादि भी ( तो ) परिच्छिन्न जीवमें संभव नहीं है। इसपर कहते हैं—अणुत्व और महत्त्व दोनों एकमें नहीं रह सकते हैं क्योंकि

रत्नप्रभा

वाक्यभेदापत्तेः इत्यर्थः। जन्मपरम्परया जीवस्याऽपि सर्वकर्मत्वादिसम्भवम् आह—**सर्वकर्मेति**। सर्वाणि कर्माणि यस्य। सर्वे कामा भोग्या यस्य। सर्वगन्धः सर्वरस इत्यादिः आदिशब्दार्थः। **आराग्रमात्रस्येति**। तोत्रप्रोतायश्शलाकाग्र-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहा है इसलिए शमविधिपरक है ऐसा अन्वय है। "न च शम" इत्यादि। शम और ध्यान दोनोंका विधान हो तो वाक्यभेद होगा। जन्मपरम्परासे जीवमें भी सर्वकर्मत्व आदि धर्म हो सकते हैं, ऐसा कहते हैं—"सर्वकर्मा" इत्यादिसे। सब कर्म हैं जिसके वह सर्वकर्मा, ऐसा समास है। आदि पदसे सर्वगन्ध, सर्वरस आदिका ग्रहण है। "आराग्रमात्रस्य" आरके

*भाष्य*

**चोभयमेकस्मिन् समाश्रयितुं शक्यम् विरोधात् । अन्यतराश्रयणे च प्रथमश्रुतत्वादणीयस्त्वं युक्तमाश्रयितुम् । ज्यायस्त्वं तु ब्रह्मभावापेक्षया भविष्यतीति । निश्चिते च जीवविषयत्वे यदन्ते ब्रह्मसंकीर्तनं 'एतद् ब्रह्म' ( छा० ३।१४।४ ) इति, तदपि प्रकृतपरामर्शार्थत्वाद् जीवविषयमेव । तस्मान्मनोमयत्वादिभिर्धर्मैर्जीव उपास्य इति ।**

**एवं प्राप्ते ब्रूमः । परमेव ब्रह्म मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यम् । कुतः ? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । यत्सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दस्याऽऽलम्बनं जगत्कारणम्, इह च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्योपक्रमे श्रुतम्, तदेव मनो-**

*भाष्यका अनुवाद*

दोनोंका परस्पर विरोध है। दोनोंमेंसे एकका ग्रहण करना अभीष्ट हो तो श्रुतिमें पहले सुने गये अणुत्वका ही ग्रहण करना ठीक है। महत्त्व तो जीवमें ब्रह्मभावकी अपेक्षासे ( जीव ब्रह्म है, इस अपेक्षासे ) होगा। और जीवविषयत्वका निश्चय होनेपर जो अन्तमें 'एतद्ब्रह्म' ( यह ब्रह्म है ) इस प्रकार ब्रह्मका सङ्कीर्तन है, वह भी प्रस्तुतका परामर्शक होनेसे जीवविषयक ही है। इस कारण मनोमयत्व आदि धर्मोंसे जीव उपास्य है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं। यहां मनोमयत्व आदि धर्मोंसे परब्रह्म ही उपास्य है, क्योंकि सर्वत्र—वेदान्त वाक्योंमें प्रसिद्धका ही यहां उपदेश है। सब वेदान्तोंमें प्रसिद्ध ब्रह्मशब्दका आलम्बन जो जगत्कारण है और जो यहां वाक्यके आरंभमें 'सर्वं खल्विदं० ( निश्चय यह सब ब्रह्म

---

*रत्नप्रभा*

परिमाणस्य इत्यर्थः । सर्वत्र प्रसिद्धब्रह्मण एवाऽत्र उपास्यत्वोपदेशाद् न जीव उपास्य इति सूत्रार्थमाह—**सर्वत्रेति** । यत्र फलं नोच्यते तत्र पूर्वोत्तरपक्षसिद्धिः फलम् इति मन्तव्यम् । यद्यपि निराकाङ्क्षं ब्रह्म तथापि मनःप्रचुरम् उपाधिः अस्य, प्राणः शरीरम् अस्येति समासान्तर्गतसर्वनाम्नः सन्निहितविशेष्याकाङ्क्षत्वाद् ब्रह्म

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

अग्रभाग—चाबुकमें पिरोई हुई लोहेकी सलाईके अग्रभागके बराबर। सर्वत्र प्रसिद्ध जो ब्रह्म है वही उपास्य है, ऐसा यहाँ उपदेश है, अतः जीव उपास्य नहीं है, ऐसा सूत्रका अर्थ कहते हैं—"सर्वत्र" इत्यादिसे। जहाँ फल नहीं कहा जाता है, वहाँ पूर्वपक्षमें और उत्तरपक्षमें जिस जिस विषयकी सिद्धि होती है, उसीको तत्तत्पक्षका फल समझना चाहिए। यद्यपि ब्रह्म निराकाङ्क्ष है तो भी मनःप्रचुर है उपाधि जिसकी, प्राण है शरीर जिसका, इस प्रकार समासके

भाष्य

मयत्वादिधर्मैर्विशिष्टमुपदिश्यत इति युक्तम् । एवं च सति प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये न भविष्यतः । ननु वाक्योपक्रमे शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं न स्वविवक्षयेत्युक्तम् । अत्रोच्यते—यद्यपि शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं तथापि

भाष्यका अनुवाद

ही है ) इस प्रकार श्रुत है, मनोमयत्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट उसी ( ब्रह्म ) का उक्त श्रुतिमें उपदेश है, ऐसा कहना ठीक है । ऐसा माननेपर प्रकृतकी हानि और अप्रकृतकी प्रक्रिया नहीं होती। परन्तु वाक्यके उपक्रममें विधिकी विवक्षासे ब्रह्मका निर्देश किया है, स्वविवक्षा ( ब्रह्मविवक्षा ) से नहीं किया गया है ऐसा पीछे कहा गया है । इसपर कहते हैं—यद्यपि शमविधिकी विवक्षासे

रत्नप्रभा

सम्बध्यते । "स्योनं ते सदनं करोमि" इति संस्कारार्थसदनस्य निराकाङ्क्षस्याऽपि तस्मिन् सीदेति साकाङ्क्षतच्छब्देन परामर्शदर्शनाद् इत्याह—अत्रोच्यत इति । स्योनं पात्रम्, ते पुरोडाशस्य इति श्रुत्यर्थः । जीवोऽपि लिङ्गात् सन्निहित इत्यत आह—जीवस्त्विति । इदं हि लिङ्गद्वयं लोकसिद्धं जीवं न सन्निधापयति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्तर्गत सर्वनामको संनिहित विशेष्यकी आकांक्षा होनेसे ब्रह्मका संबन्ध होता है । 'स्योनं ते[२]०' ( तेरा सुखकर स्थान बनाता हूँ ) यहाँ संस्कारके लिए अपेक्षित स्थान यद्यपि निराकांक्ष है तो भी 'तस्मिन्०' ( उसमें बैठो ) इस प्रकार साकांक्ष तत् शब्दसे उसका ( स्थानका ) परामर्श होता है, [ उसी न्यायसे प्रकृतमें भी निराकांक्ष ब्रह्मका परामर्श किया जाता है ] ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे । स्योनं—समीचीन पात्र, ते–पुरोडाशका, ऐसा श्रुतिगत पदोंका अर्थ है । जीव भी अपने लिङ्गसे संनिहित है, इसपर कहते हैं—"जीवस्तु" इत्यादि । दोनों लिङ्ग लोकप्रसिद्ध जीवका

(१) प्रकरणप्राप्त ब्रह्ममें संभावित मनोमयत्व आदि धर्मका स्वीकार न करना एवं अप्रकृत जीवमें उन धर्मोंकी कल्पना करना ।

(२) दर्शपूर्णमास प्रकरणमें पुरोडाश—चरु बननेके बाद चरुपात्रके संस्कारके लिए 'स्योनं ते सदनं करोमि' यह मंत्र कहा गया है । मंत्रका यह अर्थ है—हे पुरोडाश ! तुम्हारे लिए सुखकर स्थान बनाता हूँ । घीकी धाराओंसे उसे रहने योग्य बनाता हूँ । हे अन्नोंके सारभूत पुरोडाश ! उस स्थानमें रहो । सन्तोषपूर्वक उस निरुपद्रव स्थानमें प्रवेश करो ।

भाष्य

मनोमयत्वादिषूपदिश्यमानेषु तदेव ब्रह्म संनिहितं भवति । जीवस्तु न संनिहितो न च स्वशब्देनोपात्त इति वैषम्यम् ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मका निर्देश किया है, तो भी मनोमयत्व आदिके उपदेशमें वही ब्रह्म संनिहित होता है। जीव तो संनिहित नहीं है और स्वशब्दसे (जीवशब्दसे) उसका ग्रहण भी नहीं किया है, जीव और ब्रह्ममें यह अन्तर है ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

दुःखिन उपास्त्ययोग्यत्वात् फलाभावाच्च, अतो विश्वजिन्न्यायेन सर्वाभिलषितम् आनन्दरूपं ब्रह्मैव उपासनाक्रियानुबन्धि इति भावः। किञ्च, ब्रह्मपदश्रुत्या लिङ्गबाध इत्याह—न चेति। अन्यतराकाङ्क्षानुगृहीतं फलवत् प्रकरणं विफललिङ्गाद् बलीय इति समुदायार्थः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सांनिध्य नहीं कराते हैं, क्योंकि दुःखी जीव उपासनाके योग्य नहीं है और उसकी उपासनासे कोई फल भी नहीं होता। अतः विश्वजिन्न्यायसे सबके अभीष्ट आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही उपासनाक्रियासे संबद्ध है, ऐसा तात्पर्य है और ब्रह्मपदका साक्षात् श्रवण है, अतः उस श्रुतिसे जीवलिङ्गका बाध होता है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। जीव और ब्रह्ममें एककी (ब्रह्मकी) आकांक्षासे अनुगृहीत और फलयुक्त प्रकरण निष्फल (जीवके) लिङ्गसे अधिक बलवान् है ऐसा समुदायार्थ है ॥ १ ॥

---
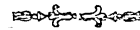
(१) पूर्वमीमांसाके चतुर्थाध्याय तृतीयपादके पञ्चय अधिकरणमें यह सन्देह किया गया है कि जिन विधिवाक्योंमें फलका श्रवण नहीं है और न अर्थवादवाक्योंमें फलका प्रतिपादन है, उन 'विश्वजिता यजेत' आदि विधियोंका क्या कोई यत्किञ्चित् फल है अथवा स्वर्ग फल है? इसमें पूर्वपक्ष होता है कि विशेष फलका श्रवण न होनेसे उनका कोई यत्किञ्चित् फल मानना ही ठीक है। 'इसपर 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' इस सूत्रसे सिद्धान्त करते हैं—उनका फल स्वर्ग ही है, क्योंकि सब लोग स्वर्गको ही चाहते हैं। स्वर्ग अर्थात् सुख। प्रपञ्चमें सुख कौन नहीं चाहता? अतः विशेष फलका श्रवण न होनेसे सर्वाभिलषित सुख ही फल माना जाता है। लोकव्यवहारमें भी यह बात प्रसिद्ध है कि कोई बगीचा, तालाब आदि बनवावे तो लोग कहते हैं कि 'इसने बाग आदि बनवाया है, अतः इसको अवश्य स्वर्ग मिलेगा' और यह भी देखा गया है कि जिन कर्मोंका फल स्वर्ग है, उन कर्मोंके विधानमें प्रायः फलनिर्देश नहीं होता है। अतः सिद्ध हुआ कि जिन विधियोंका फल निर्दिष्ट नहीं है उनका स्वर्ग ही फल समझना चाहिए। यह विश्वजिन्न्याय कहलाता है।

## विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

**पदच्छेद**—विवक्षितगुणोपपत्तेः, च ।

**पदार्थोक्ति**—विवक्षितगुणोपपत्तेः—उपासनार्थम् उपदिष्टानां सत्यसङ्कल्पत्व-भारूपत्वादिगुणानां ब्रह्मण्येव उपपत्तेः, च—अपि [ मनोमयः ब्रह्मैव, न जीवः ] ।

**भाषार्थ**—उपासनाके लिए उपदिष्ट सत्यसङ्कल्पत्व, भारूपत्व आदि गुणोंका ब्रह्ममें ही समन्वय हो सकता है । इस कारण भी मनोमय ब्रह्म ही है, जीव नहीं ।
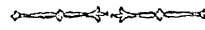
भाष्य

वक्तुमिष्टा विवक्षिताः । यद्यप्यपौरुषेये वेदे वक्तुरभावान्नेच्छार्थः संभवति तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते । लोके हि यच्छब्दाभिहितमुपादेयं भवति तद्विवक्षितमित्युच्यते, यदनुपादेयं तदविवक्षितमिति । तद्वद्वेदेऽप्युपादेयत्वेनाऽभिहितं विवक्षितं भवति, इतरदविवक्षितम् । उपादानानु-

भाष्यका अनुवाद

जिनका कथन अभीष्ट हो वे विवक्षित कहलाते हैं । यद्यपि अपौरुषेय वेदमें उसका कोई वक्ता न होनेके कारण इच्छारूप सन्के अर्थका संभव नहीं है । तो भी उपादेयगुणमें विवक्षितशब्दका उपचारसे प्रयोग होता है, क्योंकि इच्छाका फल उपादान है । वस्तुतः लोकमें भी शब्दसे अभिहित जो पदार्थ उपादेय होता है, वह विवक्षित कहलाता है और जो अनुपादेय है वह अविवक्षित कहलाता है । इसी प्रकार वेदमें भी उपादेयरूपसे वर्णित पदार्थ विवक्षित और उससे भिन्न अविवक्षित होता है । उपादान और अनुपादान तो

रत्नप्रभा

वस्तुनो विवक्षायाः फलमुपादानम्—स्वीकारः, स च प्रकृतेषु गुणेषु अस्तीति विवक्षोपचार इत्याह—**तथाप्युपादानेनेति** । ननु इदं ग्राह्यम्, इदं त्याज्यमिति धीर्विवक्षाधीना वेदे कुतः स्यादित्यत आह—**उपादानानुपादाने त्विति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

वस्तुकी विवक्षाका फल उपादान—स्वीकार है । यह फल प्रस्तुत सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व आदि गुणोंमें है, इससे विवक्षाका उपचार समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं—"तथाप्युपादानेन" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि यह ग्राह्य है, ऐसी बुद्धि विवक्षाके अधीन है, वह वेदमें किस प्रकार हो, इस आशङ्कापर कहते हैं—"उपादानानुपादाने तु"

भाष्य

पादाने तु वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते। तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्यसङ्कल्पप्रभृतयस्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवाऽवकल्पते। परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्मापहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यत्र 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति श्रुतम्। आकाशात्मेत्यादिनाऽऽकाशवदात्माऽस्येत्यर्थः। सर्वगतत्वादिभिर्धर्मैः संभवत्याकाशेन साम्यं ब्रह्मणः। 'ज्यायान्पृथिव्याः' इत्यादिना चैतदेव दर्शयति। यदाप्याकाश आत्मा यस्येति व्याख्यायते, तदापि संभवति सर्वजगत्कारणस्य सर्वात्मनो ब्रह्मण आकाशात्मत्वम्, अत एव 'सर्वकर्मा' इत्यादि। एवमिहोपास्यतया विवक्षिता गुणा ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। यत्तूक्तम्—'मनोमयः प्राण-

भाष्यका अनुवाद

वेदवाक्यके तात्पर्य और अतात्पर्यसे समझे जाते हैं। इसलिए यहां सत्यसंकल्प आदि जो विवक्षित गुण उपासनामें उपादेयरूपसे[1] उपदिष्ट हैं, वे परब्रह्ममें उपपन्न होते हैं। वस्तुतः सृष्टि, स्थिति और संहारमें अप्रतिहत[2] शक्ति होनेके कारण परमात्मा ही सत्यसंकल्प हो सकता है। 'य आत्मा०' (जो आत्मा पापरहित है) इसमें सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व परमात्माके गुणरूपसे प्रतिपादित हैं। 'आकाशात्मा' इत्यादिका आकाशके समान है आत्मा जिसकी ऐसा अर्थ है। सर्वगतत्व आदि धर्मोंसे आकाशके साथ ब्रह्मका साम्य (सादृश्य) संभव है। श्रुति 'ज्यायान्०' (पृथिवीसे बड़ा) इत्यादिसे यही दर्शाती है। और जब आकाश है आत्मा जिसकी ऐसा व्याख्यान होता है, तब भी सब जगत्‌का कारण सबकी आत्मा ब्रह्म आकाशकी आत्मा है ऐसा हो सकता है। इसी कारण ब्रह्मके लिए 'सर्वकर्मा' इत्यादिका निर्देश है। इस प्रकार यहां उपास्यरूपसे

रत्नप्रभा

तात्पर्यं नाम फलवदर्थप्रतीत्यनुकूलत्वं शब्दधर्मः, उपक्रमादिना तस्य ज्ञानात् तयोरवगम इत्यर्थः ॥ **तदिहेति**। तत् तस्मात् तात्पर्यवत्त्वाद् इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। तात्पर्य अर्थात् प्रयोजन युक्त अर्थके ज्ञानके अनुकूल होना, यह शब्दधर्म है। उपक्रम आदि लिङ्गोंसे तात्पर्यका ज्ञान होता है और तात्पर्यज्ञानसे ग्राह्य और त्याज्यका ज्ञान होता है। "तदिह" तत्—इसलिए अर्थात् वेद तात्पर्यवाला है इसलिए। ब्रह्म सर्वस्वरूप है,

(१) स्वीकार करने योग्य। (२) अकुण्ठित।

भाष्य

शरीरः' इति जीवलिङ्गं न तद् ब्रह्मण्युपपद्यत इति, तदपि ब्रह्मण्युपपद्यत इति ब्रूमः। सर्वात्मत्वाद्धि ब्रह्मणो जीवसम्बन्धीनि मनोमयत्वादीनि ब्रह्मसम्बन्धीनि भवन्ति। तथा च ब्रह्मविषये श्रुतिस्मृती भवतः–

"त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥"

( श्वे० ४।३ ) इति।

"सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥"

( गी० १३।१३ ) इति च। 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति श्रुतिः

भाष्यका अनुवाद

विवक्षित गुण ब्रह्ममें युक्त हैं। 'मनोमयः०' (मनोमय, प्राण है शरीर जिसका) यह जीवका लिङ्ग है और ब्रह्ममें युक्त नहीं है, ऐसा जो ( पूर्वपक्षीने ) कहा है, उस विषयमें वह (जीवलिङ्ग) भी ब्रह्ममें युक्त है, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि ब्रह्म सबकी आत्मा (स्वरूप ) है, अतः जीवसंबन्धी मनोमयत्व आदि धर्म उसके संबन्धी होते हैं। उसी प्रकार 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि०' ( तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो तुम कुमार और कुमारी हो, जो वृद्ध पुरुष दण्डके सहारे चलता है, वह भी तुम हो, उत्पन्न हुआ बालक भी तुम ही हो, तुम सर्वतोमुख हो ) यह श्रुति और 'सर्वतः पाणिपादं तत्०' ( सब दिशाओंमें उसके नेत्र, सिर और मुख हैं, सब दिशाओंमें उसके कान हैं, लोकमें सबका आवरण करके वह रहता है ) यह स्मृति ब्रह्मको सर्वस्वरूप तथा सर्वतोमुख बतलाती है। 'अप्राणो०' ( प्राणसे

---

रत्नप्रभा

सर्वात्मत्वे प्रमाणमाह—तथा चेति। जीर्णः स्थविरो यो दण्डेन वञ्चति—गच्छति सोऽपि त्वमेव, यो जातो बालः स त्वमेव, सर्वतः सर्वासु दिक्षु श्रुतयः श्रोत्राणि अस्येति सर्वतश्श्रुतिमत्, सर्वजन्तूनां प्रसिद्धाः पाण्यादयः तस्येति सर्वात्मत्वोक्तिः॥ २॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसमें प्रमाण कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। वृद्ध होनेसे जो दंड लेकर चलता है, वह भी तुम ही हो। सब दिशाओंमें जो श्रोत्रेन्द्रिय हैं वे ब्रह्मके ही हैं। सब प्राणियोंके प्रसिद्ध हाथ, पैर आदि उसके ही हैं, इस प्रकार ब्रह्मका सर्वात्मत्व समझना चाहिए॥२॥

भाष्य

शुद्धब्रह्मविषया। इयं तु 'मनोमयः प्राणशरीरः' इति सगुणब्रह्मविषयेति विशेषः। अतो विवक्षितगुणोपपत्तेः परमेव ब्रह्मेहोपास्यत्वेनोपदिष्टमिति गम्यते ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

रहित, मनसे रहित और पवित्र ) यह श्रुति निर्गुण ब्रह्मविषयक है, और 'मनोमयः०' ( मनोमय, प्राण है शरीर जिसका ) यह श्रुति तो सगुण ब्रह्मविषयक है, इतना भेद है। इससे सिद्ध होता है कि विवक्षित गुणोंकी उपपत्तिसे परब्रह्म ही यहां उपास्यरूपसे उपदिष्ट है ॥ २ ॥

## अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

**पदच्छेद**—अनुपपत्तेः, तु, न, शारीरः।

**पदार्थोक्ति**—अनुपपत्तेः—सत्यसङ्कल्पत्वादिविवक्षितगुणानां जीवे समन्वयाभावात्, शारीरः—जीवः, न—सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणैः न उपास्यः, तु—एव [ ब्रह्मैव उपास्यम् ]।

**भाषार्थ**—उपासनाके लिए विवक्षित सत्यसङ्कल्पत्व आदि गुणोंका जीवमें समन्वय नहीं हो सकता है, अतः जीव उक्त गुणोंसे उपास्य नहीं है, ब्रह्म ही उपास्य है।

भाष्य

पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता। अनेन तु शारीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते। तुशब्दोऽवधारणार्थः। ब्रह्मैवोक्तेन

भाष्यका अनुवाद

पूर्व सूत्रसे विवक्षित गुणोंकी ब्रह्ममें उपपत्ति दिखलाई गई है। अब इस सूत्रसे शारीर—जीवमें उन गुणोंका अभाव दिखलाते हैं। सूत्रगत 'तु' शब्द

---

रत्नप्रभा

ननु जीवधर्माः चेद् ब्रह्मणि योज्यन्ते तर्हि ब्रह्मधर्मा एव जीवे किमिति न योज्यन्ते, तत्राह—**अनुपपत्तेरिति**। सूत्रं व्याचष्टे—**पूर्वेणेति**। सर्वात्मत्वादिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि जीवमें रहनेवाले मनोमयत्व आदि धर्म ब्रह्ममें अन्वित किये जाते हैं तो ( जीव और ब्रह्ममें भेद न होनेसे ) ब्रह्मगत सत्यसङ्कल्पत्व आदि धर्म जीवमें ही क्यों न अन्वित किये जायँ, इसपर कहते हैं—"अनुपपत्तेः" इत्यादिसे। "पूर्वेण" इत्यादिसे सूत्रका व्याख्यान

भाष्य

न्यायेन मनोमयत्वादिगुणम्, न तु शारीरो जीवो मनोमयत्वादिगुणः, यत्कारणं 'सत्यसंकल्पः, आकाशात्मा, अवाकी, अनादरः, ज्यायान् पृथिव्याः' इति चैवंजातीयका गुणा न शारीरे आञ्जस्येनोपपद्यन्ते। शारीर इति शरीरे भव इत्यर्थः। नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति, सत्यम्, शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति। 'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्, आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च व्यापित्वश्रवणात्। जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात् ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

निश्चयवाचक है। पूर्वोक्त रीतिके अनुसार ब्रह्म ही मनोमयत्व आदि गुणोंसे सम्पन्न है, जीव मनोमयत्व आदि गुणोंसे युक्त नहीं है, क्योंकि सत्यसङ्कल्प, आकाशात्मा, इन्द्रियरहित, निःस्पृह, पृथिवीसे बड़ा, इस प्रकारके गुण जीवमें यथार्थरूपसे संगत नहीं होते। 'शारीर, अर्थात् शरीरमें रहनेवाला। परन्तु ईश्वर भी शरीरमें रहता है। ठीक है, शरीरमें रहता है, किन्तु शरीरमें ही रहता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि 'ज्यायान् पृथिव्याः०' ( पृथिवीसे बड़ा, अन्तरिक्षसे बड़ा ), 'आकाशवत्०' ( आकाशके समान सर्वव्यापक और नित्य ) इन श्रुतियोंसे वह व्यापक कहा गया है। जीव तो शरीरमें ही रहता है, क्योंकि वह भोगके अधिष्ठान शरीरको छोड़कर दूसरे स्थलपर नहीं रहता ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

उक्तन्यायः। कल्पितस्य धर्मा अधिष्ठाने सम्बध्यन्ते, न अधिष्ठानधर्माः कल्पिते इति भावः। वागेव वाकः सोऽस्यास्तीति वाकी न वाकी अवाकी अनिन्द्रिय इत्यर्थः। कुत्राप्यादरः कामोऽस्य नास्तीति अनादरः नित्यतृप्त इत्यर्थः। ज्यायस्त्वाद्यनुपपत्तौ शारीर इति परिच्छेदो हेतुः सूत्रोक्तः। स तु जीवस्यैव न ईश्वरस्य इत्याह—सत्यमित्यादिना ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं। 'ब्रह्मैवोक्तेन०' ( पूर्वोक्त न्यायसे ब्रह्म ही मनोमयत्व आदि गुणोंसे युक्त है ) इस भाष्यपंक्तिमें वर्णित पूर्वोक्त न्याय सर्वात्मत्व आदि है। कल्पित ( आरोपित ) पदार्थके धर्मोंका अधिष्ठानमें सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु अधिष्ठानके धर्म अरोपित वस्तुमें संबद्ध नहीं हो सकते ऐसा तात्पर्य है। वाक् ही वाक है और जिसके वाक है, वह वाकी कहलाता है, जो वाकी नहीं है वह अवाकी अर्थात् इन्द्रियरहित है। किसी भी वस्तुकी जिसको अभिलाषा नहीं है वह अनादर अर्थात् नित्यतृप्त कहलाता है। सूत्रमें कही गई शरीरस्थितिरूप मर्यादा जीवमें महत्त्व आदिकी अनुपपत्तिमें हेतु है अर्थात् सूत्रमें जीव शरीरमें रहता है इस प्रकार सीमाके निर्धारणसे जीवमें महत्त्वका निषेध होता है। उक्त सीमाका निर्धारण जीवमें ही है, ईश्वरमें नहीं है, ऐसा कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे ॥३॥

## कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

**पदच्छेद**—कर्मकर्तृव्यपदेशात्, च ।

**पदार्थोक्ति**—कर्मकर्तृव्यपदेशात्—'एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि' इति श्रुतौ 'एतं' इति प्रकृतस्य ब्रह्मणः प्राप्यत्वेन 'अभिसम्भवितास्मि' इति शारीरस्य कर्तृत्वेन व्यपदेशात्, च—अपि [ न शारीरः उपास्यः, किन्तु ब्रह्मैव मनोमयत्वादिगुणैः उपास्यम् ]

**भाषार्थ**—'एतमितः प्रेत्या०' इस श्रुतिमें 'एतं' इस पदसे पूर्व प्रकृत ब्रह्म प्राप्य कहा गया है और 'अभिसम्भवितास्मि' इससे जीव प्राप्तिकर्ता कहा गया है, इस कारण भी जीव उपास्य नहीं है, किन्तु मनोमयत्व आदि गुणोंसे ब्रह्म ही उपास्य है ।

*भाष्य*

**इतश्च न शारीरो मनोमयत्वादिगुणः, यस्मात् कर्मकर्तृव्यपदेशो भवति "एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि" ( छा० ३।१४।४ ) इति । एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणमुपास्यमात्मानं कर्मत्वेन—प्राप्यत्वेन व्यपदिशति । अभिसंभवितास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन—प्रापकत्वेन । अभिसंभवितास्मीति, प्राप्तास्मीत्यर्थः । न च सत्यां गतावेकस्य कर्मकर्तृव्यपदेशो युक्तः । तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव । तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादिविशिष्टः ॥ ४ ॥**

*भाष्यका अनुवाद*

'एतमितः प्रेत्या०' (इस शरीरसे छुटकारा पाकर उस आत्माको प्राप्त करूँगा) इस प्रकार श्रुतिमें कर्म और कर्तारूपसे दो पदार्थोंका उपदेश है, इससे भी जीवात्मा मनोमयत्व आदि गुणोंसे युक्त नहीं है । 'एतम्' पद प्रस्तुत मनोमयत्व आदि गुणोंसे युक्त उपास्य आत्माका कर्मरूपसे—प्राप्यरूपसे उपदेश करता है । 'अभिसंभवितास्मि' पद उपासक जीवात्माका कर्तारूपसे—प्रापकरूपसे उपदेश करता है । 'अभिसंभवितास्मि' अर्थात् प्राप्त करूँगा । दूसरे मार्गके रहते एकका ही कर्म और कर्तारूपसे उपदेश ठीक नहीं है । इसी प्रकार उपास्यभाव और उपासकभावका अधिष्ठान भी भिन्न ही है । इससे सिद्ध हुआ कि जीव मनोमयत्व आदि गुणविशिष्ट नहीं है ॥ ४ ॥

---

*रत्नप्रभा*

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च । प्रापकत्वेन व्यपदिशति इति सम्बन्धः । कर्मकर्तृव्यपदेशपदस्य अर्थान्तरमाह—**तथोपास्येति** ॥ ४ ॥

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

"कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च" । 'प्रापकत्वेन' का 'व्यपदिशति'के साथ सम्बन्ध है । 'कर्मकर्तृव्यपदेश' पदका दूसरा अर्थ कहते हैं—"तथोपास्य" इत्यादिसे ॥४॥

## शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

**पदार्थोक्ति**—शब्दविशेषात्—'अन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः' इति श्रुत्यन्तरे जीवपरमात्माभिधायकयोः सप्तम्यन्तप्रथमान्तान्तरात्मन्पुरुषशब्दयोः भेदात् [ न शारीरः उपास्यः, किन्तु ब्रह्मैवोपास्यम् ]

**भाषार्थ**—'अन्तरात्मन् पुरुषो०' इस अन्य श्रुतिमें सप्तमीविभक्त्यन्त 'अन्तरात्मन्' शब्द जीवका वाचक है और प्रथमान्त 'पुरुष' शब्द परमात्माका वाचक है, विभक्तिभेदसे शब्दभेद होता है, अतः इन शब्दोंसे प्रतिपाद्य जीव और ब्रह्म भी भिन्न भिन्न हैं, इस कारण जीव उपास्य नहीं है, ब्रह्म ही उपास्य है।

*भाष्य*

**इतश्च शारीरादन्यो मनोमयत्वादिगुणः, यस्माच्छब्दविशेषो भवति समानप्रकरणे श्रुत्यन्तरे—'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन्पुरुषो हिरण्मयः' ( श० ब्रा० १०।६।३।२ ) इति। शारीरस्याऽऽत्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति, तस्माद्विशिष्टोऽन्यः प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्याऽऽत्मनोऽभिधायकः। तस्मात्तयोर्भेदोऽधिगम्यते ॥ ५ ॥**

*भाष्यका अनुवाद*

और इससे भी मनोमयत्व आदि गुणवाला जीवसे भिन्न है, क्योंकि 'यथा व्रीहिर्वा यवो वा०' ( जैसे व्रीहि या यव या श्यामाक या श्यामाकतण्डुल है, इस प्रकार अन्तरात्मामें यह हिरण्मय पुरुष है ) इस समानार्थक श्रुतिमें शब्दका भेद है। 'अन्तरात्मन्' यह सप्तम्यन्त शब्द शारीर आत्मा अर्थात् जीवका अभिधान करता है और उससे भिन्न प्रथमान्त पुरुष शब्द मनोमयत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट परमात्माका अभिधान करता है। इससे उनमें भेद प्रतीत होता है ॥५॥

---

*रत्नप्रभा*

**शब्दविशेषात्**। एकार्थत्वं प्रकरणस्य समानत्वम्। अन्तरात्मन्निति विभक्तिलोपश्छान्दसः। शब्दयोः विशेषो विभक्तिभेदः, तस्मात् तदर्थयोः भेद इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

"शब्दविशेषात्"। अनेक प्रकरणोंका प्रतिपाद्य अर्थ यदि एक ही हो तो वे प्रकरण समान प्रकरण कहलाते हैं। 'अन्तरात्मन्' यहाँपर विभक्तिका लोप[१] छान्दस है। शब्दोंका विशेष अर्थात् विभक्तिभेद, इससे उन शब्दोंके अर्थका भी भेद है, ऐसा सूत्रका अर्थ है ॥५॥

---

(१) 'अन्तरात्मनि' इस पदके सप्तमीविभक्तिका लोप हुआ है। 'अन्तरात्मन्' यह वैदिक प्रयोग है।

## स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

**पदच्छेद**—स्मृतेः, च ।

**पदार्थोक्ति**—स्मृतेः—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इत्यादौ जीवब्रह्मणोः भेदस्मरणात्, च—अपि, [ जीवः न उपास्यः ] ।

**भाषार्थ**—'ईश्वरः सर्व०' ( हे अर्जुन ! शरीरधारी प्राणियोंको मायासे घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें रहता है ) इस स्मृतिमें जीव और ब्रह्मका भेद कहा गया है, इससे भी जीव उपास्य नहीं है ।
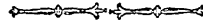
*भाष्य*

स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेदं दर्शयति—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥"(गी० १८।६१) इत्याद्या ।

अत्राह—कः पुनरयं शारीरो नाम परमात्मनोऽन्यः, यः प्रतिषिध्यते 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' इत्यादिना । श्रुतिस्तु—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा

*भाष्यका अनुवाद*

'ईश्वरः सर्वभूतानां०' ( हे अर्जुन ! शरीरधारी जीवोंको मायासे घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें रहता है ) इत्यादि स्मृति भी शारीर और परमात्मामें भेद दिखलाती है ।

पूर्वपक्षी—परमात्मासे अन्य शारीरनामक कौन है, जिसका कि 'अनुपपत्तेस्तु०' इत्यादिसे प्रतिषेध किया जाता है ? 'नान्योऽतोऽस्ति०' ( इससे अन्य द्रष्टा नहीं,

*रत्नप्रभा*

स्मृतौ हृदिस्थस्य जीवाद् भेदोक्तेः अत्रापि हृदिस्थो मनोमय ईश्वर इत्याह—**स्मृतेश्चेति** । भूतानि—जीवान् । यन्त्रम्—शरीरम् । अत्र सूत्रकृता सत्यभेद उक्त इति भ्रान्तिनिरासाय ईक्षत्यधिकरणे निरस्तमपि चोद्यमुद्भाव्य निरस्यति—

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

हृदयमें रहनेवाला ईश्वर जीवसे भिन्न है, ऐसा स्मृतिमें भी कहा गया है, इस कारण यहाँ भी हृदयमें रहनेवाला मनोमय ईश्वर है, ऐसा कहते हैं—"स्मृतेश्च" से । भूतानि—जीवोंको । 'यन्त्रम्'—शरीर । यहां सूत्रकारने सत्य भेद कहा है, इस भ्रान्तिका निराकरण करनेके लिए ईक्षत्यधिकरणमें निरस्त आक्षेपका पुनः अनुवाद करके निरसन करते हैं—

भाष्य

नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, ( बृ० ३।७।२३ ) इत्येवंजातीयका परमात्मनोऽन्यमात्मानं वारयति । तथा स्मृतिरपि—

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ।" ( गी० १३।२ ) । इत्येवंजातीयकेति ।

अत्रोच्यते–सत्यमेवैतत् । पर एवाऽऽत्मा देहेन्द्रियमनोबुद्‌ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते । यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते, तद्वत् । तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुध्यते प्राक् 'तत्त्वमसि' इत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात् । गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात् ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

इससे अन्य श्रोता नहीं ) इत्यादि श्रुतियां परमात्मासे अन्य आत्माका निषेध करती हैं । उसी प्रकार 'क्षेत्रज्ञं चापि मां०' ( हे अर्जुन ! सब क्षेत्रों—शरीरोंमें क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो ) इत्यादि स्मृति भी [ परमात्मासे अन्य आत्माका निषेध करती है ] ।

सिद्धान्ती—यह कथन सत्य है । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धिरूप उपाधियोंसे परिच्छिन्न परमात्माको ही अज्ञानी लोग शारीर कहते हैं । जैसे वस्तुतः अपरिच्छिन्न भी आकाश घट, कमण्डलु आदि उपाधियोंसे परिच्छिन्न-सा भासता है, उसी प्रकार । और अज्ञानियोंकी भ्रान्तिसे 'तत्त्वमसि' ( वह तू है ) इस प्रकार आत्माके एकत्वके उपदेशके पहले कर्मत्व, कर्तृत्व आदि भेदव्यवहार विरुद्ध नहीं है । आत्माका एकत्व समझनेपर तो बन्ध, मोक्ष आदि सब व्यवहारोंकी परिसमाप्ति ही हो जाती है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

अत्राहेत्यादिना । त्वदुक्तरीत्या वस्तुत एकत्वमेव, भेदस्तु कल्पितः सूत्रेष्वनूद्यते इत्याह—सत्यमिति ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अत्राह" इत्यादिसे । तुम्हारे कथनानुसार दोनोंमें वस्तुतः एकत्व ही है । भेद तो कल्पित है, उसका सूत्रमें अनुवाद होता है, ऐसा कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे ॥६॥

## अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वा-देवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

**पदच्छेद**—अर्भकौकस्त्वात्, तद्व्यपदेशात्, च, न, इति, चेत्, न, निचाय्यत्वात्, एवम्, व्योमवत्, च ।

**पदार्थोक्ति**—अर्भकौकस्त्वात्—अल्पस्थानस्थितत्वात्, तद्व्यपदेशाच्च—अणीयानिति स्वशब्देन अणीयस्त्वव्यपदेशाच्च [ जीव एव उपास्यः ], न—न परमात्मा उपास्यः, इति चेत्, न, एवम्—अर्भकौकस्त्वाणीयस्त्वादिविशिष्टत्वरूपेण निचाय्यत्वात्—परमात्मनः उपास्यत्वात्, व्योमवच्च—यथा सर्वगतमपि व्योम सूच्याद्यवच्छेदेन अर्भकौकोऽणीयश्च व्यपदिश्यते तद्वत् ब्रह्मापि व्यपदिश्यते, [ अतः ब्रह्मैवोपास्यम् ] ।

**भाषार्थ**—अल्प स्थान—हृदयमें स्थिति और 'अणीयान्' शब्दसे परमसूक्ष्मता कही गई है, अतः जीव ही उपास्य है, परमात्मा उपास्य नहीं है। यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि अर्भकौकस्त्व, अणीयस्त्व आदि धर्मोंसे परमात्मा ही उपास्य है, जैसे आकाश सर्वगत होनेपर भी सुईके छिद्रसे परिच्छिन्न होकर अर्भकौका और अणीयान् कहा जाता है, वैसे ही ब्रह्म भी उपाधिसंसर्गसे अर्भकौक, परम सूक्ष्म कहा जाता है, इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही उपास्य है ।

*भाष्य*

**अर्भकमल्पमोको नीडम्, 'एष म आत्मान्तर्हृदये' इति परिच्छिन्नायतनत्वात्, स्वशब्देन च 'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यणीयस्त्वव्यपदे-**

**भाष्यका अनुवाद**

'एष म आत्मा०' (यह आत्मा मेरे हृदयके मध्यमें है) इस प्रकार परिच्छिन्न स्थानके कारण अर्भक—अल्प ओक—नीड अर्थात् स्थान होनेसे और 'अणी-

*रत्नप्रभा*

अर्भकम् ओको यस्य सोऽर्भकौकाः तस्य भावः तत्त्वं तस्मात् आर्थिकमल्पत्वम् अणीयानित्यल्पत्ववाचकशब्देनापि श्रुतम् इत्याह—**स्वशब्देनेति** । नायं

**रत्नप्रभाका अनुवाद**

अर्भकं—छोटा, ओकः—स्थान जिसका है वह 'अर्भकौकाः' कहलाता है, उसमें रहनेवाला धर्म 'अर्भकौकस्त्व' है। यहांपर जिसका अधिष्ठान अल्प होता है, वह स्वरूपसे अल्प

(१) संकुचित। (२) अणुत्ववाचक अणीयान् शब्दसे।

भाष्य

शात्, शारीर एवाऽऽराग्रमात्रो जीव इहोपदिश्यते, न सर्वगतः परमात्मेति यदुक्तं तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—नायं दोषः। न तावत्परिच्छिन्नदेशस्य सर्वगतत्वव्यपदेशः कथमप्युपपद्यते, सर्वगतस्य तु सर्वदेशेषु विद्यमानत्वात् परिच्छिन्नदेशव्यपदेशोऽपि कयाचिदपेक्षया सम्भवति, यथा समस्तवसुधाधिपतिरपि हि सन्नयोध्याधिपतिरिति व्यपदिश्यते। कया पुनरपेक्षया सर्वगतः सन्नीश्वरोऽर्भकौका अणीयांश्च व्यपदिश्यत इति। निचाय्यत्वादेवमिति ब्रूमः। एवमणीयस्त्वादिगुणगणोपेत ईश्वरस्तत्र हृदयपुण्डरीके निचाय्यो द्रष्टव्य

भाष्यका अनुवाद

यान्०' (व्रीहिसे या यवसे भी अणु) इस प्रकार स्वशब्दसे विशेष अणुत्वका उपदेश होनेसे आरके अग्रभागके बराबर शारीर जीवका ही यहां उपदेश किया जाता है, सर्वगत परमात्माका नहीं किया जाता, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। यहां कहते हैं—यह दोष नहीं है। जिसका प्रदेश सीमित है, वह सर्वव्यापक किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता है। परन्तु सर्वव्यापक तो सब जगह विद्यमान है, इसलिए किसीकी अपेक्षा उसमें परिच्छिन्न देशका उपदेश भी संभव है। जैसे कि समस्त पृथिवीका अधिपति भी अयोध्याका अधिपति कहलाता है। परन्तु किसकी अपेक्षासे सर्वगत ईश्वर अल्पस्थानवाला और विशेष अणु कहा जाता है? ध्येय होनेके कारण वह 'अर्भकौका' और 'अणीयान्' कहलाता है, ऐसा हम

रत्नप्रभा

दोष इत्युक्तं विवृणोति—**न तावदिति**। कथमपि—ब्रह्मभावापेक्षयाऽपीत्यर्थः। परिच्छेदत्यागं विना ब्रह्मत्वासम्भवात् तत्त्यागे च ब्रह्मण एवोपास्यत्वमायाति इति भावः। विभोः परिच्छेदोक्तौ दृष्टान्तमाह—**यथा समस्तेति**। सर्वेश्वरस्य अयोध्यायां स्थित्यपेक्षया परिच्छेदोक्तिवत् अल्पहृदि ध्येयत्वेन तथोक्तिः इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है, ऐसा अर्थात् सूचित अल्पत्व श्रुतिमें 'अणीयान्' इस अल्पत्ववाचक शब्दसे भी कहते हैं—"स्वशब्देन" इत्यादिसे। 'यह दोष नहीं है' ऐसा जो कहा है, उसका विवरण करते हैं—"न तावत्" इत्यादिसे। 'किसी भी प्रकारसे'—ब्रह्मभावकी अपेक्षासे भी। परिच्छेदके त्यागके विना ब्रह्मत्व सम्भव नहीं है और उसका त्याग करनेसे ब्रह्म ही उपास्य होता है, ऐसा तात्पर्य है। विभुका भी परिच्छेद होता है इस कथनमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा समस्त" इत्यादिसे। जैसे सर्वेश्वरकी अयोध्यामें स्थितिकी अपेक्षासे परिच्छेद कहा जाता

भाष्य

उपदिश्यते। यथा शालग्रामे हरिः। तत्राऽस्य बुद्धिविज्ञानं ग्राहकम्। सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति। व्योमवच्चैतद् द्रष्टव्यम्। यथा सर्वगतमपि सद् व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयाऽर्भकौकोऽणीयश्च व्यपदिश्यते, एवं ब्रह्माऽपि। तदेवं निचाय्यत्वापेक्षं ब्रह्मणोऽर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च न पारमार्थिकम्। तत्र यदाशङ्क्यते, हृदयायतनत्वाद् ब्रह्मणो हृदयायतनानां च प्रतिशरीरं भिन्नत्वाद्भिन्नायतनानां च शुकादीनामनेकत्वसावयवत्वानि-

भाष्यका अनुवाद

कहते हैं। जैसे शालग्राममें हरिके ध्यानका उपदेश होता है, उसी प्रकार विशेष अणुत्व इत्यादि गुणोंसे युक्त ईश्वरका हृदयकमलमें ध्यान करना चाहिए, ऐसा उपदेश किया जाता है। वहां उसको बुद्धिविज्ञान ग्रहण कर सकता है। ईश्वर सर्वगत है, तो भी वहां उपासना करनेसे प्रसन्न होता है। और उसको आकाशके समान समझना चाहिए। जैसे आकाश सर्वगत है, तो भी सुईके छेद आदिकी अपेक्षासे अल्प स्थानवाला और विशेष अणु है, ऐसा उसका उपदेश होता है, उसी प्रकार ब्रह्मका भी उपदेश किया जाता है। इसलिए इस प्रकार ध्यान करनेकी योग्यताकी अपेक्षासे ब्रह्म अल्प स्थानवाला और विशेष अणु है, परमार्थतः उसमें अणुत्व आदि धर्म नहीं हैं। यहां पर जो यह आशङ्का की जाती है कि ब्रह्मका स्थान हृदय है, हृदय प्रत्येक शरीरमें भिन्न भिन्न हैं, और भिन्न स्थान

रत्नप्रभा

ननु किमिति हृदयमेव प्रायेण उच्यते, तत्राह—**तत्रेति**। हृदये परमात्मनो बुद्धिवृत्तिः ग्राहिका भवति। अत ईश्वराभिव्यक्तिस्थानत्वात् तदुक्तिः इत्यर्थः। व्योमदृष्टान्तासिना शङ्कालताऽपि काचिच्छिन्ना इत्याह—**तत्र यदाशङ्क्यत इत्यादिना**। भिन्नायतनत्वेऽपि व्योम्नः सत्यभेदाद्यभावादिति भावः॥ ७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, उसी प्रकार अल्प हृदयमें ध्येय होनेसे ब्रह्मका परिच्छेद कहा है। परन्तु हृदय ही मुख्यरूपसे ध्येयस्थान क्यों कहा गया है, इसपर कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। बुद्धिवृत्ति हृदयमें परमात्माका ग्रहण करती है। इस प्रकार हृदय ईश्वरकी अभिव्यक्तिका स्थान है, इसलिए उसे ध्येयस्थान कहा है। आकाशदृष्टान्तरूप तलवारसे अन्य शङ्का रूप लता भी काटी गई है, ऐसा कहते हैं—"तत्र यदाशङ्क्यते" इत्यादिसे। आकाशके स्थान भिन्न भिन्न हैं, तो भी उसमें सत्य भेद नहीं है [ उपाधिके परिच्छेदसे आकाशमें जैसे अनित्यत्व आदि देखनेमें नहीं आते, उसी प्रकार उपाधिके परिच्छेदसे परब्रह्ममें अनित्यत्व आदि दोष नहीं होते हैं ]॥ ७॥

भाष्य

त्यत्वादिदोषदर्शनाद् ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति, तदपि परिहृतं भवति ॥७॥

भाष्यका अनुवाद

वाले शुक आदि अनेक, अवयवयुक्त तथा अनित्य देखनेमें आते हैं, इस कारण ब्रह्म भी अनेक, अवयवयुक्त तथा अनित्य हो जायगा, इस आशङ्काका भी उपर्युक्त कथनसे परिहार हो जाता है ॥ ७ ॥

## सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

**पदच्छेद**—सम्भोगप्राप्तिः, इति, चेत्, न, वैशेष्यात् ।

**पदार्थोक्ति**—सम्भोगप्राप्तिः—[ परमात्मनः सर्वगतत्वे चेतनत्वाविशेषात् जीववत् ] सुखदुःखानुभवप्रसङ्गः, इति चेत्, न, वैशेष्यात्—जीवब्रह्मणोः भोक्तृत्वाभोक्तृत्वादिविशेषसद्भावात्, [ न जीवभोगेन परमात्मनः भोगप्राप्तिः, अतः मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैवोपास्य इति सिद्धम् ] ।

**भावार्थ**—परमात्मा यदि सर्वगत हो तो चेतन होनेके कारण जीवकी तरह सुखदुःखका अनुभव करनेवाला हो, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीव भोक्ता है परमेश्वर भोक्ता नहीं हैं इत्यादि भेदके कारण जीव और ब्रह्म भिन्न भिन्न हैं, अतः जीवके भोगसे ब्रह्ममें भोगका प्रसंग नहीं है । इससे सिद्ध हुआ कि मनोमयत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट परमात्मा ही उपास्य है ।

भाष्य

व्योमवत् सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धात्, चिद्रूपतया च शारीरादविशिष्टत्वात्, सुखदुःखादिसम्भोगोऽप्यविशिष्टः प्रसज्येत । एक-

भाष्यका अनुवाद

आकाशके समान सर्वव्यापक ब्रह्मका सब प्राणियोंके हृदयके साथ संबन्ध होने तथा चैतन्य होनेके कारण ब्रह्ममें और शरीरमें भेद नहीं है, इससे भी जीवकी तरह ब्रह्ममें भी सुख दुःख आदिका सम्भोग मानना पड़ेगा । और श्रुति

रत्नप्रभा

ब्रह्मणो हार्दत्वेऽनिष्टसंभोगापत्तेः जीव एव हार्द उपास्य इति शङ्कां व्याचष्टे—व्योमवदिति । ब्रह्म भोक्तृ स्यात्, हार्दत्वे सति चेतनत्वात् जीवाभिन्नत्वाच्च,

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म यदि हृदयस्थ हो, तो उसको अनिष्ट संभोग प्राप्त होंगे, अतः जीव ही हृदयस्थ है और उपास्य है ऐसी शङ्का करते हैं—"व्योमवत्" इत्यादिसे । हृदयमें रहकर चेतन होने तथा

भाष्य

त्वाच्च। नहि परस्मादात्मनोऽन्यः कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात् परस्यैव ब्रह्मणः संसारसम्भोगप्राप्तिरिति चेत्, न; वैशेष्यात्। न तावत् सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धात् चिद्रूपतया च शारीरवद् ब्रह्मणः सम्भोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमांश्च,

भाष्यका अनुवाद

प्रतिपादित एकत्वसे भी (उक्त प्रसङ्ग आवेगा)। 'नान्योऽतो०' (इससे अन्य विज्ञाता नहीं है) इत्यादि श्रुतियोंसे निश्चय होता है कि परमात्मासे अन्य कोई संसारी आत्मा नहीं है, इससे परमात्माको ही संसारभोगकी प्राप्ति होगी ऐसा यदि कहो, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्ममें परस्पर भेद है। सब प्राणियोंके हृदयके साथ संबन्ध होनेसे ही जीवके समान ब्रह्ममें भोगप्राप्तिका सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनोंमें भेद है। जीव और परमात्मामें भेद इस प्रकार है—एक—जीव कर्ता, भोक्ता, धर्म एवं अधर्म साधनवाला और सुख-दुःखादिमान् है, दूसरा—

रत्नप्रभा

जीववत् इत्युक्तं निरस्यति—न वैशेष्यादिति। धर्माधर्मवत्त्वम् उपाधिः इत्यर्थः। अयमेव विशेषो वैशेष्यम्। स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः, विशेषस्य अतिशयार्थो वा। धर्मादेः स्वाश्रये फलहेतुत्वम् अतिशयः, तस्मादिति सूत्रार्थः। किञ्च, विभवो

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवसे अभिन्न होनेके कारण जीवोंकी तरह ब्रह्म भोक्ता है, इस पूर्वोक्त अनुमानका निराकरण करते हैं—"न वैशेष्यात्" इत्यादिसे। उक्त अनुमानमें 'धर्माधर्मवत्त्व' उपाधि[1] है। यह धर्माधर्मवत्त्व ही भेदक है। 'वैशेष्यात्' इस शब्दमें 'ष्यञ्' प्रत्यय स्वार्थमें है। अथवा अतिशयवाचक है। धर्म आदिका अपने आश्रय जीवमें होनेवाले सुख आदिके प्रति कारण होना अतिशय है।

(१) 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः' जो साध्यका व्यापक हो और साधनका अव्यापक हो, वह उपाधि कहलाती है। प्रकृतमें 'भोक्तृत्व' साध्य है, 'हार्दत्वे सति चेतनत्व' और 'जीवाभिन्नत्व' साधन हैं। धर्माधर्मवत्त्वरूप उपाधि साध्यव्यापक है अर्थात् जहाँ जहाँ भोक्तृत्व है, वहाँ धर्माधर्मवत्त्व है, जीव भोक्ता है और धर्माधर्मवाले है। साधनका अव्यापक है अर्थात् जहाँ जहाँ साधन है वहां सर्वत्र उपाधि नहीं है, हृदयस्थ चेतन तथा जीवाभिन्न ब्रह्म भी है उसमें धर्माधर्मवत्त्व नहीं है, क्योंकि ब्रह्म निर्धमक है। अनुमानमें उपाधि लगनेसे उस अनुमानसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता।

भाष्य

एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य। यदि च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसम्बन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः। सर्वगतानेकात्मवादिनामपि समावेतौ चोद्यपरिहारौ। यद्यपि एकत्वाद् ब्रह्मण आत्मान्तराभावाच्छारीरस्य भोगेन ब्रह्मणो भोगप्रसङ्ग इति। अत्र वदामः—इदं तावद् देवानांप्रियः प्रष्टव्यः—कथमयं त्वयाऽऽत्मान्तराभावोऽध्यवसित इति। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिशास्त्रेभ्य

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्म उससे विपरीत पापरहितत्व ( पापका न होना ) आदि गुणोंसे युक्त है। इस प्रकार इन दोनोंमें भेद होनेके कारण एकको सुख, दुःख आदिका भोग प्राप्त होता है, दूसरेको नहीं। यदि वस्तुशक्तिका आश्रय किये बिना संनिधानमात्रसे कार्यके साथ संबन्ध माना जाय तो आकाश आदिमें भी दाह आदि मानने पड़ेंगे। जिन लोगोंका यह मत है कि जीव सर्वव्यापक तथा अनेक हैं, उनके मतमें भी यह शङ्का और समाधान समान ही हैं। यह जो कहा है कि ब्रह्मके एकत्वसे अन्य आत्माका अभाव है, इससे शारीरके भोगसे ब्रह्मको भोगका प्रसङ्ग आवेगा। उसपर कहते हैं—प्रथम तो इस मूढ़से यह पूछना चाहिए कि परमात्मासे अन्य आत्माके अभावका निश्चय तुमने किस प्रमाणसे किया है? यदि कहे कि 'तत्त्वमसि' ( वह तू है ) 'अहं ब्रह्मास्मि' ( मैं ब्रह्म हूँ ) 'नान्योऽतो०' ( इससे अन्य विज्ञाता नहीं है ) इत्यादि शास्त्रोंसे [ यह निर्णय किया है ], तो [ हम कहते

रत्नप्रभा

बहव आत्मान इति वादिनाम् एकस्मिन् देहे सर्वात्मनां भोक्तृत्वप्रसङ्गः, स्वकर्मार्जित एव देहे भोग इति परिहारश्च तुल्य इति न वयं पर्यनुयोज्या इत्याह—सर्वगतेति। वस्तुतस्तेषामेव भोगसाङ्कर्यम् इत्यग्रे वक्ष्यते। ब्रह्मणो

रत्नप्रभाका अनुवाद

उस वैशेष्यसे, यह सूत्रका अर्थ है। और व्यापक बहुत आत्मा हैं ऐसा माननेवालोंको भी एक ही देहमें सब आत्माओंको भोक्ता मानना पड़ेगा—यह शङ्का और अपने कर्मसे सम्पादित देहमें ही भोग होता है—यह परिहार समान हैं, इस कारण हमसे ऐसा प्रश्न न करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"सर्वगत" इत्यादिसे। वस्तुतः तो उनके मतमें ही भोगसाङ्कर्य होता है, यह आगे

(१) आशय यह है कि वह्निमें दाहकता शक्ति है, अतः वह्निसे दाहरूप कार्य होता है। आकाश सर्वगत है उससे वह्निका सान्निध्य रहता ही है, उस सांनिध्यसे आकाशमें भी दाह मानना पड़ेगा।

भाष्य

इति चेत्, यथाशास्त्रं तर्हि शास्त्रीयोऽर्थः प्रतिपत्तव्यो न तत्राऽर्धजरतीयं लभ्यम्। शास्त्रं च 'तत्त्वमसि' इत्यपहतपाप्मत्वादिविशेषणं ब्रह्म शारीरस्याऽऽत्मत्वेनोपदिशच्छारीरस्यैव तावदुपभोक्तृत्वं वारयति। कुतस्तदुपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः।

भाष्यका अनुवाद

हैं कि] शास्त्रके अनुसार शास्त्रीय अर्थ समझना चाहिए, उसमें अर्धजरतीय युक्त नहीं है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्र तो पापरहितत्व आदि विशेषणोंसे युक्त ब्रह्मका शारीरके आत्मारूपसे उपदेश करता हुआ शारीरके ही भोक्तृत्वका निषेध करता है। ऐसी स्थितिमें उसके उपभोगसे ब्रह्मके उपभोगका प्रसङ्ग कैसे प्राप्त हो सकता है?

रत्नप्रभा

जीवाभिन्नत्वं श्रुत्या निश्चित्य तेन भोक्तृत्वानुमाने उपजीव्यश्रुतिबाधमाह—यथाशास्त्रमिति। अर्धं मुखमात्रं जरत्या वृद्धायाः कामयते, न अङ्गानि इति सोऽयमर्धजरतीयन्यायः। स च अत्र न युक्तः। नहि अभेदम् अङ्गीकृत्य अभोक्तृत्वं त्यक्तुं युक्तम्, श्रुत्यैव अभेदसिद्ध्यर्थं भोक्तृत्ववारणात् इत्याह—शास्त्रं चेति। ननु एकत्वं मया श्रुत्या न गृहीतम्, येन उपजीव्यश्रुत्या बाधः स्यात्, किन्तु त्वदुक्त्या गृहीतम् इत्याशङ्क्य बिम्बप्रतिबिम्बयोः कल्पितभेदेन भोक्तृत्वाभोक्तृत्वव्यवस्थोपपत्तेः अप्रयोजको

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहेंगे। ब्रह्म जीवसे अभिन्न है ऐसा श्रुतिसे निश्चय करके उससे ब्रह्ममें भोक्तृत्वका अनुमान करें, तो उपजीव्य श्रुतिका बाध हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"यथाशास्त्रम्" इत्यादिसे। जरती—वृद्धस्त्रीके मुखमात्रको पुरुष चाहता है, अन्य अङ्गोंको नहीं चाहता, यह अर्धजरतीयन्याय है। यह न्याय यहां युक्त नहीं है। ब्रह्म और जीवमें अभेदका अङ्गीकार कर ब्रह्ममें अभोक्तृत्वका त्याग करना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति ही अभेद सिद्ध करनेके लिए जीवमें भोक्तृत्वका निषेध करती है, ऐसा कहते हैं—"शास्त्रं च" इत्यादिसे। हमको ब्रह्म और जीवका अभेदज्ञान श्रुतिसे नहीं हुआ है, जिससे कि उपजीव्य श्रुतिका बाध होगा, किन्तु तुम्हारे कथनसे वह ज्ञान हुआ है, ऐसी आशङ्का कर बिम्ब और प्रतिबिम्बमें कल्पित भेदसे बिम्ब—ब्रह्म अभोक्ता है और प्रति-

(१) आनन्दगिरिकी टीकामें इस न्यायको इस प्रकार समझाया है—'नहि कुक्कुटादेरेकदेशो भोगाय वधिकैः पच्यते एकदेशस्तु प्रसवाय कल्प्यते विरोधात्' कुक्कुटी आदिका एक भाग भोजनके लिए पकाया जाय और दूसरा भाग प्रसव ( अंडे देने ) के लिए रक्खा जाय यह युक्त नहीं है, क्योंकि विरोध है। आनन्दगिरि अर्धजरतीयन्यायका ऐसा व्याख्यान करें, यह सम्भव नहीं है। सम्भव है उनकी भाष्यपुस्तकमें 'अर्द्धकुक्कुटीयन्याय' पाठ हो, प्रकृतस्थलमें दोनों न्याय संगत हैं, दोनोंका आशय भी एक ही है।

भाष्य

अथाऽगृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वं तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः। नहि बालैस्तलमलिनतादिभिर्व्योम्नि विकल्प्यमाने तलमलिनतादिविशिष्टमेव परमार्थतो व्योम भवति। तदाह—न वैशेष्यादिति। नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानयोः। मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः, सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम्। न च मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्पृश्यते। तस्मान्नोपभोगगन्धोऽपि शक्य ईश्वरस्य कल्पयितुम् ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

यदि शारीरका ब्रह्मके साथ अभेद ज्ञान नहीं हुआ, तो शारीरको मिथ्याज्ञानसे उपभोग उत्पन्न होता है, परमार्थरूप ब्रह्मको उसका संस्पर्श नहीं है। अज्ञानी आकाशमें तलमलिनता आदिकी कल्पना करते हैं, उससे आकाश वस्तुतः तलमलिनता आदिसे युक्त नहीं होता। इसलिए सूत्रकार कहते हैं—'न वैशेष्यात्'। एकत्व होनेपर भी शारीरके उपभोगसे ब्रह्ममें उपभोगका प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि भेद है। वस्तुतः मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानमें भेद है। उपभोग मिथ्याज्ञानसे कल्पित है और एकत्व सम्यग्ज्ञानसे दिखता है। सम्यग्ज्ञानसे देखी हुई वस्तु मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगसे संबन्ध नहीं रखती। इस कारण ईश्वरमें लेशमात्र भी उपभोगकी कल्पना नहीं की जा सकती है ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

हेतुः इत्याह—अथागृहीतमित्यादिना। कल्पितासङ्गित्वम् अधिष्ठानस्य वैशेष्यम् इत्यस्मिन् अर्थेऽपि सूत्रं पातयति—तदाहेति। ब्रह्मणो हार्दत्वे बाधकाभावात् शाण्डिल्यविद्यावाक्यं ब्रह्मणि उपास्ये समन्वितमिति सिद्धम् ॥८॥(१)

रत्नप्रभाका अनुवाद

बिम्ब—जीव भोक्ता है, यह व्यवस्था हो सकती है, इसलिए तुमसे कहा गया हेतु अप्रयोजक है, ऐसा कहते हैं—"अथागृहीतम्" इत्यादिसे। कल्पित पदार्थसे अधिष्ठानका संबन्ध नहीं होता यह अधिष्ठानगत विशेष है, इस विषयमें भी सूत्रकी योजना करते हैं—"तदाह" इत्यादिसे। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मकी हृदय स्थितिमें कोई बाधक नहीं है, अतः शांडिल्यविद्यामें पठित 'मनोमयः प्राणशरीरः' यह वाक्य उपास्य ब्रह्ममें समन्वित है ॥ ८ ॥
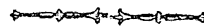
## [ २ अत्त्रधिकरण सू० ९-१० ]

जीवोऽग्निरीशो वाऽत्ता स्यादोदने जीव इष्यताम्।
स्वाद्वत्तीति श्रुतेर्वह्निर्वाग्निरन्नाद इत्यदः ॥१॥
ब्रह्मक्षत्रादिजगतो भोज्यत्वात् स्यादिहेश्वरः।
ईशप्रश्नोत्तरत्वाच्च संहारस्तस्य चातृता * ॥२॥

## [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च०' इस मंत्रमें प्रतीयमान अत्ता—भोक्ता जीव है या अग्नि अथवा परमेश्वर ?

**पूर्वपक्ष**—जीव भोक्ता है, क्योंकि श्रुतिमें 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' ( उन दोनोंमें एक मधुर कर्मफल भोगता है) जीव भोक्ता कहा गया है। अथवा अग्नि भोक्ता हो सकती है, क्योंकि 'अग्निरन्नादः' (अग्नि अन्नभक्षक है) इस श्रुतिमें अग्नि अन्नभक्षक कही गई है।

**सिद्धान्त**—श्रुतिमें 'ब्रह्म' 'क्षत्र'पद उपलक्षक हैं अर्थात् समस्त जगत् भक्ष्य होनेसे यहांपर अत्तारूपसे ईश्वर ही लिया जाता है। दूसरी बात यह भी है कि उक्त वाक्य ईश्वर विषयक प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है, अतः ईश्वर ही अत्ता है। अत्ता अर्थात् संहारकर्ता। जगत्का संहार ईश्वर ही करता है।

---

* निष्कर्ष यह है कि कठोपनिषद्में द्वितीय वल्लीके अन्तमें "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।" यह मन्त्र पढ़ा गया है। इस मन्त्रका अर्थ है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियाँ जिसकी भक्ष्य हैं, मृत्यु जिसके भक्ष्यका संस्कार करनेवाला अर्थात् घृतरूप है, वह महापुरुष जिस स्थानमें रहता है उसे यथार्थरूपसे कौन जानता है? अर्थात् कोई भी नहीं जानता। यहांपर ओदन (भक्ष्य) और उपसेचन (घी) इन दो पदोंसे किसी भक्षककी प्रतीति होती है। उसके विषयमें तीन तरहका संशय होता है कि वह जीव है अथवा अग्नि है या परमेश्वर है?

( २ ) पूर्वपक्षी कहता है कि यहां जीव ही भक्षक हो सकता है, क्योंकि 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' ( उन दोनोंमेंसे एक मधुर कर्मफलोंका भोग करता है ) इस श्रुतिमें जीव भक्षक कहा गया है। अथवा अग्नि भक्षक हो सकती है, क्योंकि 'अग्निरन्नादः' ( अग्नि अन्नभक्षक है ) इस श्रुतिमें अग्नि भक्षक कही गई है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि यहांपर 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' पद सारे संसारके उपलक्षक हैं, अतः सारा संसार ही भक्ष्यरूपसे प्रतीत होता है। संसाररूप भक्ष्यका ईश्वरको छोड़कर दूसरा भक्षक नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि

"अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्राऽस्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥" (क० १।२।१४)

( धर्म और अधर्मसे अतिरिक्त कार्य और कारणसे पृथक् एवं भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानसे भिन्न जिस वस्तुको आप जानते हैं, उसका मेरे लिए उपदेश कीजिए ) इस प्रकार धर्म, अधर्म, कार्य,

## अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—अत्ता, चराचरग्रहणात् ।

पदार्थोक्ति—अत्ता–[ 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः' इत्यादि-श्रुतौ प्रतीयमानः ] भक्षकः [ परमात्मैव, नाग्निः जीवो वा, कुतः ] चराचर-ग्रहणात्—उक्तश्रुतौ लक्षणया स्थावरजङ्गमयोरद्यत्वेन ग्रहणात् [ सर्वसंहर्तारं परमात्मानं विनाऽन्यस्य चराचरात्तृत्वायोगात् ] ।

भाषार्थ----"यस्य ब्रह्म च०' इस श्रुतिमें प्रतीयमान भक्षक परमात्मा ही है, अग्नि अथवा जीव नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्यमें ब्रह्मपद और क्षत्रपदकी लक्षणासे स्थावर तथा जङ्गमरूप सकल जगत्का भक्ष्यरूपसे ज्ञान होता है । सर्वसंहारक परमात्माके बिना और कोई सकल जगत्का भक्षक नहीं हो सकता ।
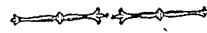
भाष्य

कठवल्लीषु पठ्यते—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्यु-र्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' ( १।२।२४ ) इति । अत्र कश्चिदो-

भाष्यका अनुवाद

'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च०' ( ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जिसके ओदन हैं और मृत्यु जिसका उपसेचन—ओदनके साथ मिलाने योग्य घी है, वह जहां है, इस

रत्नप्रभा

अत्ता चराचरग्रहणात् । यस्य ब्रह्मक्षत्त्रादिजगद् ओदनः, मृत्युः सर्व-प्राणिमारकोऽपि यस्य उपसेचनम्—ओदनसंस्कारकघृतप्रायः, सोऽत्ता यत्र शुद्धे चिन्मात्रेऽभेदकल्पनया वर्तते, तच्छुद्धं ब्रह्म इत्था—इत्थम् ईश्वरस्याऽपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

'अत्ता चराचरग्रहणात्' । जिस परमात्माका ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जगत् अन्न है, और सर्वप्राणिनाशक मृत्यु भी जिसका उपसेचन—ओदनका संस्कार करनेवाला घृत है, वह अत्ता—भक्षक, कारणात्मा, जिस शुद्ध चिन्मात्रमें अभेदसे रहता है, वह शुद्ध ब्रह्म ईश्वरका भी अधि-

---

कारण, भूत, भविष्यत् और वर्तमानसे पृथक् परमेश्वरके विषयमें नचिकेता द्वारा प्रश्न किये जानेपर 'यस्य ब्रह्म च' इस वाक्य द्वारा यमने उत्तर दिया । इससे सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त वाक्यमें भक्षकरूपसे ईश्वर ही लिया जाता है । यदि कहो कि "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" ( उनमें दूसरा अर्थात् ईश्वर भोग न करता हुआ केवल देखता है ) यह श्रुति ईश्वरमें भोक्तृत्वका निषेध करती है । यहांपर अत्ताका अर्थ संहारकर्ता है । संहारकर्तृत्व तो ईश्वरमें ही सब वेदान्तोंमें प्रसिद्ध है ।

भाष्य

**दनोपसेचनसूचितोऽत्ता प्रतीयते। तत्र किमग्निरत्ता स्यात्, उत जीवः, अथवा परमात्मा, इति संशयः, विशेषानवधारणात्, त्रयाणां चाऽग्निजीव-परमात्मनामस्मिन् ग्रन्थे प्रश्नोपन्यासोपलब्धेः। किं तावत्प्राप्तम् ?**

भाष्यका अनुवाद

प्रकार उसको कौन जानता है ) ऐसा कठवल्लीमें कहा है। यहांपर ओदन और उपसेचनसे सूचित किसी एक भक्षककी प्रतीति होती है। वह भक्षक क्या अग्नि है, या जीव है, या परमात्मा है ? ऐसा संशय प्राप्त होता है। इस ग्रन्थमें अग्नि, जीव और परमात्मा इन तीनोंके प्रश्नोंका निर्देश दिखाई देता है, इसलिए अमुक ही लिया जाय ऐसा निश्चय नहीं है। तब क्या प्राप्त होता है ?

---

रत्नप्रभा

अधिष्ठानभूतं को वेद, चित्तशुद्ध्याद्युपायं विना कोऽपि न जानाति इत्यर्थः। संशयबीजमाह—**विशेषेति**। "स त्वमग्निं प्रब्रूहि" (क० १।१३) इति अग्नेः, "येयं प्रेते विचिकित्सा" (क० १।२१) इति जीवस्य, "अन्यत्र धर्माद्" (क० २।१४) इति ब्रह्मणः प्रश्नः। "लोकादिमग्निं तमुवाच" (क० १।१५) इति अग्नेः, "हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि" (क० २।६) इति इतरयोः प्रतिवचन-मुपलभ्यते इत्यर्थः। पूर्वत्र ब्रह्मणो भोक्तृत्वं नास्ति इति उक्तम्, तदुपजीव्य पूर्वपक्षयति—**किं तावदिति**। अग्निप्रकरणम् अतीतम् इति अरुचेः आह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ष्ठानभूत है, यह कौन जानता है। चित्तशुद्धि आदि उपायोंके विना कोई भी नहीं जानता, ऐसा अर्थ है। संशयका कारण कहते हैं—"विशेष" इत्यादिसे। 'स त्वमग्निं०' ( हे मृत्यो ! तुम स्वर्ग-लोक प्राप्त करनेके साधनभूत अग्निको जानते हो, उसको जाननेकी मुझे बड़ी श्रद्धा है, इसलिए श्रद्धायुक्त मुझको उसका उपदेश करो ) यह अग्निसंबन्धी प्रश्न है, 'येयं प्रेते०' ( मनुष्यके मरने पर परलोकमें शरीर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिसे भिन्न देहान्तरसंबन्धी आत्मा है, ऐसा कितने ही मानते हैं, और नहीं है ऐसा कितने ही मानते हैं इसमें संशय होनेसे हमको निर्णयज्ञान नहीं होता, परम पुरुषार्थ निर्णयके अधीन है, इसलिए हे मृत्यो ! तुमसे उपदेश पाया हुआ मैं उस विद्याको जानना चाहता हूँ। वरोंमें यह मेरा तीसरा वर है ) यह जीव-सम्बन्धी प्रश्न है और 'अन्यत्र धर्मात्' (धर्मसे—शास्त्रीयधर्मके अनुष्ठानसे, उसके फलसे और उसके कारकोंसे जो भिन्न है और अधर्मसे भी जो भिन्न है, इस कार्य और कारणसे जो भिन्न है, भूत, भविष्य और वर्तमान कालसे जो भिन्न है अर्थात् कालत्रयसे जिसका परिच्छेद नहीं होता, इस प्रकार सब व्यवहार और मर्यादासे अतिक्रान्त जिस वस्तुको तुम जानते हो, उसे कहो) यह ब्रह्मसबन्धी प्रश्न है। इसी प्रकार तीनोंके सम्बन्धमें उत्तर है। 'लोकादिमग्नि०' (यमने

भाष्य

अग्निरत्तेति । कुतः ? 'अग्निरन्नादः' ( बृ० १।४।६ ) इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम् । जीवो वाऽत्ता स्यात्, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति दर्शनात् । न परमात्मा, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' ( मु० ३।१।१ ) इति दर्शनात् ।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—अत्ताऽत्र परमात्मा भवितुमर्हति । कुतः ? चराचरग्रहणात् । चराचरं हि स्थावरजङ्गमं मृत्यूपसेचनमिहाऽद्यत्वेन प्रतीयते ।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—अग्नि भक्षक है, यह प्राप्त होता है । किससे ? 'अग्निरन्नादः'(अग्नि अन्नका भक्षक है ) इस श्रुतिसे और लोकप्रसिद्धिसे । अथवा जीव भक्षक हो सकता है, क्योंकि 'तयोरन्यः०' ( उन दोनोंमें एक मधुर कर्मफलका भोग करता है ) ऐसी श्रुति देखनेमें आती है । परन्तु परमात्मा भक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो०' ( दूसरा न भोगता हुआ देखता रहता है ) ऐसी श्रुति देखनेमें आती है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां परमात्मा ही भक्षक है; क्योंकि श्रुतिमें चर और अचरका ग्रहण है । चर और अचर—जंगम और स्थावर जगत् ( जिसका मृत्यु उपसेचन है ), यहां भक्ष्यरूपसे प्रतीत होता है,

---

रत्नप्रभा

जीवो वेति । पूर्वपक्षे जीवोपास्तिः, सिद्धान्ते निर्विशेषब्रह्मज्ञानम् इति फलभेदः । ओदनशब्दो भोग्यवाचीति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु ब्रह्मक्षत्रशब्दैः उपस्थापितकार्यमात्रे गौण ओदनशब्दः । गुणश्च अत्र मृत्यूपसेचनपदेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

नचिकेताको लोकोंके आदिभूत अग्निका ज्ञान दिया । और जो ईंटें जोड़नी चाहिएँ और जिस प्रकार अग्निचयन होता है, वह सब कहा ) यह अग्निके सम्बन्धमें उत्तर है और 'हन्त त इदं०' (हे गौतम ! मैं फिर भी तुमसे गोप्य चिरंतन ब्रह्म कहता हूँ, जिसके ज्ञानसे सारे संसारका उपरम हो जाता है और जिसके अज्ञानसे मरण पाकर आत्मा जैसे संसरण करता है, वह सुनो) यह जीव और ब्रह्मके सबन्धमें उत्तर उपलब्ध होता है । पूर्वमें ब्रह्म भोक्ता नहीं है ऐसा कहा है, उनके आधारपर पूर्वपक्ष करते हैं—"किं तावत्" इत्यादिसे । अग्निका प्रकरण समाप्त हो गया है, इस अरुचिसे कहते हैं—"जीवो वा" इत्यादि । पूर्वपक्षमें जीवकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मज्ञान फल है, यह फलमें भेद है । पूर्वपक्षमें ओदन शब्द भोग्यवाचक है । सिद्धान्तमें तो ओदनशब्द ब्रह्म और क्षत्रशब्दोंसे उपस्थापित कार्यमात्रका लक्षक है । यहांपर मृत्यूपसेचन पदके सन्निधानसे प्रसिद्ध ओदनमें रहनेवाले विनाश्यत्वरूप

भाष्य

तादृशस्य चाऽऽद्यस्य न परमात्मनोऽन्यः कात्स्न्र्येनाऽत्ता सम्भवति, परमात्मा तु विकारजातं संहरन् सर्वमत्तीत्युपपद्यते। नन्विह चराचरग्रहणं नोपलभ्यते, तत् कथं सिद्धवच्चराचरग्रहणं हेतुत्वेनोपादीयते। नैष दोषः, मृत्यूपसेचनत्वेनेह आद्यत्वेन सर्वस्य प्राणिनिकायस्य प्रतीयमानत्वात्, ब्रह्मक्षत्रयोश्च प्राधान्यात् प्रदर्शनार्थत्वोपपत्तेः। यत्तु परमात्मनोऽपि नाऽत्तृत्वं सम्भवति, 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति दर्शनात् इति। अत्रोच्यते—कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकमेतद्दर्शनम्, तस्य संनिहितत्वात्, न विकारसंहारस्य प्रतिषेधकम्, सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्। तस्मात् परमात्मैवेहाऽत्ता भवितुमर्हति॥ ९॥

भाष्यका अनुवाद

और ऐसे भक्ष्यका पूर्णतासे भक्षक परमात्मासे अन्य नहीं हो सकता। परमात्मा तो सब विकारका संहार करता है, इस कारण उसका सर्वभक्षक होना संगत है। परन्तु यहां चर और अचरका ग्रहण उपलब्ध नहीं होता, तो श्रुतिमें चराचरका ग्रहण सिद्ध-सा मान कर हेतुरूपसे उसका कैसे ग्रहण करते हो। यह दोष नहीं है, क्योंकि मृत्यु उपसेचन है, इस कथनसे सब प्राणिसमूह भक्ष्य हैं ऐसी प्रतीति होती है, ब्राह्मण और क्षत्रियके मुख्य होनेके कारण उनका प्रदर्शन करना ठीक है। यह जो कहा है कि परमात्माका भी भक्षक होना संभव नहीं है, क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो०' (दूसरा खाये विना साक्षीरूपसे देखता रहता है) ऐसी श्रुति दिखाई देती है। इसपर कहते हैं—यह श्रुतिवाक्य कर्मफलके उपभोगका प्रतिषेध करता है, क्योंकि वह संनिधिमें है। विकारके संहारका प्रतिषेध नहीं करता, क्योंकि ब्रह्म सब वेदान्तोंमें सृष्टि, स्थिति और संहारका कारणरूपसे प्रसिद्ध है। इससे सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही यहां भक्षक है॥ ९॥

रत्नप्रभा

सन्निधापितं प्रसिद्धौदनगतं विनाश्यत्वं गृह्यते, गौणशब्दस्य सन्निहितगुणग्राहित्वात्। तथा च सर्वस्य विनाश्यत्वेन भानात् लिङ्गाद् ईश्वरोऽत्तेत्याह—**नैष दोष इति**। **तस्य सन्निहितत्वादिति**। "पिप्पलं स्वाद्वत्ति" इति भोगस्य पूर्वोक्तत्वाद् इत्यर्थः॥ ९॥ (२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

गुणका ग्रहण होता है, क्योंकि गौणशब्द समीपवर्ती पदार्थके गुणका ग्रहण कराता है। इस प्रकार सब पदार्थोंके विनाश्य होनेके कारण उसके नाशकत्वरूप लिंगसे ईश्वर ही भक्षक है, ऐसा कहते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। "तस्य संनिहितत्वात्" अर्थात् 'पिप्पलं०' (मधुर कर्मफलका भोग करता है) इस प्रकार पहले भोग कहनेके कारण॥९॥

# प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

पदच्छेद—प्रकरणात्, च ।

पदार्थोक्ति—प्रकरणात्—[ 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादिना ब्रह्मणः ] प्रकृतत्वात्, च—'क इत्था वेद यत्र सः' इति दुर्विज्ञेयत्वरूपलिङ्गाच्च [ अत्तृवाक्योक्तः अत्ता परमात्मैव ] ।

भाषार्थ—'न जायते म्रियते० (आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है) इत्यादि पूर्ववाक्यसे ब्रह्म ही प्रस्तुत है और 'क इत्था वेद०' (वह अमुक स्थानमें है इस प्रकार उसको कौन जानता है ) ऐसा दुर्ज्ञेयत्वरूप ब्रह्मका लिङ्ग भी कहा गया है, अतः अत्तृवाक्यमें उक्त भक्षक परमात्मा ही है।
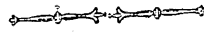
### भाष्य

इतश्च परमात्मैवेहाऽत्ता भवितुमर्हति, यत्कारणं प्रकरणमिदं परमात्मनः, 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' ( का० १।२।१८ ) इत्यादि । प्रकृतग्रहणं च न्याय्यम् । 'क इत्था वेद यत्र सः' इति च दुर्विज्ञानत्वं परमात्मलिङ्गम् ॥ १० ॥

### भाष्यका अनुवाद

'न जायते म्रियते०' ( आत्मा न जन्म लेता है और न मरता है ) इत्यादि परमात्माका प्रकरण है, इससे भी परमात्मा ही यहां अत्ता होना चाहिए। और प्रकृतका ग्रहण करना युक्त है। 'क इत्था वेद०' (वह अमुक स्थानमें है, इस प्रकार उसको कौन जानता है ) ऐसा दुर्ज्ञेयत्वरूप परमात्माका लिङ्ग भी है ॥ १० ॥
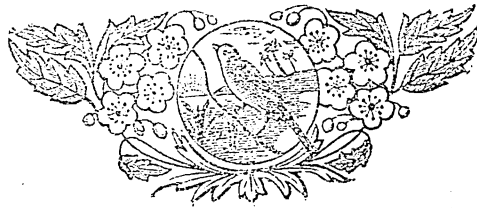
## [ ३ गुहाप्रविष्टाधिकरण सू० ११--१२ ]

*गुहां प्रविष्टौ धीजीवौ जीवेशौ वा हृदि स्थितौ ।*
*छायातपाख्यदृष्टान्ताद् धीजीवौ स्तो विलक्षणौ ॥ १ ॥*
*पिबन्ताविति चैतन्यद्वयं जीवेश्वरौ ततः ।*
*हृत्स्थानमुपलब्ध्यै स्याद्वैलक्षण्यमुपाधितः ॥ २ *॥*

### [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'ऋतं पिबन्तौ इस श्रुतिमें उक्त प्रवेशकर्ता बुद्धि और जीव हैं अथवा जीव और परमेश्वर ?

**पूर्वपक्ष**—हृदयमें स्थिति कही गई है और छाया एवं आतप दृष्टान्तरूपसे कहे गये हैं, अतः परस्पर विलक्षण बुद्धि और जीव ही प्रवेशकर्ता हैं ।

**सिद्धान्त**—'पिबन्तौ' इसमें द्विवचनसे मालूम होता है कि दोनों चेतन हैं, अतः जीव और ईश्वर प्रवेशकर्ता हैं । हृदयरूप स्थान उपासनाके लिए कहा गया है । जीव सोपाधिक होनेसे छायाके समान है और ईश्वर निरुपाधिक होनेसे आतपके समान है इस प्रकार दोनोंमें वैलक्षण्य हो सकता है ।

---

* कठोपनिषद्की तृतीय वल्लीमें यह पहला मंत्र है—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः'॥ इस मंत्रका अर्थ है—पुण्यकर्मोंका फलभूत ब्राह्मणादि-शरीर परब्रह्मका उपलब्धिस्थान है । ब्रह्मविद्यामें अधिकारी होनेके लिए उपयुक्त शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न होनेके कारण वह ( शरीर ) श्रेष्ठ है । उस शरीरके मध्यभागमें स्थित हृदयकमलरूप गुहामें दो प्रविष्ट हैं । अथवा कर्मफलका भोग करनेवाले छाया और आतपके समान विरुद्ध धर्मवाले दो हैं ऐसा ब्रह्मज्ञानी तथा कर्मानुष्ठान करनेवाले गृहस्थ कहते हैं ।

इसमें संशय होता है कि वे दो बुद्धि और जीव हैं या जीव और परमात्मा हैं ?

पूर्वपक्षी कहता है कि वे दो बुद्धि और जीव हैं, क्योंकि गुहारूप अल्प स्थानमें परिच्छिन्न—अल्प परिमाणवाले ही प्रवेश कर सकते हैं । दूसरी बात यह भी है कि जड़ तथा चेतन होनेके कारण छाया एवं आतपके समान बुद्धि और जीवमें विलक्षणता भी है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि 'पिबन्तौ' इसमें द्विवचनसे दोनों चेतन मालूम होते हैं । अतः चेतन जीव और ईश्वर यहां गुहाप्रवेशकर्ता हैं । यद्यपि ईश्वर सर्वव्यापक है तो भी उपासनाके लिए हृदयमें उसकी स्थिति कही जाती है । यद्यपि दोनों चेतन होनेसे समान हैं तो भी ईश्वर उपाधिरहित है, जीव उपाधिसहित है, इस प्रकार दोनोंमें वैलक्षण्य है ही । अतः जीव और ईश्वर ही गुहाप्रवेशकर्ता निर्दिष्ट हैं ।

## गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

**पदच्छेद**—गुहाम्, प्रविष्टौ, आत्मानौ, हि, तद्दर्शनात् ।

**पदार्थोक्ति**—गुहां प्रविष्टौ—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे' इति श्रुतौ गुहाप्रविष्टत्वेन निर्दिष्टौ जीवपरात्मानौ एव, [ न बुद्धिजीवौ, कुतः ] तद्दर्शनात्—सङ्ख्याश्रवणे सङ्ख्यावतोरेकरूपत्वस्य लोके दर्शनात् [ जीवपरमात्मनोः चेतनत्वेनैकरूपत्वात्, बुद्धिजीवयोः तत्त्वेन तदभावात् ]।

**भाषार्थ**—'ऋतं पिबन्तौ०' इस मंत्रमें जीव और परमात्मा ही गुहाप्रविष्ट कहे गये हैं, बुद्धि और जीव नहीं, क्योंकि संख्याके श्रवणसे अर्थात् किसी एक वस्तुका निर्देश करके दूसरा, तीसरा इत्यादि कहनेसे उस वस्तुके सजातीय पदार्थका ही ग्रहण होना लोकव्यवहारमें भी प्रसिद्ध है। अतः 'पिबन्तौ' ( पान करनेवाले ) इसमें पानकर्तारूपसे सिद्ध जीवात्माका साथी परमात्मा ही हो सकता है, क्योंकि दोनों चेतन होनेके कारण सजातीय हैं। बुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि बुद्धि चेतन नहीं है, अतः वह चेतनत्वरूपसे जीवात्माकी सजातीय नहीं है।

---
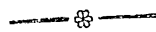
### भाष्य

**कठवल्लीष्वेव पठ्यते—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ**

### भाष्यका अनुवाद

'ऋतं पिबन्तौ०' ( अवश्य भोक्तव्य कर्मफलका भोग करनेवाले, सुकृतके कार्य देहके श्रेष्ठ हृदयमें जो आकाशरूप गुहा है उसमें प्रवेश किये हुए, छाया

---

### रत्नप्रभा

अत्तृवाक्यानन्तरवाक्यस्याऽपि ज्ञेयात्मनि समन्वयमाह—**गुहामिति**। ऋतम् अवश्यम्भावि कर्मफलं पिबन्तौ भुञ्जानौ, सुकृतस्य कर्मणो लोके कार्ये देहे परस्य

### रत्नप्रभाका अनुवाद

'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च' इत्यादि अत्तृवाक्य—जिसमें परमात्माको अत्ता कहा है उस वाक्यके उत्तरवर्ती वाक्यका भी ज्ञेय आत्मामें समन्वय करते हैं—"गुहाम्" इत्यादिसे। अवश्य

( १ ) कठवल्लीके शाङ्करभाष्यमें 'सुकृतस्य' का अन्वय 'ऋतम्' के साथ करके सुकृत अर्थात् स्वयंकृतका ऋत अर्थात् अवश्यंभावी फल, ऐसा अर्थ किया गया है।

भाष्य

परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' ( का० १।३।१ ) इति। तत्र संशयः—किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टावुत जीवपरमात्मानाविति। यदि बुद्धिजीवौ, ततो बुद्धिप्रधानात् कार्यकरण-सङ्घाताद्विलक्षणो जीवः प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यम्, 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्या-

भाष्यका अनुवाद

और आतपके समान परस्पर विरुद्ध दोको ब्रह्मवेत्ता, पंचाग्निवाले और नाचिकेत अग्निका जिन्होंने तीन बार चयन किया है, वे जानते हैं ) ऐसा कठवल्लीमें कहा है। इसमें संशय होता है कि यहां क्या बुद्धि और जीव निर्दिष्ट हैं या जीव और परमात्मा। यदि बुद्धि और जीव हों, तो बुद्धि जिसमें प्रधान है ऐसे शरीरेन्द्रिय-समूहसे विलक्षण जीव प्रतिपादित होगा। वह भी यहां प्रतिपादन करने योग्य है, क्योंकि 'येयं प्रेते विचिकित्सा०' ( मनुष्यके मरनेपर परलोकमें आत्मा है ऐसा

---

रत्नप्रभा

ब्रह्मणोऽर्धं स्थानमर्हतीति परार्धं हृदयं परमं श्रेष्ठं तस्मिन् या गुहा नभोरूपा बुद्धिरूपा वा तां प्रविश्य स्थितौ छायातपवत् मिथो विरुद्धौ तौ च ब्रह्मविदः कर्मिणश्च वदन्ति। त्रिः नाचिकेतोऽग्निः चितो यैः ते त्रिणाचिकेताः, तेऽपि वदन्ति इत्यर्थः। नाचिकेतवाक्यानाम् अध्ययनम्, तदर्थज्ञानम्, तदनुष्ठानं चेति त्रित्वं बोध्यम्। बुद्ध्यवच्छिन्नजीवस्य परमात्मनश्च प्रकृतत्वात् संशय-माह—**तत्रेति**। पूर्वोत्तरपक्षयोः फलं स्वयमेवाह—**यदीत्यादिना**। तदपि जीवस्य बुद्धिवैलक्षण्यमपि इत्यर्थः। मनुष्ये प्रेते मृते सति या इयं विचिकित्सा

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेवाले कर्मफलका भोग करनेवाले, कर्मसे संपादित देहमें ब्रह्मके रहने योग्य स्थानभूत श्रेष्ठ हृदयमें जो आकाशरूप अथवा बुद्धिरूप गुहा है, उसमें प्रवेश करके स्थित, छाया और आतपके समान परस्पर विरुद्ध ऐसे दोको ब्रह्मवेत्ता, पञ्चाग्निवाले ( गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य, इन पांच अग्नियोंसे युक्त अथवा स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और योषित्में अग्निदृष्टि करनेवाले ) अर्थात् गृहस्थ और जिन्होंने तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन किया है, वे कहते हैं, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। नाचिकेत अग्निके तीन चयन हैं—नाचिकेत वाक्योंका अध्ययन, उनके अर्थका ज्ञान और उनमें प्रतिपादित कर्मोंका अनुष्ठान। बुद्धिसे अवच्छिन्न जीव और परमात्मा दोनोंके प्रकृत होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। "यदि" इत्यादिसे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका फल स्वयं ही कहते हैं। 'तदपि' अर्थात् बुद्धिसे

भाष्य

मनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः' (का० १।१।२०) इति पृष्टत्वात्। अथ जीवपरमात्मानौ, ततो जीवाद्विलक्षणः परमात्मा प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यम्, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' (का० १।२।१४) इति पृष्टत्वात्। अत्राऽऽहाऽऽक्षेप्ता उभावप्येतौ पक्षौ न सम्भवतः। कस्मात्? ऋतपानं हि कर्मफलोपभोगः, 'सुकृतस्य लोके' इति लिङ्गात्। तच्च चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य सम्भवति, नाऽचेतनाया बुद्धेः। 'पिबन्तौ' इति च द्विवचनेन द्वयोः पानं दर्शयति श्रुतिः। अतो बुद्धिक्षेत्रज्ञपक्षस्तावन्न सम्भवति। अत एव क्षेत्रज्ञपरमात्मपक्षोऽपि न सम्भवति, चेतनेऽपि

भाष्यका अनुवाद

कितने ही मानते हैं और कितने ही नहीं मानते, ऐसा संशय उपस्थित होनेपर तुमसे उपदिष्ट हुआ मैं यह विद्या जानना चाहता हूँ, वरोंमें यह मेरा तीसरा वर है) यह प्रश्न पूछा है। यदि जीव और परमात्मा हों, तो जीवसे विलक्षण परमात्मा प्रतिपादित होता है। वह भी यहां प्रतिपादन करने योग्य है, क्योंकि 'अन्यत्र धर्मादन्यत्रा०' (धर्मसे, अधर्मसे, कार्य और कारणसे, भूत, भविष्य और वर्तमानसे जिसे भिन्न देखते हो, उस वस्तुको कहो) ऐसा प्रश्न किया है। यहां आक्षेप करनेवाला कहता है कि ये दोनों पक्ष संभव नहीं हैं, क्योंकि ऋतपान अर्थात् कर्मफलका उपभोग, और 'सुकृतस्य लोके' (सुकृतके कार्य देहमें) ये लिङ्ग हैं। वह (ऋतपान) चेतन जीवमें संभव है, अचेतन बुद्धिमें संभव नहीं है। 'पिबन्तौ' ( दो पान करनेवाले ) इस द्विवचनसे श्रुति दोनोंका पान दिखलाती है। इससे बुद्धि और जीवका पक्ष तो संभव है नहीं। इसी कारणसे जीव और परमात्माका

रत्नप्रभा

संशयः परलोकभोक्ताऽस्ति इति एके, नास्ति इति अन्ये। अतस्त्वयोपदिष्टोऽहमेतत् आत्मतत्त्वं जानीयाम् इत्यर्थः। तदपीति। परमात्मस्वरूपमपि इत्यर्थः। उभयोः भोक्तृत्वायोगेन संशयमाक्षिपति—अत्राहेति। छत्रिपदेन गन्तार इव

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवकी विलक्षणता भी। ( 'येयं प्रेते०' इत्यादि ) कई लोग मनुष्य मरनेपर परलोकमें जीवका अस्तित्व मानते हैं और कई नहीं मानते, अतः यहाँ संशय होता है। इस संशयकी निवृत्तिके लिए तुमसे उपदिष्ट हुआ मैं इस आत्मतत्त्वको जानना चाहता हूँ। 'तदपि' अर्थात् परमात्मस्वरूप भी। दोनों भोक्ता नहीं हो सकते, इससे संशयपर आक्षेप करते हैं—"अत्राह"

भाष्य

परमात्मनि ऋतपानासम्भवात्। 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति मन्त्रवर्णादिति। अत्रोच्यते—नैष दोषः, छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेनापि छत्रिणा बहूनां छत्रित्वोपचारदर्शनात्। एवमेकेनापि पिबता द्वौ पिबन्तावुच्येयाताम्। यद्वा, जीवस्तावत्पिबति, ईश्वरस्तु पाययति। पाययन्नपि पिबतीत्युच्यते। पाचयितर्यपि पक्तृत्वप्रसिद्धिदर्शनात्। बुद्धि-

भाष्यका अनुवाद

पक्ष भी संभव नहीं है, क्योंकि परमात्मा यद्यपि चेतन है तो भी परमात्मामें ऋतपानका संभव नहीं है, क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो०'(दूसरा खाये बिना साक्षीरूपसे देखता रहता है) ऐसी श्रुति है। इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है, क्योंकि 'छत्रिणो गच्छन्ति' (छातेवाले जाते हैं) इस प्रकार एक छत्रीवाला हो तो भी बहुत छत्रीवाले ऐसा उपचार देखनेमें आता है। इसी प्रकार एक पान करता हो, तो भी दो पान करते हैं, ऐसा कहा जाता है। अथवा जीव पान करता है और ईश्वर पान कराता है। पान कराते हुए ईश्वरमें भी पान करता है ऐसा व्यवहार होता है, क्योंकि पकवानेवाले भी पकानेवाले कहे

रत्नप्रभा

पिबत्पदेन अजहल्लक्षणया प्रविष्टौ उच्येते इत्याह—अत्रोच्यत इति। पानकर्तृवाचिपदेन पानानुकूलौ वा लक्ष्यौ इत्याह—यद्वेति। नियतपूर्वभाविकृतिमत्त्वरूपम् अनुकूलत्वं कर्तृकारयित्रोः साधारणम्, यः कारयति स करोत्येव इति न्यायादिति भावः। अत्र प्रकृतिः मुख्यार्था शतृप्रत्यये लक्षणा। मिश्रास्तु कृतिः प्रत्ययार्थो मुख्यः, प्रकृत्या त्वजहल्लक्षणया पायनं लक्ष्यमित्याहुः। पूर्वपक्षे 'पिबन्तौ' इति कर्तृवाचिशतृप्रत्ययेन बुद्धिजीवसाधारणं कारकत्वं लक्ष्यम् इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। 'छत्रिणो यान्ति' (छत्रीवाले जाते हैं) यहांपर जैसे छत्रीपदसे अजहल्लक्षणाद्वारा छत्रीवाले और छत्रीरहित दोनों साथ समझे जाते हैं, वैसे ही 'पिबन्तौ' (पीनेवाले) इस पदसे अजहल्लक्षणा द्वारा भोग करनेवाले और भोग न करनेवाले हृदयाकाशमें प्रविष्ट दोनोंका ग्रहण होता है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। अथवा 'पिबन्तौ' (पान करनेवाले) इस पदसे पानके अनुकूल दोनों लक्ष्य होते हैं, ऐसा कहते हैं—"यद्वा" इत्यादिसे। नियमसे पूर्वमें हुई जो कृति (यत्न) है, उससे युक्त होना अनुकूलत्व है, वह करनेवाले और करानेवाले दोनोंमें साधारण है, क्योंकि जो कराता है, वह करता भी है यह न्याय है। इसमें प्रकृति 'पा'के मुख्यार्थका ही ग्रहण है। लक्षणा 'शतृ' प्रत्ययमें होती है। श्री वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—कृतिरूप प्रत्ययके मुख्यार्थका ही ग्रहण है। प्रकृति 'पा' का अजहल्लक्षणाद्वारा 'पायन' (पान

भाष्य

क्षेत्रज्ञपरिग्रहोऽपि सम्भवति, करणे कर्तृत्वोपचारात्, एधांसि पचन्तीति प्रयोगदर्शनात् । न चाऽध्यात्माधिकारेऽन्यौ कौचिद् द्वावृतं पिबन्तौ सम्भवतः । तस्माद् बुद्धिजीवौ स्याताम्, जीवपरमात्मानौ वेति संशयः । किं तावत् प्राप्तम् ?

बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति । कुतः ? 'गुहां प्रविष्टौ' इति विशेषणात् । यदि शरीरं गुहा, यदि वा हृदयम्, उभयथापि बुद्धिक्षेत्रज्ञौ गुहां प्रविष्टावुपपद्येते । न च सति सम्भवे सर्वगतस्य ब्रह्मणो विशिष्टदेशत्वं युक्तं कल्पयितुम् ।

भाष्यका अनुवाद

जाते हैं । बुद्धि और जीवका ग्रहण भी संभव है, क्योंकि करणमें कर्तृत्वका उपचार है, 'एधांसि पचन्ति' ( लकड़ियां पकाती हैं ) ऐसा प्रयोग देखनेमें आता है । और अध्यात्म प्रकरणमें दूसरे कोई दो पान करते हों, यह संभव नहीं है । इसलिए बुद्धि और जीव निर्दिष्ट हों अथवा जीव और परमात्मा हों ऐसा संशय होता है । तब क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—बुद्धि और जीव निर्दिष्ट हैं ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि गुहामें प्रविष्ट हुए, इस विशेषणसे । चाहे गुहा शरीर हो, चाहे हृदय हो, दोनों पक्षोंमें भी बुद्धि और जीव गुहामें प्रविष्ट हुए यह ( कहना ) युक्त है और संभव हो तो

---

रत्नप्रभा

**बुद्धीति** । एधांसि—काष्ठानि । पचन्तीत्याख्यातेन कारकत्वं लक्ष्यम्, प्रकृतिस्तु मुख्यैव इति भावः । मुख्यपातारौ प्रसिद्धपक्षिणौ ग्राह्यौ इत्यत आह—**न चेति** । ब्रह्मक्षत्रपदस्य सन्निहितमृत्युपदादनित्यवस्तुपरत्ववत् इहापि पिबत्पदस्य सन्निहितगुहापदाद् बुद्धिजीवपरता इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—**किं तावदिति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कराना ) अर्थ होता है । पूर्वपक्षमें 'पिबन्तौ' इसमें कर्तृवाचक 'शतृ' प्रत्ययसे बुद्धि और जीव दोनोंमें साधारण कारकत्व लक्ष्य है, ऐसा कहते हैं—"बुद्धि" इत्यादिसे । 'एधांसि पचन्ति ( लकड़ियां पाक करती हैं ) इसमें आख्यातसे कारकत्व लक्षित होता है, प्रकृति तो मुख्य ही है यह आशय है । मुख्य पान करनेवाले प्रसिद्ध दो पक्षियोंका ग्रहण करना चाहिए, इस आशङ्कापर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । निकटवर्ती मृत्युपदके प्रयोगसे ब्रह्म और क्षत्रपद अनित्य वस्तुमात्रके लक्षक हैं, वैसे यहां भी निकटवर्ती गुहापदके प्रयोगसे 'पिबत्' पद बुद्धि और जीवका लक्षक है, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"किं तावत्" इत्यादिसे ।

भाष्य

'सुकृतस्य लोके' इति च कर्मगोचरानतिक्रमं दर्शयति। परमात्मा तु न सुकृतस्य वा दुष्कृतस्य वा गोचरे वर्तते, 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति श्रुतेः। 'छायातपौ' इति च चेतनाचेतनयोर्निर्देश उपपद्यते, छायातपवत् परस्परविलक्षणत्वात्। तस्माद् बुद्धिक्षेत्रज्ञाविहोच्येयाताम्।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम्। कस्मात्? आत्मानौ हि तावुभावपि चेतनौ समानस्वभावौ। संख्याश्रवणे च समा-

भाष्यका अनुवाद

सर्वव्यापक ब्रह्मके विशिष्ट देशकी कल्पना करना युक्त नहीं है। 'सुकृतस्य लोके' ( सुकृतके कार्य देहमें ) यह कर्मगोचरका अनतिक्रम[1] दिखलाता है। परमात्मा तो सुकृत अथवा दुष्कृतके गोचरमें नहीं रहता, क्योंकि 'न कर्मणा०' ( कर्मसे न बढ़ता है, न छोटा होता है ) ऐसी श्रुति है। 'छायातपौ' ( छाया और आतपके समान परस्पर विरुद्ध ) ये भी चेतन और अचेतनका निर्देश हो तो युक्त होते हैं, क्योंकि छाया और आतपके समान परस्पर विलक्षण हैं। इस कारण बुद्धि और जीव ही यहां कहने चाहिएँ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं। जीवात्मा और परमात्मा यहां कहने चाहिएँ, क्योंकि दोनों आत्मा चेतन और समान स्वभाववाले हैं। जब संख्याका श्रवण होता है, तब समान स्वभाववालोंकी ही लोकमें प्रतीति होती

रत्नप्रभा

गोचरः फलम्। एकस्मिन् जातिमति क्लृप्ते सजातीयमेव द्वितीयं ग्राह्यम्, व्यक्तिमात्रग्रहे लाघवात्; न विजातीयम्, जातिव्यक्त्युभयकल्पनागौरवात्। न चाऽस्तु कारकत्वेन सजातीया बुद्धिरेव जीवस्य द्वितीया इति वाच्यम्, चेतनत्वस्य जीवस्वभावस्य कारकत्वादन्तरङ्गत्वात्। तथा च लोके द्वितीयस्य अन्तरङ्गजाति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

'गोचर'—फल। जहां एक जातिवाला क्लृप्त रहता है वहां दूसरा भी उसका सजातीय ही लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे केवल व्यक्तिका ग्रहण होता है, अतः लाघव है. विजातीयका ग्रहण न करना चाहिए, क्योंकि वैसा करनेसे जाति और व्यक्ति दोनोंकी कल्पना करनी पड़ेगी, अतः गौरव होगा। 'ऋतं पिबन्तौ' यहांपर जीवके साथ दूसरी बुद्धिका ही ग्रहण करो, क्योंकि कारक होनेसे दोनों सजातीय हैं, ऐसी शङ्का न करनी चाहिए क्योंकि जीवका स्वभाव—चेतनत्व कारकत्वसे अन्तरंग है। लोकव्यवहारमें भी अन्तरंग जातिवाला ही द्वितीय

(१) कर्मके परिणामका मार्ग अतिक्रान्त नहीं करना।

भाष्य

नस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते। अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाऽश्वः पुरुषो वा। तदिह ऋतपानेन लिङ्गेन निश्चिते विज्ञानात्मनि द्वितीयान्वेषणायां समानस्वभावश्चेतनः परमात्मैव प्रतीयते। ननूक्तम्—गुहाहितत्वदर्शनान्न परमात्मा प्रत्येतव्य इति। गुहाहितत्वदर्शनादेव परमात्मा प्रत्येतव्य इति वदामः। गुहाहितत्वं तु श्रुतिस्मृतिष्वसकृत्परमात्मन एव दृश्यते—'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' (का० १।२।१२) 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तै० २।१) 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्' इत्याद्यासु। सर्वगतस्याऽपि ब्रह्मण

भाष्यका अनुवाद

है। 'अस्य गो०' ( इस वृषभका दूसरा अर्थात् साथी खोजना चाहिए ) ऐसा कहनेपर दूसरा वृषभ ही खोजा जाता है, अश्व अथवा पुरुष नहीं खोजा जाता। इसलिए यहां ऋतपानरूप लिङ्गसे विज्ञानात्मा—जीवात्माका निश्चय होनेपर द्वितीयकी खोजमें समान स्वभाववाले चेतन परमात्माकी प्रतीति होती है। परन्तु कहा है कि गुहामें प्रविष्ट हुए, ऐसा देखनेमें आता है, इसलिए परमात्माकी प्रतीति न होनी चाहिए। हम कहते हैं कि गुहामें प्रविष्ट हुए ऐसा देखनेमें आता है, इसीसे ही परमात्माकी प्रतीति होनी चाहिए। गुहामें रहना तो श्रुति और स्मृतिमें अनेक बार परमात्माका ही देखा गया है— 'गुहाहितं०' ( गुहामें प्रविष्ट, गह्वरमें स्थित, चिरन्तन ) 'यो वेद निहितं०' (श्रेष्ठ हृदयाकाशरूप गुहामें प्रविष्टको जो जानता है), 'आत्मानमन्विच्छ०' (गुहामें प्रविष्ट आत्मा-

रत्नप्रभा

मत्त्वदर्शनात् जीवस्य द्वितीयश्चेतन एवेति सूत्रार्थमाह—**संख्याश्रवणे चेति**। गुहायां बुद्धौ स्थितम्, गह्वरे अनेकानर्थसंकुले देहे स्थितम्, पुराणम् अनादिपुरुषम्, विदित्वा हर्षशोकौ जहाति। परमे श्रेष्ठे व्योमन् हार्दाकाशे या गुहा बुद्धिः तस्यां निहितं ब्रह्म यो वेद सोऽश्नुते सर्वान् कामान् इति अन्वयः। अन्विच्छ—विचारय इत्यर्थः ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है ऐसा देखनेमें आता है। इसलिए जीवका द्वितीय चेतन ही है, ऐसा सूत्रार्थ कहते हैं—"सङ्ख्याश्रवणे च" इत्यादिसे। बुद्धिमें स्थित, बहुत प्रकारके अनर्थोंसे भरे हुए देहमें स्थित, चिरन्तन—अनादि पुरुष, परमात्माको जानकर हर्ष और शोकका त्याग करता है। श्रेष्ठ हृदय पुण्डरीक आकाशमें जो गुहा अर्थात् बुद्धि है, उसमें स्थित ब्रह्मको जो जानता है, वह सब कामनाओंका भोग करता है, ऐसा अन्वय है। 'अन्विच्छ'—विचार करो, निश्चय करो ॥११॥

भाष्य

उपलब्ध्यर्थो देशविशेषोपदेशो न विरुध्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सुकृतलोकवर्तित्वं तु छत्रित्ववदेकस्मिन्नपि वर्तमानमुभयोरविरुद्धम्। छायातपावित्यप्यविरुद्धम्, छायातपवत् परस्परविलक्षणत्वात् संसारित्वासंसारित्वयोः। अविद्याकृतत्वात् संसारित्वस्य, पारमार्थिकत्वाच्चाऽसंसारित्वस्य। तस्माद्विज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते ॥११॥

कुतश्च विज्ञानात्मपरमात्मानौ गृह्येते?

भाष्यका अनुवाद

को खोजो) इत्यादि [श्रुति और स्मृतियोंमें स्पष्ट है]। सर्वव्यापक ब्रह्मका भी साक्षात्कारके लिए देशविशेषमें उपदेश विरुद्ध नहीं होता, ऐसा भी पीछे कहा गया है। सुकृतके कार्य देहमें रहना तो छत्रित्वके समान एकमें होनेपर भी दोनोंमें लागू होता है। 'छाया और आतपके समान' यह भी अविरुद्ध है, क्योंकि संसारित्व और असंसारित्व ये छाया और आतपके समान परस्पर विलक्षण हैं, संसारित्व अविद्याजन्य है और असंसारित्व वास्तविक है। इससे गुहामें प्रविष्ट विज्ञानात्मा और परमात्मा हैं, ऐसा ग्रहण किया जाता है ॥ ११ ॥

और किस कारणसे विज्ञानात्मा और परमात्माका ग्रहण होता है?

## विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

पदच्छेद—विशेषणात्, च।

**पदार्थोक्ति**—विशेषणात्—['सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' इत्यादौ जीवपरमात्मनोः] गन्तृगन्तव्यत्वेन मन्तृमन्तव्यत्वेन च विशेषितत्वात्, च—अपि [गुहां प्रविष्टौ जीवपरमात्मानावेव]।

**भाषार्थ**—'सोऽध्वनः पार०' (वह प्रवृत्तिमार्गसे परे उस व्यापक ब्रह्मके परम स्थानको पाता है), 'अध्यात्मयोगाधि०' (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंके लयके क्रमसे प्रत्यगात्मामें चित्तैकाग्रता करनेपर महावाक्योंके श्रवणसे चित्तकी जो ब्रह्माकार वृत्ति होती है, उससे परमात्माको जानकर हर्ष, शोक आदिका त्याग करता है) इन श्रुतियोंमें जीव गमनकर्ता है, ईश्वर गन्तव्यस्थान है एवं जीव मननकर्ता है ईश्वर मन्तव्य है, इस प्रकार विशेषण कहे गये हैं। इससे भी सिद्ध हुआ कि गुहाप्रविष्ट जीवात्मा तथा परमात्मा ही हैं।

भाष्य

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव संभवति। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' ( का० १।३।३ ) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' ( का० १।३।९ ) इति च परमात्मानं गन्तव्यं कल्पयति। तथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो

भाष्यका अनुवाद

विशेषण भी विज्ञानात्मा और परमात्मामें ही लागू होता है 'आत्मानं रथिनं०' ( आत्माको रथी जानो और शरीरको रथ जानो ) इत्यादि उत्तर वाक्यसन्दर्भसे रथी, रथ आदिके रूपककी कल्पना करके यम विज्ञानात्माको रथी—संसार और मोक्षके प्रति जानेवाला कहता है और 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति०' ( वह प्रवृत्ति-मार्गसे परे उस व्यापक ब्रह्मके परम स्थानको पाता है ) इससे परमात्माको गन्तव्यरूपसे कहता है। इसी प्रकार 'तं दुर्दर्शं गूढमनु०' ( दुर्विज्ञेय, गूढ—मायामें प्रविष्ट, गुहा—बुद्धिमें स्थित, गह्वर अनेक अनर्थोंसे व्याप्त देहमें स्थित, चिरन्तन, अध्यात्मयोग—विषयोंमेंसे चित्तको हटाकर आत्मामें संलग्न करना, उसकी प्राप्ति-

रत्नप्रभा

विशेषणं गन्तृगन्तव्यत्वादिकं लिङ्गमाह—**विशेषणाच्चेति**। स जीवोऽध्वनः संसारमार्गस्य परमं पारम्, किं तत्? विष्णोः व्यापनशीलस्य परमात्मनः पदं स्वरूपम् आप्नोति इत्यर्थः। दुर्दर्शं दुर्ज्ञानम्, तत्र हेतुः—गूढम्—मायावृतं मायानुप्रविष्टं पश्चाद् गुहाहितं गुहाद्वारा गह्वरेष्ठम्, एवं बहिरागतम् आत्मानम् अध्यात्मयोगः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहलयक्रमेण प्रत्यगात्मनि चित्तसमाधानं तेनाऽधिगमो

रत्नप्रभाका अनुवाद

गन्तृत्व, गन्तव्यत्व आदि विशेषणरूप लिङ्ग कहते हैं—"विशेषणाच्च"। वह अर्थात् जीव संसारमार्गका पार पाता है, वह पार क्या है? व्यापनशील परमात्माका पद अर्थात् स्वरूप प्राप्त करता है। दुर्दर्श—दुर्ज्ञेय, दुर्ज्ञेय होनेमें कारण—गूढ—मायासे आवृत (ढका हुआ ), मायामें प्रविष्ट, उसके अनन्तर बुद्धिरूप गुहामें स्थित और गुहा द्वारा अनेक अनर्थोंसे व्याप्त विषम प्रदेश—देहमें स्थित, इस प्रकार बाहर आये हुए आत्माको स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरोंके लयके क्रमसे प्रत्यगात्मामें चित्तैकाग्रता करनेपर महावाक्योंके श्रवणसे चित्तकी जो

भाष्य

हर्षशोकौ जहाति ॥" (का० १।२।१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्तृ-मन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ । प्रकरणं चेदं परमात्मनः । 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति च वक्तृविशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते । तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम् । एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३।१।१) इत्येवमादिष्वपि । तत्रापि ह्यध्यात्माधिकाराच्न प्राकृतौ

भाष्यका अनुवाद

से आत्माका मनन करके धीर पुरुष हर्ष और शोकका त्याग करता है ) इस प्रकार पूर्वसन्दर्भमें भी मनन करनेवाले और मननके विषयरूपसे इन दोनों (जीव और परमात्मा) के ही विशेषण दिये गये हैं । यह प्रकरण भी परमात्माका है। 'ब्रह्मविदो०' (ब्रह्मवेत्ता कहते हैं) इस प्रकार विशिष्ट वक्ताका ग्रहण परमात्माका स्वीकार करनेसे ही संगत होता है । इसलिए यहां जीव और परमात्मा कहने चाहिएँ । 'द्वा सुपर्णा सयुजा०' ( दो सुन्दर पक्षवाले—समान धर्मवाले, सदा एकत्र रहनेवाले, सहचर एक ही वृक्ष—शरीरको आश्रय कर स्थित हैं, उनमेंसे एक मधुर कर्मफल भोगता है और दूसरा स्वयं न भोगता हुआ साक्षी रूपसे देखता रहता है) इत्यादिमें भी यही न्याय है । वहां भी अध्यात्म प्रकरणके कारण

---

रत्नप्रभा

महावाक्यजा वृत्तिः, तया विदित्वा इत्यर्थः । ऋतपानमन्त्रे जीवानुवादेन वाक्यार्थ-ज्ञानाय तत्पदार्थो ब्रह्म प्रतिपाद्यते इति उपसंहरति—**तस्मादिहेति** । उक्तन्यायम् अतिदिशति—**एष इति** । द्वा—द्वौ छान्दसो द्विवचनस्याऽऽकारः । सुपर्णा-विव सहैव युज्येते नियम्यनियामकभावेन इति सयुजौ । सखायौ चेतनत्वेन तुल्यस्वभावौ । समानम् एकं वृक्षं छेदनयोग्यं शरीरम् आश्रित्य स्थितौ इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्माकार वृत्ति होती है उससे जानकर हर्ष, शोक आदिका त्याग करता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है । ऋतपानमंत्रमें अर्थात् 'ऋतं पिवन्तौ'' इस मंत्रमें जीवके अनुवादसे वाक्यार्थ ज्ञानके लिए 'तत्' पदका अर्थ ब्रह्मका प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा उपसंहार करते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे । उक्त न्यायका ही अतिदेश करते हैं—"एष" इत्यादिसे । 'द्वा'—द्वौ । 'द्वा' यह द्विवचनका आकार छान्दस है । दो पक्षियोंके समान नियम्य और नियामक भावसे जो साथ ही जुडे हुए हैं, और चेतन होनेके कारण समान स्वभाववाले हैं, गुहामें प्रविष्ट वे जीवात्मा और परमात्मा एक वृक्ष—छेदन योग्य शरीरका आश्रय करके स्थित हैं, ऐसा अर्थ

भाष्य

सुपर्णावुच्येते । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मा भवति । 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यनशनचेतनत्वाभ्यां परमात्मा। अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि--'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥' (मु० ३।१।२) इति । अपर आह--'द्वा सुपर्णा

भाष्यका अनुवाद

साधारण पक्षी नहीं कहे गये हैं। इसमें 'तयोरन्यः' ( उन दोनोंमें एक मधुर कर्मफलका भोग करता है ) इस प्रकार भक्षणके लिङ्गसे विज्ञानात्मा समझा जाता है और 'अनश्नन्नन्यो०' ( दूसरा न भोगता हुआ देखता रहता है ) इन अभक्षण और चेतनत्वरूप लिङ्गोंसे परमात्मा समझा जाता है। उसके आगेके मंत्रमें इन दोनोंके ही द्रष्टा और द्रष्टव्यभावसे विशेषण दिये गये हैं---'समाने वृक्षे पुरुषो०' ( समान अर्थात् एकही वृक्षमें---छेदनयोग्य शरीरमें निमग्न हुआ जीव दीनभावसे मोहको प्राप्त हुआ शोक करता है। जब अनेक योगमार्गोंसे सेवन किये हुए ईशको---परमात्माको और उसकी महिमाको जानता है, तब शोकरहित

रत्नप्रभा

गुहां प्रविष्टौ इति यावत । एतौ आत्मानौ, तल्लिङ्गदर्शनाद् इत्याह---तयोरन्य इति । विशेषणाच्चेत्याह---अनन्तरे चेति । अनीशया स्वस्य ईश्वरत्वा-प्रतीत्या देहनिमग्नः पुरुषो जीवः शोचति । निमग्नपदार्थमाह---मुह्यमान इति । नरोऽहमिति भ्रान्त इत्यर्थः । जुष्टं ध्यानादिना सेवितं यदा ध्यानपरिपाक-दशायाम् ईशमन्यं विशिष्टरूपाद् भिन्नं शोधितचिन्मात्रं प्रत्यक्त्वेन पश्यति तदा अस्य महिमानं---स्वरूपम् एति प्राप्नोति इव ततो वीतशोको भवति इत्यर्थः । द्वा सुपर्णा इति वाक्यं जीवेश्वरपरम् कृत्वा चिन्तितम् अधुना कृत्वाचिन्ताम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ये दोनों आत्मा हैं, क्योंकि उनके लिङ्ग देखनेमें आते हैं, ऐसा कहते हैं---"तयोरन्यः" इत्यादिसे । और विशेषणसे भी दोनों आत्मा हैं, ऐसा कहते हैं---"अनन्तरे च" इत्यादिसे । 'मैं ईश्वर हूँ' ऐसा ज्ञान न होनेसे देहमें निमग्न जीव शोक करता है। 'निमग्न' पदका अर्थ कहते हैं---"मुह्यमानः" अर्थात् 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा विचारनेवाला-भ्रान्त । ध्यानकी परिपाका-वस्थामें ध्यान आदिसे सेवित ईश्वरका जब सगुणसे भिन्न शोधित चिन्मात्र प्रत्यगात्मारूपसे देखता है, तब उसके---ईश्वरके स्वरूपको पाये हुएकी तरह होता है तब शोकरहित हो जाता है। 'द्वा सुपर्णा' यह वाक्य जीव और ईश्वरपरक है ऐसा स्वीकार करके विचार किया

भाष्य

इति नेयमृगस्याधिकरणस्य सिद्धान्तं भजते, पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनान्यथा व्याख्यातत्वात्। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति सत्त्वम्, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीति, अनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः, तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। सत्त्वशब्दो जीवः क्षेत्रज्ञशब्दः परमात्मेति यदुच्यते, तन्न; सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोरन्तःकरणशारीरपरतया प्रसिद्धत्वात्। तत्रैव च व्याख्यातत्वात्—'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति, अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षभावं

भाष्यका अनुवाद

होता है)। दूसरे कहते हैं—'द्वा सुपर्णा' यह ऋक् इस अधिकरणके सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं करती, क्योंकि पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणमें उसका दूसरे प्रकारसे व्याख्यान किया है। 'तयोरन्यः पिप्पलं०' उनमेंसे एक स्वादुयुक्त फल खाता है वह सत्त्व (बुद्धि) है और दूसरा खाये बिना देखता रहता है अर्थात् उपभोग किये बिना देखता रहता है वह ज्ञ (क्षेत्रज्ञ) है ये दो सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं)। सत्त्वशब्द जीवका वाचक है और क्षेत्रज्ञ शब्द परमात्माका वाचक है ऐसा जो कहा है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि सत्त्व और क्षेत्रज्ञशब्द अन्तःकरण और शारीरके वाचक हैं, यह प्रसिद्ध है, और उसमें ही (पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणमें ही) ऐसा व्याख्यान किया है—'तदेतत् सत्त्वं०' (जिससे स्वप्न देखता है वह सत्त्व है और जो यह शारीर उपद्रष्टा है, वह क्षेत्रज्ञ है, ऐसे ये दो सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं)

रत्नप्रभा

उद्घाटयति—अपर इति। अन्यथा—बुद्धिविलक्षणत्वंपदलक्ष्यपरत्वेन इत्यर्थः। सत्त्वम् बुद्धिरिति। शङ्कते—सत्त्वशब्द इति। बुद्धिजीवौ चेत् पूर्वपक्षार्थः स्याद् इत्यत आह—नापीति। पूर्वपक्षार्थः तदा स्याद्, यद्यत्र बुद्धिभिन्नः

**रत्नप्रभाका अनुवाद**

है। अब "अपरः" इत्यादिसे क्त्वाचिन्ताका उद्घाटन करते हैं। अन्यथा अर्थात् बुद्धिसे भिन्न जो 'त्वं' पदका लक्ष्यार्थ है तत्परत्वसे। सत्त्व बुद्धि है। शङ्का करते हैं—"सत्त्वशब्दः" इत्यादिसे। यदि बुद्धि और जीव पूर्वपक्षके अर्थ ही मन्त्रप्रतिपाद्य हों ? इस शङ्कापर कहते हैं—"नापि" इत्यादिसे। यदि यहाँ बुद्धिसे भिन्न संसारी जीवके प्रतिपादनकी इच्छा होती

(१) यद्यपि 'द्वा सुपर्णा' यह ऋक् जीवईशपरक न होनेसे इस अधिकरणका विषय नहीं है, तो भी जीवईशपरक मानकर इस ऋक्को इस अधिकरणका विषय कहा है। अब क्यों यह ऋक् जीवईशपरक नहीं है—क्यों क्त्वाचिन्ता है? इस बातका उद्घाटन—स्पष्टीकरण करते हैं 'अपर' इत्यादिसे।

भाष्य

भजते । नह्यत्र शारीरः क्षेत्रज्ञः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिना संसारधर्मेणोपेतो विवक्ष्यते । कथं तर्हि सर्वसंसारधर्मातीतो ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यमात्रस्वरूपः 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति, अनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः' इति वचनात् । 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गी० १३।२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च । तावता च विद्योपसंहारदर्शनमेवमेवावकल्पते, 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ, न ह

भाष्यका अनुवाद

इसी प्रकार यह ऋक् इस अधिकरणके पूर्वपक्षका भी प्रतिपादन नहीं करती । वस्तुतः यहां शारीर क्षेत्रज्ञ अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि संसारधर्मोंसे युक्तकी विवक्षा नहीं है । तब किसकी विवक्षा है ? सब संसारधर्मोंसे अतिक्रान्त, ब्रह्मस्वभाव, चैतन्यमात्र स्वरूपकी विवक्षा है, क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो०' ऐसा वचन है और 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'क्षेत्रज्ञं चापि०' ( क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो ) इन और दूसरी श्रुतिस्मृतियोंसे भी [ इसी अर्थका प्रतिपादन है ] । इतनेसे—केवल मंत्रव्याख्यानसे 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ०' वे दोनों सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं, ऐसे जाननेवालेमें

रत्नप्रभा

संसारी प्रतिपाद्येत । नहि अत्र संसारी विवक्ष्यते किन्तु शोधितस्त्वमर्थो ब्रह्म इत्यर्थः । श्रुतिस्मृतिभ्यश्च, अयमर्थो युक्त इति शेषः । तावता—मन्त्रव्याख्यामात्रेण । एवमेव—जीवस्य ब्रह्मत्वोक्त्यैव । नहि जीवो बुद्धिभिन्न इति विवेकमात्रेण उपसंहारो युक्तः । भेदज्ञानस्य भ्रान्तित्वात् वैफल्याच्च इति भावः । अविद्या विदुषि किमपि स्वकार्यं नाऽऽध्वंसते—न सम्पादयति, ज्ञानाग्निना स्वस्या एव दग्धत्वाद् इत्यर्थः । अविद्या नाऽऽगच्छति इति वाऽर्थः । जीवस्य ब्रह्मत्वपरमिदं वाक्यमिति पक्षे शङ्कते—कथमिति । बुद्धेर्भोक्तृत्वोक्तौ अतात्पर्यात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो पूर्वपक्षके अर्थका स्वीकार होता, यहाँ संसारीकी विवक्षा तो है नहीं, किन्तु शोधित त्वंपदार्थ ब्रह्मकी विवक्षा है । 'श्रुतिस्मृतिभ्यश्च' के बाद 'अयमर्थो युक्तः' ( यह अर्थ ठीक है ) इतना शेष समझना चाहिए । तावता—केवल मंत्रके व्याख्यानसे । एवमेव—जीव ब्रह्म है ऐसा कहनेसे ही । जीव बुद्धिसे भिन्न है, ऐसा विवेकमात्रसे उपसंहार करना ठीक नहीं है, क्योंकि भेदज्ञान मिथ्या है और विफल है अर्थात् भेदज्ञानसे परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता । विद्वान् पुरुषमें अविद्या अपने किसी कार्यका संपादन नहीं कर सकती, क्योंकि ज्ञानाग्निसे स्वयं दग्ध होनेके कारण उसकी सत्ता ही नहीं रहती । अथवा विद्वान्‌के पास अविद्या नहीं आती ऐसा अर्थ है । यह वाक्य जीवमें ब्रह्मत्वका बोध कराता है इस पक्षमें शङ्का करते हैं—''कथम्'' इत्यादिसे ।

भाष्य

वा एवंविदि किञ्चन रज आध्वंसते' इत्यादि। कथं पुनरस्मिन् पक्षे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्' इत्यचेतने सत्त्वे भोक्तृत्ववचनमिति। उच्यते। नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता। किं तर्हि? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याऽभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति। तदर्थं सुखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति। इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते। परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि सम्भवति, अचेतनत्वात् सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च

भाष्यका अनुवाद

निश्चय अविद्या कुछ भी संस्पर्श नहीं करती ) इत्यादि इस प्रकारसे विद्याका उपसंहारदर्शन जीवको ब्रह्म कहनेसे ही संगत होता है। परन्तु इस पक्षमें 'तयोरन्यः पिप्पलं०' ( उन दोनोंमेंसे एक स्वादु कर्मफलोंका भोग करता है, वह सत्त्व है ) इस प्रकार अचेतन सत्त्वमें 'भोक्ता है' यह कथन कैसे घटेगा? कहते हैं—अचेतन सत्त्वमें भोक्तृत्वका प्रतिपादन करनेके लिए यह श्रुति प्रवृत्त नहीं हुई है, किन्तु चेतन क्षेत्रज्ञ अभोक्ता और ब्रह्मस्वभाव है यह प्रतिपादन करना ही श्रुतिका लक्ष्य है। इसके लिए सुखादिविकारवाले सत्त्वमें भोक्तृत्वका अध्यारोप करती है। वस्तुतः भोक्तृत्व और कर्तृत्व सत्त्व और क्षेत्रज्ञके परस्पर स्वभावके अविवेकसे जन्य हैं ऐसी कल्पना की जाती है। वास्तविक रीतिसे तो दोनोंमेंसे एकमें भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सत्त्व अचेतन है और क्षेत्रज्ञ

रत्नप्रभा

नाऽत्र युक्तिचिन्तया मनः खेदनीयमिति आह—उच्यते इति। तदर्थम्—ब्रह्मत्वबोधनार्थं भोक्तृत्वम् उपाधिमस्तके निक्षिपति इत्यर्थः। वस्तुतो जीवस्याऽभोक्तृत्वे भोक्तृत्वधीः कथमित्यत आह—इदं हीति। चित्तादात्म्येन कल्पिता बुद्धिः सुखादिरूपेण परिणमते बुद्ध्यविवेकात् चिदात्मनः सुखादिरूपवृत्तिव्यक्तचैतन्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

बुद्धि भोक्त्री है ऐसा प्रतिपादन करनेमें इस श्रुतिका तात्पर्य नहीं है, अतः उस पक्षको दृढ़ करनेके लिए युक्तियोंके विचारसे मनको खिन्न करना ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। श्रुति जीवमें ब्रह्मत्वका बोध करानेके लिए भोक्तृत्वको उपाधिके सिरपर लादती है, ऐसा अर्थ है। यदि वस्तुतः जीव अभोक्ता है, तो जीव भोक्ता है यह बुद्धि क्यों होती है, इसपर कहते हैं—"इदं हि" इत्यादिसे। चैतन्यके तादात्म्यसे कल्पित बुद्धि सुख आदिके रूपमें

### भाष्य

क्षेत्रज्ञस्य, अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न सम्भवति । तथा च श्रुतिः----'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' इत्यादिना स्वप्नदृष्टहस्त्यादिव्यवहारवदविद्याविषय एव कर्तृत्वादिव्यवहारं दर्शयति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना च विवेकिनः कर्तृत्वादिव्यवहाराभावं दर्शयति ।।१२।।

### भाष्यका अनुवाद

विकाररहित है। और सत्त्वका स्वरूप तो अविद्यासे उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी जरा भी संभावना नहीं है, क्योंकि 'यत्र वा अन्य-दिव स्यात्०' ( जहाँ द्वित्व-सा होता है, वहां एक पुरुष दूसरेको देखता है ) इत्यादिसे श्रुति स्वप्नमें देखे हुए हस्ती आदिके व्यवहारके समान अविद्याविषयमें ही कर्तृत्व आदि व्यवहार दिखलाती है। और 'यत्र त्वस्य०' ( परन्तु जहाँ सब इसका आत्मा ही हो जाता है, वहां किससे किसको देखे ) इत्यादिसे विवेकीमें कर्तृत्व आदि व्यवहारका अभाव दिखलाती है ।। १२ ।।

### रत्नप्रभा

वत्त्वं भोक्तृत्वं भाति इत्यर्थः । भोक्तृत्वम् आविद्यकं न वस्तुत इत्यत्र मानमाह—**तथा चेति** । यत्र—अविद्याकाले चैतन्यं भिन्नमिव भवति, तदा द्रष्टृत्वादिकम्, न वस्तुनि ज्ञाते इत्यर्थः । तस्माद् "ऋतं पिबन्तौ" ( क० १।३।१ ) इति वाक्यमेव गुहाधिकरणविषय इति स्थितम् ॥ १२ ॥ (३)

### रत्नप्रभाका अनुवाद

परिणत होती है। बुद्धि मुझसे भिन्न है ऐसा विवेक न होनेके कारण आत्मामें भोक्तृत्व भासता है। सुखादिरूप वृत्तिमें व्यक्त चैतन्यसे युक्त होना ही भोक्तृत्व है। भोक्तृत्व अविद्याजन्य है वास्तविक नहीं है, इसमें प्रमाण कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे । जब—अविद्यावस्थामें चैतन्य भिन्न-सा भासता है, तब द्रष्टृत्व आदि धर्म भासते हैं, वस्तुका यथार्थज्ञान होनेपर नहीं भासते हैं, ऐसा अर्थ है । इससे सिद्ध हुआ कि 'ऋतं पिबन्तौ' यह वाक्य ही गुहाधिकरणका विषय है ॥१२॥
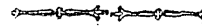
## [ ४ अन्तराधिकरण सू० १३-१७ ]

छायाजीवौ देवतेशौ वाऽसौ योऽक्षिणि दृश्यते ।
आधारदृश्यतोक्त्येशादन्येषु त्रिषु कश्चन ॥
कं खं ब्रह्म यदुक्तं प्राग् तदेवाक्षिण्युपासते ।
वामनीत्वादिनाऽन्येषु नामृतत्वादिसम्भवः *॥

### [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस श्रुतिमें प्रतिपादित पुरुष छायात्मा है अथवा जीव है अथवा देवता है या परमात्मा है ?

**पूर्वपक्ष**—उस पुरुषका नेत्ररूप आधार कहा गया है तथा वह दृश्य कहा गया है, अतः परमात्मासे भिन्न छायात्मा आदि तीनोंमेंसे एक है ।

**सिद्धान्त**—'कं ब्रह्म' इस पूर्ववाक्यमें जो ब्रह्म कहा गया है, वही प्रकृत वाक्यमें वामनीत्व आदि गुणोंसे उपास्य कहा गया है । छायात्मा आदि तीनोंमें अमृतत्व आदि धर्म सम्भव नहीं हैं, अतः उनका उपदेश नहीं है ।

---

* निष्कर्ष यह कि छान्दोग्यके चतुर्थ अध्यायमें उपकोसलविद्याप्रकरणमें शिष्य उपकोसलके प्रति गुरु सत्यकाम उपदेश देते हैं । वहाँका वाक्य है—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' । इसका अर्थ है कि गुरुने कहा—आंखमें यह जो पुरुष दीखता है, वह आत्मा है, वह अमृत है, अभय है, वह ब्रह्म है ।

इसमें संशय होता है कि वह पुरुष छायात्मा है अथवा जीव है अथवा देवतात्मा है या परमेश्वर है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि वह छायात्मा है, क्योंकि नेत्र उस पुरुषके निवास स्थान कहे गये हैं और वह दृश्य कहा गया है, छायात्मा नेत्रमें रहता है और दृश्य है यह बात प्रत्यक्ष है । अथवा वह जीव हो सकता है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रियद्वारा रूपको देखते समय जीव नेत्रमें सन्निहित होता है । अथवा देवता हो सकता है, क्योंकि 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' ( ऐ० आ० २।४।२ ) ( सूर्यने चक्षुरिन्द्रिय होकर नेत्र-गोलकमें प्रवेश किया ) ऐसी श्रुति है । परमात्मा कदापि नहीं हो सकता है, क्योंकि परमात्मा निराधार एवं अदृश्य है । अतः छायात्मा, जीव और देवता इन तीनोंमेंसे एक है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस प्रकार सुखरूप आकाशके समान परिपूर्ण जो ब्रह्म पूर्ववाक्यमें कहा गया है, उसी ब्रह्मका 'य एषोऽक्षिणि' इसमें प्रकृतवाचक 'एतत्' शब्दसे परामर्श करके वह चक्षुरिन्द्रियमें उपास्य है ऐसा उपदेश कर वामनीत्व, भामनीत्व, संयद्वामत्व आदि गुणोंकी उपासनाके लिए [गुरु] उसीका उपदेश करता है । वामनीत्व—कामोंकी प्राप्ति कराना । भामनीत्व—जगत्का भासक होना । संयद्वामत्व—प्राप्तकाम होना । इन गुणोंसे उपास्यमान ब्रह्म सोपाधिक है अतः नेत्र उसके आधार होते हैं और वह शास्त्रदृष्टिसे दृश्य—ज्ञेय भी है । इस प्रकार नेत्राधारत्व एवं दृश्यत्व परमात्मामें उपपन्न होते हैं । छायात्मा, जीव और देवताओंमें श्रुत्युक्त अमृतत्व, अभयत्व आदि धर्म नहीं है । अतः यहां परमात्मा ही उपास्य है ।

## अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥

**पदच्छेद**—अन्तरः, उपपत्तेः ।

**पदार्थोक्ति**—अन्तरः—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति श्रुतौ प्रतिपाद्यमानः अक्षिमध्यगतः [ परमात्मैव, न छायात्मादिः, कुतः ] उपपत्तेः—इहोक्तानां आत्मत्वामृतत्वाभयत्वादिधर्माणां परमात्मन्येवोपपत्तेः [ अतः नेत्राभ्यन्तरः परमात्मैव ।

**भाषार्थ**—'य एषोऽक्षिणि०' (आंखमें जो यह पुरुष दीखता है) इस श्रुतिसे प्रतिपाद्यमान नेत्राभ्यन्तरगत पुरुष परमात्मा ही है, छायात्मा आदि नहीं, क्योंकि उक्त श्रुतिमें कथित आत्मत्व, अमृतत्व, अभयत्व आदि धर्म परमात्मामें ही उपपन्न होते हैं, छायात्मा आदिमें उपपन्न नहीं होते, अतः नेत्रके भीतर रहनेवाला पुरुष परमात्मा ही है ।
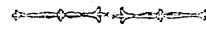
*भाष्य*

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति, तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' ( छा० ४।१५।१ ) इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः—किमयं प्रतिबिम्बा-

*भाष्यका अनुवाद*

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो०' (आंखमें जो यह पुरुष दीखता है, वह आत्मा है, ऐसा उसने कहा, वह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है, उस पुरुषके स्थानमें यदि घी या जल डाला जाय तो वह पक्ष्मोंमें ही जाता है ) इत्यादि श्रुति है। यहांपर संशय होता है कि आंखमें स्थित यह क्या प्रतिबिम्बात्मा है या विज्ञा-

---

*रत्नप्रभा*

**अन्तर उपपत्तेः** । उपकोसलविद्यावाक्यम् उदाहरति—**य इति** । तद् अक्षिस्थानम् असङ्गत्वेन ब्रह्मणोऽनुरूपम्, यतः अस्मिन् क्षिप्तं वर्त्मनी पक्ष्मणी एव गच्छति इत्यर्थः । दर्शनस्य लौकिकत्वशास्त्रीयत्वाभ्यां संशयमाह—**तत्रेति** ।

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

"अन्तर उपपत्तेः"। उपकोसल विद्यामें पठित वाक्यको उद्धृत करते हैं—"यः" इत्यादिसे। वह—नेत्ररूप स्थान संगरहित होनेके कारण ब्रह्मके अनुरूप है, क्योंकि उसमें डाला हुआ पानी या घी पक्ष्मोंमें ही जाता है अर्थात् निर्लेप ईश्वरके लिए निर्लेप आँख ही अनुकूल स्थान है।

भाष्य

त्माक्ष्यधिकरणो निर्दिश्यतेऽथवा विज्ञानात्मा उत देवतात्मेन्द्रियस्याधिष्ठाताऽथवेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तम् ?

छायात्मा पुरुषप्रतिरूप इति। कुतः ? तस्य दृश्यमानत्वप्रसिद्धेः। 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति च प्रसिद्धवदुपदेशात्। विज्ञानात्मनो वाऽयं निर्देश इति युक्तम्। स हि चक्षुषा रूपं पश्यंश्चक्षुषि सन्निहितो भवति, आत्मशब्दश्चाऽस्मिन् पक्षेऽनुकूलो भवति। आदित्यपुरुषो वा चक्षुषोऽनुग्राहकः प्रतीयते, 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः' (बृ० ५।५।२)

भाष्यका अनुवाद

नात्मा या इन्द्रिय ( आंख ) का अधिष्ठाता देवता या ईश्वर है। यहां क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—पुरुषके प्रतिबिम्ब छायात्माका निर्देश है, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष दिखाई देना प्रसिद्ध है। और 'य एषोऽक्षिणि०' ( आंखमें जो यह पुरुष दीखता है ) इस प्रकार प्रसिद्धके समान उपदेश भी है, अतः छायात्मा ही है। अथवा यह विज्ञानात्माका निर्देश हो सकता है, क्योंकि वह आंखसे रूपको देखता हुआ आंखमें स्थित होता है। इस पक्षमें आत्मशब्द भी अनुकूल होता है। अथवा आंखके ऊपर अनुग्रह करनेवाले आदित्यपुरुषकी प्रतीति होती है,

रत्नप्रभा

पूर्वत्र पिबन्तौ इति प्रथमश्रुतचेतनत्वानुसारेण चरमश्रुता गुहाप्रवेशादयो नीताः, तद्वद् इहाऽपि दृश्यते इति चाक्षुषत्वानुसारेण अमृतत्वादयो ध्यानार्थं कल्पितत्वेन नेया इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—छायात्मेति। पूर्वपक्षे प्रतिबिम्बोपास्तिः, सिद्धान्ते ब्रह्मोपास्तिः इति फलम्। प्रसिद्धवदिति। चाक्षुषत्वेन इत्यर्थः। सम्भावनामात्रेण पक्षान्तरमाह—विज्ञानात्मन इत्यादिना। "मनो

रत्नप्रभाका अनुवाद

दर्शन लौकिक और शास्त्रीय होता है, इससे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पिछले अधिकरणमें 'ऋतं पिबन्तौ' इसमें जीव और परमात्माके चेतन होनेके कारण प्रथम अवगति हुई अतः उसके अनुसार चरमश्रुत गुहाप्रवेश आदिका व्याख्यान किया है, उसी प्रकार [ 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' ] यहाँ भी 'दृश्यते' ( दीखता है ) इस लौकिक दर्शनसे छायापुरुषकी अवगति होती है, इसलिए उसके अनुसार अमृतत्व, अभयत्व आदिकी ध्यानके लिए कल्पना की गई है इस दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"छायात्मा" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें प्रतिबिम्बकी उपासना फल है और सिद्धान्तमें ब्रह्मकी उपासना फल है। "प्रसिद्धवत्", चाक्षुष होनेके कारण। सम्भावनामात्रसे पक्षान्तर कहते हैं—"विज्ञानात्मन" इत्यादिसे। "मनो ब्रह्म" मन ब्रह्म है' इस

भाष्य

इति श्रुतेः। अमृतत्वादीनां च देवतात्मन्यपि कथंचित्संभवात्। नेश्वरः, स्थानविशेषनिर्देशाद्।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवाऽक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट इति। कस्मात्? उपपत्तेः। उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपदिश्यमानम्। आत्मत्वं तावन्मुख्यया वृत्त्या परमेश्वर उपपद्यते, 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रुतेः। अमृतत्वाभयत्वे च तस्मिन्नसकृच्छ्रुतौ श्रूयेते। तथा परमेश्वरानुरूपमेतदक्षिस्थानम्। यथा हि परमेश्वरः सर्वदोषैरलिप्तः, अपहतपाप्मत्वादिश्रवणात् तथाऽक्षिस्थानं सर्वलेपरहितमुपदिष्टम्, 'तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि 'रश्मिभिरेषो०' ( किरणोंसे सूर्य आंखमें प्रतिष्ठित है ) ऐसी श्रुति है, और अमृतत्व आदिका देवतात्मामें यथाकथञ्चित् सम्भव भी है। परन्तु ईश्वर नहीं ( समझा जाता ), क्योंकि स्थानविशेषका निर्देश है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आंखमें रहनेवाला पुरुष परमेश्वर ही है ऐसा उपदेश किया गया है, क्योंकि श्रुतिमें कहे गये गुण उसीमें घटते हैं। जिन गुणोंका यहां उपदेश है, वे परमेश्वरमें ही घटते हैं। प्रथम तो आत्मत्व मुख्यवृत्तिसे परमेश्वरमें घटता है, क्योंकि 'स आत्मा०' ( वह आत्मा है, वह तू है ) ऐसी श्रुति है। अमृतत्व और अभयत्वका श्रुतिमें परमेश्वरके लिए ही बारबार प्रयोग देखा गया है, इसी प्रकार यह नेत्र स्थान परमेश्वरके अनुरूप है। जैसे परमेश्वर सब दोषोंसे अस्पृष्ट है, क्योंकि श्रुति उसमें पापरहितत्व आदि धर्मोंका प्रतिपादन करती है, उसी प्रकार अक्षिस्थान सब लेपोंसे रहित

रत्नप्रभा

ब्रह्म'' इतिवत् 'एतद् ब्रह्मेति' इति वाक्यस्य इतिपदशिरस्कत्वात् न स्वार्थपरत्वमिति पूर्वपक्षः। ''मनो ब्रह्मेत्युपासीत'' इत्यत्र इतिपदस्य प्रत्ययपरत्वात्, इह च ब्रह्मेत्युवाच इत्यन्वयेन इतिपदस्य उक्तिसम्बन्धिनोऽर्थपरत्वाद् वैषम्यमिति सिद्धान्तयति—परमेश्वर एवेति। बहुप्रमाणसंवादः तात्पर्यानुग्राहक इति न्यायानु-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्यके समान 'एतद्ब्रह्मेति' ( यह ब्रह्म है ) इस वाक्यमें भी 'इति' शब्द ब्रह्मपदके बाद पढ़ा गया है, इसलिए उक्त वाक्य स्वार्थपरक नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष है। 'मनो ब्रह्मे०' ( मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनी चाहिए ) यहाँपर 'इति' पद ज्ञानपरक है और यहाँपर 'ब्रह्मेत्युवाच'में 'उक्ति' से सम्बन्ध रखनेवाला 'इति' पद अर्थपरक है, यह अन्तर है इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—''परमेश्वर एव'' इत्यादिसे। बहुत प्रमाणोंकी एकार्थसाधकता तात्पर्यका निश्चय

भाष्य

**वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' इति श्रुतेः। संयद्वामत्वादिगुणोपदेशश्च तस्मिन्नवकल्पते 'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति, एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति' 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१५।२,३,४) इति च। अत उपपत्तेरन्तरः परमेश्वरः ॥ १३ ॥**

भाष्यका अनुवाद

कहा गया है, क्योंकि 'तद्यद्यप्यस्मिन्०' ( यदि इसमें घी या जल डाला जाय तो वह पलकोंमें ही जाता है ) ऐसी श्रुति है। श्रुतिमें कहे गये सकल कामनाओंका हेतु होना इत्यादि धर्म उसमें ही घटते हैं। 'एतं संयद्वाम०' ( इसको 'संयद्वाम' कहते हैं, क्योंकि सब कर्मफल इसके आश्रयसे ही उत्पन्न होते हैं ), 'एष उ एत०' ( यही निश्चय वामनी है, क्योंकि यह सब फलोंको प्राप्त कराता है ) और 'एष उ एव०' ( यही निश्चय भामनी है, क्योंकि यह सब लोकोंमें प्रकाशित होता है ) ये सब श्रुतियां उसमें ही घटती हैं। श्रुत्युक्त धर्म परमेश्वरमें ही घटते हैं, इसलिए अक्षिपुरुष परमेश्वर है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

गृहीताभ्याम् आत्मब्रह्मश्रुतिभ्यां दृश्यत्वलिङ्गं बाध्यम् इत्याह—**संयद्वामेति**। वामानि कर्मफलानि एतम् अक्षिपुरुषम् अभिलक्ष्य संयन्ति उत्पद्यन्ते, सर्वफलोदयहेतुः इत्यर्थः। लोकानां फलदाताऽपि अयमेवेत्याह—**वामनीरिति**। नयति फलानि लोकान् प्रापयति इत्यर्थः। भामानि—भानानि नयति अयम् इत्याह—**भामनीरिति**। सर्वार्थप्रकाशक इत्यर्थः ॥ १३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कराती है इस न्यायसे अनुगृहीत आत्मा और ब्रह्मकी श्रुतिसे दृश्यत्वलिङ्गका बाध होता है, ऐसा कहते हैं—"संयद्वाम" इत्यादिसे। वाम—कर्मफल, अक्षिपुरुषसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् अक्षिपुरुष सब फलोंकी उत्पत्तिमें कारण है। लोकोंको कर्मका फल भी यही देता है ऐसा कहते हैं—"वामनीः" इत्यादिसे। नयति—लोकोंको फल पहुँचाता है। भाम—प्रकाश देनेवाला यही है, ऐसा कहते हैं—"भामनीः" इत्यादिसे। अर्थात् यह सर्वार्थप्रकाशक है ॥ १३ ॥
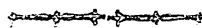
## स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

पदच्छेद—स्थानादिव्यपदेशात्, च ।

पदार्थोक्ति—स्थानादिव्यपदेशात्—यश्चक्षुषि तिष्ठन्' 'तस्योदिति नाम' 'हिरण्यश्मश्रुः' इति स्थाननामरूपाणां व्यपदेशात्, [इह] च—अपि [ परमात्मनः अक्षिस्थानत्वव्यपदेशो नानुपपन्न इति अत्र परमात्मैव आन्तरः ] ।

भाषार्थ—'यश्चक्षुषि०' ( जो आंखमें रहकर ), 'तस्योदिति०' ( उसका 'उद्' नाम है ), 'हिरण्य०' ( उसकी ज्योतिर्मय मूंछे हैं ) इस प्रकार श्रुतिमें स्थान, नाम तथा रूप कहे गये हैं, अतः यहां भी परमात्मा नेत्रमें है यह कहना ठीक ही है, इस कारण 'य एषोऽक्षिणि०' इस श्रुतिमें परमात्मा ही आन्तर पुरुष कहा गया है ।

*भाष्य*

कथं पुनराकाशवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽक्ष्यल्पस्थानमुपपद्यत इति । अत्रोच्यते—भवेदेषाऽनवक्लृप्तिः, यद्येतदेवैकं स्थानमस्य निर्दिष्टं भवेत् । सन्ति ह्यन्यान्यपि पृथिव्यादीनि स्थानान्यस्य निर्दिष्टानि—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' ( बृ० ३।७।३ ) इत्यादिना । तेषु हि चक्षुरपि निर्दिष्टम्—'यश्च-

*भाष्यका अनुवाद*

परन्तु आकाशके समान सर्वव्यापक ब्रह्म नेत्ररूप अल्पस्थानमें किस प्रकार रह सकता है ? इस विषयम कहा जाता है—यदि उसका यही एक स्थान निर्दिष्ट होता तो यह अनुपपत्ति होती । परन्तु 'यः पृथिव्यां०' (जो पृथिवीमें रहकर ) इत्यादिसे पृथिवी आदि दूसरे स्थान भी उसके लिए निर्दिष्ट हैं । उनमें

*रत्नप्रभा*

स्थानादिव्यपदेशाच्च । स्थाननामरूपाणां ध्यानार्थं श्रुत्यन्तरेऽपि उपदेशाद् अक्षिस्थानत्वोक्तिः अत्र न दोष इति सूत्रयोजना । अनवक्लृप्तिः अक्लृप्तकल्पना

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

"स्थानादिव्यपदेशाच्च" । स्थान, नाम और रूपका ध्यानके लिए दूसरी श्रुतिमें भी उपदेश है, इस कारण ब्रह्मको अक्षिस्थान कहना अयुक्त नहीं है, ऐसी सूत्रकी योजना करनी चाहिए ।

भाष्य

क्षुषि तिष्ठन्' इति। 'स्थानादिव्यपदेशात्' इत्यादिग्रहणेनैतद्दर्शयति—न केवलं स्थानमेवैकमनुचितं ब्रह्मणो निर्दिश्यमानं दृश्यते, किं तर्हि? नामरूपमित्येवंजातीयकमप्यनामरूपस्य ब्रह्मणोऽनुचितं निर्दिश्यमानं दृश्यते—'तस्योदिति नाम' 'हिरण्यश्मश्रुः' (छा० १।६।७,६) इत्यादि। निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सर्वगतस्याऽपि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते, शालग्राम इव विष्णोरित्येतदप्युक्तमेव ॥१४॥

भाष्यका अनुवाद

'यश्चक्षुषि०' ( जो आंखमें रहकर ) इस प्रकार आंख भी निर्दिष्ट है। 'स्थानादि०' इस सूत्रमें 'आदि' पदके ग्रहणसे सूत्रकार यह दिखलाते हैं कि केवल अनुचित स्थानका ही ब्रह्ममें निर्देश नहीं दिखाई देता, किन्तु नाम और रूपसे रहित ब्रह्ममें अनुचित नाम और रूप आदिका भी निर्देश दिखाई देता है। तस्योदिति०' (उसका 'उद्' नाम है), 'हिरण्यश्मश्रुः' (वह सुवर्णमय मूंछवाला है) इत्यादि नाम और रूपका ग्रहण है। ब्रह्म निर्गुण है, तो भी उपासनाके लिए स्थल-स्थलपर सगुणकी तरह नाम और रूपसे उसका उपदेश किया जाता है, यह पीछे कहा जा चुका है। जैसे उपासनाके लिए विष्णुका शालग्राममें उपदेश अनुचित नहीं है, उसी प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्मका भी ध्यानके लिए विशिष्ट स्थानमें उपदेश विरुद्ध नहीं है, यह भी पीछे कहा जा चुका है ॥ १४ ॥

रत्नप्रभा

तदा भवेद्, यदि अत्रैव निर्दिष्टं भवेद् इत्यन्वयः। ननु अनुचितबाहुल्योक्तिः असमाधानमित्याशङ्क्य युक्तिमाह—**निर्गुणमपीति** ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि केवल यहीं स्थानका निर्देश होता तो अक्लृप्तकी कल्पना होती ऐसा अन्वय है। अनुचित बहुत धर्मोंका कथनमात्र समाधान नहीं हो सकता है ऐसी आशङ्का करके उस विषयमें युक्ति कहते हैं—"निर्गुणमपि" इत्यादिसे ॥ १४ ॥
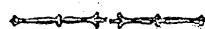
## सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१५॥

**पदच्छेद**—सुखविशिष्टाभिधानात्, एव, च।

**पदार्थोक्ति**—सुखविशिष्टाभिधानादेव—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति वाक्योपक्रमे श्रूयमाणसुखविशिष्टब्रह्मण एव अत्र अभिधानात्, च—अपि [ इह परमात्मैव अन्तरः ]।

**भाषार्थ**—'प्राणो ब्रह्म०' ( प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है ) इस प्रकार वाक्यके उपक्रममें प्रतिपादित सुखविशिष्ट ब्रह्मका ही यहां अभिधान है, इससे भी सिद्ध होता है कि 'य एषोऽक्षिणि०' इस श्रुतिमें परमात्मा ही अन्तर पुरुष कहा गया है।
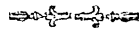
*भाष्य*

**अपि च नैवाऽत्र विवदितव्यम्—किं ब्रह्माऽस्मिन्वाक्येऽभिधीयते न वेति। सुखविशिष्टाभिधानादेव ब्रह्मत्वं सिद्धम्। सुखविशिष्टं हि ब्रह्म यद्वाक्योपक्रमे प्रक्रान्तम् 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, तदेवेहाऽभिहितम्, प्रकृतपरिग्रहस्य न्याय्यत्वात्। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (छा०**

*भाष्यका अनुवाद*

और इस वाक्यमें ब्रह्मका अभिधान है या नहीं इस विषयमें विवाद करना ठीक नहीं है, क्योंकि सुखविशिष्टके अभिधानसे ही ब्रह्मत्व सिद्ध है। 'प्राणो ब्रह्म०' ( प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है, खं ब्रह्म है ) इस प्रकार वाक्यके आरम्भमें जो सुखविशिष्ट ब्रह्म प्रस्तुत है, उसका ही यहां अभिधान है, क्योंकि प्रस्तुतका

---

*रत्नप्रभा*

प्रकरणादपि ब्रह्म ग्राह्यमित्याह—**सुखविशिष्टेति**। ध्यानार्थं भेदकल्पनया सुखगुणविशिष्टस्य ब्रह्मणः प्रकृतस्य य एष इति सर्वनाम्नाऽभिधानाद् अन्तरः परमात्मा स्याद् इति सूत्रार्थः। ननु प्रकरणात् प्रबलेन दृश्यत्वलिङ्गेन उपस्थापितः छायात्मा सर्वनामार्थ इत्यत आह—**आचार्यस्त्विति**। उपकोसलो नाम

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

प्रकरणसे भी ब्रह्मका ही ग्रहण करना युक्त है ऐसा कहते हैं—"सुखविशिष्ट" इत्यादिसे। ध्यानके लिए भेदकी कल्पना की गई है, अतः सुखविशिष्ट प्रकृत ब्रह्मका ही 'य एषः' इस प्रकार सर्वनामपदसे अभिधान है, इससे अक्षिगत पुरुष परमात्मा है, ऐसा सूत्रार्थ निष्पन्न होता है। परन्तु प्रकरणसे प्रबल 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इसमें जो दृश्यत्व लिङ्ग है, उससे 'य

भाष्य

४।१४।१) इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानात्। कथं पुनर्वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म विज्ञायत इति। उच्यते—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्येतदग्नीनां वचनं श्रुत्वोपकोसल उवाच—'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म

भाष्यका अनुवाद

ग्रहण ही उचित है। 'आचार्यस्तु ते०' (आचार्य तो तुमसे मार्ग कहेगा) इस तरह गतिमात्रके अभिधानकी प्रतिज्ञा की है। परन्तु वाक्यके आरम्भमें सुख-विशिष्ट ब्रह्मका विज्ञान कैसे होता है? इसपर कहते हैं—प्राणो ब्रह्म०' (प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है, खं ब्रह्म है) अग्नियोंका यह वचन सुनकर उपकोसलने कहा—'विजानाम्यहं०' (सूत्रात्मा प्राण बृहत् होनेके कारण ब्रह्म है यह मैं जानता

रत्नप्रभा

कश्चिद् ब्रह्मचारी जाबालस्य आचार्यस्य अग्नीन् द्वादश वत्सरान् परिचचार। तमनुपदिश्य देशान्तरगते जाबाले गार्हपत्याद्यग्निभिः दयया 'प्राणो ब्रह्म' इत्यात्म-विद्याम् उपदिश्य उक्तम्—**आचार्यस्त्विति**। तव आत्मविद्याफलावाप्तये मार्गम् अर्चिरादिकं वदिष्यति इत्यर्थः। पश्चाद् आचार्येण आगत्य 'य एषोऽक्षिणि' इत्युक्त्वा अर्चिरादिका गतिः उक्ता। तथा चाऽग्निभिः उक्तात्मविद्यावाक्यस्य गति-वाक्येन एकवाक्यता वाच्या। सा च सर्वनाम्ना प्रकृतात्मग्रहे निर्वहति इत्येक-वाक्यतानिर्वाहकं प्रकरणं वाक्यभेदकात् लिङ्गाद् बलवदिति भावः। श्रुतिं व्याचष्टे—**उच्यत इति**। प्राणश्च सूत्रात्मा बृहत्त्वाद् ब्रह्म, इति यत्तत् जानामि। कम्—विषयसुखम्, खम्—च भूताकाशं ब्रह्मत्वेन ज्ञातुं न शक्नोमि इत्यर्थः। खं कथम्भू-

रत्नप्रभाका अनुवाद

एषः' इस सर्वनामका अर्थ छायात्मा है, इस शङ्कापर कहते हैं—"आचार्यस्तु" इत्यादिसे। उपकोसल नामके किसी ब्रह्मचारीने जाबाल आचार्यकी अग्नियोंकी बारह वर्ष तक परिचर्या की। जब उसको उपदेश किये बिना जाबाल देशान्तर चले गये, तब दया करके गार्हपत्य आदि अग्नियोंने 'प्राणो ब्रह्म' इस प्रकार आत्मविद्याका उपदेश करके कहा—"आचार्यस्तु" इत्यादि। अर्थात् आत्मविद्याके फलकी प्राप्तिके लिए आचार्य तुम्हें अर्चि आदि मार्गका उपदेश देंगे। तदनन्तर आचार्यने परदेशसे लौटकर 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि कहकर अर्चि आदि मार्गका उपदेश दिया। अब अग्नियोंसे कहे गये आत्मविद्यावाक्यकी गतिवाक्यके साथ एकवाक्यता करनी चाहिए। उस एकवाक्यताका 'य एषः' इस सर्वनामसे प्रकृत आत्माका ग्रहण करने-पर ही निर्वाह होता है। इसलिए एकवाक्यताका निर्वाहक प्रकरण वाक्यभेदक लिङ्गसे बलवान् है ऐसा तात्पर्य है। श्रुतिका व्याख्यान करते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। प्राण—

भाष्य

कं च खं च तु न विजानामि' इति। तत्रेदं प्रतिवचनम्—'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' (छा० ४।१०।५) इति। तत्र खंशब्दो भूताकाशे निरूढो लोके। यदि तस्य विशेषणत्वेन कंशब्दः सुखवाची नोपादीयेत, तथा सति केवले भूताकाशे ब्रह्मशब्दो नामादिष्विव प्रतीकाभिप्रायेण प्रयुक्त इति प्रतीतिः स्यात्। तथा कंशब्दस्य विषयेन्द्रियसंपर्कजनिते सामये

भाष्यका अनुवाद

हूँ, किन्तु कम्—विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जन्य सुख और खम्—भूताकाश किस प्रकार ब्रह्म है यह मैं नहीं जानता)। तब उसे यह प्रतिवचन मिला कि 'यद्वाव कं तदेव०' (जो कं–सुख है वही खं–आकाश है, जो खं–आकाश है, वही कं–सुख है) इस श्रुतिमें कहे गये 'खं' शब्दकी भूताकाशमें व्यावहारिक रूढि है। यदि उसके विशेषणरूपसे सुखवाची 'कं' शब्दका ग्रहण न करें, तो नाम आदि प्रतीकोंमें जैसे ब्रह्मका प्रयोग है, वैसे ही प्रतीकके अभिप्रायसे केवल भूताकाशमें ब्रह्मशब्द प्रयुक्त है, ऐसी प्रतीति होगी। उसी प्रकार विषय और

रत्नप्रभा

तम्, यत्कं तदेव खमिति सुखेन विशेषितस्य खस्य भूतत्वनिरासः। तथा कं कथम्भूतम्, यत् खं तदेव कमिति विभुत्वेन विशेषितस्य कस्य जन्यत्वनिरास इति व्यतिरेकमुखेनाऽऽह—तत्र खमित्यादिना। "आत्मविद्या" (छा० ४।१४।१) इति श्रुतिविरोधात् प्रतीकध्यानम् अत्रानिष्टमिति भावः। **सामय इति**। आमयो दोषः—साधनपारतन्त्र्यानित्यत्वादिः, तत्सहित इत्यर्थः। प्रत्येकग्रहणे दोषम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रात्मा बृहत् होनेके कारण ब्रह्म है, इसको मैं जानता हूँ, परन्तु कं—विषय और इन्द्रियोंके संसर्गसे उत्पन्न हुआ अनित्य लौकिक सुख और खं–अचेतन भूताकाशको मैं ब्रह्म नहीं जान सकता ऐसा अर्थ है। यहांपर खं कैसा लिया गया है? जो कं है वही खं है इस प्रकार सुखविशेषित होनेके कारण खं (आकाश) में भूतत्वका निरास होता है। इसी प्रकार कं कैसा लिया गया है? जो खं है वही कं है, ऐसा विभुत्वसे विशिष्ट होनेके कारण कं (सुख) में जन्यत्वका निरास होता है, ऐसा व्यतिरेकसे कहते हैं—"तत्र खम्" इत्यादिसे। 'आत्मविद्या' इस श्रुतिके साथ विरोध[1] होनेके कारण प्रतीक द्वारा ध्यान यहां अभीष्ट नहीं है। आमय—साधन-

(१) 'एषा सौम्य तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (हे सोम्य! यह अपनी विद्या तथा आत्मविद्या तुमसे कही गई, आचार्य मार्गका उपदेश करेंगे) इस श्रुतिसे सिद्ध है कि 'प्राणो ब्रह्म' इत्यादि आत्मविद्याका उपदेश है। आत्मविद्या तो यहां सगुण ब्रह्म की उपासनारूप है, अतः 'खं ब्रह्म' इसमें भूताकाश प्रतीक है ऐसा मानें तो उपर्युक्त श्रुतिसे विरोध होगा।

भाष्य

सुखे प्रसिद्धत्वात्, यदि तस्य खंशब्दो विशेषणत्वेन नोपादीयेत, लौकिकं सुखं ब्रह्मेति प्रतीतिः स्यात्। इतरेतरविशेषितौ तु कंखंशब्दौ सुखात्मकं ब्रह्म गमयतः। तत्र द्वितीये ब्रह्मशब्देऽनुपादीयमाने कं खं ब्रह्मेत्येवोच्यमाने कंशब्दस्य विशेषणत्वेनैवोपयुक्तत्वात् सुखस्य गुणस्याऽध्येयत्वं स्यात्, तन्मा भूदित्युभयोः कंखंशब्दयोर्ब्रह्मशब्दशिरस्त्वं 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति। इष्टं हि सुखस्यापि गुणस्य गुणिवद् ध्येयत्वम्। तदेवं

भाष्यका अनुवाद

इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न हुए सदोष सुखमें 'कं' शब्दकी प्रसिद्धि होनेके कारण यदि उसके विशेषणरूपसे 'खं' शब्दका ग्रहण न करेंगे तो लौकिक सुख ब्रह्म है, ऐसी प्रतीति होगी। परन्तु परस्पर एक दूसरेके विशेषण हुए 'कं' औ 'खं' शब्द सुखात्मक ब्रह्मकी प्रतीति कराते हैं। उसमें यदि दूसरे ब्रह्मशब्दका ग्रहण न करें—'कं खं ब्रह्म' इतना ही कहें, तो 'कं' शब्दका विशेषणरूपसे ही उपयोग होनेके कारण गुणभूत सुख ध्येय न होगा, ऐसा न हो इसके लिए दोनों—'कं और 'खं' शब्द—के साथ 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस प्रकार ब्रह्मशब्दका प्रयोग किया है। यद्यपि सुख गुण है, तो भी गुणी ब्रह्मकी तरह उसका ध्यान

रत्नप्रभा

उक्त्वा द्वयोः ग्रहणे फलितमाह—**इतरेतरेति**। विशेषितार्थकौ इत्यर्थः। ननु एकं ब्रह्मैवाऽत्र ध्येयं चेद्, ब्रह्मपदान्तरं किमर्थम् इत्यत आह—**तत्रेति**। विशेषणत्वेन—खस्य भूतत्वव्यावर्त्तकत्वेन इत्यर्थः। ब्रह्मशब्दः शिरो ययोस्तत्त्वमिति विग्रहः। अध्येयत्वे को दोषः, तत्राह—**इष्टं हीति**। मार्गोक्त्या सगुणविद्यात्वावगमात् इति भावः। आत्मविद्यापदेन उपसंहारादपि ब्रह्म इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

परतंत्रता और नाशवत्ता आदि दोष, उनसे युक्त "सामय" अर्थात् लौकिक सुख साधनके अधीन है और नाशवान् है। प्रत्येकको पृथक् पृथक् लेनेमें दोष कहकर दोनोंको साथ लेनेमें फल कहते हैं—"इतरेतर" इत्यादिसे। अर्थात् दोनोंके अर्थमें परस्पर विशेष्यविशेषणभाव है। यदि यहां ध्येय एक ही ब्रह्म हो तो दूसरे ब्रह्मपदका क्या प्रयोजन है ? इसपर कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। 'विशेषणत्वेन'—आकाशमें भूतत्वका व्यावर्तक होनेसे। ब्रह्मशब्द है सिर-जिनका वे पद ब्रह्मशब्दशिरसी कहे जाते हैं, उनमें रहनेवाला धर्म ब्रह्मशब्दशिरस्त्व है, ऐसा विग्रह समझना चाहिए। यदि गुण ध्येय न हो तो क्या दोष है ? इसपर कहते हैं—"इष्टं हि" इत्यादिसे। मार्ग कहा गया है इससे मालूम होता है कि सगुणविद्याका उपदेश है। 'आत्म-

भाष्य

वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्मोपदिष्टं प्रत्येकं च गार्हपत्यादयोऽग्नयः स्वं स्वं महिमानमुपदिश्य 'एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या च' इत्युपसंहरन्तः पूर्वत्र ब्रह्म निर्दिष्टमिति ज्ञापयन्ति। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानमर्थान्तरविवक्षां वारयति। 'यथा पुष्करपलाशम् आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४।१४।३) इति चाऽक्षिस्थानं पुरुषं विजानतः पापेनाऽनुपघातं ब्रुवन्नक्षिस्थानस्य पुरुषस्य ब्रह्मत्वं दर्शयति। तस्मात् प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्षिस्थानतां संयद्वा-

भाष्यका अनुवाद

करना अभीष्ट है। इसलिए इस प्रकार वाक्यके आरम्भमें सुखविशिष्ट ब्रह्मका उपदेश किया है। और गार्हपत्य आदि अग्नियोंमेंसे प्रत्येकने अपनी अपनी महिमाका उपदेश करके—'एषा सोम्य०' ( हे सोम्य! यह अपनी विद्या और आत्मविद्या हमने तुमसे कही ) इस प्रकार उपसंहार करती हुई अग्नियां पहले ब्रह्मका उपदेश है, ऐसा ज्ञान कराती हैं। आचार्यस्तु०' इस फलमात्रके अभिधानकी प्रतिज्ञा अन्य अर्थकी विवक्षा रोकती है। 'यथा पुष्करपलाश०' ( जैसे कमलपत्रमें जल नहीं ठहरता, वैसे ही इस प्रकार जाननेवालेको पापकर्म स्पर्श नहीं करता ) इस प्रकार श्रुति अक्षिगत पुरुषको जाननेवालेमें पापके संबन्धका निषेध

रत्नप्रभा

प्रत्येकं चेति। पृथिवी, अग्निः, अन्नम्, आदित्य इति मम चतस्रः तनवो विभूतिः इति गार्हपत्य उपदिदेश। आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति अन्वाहार्यपचन उवाच। प्राण आकाशो द्यौः विद्युदिति स्वमहिमानम् आहवनीयो जगादेति भावः। इयम् अस्माकमग्नीनां विद्या प्रत्येकमुक्ता। आत्मविद्या तु पूर्वम् अस्माभिः मिलित्वा 'प्राणो ब्रह्म इत्युक्तेत्यर्थः। उच्यतामग्निभिर्ब्रह्म, छायात्मा गुरुणोच्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विद्या' पदसे उपसंहार किया है, इससे भी प्रकृत ब्रह्म है, ऐसा कहते हैं—"प्रत्येकं च" इत्यादिसे। उपकोसलको गार्हपत्यने उपदेश किया कि पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य ये चार मेरे शरीर—विभूतियां हैं [और आदित्यमें जो यह पुरुष दीखता है, वह मैं हूँ]। अन्वाहार्य अग्निने भी उपदेश किया कि जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा ये मेरी विभूतियां हैं [और चन्द्रमामें जो यह पुरुष दीखता है, वह मैं हूँ]। आहवनीयने भी उपदेश किया कि प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् ये चार मेरी विभूतियाँ हैं [ और विद्युतमें यह जो पुरुष दीखता है, वह मैं हूँ ]। इस प्रकार प्रत्येक अग्निने अपनी अपनी महिमाका वर्णन कर कहा कि हे सोम्य! यह अपनी अपनी विद्या तुमसे कही, आत्मविद्या तो हम सबने मिलकर पहले ही 'प्राणो ब्रह्म'

भाष्य

सत्यादिगुणतां चोक्त्वार्चिरादिकां तद्विदो गतिं वक्ष्यामीत्युपक्रमते—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ४।१५।१) इति ॥१५॥

भाष्यका अनुवाद

कर अक्षिस्थ पुरुषको ब्रह्म कहती है। 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो०' ( आंखमें जो पुरुष दीखता है, वह आत्मा है ) इत्यादिसे आचार्य प्रकृत ब्रह्मके ही अक्षिस्थता, संयद्वामता आदि गुणोंको कह कर उसको जाननेवालेकी अर्चि आदि गतिको कहूँगा, ऐसा उपक्रम करते हैं ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

ताम्, वक्तृभेदात् इति तत्राह—आचार्यस्त्विति । एकवाक्यतानिश्चयाद् वक्तृभेदेऽपि नार्थभेद इत्यर्थः ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार कहा है, ऐसा अर्थ है। अग्नियाँ ब्रह्मका उपदेश करें, गुरु छायात्माका उपदेश करें, क्योंकि वक्ता भिन्न भिन्न हैं, इसपर कहते हैं—"आचार्यस्तु" इत्यादि। एकवाक्यताका निश्चय होता है[1], अतः वक्ताओंके भिन्न भिन्न होनेपर भी अर्थभेद नहीं है * ॥ १५ ॥

---

( १ ) अग्नियोंने उपकोसलसे कहा कि हमने ब्रह्मविद्याका उपदेश किया है, परन्तु ब्रह्मविद्को किस प्रकार फल प्राप्त होगा, यह विषय हमने नहीं कहा, इसे तुम्हारे आचार्य तुमसे कहेंगे। इस कथनसे अग्निवाक्यके अर्थसे संबद्ध अर्थकी ही विवक्षा ज्ञात होती है, असंबद्ध अर्थान्तरकी विवक्षा नहीं, अतः अग्निवाक्य एवं आचार्यवाक्योंमें एकवाक्यताका निश्चय होता है। एक ही अर्थका प्रतिपादन करना एकवाक्यता है।

( * ) उपकोसलका उपाख्यान इस प्रकार है—कमलका पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबालके यहां ब्रह्मज्ञानके लिए ब्रह्मचर्यावस्थामें रहता था। पूरे बारह वर्ष तक उसने आचार्यके यहां अग्नियोंकी सेवा की। आचार्यने दूसरे ब्रह्मचारियोंको स्वाध्याय सिखलाकर उनका समावर्तन कर दिया, परन्तु उपकोसलका समावर्तन नहीं किया। आचार्यसे उनकी पत्नीने कहा कि यह ब्रह्मचारी ( उपकोसल ) बहुत खिन्न है, इसने अग्नियोंकी परिचर्या बहुत ही अच्छी तरहसे की है, अतः अग्नियां हमारे भक्तका समावर्तन नहीं किया ऐसा समझकर आपकी निन्दा न करें। इस कारण विद्याका उपदेश कर इसका समावर्त्तन कीजिये। किन्तु आचार्यने उनकी कुछ न सुनी और उसका समावर्त्तन किये बिना ही परदेश चले गये। तब उस उपकोसलने मानसिक दुःखसे उपवास करनेका निश्चय किया। उसका यह निश्चय जानकर आचार्य-पत्नीने कहा कि हे उपकोसल ! भोजन क्यों नहीं करते हो ? उपकोसलने कहा—मैं मानसिक चिन्तासे पूर्ण हूँ अतः भोजन नहीं कर सकता हूँ। तब यह ब्रह्मचारी खिन्न है, इसने हम लोगोंकी परिचर्या की है, अतः हम लोगोंको इसे विद्याका उपदेश करना चाहिए ऐसा अग्नियोंने निश्चय करके 'प्राणो ब्रह्म०' इत्यादि आत्मविद्या और

## श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६॥

**पदच्छेद**—श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात्, च।

**पदार्थोक्ति**—श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाद्—तत्त्वज्ञानिनो या गतिः देवयानाख्या श्रुतिस्मृतिषु प्रतिपादिता तस्या एव इह 'आदित्याच्चन्द्रमसम्' इत्यादौ अक्षिस्थपुरुषज्ञस्य कथनात्, च—अपि [ अक्षिस्थस्य पुरुषस्य ब्रह्मत्वम् ]।

**भाषार्थ**—तत्त्वज्ञानीके लिए जो देवयानरूप मार्ग श्रुति और स्मृतियोंमें कहा गया है, वही मार्ग यहां 'आदित्या०' ( आदित्यसे चन्द्रमाको प्राप्त करता है ) इत्यादि वाक्यमें नेत्रके अभ्यन्तरवर्ती पुरुषको जाननेवालेके लिए कहा गया है, इससे भी सिद्ध होता है कि चक्षुःस्थ पुरुष ब्रह्म ही है।

*भाष्य*

**इतश्चाऽक्षिस्थानः पुरुषः परमेश्वरः, यस्मात् श्रुतोपनिषत्कस्य श्रुतरह-**

*भाष्यका अनुवाद*

**इससे भी अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर ही है, क्योंकि जिसने उपनिषद् सुना है,**

*रत्नप्रभा*

**श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च।** श्रुता अनुष्ठिता उपनिषद्-रहस्यं सगुण-ब्रह्मोपासनं येन तस्य या गतिः श्रुतौ स्मृतौ च प्रसिद्धा तस्या अत्र अभिधानात्

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

"श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च"। जिन्होंने सगुण ब्रह्मोपासनाका अनुष्ठान किया है वे श्रुतो-निषत्क हैं। उनकी जो गति श्रुति और स्मृतिमें कही गई है, यहां उसका कथनरूप लिङ्ग है

'पृथिव्यग्निरन्नमादित्य०' इत्यादि अपनी अपनी विद्याका उसे उपदेश दिया। और कहा कि हे सोम्य! अपनी विद्या तथा आत्मविद्या तुमसे कही गई, आचार्य फलप्राप्तिके मार्गका उपदेश करेंगे। अनन्तर आचार्य प्रवाससे लौटकर आये और उपकोसलको देखकर उन्होंने कहा कि हे सोम्य! तुम्हारा मुख ब्रह्मज्ञानीकी तरह प्रसन्न दीखता है, तुमको किसने उपदेश किया है? तब उपकोसलने असल बातको छिपाते हुएकी तरह कहा—हे भगवन्! आप तो प्रवास गये थे मुझे उपदेश और कौन करेगा। इस काकुसे ( मुखसे नहीं ) कह दिया कि ये अग्नियां आपको देखकर कांपती हैं अर्थात् इन्होंने उपदेश दिया है। तब आचार्यके यह पूछने पर कि अग्नियोंने क्या कहा? उपकोसलने उपदिष्ट सब विषय कह सुनाया। इसके बाद आचार्यने कहा—हे सोम्य! इन अग्नियोंने तुमसे केवल पृथिवी आदि लोक ही कहे हैं, मैं तो उस वस्तु ( ब्रह्म ) को कहता हूँ, जिसके ज्ञानसे जैसे कमलपत्रमें पानीका स्पर्श नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीको पापका संबन्ध नहीं होता यह सुनकर उपकोसलने कहा—हे भगवन्! मुझे उस ब्रह्मविद्याका उपदेश दीजिये। तब 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति' इत्यादि कहकर आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मोपदेश किया।

भाष्य

स्यविज्ञानस्य ब्रह्मविदो या गतिर्देवयानाख्या प्रसिद्धा श्रुतौ--'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' (प्र० १।१०) इति। स्मृतावपि---

'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥' (गी० ८।२४) इति।

भाष्यका अनुवाद

अर्थात् जिसने सगुण ब्रह्मकी उपासनाकी है, उस सगुणब्रह्मज्ञानीकी देवयान नामक गति---'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण०' (शरीर छूटनेके बाद तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्यासे आत्माका ध्यान कर उत्तरमार्गसे आदित्यलोकमें होकर हिरण्यगर्भलोकमें जाते हैं, यह ब्रह्म प्राणोंका आश्रय है, अमृत है, अभय है और यह परम गति है, इस लोकमें जाकर पुनः संसारमें नहीं लौटते।) इस श्रुतिमें और 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः०' (अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः मास देवता हैं, मरकर इन देवताओंके मार्गसे जानेवाले ब्रह्मोपासक पुरुष ब्रह्मको पाते हैं।)

रत्नप्रभा

लिङ्गात् इति सूत्रार्थम् आह---**इतश्चेति**। यस्माद् दृश्यते तत्---तस्माद् इह इत्यन्वयः। श्रुतिमाह---**अथेति**। देहपातानन्तरमित्यर्थः। स्वधर्मः---तपः। तपोब्रह्मचर्यश्रद्धाविद्याभिः आत्मानं ध्यात्वा, तया ध्यानविद्यया उत्तरं देवयानमार्गं प्राप्य तेन उत्तरेण पथा आदित्यद्वारा सगुणब्रह्मस्थानं गच्छन्ति। एतद्वै ब्रह्म प्राणानां व्यष्टिसमष्टिरूपाणाम् आयतनं लिङ्गात्मकं हिरण्यगर्भरूपं वस्तुतः एतद् अमृतादिरूपं निर्गुणं सर्वाधिष्ठानम्। अतः कार्यं ब्रह्म प्राप्य, तत्स्वरूपं निर्गुणं ज्ञात्वा मुच्यन्ते इत्यर्थः। अग्निरेव ज्योतिः---देवता। एवमहराद्या देवता एव स्मृतौ उक्ताः। अस्मिन्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस कारण [अक्षिस्थ पुरुष ब्रह्म है] यह सूत्रार्थ है, ऐसा कहते हैं---"इतश्च" इत्यादिसे। जिस कारण [उसी गतिका अभिधान] दीखता है, उस कारणसे यहां [अक्षिस्थ पुरुषमें ब्रह्मत्वका निश्चय होता है] ऐसा अन्वय है। "अथ" इत्यादिसे श्रुति कहते हैं। 'अथ---देहपातके बाद। तप---अपने धर्मका आचरण। तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्यासे आत्माका ध्यान कर उस ध्यानसंज्ञक विद्यासे उत्तरमार्ग---देवमार्गमें पहुँचकर उस उत्तरमार्गसे आदित्यद्वारा हिरण्यगर्भलोकमें पहुँचते हैं। यह ब्रह्म व्यष्टि और समष्टिरूप प्राणोंका आयतन है---लिङ्गात्मक हिरण्यगर्भरूप है। वस्तुतः तो अमृतादिरूप निर्गुण ब्रह्म सबका अधिष्ठान है, इसलिए कार्यब्रह्मको प्राप्त करके उसके स्वरूपको निर्गुण जानकर मुक्त हो जाते हैं, ऐसा तात्पर्य है। अग्नि ही ज्योति---देवता है। इसी प्रकार स्मृतिमें उक्त 'अहः' आदि देवता ही हैं। प्रारब्ध कर्मोंके फलभोगके अनन्तर

भाष्य

सैवेहाऽक्षिपुरुषविदोऽभिधीयमाना दृश्यते। 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति' इत्युपक्रम्य 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।५) इति। तदिह ब्रह्मविद्विषयया प्रसिद्धया गत्याऽक्षिस्थानस्य ब्रह्मत्वं निश्चीयते॥१६॥

भाष्यका अनुवाद

इस स्मृतिमें भी प्रसिद्ध है। यहां अक्षिपुरुषको जाननेवाले की वही गति कही गई है। 'अथ यदुचैवास्मिञ्छव्यं०' ( उपासकके देहपातके पश्चात् उसके शवका संस्कार कोई करें या न करें, तो भी वह अर्चिरादि देवताओंको पाता है ) इस प्रकार उपक्रम करके 'आदित्याच्चन्द्रमसं०' ( आदित्यसे चन्द्रको और चन्द्रसे विद्युतको [पाते हैं] वहां अमानव पुरुष इनको ब्रह्मके पास पहुँचाता है। यह देवपथ ही ब्रह्मपथ है। इससे जानेवाले जन्म, मरण आदि प्रवाहसे युक्त इस प्रपञ्चमें नहीं लौटते ) इसलिए ब्रह्मज्ञानियोंके लिए निर्दिष्ट प्रसिद्ध गमनका यहांपर अक्षिस्थ पुरुषको जाननेवालोंके लिए निर्देश किया गया है, इससे ज्ञात होता है कि अक्षिस्थ पुरुष ब्रह्म है॥ १६॥

रत्नप्रभा

उपासके मृते सति यदि पुत्रादयः शव्यम् शवसंस्कारादिकं कुर्वन्ति, यदि च न कुर्वन्ति उभयथापि उपास्तिमहिम्ना आर्चिरादिदेवान् क्रमेण गच्छन्ति। अर्चिषम्—अग्निम्, ततोऽहः, अह्नः शुक्लपक्षम्, तत उत्तरायणम्, तस्मात् संवत्सरम्, ततो देवलोकम्, ततो वायुम्, वायोरादित्यम्, ततश्चन्द्रम्, चन्द्राद् विद्युतं गत्वा तत्र विद्युल्लोके स्थितानुपासकान् अमानवः पुरुषो ब्रह्मलोकाद् आगत्य कार्यब्रह्मलोकं प्रापयति। एषोऽर्चिरादिभिः देवैः विशिष्टः—देवपथः, गन्तव्येन ब्रह्मणा योगाद् ब्रह्मपथश्च। ते एतत् कार्यं ब्रह्म प्रतिपद्यमाना उपासकाः इमं मानवम् मनोः सर्गम् आवर्तम्—जन्ममरणावृत्तियुक्तं नाऽऽवर्तन्ते नाऽऽगच्छन्तीत्यर्थः॥ १६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जब यह उपासक मरता है, उसके पश्चात् उसके पुत्र या बान्धव शवसंस्कार करें या न करें दोनों दशाओंमें वे उपासक उपासनाकी महिमासे अर्चिरादि देवोंको क्रमसे प्राप्त करते हैं। अर्चिः—अग्निको, अग्निसे दिवसको, दिवससे शुक्लपक्षको, शुक्लपक्षसे उत्तरायणको, उत्तरायणसे संवत्सरको उससे देवलोकको, उससे वायुको, वायुसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रको और चन्द्रसे विद्युत्को प्राप्त कर वहां विद्युल्लोकमें विराजमान उन उपासकोंको अमानव पुरुष ब्रह्मलोकसे आकर कार्यब्रह्मलोकमें पहुँचाता है। अर्चिरादि देवोंकी परंपरासे युक्त यह मार्ग देवपथ कहलाता है, प्राप्तव्य ब्रह्मसे संबन्ध रखता है, इसलिए ब्रह्मपथ भी कहलाता है। इस कार्यब्रह्मको प्राप्त करनेवाले उपासक इस मनुकी सृष्टिमें, जहाँ जन्म, मरण आदिकी आवृत्ति है, पुनः लौटकर नहीं आते॥१६॥

## अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

**पदच्छेद**—अनवस्थितेः, असम्भवात्, च, न, इतरः ।

**पदार्थोक्ति**—अनवस्थितेः—उपासकस्य अक्षिण प्रतिबिम्बसम्पादकबिम्बभूत-पुरुषान्तरस्य सर्वदा अनवस्थानाद्, असम्भवाच्च—अमृतत्वादिगुणानां छायात्मादिषु असम्भवात् अपि, इतरः—ब्रह्मभिन्नः न—न अक्षिस्थाने उपदिश्यते [ किन्तु परमात्मा एव उपदिश्यते ] ।

**भाषार्थ**—उपासकके नेत्रमें छाया करनेवाला—प्रतिबिम्ब डालनेवाला अन्य पुरुष सदा पास नहीं रहता है [ जब अन्य पुरुष नहीं रहेगा तब प्रतिबिम्ब भी नहीं पड़ेगा ] और अमृतत्व, अभयत्व आदि गुण छायात्मामें नहीं हो सकते, अतः ब्रह्मभिन्न छायात्मा आदिका नेत्ररूप स्थानमें उपदेश नहीं है, किन्तु ब्रह्मका ही उपदेश है ।

*भाष्य*

यत्पुनरुक्तम्—छायात्मा, विज्ञानात्मा, देवतात्मा वा स्यादक्षिस्थान इति । अत्रोच्यते—न छायात्मादिरितर इह ग्रहणमर्हति । कस्मात् ? अनवस्थितेः । न तावच्छायात्मनश्चक्षुषि नित्यमवस्थानं सम्भवति । यदैव हि कश्चित् पुरुषश्चक्षुरासीदति तदा चक्षुषि पुरुषच्छाया दृश्यते, अपगते तस्मिन्न

*भाष्यका अनुवाद*

अक्षिस्थ पुरुष छायात्मा है अथवा विज्ञानात्मा है या देवतात्मा है, ऐसा जो पीछे कहा गया है । उसपर कहते हैं—ब्रह्मभिन्न छायात्मा आदिका यहां ग्रहण करना ठीक नहीं है । किस कारण से ? अनवस्थितिसे । छायात्माका आंखमें नित्य अवस्थान संभव नहीं है । जब कोई पुरुष आंखके पास जाता है, तब आंखमें पुरुषकी छाया दीखती है, वह पुरुष दूर चला जाय तो नहीं दीखती ।

---

*रत्नप्रभा*

**चक्षुरासीदतीति** । उपगच्छति इत्यर्थः । अनवस्थितस्य उपास्यत्वं सदा न सिध्यति इति भावः । किञ्च, अव्यवधानात् स्वाक्षिस्थ उपास्यः, न च तस्य

**रत्नप्रभाका अनुवाद**

"चक्षुरासीदति"—नेत्रके पास जाता है । तात्पर्य यह है कि जिसकी सर्वदा स्थिति नहीं है, उसकी सर्वदा उपासना सिद्ध नहीं होती । और व्यवधान न होनेके कारण स्वनेत्रस्थ पुरुष

---

( १ ) प्रतिबिम्बस्वरूप । ( २ ) जीव । ( ३ ) रहना ।

भाष्य

दृश्यते । 'य एषोऽक्षिणि पुरुषः' इति च श्रुतिः संनिधानात् स्वचक्षुषि दृश्यमानं पुरुषमुपास्यत्वेनोपदिशति । न चोपासनाकाले छायाकरं कञ्चित् पुरुषं चक्षुःसमीपे सन्निधाप्योपास्ते इति युक्तं कल्पयितुम् । 'अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति' (छा० ८।९।१) इति श्रुतिश्छायात्मनोऽप्यनवस्थितत्वं दर्शयति । असम्भवाच्च तस्मिन्नमृतत्वादीनां गुणानां न छायात्मनि प्रतीतिः । तथा विज्ञानात्मनोऽपि साधारणे कृत्स्नशरीरेन्द्रियसम्बन्धे सति न चक्षुष्येवाऽवस्थितत्वं शक्यं वक्तुम् । ब्रह्मणस्तु व्यापिनोऽपि दृष्टः

भाष्यका अनुवाद

'य एषोऽक्षिणि०' ( यह जो आंखमें पुरुष है ) यह श्रुति सन्निहित होनेके कारण अपने नेत्रमें दिखाई देनेवाले पुरुषका उपास्यरूपसे उपदेश करती है । उपासनाके समय प्रतिबिम्बके कारणीभूत [जिसके सामने रहनेसे प्रतिबिम्ब पड़े] किसी पुरुषको नेत्रके पास बैठाकर उपासना करे, ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है । 'अस्यैव शरीरस्य०' ( इसी शरीरके नाशके पश्चात् यह नष्ट हो जाता है ) यह श्रुति छायात्माकी अनवस्थिति दिखलाती है । और उस छायात्मामें अमृतत्व आदि गुणोंका सम्भव नहीं है, अतः 'य एषोऽक्षिणि०' इस वाक्यमें छायात्माकी प्रतीति नहीं होती है । इसी प्रकार विज्ञानात्माका सारे शरीर और इन्द्रियोंके साथ साधारणतया संबन्ध होनेपर वह नेत्रमें ही रहता है यह

रत्नप्रभा

स्वचक्षुषा दर्शनं सम्भवति इत्याह—य एष इति । अस्तु तर्हि परेण दृश्यमानस्य उपास्तिः इत्यत आह—न चेति । कल्पनागौरवात् इत्यर्थः । युक्तिसिद्धानवस्थितत्वे श्रुतिमाह—अस्येति । छायाकरस्य बिम्बस्य नाशम्—अदर्शनम् अनुसृत्य एष छायात्मा नश्यति इत्यर्थः । जीवं निरस्यति—तथेति । जात्यन्धस्याऽपि अह-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही उपासनायोग्य है । परन्तु उसका अपने नेत्रसे दर्शन होना सम्भव नहीं है, ऐसा कहते हैं—"य एष" इत्यादिसे । तब अपनी आँखमें अन्य पुरुषको जो दिखाई देता है, उसकी उपासना करे, इस शङ्काका निरसन करते हैं—"न च" इत्यादिसे । ऐसी कल्पना करनेमें गौरव होता है यह दोष है । छायात्माकी अनवस्थिति युक्तिसे दिखलाकर प्रमाणरूपमें श्रुतिको उद्धृत करते हैं—"अस्य" इत्यादिसे । छाया करनेवाले बिम्बका नाश—अदर्शन होनेसे प्रतिबिम्बरूप छायात्माका भी नाश होता है । जीवका निरास करते हैं—"तथा" इत्यादिसे । जन्मान्ध

( १ ) छायात्मा ।

भाष्य

उपलब्ध्यर्थो हृदयादिदेशविशेषसम्बन्धः। समानश्च विज्ञानात्मन्यप्यमृतत्वादीनां गुणानामसम्भवः। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्येते। संयद्वामत्वादयश्चैतस्मिन्ननैश्वर्यादनुपपन्ना एव। देवतात्मनस्तु 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' इति श्रुतेर्यद्यपि चक्षुष्यवस्थानं स्यात् तथाप्यात्मत्वं तावन्न सम्भवति, पराग्रूपत्वात्। अमृतत्वादयोऽपि न सम्भवन्ति, उत्पत्तिप्रलयश्रवणात्। अमरत्वमपि देवानां चिरकालावस्थानापेक्षम्। ऐश्वर्यमपि परमेश्वरायत्तं न स्वाभाविकम्,

भाष्यका अनुवाद

नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म यद्यपि सर्वव्यापक है, तो भी हृदय आदि स्थानविशेषमें ध्यानके लिए उसका संबन्ध श्रुतिमें देखा गया है। और छायात्माके समान विज्ञानात्मामें भी अमृतत्व आदि गुणोंका असंभव है। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मासे अन्य नहीं है, तो भी अविद्या, काम और कर्मसे उसमें मरण और भय अध्यारोपित हैं, इसलिए अमृतत्व और अभयत्व उसमें संगत नहीं होते हैं। संयद्वामत्व आदि गुण भी ऐश्वर्यके अभावसे उसमें अनुपपन्न ही हैं। देवतात्मा यद्यपि 'रश्मिभिरेषो०' (किरणों द्वारा यह उसमें प्रतिष्ठित है) इस श्रुतिसे नेत्रमें अवस्थित हो सकता है, तो भी उसमें आत्मत्व नहीं है, क्योंकि वह बाह्य—अनात्मा है। उसमें अमृतत्व आदिका भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उसके उदय और प्रलय श्रुतिमें कहे गये हैं, देवताओंमें अमरका प्रयोग उनके चिरकाल तक जीवित रहनेके कारण होता है [वस्तुतः वे अमर नहीं हैं]। उनका ऐश्वर्य भी

रत्नप्रभा

मित्यविशेषेण जीवस्याऽभिव्यक्तेः चक्षुरेव स्थानम् इति अयुक्तमित्यर्थः। **दृष्ट इति**। श्रुताविति शेषः। ननु "चक्षोः सूर्यो अजायत" "सूर्योऽस्तमेति" इति वाक्यममरा देवा इति प्रसिद्धिबाधितमित्याशङ्क्याऽऽह—**अमरत्वमपीति**। भीषा

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषको भी "मैं" इस तरह साधारणतया जीवकी प्रतीति होती है, इसलिए नेत्र ही जीवका स्थान है यह कथन युक्त नहीं है। 'दृष्टः' यहाँ पर 'श्रुतौ' (श्रुतिमें) इतना शेष है। 'चक्षोः सूर्यो०' (चक्षुसे सूर्य उत्पन्न हुआ), 'सूर्यो०' (सूर्य अस्त होता है) यह वाक्य देवता अमर हैं इस प्रसिद्धिसे बाधित है, ऐसी शङ्का करके कहते हैं—"अमरत्वमपि" इत्यादि।

भाष्य

'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥'

( तै० २।८ ) इति मन्त्रवर्णात् । तस्मात् परमेश्वर एवाऽयमक्षिस्थानः प्रत्येतव्यः । अस्मिंश्च पक्षे दृश्यत इति प्रसिद्धवदुपादानं शास्त्राद्यपेक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थमिति व्याख्येयम् ॥१७॥

भाष्यका अनुवाद

परमात्माके अधीन है, स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि 'भीषास्माद्वातः०' ( इस ( परमात्मा ) के भयसे वायु चलता है, इसके भयसे सूर्य उदित होता है, इसके भयसे अग्नि और इन्द्र अपना कार्य करते हैं, इनकी अपेक्षा पांचवीं मृत्यु गतायु लोगोंके पास दौड़ती है ) ऐसा मंत्रमें कहा है। इससे यह समझना चाहिए कि अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर ही है इस पक्षमें 'दृश्यते' (दीखता है) इस प्रकार जिसका प्रसिद्धकी तरह ग्रहण किया है, वह शास्त्रकी अपेक्षा रखता है, विद्वद्विषयक है और प्ररोचनार्थक[1] है ऐसी व्याख्या करनी चाहिए ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

भयेन अस्माद् ईश्वराद् वायुश्चलति। अग्निश्चेन्द्रश्च स्वस्वकार्यं कुरुतः। उक्तापेक्षया पञ्चमो मृत्युः समाप्तायुषां निकटे धावति इत्यर्थः। ईश्वरपक्षे दृश्यते इत्युक्तं तत्राह—**अस्मिन्निति**। दर्शनम्—अनुभवः। तस्य शास्त्रे श्रुतस्य शास्त्रमेव करणं कल्प्यम्, सन्निधानात्। तथा च शास्त्रकरणको विद्वदनुभव उपासनास्तुत्यर्थ उच्यते इत्यर्थः। तस्माद् उपकोसलविद्यावाक्यम् उपास्ये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥ १७ ॥ (४)

रत्नप्रभाका अनुवाद

ईश्वरके भयसे वायु चलता है, [ सूर्य उदित होता है ], अग्नि और इन्द्र अपना अपना कार्य करते हैं और इनकी अपेक्षा पाँचवीं मृत्यु, जिनकी आयु समाप्त हो जाती है उनके पास दौड़ती है। परन्तु ईश्वरपक्षमें भी 'दृश्यते' ( दीखता है ) यह कथन असंगत है, [ क्योंकि वह अदृश्य है ]। इस पर कहते हैं—''अस्मिन्'' इत्यादिसे। दर्शन—अनुभव। शास्त्रमें श्रुत अनुभवका साधन शास्त्र ही है, क्योंकि वही उसका निकटवर्ती है। इसलिए शास्त्रकरणक विद्वदनुभव उपासनाकी स्तुतिके लिए कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि उपकोसलविद्या-वाक्यका उपास्य ब्रह्ममें ही समन्वय है ॥१७॥

---

( १ ) अभिरुचिके लिए, उपासनाकी स्तुतिके लिए।
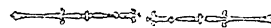
## [ ५ अन्तर्याम्यधिकरण सू० १८–२० ]

*प्रधानं जीव ईशो वा कोऽन्तर्यामी जगत्प्रति ।*
*कारणत्वात्प्रधानं स्याज्जीवो वा कर्मणो मुखात् ॥*
*जीवैकत्वामृतत्वादेरन्तर्यामी परेश्वरः ।*
*द्रष्टृत्वादेर्न प्रधानं न जीवोऽपि नियम्यतः *॥*

## [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'यः पृथिवीमन्तरो यमयति' इस श्रुतिमें पृथिवी आदि जगत्का जो अन्तर्यामी कहा गया है, वह प्रधान है अथवा जीव है या परमेश्वर है ?

**पूर्वपक्ष**—सकल जगत्का उपादान होनेके कारण प्रधान अन्तर्यामी है। अथवा धर्म और अधर्मरूप कर्मोंके अनुष्ठानद्वारा जगत्का स्रष्टा होनेसे जीव अन्तर्यामी है।

**सिद्धान्त**—'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इस श्रुतिमें उक्त जीवसे अभेद तथा अमृतत्व धर्म परमेश्वरमें ही उपपन्न होते हैं। अन्तर्यामी द्रष्टा, श्रोता कहा गया है, अतः अचेतन प्रधान अन्तर्यामी नहीं है। नियम्य होनेके कारण जीव भी अन्तर्यामी नहीं है, अतः परमेश्वर ही अन्तर्यामी है।

---

* निष्कर्ष यह कि बृहदारण्यकके पांचवें अध्यायमें याज्ञवल्क्यका उद्दालकके प्रति वचन है—'यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'। इसका अर्थ है—अन्दर रहनेवाला जो पुरुष पृथिवीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा, अन्तर्यामी और अमृत है।

यहां संशय होता है कि पृथिवी आदि जगत्का जो अन्तर्यामी श्रुति में कहा गया है, वह प्रधान है या जीव है अथवा परमेश्वर है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि वह अन्तर्यामी प्रधान है, क्योंकि प्रधान सम्पूर्ण जगत्का उपादान कारण है, अतः अपने कार्यके प्रति नियामक होता है। अथवा जीव अन्तर्यामी हो सकता है, क्योंकि जीव धर्म एवं अधर्मरूप कर्मोंका अनुष्ठान करता है। वह कर्म फल भोगनेके लिए फलभोगके साधनरूप इस जगत्को उत्पन्न करता है। अतः कर्मके द्वारा जगत्का उत्पादक होनेके कारण जीव अन्तर्यामी है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इस श्रुतिमें जीवके साथ अभेद तथा अमृतत्व कहा गया है। और पृथिवी, आकाश आदि सब पदार्थोंके अन्तर्यामीका उपदेश है, इससे सर्वव्यापकत्व प्रतीत होता है। इन कारणोंसे परमेश्वर ही अन्तर्यामी है। 'अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोता' (वह दृष्ट नहीं है, परन्तु द्रष्टा है, श्रुत नहीं है, किन्तु श्रोता है ) इत्यादि श्रुतियोंमें अन्तर्यामी, द्रष्टा श्रोता आदि कहा गया है। द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व आदि धर्म अचेतन प्रधानमें नहीं हैं, अतः प्रधान अन्तर्यामी नहीं है। 'य आत्मानमन्तरो यमयति' इस श्रुतिसे जीव नियम्य कहा गया है, अतः जीव भी अन्तर्यामी नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही अन्तर्यामी है।

# अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

**पदच्छेद**—अन्तर्यामी, अधिदैवादिषु, तद्धर्मव्यपदेशात् ।

**पदार्थोक्ति**—अधिदैवादिषु—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतिषु [ श्रूयमाणः ], अन्तर्यामी—नियामकः, [ परमात्मैव, कुतः श्रुतौ ] तद्धर्मव्यपदेशात्—आत्मत्वामृतत्वादिपरमात्मधर्माणामुपदेशात् ।

**भाषार्थ**—'यः पृथिव्यां०' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रतीयमान नियमनकर्ता अन्तर्यामी परमात्मा ही है, क्योंकि श्रुतिमें आत्मत्व, अमृतत्व आदि परमात्माके धर्म कहे गये हैं ।
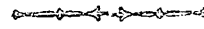
*भाष्य*

**'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' इत्युपक्रम्य श्रूयते—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।१,२) इत्यादि । अत्राधिदैवतमधिलोकमधिवेदमधिय-**

*भाष्यका अनुवाद*

'य इमं च लोकं परं च०' (जो इस लोकका और परलोकका और सब भूतोंके भीतर रहकर उनका नियमन्त्रण करता है ) ऐसा उपक्रम करके श्रुति प्रतिपादन करती है—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्०' )' ( जो पृथिवीमें रहकर पृथिवीके भीतर है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका शरीर पृथिवी है, जो भीतर रहकर पृथिवीका नियन्त्रण करता है यह अन्यर्यामी तुम्हारा आत्मा अमृत है ) इत्यादि ।

*रत्नप्रभा*

बृहदारण्यकवाक्यम् उदाहरति—**य** इति । अन्तर्यामिब्राह्मणे प्रतीयामानार्थमाह—**अत्रेति** । "यः पृथिव्याम्" (बृ० ३।७।३) इत्यादिना देवताः पृथिव्याद्या अधिकृत्य यमयिता श्रूयते । तथा यः सर्वेषु लोकेष्विति—अधिलोकम् । यः सर्वेषु वेदेषु इति—अधिवेदम् । यः सर्वेषु यज्ञेषु इति—अधियज्ञम् । यः सर्वेषु भूतेषु इति

***रत्नप्रभाका अनुवाद***

बृहदारण्यवाक्यका उल्लेख करते हैं—'यः' इत्यादिसे । अन्तर्यामिब्राह्मणमें निर्दिष्ट विषयका प्रतिपादन करते हैं—'अत्र' इत्यादिसे । 'यः पृथिव्याम्' इत्यादिसे पृथिवी आदि देवताओंका नियन्त्रणकर्त्ता प्रतीत होता है । और 'यः सर्वेषु लोकेषु' इत्यादिसे लोकोंका

भाष्य

ज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयिताऽन्तर्यामीति श्रूयते । स किमधिदैवाद्यभिमानी देवतात्मा कश्चित्किंवा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिद्योगी किंवा परमात्मा किंवाऽर्थान्तरं किञ्चिदित्यपूर्वसंज्ञादर्शनात् संशयः । किं तावन्नः प्रतिभाति,

संज्ञाया अप्रसिद्धत्वात् संज्ञिनाऽप्यप्रसिद्धेनाऽर्थान्तरेण केनचिद्भवितव्यमिति । अथवा नानिरूपितरूपमर्थान्तरं शक्यमस्तीति

भाष्यका अनुवाद

देवता, लोक, वेद, यज्ञ, भूत और आत्मामें रहकर उनका नियन्त्रण करनेवाला कोई अन्तर्यामी है, ऐसा उपर्युक्त श्रुतिसे प्रतीत होता है। वह क्या अधिदैव आदिका अभिमानी कोई देवतात्मा है अथवा अणिमा[१] आदि ऐश्वर्यको प्राप्त किया हुआ कोई योगी है अथवा परमात्मा है अथवा कोई दूसरा ही पदार्थ है? अन्तर्यामीरूप अपूर्व नामके श्रवणसे ऐसा संशय होता है। साधारणतः क्या प्रतीत होता है?

पूर्वपक्षी—अन्तर्यामीरूप नामके अप्रसिद्ध होनेसे अन्तर्यामी नामक भी कोई एक अप्रसिद्ध अन्य पदार्थ होना चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है। अथवा, यह

रत्नप्रभा

अधिभूतम्। "यः प्राणे तिष्ठन्" (बृ० ३।७।१६) इत्यादि "य आत्मनि" इत्यन्तमध्यात्मं चेति विभागः। अशरीरस्य नियन्तृत्वसम्भवासम्भवाभ्यां संशयः पूर्वत्रेश्वरस्याऽक्षिस्थानत्वसिद्धये पृथिव्यादिस्थाननिर्देशो दृष्टान्त उक्तः। तस्य दृष्टान्तवाक्यस्य ईश्वरपरत्वम् अत्राऽऽक्षिप्य समाधीयते इति आक्षेपसङ्गतिः। अतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

'यः सर्वेषु वेदेषु' इत्यादिसे वेदोंका, 'यः सर्वेषु यज्ञेषु' इत्यादिसे यज्ञोंका, 'यः सर्वेषु भूतेषु' इत्यादिसे भूतोंका, 'यः प्राणेषु तिष्ठन्' इत्यादिसे लेकर 'य आत्मनि' इत्यादि तक आत्मा (शरीर) की भीतरी वस्तुओंका नियन्त्रणकर्त्ता प्रतीत होता है ऐसा विभाग है। अशरीरमें नियामकत्वका सम्भव और असम्भव होनेसे संशय होता है—पूर्वाधिकरणमें ईश्वरका चक्षुः स्थान है इस बातको सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्तरूपसे ईश्वरके पृथिवी आदि स्थान भी निर्दिष्ट किये गये हैं, अब वे दृष्टान्त वाक्य ईश्वरपरक कैसे हैं ऐसा आक्षेप करके समाधान किया जाता है, इसलिए पूर्वाधिकरणसे इस अधिकरणकी आक्षेप सङ्गति है।

(१) आठ सिद्धियोंमेंसे एक। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ सिद्धियां हैं। अणिमा—अणु होनेकी शक्ति, महिमा—विभुत्वकी शक्ति, लघिमा—हल्का होनेकी शक्ति, गरिमा—भारी होनेकी शक्ति, प्राप्ति—चन्द्र आदिका छूना, प्राकाम्य—सत्यसङ्कल्पता, ईशित्व—सब भूतोंका स्वामी होना, वशित्व—सब भूतोंको वशमें रखना।

भाष्य

अभ्युपगन्तुम् । अन्तर्यामिशब्दश्चाऽन्तर्यमनयोगेन प्रवृत्तो नाऽत्यन्तमप्रसिद्धः । तस्मात् पृथिव्याद्यभिमानी कश्चिद्देवोऽन्तर्यामी स्यात् । तथा च श्रूयते---'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः' (बृ० ३।९।१०) इत्यादि । स च कार्यकरणवत्त्वात् पृथिव्यादीनन्तस्तिष्ठन्यमयतीति युक्तं देवतात्मनो यमयितृत्वम् । योगिनो वा कस्यचित् सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयितृत्वं स्यात्, न तु परमात्मा प्रतीयेत, अकार्यकरणत्वादिति।

भाष्यका अनुवाद

सम्भव नहीं है कि जिसके रूपका निरूपण न हुआ हो ऐसे किसी दूसरे पदार्थका स्वीकार किया जाय । 'अन्तर्यामी' शब्द तो भीतर नियन्त्रण रखना, इस व्युत्पत्तिसे सिद्ध हुआ है, अतः अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है । इसलिए पृथिवी आदिका अभिमानी कोई एक देवता अन्तर्यामी हो सकता है। पृथिव्येव यस्या०' ( पृथिवी ही जिसका शरीर है, अग्नि नेत्र है और ज्योति मन है ) इत्यादि श्रुति भी इस कथनकी पुष्टि करती है । पृथिवी आदिका अभिमानी देवता शरीर और इन्द्रियोंसे युक्त होनेके कारण पृथिवी आदिके भीतर रहकर उनका नियन्त्रण करता है, इससे यह उपपन्न होता है कि देवतात्मा नियन्त्रण करनेवाला है अथवा कोई सिद्ध योगी सब पदार्थोंमें प्रवेश करके उनका नियन्त्रण करता हुआ अन्तर्यामी हो सकता है । किन्तु परमात्माकी प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि उसके न शरीर है और न इन्द्रियां ही हैं।

---

रत्नप्रभा

पूर्वफलेनाऽस्य फलवत्त्वम् । अवान्तरफलं तु पूर्वपक्षे अनीश्वरोपास्तिः सिद्धान्ते प्रत्यग्ब्रह्मज्ञानमिति मन्तव्यम् । स्वयमेव अरुचिं वदन् पक्षान्तरमाह---**अथवेति** । अनिश्चितार्थे फलाभावेन अफलस्य वेदार्थत्वायोगादिति भावः । तथा च श्रूयते वेदे । पृथिवी यस्य देवस्य आयतनं शरीरम्, लोक्यतेऽनेनेति लोकः चक्षुः, ज्योतिः सर्वार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आक्षेपसङ्गति होनेके कारण पूर्वाधिकरणका फल ही इस अधिकरणका भी फल है और पूर्वपक्षमें ईश्वरभिन्न जीव आदिकी उपासना करना अवान्तर फल है और सिद्धान्तमें ब्रह्मका ज्ञान । स्वयं ही अरुचि-प्रदर्शन करते हुए पक्षान्तर कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे । अनिश्चित अर्थमें फलका अभाव है और जो अफल है वह वेदार्थ नहीं हो सकता है । 'तथा च श्रूयते' के बाद 'वेदे' ( वेदमें ) इतना शेष है । पृथिवी जिस देवका आयतन-शरीर है, [ अग्नि ] लोक—जिससे देखता है, वह अर्थात् नेत्र है । ज्योतिः—सर्वार्थ प्रकाशक मन है । उपक्रम

भाष्य

एवं प्राप्त इदमुच्यते—योऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते स परमात्मैव स्यात्, नाऽन्य इति। कुतः? तद्धर्मव्यपदेशात्। तस्य हि परमात्मनो धर्मा इह निर्दिश्यमाना दृश्यन्ते। पृथिव्यादि तावदधिदैवादिभेदभिन्नं समस्तं विकारजातमन्तस्तिष्ठन् यमयतीति परमात्मनो यमयितृत्वं धर्म उपपद्यते, सर्वविकारकारणत्वे सति सर्वशक्त्युपपत्तेः। 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति चाऽऽत्मत्वामृतत्वे मुख्ये परमात्मन उपपद्येते। 'यं पृथिवी न वेद' इति च पृथिवीदेवताया अविज्ञेयमन्तर्यामिणं ब्रुवन् देवतात्मनोऽन्यमन्त-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—अधिदैव आदिमें जो अन्तर्यामी-रूपसे सुना जाता है, वह परमात्मा ही है, अन्य नहीं है। क्योंकि उसके ही धर्मोंका कथन है। निश्चय ही यहां उस परमात्माके ही धर्मोंका निर्देश दिखाई देता है। अधिदैव आदि भेदसे भिन्न पृथिवी आदि समस्त विकार समूहके भीतर रहकर उनको नियन्त्रणमें रखना, यह नियन्त्रणकर्तृत्वरूप धर्म परमात्मामें ही संगत है, क्योंकि जो सब विकारोंका कारण है, उसमें सब शक्तियां उपपन्न होती हैं। 'एष त आत्मा०' ( यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है ) इस श्रुतिमें उक्त आत्मत्व और अमृतत्व ये दोनों धर्म प्रधानतया परमात्मामें संगत होते हैं। 'यं पृथिवी०' (जिसको पृथिवी नहीं जानती) यह श्रुति पृथिवीरूप देवतासे अविज्ञेय अन्तर्यामीको कहकर देवतात्मासे अन्य अन्तर्यामीको दिखलाती

रत्नप्रभा

प्रकाशकं मन इत्यर्थः। उपक्रमादिनाऽन्तर्याम्यैक्यनिश्चयादनेकदेवपक्षो न युक्त इत्यरुचेराह— **योगिनो वेति**। आगन्तुकसिद्धस्य अन्तर्यामित्वे अप्रसिद्धसाधन-कल्पनागौरवात् नित्यसिद्ध एव अन्तर्यामी इति सिद्धान्तयति—**एवं प्राप्त इति**। देवतानिरासे हेत्वन्तरमाह—**यं पृथिवीति**। ईश्वरो न नियन्ताऽशरीरत्वात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

और उपसंहारसे अन्तर्यामी एक है, ऐसा सिद्ध होनेपर पृथिवी आदि अनेकदेवपक्ष युक्त नहीं है, इस अरुचिसे कहते हैं—"योगिनो वा" इत्यादि। योगी स्वतः सिद्ध नहीं है, उसे साधनोंसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है, यदि उसे अन्तर्यामी मानें, तो अप्रसिद्ध साधनोंकी कल्पना करनेमें गौरव होगा, इस कारण नित्यसिद्ध परमेश्वर ही अन्तर्यामी है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। देवतापक्षके निराकरणमें दूसरा हेतु कहते हैं—"यं पृथिवी" इत्यादिसे। घटके समान अशरीरी होनेके कारण ईश्वर नियन्ता नहीं है—ऐसा जो कहा गया

भाष्य

र्यामिणं दर्शयति । पृथिवी देवता ह्यहमस्मि पृथिवीत्यात्मानं विजानीयात् । तथा 'अदृष्टोऽश्रुतः' इत्यादिव्यपदेशो रूपादिविहीनत्वात् परमात्मन उपपद्यत इति । यत्तु अकार्यकरणस्य परमात्मनो यमयितृत्वं नोपपद्यत इति । नैष दोषः, यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणवत्त्वो-

भाष्यका अनुवाद

है। यदि पृथिवीकी अधिष्ठात्री देवी ही 'अन्तर्यामी' होती, तो 'मैं पृथिवी हूँ' इस प्रकार अपनेको जानती। इसी प्रकार 'अदृष्टो०' (वह अदृष्ट है और अश्रुत है) इत्यादि व्यपदेश रूपादिहीन परमात्मामें ही घटता है। शरीर और इन्द्रियरहित परमात्मामें नियामकत्व युक्त नहीं है, ऐसा जो दोष कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि जिनका वह नियन्त्रण करता है उनके

---

रत्नप्रभा

घटवत् इत्युक्तं निरस्यति—नैष दोष इति। नियम्यातिरिक्तशरीरशून्यत्वं वा हेतुः, शरीरासम्बन्धित्वं वा। आद्ये स्वदेहनियन्तरि जीवे व्यभिचारः, द्वितीयस्तु असिद्धः, ईश्वरस्य स्वाविद्योपार्जितसर्वसम्बन्धित्वादित्याह—यान्नियच्छतीति। सशरीरो नियन्ता इति लोकदृष्टिम् अनुसृत्यैतदुक्तम्। वस्तुतस्तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, उसका निराकरण करते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। अशरीरत्व जो हेतु कहा है उसका क्या अर्थ है? नियम्यसे भिन्न शरीरसे रहित होना है अथवा शरीरसम्बन्धी न होना है? प्रथम पक्षमें स्वदेह नियन्ता जीवमें व्यभिचार होता है। दूसरा पक्ष तो असिद्ध है, क्योंकि अपनी अविद्यासे उपार्जित देहादिके साथ ईश्वरका सम्बन्ध है ऐसा कहते हैं—"यान्नियच्छति" इत्यादिसे। नियन्ता सशरीर होना चाहिए, यह लोकदृष्टिके अनुसार कहा है। वस्तुतः

---

(१) साध्याभावके अधिकरणमें हेतुका रहना व्यभिचार कहलाता है। प्रकृतमें 'ईश्वरो न नियन्ता, अशरीरत्वात्, घटवत्, इस अनुमानमें नियन्तृत्वाभाव साध्य है, अशरीरत्व हेतु है, अशरीरत्वका अर्थ यदि नियम्यातिरिक्तशरीरशून्यत्व (नियम्यसे अतिरिक्त शरीररहित होना) है तो वह साध्याभावाधिकरणवृत्ति होता है। नियन्तृत्वाभाव साध्य है, साध्याभाव—नियन्तृत्वाभावका अभाव अर्थात् नियन्तृत्व है, उसका अधिकरण जीव है इस अधिकरणमें नियम्यातिरिक्त शरीरशून्यत्वरूप हेतु है, क्योंकि जीव केवल स्वदेहका नियमन करता है, अन्य देहका नहीं, अतः नियम्य स्वदेहसे अतिरिक्त शरीररहित है, इस प्रकार हेतुमें व्यभिचार दोष है, ऐसे दोषसे युक्त हेतु व्यभिचरित कहलाता है।

भाष्य

पपत्तेः। तस्याऽप्यन्यो नियन्तेत्यनवस्थादोषश्च न संभवति, भेदाभावात्। भेदे हि सत्यनवस्थादोषोपपत्तिः। तस्मात्परमात्मैवाऽन्तर्यामी ॥ १८ ॥

भाष्यका अनुवाद

शरीर और इन्द्रियों द्वारा ही वह शरीर और इन्द्रियोंवाला होता है। उसका भी अन्य नियन्ता हो इस प्रकार अनवस्था दोष सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्तुतः ईश्वरसे भिन्न कोई नियन्ता नहीं है। यदि वास्तविक भेद हो तो अनवस्था दोष हो सकता है। इसलिए परमात्मा ही अन्तर्यामी है ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

चेतनसान्निध्याज्जडस्य व्यापारो नियमनम्, तच्छक्तिमत्त्वं नियन्तृत्वम्। तच्चाऽचिन्त्यमायाशक्तेश्चिदात्मनः शरीरं विनैवोपपन्नम्। ननु देहनियन्तुर्जीवस्याऽन्यो नियन्ता चेत् तस्याऽप्यन्यः, इत्यनवस्था इत्यत आह—तस्याऽपीति। निरङ्कुशं सर्वनियन्तृत्वमीश्वरस्य श्रुतम्। तस्य नियन्त्रन्तरानुमाने श्रुतिबाध इति नाऽनवस्थेत्यर्थः। यद्वा, ईश्वराद् भेदकल्पनया जीवस्य नियन्तृत्वोक्तेः सत्यभेदाभावात् नाऽनवस्थेत्यर्थः ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो चेतनकी सन्निधि होनेसे जो जड़का व्यापार वही जड़का नियमन है, नियमन शक्तिवाला होना नियन्तृत्व है। यह नियन्तृत्व अचिन्त्य मायाशक्तिवाले चिदात्मामें शरीरके बिना ही उपपन्न है। यदि देहनियन्ता जीवका अन्य नियन्ता हो, तो उसका भी नियन्ता अन्य हो इस प्रकार अनवस्था हो जायगी इसपर कहते हैं—"तस्याऽपि" इत्यादिसे। ईश्वरका सर्वनियन्तृत्व निरङ्कुश है, ऐसा श्रुतिमें प्रतिपादित है। इसके अन्य नियन्ताका अनुमान करनेमें श्रुतिका बाध होता है, इसलिए अनवस्थादोष नहीं है, यह तात्पर्य है। अथवा जीव जो लोकप्रसिद्ध नियन्ता है, वह परमात्मा ही है। उपाध्यवच्छेदसे भेद है। ईश्वरसे भेद मानकर जीवको नियन्तृत्व कहा है, सत्य भेद नहीं है, इसलिए अनवस्था नहीं है, यह अर्थ है ॥१८॥

---
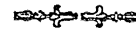
(१) कुछ पुस्तकोंमें इसके बाद 'कार्यकरणसङ्घातात्मको देहो ग्राह्यः, तेन लिङ्गदेहस्य व्यावृत्तिः' इतना अधिक पाठ है। उसका आशय यह मालूम होता है कि 'सशरीरो नियन्ता' इत्यादिमें शरीरपदसे स्थूलशरीरका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जीव लिङ्गशरीरस्वरूप है, वह स्वयं अपना नियमन नहीं करता है, किन्तु स्थूल शरीरका नियमन करता है, अतः लिङ्ग शरीर नियन्तव्य न होनेके कारण उसकी व्यावृत्ति करना आवश्यक है, क्योंकि वह भी शरीर है।

## न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

**पदच्छेद**—न, च, स्मार्तम्, अतद्धर्माभिलापात् ।

**पदार्थोक्ति**—स्मार्तं च—साङ्ख्यस्मृतिकल्पितं प्रधानं तु, न—नाऽन्तर्यामि [ कुतः ] अतद्धर्माभिलापात्—प्रधानभिन्नवृत्तिधर्माणां द्रष्टृत्वश्रोतृत्वादीनामिहाऽभिधानात् ।

**भाषार्थ**—सांख्यशास्त्रमें कल्पित प्रधान तो अन्तर्यामी नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुतिमें प्रधानसे भिन्न चेतनमें रहनेवाले द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व आदि धर्म कहे गये हैं ।

*भाष्य*

स्यादेतत् । अदृष्टत्वादयो धर्माः सांख्यस्मृतिकल्पितस्य प्रधानस्याऽप्युपपद्यन्ते, रूपादिहीनतया तस्य तैरभ्युपगमात् । 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' ( मनु० १।५ ) इति हि स्मरन्ति । तस्याऽपि नियन्तृत्वं सर्वविकारकारणत्वादुपपद्यते । तस्मात् प्रधानमन्तर्यामिशब्दं स्यात् । 'ईक्ष-

*भाष्यका अनुवाद*

पूर्वपक्षी—अदृष्टत्व आदि धर्म सांख्यशास्त्रोक्त प्रधानमें भी संगत हो सकते हैं, क्योंकि वे ( सांख्यसिद्धान्ती ) उसको ( प्रधानको ) रूपादिसे हीन मानते हैं । 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं०' ( जो तर्कका विषय नहीं है, जिसका इन्द्रियोंसे ज्ञान नहीं होता है और जो चारों दिशाओंमें जड़तासे व्याप्त है ) ऐसा स्मृतिकार भी कहते हैं । सब विकारोंका कारण होने से उसमें भी नियन्तृत्वधर्म युक्त होता है । इसलिए 'अन्तर्यामी' शब्दसे प्रधानका कथन है ।

---

*रत्नप्रभा*

प्रधानं महदादिक्रमेण कथं प्रवर्तते इति तर्कस्याऽविषय इत्याह—अप्रतर्क्यमिति । रूपादिहीनत्वाद् अविज्ञेयं सर्वतो दिक्षु प्रसुप्तमिव तिष्ठति, जडत्वा-

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

प्रधान इस प्रकार महदादिरूपसे ही क्यों परिणत होता है, अर्थात् प्रधानसे महत् और महत्से अहङ्कार इसी प्रकार सृष्टि क्यों होती है, दूसरी रीतिसे क्यों नहीं होती ? उक्त सृष्टिमें इस प्रकारके तर्क नहीं किये जा सकते ऐसा कहते हैं—"अप्रतर्क्यम्" इत्यादिसे । प्रधान रूपादिरहित होनेसे अविज्ञेय है अर्थात् चक्षुरादिसे ग्राह्य नहीं है, जड़ होनेके कारण सब

भाष्य

तेर्नाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इत्यत्र निराकृतमपि सत् प्रधानमिहाऽदृष्टत्वा-दिव्यपदेशसंभवेन पुनराशङ्क्यते ।

अत उत्तरमुच्यते—न च स्मार्तं प्रधानमन्तर्यामिशब्दं भवितुमर्हति । कस्मात्? अतद्धर्माभिलापात् । यद्यप्यदृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्य संभवति तथापि न द्रष्टृत्वादिव्यपदेशः संभवति, प्रधानस्याऽचेतनत्वेन तैरभ्युपगमात् । 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' (बृ०३।७।२३) इति हि वाक्यशेष इह भवति । आत्मत्वमपि न प्रधानस्योपपद्यते ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

'ईक्षतेर्ना०' इस सूत्रसे यद्यपि प्रधानका निराकरण हो चुका है, तो भी यहाँ अदृष्टत्व आदि व्यपदेशके सम्भवसे फिर शङ्का होती है ।

सिद्धान्ती—इस शङ्काका उत्तर कहते हैं—स्मृत्युक्त प्रधान 'अन्तर्यामी' शब्दका वाच्य नहीं हो सकता है, क्योंकि उसमें न रहनेवाले धर्मोंका व्यपदेश है। यद्यपि अदृष्टत्व आदि धर्म प्रधानमें भी हैं, तो भी द्रष्टृत्व आदि धर्म प्रधानमें नहीं हैं, क्योंकि वे ( सांख्यसिद्धान्ती ) प्रधान को अचेतन मानते हैं। यहां 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः०' ( वह अदृष्ट है, परन्तु द्रष्टा है, अश्रुत है, परन्तु श्रोता है, अमत है, परन्तु मन्ता है, अविज्ञात है, परन्तु विज्ञाता है ) ऐसा वाक्य शेष है। आत्मत्व धर्म भी प्रधानमें नहीं है[1] ॥१९॥

---

रत्नप्रभा

दित्यर्थः । अतद् अप्रधानं चेतनं तस्य धर्माणाम् अभिधानादिति हेत्वर्थः ॥१९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिशाओंमें सोता हुआ-सा रहता है । अतद्धर्माभिलापात् तद्—प्रधान, अतद्—अप्रधान चेतन उसके धर्मोंका अभिधान होनेसे [ प्रधान अन्तर्यामी नहीं है ] ॥१९॥

---

(१) यद्यपि जैसे राजाके सब कार्य करनेवाले भद्रसेनमें 'ममात्मा भद्रसेनः' ( भद्रसेन मेरी आत्मा है ) इस प्रकार आत्मशब्दका प्रयोग होता है, वैसे प्रधानमें भी आत्मशब्दका प्रयोग हो सकता है, तो भी वह गौण होनेसे आदरणीय नहीं है। किंच, 'यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यादि निर्देश भी प्रधानमें संगत नहीं हो सकता है, क्योंकि भोक्तृभोग्यभावरूप संवन्धकी विवक्षामें ही ऐसे प्रयोग हो सकते हैं। प्रधान तो भोक्ता नहीं है जिससे भोग्य पृथिवी उसका शरीर हो सके। परमात्मामें तो आत्मशब्दका प्रयोग मुख्य ही है, और वह ( परमात्मा ) जीवरूपसे भोक्ता है, अतः उसमें 'यस्य पृथिवी शरीरम्' इत्यादि निर्देश भी हो सकते हैं।

भाष्य

यदि प्रधानमात्मत्वद्रष्टृत्वाद्यसंभवान्नान्तर्याम्यभ्युपगम्यते, शारीरस्तर्ह्यन्तर्यामी भवतु। शारीरो हि चेतनत्वाद् द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता च भवति, आत्मा च प्रत्यक्त्वात्। अमृतश्च, धर्माधर्मफलोपभोगोपपत्तेः। अदृष्टत्वादयश्च धर्माः शारीरे सुप्रसिद्धाः, दर्शनादिक्रियायाः कर्तरि प्रवृत्तिविरोधात्। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' ( बृ० ३।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। तस्य च कार्यकरणसंघातमन्तर्यमयितुं शीलम्, भोक्तृत्वात्। तस्माच्छारीरोऽन्तर्यामीति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

यदि आत्मत्व, द्रष्टृत्व आदि धर्मोंके अभावसे प्रधान अन्तर्यामी नहीं माना जाता है, तो शारीर—जीव अन्तर्यामी हो। क्योंकि जीव चेतन होनेसे द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता है, प्रत्यक्—आभ्यन्तर होनेसे आत्मा भी है और धर्म तथा अधर्मके फलका उपभोग करनेसे अमृत भी है। अदृष्टत्व आदि धर्म भी जीवमें प्रसिद्ध हैं, क्योंकि दर्शन आदि क्रियाकी प्रवृत्तिका कर्तामें विरोध है अर्थात् दर्शनकर्ता दर्शनक्रियाका विषय नहीं हो सकता। और 'न दृष्टे०' ( दृष्टिके द्रष्टाको तुम देख नहीं सकोगे ) इत्यादि श्रुतियां हैं। तथा शरीर और इन्द्रियसमूहमें भीतर रहकर उनका नियत्रण करना उसका स्वभाव है, क्योंकि वह भोक्ता है। इसलिए जीव अन्तर्यामी है। इसके उत्तरमें कहते हैं—

रत्नप्रभा

उत्तरसूत्रनिरस्यां शङ्कामाह—यदि प्रधानमित्यादिना। अमृतश्चेति। विनाशिनो देहान्तरभोगानुपपत्तेरित्यर्थः। यथा—देवदत्तकर्तृकगमनक्रियाया ग्रामः कर्म न देवदत्तः, तथाऽऽत्मकर्तृकदर्शनादिक्रियाया अनात्मा विषयः, न त्वात्मा, क्रियायाः कर्तृविषयत्वायोगादित्याह—कर्तरीति। क्रियायां गुणः कर्ता, प्रधानं कर्म, तत्र एकस्यां क्रियायामेकस्य गुणत्वप्रधानत्वयोः विरोधान्न कर्तुः कर्मत्वमित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्तर सूत्रमें जिस शङ्काका निराकरण करना है, उसे कहते हैं—"यदि प्रधानम्" इत्यादिसे। "अमृतश्च"। विनाशी जीवमें देहान्तरद्वारा उपभोग सम्भव नहीं है, इसलिए वह अमृत है। गमनक्रियाका कर्म ग्राम है, न कि देवदत्त। उसी प्रकार आत्माकी दर्शन आदि क्रियाका विषय अनात्मा है, न कि आत्मा, क्योंकि कर्ता क्रियाका विषय नहीं हो सकता। एक क्रियाका कर्ता उसी क्रियाका कर्म नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"कर्तरि" इत्यादिसे। क्रियामें कर्ता गौण है और कर्म प्रधान है, एक ही क्रियामें एक ही का गौण और प्रधान होना विरुद्ध है, इसलिए कर्ता कर्म नहीं है।

## शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

**पदच्छेद**—शारीरः, च, उभये, अपि, हि, भेदेन, एनम्, अधीयते ।

**पदार्थोक्ति**----शारीरश्च—जीवोऽपि [ नाऽन्तर्यामी ], हि—यतः, उभयेऽपि--काण्वाः माध्यन्दिनाश्च, एनम्—शारीरम्, भेदेन—अन्तर्यामिणो भेदेन [अन्तर्यामिनियम्यत्वेन ] अधीयते—पठन्ति [ अतः अधिदेवादिश्रुतिषु प्रतीयमानः परमात्मैव ] ।

**भाषार्थ**----जीव भी अन्तर्यामी नहीं है, क्योंकि काण्व और माध्यन्दिन शाखावाले अन्तर्यामीसे नियम्य होनेके कारण जीवको अन्तर्यामीसे भिन्न कहते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि अधिदेवादि श्रुतियोंमें प्रतीयमान अन्तर्यामी परमात्मा ही है ।

*भाष्य*

नेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । शारीरश्च नाऽन्तर्यामीष्यते । कस्मात्? यद्यपि द्रष्टृत्वादयो धर्मास्तस्य सम्भवन्ति तथापि घटाकाशवदुपाधिपरिच्छिन्नत्वान्न कार्त्स्न्येन पृथिव्यादिष्वन्तरवस्थातुं नियन्तुं च शक्नोति । अपि चोभयेऽपि हि शाखिनः काण्वा माध्यन्दिनाश्चाऽन्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाऽधीयते—'यो विज्ञाने

*भाष्यका अनुवाद*

'न' की पूर्वसूत्रसे अनुवृत्ति होती है । शारीरका अन्तर्यामी होना इष्ट नहीं है, क्योंकि यद्यपि द्रष्टृत्व आदि धर्म उसमें हैं, तो भी घटाकाशके समान उपाधिसे परिच्छिन्न होनेके कारण सर्वतोभावेन पृथिवी आदिके भीतर रहनेकी अथवा उनको नियंत्रणमें रखनेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है । दूसरी बात यह भी है कि काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखावाले अन्तर्यामीके भेदसे जीवका पृथिवी आदिके समान अधिष्ठानरूपसे एवं नियम्यरूपसे अध्ययन करते हैं । काण्व 'यो

*रत्नप्रभा*

दृष्टेर्द्रष्टारम् आत्मानं तया दृश्यया दृष्ट्या न विषयीकुर्या इत्यादिश्रुतेश्चादृष्टत्वादिधर्माः शारीरस्य इत्याह—नेति[1] । अपिशब्दसूचितं हेतुमुक्त्वा कण्ठोक्तं

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

'दृष्टेः' ( लौकिकदृष्टि—बुद्धिपरिणामके द्रष्टा आत्माको तुम उसी दृष्टिसे नहीं देख सकोगे) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार अदृष्टत्व आदि धर्म जीवके ही हैं ऐसा कहते हैं—"न"

१–यह प्रतीक ४७८ पृष्ठकी छठी पंक्ति के 'न दृष्टेर्द्रष्टारम्' का है ।

भाष्य

तिष्ठन्' ( बृ० ३।७।२२ ) इति काण्वाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति माध्यन्दिनाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यस्मिंस्तावत् पाठे भवत्यात्मशब्दः शारीरस्य वाचकः। 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यस्मिन्नपि पाठे विज्ञानशब्देन शारीर उच्यते। विज्ञानमयो हि शारीरः। तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम्। कथं पुनरेकस्मिन् देहे द्वौ द्रष्टारावुपपद्येते, यश्चाऽयमीश्वरोऽन्तर्यामी यश्चाऽयमितरः शारीरः। का पुनरिहाऽनुपपत्तिः? 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचनं विरुध्येत। अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं द्रष्टारं, श्रोतारं, मन्तारं, विज्ञातारं चाऽऽत्मानं प्रतिषेधति। नियन्त्र-

भाष्यका अनुवाद

विज्ञाने०' ( जो विज्ञानमें रहकर ) और माध्यन्दिन 'य आत्मनि०' ( जो आत्मामें रहकर ) इस प्रकार अध्ययन करते हैं। 'य आत्मनि०' इस पाठमें आत्मशब्द शारीरवाचक है। 'यो विज्ञाने०' इस पाठमें भी विज्ञानशब्दसे शारीरका कथन होता है, क्योंकि शारीर विज्ञानमय है। इससे सिद्ध हुआ कि शारीरसे अन्य ईश्वर अन्तर्यामी है। परन्तु अन्तर्यामी ईश्वर और दूसरा शारीर दोनों द्रष्टा एक देहमें किस प्रकार रह सकते हैं? दोनोंके रहनेमें अनुपपत्ति ही क्या है? अनुपपत्ति यह है कि 'नान्योऽतो०' ( इससे भिन्न द्रष्टा नहीं है ) इत्यादि श्रुतिवचनोंसे विरोध होगा। क्योंकि यहां [श्रुति] प्रकृत अन्तर्यामीसे अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता आत्माका

रत्नप्रभा

हेतुमाह—**अपि चोभयेऽपीति**। भेदेनेति सूत्रात् तात्त्विकभेदभ्रान्तिं निरसितुं शङ्कते—**कथमिति**। नन्वत्रैको भोक्ता जीवः, ईश्वरस्त्वभोक्ता इति, न विरोध इति शङ्कते—**का पुनरिति**। तयोर्भेदः श्रुतिविरुद्ध इति पूर्ववादी आह—**नान्य इति**। स एव श्रुत्यर्थमाह—**अत्रेति**। श्रुतेरर्थान्तरम् आशङ्क्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। 'अपि' शब्दसे सूचित हेतु कह कर शब्दतः उक्त हेतु कहते हैं—"अपि चोभयेऽपि" इत्यादिसे। 'भेदेन' इस सूत्रभागसे तात्त्विक भेदकी भ्रान्ति न हो जाय, इसलिए इसका निराकरण करनेके लिए शङ्का करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। यहां केवल जीव भोक्ता है, ईश्वर भोक्ता नहीं है, अतः कोई विरोध नहीं है ऐसी शङ्कामें शङ्का करते हैं—"का पुनः" इत्यादिसे। पूर्ववादी "नान्यः" इत्यादिसे कहता है कि इन दोनोंका भेद श्रुतिविरुद्ध है। स्वयं वही श्रुतिका अर्थ कहता है—"अत्र" इत्यादिसे। श्रुतिके दूसरे अर्थकी आशङ्का

भाष्य

न्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमिति चेत्, न; नियन्त्रन्तराप्रसङ्गादविशेषश्रवणाच्च। अत्रोच्यते—अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ सम्भवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञेयादिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधिप्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुप-

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषेध करती है। दूसरे नियन्ताके प्रतिषेधके लिए यह वचन है ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यहां दूसरे नियन्ताका प्रसङ्ग ही नहीं है और विशेषका श्रवण भी नहीं है। अर्थात् 'नान्योऽतो०' इस श्रुतिमें साधारणतः अन्य द्रष्टाका निषेध किया है, नियन्ताका निषेध नहीं किया है। इसपर कहते हैं—शारीर और अन्तर्यामीकी यह भेदोक्ति अविद्याजनित शरीर और इन्द्रियरूप उपाधिकी अपेक्षासे है, वास्तविक नहीं है। वस्तुतः प्रत्यगात्मा एक ही है, दो प्रत्यगात्माओंका सम्भव नहीं है। एकका ही भेदव्यवहार उपाधिसे होता है, जैसे कि घटाकाश और महाकाशमें भेदव्यवहार होता है। इससे ज्ञातृ, ज्ञेय आदिका भेद

रत्नप्रभा

निषेधति—**नियन्त्रन्तरेत्यादिना**। न केवलम् अप्रसक्तप्रतिषेधः, किन्तु अविशेषेण द्रष्ट्रन्तरनिषेधश्रुतेः अन्तर्याम्यन्तरनिषेधार्थत्वे बाधश्च इत्याह—**अविशेषेति**। तस्मात् सूत्रे "य आत्मनि तिष्ठन्" इति श्रुतौ च द्रष्टृभेदोक्तिः अयुक्ता, "नान्यः" इति वाक्यशेषे भेदनिरासादिति प्राप्ते, भेद उपाधिकल्पितः श्रुतिसूत्राभ्यामनूद्यते इति समाधत्ते—**अत्रोच्यते इति**। भेदः सत्यः किं न स्यादत आह—**एको हीति**। गौरवेण द्वयोरहंधीगोचरत्वासम्भवात् एक एव तद्गोचरः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

करके निषेध करते हैं—"नियन्त्रन्तर" इत्यादिसे। केवल अप्रसक्तका प्रतिषेध ही नहीं है, किन्तु साधारणतया अन्य द्रष्टाका निषेध करनेवाली श्रुतिका 'अन्य अन्तर्यामी नहीं है' इस प्रकार अर्थ माननेमें बाध भी है ऐसा कहते हैं—"अविशेष" इत्यादिसे। इसलिए सूत्रमें और 'य आत्मनि तिष्ठन्' इस श्रुतिमें भी भिन्न द्रष्टा है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इस वाक्यशेषमें भेदका निरास किया है, ऐसा प्राप्त होनेपर "अत्रोच्यते" इत्यादिसे समाधान करते हैं कि भेद उपाधि कल्पित है और उसका श्रुति और सूत्र अनुवाद करते हैं। भेद सत्य क्यों नहीं है ? इसपर कहते हैं—"एको हि" इत्यादिसे।

### भाष्य

पद्यते । तथा च श्रुतिः—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविषये सर्वं व्यवहारं वारयति ॥ २० ॥

### भाष्यका अनुवाद

प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, संसारानुभव और विधिप्रतिषेधशास्त्र ये सब उपपन्न होते हैं। उसी प्रकार 'यत्र हि द्वैतमिव०' ( जहां द्वैत-सा होता है, वहां स्वयं अन्य होकर अन्यको देखता है ) यह श्रुति अविद्याकालमें सब व्यवहारोंको दिखलाती है। 'यत्र त्वस्य सर्वं०' ( परन्तु जिस ज्ञानकालमें सब आत्मज्ञानीकी आत्मा ही हो गया, वहां कौन किसको किससे देखे) यह श्रुति विद्याकालमें सब व्यवहारोंका निषेध करती है ॥ २० ॥

---

### रत्नप्रभा

तद्गोचरस्य घटवदनात्मत्वाद् न आत्मभेदः सत्य इत्यर्थः । ततश्चेति । कल्पितभेदाङ्गीकाराद् भेदापेक्षं सर्वं युज्यते इत्यर्थः । तस्माद् अन्तर्यामिब्राह्मणं ज्ञेये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥ २० ॥ (५) ॥

### रत्नप्रभाका अनुवाद

"मैं" ऐसी बुद्धिके दो विषय नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा माननेमें गौरव है। इससे एक ही इस बुद्धिका गोचर—विषय है। इस बुद्धिका जो विषय नहीं है, वह घटके समान अनात्मक है, इसलिए आत्माका भेद सत्य नहीं है, ऐसा अर्थ है। "ततश्च" इत्यादि। कल्पित भेदका अङ्गीकार करनेसे तो भेदकी अपेक्षा रखनेवाले सभी व्यवहार सङ्गत होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अन्तर्यामी ब्राह्मणका ज्ञेय ब्रह्ममें समन्वय है ।।२०।।
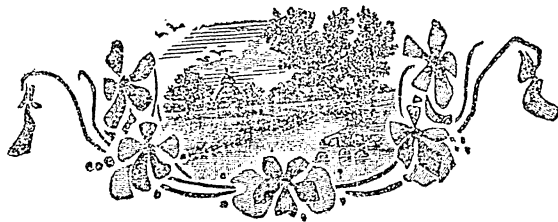
## [ ६ अदृश्यत्वाधिकरण सू० २१—२३ ]

भूतयोनिः प्रधानं वा जीवो वा यदि वेश्वरः ।
आद्यौ पक्षावुपादाननिमित्तत्वाभिधानतः ॥१॥
ईश्वरो भूतयोनिः स्यात्सर्वज्ञत्वादिकीर्तनात् ।
दिव्याद्युक्तेर्न जीवः स्यान्न प्रधानं भिदोक्तितः ॥२॥

## [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' इस श्रुतिमें उक्त भूतयोनि प्रधान है या जीव है अथवा परमेश्वर ?

**पूर्वपक्ष**—योनिशब्दके अर्थ हैं—उपादानकारण और निमित्तकारण। अतः जगत्‌रूपसे परिणत होनेवाला प्रधान, जगत्‌का उपादानकारण होनेसे, भूतयोनि है। अथवा धर्म एवं अधर्म द्वारा जगत्‌का उत्पादक जीव भूतयोनि है।

**सिद्धान्त**—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिमें सर्वज्ञत्व, सर्ववेत्तृत्व आदि ब्रह्मलिङ्ग कहे गये हैं, अतः परमेश्वर ही भूतयोनि है। भूतयोनि दिव्य, सर्वव्यापक तथा जन्मरहित कहा गया है, अतः परिच्छिन्न और जन्म आदि युक्त जीव भूतयोनि नहीं है। 'अक्षरात् परतः परः' इस श्रुतिमें भूतयोनि अक्षरशब्दवाच्य प्रधानसे भिन्न कहा गया है, अतः प्रधान भूतयोनि नहीं है। और ब्रह्म सकल जगत्‌का उपादान तथा निमित्तकारण है। इससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही भूतयोनि है।

---

मुण्डकोपनिषद्‌के प्रथमाध्यायके प्रथमखण्डमें यह श्रुति है—'यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' उसका अर्थ है कि जिसको विद्वान् लोग भूतयोनि समझते हैं, वह अक्षर परविद्यासे गम्य है।

इसमें संशय होता है कि वह भूतयोनि प्रधान है अथवा जीव है या ईश्वर है।

पूर्वपक्षी कहता है कि प्रधान अथवा जीव भूतयोनि है, क्योंकि योनिशब्दके दो अर्थ हैं–उपादानकारण और निमित्तकारण। सम्पूर्ण जगत्‌के आकारमें परिणत होनेवाला प्रधान जगत्‌का उपादानकारण है। पुण्य और पाप कर्मोंसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, उन कर्मोंका कर्ता जीव है, अतः कर्म-द्वारा जीव जगत्‌का निमित्तकारण है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानामयं तपः' (जो सामान्य रूपसे सब पदार्थोंका ज्ञान रखनेके कारण सर्वज्ञ है, विशेषरूपसे सब पदार्थोंको जाननेके कारण सर्ववित् है, जिसका तप केवल ज्ञानरूप ही है) इस श्रुतिमें सर्वज्ञत्व, सर्ववेत्तृत्व आदि ब्रह्मलिङ्ग कहे गये हैं, अतः भूतयोनि परमेश्वर ही है। जीव भूतयोनि नहीं हो सकता है, क्योंकि 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (वह स्वप्रकाश, पूर्ण, प्रत्यगात्मा, सर्वव्यापक एवं जन्मरहित है) इस प्रकार भूतयोनिमें सर्वव्यापकत्व, जन्मराहित्व कहे गये हैं, वे परिच्छिन्न तथा जन्ममरणयुक्त जीवमें सम्भव नहीं हैं। प्रधान भी भूतयोनि नहीं हो सकता है, क्योंकि 'अक्षरात् परतः परः' इस प्रकार अक्षरशब्द-वाच्य प्रधानसे भिन्न भूतयोनि पर-उत्कृष्ट कहा गया है। अतः परमेश्वर ही भूतयोनि है।

## अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

पदच्छेद----अदृश्यत्वादिगुणकः, धर्मोक्तेः ।

पदार्थोक्ति---अदृश्यत्वादिगुणकः—'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' इत्यादिश्रुत्युक्तादृश्यत्वादिगुणविशिष्टः भूतयोनिः [ परमात्मैव, न प्रधानं जीवो वा, कुतः ] धर्मोक्तेः —'यः सर्वज्ञः सर्वविद्' इत्यादिना सर्वज्ञत्वादिपरमेश्वरधर्माणां भूतयोनौ निर्देशात्, [ प्रधाने जीवे वा तादृशधर्माभावात् ] ।

भाषार्थ----'यत्तदद्रेश्य०' ( जो अदृश्य है अग्राह्य है........उस अविनाशीको विद्वान् लोग भूतयोनि कहते हैं ) इत्यादि श्रुतिमें उक्त अदृश्यत्व आदि गुणवाला भूतयोनि परमात्मा ही है, प्रधान अथवा जीव भूतयोनि नहीं हैं, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः' (जो सर्वज्ञ है और सर्ववेत्ता है) इत्यादि श्रुतिसे भूतयोनिमें सर्वज्ञत्व आदि परमेश्वरके धर्मोंका निर्देश किया गया है, प्रधानमें अथवा जीवमें वे सर्वज्ञत्व आदि धर्म नहीं हैं।
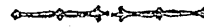
'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते', 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूत-

*भाष्यका अनुवाद*

'अथ परा यया०' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्य०' ( अपरा विद्याके कथनके बाद परा विद्या कही जाती है, जिससे वह अविनाशी ज्ञात होता है, जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, चक्षुश्रोत्रशून्य, पाणिपादरहित, नित्य, विभु, सर्वगत,

---

*रत्नप्रभा*

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः । मुण्डकवाक्यम् उदाहरति—अथेति । कर्मविद्यारूपापरविद्योक्त्यनन्तरम् यया निर्गुणं ज्ञायते परा सोच्यते, तामेव विषयोक्त्या निर्दिशति—यत्तदिति । अद्रेश्यम्—अदृश्यं ज्ञानेन्द्रियैः, अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः, गोत्रम् वंशः, वर्णः—ब्राह्मणत्वादिजातिः, चक्षुःश्रोत्रशून्यम्—अचक्षुश्श्रो-

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

"अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" । "अथ" इत्यादिसे मुण्डकवाक्यको उद्धृत करते हैं । कर्मविद्यारूप अपरविद्याका निरूपण करनेके पश्चात् जिससे निर्गुणका ज्ञान होता है, वह परा विद्या कही जाती है । विषयके कथनद्वारा परा विद्याका निर्देश करते हैं–"यत्तद्" इत्यादिसे । अद्रेश्य–ज्ञानेन्द्रियोंसे अदृश्य अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंका अविषय, अग्राह्य–कर्मेन्द्रियोंका अविषय, गोत्र–वंश [उससे रहित], वर्ण–ब्राह्मणत्वादि जाति [उससे शून्य], अचक्षुःश्रोत्र--नेत्रकर्णशून्य अर्थात् ज्ञानेन्द्रियरहित,

भाष्य

योनिं परिपश्यन्ति धीराः' ( मु० १।१।५,६) इति श्रूयते । तत्र संशयः— किमयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं स्यात्, उत शारीरः, आहोस्वित् परमेश्वर इति ।

तत्र प्रधानमचेतनं भूतयोनिरिति युक्तम्, अचेतनानामेव तस्य दृष्टान्तत्वेनोपादानात् ।

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥'

भाष्यका अनुवाद

सुसूक्ष्म और अविनाशी है, विद्वान् लोग भूतोंके कारणरूपसे उसको देखते हैं ) यह श्रुति है । यहांपर सन्देह होता है कि अदृश्यत्व आदि गुणवाला भूतयोनि क्या प्रधान है, या जीव है, या परमेश्वर ?

पूर्वपक्षी—अचेतन प्रधान भूतयोनि हो सकता है, क्योंकि अचेतनोंका ही दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किया है, जैसे कि 'यथोर्णनाभिः सृजते०' ( जैसे मकड़ी तन्तुओंको उत्पन्न करती है और पीछे उन्हें निगल जाती है, जैसे पृथिवीमें ओषधियां उत्पन्न होती हैं एवं जैसे जीवित पुरुषोंसे केश और लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षरसे यह सारा विश्व उत्पन्न होता है ) ।

रत्नप्रभा

त्रम्, पाणिपादशून्यम्—अपाणिपादम्, ज्ञानकर्मेन्द्रियविकलमित्यर्थः । विभुम्—प्रभुम् । सुसूक्ष्मं दुर्ज्ञेयत्वात् । नित्याव्ययपदाभ्यां नाशापक्षययोः निरासः । भूतानां योनिं प्रकृतिं यत् पश्यन्ति धीराः पण्डिताः, तद् अक्षरं तद्विद्या परा इत्यन्वयः । अदृश्यत्वादिगुणानां ब्रह्मप्रधानसाधारणत्वात् संशयः । पूर्ववद् द्रष्टृत्वादीनां चेतनधर्माणाम् अत्र अश्रुतेरस्तु प्रधानमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—तत्रेति । पूर्वपक्षे प्रधानाद्युपास्तिः, सिद्धान्ते निर्गुणधीरिति फलम् । ऊर्णनाभिः लूताकीटः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

और अपाणिपाद—हस्तपादरहित अर्थात् कर्मेन्द्रियरहित । विभु—प्रभु । दुर्ज्ञेय होनेसे सुसूक्ष्म—अतिशय सूक्ष्म । नित्य और अव्ययपदोंसे नाशरहित तथा अपक्षय (क्षीण होना) रहित समझना चाहिए । इस प्रकारके जिस भूतयोनिको पण्डित भूतोंके कारणरूपसे जानते हैं, वह अक्षर है और वह अक्षर जिस विद्यासे ज्ञात होता है, वह परा विद्या है ऐसा अन्वय है । अदृश्यत्व आदि धर्म ब्रह्म और प्रधान दोनोंमें साधारण हैं, इससे संशय होता है । पूर्वके समान द्रष्टृत्व आदि धर्म यहां नहीं कहे गये हैं, इसलिए भूतयोनि अक्षर प्रधान हो इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें प्रधान आदिकी उपासना फल है,

भाष्य

(मु० १।१।७) इति। ननूर्णनाभिः पुरुषश्च चेतनाविह दृष्टान्तत्वेनोपात्तौ। नेति ब्रूमः। नहि केवलस्य चेतनस्य तत्र सूत्रयोनित्वं केशलोमयोनित्वं चाऽस्ति। चेतनाधिष्ठितं ह्यचेतनमूर्णनाभिशरीरं सूत्रस्य योनिः, पुरुषशरीरं च केशलोम्नामिति प्रसिद्धम्। अपि च पूर्वत्राऽदृष्टत्वाद्यभिलापसंभवेऽपि द्रष्टृत्वाद्यभिलापासंभवान्न प्रधानमभ्युपगतम्। इह त्वदृश्यत्वादयो धर्माः प्रधाने संभवन्ति, न चाऽत्र विरुध्यमानो धर्मः कश्चिदभिलप्यते। ननु 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १।१।९) इत्ययं वाक्यशेषोऽचेतने प्रधाने न सम्भवति, कथं प्रधानं भूतयोनिः प्रतिज्ञायते

भाष्यका अनुवाद

किन्तु मकड़ी और पुरुष—इन दो चेतनोंका यहां दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किया है। हम कहते हैं कि, नहीं। वस्तुतः केवल चेतन ही यहाँ तन्तुका कारण या केशलोमका कारण नहीं हैं, किन्तु चेतनसे अधिष्ठित मकड़ीका शरीर तन्तुका कारण है और पुरुष-शरीर केश और लोमोंका कारण है, यह सर्वप्रसिद्ध है। किंच, पूर्व अधिकरणमें अदृश्यत्व आदि धर्मोंके अभिधानका सम्भव था, तो भी द्रष्टृत्व आदि धर्मोंके अभिधानका असम्भव होनेसे प्रधानका स्वीकार नहीं किया गया। यहां तो अदृश्यत्व आदि धर्म प्रधानमें सम्भव हैं और किसी भी विरुद्ध धर्मका अभिधान नहीं है। यदि कोई कहे 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्, (जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है) यह वाक्यशेष प्रधानमें सम्भव नहीं है, ऐसी अवस्थामें प्रधान भूतयोनि है यह प्रतिज्ञा किस प्रकार की

---

रत्नप्रभा

तन्तून् स्वदेहात् सृजति उपसंहरति च इत्यर्थः। सतः जीवतः। ननु पूर्वं निरस्तं प्रधानं कथमुत्थाप्यते तत्राऽऽह—अपि चेति। अत्र प्रधाने विरुध्यमानोऽसम्भावितो वाक्यशेषः श्रुत इति शङ्कते—ननु य इति। पञ्चम्यन्ताक्षर-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है। यथोर्णनाभि०—मकड़ी अपने देहसे तन्तुओंको उत्पन्न करती है एवं अपने देहमें ही उनका उपसंहार कर लेती है ऐसा अर्थ है। सत्—जीवित। यदि कोई कहे कि पूर्वमें निराकरण किये हुए प्रधानकी शङ्का क्यों होती है, इस शङ्कापर कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। यहांपर प्रधानमें विरुद्ध—असंगत वाक्यशेष है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु यः" इत्यादिसे। 'अक्षरात् परतः परः' इसमें पंचम्यन्त 'अक्षर' शब्द

भाष्य

इति। अत्रोच्यते—'यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यक्षरशब्देनाऽदृश्यत्वादिगुणकं भूतयोनिं श्रावयित्वा पुनरन्ते श्रावयिष्यति—'अक्षरात्परतः परः' (मु० २।१।२) इति। तत्र यः परोऽक्षराच्छ्रुतः स सर्वज्ञः सर्ववित् संभविष्यति। प्रधानमेव त्वक्षरशब्दनिर्दिष्टं भूतयोनिः। यदा तु योनिशब्दो निमित्तवाची तदा शारीरोऽपि भूतयोनिः स्यात्, धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्योपार्जनादिति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—योऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः स परमेश्वर एव स्यान्नाऽन्य इति। कथमेतदवगम्यते? धर्मोक्तेः। परमेश्वरस्य हि धर्म इहोच्यमानो दृश्यते—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति। नहि प्रधान-

भाष्यका अनुवाद

गई? इसपर कहते हैं—'यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यम्' (जिससे वह अविनाशी ज्ञात होता है, जो वह अदृश्य है) इस प्रकार 'अक्षर' शब्दसे अदृश्यत्व आदि गुणवाले भूतयोनिका प्रतिपादन करके अन्तमें फिर श्रुति कहेगी कि 'अक्षरात्०' (सबसे उत्कृष्ट अक्षरसे भी जो उत्कृष्ट है) श्रुतिमें अक्षरसे जो पर कहा गया है, वह सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता हो सकता है। अक्षरशब्दसे निर्दिष्ट भूतयोनि तो प्रधान ही है। यदि योनिशब्द निमित्तवाचक माना जाय, तो शारीर भी भूतयोनि हो सकता है, क्योंकि जीवके धर्म और अधर्मसे भूतसमूहकी सृष्टि होती है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—अदृश्यत्व आदि गुणवाला जो भूतयोनि है, वह परमेश्वर ही है, अन्य नहीं है। यह किस प्रकार समझा जाय? धर्मके कथनसे। यहां 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (जो सर्वज्ञ एवं सर्ववेत्ता है) इत्यादिसे

रत्नप्रभा

श्रुत्या भूतप्रकृतेः प्रत्यभिज्ञानात् प्रथमान्तपरशब्दोक्तस्य जगन्निमित्तेश्वरस्य सर्वज्ञत्वादिकमित्याह—**अत्रोच्यत इति**। "सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्"इति न्यायेन सिद्धान्तयति—**एवं प्राप्ते इति**। चेतनाचेतनत्वेन सन्दिग्धे भूतयोनौ यः सर्वज्ञ

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, उससे भूतयोनि जो अक्षर है, उसका प्रत्यभिज्ञान होता है, इसलिए प्रथमान्त 'पर' शब्दप्रतिपादित, जगत्के निमित्तकारण ईश्वरमें सर्वज्ञत्व आदि धर्म संगत होते हैं, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। 'संदिग्धे तु वाक्यशेषात्'—संदिग्धविषयमें वाक्यशेषसे निर्णय करना चाहिए, इस न्यायसे सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। भूतयोनि

भाष्य

स्याऽचेतनस्य शारीरस्य वोपाधिपरिच्छिन्नदृष्टेः सर्वज्ञत्वं सर्वविच्वं वा सम्भवति । नन्वक्षरशब्दनिर्दिष्टाद् भूतयोनेः परस्यैव तत् सर्वज्ञत्वं सर्वविच्वं च न भूतयोनिविषयमित्युक्तम् । अत्रोच्यते—नैवं संभवति । यत्कारणं 'अक्षरात् संभवतीह विश्वम्' इति प्रकृतं भूतयोनिमिह जायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्याऽनन्तरमपि जायमानप्रकृतित्वेनैव सर्वज्ञं निर्दिशति—

'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥' इति ।

भाष्यका अनुवाद

परमेश्वरके धर्म कहे गये हैं। अचेतन प्रधानमें अथवा उपाधिसे परिच्छिन्न दृष्टिवाले (अल्पज्ञ) जीवमें सर्वज्ञत्व या सर्ववेत्तृत्व सम्भव नहीं है । परन्तु अक्षर शब्दसे निर्दिष्ट जो भूतयोनि है, उससे परमें सर्वज्ञत्व और सर्ववेत्तृत्व धर्म हैं, भूतयोनिमें नहीं है ऐसा पीछे कहा गया है । इसपर कहते हैं—ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि 'अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' ( अक्षरसे यह विश्व उत्पन्न होता है ) इस प्रकार प्रस्तुत भूतयोनिका उत्पद्यमान जगत्के कारणरूपसे निर्देश कर उसके अनन्तर भी ''यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य०,' ( जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है, जिसका ज्ञानमय तप है, उससे यह [कार्य] ब्रह्म उत्पन्न होता है, उसी प्रकार नाम,

---

रत्नप्रभा

इति वाक्यशेषाद् ईश्वरत्वनिर्णय इत्ययुक्तम्, वाक्यशेषे भूतयोनेः प्रत्यभिज्ञापकाभावादिति शङ्कते—**नन्विति** । ''जनिकर्तुः प्रकृतिः'' (पा० १।४।३०) इति सूत्रेण प्रकृतेः अपादानसञ्ज्ञायां पञ्चमीस्मरणाद् अक्षरात् सम्भवतीति प्रकृतित्वेनोक्ताक्षरस्य भूतयोनेः वाक्यशेषे तस्मादिति प्रकृतित्वलिङ्गेन प्रत्यभिज्ञानमस्तीति समाधत्ते—**अत्रोच्यते इति** । एतत्—कार्यं ब्रह्म सूक्ष्मात्मकम्, नामरूपम्—स्थूलम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

चेतन है या अचेतन है, ऐसा संशय होनेपर 'यः सर्वज्ञः' इस वाक्यशेषसे भूतयोनि ईश्वर है ऐसा निर्णय करना ठीक नहीं है, क्योंकि वाक्यशेषमें भूतयोनिकी प्रत्यभिज्ञा करानेवाला कोई पद नहीं है, ऐसी शङ्का करते हैं—''ननु'' इत्यादिसे । 'जनिकर्तुः' (उत्पत्तिके आश्रयका हेतु अपादान होता है) इस पाणिनिसूत्रके अनुसार प्रकृतिकी अपादान संज्ञा होनेपर पंचमी विभक्ति होती है, 'अक्षरात् सम्भवति' इसमें 'अक्षरात्' यह पंचमीविभक्त्यन्त है, अतः प्रकृतिरूपसे कथित भूतयोनि अक्षरका 'तस्मादेतद् ब्रह्म' इस वाक्यशेषमें प्रकृतिबोधक पंचम्यन्त 'तस्मात्'से प्रत्यभिज्ञान होता है, इस प्रकार समाधान करते हैं—''अत्रोच्यते'' इत्यादिसे ।

भाष्य

तस्मान्निर्देशसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् प्रकृतस्यैवाऽक्षरस्य भूतयोनेः सर्वज्ञत्वं सर्वविच्त्वं च धर्म उच्यते इति गम्यते। 'अक्षरात्परतः परः' इत्यत्रापि न प्रकृताद् भूतयोनेरक्षरात्परः कश्चिदभिधीयते। कथमेतदवगम्यते? 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मु० १।२।१३) इति प्रकृतस्यैवाऽक्षरस्य भूतयोनेरदृश्यत्वादिगुणकस्य

भाष्यका अनुवाद

रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार श्रुति उत्पद्यमान जगत्के कारणरूपसे ही सर्वज्ञका निर्देश करती है। इससे प्रतीत होता है कि समान निर्देशसे प्रत्यभिज्ञा होनेके कारण प्रस्तुत अक्षर भूतयोनिके ही सर्वज्ञत्व और सर्ववेत्तृत्व धर्म कहे गये हैं। 'अक्षरात् परतः परः' इसमें भी प्रस्तुत भूतयोनि अक्षरसे पर कोई है, यह अभिधान नहीं होता। यह कैसे जानते हो? 'येनाक्षरं पुरुषम्०' (जिस विद्यासे शिष्य अक्षर पुरुषको जाने, उस ब्रह्मविद्याको आचार्य शिष्यके लिए यथार्थरूपसे कहे) इस प्रकार प्रस्तुत भूतयोनि अदृश्यत्व आदि गुणोंसे सम्पन्न अक्षर

रत्नप्रभा

ततोऽन्नं व्रीह्यादि इत्यर्थः। यदुक्तं पञ्चम्यन्ताक्षरश्रुत्या भूतयोनेः प्रत्यभिज्ञानात् अचेतनत्वमिति, तत्राऽऽह—**अक्षरात्परत इति**। नाऽयम् अक्षरशब्दो भूतयोनिं परामृशति, परविद्याधिगम्यत्वेन उक्तस्य अक्षरस्य भूतयोनेः 'अक्षरं पुरुषं वेद' इत्यक्षरश्रुत्या वेद्यत्वलिङ्गवत्या पूर्वमेव ब्रह्मत्वेन परामर्शाद् इत्याह—**येनेति**। येन ज्ञानेन अक्षरं भूतयोनिं सर्वज्ञं पुरुषं वेद तां ब्रह्मविद्यां योग्याय शिष्याय प्रब्रूयात् इत्युपक्रम्य "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः" (मु० २।१।२) इति उच्यमानः परो भूतयोनिरिति गम्यते इत्यर्थः। तर्हि पञ्चम्यन्ताक्षरशब्दार्थः क इत्याशङ्क्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

[तस्मादेतद्०]—पहले एतत्—कार्यब्रह्म सूक्ष्मभूतरूप हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है, फिर स्थूलभूतात्मक नाम और रूप होते हैं, उनके बाद अन्न—व्रीहि आदि उत्पन्न होते हैं। 'अक्षरात्' इस पंचम्यन्त श्रुतिसे भूतयोनिका प्रत्यभिज्ञान होता है, इससे भूतयोनि अचेतन है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—"अक्षरात् परतः" इत्यादि। इसमें अक्षरशब्दसे भूतयोनिका परामर्श नहीं होता है, क्योंकि पहले ही 'अक्षरं पुरुषं वेद' इस श्रुतिमें ज्ञेयत्वलिङ्गसे युक्त अक्षरश्रुति द्वारा परविद्यासे प्राप्तव्य भूतयोनि अक्षर ब्रह्मत्वरूपसे परामृष्ट हो गया है यह कहते हैं—"येन" इत्यादिसे। जिस ज्ञानसे अक्षर भूतयोनि सर्वज्ञ पुरुष जाना जाता है, वह ब्रह्मविद्या योग्य शिष्यसे कहनी चाहिए ऐसा उपक्रम करके 'अप्राणो ह्यमनाः'

भाष्य

वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात् । कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति व्यपदिश्यत इति ? उत्तरसूत्रे तद्वक्ष्यामः । अपि चाऽत्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते—'परा चैवाऽपरा च' इति । तत्राऽपरामृग्वेदादिलक्षणां विद्यामुक्त्वा ब्रवीति—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि । तत्र परस्या विद्याया विषयत्वेनाऽक्षरं श्रुतम् । यदि पुनः परमेश्वरादन्यद्दृश्यत्वादिगुणकमक्षरं परिकल्प्येत, नेयं परा विद्या स्यात् । परापरविभागो ह्ययं विद्ययोरभ्युदयनिःश्रेयसफलतया परिकल्प्यते । न च प्रधानविद्या निःश्रेयस-

भाष्यका अनुवाद

उपदेश्य है, ऐसी प्रतिज्ञा की है । इससे ज्ञात होता है कि भूतयोनि अक्षरसे पर कोई नहीं है । तब 'अक्षरात् परतः परः' यह कथन कैसे सङ्गत होगा ? इसका अग्रिम सूत्रमें स्पष्टीकरण करेंगे । दूसरी बात यह भी है कि यहां दो विद्याएँ जानने योग्य कही गई हैं—'परा चाऽपरा च' (परा और अपरा )। इनमें ऋग्वेदादिको अपरा विद्या कह कर 'अथ परा यया०' ( अपराके निरूपणके पश्चात् परा विद्या कहते हैं, जिससे वह अक्षर जाना जाता है ) इत्यादि कहते हैं । श्रुतिमें परा विद्याके विषयरूपसे अक्षरका श्रवण होता है । परन्तु यदि परमेश्वरसे भिन्न अदृश्यत्व आदि गुणवाले अक्षरकी कल्पना करें, तो यह परा विद्या न होगी । निश्चय, अभ्युदय और निश्रेयसरूप फलकी अपेक्षासे विद्याओंके परा और अपरा विभागकी कल्पना की गई है । प्रधानविद्याका फल

रत्नप्रभा

अज्ञानमिति वक्ष्यते इत्याह—**कथमिति** । परविद्येति समाख्ययाऽपि तद्विषयस्य ब्रह्मत्वमित्याह—**अपि चेति** । ननु प्रधानविद्याऽपि कारणविषयत्वात् परा इत्यत आह—**परापरविभागो हीति** । अनित्यफलत्वेनाऽपरविद्यां निन्दित्वा मुक्त्यर्थिने ब्रह्मविद्यां प्रोवाच इति वाक्यशेषोक्तेः इत्यर्थः । अस्तु प्रधानविद्याऽपि मुक्ति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार कहा गया पर भूतयोनि समझा जाता है । तब पंचम्यन्त अक्षरशब्दका क्या अर्थ है "कथम्" इत्यादिसे ऐसी आशङ्का करके कहते हैं कि उसका अर्थ अज्ञान—अव्याकृत है यह अग्रिम सूत्रमें कहेंगे । "अपि च" इत्यादिसे कहते हैं कि परा विद्या इस संज्ञासे भी विद्याका विषय ब्रह्म ही होना चाहिए । यदि कोई कहे कि प्रधानविद्या भी तो जगत्कारणविषयक है, अतः वह भी परा विद्या है, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—"परापरविभागो हि" इत्यादिसे । तात्पर्य यह है कि अपराविद्याका फल अनित्य है, इसलिए उसकी निन्दा करके मोक्षाभिलाषीको परा विद्याका उपदेश किया है, इस प्रकार वाक्यशेषके होनेके कारण [ विभागकी कल्पना है ] ।

भाष्य

फला केनचिदभ्युपगम्यते । तिस्रश्च विद्याः प्रतिज्ञायेरन्, त्वत्पक्षेऽक्षराद् भूतयोनेः परस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यमानत्वात् । द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये इह निर्दिष्टे, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' ( मु० १।१।३ ) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणं सर्वात्मके ब्रह्मणि विवक्ष्यमाणेऽवकल्प्यते, नाऽचेतनमात्रैकायतने प्रधाने, भोग्यव्यतिरिक्ते वा भोक्तरि । अपि च 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय

भाष्यका अनुवाद

निःश्रेयस है ऐसा कोई भी स्वीकार नहीं करता । और तुम्हारे पक्षमें भूतयोनि अक्षरसे पर परमात्माका प्रतिपादन किया जाता है इससे तीन विद्याओंकी प्रतिज्ञा की जानी चाहिये थी, परन्तु दो ही विद्याएँ जानने योग्य हैं, ऐसा यहां निर्देश किया है । कस्मिन्नु भगवो०' ( हे भगवन् किसको जाननेसे यह सब जाना जाता है ) इस प्रकार एक विज्ञानसे सब विज्ञानोंकी इच्छा की गई है, वह तभी सम्भव हो सकती है जब कि सर्वात्मक ब्रह्मकी विवक्षा हो । अचेतनमात्रके एक आश्रय प्रधान अथवा भोग्यसे भिन्न भोक्ताकी विवक्षा होनेपर सम्भव नहीं है । और 'स ब्रह्मविद्यां०' ( उसने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वके लिए

रत्नप्रभा

फलत्वेन परा इत्यत आह—**न चेति** । ननु यः सर्वज्ञ इत्यग्रे परविद्याविषय उच्यते, अद्रेश्यवाक्येन तु प्रधानविद्या उच्यते इत्यत आह—**तिस्रश्चेति** । इतश्च भूतयोनेः ब्रह्मत्वमित्याह—**कस्मिन्निति** । अचेतनमात्रस्य एकायतनम्—उपादानं तज्ज्ञानात् कार्यज्ञानेऽपि तदकार्याणाम् आत्मनां ज्ञानं न भवति । एवं जीवे ज्ञाते तदकार्यस्य भोग्यस्य ज्ञानं न भवतीत्यर्थः । ब्रह्मविद्याशब्दाच्च भूतयोनिः ब्रह्म इत्याह—**अपि चेति** । स ब्रह्मा सर्वविद्यानां प्रतिष्ठां समाप्तिभूमिं ब्रह्मविद्यामु-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु प्रधानविद्या भी तो मुक्तिदायक होनेके कारण परा हो सकती है ? इस शङ्काको दूर करते हैं—"न च" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि 'यः सर्वज्ञः' इस अग्रिम वाक्यमें पराविद्याका विषय कहा गया है और अद्रेश्यवाक्यसे ( 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादिसे ) प्रधानविद्याका विषय कहा गया है इस शङ्काका "तिस्रश्च" इत्यादिसे निराकरण करते हैं । भूतयोनि ब्रह्म ही है इसकी पुष्टिके लिए दूसरा हेतु कहते हैं—"कस्मिन्" इत्यादिसे । अचेतन मात्रके एक आश्रय—उपादान प्रधानके ज्ञानसे उसके कार्यरूप भोग्यवर्गका ज्ञान होनेपर भी उसके अकार्यरूप भोक्ता—आत्माका ज्ञान नहीं होता है । इसी प्रकार जीवका ज्ञान होनेपर उसका अकार्य जो भोग्य है उसका ज्ञान नहीं होता है ऐसा तात्पर्य है । "अपि च" इत्यादिसे कहते हैं—ब्रह्मविद्या शब्दसे

भाष्य

प्राह' ( मु० १।१।१ ) इति ब्रह्मविद्यां प्राधान्येनोपक्रम्य परापरविभागेन परां विद्यामक्षराधिगमनीं दर्शयंस्तस्या ब्रह्मविद्यात्वं दर्शयति। सा च ब्रह्मविद्यासमाख्या तदधिगम्यस्याऽक्षरस्याऽब्रह्मत्वे बाधिता स्यात्। अपरा ऋग्वेदादिलक्षणा कर्मविद्या ब्रह्मविद्योपक्रम उपन्यस्यते ब्रह्मविद्याप्रशंसार्थे---

'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥

भाष्यका अनुवाद

सबविद्याओंकी आश्रयरूपा ब्रह्मविद्याका उपदेश किया ) इस प्रकार ब्रह्मविद्याका प्रधानरूपसे उपक्रम करके, पर और अपर विभाग कर, परा विद्या अक्षरका ज्ञान कराती है, ऐसा दिखलाकर वह ब्रह्मविद्या है, ऐसा ( श्रुति ) दिखलाती है। वह ब्रह्मविद्या संज्ञा, उससे ज्ञेय जो अक्षर है, वह ब्रह्म न हो, तो बाधित हो जायगी। ऋग्वेद आदि अपरा कर्मविद्याका ब्रह्मविद्याके उपक्रममें ब्रह्मविद्याकी प्रशंसाके लिए उपन्यास किया है, क्योंकि 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा०' ( ये विनाशी अस्थिर यज्ञरूप अठारह हैं, जिनमें कर्म अवर–हल्का कहा गया है, जो मूढ़ इनका श्रेयरूपसे अभिनन्दन करते

रत्नप्रभा

वाच। ब्रह्मणि सर्वविद्यानां विद्याफलानां चान्तर्भावाद् ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठा। ननु अपरविद्या परप्रकरणे किमर्थमुक्ता इत्यत आह—अपरेति। प्लवन्ते गच्छन्ति इति प्लवाः—विनाशिनः, अदृढाः—नित्यफलसम्पादनाशक्ताः, षोडश ऋत्विजः, पत्नी यजमानश्चेति अष्टादश। यज्ञेन नामनिमित्तेन निरूप्यन्ते इति यज्ञरूपाः। तथाहि–ऋतुषु याजयन्ति यज्ञं कारयन्ति इति–ऋत्विजः। यजते इति यजमानः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यही सिद्ध होता है कि भूतयोनि ब्रह्म ही है। ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्रके लिए सब विद्याओंकी समाप्तिस्थानरूप ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। ब्रह्ममें सब विद्याएँ और उनके फल गतार्थ हैं, अतः ब्रह्मविद्या सब विद्याओंकी प्रतिष्ठा है। यदि कोई कहे कि पर और अपर विद्यामें इतना वैलक्षण्य होनेपर परविद्याके प्रकरणमें अपरविद्या क्यों कही गई है इसपर कहते हैं— "अपरा" इत्यादि। 'प्लवाः'—विनाशी। 'अदृढाः'—नित्यफल देनेमें असमर्थ। सोलह ऋत्विक्, पत्नी और यजमान ये सब मिलाकर अठारह होते हैं। अर्थात् यज्ञनामसे इनका निरूपण होता है, अतः ये यज्ञरूप हैं। जो ऋतुमें यज्ञ कराते हैं, वे ऋत्विज कहलाते हैं। जो यज्ञ करता है

भाष्य

(मु० १।२।७) इत्येवमादिनिन्दावचनात्। निन्दित्वा चापरां विद्यां ततो विरक्तस्य परविद्याधिकारं दर्शयति—

'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥'

(मु० १।२।१२) इति। यत्तूक्तम्--अचेतनानां पृथिव्यादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादानाद्दार्ष्टान्तिकेनाऽप्यचेतनेन भूतयोनिना भवितव्यम् इति, तदयुक्तम्।

भाष्यका अनुवाद

हैं, वे फिर जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं) इत्यादि निन्दाका कथन है। श्रुति इस प्रकार अपरा विद्याकी निन्दा करके इससे विरक्त पुरुषका परा विद्यामें अधिकार दिखलाती है। 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्०' (कर्मसे प्राप्त हुए लोकोंकी परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्यको प्राप्त हो कि कर्मसे मोक्ष नहीं होता, उसके (ब्रह्मके) विज्ञानके लिए उसको हाथमें समित् लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिए)। पृथिवी आदि अचेतन पदार्थोंका दृष्टान्तरूपसे ग्रहण करनेसे दार्ष्टान्तिक भी अचेतन भूतयोनि होना चाहिए, ऐसा जो

---

रत्नप्रभा

'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'' (पा० ४।१।३३) इति सूत्रेण पतिशब्दस्य नकारोऽन्तादेशो यज्ञसम्बन्धे विहित इति पत्नी। एवम् ऋत्विगादिनामप्रवृत्तिनिमित्तं यज्ञ इति यज्ञरूपाः। येषु अवरम् अनित्यफलकं कर्म श्रुत्युक्तम्, एतदेव कर्म श्रेयः नान्यत् आत्मज्ञानमिति ये मूढाः तुष्यन्ति, ते पुनपुनःर्जन्ममरणम् आप्नुवन्तीत्यर्थः। तद्विज्ञानार्थं—ब्रह्मज्ञानार्थं गुरुम् अभिगच्छेद् एवेति नियमः। ब्रह्मनिष्ठस्याऽपि अनधीतवेदस्य गुरुत्वं वारयति—श्रोत्रियमिति। कार्यम् उपादानाभिन्नमित्यंशे

रत्नप्रभाका अनुवाद

वह यजमान कहलाता है, यज्ञका फल भोगनेवाली पत्नी है, क्योंकि 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (यज्ञके सम्बन्धमें पति शब्दके इकारके स्थानमें 'न' आदेश होता है) इस सूत्रसे यज्ञसंबन्धमें पतिशब्दके इकारके स्थानमें नकार विधान किया है। इस प्रकार 'ऋत्विग्' आदि नामकी व्युत्पत्तिमें यज्ञ कारण है, अतः ऋत्विग् आदि यज्ञरूप हैं। जिन अठारहोंमें अवर—अनित्यफलदायक कर्म श्रुत्युक्त हैं ऐसा श्रुति कहती है। जो मूढ़ लोग यह मानकर सन्तोष करते हैं कि यह कर्म ही श्रेय है, इससे भिन्न अर्थात् आत्मज्ञान श्रेय नहीं है वे वारंवार जन्म-मरण प्राप्त करते हैं। उस ब्रह्मज्ञानके लिए गुरुके पास जाना ही चाहिए, ऐसा

भाष्य

नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति। अपि च स्थूलाः पृथिव्यादयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दार्ष्टान्तिको भूतयोनिरभ्युपगम्यते। तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वर एव ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

पीछे कहा गया है, वह ठीक नहीं है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी सर्वांशमें समानता हो, ऐसा नियम नहीं है। स्थूल पृथिवी आदि दृष्टान्तरूपसे लिये गये हैं, इसलिए स्थूल ही दार्ष्टान्तिक भूतयोनि नहीं माना जाता। इससे सिद्ध हुआ कि अदृश्यत्व आदि गुणवाला भूतयोनि परमेश्वर ही है ॥ २१ ॥

रत्नप्रभा

दृष्टान्तः, सर्वसाम्ये तवापि अनिष्टापत्तेः इत्याह—अपि च स्थूला इति ॥२१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नियम है। "श्रोत्रिय" पदसे कहते हैं कि ब्रह्मनिष्ठ होनेपर भी जिसने वेदका अध्ययन नहीं किया है, वह गुरुपदके योग्य नहीं है। कार्य उपादानकारणसे भिन्न नहीं है, इतने अंशमें ही दृष्टान्त है, दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें सब अंशोंमें समानता लेनेपर तुमको भी अनिष्ट आपत्ति होगी, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥२१॥

## विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

**पदच्छेद**----विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां, च, न, इतरौ।

**पदार्थोक्ति**----विशेषण भेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ—दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' इत्यादिना भूतयोनेः दिव्यत्वादिविशेषणात् न जीवः [ भूतयोनिः ], 'अक्षरात् परतः परः' इति अक्षरपरमात्मनोर्भेदोक्तेः न प्रधानं [ भूतयोनिः, किन्तु परमात्मैव ]।

**भाषार्थ**----'दिव्यो ह्यमूर्तः' इत्यादि श्रुतियोंमें दिव्यत्व, अपरिच्छिन्नत्व, सर्वव्यापकत्व आदि विशेषण भूतयोनिके लिए कहे गये हैं, अतः ( जीवमें इन गुणोंके न होनेके कारण ) जीव भूतयोनि नहीं है। 'अक्षरात्०' इस श्रुतिमें अक्षर और परमात्मामें भेद कहा गया है, अतः प्रधान भूतयोनि नहीं है, किन्तु परमात्मा ही भूतयोनि है।

भाष्य

इतश्च परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतरौ---शारीरः प्रधानं वा। कस्मात्? विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्। विशिनष्टि हि प्रकृतं भूतयोनिं शारीराद्विलक्षणत्वेन—'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २।१।२) इति। नह्येतद्दिव्यत्वादिविशेषणमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मान् स्वात्मनि कल्पयतः शारीरस्योपपद्यते। तस्मात् साक्षादौपनिषदः पुरुष इहोच्यते। तथा

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी परमेश्वर ही भूतयोनि है, दूसरे दो—शारीर या प्रधान भूतयोनि नहीं हैं। किससे? विशेषण और भेदके व्यपदेशसे। 'दिव्यो ह्यमूर्तः०' (वही स्वयंज्योति, प्रत्यगात्मा, पूर्ण, स्थूल और सूक्ष्म पदार्थोंका अधिष्ठानरूप, अजन्मा, श्रुतिमें प्रसिद्ध, प्राणरहित, मनरहित, एवं शुभ्र है) यह श्रुति शारीरसे प्रकृत भूतयोनिको विलक्षण सिद्ध करनेवाले विशेषण देती है। निश्चय, ये दिव्यत्व आदि विशेषण अविद्याजनित नामरूपसे अपनेको परिच्छिन्न समझनेवाले और उनके धर्मोंकी अपनेमें कल्पना करनेवाले जीवमें सङ्गत नहीं होते हैं। इसलिए साक्षात् वेदान्तवेद्य पुरुषका ही यहां अभिधान है। उसी प्रकार

रत्नप्रभा

विशेषणात् न जीवः, भेदोक्तेः न प्रधानमिति हेतुद्वयं विभज्य व्याचष्टे—**विशिनष्टि हीत्यादीना**। दिव्यः—द्योतनात्मकः स्वयंज्योतिः, अमूर्तः—पूर्णः, पुरुषः—पुरिशयः प्रत्यगात्मा, बाह्यम्—स्थूलम्, आभ्यन्तरम्—सकारणं सूक्ष्मं ताभ्यां सह अधिष्ठानत्वेन तिष्ठतीति सबाह्याभ्यन्तरः, हि—तथा श्रुतिषु प्रसिद्ध इत्यर्थः। अविद्याकृतं नामरूपात्मकं शरीरं तेन परिच्छेदोऽल्पत्वम्। तस्य शरीरस्य धर्मान् जाड्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

[दिव्यत्व आदि] विशेषणोंसे जीव भूतयोनि नहीं है और भेदके कथनसे प्रधान भी भूतयोनि नहीं है, इस प्रकार दो हेतुओंका विभाग करके व्याख्यान करते हैं—"विशिनष्टि हि" इत्यादिसे। दिव्यः—प्रकाशस्वरूप अर्थात् स्वयंज्योति, अमूर्तः—सर्वमूर्तिवर्जित अर्थात् पूर्ण, पुरुषः—पुरिशय अर्थात् देहमें शयन करनेवाला प्रत्यगात्मा, सबाह्याभ्यन्तरः—बाह्य अर्थात् स्थूल और आभ्यन्तर अर्थात् कारणसहित सूक्ष्म, उन दोनोंके साथ अधिष्ठानरूपसे रहनेवाला अर्थात् कार्यकारणरूपसे सब कल्पनाओंका अधिष्ठान, हि—श्रुतिमें प्रसिद्ध। अल्पत्व अर्थात् अविद्याजनित नामरूपात्मक शरीरसे परिच्छेद। उस शरीरके धर्म—जड़ता, मूर्तत्व (अल्पत्व) आदि। 'अक्षर' का अर्थ यदि प्रधान हो तो

भाष्य

प्रधानादपि प्रकृतं भूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति—'अक्षरात्परतः परः' इति। अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं

भाष्यका अनुवाद

'अक्षरात् परतः परः' यह श्रुति प्रधानसे भी प्रस्तुत भूतयोनिको विलक्षण बतलाती है। जो अव्याकृत नामरूपके कारण ईश्वरका शक्तिरूप है, जिसमें भूतोंके संस्कार

रत्नप्रभा

मूर्तत्वादीन् इत्यर्थः। ननु अक्षरशब्देन प्रधानोक्तौ अशब्दत्वं प्रधानस्य प्रतिज्ञातं बाध्येत, तत्राऽऽह—अक्षरमव्याकृतमिति। अश्नोति व्याप्नोति स्वविकारजातमिति अक्षरम्। अव्याकृतम्—अव्यक्तम्, अनादि इति यावत्। नामरूपयोः बीजम् ईश्वरः, तस्य शक्तिरूपं परतन्त्रत्वाद् उपादानम् अपि शक्तिः इति उक्तम्। भूतानां सूक्ष्माः संस्काराः यत्र तद् भूतसूक्ष्मम्। ईश्वरः चिन्मात्र आश्रयो यस्य तत्तथा। तस्यैव चिन्मात्रस्य जीवेश्वरभेदोपाधिभूतम्। यत्तु ईश्वर आश्रयो विषयो यस्येति नानाजीववादिनां व्याख्यानम्, तद् भाष्यबहिर्भूतम्। "एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च प्रोतश्च" (बृ० ३।८।११) इत्योतप्रोतभावेन अव्याकृतस्य चिदाश्रयत्वश्रुतेः आश्रयपदलक्षणाया निर्मूलत्वात्। नहि मूलप्रकृतेः भेदे किञ्चित् मानमस्ति। न च "इन्द्रो मायाभिः" (बृ०२।५।१९) इति श्रुतिर्मानम्, "अजामेकां" (श्वे० ४।५) इत्याद्यनेकश्रुतिबलेन लाघवतर्कसहायेन तस्याः श्रुतेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रधान श्रुतिप्रतिपाद्य नहीं है, ऐसी जो पीछे प्रतिज्ञा की है उसका बाध होगा। इसपर कहते हैं—"अक्षरमव्याकृतम्" इत्यादि। अपने विकारसमूहको व्याप्त करनेवाला अक्षर कहलाता है, अव्याकृत—व्याकार न पाया हुआ—अव्यक्त अर्थात् अनादि। नामरूपका बीज जो ईश्वर, ब्रह्म है, उसका शक्तिभूत। ईश्वरके अधीन होनेके कारण मायारूप उपादान भी ईश्वरकी शक्ति है, ऐसा कहा है। भूतसूक्ष्मम्—जिसमें भूतोंके संस्कार सूक्ष्मरूपसे रहते हैं। ईश्वराश्रयम्—अर्थात् चिन्मात्र जिसका आश्रय है, उसी चिन्मात्रका उपाधिभूत। अनेकजीववादियोंका जो यह व्याख्यान है कि 'ईश्वर जिसका आश्रय अर्थात् विषय है।' वह भाष्यसम्मत नहीं है, क्योंकि 'एतस्मिन् खल्वक्षरे' (हे गार्गि! इसी अक्षरमें आकाश ओत-प्रोत है) इस प्रकार ओत-प्रोतभावसे अव्याकृतका आश्रय चेतन है ऐसा श्रुति कहती है, इसलिए आश्रय पदकी लक्षणा करनेमें कोई कारण नहीं है। मूल प्रकृतिकी अनेकतामें कोई प्रमाण नहीं है। 'इन्द्रो मायाभिः' (इन्द्र मायाओंसे अनेक-सा दीखता है) यह श्रुति मायामें अनेकत्वका निर्देश करती है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि लाघव रूप तर्कके सहायसे युक्त 'अजामेकां' (सत्त्व, रज, तमोगुणात्मक अपने सदृश अर्थात् उन्हीं तीन गुणोंसे युक्त

### भाष्य

तस्यैवोपाधिभूतं सर्वस्माद्विकारात् परो योऽविकारस्तस्मात् परतः पर इति

### भाष्यका अनुवाद

हैं, चिन्मात्र ईश्वर जिसका आश्रय है उसीका उपाधिभूत, सर्वविकारसे परे जो

### रत्नप्रभा

बुद्धिभेदेन मायाभेदानुवादित्वात्। तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—"स्वतस्त्वविद्याभेदोऽत्र मनागपि न विद्यते" इति। सांख्ययोगाचार्याः पुराणेतिहासकर्तारश्च मूलप्रकृत्यैक्यं वदन्ति। ननु अविद्यैक्ये बन्धमुक्तिव्यवस्था कथम्। न च व्यवस्था नास्तीति वाच्यम्, श्रवणे प्रवृत्त्यादिबाधापाताद् इति चेत्; उच्यते—ये हि अविद्यानानात्वमिच्छन्ति, तैरपि परिणामित्वेन सांशत्वम् अविद्याया अङ्गीकार्यम्। तथा च अनर्थात्मकस्वीयसङ्घातात्मना परिणताविद्यांशोपहितजीवभेदाद् व्यवस्था सिध्यति। यस्य ज्ञानम् अन्तःकरणे जायते तस्य अन्तःकरणपरिणाम्यज्ञानांशनाशो मुक्तिरिति। एवं च श्रोतुः स्वरूपानन्दप्राप्तिः, श्रवणादौ प्रवृत्तिः, विद्वदनुभवः, जीवन्मुक्तिशास्त्रं चेति सर्वमबाधितं भवति। न चैवं नानाजीवपक्षादविशेषः, मूलप्रकृतिनानात्वाभावाद् इत्यलम्। परत्वे हेतुः—**अविकार इति**। ननु सूत्रकृता श्रुतौ प्रधानाद्

### रत्नप्रभाका अनुवाद

बहुविध प्रजाओंकी सृष्टि करनेवाली अनादि माया एक है ) इत्यादि अनेक श्रुतियोंके बलसे सिद्ध होता है कि 'इन्द्रो मायाभिः' यह श्रुति बुद्धिके भेदसे मायाभेदका अनुवाद करती है। इसी बातको सुरेश्वराचार्यजीने वार्तिकमें 'स्वतस्त्वविद्या०' ( स्वरूपतः अविद्याका कुछ भी भेद नहीं है ) इस प्रकार कहा है। सांख्याचार्य—कपिल, योगाचार्य —पतञ्जलि, पुराण और इतिहासकर्ता—व्यास आदि मूलप्रकृतिको एक मानते हैं। यदि अविद्याको एक मानें, तो बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था कैसे होगी ? बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था ही नहीं है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा माननेसे श्रवण आदिमें प्रवृत्ति रुक जायगी। इस शङ्कापर कहते हैं—जो अविद्याको अनेक मानते हैं, उनको भी परिणामशील होनेसे अविद्या सावयव माननी होगी। तब अनर्थरूप अपने संघात ( कार्यसमूह ) रूपसे परिणत हुई अविद्याके अंशसे उपहित जीवके भेदसे बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था सिद्ध होती है। जिस जीवके अन्तःकरणमें ज्ञान उत्पन्न होता है, उस जीवके अन्तःकरणरूपसे परिणत अविद्याके अंशका नाश मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार श्रोताको अपने स्वरूपभूत आनन्दकी प्राप्ति, श्रवण आदिमें प्रवृत्ति, विद्वानोंका अनुभव, जीवन्मुक्तिका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र, ये सब अबाधित होते हैं। तब नाना जीवपक्षसे एक जीव पक्षमें कोई विशेष नहीं है ऐसा कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि मूलप्रकृतिको अनेक न मानना इस पक्षमें विशेष है। इतना ही पर्याप्त है। वह सब विकारोंसे पर है, इस विषयमें हेतु देते हैं—"अविकार"। यदि कोई कहे कि सूत्रकारने श्रुतिमें प्रधानसे ईश्वरका भेद कहा है,

भाष्य

भेदेन व्यपदेशात् परमात्मानमिह विवक्षितं दर्शयति। नाऽत्र प्रधानं नाम किंचित्स्वतन्त्रं तत्त्वमभ्युपगम्य तस्माद् भेदव्यपदेश उच्यते। किं तर्हि ? यदि प्रधानमपि कल्प्यमानं श्रुत्यविरोधेनाऽव्याकृतादिशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परिकल्प्येत, परिकल्प्यताम्। तस्माद् भेदव्यपदेशात् परमेश्वरो भूतयोनिरित्येतदिह प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

कुतश्च परमेश्वरो भूतयोनिः—

भाष्यका अनुवाद

अविकार——अक्षर है उससे पर ईश्वर है, इस प्रकार ईश्वरका अक्षरसे भेद दिखलानेके कारण परमात्मा ही यहां विवक्षित है, ऐसा यह श्रुति दिखलाती है। यहां प्रधान नामका कोई स्वतन्त्र तत्त्व मानकर उससे पृथक् ईश्वरका कथन है, ऐसा नहीं कहा गया है। तब क्या कहा गया है ? यदि कल्प्यमान प्रधानकी श्रुतिके अविरोधसे अव्याकृतादि शब्दवाच्य और भूतसूक्ष्मरूपसे कल्पना की जाती है तो ऐसी कल्पना करो। उससे भिन्नरूपसे व्यपदेश होनेके कारण भूतयोनि परमेश्वर है, ऐसा यहां प्रतिपादन किया है ॥ २२ ॥

और कैसे परमेश्वर भूतयोनि है ?

रत्नप्रभा

भेदव्यपदेश उक्तः, तत्र कथमज्ञानाद् भेदोक्तिः व्याख्यायते तत्राह—नात्रेति। कार्यात्मना प्रधीयते इति प्रधानम् अज्ञानमेव। ततोऽन्यस्य अप्रामाणिकत्वात् इत्यर्थः। अतोऽत्र अज्ञानमेव भूतयोनिरिति पूर्वपक्षं कृत्वा निरस्यते। तन्निरासेन अर्थात् सांख्यकल्पितप्रधाननिरास इति मन्तव्यम् ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी स्थितिमें अज्ञानसे ईश्वरका भेद है, ऐसा व्याख्यान कैसे करते हो ? इस शङ्कापर कहते हैं—"नात्र" इत्यादि। कार्यरूपसे जो परिणत होता है वह प्रधान अर्थात् अज्ञान ही है, उससे अन्य प्रधान प्रमाणगम्य नहीं है, ऐसा तात्पर्य है। इससे यहां अज्ञान ही भूतयोनि है, ऐसा पूर्वपक्ष करके उसका निरसन करते हैं, उसके निराकरणसे अर्थात् सांख्यकल्पित प्रधानका निराकरण समझना चाहिए ॥२२॥
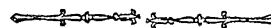
## रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

पदच्छेद—रूपोपन्यासात्, च ।

पदार्थोक्ति—रूपोपन्यासात्—'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिना भूतयोनेः सर्वात्मकत्व-कथनात्, च—अपि [ परमात्मैव भूतयोनिः ]

भाषार्थ—'अग्निर्मूर्द्धा' इत्यादि श्रुतिसे भूतयोनि सर्वात्मक कहा गया है। इससे भी सिद्ध हुआ कि भूतयोनि परमात्मा ही है ।
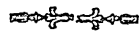
### भाष्य

अपि च 'अक्षरात्परतः परः' इत्यस्याऽनन्तरम् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इति प्राणप्रभृतीनां पृथिवीपर्यन्तानां तत्त्वानां सर्गमुक्त्वा तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः—

'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥'

### भाष्यका अनुवाद

'अक्षरात् परतः परः' इसके अनन्तर 'एतस्माज्जायते प्राणः' ( इससे प्राण उत्पन्न होता है ) इस प्रकार प्राणसे लेकर पृथिवी पर्यन्त सब तत्त्वोंकी सृष्टि कह कर उस भूतयोनिके सर्वविकारात्मक रूपका निर्देश किया गया है। 'अग्निर्मूर्धा०' ( द्युलोक जिसका सिर है, चन्द्रमा और सूर्य आँख हैं, दिशाएँ कान हैं, प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, और पृथिवी पांव है, वह देव सब भूतोंका अन्तरात्मा है ) यह कथन परमेश्वरमें

---

### रत्नप्रभा

वृत्तिकृन्मतेन आदौ सूत्रं व्याचष्टे—अपि चेत्यादिना । "प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी" ( मु०२।१।३ ) इति श्रुतिः । अग्निः—द्युलोकः "असौ वाव लोको गोतमाग्निः" इति श्रुतेः । विवृताः वेदा

### रत्नप्रभाका अनुवाद

पहले वृत्तिकारके मतानुसार सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । 'एतस्मा-ज्जायते प्राणः' इत्यादि श्रुति है । 'असौ वाव०' ( हे गौतम, यह लोक निश्चय अग्नि है ) इस श्रुतिके अनुसार अग्नि द्युलोक है 'विवृताः वेदा वाक्' विवृत-प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी है ऐसा

भाष्य

(मु० २।१।४) इति। तच्च परमेश्वरस्यैवोचितम्, सर्वविकारकारणत्वात्। न शारीरस्य तनुमहिम्नः। नापि प्रधानस्याऽयं रूपोपन्यासः सम्भवति, सर्वभूतान्तरात्मत्वासम्भवात्। तस्मात् परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतराविति गम्यते। कथं पुनर्भूतयोनेरयं रूपोपन्यास इति गम्यते? प्रकरणात्। 'एषः' इति च प्रकृतानुकर्षणात्। भूतयोनिं हि प्रकृत्य 'एतस्माज्जायते प्राणः' 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति वचनं भूतयोनिविषयमेव भवति। यथोपाध्यायं प्रकृत्यैतस्मादधीष्वैष वेद वेदाङ्गपारग इति वचनमुपाध्याय-

भाष्यका अनुवाद

ही सङ्गत होता है, क्योंकि वह सब विकारोंका कारण है। जीवमें उक्त धर्मोंका सम्भव नहीं है, क्योंकि उसकी महिमा अल्प है। इसी प्रकार प्रधानमें भी इस रूपका उपन्यास सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सब भूतोंका अन्तरात्मा नहीं हो सकता। इसलिए परमेश्वर ही भूतयोनि है, दूसरे दो (शारीर और प्रधान) भूतयोनि नहीं हैं, ऐसा समझा जाता है। परन्तु यह किससे प्रतीत हुआ कि यह भूतयोनिके रूपका उपन्यास है? प्रकरणसे। 'एषः' (यह) इस प्रकार प्रकृतका अनुकर्षण है। भूतयोनिको प्रस्तुत करके 'एतस्माज्जायते प्राणः' 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' (इससे प्राण उत्पन्न होता है, यह सब भूतोंका अन्तरात्मा है) यह कथन भूतयोनिमें ही सङ्गत होता है, जैसे कि उपाध्यायको उद्देश करके कहा गया 'एतस्मादधीष्व' 'एष वेदवेदाङ्गपारगः' (इसके पास

रत्नप्रभा

वागिति अन्वयः। पद्भ्यां पादौ इत्यर्थः। यस्य इदं रूपं स एष सर्वप्राणिनाम् अन्तरात्मा इत्यर्थः। तनुमहिम्न इति। अल्पशक्तेः इत्यर्थः। यथा कश्चिद् ब्रह्मवित् स्वस्य सर्वात्मत्वप्रकटनार्थम् अहमन्नमिति साम गायति, न तु अन्नत्वादिकम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्वय है। पद्भ्याम्०' अर्थात् दो पाद [अर्थात् पृथिवी उसके दो पांव है] आशय यह कि जिसका ऐसा रूप है, वह सब भूतोंका अन्तरात्मा है। "तनु महिम्नः" अल्पशक्ति जीवका [ऐसा रूप सम्भव नहीं है] जैसे कोई ब्रह्मवेत्ता अपनी सर्वात्मताको प्रकट करनेके लिए 'अहमन्नम्०'(मैं अन्न हूँ) इस प्रकार साम गाता है, परन्तु अपनी आत्मामें अन्नत्व आदिकी विवक्षा नहीं करता, क्योंकि आत्मामें

(१) श्री रत्नप्रभाकार और आनन्दगिरि तृतीया विभक्ति को प्रथमाके अर्थमें मान कर अर्थ करते हैं—जिसके पैर पृथिवी है, भाष्यकार श्री शंकरभगवत्पादाचार्य तो 'यस्य पद्भ्यां जाता पृथिवी (पृथिवी जिसके पैरोंसे उत्पन्न हुई है) ऐसा अर्थ करते हैं।

भाष्य

विषयं भवति तद्वत्। कथं पुनरदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेर्विग्रहवद्रूपं संभवति। सर्वात्मत्वविवक्षयेदमुच्यते न तु विग्रहवत्त्वविवक्षयेत्यदोषः, 'अहमन्नमहमन्नादः' (तै० ३।१०।६) इत्यादिवत्।

अन्ये पुनर्मन्यन्ते नायं भूतयोने रूपोपन्यासः, जायमानत्वेनोपन्यासात्।

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥'

इति हि पूर्वत्र प्राणादिपृथिव्यन्तं तत्त्वजातं जायमानत्वेन निर-

भाष्यका अनुवाद

अध्ययन करो, यह वेद और वेदाङ्गका पारंगत विद्वान् है) यह वचन उपाध्यायमें सङ्गत होता है। परन्तु अदृश्यत्व आदि गुणवाले भूतयोनिका मूर्तिमान् रूप कैसे सम्भव है? सर्वात्मत्वविवक्षासे[1] यह कहा गया है, विग्रहवत्त्वकी[2] विवक्षासे नहीं कहा गया, इसलिए दोष नहीं है। 'अहमन्नम०' (मैं अन्न हूं, मैं अन्नभक्षक हूं) इत्यादिके समान।

किन्तु दूसरे कहते हैं कि यह भूतयोनिके रूपका उपन्यास नहीं है, क्योंकि इसका उत्पाद्यरूपसे उपन्यास है। 'एतस्माज्जायते०' (इससे प्राण, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, ज्योति, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है) इस प्रकार पूर्वमन्त्रमें प्राणसे आरम्भ करके पृथिवीपर्यन्त तत्त्वसमूहका जायमानरूपसे श्रुतिने निर्देश किया है। आगे भी

रत्नप्रभा

आत्मनो विवक्षति, अफलत्वात, तथा इहापि इत्याह—अहमन्नमिति।

वृत्तिकृद्व्याख्यां दूषयति—अन्ये पुनरिति। एष सर्वभूतान्तरात्मा सूत्रात्मा एतस्माद् भूतयोनेः जायते इति श्रुत्यन्वयेन हिरण्यगर्भस्याऽत्र जायमानत्वेन उपन्यासाद् इत्यर्थः। निरदिक्षद् अवोचद् इत्यर्थः। अग्निः द्युलोको यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्नत्वकी विवक्षा निष्फल है, उसी प्रकार यहां भी है, ऐसा कहते हैं—"अहमन्नम्०" इत्यादिसे।

वृत्तिकारकी व्याख्याको दूषित करते हैं—"अन्ये पुनः" इत्यादिसे। सब भूतोंका अन्तरात्मा यह सूत्रात्मा भूतयोनिसे उत्पन्न होता है, इस प्रकार श्रुतिके अन्वयसे यहां हिरण्यगर्भका जायमानरूपसे उपन्यास है, ऐसा अर्थ है। निरदिक्षत्—कहा है। अग्नि

(१) भूतयोनि सबका आत्मा है, ऐसा कहनेकी इच्छासे।
(२) इसके शरीर है, ऐसा कहने की विवक्षासे।

भाष्य

दिक्षत् । उत्तरत्रापि च 'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः' इत्येवमादि, 'अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च' इत्यवेमन्तं जायमानत्वेनैव निर्देक्ष्यति। इहैव कथमकस्मादन्तराले भूतयोने रूपमुपन्यसेत् । सर्वात्मत्वमपि सृष्टिं परिसमाप्योपदेक्ष्यति---'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' ( मु० २।१।१० ) इत्यादिना। श्रुतिस्मृत्योश्च त्रैलोक्यशरीरस्य प्रजापतेर्जन्मादि निर्दिश्यमानमुपलभामहे----

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'

भाष्यका अनुवाद

श्रुति 'तस्मादग्नि०' जिसका समिध सूर्य है, वह अग्नि ( द्युलोक ) उसीसे उत्पन्न हुई) यहांसे लेकर 'अतश्च०' (और इससे सब ओषधियां और रस उत्पन्न हुए) यहां तक सबका जायमानरूपसे निर्देश करेगी। यहीं पर बीचमें एकदम भूतयोनिके रूपका किस प्रकार उपन्यास किया ? सर्वात्मत्वका भी सृष्टिकी परिसमाप्ति करके 'पुरुष एवेदं०' ( पुरुष ही यह विश्व कर्म है ) इत्यादिसे निर्देश करेगी। त्रैलोक्य जिसका शरीर है, उस प्रजापतिके जन्मादिका निर्देश हम श्रुति और स्मृतिमें देखते हैं। 'हिरण्यगर्भ०' ( पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होकर वह भूतोंका एकमात्र अधिष्ठाता हुआ, उसने द्युलोक और पृथिवीको

---

रत्नप्रभा

समिद्रूपः सूर्यः सोऽपि द्युलोकाग्निः। तस्मादजायतेत्यर्थः। "तस्य आदित्य एव समित्" (छा० ५।४।१) इति श्रुत्यन्तरात् । अतो मध्येऽपि सृष्टिरेव वाच्या न रूपमिति भावः। यदुक्तम्—'अग्निर्मूर्धा' इत्यत्र भूतयोनेः सर्वात्मत्वं विवक्षितमिति, तन्न इत्याह—सर्वात्मत्वमपीति । ननु हिरण्यगर्भस्य जन्माऽन्यत्राऽनुक्तं कथमत्र वक्तव्यम्, तत्राह—श्रुतीति। अग्रे समवर्तत जातः सन् भूतग्रामस्य एकः पतिः ईश्वरप्रसादाद् अभवत् । सः सूत्रात्मा द्यामिमां पृथिवीं च स्थूलं सर्वम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

—द्युलोक सूर्य जिसका समित्रूप है, वह द्युलोकरूप अग्नि भी उससे उत्पन्न हुई है, ऐसा अर्थ है, क्योंकि दूसरी श्रुतिमें भी "तस्य आदित्य एव समित्" ( सूर्य ही उसका समिध् है ) ऐसा प्रतिपादित है। जैसे पहले और अन्तमें सृष्टि कही गई है, वैसे मध्यमें भी सृष्टि ही कहनी चाहिए, रूप नहीं। अग्निर्मूर्धा' ( अग्नि मस्तक है ) इत्यादिमें भूतयोनिके सर्वात्मत्वरूपकी विवक्षा है, यह कथन युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"सर्वात्मत्वमपि" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भका जन्म अन्यत्र कहीं नहीं कहा गया, यहां पर कैसे कहते हो ? इसपर कहते हैं—"श्रुति" इत्यादिसे। हिरण्यगर्भ पहले उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होकर वह

भाष्य

( ऋ० सं० १०।१२१।१ ) इति । समवर्ततेत्यजायतेत्यर्थः । तथा
'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥' इति च ।
विकारपुरुषस्याऽपि सर्वभूतान्तरात्मत्वं सम्भवति, प्राणात्मना सर्वभूताना-

भाष्यका अनुवाद

धारण किया, उस प्रजापतिदेवकी हविषसे परिचर्या करें ) 'समवर्त्तत' का अर्थ है उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार 'स वै शरीरी०' निश्चय वह प्रथम शरीरी एवं पुरुष कहलाता है, भूतोंका आदिकर्ता वह ब्रह्मा पहले-पहल उत्पन्न हुआ ) विकार पुरुष भी सब भूतोंका अन्तरात्मा हो सकता है, क्योंकि वह प्राणरूपसे

---

रत्नप्रभा

धारयत् । कशब्दस्य प्रजापतिसंज्ञात्वे सर्वनामत्वाभावेन स्मै इत्ययोगाद् एकार-लोपेन एकस्मै देवाय प्राणात्मने हविषा विधेम परिचरेम इति व्याख्येयम्, "कतम एको देव इति प्राणः" (बृ० ३।९।९) इति श्रुतेः । यद्वा, यस्माद् अयं जातस्तस्मै एकस्मै देवाय इत्यर्थः । "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" ( श्वे० ६।११ ) इति श्रुत्यन्तरात् । ननु तस्य भूतान्तरात्मत्वं कथम् तत्राऽऽह—**विकारेति** । पूर्वकल्पे प्रकृष्टोपासनाकर्मसमुच्चयानुष्ठानाद् अस्मिन् कल्पे सर्वप्राणिव्यष्टिलिङ्गानां व्यापकं सर्वप्राण्यन्तर्गतं ज्ञानकर्मेन्द्रियप्राणात्मकं समष्टिलिङ्गशरीरं जायते । तद्रूपस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

ईश्वर-प्रसादसे भूतसमूहका एकमात्र पति हुआ। उस सूत्रात्माने द्युलोक, पृथिवी और सब स्थूल पदार्थोंको धारण किया। 'कस्मै'—यहाँपर यदि प्रजापतिवाचक कशब्द लें, तो उसकी सर्वनामसंज्ञा न होगी और उसके अनन्तर आए हुए 'ङे' प्रत्ययके स्थानमें 'स्मै' न होगा। इसलिए एकारका लोप मानकर 'कस्मै' का अर्थ एकस्मै करना चाहिए और एक देव अर्थात् परमात्माकी हविषसे हम परिचर्या करें, ऐसी व्याख्या करनी चाहिए, क्योंकि 'कतम एको०' ( कौन एक देव है, प्राण है ) इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि प्राणात्मा एक देव है। अथवा, जिससे यह उत्पन्न हुआ है, उस एक देवकी [ परिचर्या करें ] ऐसा अर्थ करना चाहिए, क्योंकि 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' ( एक देव सब भूतोंमें गूढ़ है ) ऐसी दूसरी श्रुति है। यदि कोई शङ्का करे कि वह भूतोंका अन्तरात्मा किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—"विकार" इत्यादिसे। पूर्वकल्पमें उत्कृष्ट उपासना और कर्मोंके अनुष्ठानसे इस कल्पमें सब प्राणियोंके व्यष्टिलिंगका व्यापक, सब प्राणियोंमें अन्तर्गत एवं ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राणात्मक समष्टिरूप लिंगशरीर उत्पन्न होता है। तद्रूप सूत्रात्माका सर्वभूतोंका अन्तरात्मा होना युक्त है,

भाष्य

**मध्यात्ममवस्थानात् । अस्मिन् पक्षे 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इत्यादिसर्वरूपोपन्यासः परमेश्वरप्रतिपत्तिहेतुरिति व्याख्येयम् ॥ २३ ॥**

भाष्यका अनुवाद

सब भूतोंके शरीरमें स्थित है। इस पक्षमें 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' ( पुरुष ही कर्म, तप, ज्ञान और इनके फलरूप यह सारा प्रपञ्च है ) इत्यादि सर्वात्मकताका उपन्यास परमेश्वरकी प्रतिपत्तिके अर्थ है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए ॥ २३ ॥

---

रत्नप्रभा

सूत्रात्मनः सर्वभूतान्तरात्मत्वं युक्तमित्यर्थः। स्वपक्षे सूत्रार्थमाह—**अस्मिन् पक्षे इति।** कर्म सफलं सर्वं श्रौतस्मार्तादिकं तपश्च पुरुष एव इति सर्वान्तरस्वरूपोपन्यासाच्च भूतयोनौ ज्ञेये वाक्यं समन्वितमित्यर्थः ॥ २३ ॥ (६) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। अपने मतानुसार सूत्रका अर्थ करते हैं—"अस्मिन् पक्षे" इत्यादिसे। श्रुति और स्मृतिमें प्रतिपादित फलसहित सब कर्म और तप पुरुष ही है इस प्रकार सर्वात्मकताके उपन्याससे भी ज्ञेय भूतयोनिमें वाक्यका समन्वय है, ऐसा अर्थ है ॥ २३ ॥
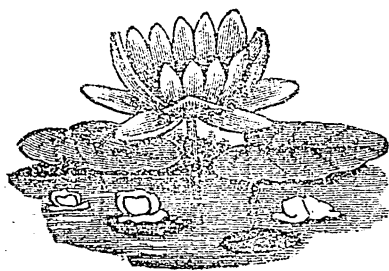
## [ ७ वैश्वानराधिकरण सू० २४–३२ ]

*वैश्वानरः कौक्षभूतदेवजीवेश्वरेषु कः । वैश्वानरात्मशब्दाभ्यामीश्वरान्येषु कश्चन ।*
*द्युमूर्धत्वादितो ब्रह्मशब्दाच्चेश्वर इष्यते । वैश्वानरात्मशब्दौ तावीश्वरस्यापि वाचकौ ॥*

### [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते' इस श्रुतिमें उक्त वैश्वानर जठराग्नि है या भूताग्नि है या देवता है या जीव है अथवा परमेश्वर है ?

**पूर्वपक्ष**—वैश्वानर शब्द जठराग्निमें, भूताग्निमें एवं देवतामें रूढ़ है और आत्मशब्द जीवका वाचक है, इसलिए ईश्वरको छोड़कर उक्त चारोंमेंसे कोई एक वैश्वानर शब्दसे कहा गया है ।

**सिद्धान्त**—'द्युलोक उसका मस्तक है' इस तरहसे वैश्वानरके अवयवोंका वर्णन है और 'को न आत्मा, किं ब्रह्म' इस प्रकार उपक्रम हुआ है, अतः वैश्वानर ब्रह्म ही है । वैश्वानरशब्द योगवृत्तिसे ब्रह्ममें समन्वित होता है और आत्मशब्द तो मुख्यवृत्तिसे ही ब्रह्मका वाचक है ।

---

छान्दोग्यके पंचम अध्यायमें वैश्वानरविद्यामें यह श्रुति है—"आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते" ( जो वैश्वानरकी आत्मरूपसे उपासना करता है ) ।

यहां संशय होता है कि उक्त वैश्वानर उदरमें रहनेवाली अग्नि है अथवा भूताग्नि है या देवता है किंवा जीवात्मा है या परमेश्वर है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि वैश्वानरशब्दके प्रयोगसे प्रथम तीन वैश्वानर हैं, क्योंकि 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते' ( यह अग्नि वैश्वानर है जो कि शरीरके भीतर है और जिससे खाया हुआ अन्न पचता है ) इस श्रुतिमें वैश्वानरशब्द जठराग्निमें प्रयुक्त है । 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' ( देवताओंने सब भुवनोंके लिए वैश्वानर अग्निको दिवसोंका चिह्न अर्थात् सूर्य बनाया ) इस श्रुतिमें वैश्वानरशब्द बाह्य अग्निमें प्रयुक्त है । 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम' ( वैश्वानरकी सुमतिमें हम लोग रहें अर्थात् हम लोगोंके प्रति वैश्वानरकी अच्छी बुद्धि हो ) इस श्रुतिमें वैश्वानरशब्द देवतामें प्रयुक्त है । आत्मशब्दका प्रयोग है, अतः जीवात्मा वैश्वानर हो सकता है, क्योंकि आत्मशब्द जीवमें रूढ़ है । ईश्वर नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका बोधक कोई शब्द नहीं है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि वैश्वानर ब्रह्म है, क्योंकि द्युलोक उसका मस्तक है इत्यादि सुना जाता है । 'तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' ( उस वैश्वानर आत्माका मस्तक अति तेजस्वी है ) इत्यादिसे द्युलोक आदि सम्पूर्ण जगत् वैश्वानरके अवयवरूपसे निर्दिष्ट हैं । सारे जगत्का अवयवी ईश्वरसे अन्य कोई नहीं हो सकता । और 'को न आत्मा, किं ब्रह्म' इस प्रकार उपक्रम हुआ है । ब्रह्मशब्द ईश्वरमें मुख्य है । वैश्वानरशब्द योगवृत्तिसे ब्रह्मका बोधक होता है । विश्वश्चाऽसौ नरश्च विश्वानरः' अर्थात् सर्वात्मक पुरुष । विश्वानर ही वैश्वानर कहलाता है । आत्मशब्द जैसे जीवका वाचक है वैसे ब्रह्मका भी वाचक है, अतः वैश्वानर परमेश्वर ही है ।

## वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥२४॥

**पदच्छेद**----वैश्वानरः, साधारणशब्दविशेषात् ।

**पदार्थोक्ति**----वैश्वानरः----'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' इत्यादिश्रुतौ प्रतीयमानः वैश्वानरः [ परमात्मैव, कुतः ] साधारणशब्दविशेषात्----यद्यपि जाठरभूताग्न्यादित्यदेवतासु जीवपरमात्मनोश्च साधारणौ वैश्वानरात्मशब्दौ तथापि 'मूर्धैव सुतेजाः' इति विशेषणस्य परमात्मनि एव सम्भवात् ।

**भाषार्थ**----'यस्त्वेतमेवं०' ( जो प्रादेशमात्र, सर्वज्ञ, आत्मा वैश्वानरकी उपासना करता है, उसे सब भोग प्राप्त होते हैं ) इत्यादि श्रुतिमें प्रतीयमान वैश्वानर परमात्मा ही है, क्योंकि यद्यपि वैश्वानरशब्द जठराग्नि, भूताग्नि और सूर्यका प्रतिपादक है एवं आत्मशब्द जीव तथा ब्रह्मका प्रतिपादक है, तो भी 'मूर्धैव सुतेजाः' यह विशेषण परमात्मामें ही सङ्गत होता है ।
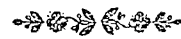
### *भाष्य*

'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति, 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्ये-

### *भाष्यका अनुवाद*

'को न आत्मा किं ब्रह्म' ( हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है ) ऐसा

---

### *रत्नप्रभा*

छान्दोग्यमुदाहरति—**को न इति** । प्राचीनशालसत्ययज्ञेन्द्रद्युम्नजनकबुडिला मिलित्वा मीमांसां चक्रुः—"को न आत्मा किं ब्रह्म" ( छा० ५।११।१ ) इति । आत्मैव ब्रह्मेति ज्ञापनार्थं पदद्वयम् । ते पञ्चाऽपि निश्चयार्थम् उद्दालकमाजग्मुः । सोऽपि सम्यक् न वेद इति तेन उद्दालकेन सह षडपि अश्वपतिं कैकेयं राजानमागत्य ऊचुः—"**आत्मानमिति** । "अध्येषि"

### *रत्नप्रभाका अनुवाद*

"वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्" । छान्दोग्यवाक्यको उद्धृत करते हैं—"को नः" इत्यादिसे । उपमन्युपुत्र प्राचीनशाल, पुलुषके पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लविके पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षपुत्र जनक और अश्वतराश्वके पुत्र बुडिल, इन पांचोंने मिलकर विचार किया—"को न आत्मा०" ( हमारी आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है ) । आत्मा ही ब्रह्म है, यह सूचित करनेके लिए दो पद दिये गये हैं । निश्चय करनेकी इच्छासे वे पांचों अरुणपुत्र उद्दालकके पास गये । वह भी आत्मस्वरूपको ठीक ठीक नहीं जानता था । इसलिए उद्दालकको लेकर वे छहों अश्वपति

भाष्य

षि तमेव नो ब्रूहि' ( छा० ५।११।१,६ ) इति चोपक्रम्य द्युसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीनां सुतेजस्त्वादिगुणयोगमेकैकोपासननिन्दया च वैश्वानरं

भाष्यका अनुवाद

और 'आत्मानमेवेमं० (इस समय उस आत्मा वैश्वानरका ही तुम स्मरण करते हो उसीको हमसे कहो)' ऐसा उपक्रम करके द्यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवीमेंसे एक एककी उपासनाकी निन्दा कर, सुतेजस्त्व आदि गुणसम्बन्ध और

रत्नप्रभा

( छा० ५।११।६ ) "स्मरसि तमेव नो ब्रूहि" ( छा० ५।११।६ ) इति । राजा तु तेषां भ्रान्तिनिरासार्थं तान् प्रत्येकमपृच्छत्—"कं त्वमात्मानमुपास्से" "कं त्वमात्मानमुपास्से" (छा० ५।१२—१६।१) इति । ते च प्राचीनशालादयः क्रमेण तं प्रत्येकमूचुः । "दिवमेव" (छा०५।१२।१) अहं वैश्वानरं वेद्मि । "आदित्यमेव" ( छा०५।१३।१ ) अहं वेद्मि । "वायुमेव" ( छा० ५।१४।१ ) "आकाशमेव (छा० ५।१५।१) "अप एव" (छा० ५।१६।१) "पृथिवीमेव" (छा० ५।१७।१) अहं वेद्मीति । ततो राजा द्युसूर्यादीनां षण्णां यथाक्रमेण सुतेजस्त्वविश्वरूपत्व-पृथग्वर्त्मात्मत्वबहुलत्वरयित्वप्रतिष्ठात्वगुणान् विधाय भवन्तो यदि मामपृष्ट्वा द्युसूर्यादिषु भगवतो वैश्वानरस्य अङ्गेष्वेव प्रत्येकं वैश्वानरत्वदृष्टयो भवेयुः, तदा क्रमेण मूर्धपातान्धत्वप्राणोत्क्रमणदेहविशीर्णत्ववस्तिभेदपादशोषा भवतां स्युरिति प्रत्येकोपासनं

रत्नप्रभाका अनुवाद

नामक कैकेयके पास जाकर बोले—"आत्मानम्" इत्यादि । 'अध्येषि'—तुम आत्माका ही स्मरण करते हो, उस आत्माका हमें उपदेश करो । अश्वपति राजाने उनका भ्रम दूर करनेके लिए उनमेंसे प्रत्येकसे पूछा—'कं त्वमात्मान०' ( तुम किसकी आत्मरूपसे उपासना करते हो, तुम किसकी आत्मरूपसे करते हो )। प्राचीनशाल आदिमेंसे प्रत्येकने क्रमसे उत्तर दिया—मैं द्युलोकको ही वैश्वानर जानता हूँ, मैं आदित्यको ही वैश्वानर जानता हूँ, मैं वायुको ही वैश्वानर जानता हूँ, मैं आकाशको ही वैश्वानर समझता हूँ, मैं जलको ही वैश्वानर समझता हूँ, मैं पृथिवीको ही वैश्वानर समझता हूँ। उसके उपरान्त राजाने द्युलोक, आदित्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवी, इन छःको क्रमसे सुतेजस्त्व,—पुष्कल तेजवाला होना, विश्वरूपत्व—सर्वस्वरूप होना, पृथग्वर्त्मात्मत्व—नानाविध गतिरूप स्वभाव, बहुलत्व—व्यापकपना, रयित्व—धनत्व और प्रतिष्ठात्व गुण बताकर कहा कि यदि तुम मुझसे न पूछते और भगवान् वैश्वानरके अङ्गभूत द्युलोक, आदित्य आदि प्रत्येकको वैश्वानररूपसे जानते, तो तुमको क्रमसे मूर्धपात, अन्धत्व, प्राणोत्क्रमण, देहविशीर्णत्व, वस्तिभेद, पादशोषरूप अनर्थकी प्राप्ति होती। इस प्रकार प्रत्येककी उपासनाकी निन्दा करके सुतेजस्त्वगुणवान् द्युलोक इस

भाष्य

प्रत्येषां मूर्धादिभावमुपदिश्याऽऽम्नायते—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः

भाष्यका अनुवाद

वैश्वानरके प्रति इनके मूर्धादिभावका उपदेश करके श्रुति—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्र०' ( जो ऐसे प्रादेशमात्र अभिविमान वैश्वानरकी उपासना करता है, वह सब लोकोंमें, सब भूतोंमें, सब आत्माओंमें अन्नका भक्षण करता है । उस आत्मा वैश्वानरका मस्तक ही पुष्कल तेजवाला ( द्युलोक ) है, चक्षु विश्वरूप ( सूर्य्य )

रत्नप्रभा

निन्दित्वा, सुतेजस्त्वगुणको द्युलोकोऽस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धा, विश्वरूपत्वगुणकः सूर्यो यस्य चक्षुरित्येवं द्युसूर्यादीनां मूर्धादिभावमुपदिश्य समस्तवैश्वानरध्यानविधिराम्नायते—**यस्त्वेतमिति** । आभिमुख्येन—अपरोक्षतया विश्वं विमिमीते—जानाति इति अभिविमानः, तम्—सर्वज्ञं, सः—तदुपासकः, सर्वत्र भोगं भुङ्क्ते इत्यर्थः । लोकाः—भूरादयः, भूतानि—शरीराणि, आत्मानः—जीवाः, इति भेदः । सुष्ठु तेजः कान्तिर्यस्य द्युलोकस्य स सुतेजाः, विश्वानि रूपाणि अस्य सूर्यस्य—"एष शुक्ल एष नीलः" (छा० ८।६।१) इति श्रुतेः । पृथङ् नानाविधं वर्त्म गमनम् आत्मा स्वभावो यस्य वायोः, स नानागतित्वगुणकोऽस्य प्राणः । बहुलत्वं व्यापित्वं तद्गुण आकाशः, अस्य सन्देहो देहमध्यम् । रयित्वं धनत्वं तद्गुणा आपो यस्य, बस्तिः—मूत्रस्थानम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मा वैश्वानरका मस्तक है, विश्वरूपत्वगुणविशिष्ट आदित्य उसका नेत्र है इत्यादि प्रकारसे द्यु, सूर्य आदिका मस्तक, नेत्र आदिके रूपसे उपदेश करके राजा समस्त—संपूर्ण वैश्वानरकी ध्यानविधिका प्रतिपादन करता है—"यस्त्वेतम्" इत्यादिसे । अभिविमानम्—प्रत्यक्षरूपसे विश्वको जाननेवाला—सर्वज्ञ । जो ऐसे तथोक्त द्युमूर्धादि अवयवविशिष्ट प्रादेशपरिमाण, अभिविमान आत्माको जानता है, वह द्युलोक आदि सर्वलोकोंमें, स्थावर-जङ्गम भूतोंमें, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, जीवरूप सब आत्माओंमें अन्न भक्षण करता है अर्थात् सर्वत्र भोग प्राप्त करता है । लोक—भूः आदि लोक, भूत—शरीर, आत्मा—जीव । जिसका ( द्युलोकका ) तेज—कान्ति सुन्दर है वह सुतेजाः, विश्वरूप—सब रूप हैं जिसके—सूर्यके वह विश्वरूप, क्योंकि 'एष शुक्ल०' ( यह सूर्य श्वेत है, यह नील है ) इत्यादि श्रुति है, पृथक्—अनेक प्रकारका गमन—स्वभाव है जिसका—वायुका, वह अनेक गतिवाला वायु इसका प्राण है, बहुलत्व—व्यापकता गुणवाला आकाश इसका मध्यदेह है, रयित्व—

भाष्य

प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५।१८।२) इत्यादि। तत्र संशयः--किं वैश्वानरशब्देन जाठरोऽग्निरुपदिश्यते, उत भूताग्निः, अथ तदभिमानिनी देवता, अथवा शारीरः, आहोस्वित् परमेश्वर इति ? किं पुनरत्र संशयकारणम् ? वैश्वानर इति जाठरभूताग्निदेवतानां साधारणशब्दप्रयोगादात्मेति च शारीरपरमेश्वरयोः। तत्र कस्योपादानं न्याय्यम्, कस्य वा हानमिति भवति संशयः। किं तावत् प्राप्तम् ?

भाष्यका अनुवाद

है, प्राण नाना प्रकारकी गतिवाला (वायु) है, देहका मध्यभाग आकाश है, मूत्रस्थान ही धन (जल) है, पाद पृथिवी है, उरःस्थान वेदी है, लोम बर्हि हैं, हृदय गार्हपत्य अग्नि है, मन अन्वाहार्य है और मुख आहवनीय है) इत्यादि कहती है। यहां संशय होता है कि वैश्वानरशब्दसे जठराग्निका उपदेश किया जाता है अथवा भूताग्निका अथवा उसके अभिमानी देवताका अथवा जीवका अथवा परमेश्वरका। प्रश्न उठता है कि यहां संशयका कारण क्या है ? जठराग्नि, भूताग्नि और देवतामें समभावसे लागू होनेवाले वैश्वानरशब्दका प्रयोग एवं शारीर और परमेश्वरमें समभावसे लागू होनेवाले आत्माशब्दका प्रयोग है। उनमेंसे किसका ग्रहण उचित है और किसका त्याग ऐसा संशय होता है। तब क्या प्राप्त होता है ?

---

रत्नप्रभा

प्रतिष्ठात्वगुणा पृथिवी तस्य पादौ। तस्य होमाधारत्वं सम्पादयति—**उर एवेत्यादिना**। पूर्वमुपक्रमस्थादृश्यत्वादिसाधारणधर्मस्य वाक्यशेषस्थसर्वज्ञत्वादिलिङ्गेन ब्रह्मनिष्ठत्वमुक्तम्, तद्वदत्राऽपि उपक्रमस्थसाधारणवैश्वानरशब्दस्य वाक्यशेषस्थहोमाधारत्वलिङ्गेन जाठरनिष्ठत्वमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—**किं तावदित्यादिना**। पूर्वो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

धन होना, यह गुणवाले जल इसके मूत्रस्थान हैं, प्रतिष्ठात्व गुणवाली पृथिवी इसके पाद हैं। "उर एव" इत्यादि वाक्यसे कहा है कि यह वैश्वानर होमका आधार होता है। जैसे पूर्व अधिकरणमें वाक्यके आरम्भमें ज्ञायमान अदृश्यत्व आदि साधारण (ब्रह्म और प्रधान दोनोंमें रहनेवाले) धर्म वाक्यशेषमें स्थित सर्वज्ञत्व आदि लिंगोंसे ब्रह्मपरक कहे गये हैं, उसी प्रकार यहां भी उपक्रममें स्थित साधारण वैश्वानरशब्द वाक्यशेषमें स्थित होमाधारत्वलिङ्गसे जठराग्निपरक है, इस प्रकार दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"किं तावद्"

भाष्य

जाठरोऽग्निरिति । कुतः ? तत्र हि विशेषेण क्वचित्प्रयोगो दृश्यते—'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' (बृ० ५।९।१ ) इत्यादौ । अग्निमात्रं वा स्यात्, तत्सामान्येनाऽपि प्रयोगदर्शनात् 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' ( ऋ० सं० १०।८८।१२ ) इत्यादौ । अग्निशरीरा वा देवता स्यात्, तस्यामपि प्रयोगदर्शनात्—'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः'

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—जठराग्नि प्राप्त होती है । किससे ? क्योंकि उसमें ही कहीं कहीं निश्चितरूपसे वैश्वानर शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है—अयमग्निर्वैश्वानरो०' (यह अग्नि वैश्वानर है, जो इस पुरुषके अन्दर है, जिससे खाया हुआ अन्न पचता है) इत्यादिमें । अथवा भूताग्नि हो सकती है, क्योंकि सामान्यतः अग्निमें भी वैश्वानरका प्रयोग देखनेमें आता है—'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा०' ( सब भुवनोंके लिए देवताओंने वैश्वानर अग्निको दिवसका चिह्न बनाया ) इत्यादिमें । अथवा अग्निका अधिष्ठाता देवता हो सकता है, क्योंकि उसमें भी वैश्वानरशब्दका प्रयोग देखा जाता है— वैश्वानरस्य सुमतौ०' ( हमें वैश्वानरकी सुमतिमें रहना चाहिए, क्योंकि वह सुख देनेवाला भुवनोंका राजा है और श्री उसके अभिमुख है )

रत्नप्रभा

त्तरपक्षयोः जाठरब्रह्मणोर्ध्यानं फलम् । यदद्यते तदन्नम्, येन पच्यते सोऽयं पुरुषे शरीरेऽन्तरस्तीत्यर्थः । पक्षान्तरमाह—**अग्निमात्रं वेति** । विश्वस्मै भुवनाय विश्वानरम् अग्निम् अह्नां केतुं चिह्नं सूर्यं देवाः अकृण्वन् कृतवन्तः । सूर्योदये दिनव्यवहारादित्यर्थः । स्याद्वैश्वानर इत्यनुषङ्गः । हि यस्मात् कं सुखप्रदो भुवनानां राजा वैश्वानरोऽभिमुखा श्रीरस्येति अभिश्रीः ईश्वरः तस्मात्तस्य वैश्वानरस्य सुमतौ वयं स्याम । तस्याऽस्मद्विषया शुभमतिर्भवतु इत्यर्थः । पक्षत्रयेऽप्यरुचिं वदन्

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें जठराग्निका ध्यान और उत्तरपक्षमें ब्रह्मध्यान फल है । जो खाया जाता है, वह अन्न जिससे पचता है, वह अग्नि पुरुषशरीरके भीतर है, यह अर्थ है । पक्षान्तर कहते हैं—"अग्निमात्रं वा" इत्यादिसे । देवताओंने सब भुवनोंके लिए वैश्वानर अग्निको दिवसोंका चिह्न अर्थात् सूर्य बनाया । दिवसोंका केतु सूर्य है, क्योंकि सूर्योदय होनेपर दिन माना जाता है । 'अग्निशरीरा वा देवता स्यात्' इसके बाद 'वैश्वानरः' इस पदकी अनुवृत्ति करनी चाहिए । क्योंकि भुवनोंका यह राजा सुखका हेतु है, और अभिमुख है श्री जिसकी वह अभिश्री कहलाता है । इसलिए उस वैश्वानरकी शुभ बुद्धिमें हम लोग रहें ।

भाष्य

( ऋ० सं० १।९८।१ ) इत्येवमाद्यायाः श्रुतेर्देवतायामैश्वर्याद्युपेतायां सम्भवात्। अथाऽऽत्मशब्दसामानाधिकरण्यादुपक्रमे च 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति केवलात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दवशेन च वैश्वानरशब्दः परिणेय इत्युच्यते, तथापि शारीर आत्मा स्यात्, तस्य भोक्तृत्वेन वैश्वानरसंनिकर्षात्। प्रादेशमात्रमिति च विशेषणस्य तस्मिन्नुपाधिपरिच्छिन्ने सम्भवात्। तस्मान्नेश्वरो वैश्वानर इति।

एवं प्राप्ते तत इदमुच्यते—वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हतीति।

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि श्रुतिसे ऐश्वर्य आदिसे युक्त देवताके लिए वैश्वानरशब्दका प्रयोग संभव है। यदि आत्मशब्दके सामानाधिकरण्यसे और आरम्भमें 'को न आत्मा किं ब्रह्म' ( कौन हमारा आत्मा है ब्रह्म क्या है ) इस प्रकार केवल आत्मशब्दका प्रयोग होनेके कारण आत्मशब्दके अनुरोधसे वैश्वानरशब्द आत्मपरक है, ऐसा मान लिया जाय, तो भी वह जीवात्मापरक ही हो सकता है, क्योंकि भोक्ता होनेके कारण वह वैश्वानरके समीप है। और दूसरी बात यह भी है कि प्रादेशमात्र विशेषण उपाधिपरिच्छिन्न शारीरमें ही संगत होता है। इसलिए वैश्वानर ईश्वर नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वैश्वानर परमात्मा ही है,

रत्नप्रभा

कल्पान्तरमाह—**अथेत्यादिना**। "आत्मा वैश्वानरः" इति श्रुतेरित्यर्थः। केवलत्वं वैश्वानरशब्दशून्यत्वम्। अत्र जाठरो वैश्वानर इति मुख्यः पूर्वपक्षः, प्राणाग्निहोत्रहोमाधारत्वलिङ्गात्। तस्य देहव्यापित्वादात्मत्वम्, श्रुत्या द्युमूर्धत्वादिकल्पनया बृहत्त्वाद् ब्रह्मत्वमिति ध्येयम्।

सिद्धान्तयति—**तत इदमिति**। साधारणश्रुत्योरुपक्रमस्थयोर्विशेषात् प्रथम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् हमपर वैश्वानरकी शुभ बुद्धि हो। तीनों पक्षोंमें अरुचि—असन्तोष दिखलाकर दूसरा पक्ष कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। अर्थात् 'आत्मा वैश्वानरः' (आत्मा वैश्वानर है) इस श्रुतिमें आत्मशब्दका वैश्वानरशब्दके साथ सामानाधिकरण्य है। केवल आत्मशब्दका प्रयोग अर्थात् वैश्वानरशब्दके बिना केवल आत्मशब्दका प्रयोग। यहां प्राणाग्निहोत्रमें होमके आधाररूप लिङ्गसे जठराग्नि वैश्वानर है, यह मुख्य पूर्वपक्ष है। वह देहव्यापी है, इसलिए आत्मा है और श्रुतिने द्युलोक मूर्धा है इत्यादि कल्पना की है, इसलिए बृहत्—महान् होनेसे ब्रह्म है, यह समझना चाहिए।

भाष्य

कुतः ? साधारणशब्दविशेषात् । साधारणशब्दयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषः । यद्यप्येतावुभावप्यात्मवैश्वानरशब्दौ साधारणशब्दौ, वैश्वानरशब्दस्तु त्रयाणां साधारणः, आत्मशब्दश्च द्वयोः, तथापि विशेषो दृश्यते, येन परमेश्वरपरत्वं तयोरभ्युपगम्यते, 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादिः । अत्र हि परमेश्वर एव द्युमूर्धत्वादिविशिष्टोऽव-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि साधारणशब्द होनेपर भी कुछ विशेष है। साधारण शब्दोंका विशेष साधारणशब्दविशेष कहलाता है। यद्यपि आत्मा और वैश्वानर ये दोनों शब्द साधारण हैं, वैश्वानरशब्द तो तीन अर्थोंमें साधारण है और आत्मशब्द दो अर्थोंमें, तो भी 'तस्य ह वा०' ( उस आत्मारूप वैश्वानरका मस्तक ही अतितेजस्वी है ) इत्यादि विशेष देखनेमें आता है जिससे कि वे परमेश्वरपरक हैं ऐसा स्वीकार किया जाता है। मालूम होता है कि द्युमूर्धत्व आदि गुणविशिष्ट

---

रत्नप्रभा

श्रुतमुख्यत्रैलोक्यशरीरलिङ्गात् सर्वात्मकेश्वरपरत्वं युक्तम् । न चरमश्रुतकल्पितहोमाधारत्वलिङ्गेन जाठरपरत्वमित्यर्थः। ननु निर्विशेषस्य कुतो विशेष इत्यत आह— अत्र हीति । अवस्थान्तरगतः—त्रैलोक्यात्मना स्थित इत्यर्थः । जाठरस्याऽपि ध्यानार्थं विशेषकल्पनेति चेत्, न; असत्कल्पनापत्तेः । ईश्वरस्य तु उपादानत्वाद् विशेषः

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्त कहते हैं—"तत इदम्" इत्यादिसे । आरम्भिक साधारण श्रुतियोंमें ( अनेकार्थ वैश्वानर और आत्मशब्दसे सम्बन्ध रखनेवाली श्रुतियोंमें ) स्थित वैश्वानर और आत्मशब्द विशेषसे—प्रथमप्रतिपादित मुख्य त्रैलोक्यशरीररूप लिङ्गसे (द्युलोक मूर्धा है, आदित्य नेत्र है, वायु प्राण है, इस प्रकार वैश्वानरका शरीर त्रैलोक्यरूप है, ऐसा प्रतिपादन हुआ है, इस लिङ्गसे) सर्वात्मक ईश्वरपरक हैं, यह युक्त है। परन्तु श्रुतिके अन्तमें प्रतिपादित कल्पितहोमाधारत्वरूप लिङ्गसे ( 'उर एव वेदिः' जिसमें उरस्थानकी वेदीरूपसे कल्पना की गई है, उस चरम श्रुतिके लिङ्गसे) वैश्वानरशब्द जठराग्निपरक नहीं है, ऐसा तात्पर्य है। परन्तु निर्विशेष ब्रह्ममें द्युलोक मूर्धा है, आदित्य चक्षु है इत्यादि विशेषकी कल्पना कैसे हो सकती है, इस शङ्काका निवारण करनेके लिए कहते हैं—"अत्र हि" इत्यादिसे । 'अन्य अवस्थाको प्राप्त हुआ'—त्रैलोक्यरूपसे रहा हुआ । परन्तु जठराग्निकी भी ध्यानके लिए विशेष कल्पना हो सकती है, यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि असत्कल्पना करनी पड़ेगी । परन्तु ईश्वरका तो उपादान होनेसे विशेष (द्युमूर्द्धत्वादिरूप)

भाष्य

स्थान्तरगतः प्रत्यगात्मत्वेनोपन्यस्त आध्यानायेति गम्यते, कारणत्वात् । कारणस्य हि सर्वाभिः कार्यगताभिरवस्थाभिरवस्थावत्त्वाद् द्युलोकाद्यवयवत्वमुपपद्यते । 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' इति च सर्वलोकाद्याश्रयं फलं श्रूयमाणं परमकारणपरिग्रहे सम्भवति । 'एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' ( छा० ५।२४।३ ) इति च तद्विदः सर्वपाप्मप्रदाहश्रवणम् । 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति चाऽऽत्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम इत्येवमेतानि लिङ्गानि परमेश्वरमेवाऽवगमयन्ति । तस्मात् परमेश्वर एव वैश्वानरः ॥ २४ ॥

भाष्यका अनुवाद

अधिदैव—विराट् अवस्थाको प्राप्त हुआ परमेश्वर ही ध्यानके लिए प्रत्यगात्मरूपसे यहां कहा गया है, क्योंकि वह कारण है। वस्तुतः कारण कार्यगत सब अवस्थाओंसे अवस्थावाला होता है, इसलिए परमेश्वरके द्युलोक आदि अवयव हो सकते हैं । 'स सर्वेषु लोकेषु०' (वह सब लोकोंमें, सब भूतोंमें और सब आत्माओंमें अन्नभक्षण करता है ) इस प्रकार सर्वलोकगत फलका श्रुति जो प्रतिपादन करती है, वह परम कारणके ग्रहणसे ही सम्भव होता है। 'एवं हास्य सर्वे०' ( निस्सन्देह इस प्रकार उसके सब पाप जल जाते हैं ) इस प्रकार भी उसके ज्ञाताके सब पापोंके नाशकी श्रुति और 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इस प्रकार आत्मा और ब्रह्मशब्दोंसे उपक्रम ये सब लिङ्ग परमेश्वरका ही ज्ञान कराते हैं । इसलिए परमेश्वर ही वैश्वानर है ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

सन्नेव ध्यानार्थमुच्यतामित्याह—**कारणत्वादिति** । लिङ्गान्तराणि आह—**स सर्वेष्वित्यादिना** । यथाऽग्नौ विक्षिप्तमिषीकातूलं दह्यते, एवं हास्य—विदुष इत्यर्थः ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत् ही है, वही ध्यानके लिए मूर्धत्व आदिसे युक्त कहा जाता है, ऐसा कहते हैं—"कारणत्वात्" इत्यादिसे । और वैश्वानर परमात्मा है, उसके दूसरे लिङ्ग कहते हैं—"स सर्वेषु" इत्यादिसे । जैसे अग्निमें डाले हुए मूंजकी रूई जल जाती है, उसी प्रकार इस विद्वानके सब पाप—कर्म जो अनर्थके हेतु हैं, वे जल जाते हैं यह 'एवं हास्य सर्वे' इत्यादि श्रुतिका अर्थ है ॥२४॥

## स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

**पदच्छेद**—स्मर्यमाणम्, अनुमानम्, स्यात्, इति ।

**पदार्थोक्ति**—स्मर्यमाणम्—'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा' इत्यादिस्मृत्युक्तं त्रैलोक्यात्मकं रूपम्, स्वमूलभूतां श्रुतिमनुमापयत् अनुमानम्—( परमात्मनः ) ज्ञापकम्, स्यात्—भवति, इति—तस्मात् ( वैश्वानरः परमात्मैव ) ।

**भाषार्थ**—'यस्याग्निरास्यं०' ( जिसका अग्नि मुख है, द्युलोक मस्तक है ) इत्यादि स्मृतिसे प्रतिपादित त्रैलोक्यात्मक रूप अपनी मूलभूत श्रुतिका अनुमान कराता हुआ परमात्माका ज्ञापक है, अतः वैश्वानर परमात्मा ही है ।

*भाष्य*

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात् परमेश्वरस्यैव 'अग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा' इतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते—

'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः' ॥ इति ।
( म० भा० शा० ४७।६८ )

तत् स्मर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः । इतिशब्दो हेत्वर्थः ।

*भाष्यका अनुवाद*

और इससे भी परमेश्वर ही वैश्वानर है, क्योंकि उसका अग्नि मुख है, द्युलोक मस्तक है, इत्यादि परमेश्वरके ही त्रैलोक्यात्मक रूपका स्मृति प्रतिपादन करती है । 'यस्याग्निरास्यं०' ( जिसका अग्नि मुख, द्युलोक मस्तक, आकाश नाभि, पृथिवी चरण, सूर्य नेत्र और दिशाएँ कान हैं, उस त्रैलोक्यात्माको नमस्कार है ) यह स्मर्यमाण रूप मूलभूत श्रुतिका अनुमान कराता हुआ वैश्वानरके परमेश्वर-परक होनेमें ज्ञापक है । सूत्रगत इति शब्दका हेतु अर्थ है । अर्थात् उक्त रूप

---

*रत्नप्रभा*

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति । ननु असदारोपेण अपि स्तुतिसम्भवाद् न

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

यदि कोई कहे कि मिथ्या आरोपसे भी स्तुतिका सम्भव है, इसलिए मूलश्रुतिकी अपेक्षा

भाष्य

यस्मादिदं गमकं तस्मादपि वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः । यद्यपि स्तुतिरियं 'तस्मै लोकात्मने नमः' इति तथापि स्तुतित्वमपि नाऽसति मूलभूते वेदवाक्ये सम्यगीदृशेन रूपेण सम्भवति ।

'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे ।
दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता' ॥

इत्येवंजातीयका च स्मृतिरिहोदाहर्तव्या ॥२५॥

भाष्यका अनुवाद

ज्ञापक है, इससे भी वैश्वानर परमात्मा ही है। यद्यपि 'तस्मै लोकात्मने नमः' (उस लोकात्माके लिए नमस्कार है) यह स्तुति है, तो भी मूलभूत वेदवाक्यके अभावमें उस रूपसे स्तुति भी नहीं हो सकती। 'द्यां मूर्धानं०' (विद्वान् द्युलोकको जिसका मस्तक, आकाशको नाभी, चन्द्रसूर्यको नेत्र, दिशाओंको कान पृथिवीको पाद कहते हैं, वह अचिन्त्य आत्मा सब भूतोंका प्रणेता है, ऐसा जानो) ऐसी स्मृति भी उदाहरणरूपसे यहां कहनी चाहिये ॥२५॥

---

रत्नप्रभा

मूलश्रुत्यपेक्षा इत्याशङ्क्याह—**यद्यपि स्तुतिरिति**। तथापि इति पदमर्थतः पठति—**स्तुतित्वमपीति**। द्युमूर्धत्वादिरूपेण स्तुतिः नरमात्रेण कर्तुमशक्या विना श्रुतिमित्यर्थः। सता रूपेण स्तुतिसम्भवाद् नाऽसदारोप इति भावः ॥ २५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, यह शङ्का दूर करनेको कहते हैं—"यद्यपि स्तुतिः" इत्यादि। "स्तुतित्वमपि" इससे 'तथापि' पद अर्थात् कहा गया है। आकाश जिसका मस्तक है इत्यादि स्तुतिको श्रुतिके बिना सब मनुष्य नहीं कर सकते। सद्रूपसे स्तुतिका सम्भव है, इसलिए असदारोप युक्त नहीं है ॥२५॥
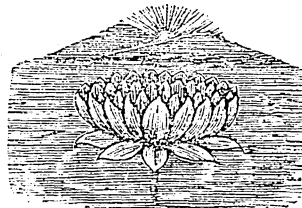
## शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

**पदच्छेद**—शब्दादिभ्यः, अन्तःप्रतिष्ठानात्, च, न, इति, चेत्, न, तथा, दृष्ट्युपदेशात्, असम्भवात्, पुरुषम्, अपि, च, एनम्, अधीयते ।

**पदार्थोक्ति**—शब्दादिभ्यः—वैश्वानरशब्दाग्नित्रेताकल्पनप्राणाहुत्याधारतासङ्कीर्तनेभ्यः, अन्तःप्रतिष्ठानाच्च—शरीरान्तःस्थितिश्रवणाच्च, न—न वैश्वानरः परमात्मा, इति चेत्, न, तथा—तस्मिन् जाठरे, दृष्ट्युपदेशात्—परमात्मदृष्टेरुपदेशात्, असम्भवात्—जाठरे 'मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादेरसम्भवात्, च—किञ्च, एनम्—वैश्वानरम्, पुरुषमपि, अधीयते—पठन्ति [ वाजसनेयिनः, अतः वैश्वानरः परमात्मैवेति सिद्धम् ] ।

**भाषार्थ**—जाठराग्नि आदि अग्निमें वैश्वानरशब्द रूढ़ है, उसका हृदय गार्हपत्य है इस प्रकारसे तीन अग्नियोंकी कल्पना की गई है, वह प्राणाहुतिका आधार कहा गया है और श्रुतिमें शरीरके अन्दर रहनेवाला कहा गया है इन कारणोंसे वैश्वानर परमात्मा नहीं हो सकता । यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जाठर अग्निमें परमात्मदृष्टिका उपदेश है और उसका द्युलोक मस्तक और सूर्य नेत्र नहीं हो सकता एवं वाजसनेयी लोग वैश्वानरको पुरुष कहते हैं, [ जाठराग्नि तो पुरुष नहीं है ] अतः वैश्वानर परमात्मा ही है ।

भाष्य

**अत्राऽऽह—न परमेश्वरो वैश्वानरो भवितुमर्हति । कुतः ? शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च । शब्दस्तावद्वैश्वानरशब्दो न परमेश्वरे सम्भवति,**

*भाष्यका अनुवाद*

पूर्वपक्षी—परमेश्वर वैश्वानर नहीं हो सकता है । किससे ? शब्दादिसे और अन्तःप्रतिष्ठानसे । प्रथम तो शब्द—वैश्वानर शब्द का परमेश्वरके लिए

रत्नप्रभा

शब्दादीनां गतिं वक्तुमुक्तसिद्धान्तमाक्षिप्य समाधत्ते—**शब्दादिभ्य इति ।**

**रत्नप्रभाका अनुवाद**

शब्द आदियोंकी गति कहनेके लिए सिद्धान्तका दूसरे प्रकारसे आक्षेप करके समाधान

भाष्य

अर्थान्तरे रूढत्वात्। तथाऽग्निशब्दः 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इति। आदिशब्दात् 'हृदयं गार्हपत्यः' ( छा० ५।१८।२ ) इत्याद्यग्नित्रेताप्रकल्पनम्। 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५।१०।१) इत्यादिना च प्राणाहुत्यधिकरणतासंकीर्तनम्। एतेभ्यो हेतुभ्यो जाठरो वैश्वानरः प्रत्येतव्यः। तथाऽन्तःप्रतिष्ठानमपि श्रूयते-'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद'

भाष्यका अनुवाद

प्रयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि वह अन्य अर्थमें रूढ़ है। उसी प्रकार, स एषोऽग्नि-वैश्वानरः' ( यह वैश्वानर अग्नि है ) इसमें अग्निशब्दका परमेश्वरके लिए प्रयोग सम्भव नहीं है। ( शब्दादिके ) आदिशब्दसे 'हृदयं गार्हपत्यः' ( हृदय गार्हपत्य है ) इत्यादि तीन अग्निओं की कल्पना की गई है और 'तद्यद्भक्तं०' ( उसमें जो अन्न प्रथम आवे, वह होमसाधन है ) इत्यादिसे प्राणाहुतिका ( वैश्वानर ) अधिकरण कहा गया है। इन हेतुओंसे वैश्वानरसे जठराग्निका ग्रहण उचित है। उसी प्रकार अन्तःप्रतिष्ठान भी श्रुतिमें कहा गया है 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद'

---

रत्नप्रभा

"स एषोऽग्निर्वैश्वानरः" ( शत० ब्रा० १०।६।१।११ ) इत्यग्निरहस्ये वैश्वानर-विद्यायां श्रुतोऽग्निशब्द ईश्वरे न सम्भवति इत्यन्वयः। सूत्रस्थादिशब्दार्थमाह—**आदिशब्दादिति**। भक्तम्—अन्नम्, होमीयम्—होमसाधनम्। तेन प्राणाग्निहोत्रं कार्यमित्यर्थः। वाजसनेयिनामग्निरहस्ये सप्रपञ्चां वैश्वानरविद्यामुक्त्वा—"स यो हैतमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद स सर्वत्रान्नमत्ति" ( शत० ब्रा० १०।६।१।११ ) इत्युक्तं देहान्तःस्थत्वं जाठरे सम्भवति प्रसिद्धेरित्याह—**तथेति**। अत्र सूत्रे आदिपदेन एवाऽन्तःप्रतिष्ठानस्य ग्रहे सम्भवति पृथगुक्तिः

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"शब्दादिभ्य०" इत्यादिसे। 'एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इस अग्निरहस्यकी वैश्वानरविद्यामें पठित अग्निशब्द परमेश्वरपरक नहीं है—ऐसा अन्वय है। सूत्रगत आदि शब्दका अर्थ करते हैं—"आदिशब्दात्" इत्यादिसे। भक्त—अन्न। होमीय—होमसाधन। भोजनकालमें जो अन्न प्राप्त हो, उससे प्राणाग्निहोत्र करना चाहिए। वाजसनेयी शाखाके अग्निरहस्यमें वैश्वानरविद्याका विचारपूर्वक विवेचन करके 'स यो हैतमग्निं' जो पुरुष इस वैश्वानर अग्निकी पुरुषसदृश पुरुषमें अन्तःप्रतिष्ठितरूपसे उपासना करता है वह सर्वत्र अन्नका भोग करता है—इस श्रुतिमें कथित देहके भीतर रहना जठराग्निमें ही सम्भव है, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। यहां सूत्रस्थ आदि पदसे ही अन्तःप्रतिष्ठानका ग्रहण संभावित है, तो भी जो

*भाष्य*

इति। तच्च जाठरे सम्भवति। यदप्युक्तम्-मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषात् कारणात् परमात्मा वैश्वानर इति। अत्र ब्रूमः—कुतो ह्येष निर्णयः, यदुभयथापि विशेषप्रतिभाने सति परमेश्वरविषय एव विशेष आश्रयणीयो न जाठरविषय इति। अथवा भूताग्नेरन्तर्बहिश्चाऽवतिष्ठमानस्यैष निर्देशो भविष्यति। तस्यापि हि द्युलोकादिसम्बन्धो मन्त्रवर्णादवगम्यते—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १०।

*भाष्यका अनुवाद*

( पुरुषके भीतर स्थितको वह जानता है )। और वह जठराग्निमें संभव है। और 'मूर्धैव सुतेजाः' ( मस्तक ही पुष्कल तेजवाला है ) इत्यादि विशेषरूप कारणसे वैश्वानर परमात्मा है, ऐसा जो कहा है, इसके लिए कहते हैं—ऐसा निर्णय कैसे हो सकता है कि दोनों प्रकारके विशेषका प्रतिभान होने पर भी परमेश्वरविषयक विशेषका ही आश्रयण करना और जठराग्निविषयक विशेषका आश्रयण नहीं करना चाहिये। अथवा भीतर और बाहर रहे हुए अग्निका यह निर्देश होगा, क्योंकि उसका भी द्युलोकादिके साथ सम्बन्ध इस मन्त्रवर्णसे जाना जाता है—'यो भानुना पृथिवीं०' ( जिसने—भूताग्निने इस पृथिवी, द्युलोक और अन्तरिक्षको

---

*रत्नप्रभा*

साधारणलिङ्गत्वद्योतनार्था। शब्दादिबलादिदमपि जाठरं गमयति इति अभ्युच्चयः। यद्यपि द्युमूर्द्धत्वादिविशेषः ईश्वरपक्षपाती होमाधारत्वादिः जाठरपक्षपातीति प्रतिभानं समम्, तथापि पारमेश्वरो विशेषो जाठरे न सम्भवतीति बलवानित्यत आह—**अथवेति**। एषः—द्युमूर्द्धत्वादिनिर्देश इत्यर्थः। इमाम्—पृथिवीम्, द्यामपि, ते एव द्यावापृथिव्यौ रोदसी, तयोर्मध्यम् अन्तरिक्षं च यो भूताग्निः,

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

पृथक् कहा है, वह अन्तः प्रतिष्ठान भी वैश्वानरका अर्थ जठराग्नि लेनेमें साधारण लिङ्ग-ज्ञापक है, यह बतानेके लिए है। शब्द आदिके बलसे अन्तःप्रतिष्ठान भी जठराग्निका गमक है, ऐसा समुच्चय है। यद्यपि द्युमूर्धत्वादि विशेष ईश्वरपक्षपाती हैं, और होमाधारत्वादि विशेष जठराग्नि पक्षपाती हैं, इसलिए दोनों पक्षोंका समानरूपसे भान होता है, तो भी परमेश्वरका जठराग्निमें सम्भव नहीं है, इसलिए वह पक्ष बलवान् है, इसलिए पूर्वपक्षी कहता है—"अथवा" इत्यादि। 'यह'—द्युमूर्धत्वादि निर्देश यह अर्थ है। यह पृथिवी और द्युलोक वे ही हुए रोदसी—द्यावापृथिवी उनको, उनके मध्य अन्तरिक्षको जिस भूताग्निने सूर्यरूपसे व्याप्त किया है, उसका

भाष्य

८८।३) इत्यादौ। अथवा तच्छरीराया देवताया ऐश्वर्ययोगाद् द्युलोकाद्यवयवत्वं भविष्यति। तस्मान्न परमेश्वरो वैश्वानर इति।

अत्रोच्यते—न, तथादृष्ट्युपदेशादिति। न शब्दादिभ्यः कारणेभ्यः परमेश्वरस्य प्रत्याख्यानं युक्तम्। कुतः? तथा—जाठरापरित्यागेन दृष्ट्युपदेशात्। परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यते, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' ( छा० ३।१८।१ ) इत्यादिवत्। अथवा जाठरवैश्वानरोपाधिः परमेश्वर इह द्रष्टव्यत्वेनोपदिश्यते, 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः'

भाष्यका अनुवाद

तेजसे व्याप्त किया ) इत्यादिमें। अथवा वह जिसका शरीर है, उस देवताके ऐश्वर्यके योगसे द्युलोकादि अवयव होंगे। इसलिए वैश्वानर परमेश्वर नहीं है।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—नहीं, उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उस प्रकारकी दृष्टिका उपदेश है। शब्दादि कारणोंसे परमेश्वरका प्रत्याख्यान युक्त नहीं है। क्योंकि उस प्रकारकी—जाठराग्निका त्याग न करनेवाली दृष्टिका उपदेश है, कारण कि यहां परमेश्वरकी दृष्टिका जाठर वैश्वानरमें उपदेश किया है, जैसे 'मनो ब्रह्म०' ( मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करे ) इसमें किया गया है। अथवा जाठर वैश्वानर जिसकी उपाधि है, उस परमेश्वरका यहाँ द्रष्टव्यरूपसे उपदेश है जैसे 'मनोमयः०' ( मनोमय, प्राणशरीर, भारूप )

रत्नप्रभा

भानुरूपेण आततान—व्याप्तवान्, स ध्यातव्य इत्यर्थः। जडमात्रस्य न ध्येयत्वमित्यत आह—**अथवेति**।

सिद्धान्तयति—**न तथादृष्ट्युपदेशादितीति**। परमेश्वरदृष्ट्योपास्यजाठराग्निप्रतीकवाचकाभ्यामग्निवैश्वानरशब्दाभ्यां द्युमूर्द्धत्वादिमानीश्वरो लक्ष्य इत्युक्त्वा कल्पान्तरमाह—**अथवा जाठरेति**। अस्मिन् पक्षे प्राधान्येन ईश्वरोपास्यता, पूर्वत्र गुणतयेति भेदः। उपाधिवाचिभ्यां पदाभ्यामुपहितो लक्ष्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

ध्यान करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। परन्तु जड़मात्रका ध्यानका विषय होना सम्भव नहीं है, इसपर कहते हैं—"अथवा" इत्यादि। सिद्धान्त कहते हैं। परमेश्वरदृष्टिसे उपास्य जाठराग्निरूप प्रतीकके वाचक अग्नि और वैश्वानरशब्दोंसे लक्षणा द्वारा द्युमूर्धत्वादिमान् ईश्वरको लक्ष्य कहकर अन्य कल्प कहते हैं—"अथवा जाठर" इत्यादिसे। इस पक्षमें प्रधानरूपसे ईश्वर उपास्य है और पूर्व कल्पमें गौणरूपसे उपास्य है, इतना भेद है। आशय यह कि उपाधिवाचक अग्नि और वैश्वानरपद-

भाष्य

(छा० ३।१४।२) इत्यादिवत्। यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत, केवल एव जाठरोऽग्निर्विवक्ष्येत, ततो मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषस्याऽसम्भव एव स्यात्। यथा तु देवताभूताग्निव्यपाश्रयेणाऽप्ययं विशेष उपपादयितुं न शक्यते, तथोत्तरसूत्रे वक्ष्यामः। यदि च केवल एव जाठरो विवक्ष्येत, पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं तस्य स्यान्न तु पुरुषत्वम्। पुरुषमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' (श०ब्रा० १०।६।१।११) इति।

भाष्यका अनुवाद

इत्यादिमें है। यदि यहाँ परमेश्वरकी विवक्षा न हो, केवल जठराग्निकी ही विवक्षा हो, तो 'मूर्धैव सुतेजाः' (मस्तक ही पुष्कल प्रकाशवाला है) इत्यादि विशेषका असम्भव ही हो जायगा। जिस प्रकार देवता और भूताग्निके संबन्धसे भी यह विशेष उपपन्न नहीं हो सकता वह प्रकार अगले सूत्रमें कहेंगे। यदि केवल जठाराग्निकी ही विवक्षा हो, तो पुरुषमें भीतर रहनामात्र ही उसमें सम्भव हो सकेगा, पुरुषत्व सम्भव नहीं होगा। वाजसनेयी शाखावाले वैश्वानरका पुरुषरूपसे भी अध्ययन करते हैं—'स एषोऽग्नि०' (जो पुरुष है वही वैश्वानर अग्नि है, जो इस वैश्वानर अग्निको इस प्रकार पुरुषसदृश और पुरुषके अन्दर रहनेवाला जानता है, वह सब जगह भोग करता है)। सर्वात्मक होनेसे

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। लक्षणाबीजमसम्भवं व्याचष्टे—यदि चेति। पुरुषमपीत्यादिसूत्रशेषं व्याचष्टे—यदि च केवल इति। ईश्वरप्रतीकत्वोपाधित्वशून्य इत्यर्थः। विवक्ष्येत तदेति शेषः। यद्—यः, पुरुषः—पूर्णः, स एषोऽग्निः वैश्वानरशब्दितजाठरोपाधिक इति श्रुत्यर्थः। यः वेद, स सर्वत्र भुङ्क्ते इत्यर्थः। पुरुषत्वं पूर्णत्वमचेतनस्य

**रत्नप्रभाका अनुवाद**

से उपाधिमान् ईश्वर लक्ष्य होता है। लक्षणाबीज जो असम्भव है, उसका व्याख्यान करते हैं—"यदि च" इत्यादिसे। 'पुरुषमपि' इत्यादि सूत्रके शेष अंशका व्याख्यान करते हैं—"यदि च केवलः" इत्यादिसे। केवल अर्थात् ईश्वरके प्रतीकत्व अथवा उपाधित्वसे रहित। 'विवक्ष्येत' के बाद 'तदा' इतना शेष है। जो पुरुष पूर्ण है, वह यह अग्नि है—वैश्वानरशब्दवाच्य जाठर अग्नि उसकी उपाधि है, यह श्रुतिका अर्थ है। जो ऐसा जानता है वह सर्वत्र भोग करता है। अचेतन जाठरमें पुरुषत्व युक्त नहीं है, ऐसा कहकर पाठान्तरमें पुरुषविधत्व—

भाष्य

परमेश्वरस्य तु सर्वात्मत्वात् पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं चोभयमुपपद्यते। ये तु 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इति सूत्रावयवं पठन्ति, तेषामेषोऽर्थः—केवलजाठरपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं स्यान्न पुरुषविधत्वम्। पुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। पुरुषविधत्वं च प्रकरणाद्यदधिदैवतं द्युमूर्धत्वादि पृथिवीप्रतिष्ठितत्वान्तम्, यच्चाऽध्यात्मं प्रसिद्धं द्युमूर्धत्वादि चुबुकप्रतिष्ठितत्वान्तं तत् परिगृह्यते ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

परमेश्वरमें तो पुरुषत्व और पुरुषके अन्दर रहना ये दोनों संगत होते हैं। जो लोग 'पुरुषविधं०' इस प्रकार सूत्रके अन्तिम भागका पाठ स्वीकार करते हैं, उनके मतमें यह अर्थ है—केवल जठराग्निका ग्रहण करें तो उसमें पुरुषका अन्दर रहनामात्र ही सम्भव होगा, पुरुषसदृशत्व सम्भव नहीं होगा। और वाजसनेयी शाखावाले इसका पुरुषसदृशरूपसे भी अध्ययन करते हैं—'पुरुषविधं०' (जो इसे पुरुषसदृश और पुरुषके अन्दर रहनेवाला जानता है) द्युमूर्धत्वसे लेकर पृथिवीप्रतिष्ठितत्व तक जो अधिदैव पुरुषसदृशत्व है और मूर्धासे लेकर चुबुक तक जो अध्यात्म पुरुषसदृशत्व प्रसिद्ध है, उस पुरुषसदृशत्वका यहाँ प्रकरणसे ग्रहण किया जाता है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

जाठरस्य नेत्युक्त्वा पाठान्तरे पुरुषविधत्वं देहाकारत्वं तस्य नेत्याह—**ये त्विति**। ननु जाठरस्याऽपि देहव्यापित्वात् तद्विधत्वं स्यादित्यत आह—**पुरुषविधत्वं च प्रकरणादिति**। न देहव्यापित्वं पुरुषविधत्वम्, किन्तु विराड्देहाकारत्वमधिदैवं पुरुषविधत्वम्, अध्यात्मं चोपासकमूर्द्धादिचुबुकान्तेषु अङ्गेषु सम्पन्नत्वमीश्वरस्य पुरुषविधत्वमित्यर्थः। ईश्वरस्य अङ्गेषु सम्पत्तिः अग्रे वक्ष्यते ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

देहाकारत्व भी उसमें युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"ये तु" इत्यादिसे। यदि कोई शंका करे कि देहव्यापी होनेसे जाठर भी पुरुषविध हो सकता है, इसपर कहते हैं—"पुरुषविधत्वं च प्रकरणाद्" इत्यादि। पुरुषविधत्वका अर्थ देहव्यापित्व नहीं है, किंतु विराड्देहाकारत्व है, यह अधिदैव पुरुषविधत्व है और उपासकके मस्तकसे लेकर चुबुक—ठोड़ी तक अंगोंमें ईश्वरसंपत्ति अध्यात्म पुरुषविधत्व है, ऐसा समझना चाहिए। अंगोंमें ईश्वरसम्पत्ति कैसे होती है यह आगे कहेंगे ॥ २६ ॥

# अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

**पदच्छेद**—अतः, एव, न, देवता, भूतम, च ।

**पदार्थोक्ति**—अत एव—द्युमूर्धत्वादिधर्माणामसंभवादेव, भूतम्—भूताग्निः, देवता च—अग्न्यभिमानिनी देवता वा, न—वैश्वानरशब्दार्थो न भवति, [ किन्तु जाठराग्न्युपाधिकः परमात्मैव ] ।

**भाषार्थ**—भूताग्नि अथवा अग्न्यभिमानी देवता वैश्वानरशब्दवाच्य नहीं हैं, क्योंकि द्युमूर्धत्व आदि धर्मका इनमें भी सम्भव नहीं है । किन्तु जठराग्नि-उपाधिक परमात्मा ही वैश्वानरशब्दवाच्य है ।

*भाष्य*

यत्पुनरुक्तम्---भूताग्नेरपि मन्त्रवर्णे द्युलोकादिसम्बन्धदर्शनात् मूर्धैव सुतेजा इत्याद्यवयवकल्पनं तस्यैव भविष्यतीति, तच्छरीराया देवताया वा ऐश्वर्ययोगात् इति । तत् परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते---अत एवोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न देवता वैश्वानरः । तथा भूताग्निरपि न वैश्वानरः । नहि

*भाष्यका अनुवाद*

श्रुतिमें भूताग्निका भी द्युलोक आदिके साथ संबन्ध देखनेमें आता है, इसलिए 'मूर्धैव सुतेजाः' ( मस्तक ही पुष्कल प्रकाशवाला है ) इत्यादि अवयव-कल्पना उसकी ही होगी अथवा वह जिसका शरीर है उस देवताकी ऐश्वर्य-योगसे उक्त अवयवकल्पना होगी, ऐसा जो कहा है, उसका परिहार करना चाहिए । इसपर कहते हैं—उक्त हेतुओंसे ही वैश्वानर देवता नहीं है । उसी प्रकार वैश्वानर भूताग्नि भी नहीं है । क्योंकि उष्णता और प्रकाशमात्र जिसका

---

*रत्नप्रभा*

एवं जाठरं निरस्य पक्षद्वयं निरस्यति—**अत एवेति** । सूत्रं व्याचष्टे—**यत्पुनरित्यादिना** । द्युमूर्द्धत्वादिः, सर्वलोकफलभाक्त्वम्, सर्वपाप्मप्रदाहः, आत्म-ब्रह्मशब्दोपक्रम एते उक्तहेतवः । तानेव सारयति—**नहि भूताग्नेरित्यादिना** ।

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

जाठरपक्षका निरसन करके अन्य दो पक्षोंका निरसन करते हैं—"अत एव" इत्यादिसे । सूत्रका विवरण करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे । द्युमूर्धत्व आदि, सर्वलोकफलभोगित्व, सर्वपाप-नाश और आत्म तथा ब्रह्मशब्दोंसे उपक्रम ये उक्त हेतु हैं । उन्हीं हेतुओंका स्मरण कराते हैं—

भाष्य

भूताग्नेरौष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य द्युमूर्धत्वादिकल्पनोपपद्यते, विकारस्य विकारान्तरात्मत्वासम्भवात्। तथा देवतायाः सत्यप्यैश्वर्ययोगे न द्युमूर्धत्वादिकल्पना सम्भवति। अकारणत्वात् परमेश्वराधीनैश्वर्यत्वाच्च। आत्मशब्दासम्भवश्च सर्वेष्वेषु पक्षेषु स्थित एव ॥ २७ ॥

भाष्यका अनुवाद

स्वरूप है उस भूताग्निमें द्युमूर्धत्वादिकल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि एक विकार अन्य विकारका स्वरूप नहीं हो सकता। उसी प्रकार ऐश्वर्ययोगसे देवतामें द्युमूर्धत्वादिकल्पना सम्भव नहीं है, क्योंकि देवता किसीके प्रति उपादानकारण नहीं है और उसका ऐश्वर्य परमेश्वरके अधीन है। उक्त सभी पक्षोंमें आत्मशब्दका असम्भव तो है ही ॥ २७ ॥

---

रत्नप्रभा

"यो भानुना" [ ऋ० सं० १०।८८।३ ] इति मन्त्रेण ईश्वरदृष्ट्या महिमा उक्त इति भावः ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नहि भूताग्नेः" इत्यादिसे। आशय यह है कि 'यो भानुना' यह मंत्र ईश्वरदृष्टिसे भूताग्निकी महिमा कहता है ॥२७॥

## साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

**पदच्छेद**—साक्षाद्, अपि, अविरोधम्, जैमिनिः।

**पदार्थोक्ति**—साक्षाद् अपि—जाठररूपोपाधिं विनाऽपि, [ ब्रह्मणि वैश्वानरशब्दस्य ] अविरोधम्—विरोधाभावम्, जैमिनिः—जैमिनिनामको महर्षिः [ मन्यते ]।

**भाषार्थ**—जैमिनि महर्षिका मत है कि ब्रह्ममें जठराग्निरूप उपाधिके बिना भी वैश्वानरशब्दका विरोध नहीं है अर्थात् वैश्वानरशब्द साक्षात् ही ब्रह्मवाचक है।

भाष्य

पूर्वं जाठराग्निप्रतीको जाठराग्न्युपाधिको वा परमेश्वर उपास्य इत्युक्तमन्तःप्रतिष्ठितत्वाद्यनुरोधेन। इदानीं तु विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमेश्वरोपासनपरिग्रहे न कश्चिद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। ननु जाठराग्न्यपरिग्रहेऽन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं शब्दादीनि च कारणानि विरुध्येरन्निति। अत्रोच्यते—अन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं तावन्न विरुध्यते।

भाष्यका अनुवाद

पहले अन्तःप्रतिष्ठितत्व आदिके अनुसार कहा है कि जाठराग्नि जिसका प्रतीक है अथवा जाठराग्नि जिसकी उपाधि है, ऐसा परमेश्वर उपास्य है। परन्तु अब जैमिनि आचार्य कहते हैं कि प्रतीक और उपाधिकी कल्पनाके बिना भी साक्षात् ही परमेश्वरकी उपासना स्वीकार करनेमें कुछ विरोध नहीं है। यदि कोई शंका करे कि जाठराग्निका स्वीकार न करें, तो ( परमेश्वरमें ) अन्तःप्रतिष्ठितत्व और शब्द आदि कारण असङ्गत हो जायंगे। इसपर कहते

रत्नप्रभा

पूर्वमग्निवैश्वानरशब्दौ ईश्वरलक्षकौ इत्युक्तम्, अधुना प्रतीकोपाधिपरित्यागेन विराट्पुरुषाकारस्य भगवतो वैश्वानरस्य अध्यात्ममूर्धादिचुबुकान्तेषु सम्पाद्य उपास्यत्वाङ्गीकारेऽपि न शब्दादिविरोधः, शब्दयोरीश्वरे योगवृत्त्या मुख्यत्वात्, अन्तःस्थत्वादीनां च तत्र सम्भवादित्याह—**साक्षादपीति**। साक्षात्पदस्याऽर्थमाह—**विनैवेति**। जाठराग्निसम्बन्धं विना ईश्वरस्य उपास्यत्वेऽपि शब्दाद्यविरोधं जैमिनिर्मन्यते इत्यर्थः। इदमन्तःस्थत्वम्—उदरस्थत्वरूपं नोच्यते, किन्तु नखादिशिखान्तावयवसमुदायात्मकपुरुषशरीरे मूर्धादिचुबुकान्ताङ्गानि वृक्षे शाखावत् प्रतिष्ठितानि, तेषु सम्पन्नो वैश्वानरः पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठित इत्युच्यते, अतो यथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

पहले अग्नि और वैश्वानरशब्द ईश्वरलक्षक हैं ऐसा कहा गया है। अब प्रतीक और उपाधिके त्यागसे विराड्पुरुषस्वरूप भगवान् वैश्वानरका मस्तकसे लेकर ठोड़ी पर्यन्त अंगोंमें संपादन करके ध्यान [ अर्थात् संपदुपासना ] करना चाहिए ऐसा स्वीकार करनेपर भी शब्द आदिका विरोध नहीं है, क्योंकि अग्नि और वैश्वानरशब्द योगवृत्तिसे ईश्वरवाचक हैं और अन्तःस्थत्व आदि धर्म परमेश्वरमें संभावित हैं, ऐसा कहते हैं—"साक्षादपि" इत्यादिसे। साक्षात् पदका अर्थ कहते हैं—"विनैव" इत्यादिसे। जैमिनिका मत है कि जाठराग्निके साथ संबन्धके बिना ईश्वरको उपास्य माननेपर भी शब्द आदिका विरोध नहीं है। यहां अन्तःप्रतिष्ठितत्वका अर्थ उदरमें रहना नहीं है, किन्तु नखसे लेकर शिखापर्यन्त अवयवसमुदायात्मक पुरुषशरीरमें मस्तकसे ठोड़ी पर्यन्त अंग वृक्षमें शाखाकी तरह प्रतिष्ठित हैं, उन अंगोंमें संपन्न वैश्वानर

भाष्य

नहीह 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति जाठराग्न्यभिप्रायेणेदमुच्यते। तस्याऽप्रकृतत्वादसंशब्दितत्वाच्च। कथं तर्हि? यत् प्रकृतं मूर्धादिचुबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु पुरुषविधत्वं कल्पितं तदभिप्रायेणेदमुच्यते----'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। यथा वृक्षे शाखां प्रतिष्ठितां पश्यतीति तद्वत्। अथवा यः प्रकृतः परमात्माऽध्यात्ममधिदैवतं च पुरुषविधत्वोपाधिस्तस्य यत्केवलं साक्षिरूपं तदभिप्रायेणेदमुच्यते----'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। निश्चिते च पूर्वापरालोचनवशेन परमात्मपरिग्रहे

भाष्यका अनुवाद

हैं—वैश्वानर अन्तःप्रतिष्ठित है, यह कथन तो असंगत नहीं है, क्योंकि यहां 'पुरुषविधं०' ( पुरुषसदृश और पुरुषके अन्दर रहनेवालेको जो जानता है ) यह जाठराग्निके उद्देशसे नहीं कहा गया है, क्योंकि वह अप्रकृत है और अग्नि आदि शब्दवाच्य नहीं है। तब किसके उद्देशसे कहा गया है? मस्तकसे लेकर चुबुकपर्यन्त पुरुषके अवयवोंमें जो प्रकृत पुरुषसदृशत्व कल्पित है, उसके उद्देशसे 'पुरुषविधं०' यह कहा गया है। जैसे 'वृक्षमें शाखाको प्रतिष्ठित हुआ देखता है' यह व्यवहार होता है उसी प्रकार [ पुरुषके अवयवोंमें रहनेवाला वैश्वानर पुरुषके अन्दर रहनेवाला कहा गया है ]। अथवा जिस प्रकृत परमात्माकी अधिदैव और अध्यात्म पुरुषसदृशत्व उपाधियां हैं, उसका केवल जो साक्षिरूप है, उसके उद्देशसे

रत्नप्रभा

शाखास्थस्य पक्षिणो वृक्षान्तःस्थत्वम्, तथा वैश्वानरस्य पुरुषान्तःस्थत्वमित्याह—**नहीह पुरुषविधमित्यादिना**। अग्न्यादिशब्दस्य ईश्वरवाचित्वाद् जाठराग्नेः असंशब्दितत्वम्। अत्र ईश्वरस्य पुरुषावयवेषु सम्पादनात् पुरुषविधत्वमन्तःस्थत्वं चेत्यर्थः। पक्षान्तरमाह—**अथवेति**। पुरुषविधत्वं पूर्ववत्। अन्तःस्थत्वम् माध्यस्थ्यम्, साक्षित्वमित्यर्थः। एवमन्तःस्थत्वमीश्वरे व्याख्याय शब्दादीनि व्याचष्टे—

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषमें अन्तःप्रतिष्ठित है ऐसा कहलाता है। इसलिए जैसे शाखा पर बैठा हुआ पक्षी वृक्षके अंदर बैठा हुआ कहलाता है, उसी प्रकार वैश्वानर पुरुषमें अन्तःस्थित है, ऐसा कहते हैं—"नहीह पुरुषविधम्" इत्यादिसे। अग्नि आदि शब्द ईश्वरवाचक होनेसे जठराग्नि असंशब्दित है—अग्निशब्दवाच्य नहीं है। यहां पुरुषके अवयवोंमें ईश्वरकी संपत्तिसे वह पुरुषसदृश और अन्तःस्थ है, ऐसा तात्पर्य है। दूसरा पक्ष कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। पुरुषविधत्वका अर्थ पूर्वकल्पके अनुसार मानना चाहिए। अन्तःप्रतिष्ठित—मध्यस्थ अर्थात् साक्षिरूप। इस

भाष्य

तद्विषय एव वैश्वानरशब्दः केनचिद्योगेन वर्तिष्यते । विश्वश्चाऽयं नरश्चेति, विश्वेषां वाऽयं नरः, विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा, सर्वात्मत्वात् । विश्वानर एव वैश्वानरः । तद्धितोऽनन्यार्थः, राक्षसवायसादिवत् । अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयणेन परमात्मविषय एव

भाष्यका अनुवाद

'पुरुषे०' कहा गया है। पूर्वापरपर्यालोचनसे परमात्माका ही ग्रहण है यह निश्चित होनेपर वैश्वानरशब्द भी योगवृत्तिसे परमेश्वरपरक ही होगा। 'विश्वश्चाऽयं०' सकलप्रपंचरूप नर पुरुष, अथवा 'विश्वेषां०' सबका कर्ता, 'विश्वे नरा०' सब जीवोंका नियन्ता विश्वानर, अर्थात् परमात्मा, क्योंकि वह सर्वात्मक है। 'विश्वानर०' विश्वानर ही वैश्वानर कहलाता है। यहांपर तद्धित प्रत्यय स्वार्थमें है राक्षस, वायस आदिके समान। अग्निशब्द भी अग्रणीत्व ( कर्मफलकी प्राप्ति

---

रत्नप्रभा

निश्चिते चेति । विश्वश्चाऽयं नरो जीवः च सर्वात्मत्वात् । विश्वेषां विकाराणां वा नरः कर्ता । विश्वे सर्वे नराः जीवाः अस्य आत्मत्वेन नियम्यत्वेन वा सन्तीति विश्वानरः । रक्ष एव राक्षस इतिवत् स्वार्थे तद्धितप्रत्ययः । "नरे संज्ञायाम्" (पा० सू० ६।३।१२९) इति पूर्वपदस्य दीर्घता । अगिधातोर्गत्यर्थस्य निप्रत्ययान्तस्य रूपमग्निरिति । अङ्गयति गमयत्यग्रं कर्मफलं प्रापयतीति अग्निरग्रणीरुक्तः । अभितोऽगत इति वा अग्निः । वैश्वानरोपासकस्याऽतिथिभोजनात् पूर्वं प्राणाग्निहोत्रं

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार अन्तःस्थत्व धर्म ईश्वरमें है यह व्याख्यान करते हैं—"निश्चिते च" इत्यादिसे। 'विश्वश्चाऽयं०'—सकलप्रपंचरूप नर–जीव, क्योंकि वह सर्वात्मक है। अथवा विश्वेषां०'–सब विकारोंका कर्ता, क्योंकि विश्व—प्रपंच उसका विकार है। 'विश्वे०' सब जीव उसके आत्मरूप अथवा नियम्यरूप हैं, अतः वह विश्वानर कहलाता है। 'रक्ष एव राक्षसः' इसमें जैसे स्वार्थवाचक तद्धित प्रत्यय है, उसी प्रकार 'विश्वानर एव वैश्वानरः' इसमें भी स्वार्थवाचक तद्धित प्रत्यय है। 'नरे०' (संज्ञामें नरशब्द पर—आगे हो तो पूर्वपदका अंत्य दीर्घ हो जाता है) इस सूत्रसे विश्वके अंत्यका अकार दीर्घ हो गया है। 'नि' प्रत्ययान्त गत्यर्थक 'अगि' धातुसे अग्निशब्द सिद्ध हुआ है। [परमात्मा] अग्र—कर्मफल—उसको प्राप्त कराता है, अतः अग्नि है, इसी कारणसे 'अग्रणी' भी कहलाता है। अथवा जो अभिमुख गमन करे, वह अग्नि है। अतिथि भोजनसे पहले विद्याके अंगरूपसे वैश्वानरके उपासकके लिए प्राणा-

भाष्य

भविष्यति । गार्हपत्यादिकल्पनं प्राणाहुत्यधिकरणत्वं च परमात्मनोऽपि सर्वात्मत्वादुपपद्यते ॥ २८ ॥

कथं पुनः परमेश्वरपरिग्रहे प्रादेशमात्रश्रुतिरुपपद्यत इति तां व्याख्यातुमारभते---

भाष्यका अनुवाद

कराना ) आदि योगका आश्रय करनेसे परमात्मामें ही लागू होता है । गार्हपत्य आदि कल्पना और प्राणाहुतिका अधिकरणत्व परमात्मामें भी युक्त है, क्योंकि वह सर्वात्मा है ॥ २८ ॥

परमेश्वरका परिग्रह करें तो प्रादेश[1]मात्र श्रुति किस प्रकार संगत होगी ? इस प्रश्नकी संभावनासे श्रुतिका व्याख्यान करते हैं ।

रत्नप्रभा

विद्याङ्गत्वेन विहितम् । तदर्थमग्नित्रेतादिकल्पनं प्रधानाविरोधेन नेतव्यम् इत्याह— गार्हपत्येति ॥ २८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ग्निहोत्रका विधान किया है, इसलिए गार्हपत्य आदि तीन अग्नियोंकी कल्पना इस प्रकार करनी चाहिए कि मुख्य अर्थमें विरोध न हो, ऐसा कहते हैं--"गार्हपत्य" इत्यादिसे ॥२८॥

## अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

**पदच्छेद**—अभिव्यक्तेः, इति, आश्मरथ्यः ।

**पदार्थोक्ति**—अभिव्यक्तेः—[ उपासकानामनुग्रहाय हृदयाद्युपासनास्थानेषु प्रादेशमात्रपरिमाणस्यैव परमेश्वरस्य ] अभिव्यक्तेः, इति—प्रादेशमात्रश्रुतिरुपपद्यत इति, आश्मरथ्यः [ मन्यते ] ।

**भाषार्थ**—आश्मरथ्य आचार्यका मत है कि परमेश्वर उपासकोंपर अनुग्रह करनेके लिए हृदय आदि उपासना स्थानोंमें प्रादेशमात्रपरिमाण अभिव्यक्त होता है, अतः परमेश्वरको प्रादेशमात्र कहनेवाली श्रुति उपपन्न होती है ।

(१) अंगूठा और तर्जनीके फैलानेसे जितनी जगह घिरे, उतनी जगहको प्रादेश कहते हैं ।

भाष्य

**अतिमात्रस्याऽपि परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यात् । अभिव्यज्यते किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वर उपासकानां कृते । प्रदेशविशेषेषु वा हृदयादिषूपलब्धिस्थानेषु विशेषेणाऽभिव्यज्यते । अतः परमेश्वरेऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरभिव्यक्तेरुपपद्यते इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २९ ॥**

भाष्यका अनुवाद

निःसीम परमेश्वरको प्रादेशमात्र कहना अभिव्यक्तिके निमित्त है । उपासकोंके निमित्त परमेश्वर प्रादेशमात्रपरिमाण अभिव्यक्त होता है। अथवा प्रदेशोंमें अर्थात् हृदय आदि उपलब्धिस्थानोंमें विशेषरूपसे अभिव्यक्त होता है । इसलिए परमेश्वरमें भी प्रादेशमात्र श्रुति अभिव्यक्तिके कारण संगत होती है, यह आश्मरथ्य आचार्यका मत है ॥ २९ ॥

---

रत्नप्रभा

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः । मात्राम्—परिमाणम् अतिक्रान्तोऽतिमात्रः तस्य विभोः इत्यर्थः । उपासकानां कृतेऽनुग्रहाय प्रादेशमात्रोऽभिव्यज्यते, प्रदेशेषु वा मीयतेऽभिव्यज्यते इति प्रादेशमात्रः ॥ २९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मात्रा अर्थात् परिमाण, जो परिमाणसे रहित होता है वह अतिमात्र कहलाता है, अतिमात्र अर्थात् व्यापक । सर्वव्यापक परमात्मा उपासकोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए प्रादेशमात्र अभिव्यक्त होता है । अथवा प्रदेशों—हृदय आदि स्थानोंमें अभिव्यक्त होता है, अतः प्रादेशमात्र कहलाता है ॥ २९ ॥

---

## अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

**पदच्छेद**—अनुस्मृतेः, बादरिः ।

**पदार्थोक्ति**—अनुस्मृतेः—प्रादेशमात्रहृदयस्थेन मनसा ध्यानात् [परमेश्वरः प्रादेशमात्र इत्युच्यते इति] बादरिः आचार्यः [ मन्यते ] ।

**भाषार्थ**—बादरि आचार्यका मत है कि प्रादेशमात्रपरिमाणवाले हृदयमें स्थित मनसे ध्येय होनेके कारण परमेश्वर प्रादेशमात्र कहलाता है ।

भाष्य

प्रादेशमात्रहृदयप्रतिष्ठेन वाऽयं मनसाऽनुस्मर्यते तेन प्रादेशमात्र इत्युच्यते। यथा प्रस्थमिता यवाः प्रस्था इत्युच्यन्ते, तद्वत्। यद्यपि च यवेषु स्वगतमेव परिमाणं प्रस्थसम्बन्धाद् व्यज्यते, न चेह परमेश्वरगतं किञ्चित् परिमाणमस्ति यद्धृदयसम्बन्धाद् व्यज्येत। तथापि प्रयुक्तायाः प्रादेशमात्रश्रुतेः सम्भवति यथाकथंचिदनुस्मरणमालम्बनमित्युच्यते। प्रादेशमात्रत्वेन वाऽयमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेशमात्रश्रुत्यर्थवत्तायै। एवमनुस्मृतिनिमित्ता परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिरिति बादरिराचार्यो मन्यते ॥ ३० ॥

भाष्यका अनुवाद

अथवा प्रादेशमात्र हृदयमें रहनेवाले मनसे ( परमेश्वरका ) स्मरण किया जाता है, इसलिए ( परमेश्वर ) प्रादेशमात्र कहलाता है। जैसे कि प्रस्थसे[1] नापे हुए यव प्रस्थ कहलाते हैं। यद्यपि यवोंका ही परिमाण प्रस्थके संबन्धसे अभिव्यक्त होता है और यहां परमेश्वरका कुछ भी परिमाण नहीं है जो हृदयके संबन्धसे व्यक्त हो, तो भी ( परमेश्वरका ) ध्यान, प्रयुक्त हुई प्रादेशमात्र श्रुतिका किसी प्रकारसे आलम्बन हो सकता है, इसलिए ऐसा कहा है। अथवा प्रादेशमात्र श्रुतिके सार्थक होनेके लिए प्रादेशमात्र न होनेपर भी उस परमेश्वरका प्रादेशमात्ररूपसे स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार प्रादेशमात्र श्रुति परमेश्वरके ध्यानके निमित्त है, यह बादरि आचार्यका मत है ॥ ३० ॥

रत्नप्रभा

मतान्तरमाह—अनुस्मृतेरिति। प्रादेशेन मनसा मितः प्रादेशमात्र इत्यर्थः। यथाकथञ्चिदिति। मनःस्थं प्रादेशमात्रत्वं स्मृतिद्वारा स्मर्यमाणे कल्पितं श्रुतेरालम्बनमित्यर्थः। सूत्रस्याऽर्थान्तरमाह—प्रादेशेति ॥ ३० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मतान्तर कहते हैं—"अनुस्मृतेः" इत्यादिसे। प्रादेश परिमाण मनसे नापा हुआ प्रादेशमात्र कहलाता है। "यथाकथञ्चित्"—तात्पर्य यह है कि मनमें स्थित प्रादेशमात्रत्व स्मृतिद्वारा स्मर्यमाण परमेश्वरमें कल्पित होकर श्रुतिका आलम्बन—आश्रय है। सूत्रका दूसरा अर्थ कहते हैं—"प्रादेश" इत्यादिसे ॥३०॥

(१) "अष्टमुष्टिर्भवेत् कुञ्चिः कुञ्चयोऽष्टौ तु पुष्कलम्। पुष्कलानि च चत्वारि आढकः परिकीर्तितः॥" इस मतके अनुसार २५६ मुष्टिका एक आढक होता है, उसका चतुर्थांश पुष्कल प्रस्थ कहलाता है। किसीके मतमें १०२४ मुष्टिका एक आढक होता है, उसका चतुर्थांश २५६ मुष्टिका एक प्रस्थ होता है। "द्वादशप्रसृतिभिः कुडवः, तच्चतुर्गुणः प्रस्थः" अर्थात् ४८ प्रसृति—अर्धाञ्जलिका एक प्रस्थ होता है।

## सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥ ३१ ॥

**पदच्छेद**—सम्पत्तेः, इति, जैमिनिः, तथाहि, दर्शयति ।

**पदार्थोक्ति**—सम्पत्तेः—मूर्धादिचुबुकान्तप्रादेशमात्रस्थाने सम्पत्त्या वैश्वानरस्योपास्यत्वात् [ परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वम् ] इति जैमिनिः आचार्यः मनुते । तथाहि दर्शयति—वाजसनेयिब्राह्मणमपि वैश्वानरस्य प्रादेशमात्रत्वसम्पत्तिं व्यपदिशति ।

**भाषार्थ**—मस्तकसे लेकर ठोड़ी तक प्रादेशमात्र स्थानमें सम्पत्तिसे वैश्वानर उपास्य है, अतः परमेश्वर प्रादेशमात्र कहलाता है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। वाजसनेयिब्राह्मण भी मस्तक आदि ठोड़ी पर्यन्त स्थानमें वैश्वानरकी संपत्तिका प्रतिपादन करता है ।

*भाष्य*

**सम्पत्तिनिमित्ता वा स्यात् प्रदेशमात्रश्रुतिः । कुतः ? तथाहि—समानप्रकरणं वाजसनेयिब्राह्मणं द्युप्रभृतीन् पृथिवीपर्यन्तांस्त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्याऽवयवानध्यात्ममूर्धप्रभृतिषु चुबुकपर्यन्तेषु देहावयवेषु सम्पादयत् प्रादेशमात्रसम्पत्तिं परमेश्वरस्य दर्शयति—'प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः**

*भाष्यका अनुवाद*

अथवा प्रादेशमात्र श्रुति सम्पत्तिनिमित्तक हो सकती है, क्योंकि समानप्रकरणवाला वाजसनेयिब्राह्मण द्युलोकसे लेकर पृथिवीपर्यन्तत्रैलोक्यस्वरूप वैश्वानरके अवयवोंको अध्यात्म मस्तकसे चुबुकतक देहके अवयवोंमें संपन्न करता हुआ परमेश्वरकी प्रादेशमात्र संपत्ति दिखलाता है—'प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः०' ( पहले देवताओंने अपरिच्छिन्न ईश्वरको भी संपत्तिसे प्रादेशमात्रके

---

*रत्नप्रभा*

सम्प्रति श्रुत्युक्तां प्रादेशमात्रश्रुतेर्गतिमाह—**सम्पत्तेरिति** । ब्राह्मणं पठति—**प्रादेशमात्रमिवेति** । अपरिच्छिन्नमपि ईश्वरं प्रादेशमात्रत्वेन सम्पत्त्या कल्पितं

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

अब प्रादेशमात्र श्रुतिका श्रुतिसे ही समर्थन करते हैं—"सम्पत्तेः" इत्यादिसे । ब्राह्मणवाक्यको उद्धृत करते हैं—"प्रादेशमात्रमिव" इत्यादिसे । परमेश्वर यद्यपि अपरिच्छिन्न—अनन्त है, तो भी संपत्तिसे उसमें प्रादेशमात्रत्वकी कल्पना करके पूर्वकालमें देवताओंने

भाष्य

सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा नु व एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्र-मेवाभिसंपादयिष्यामीति स होवाच, मूर्धानमुपदिशन्नुवाच एष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति। चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति। नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति। मुख्यमाकाश-

भाष्यका अनुवाद

समान जानकर प्राप्त किया। जैसे मैं वैश्वानरको प्रादेशमात्र संपन्न कर सकूं, वैसे उनको ( द्युलोक आदि अवयवोंको ) कहूँगा, ऐसा उसने कहा। मस्तकका उपदेश करके उसने कहा—निश्चय यह मेरा मस्तक भूरादि लोकोंसे अतिक्रान्त हुआ द्युलोक वैश्वानर है। आंखोंका उपदेश करके कहा—निश्चय यह पुष्कल तेजवाला वैश्वानर है। नासिकाका उपदेश करके कहा—निश्चय यह भिन्न भिन्न गति-

रत्नप्रभा

सम्यग् विदितवन्तो देवाः तमेवेश्वरम् अभि-प्रत्यक्त्वेन सम्पन्नाः—प्राप्तवन्तः ह वै पूर्वकाले, ततः वः युष्मभ्यं तथा द्युप्रभृतीनवयवान् वक्ष्यामि, यथा प्रादेशमात्रं प्रादेशपरिमाणमनतिक्रम्य मूर्धाद्यध्यात्माङ्गेषु वैश्वानरं सम्पादयिष्यामि इति प्राचीन-शालादीन् प्रति राजा प्रतिज्ञाय स्वकीयमूर्धानमुपदिशन्—करेण दर्शयन् उवाच—एष वै मे मूर्धा भूरादीन् लोकानतीत्य उपरि तिष्ठतीति अतिष्ठा असौ द्युलोको वैश्वानरः। तस्य मूर्धेति यावत्। अध्यात्ममूर्धाभेदेन अधिदैवमूर्धा सम्पाद्य ध्येय इत्यर्थः। एवं चक्षुरादिषु ऊहनीयम्। स्वकीयचक्षुषी दर्शयन् एष वै सुतेजाः सूर्यो वैश्वानरस्य चक्षुरिति उवाच। नासिकापदेन तन्निष्ठः प्राणो लक्ष्यते, तस्मिन्ना-ध्यात्मिकप्राणेऽधिदैवप्राणस्य वायोर्दृष्टिमाह—**नासिके इति**। अत्र सर्वत्र वैश्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया था और उसी ईश्वरको प्रत्यक्स्वरूपसे—प्रत्यगात्मरूपसे प्राप्त किया था, इसलिए तुमसे उसके द्युलोक आदि अवयव वैसे कहूँगा कि जैसे प्रादेशके बराबर शरीरके मस्तक आदि अंगोंमें वैश्वानरका सम्पादन कर सकूँगा। इस प्रकार अश्वपति राजा प्राचीनशाल आदिसे प्रतिज्ञा करके अपने मस्तककी ओर हाथसे इशारा करता हुआ बोला कि यह मेरा मस्तक भूरादि लोकोंके ऊपर स्थित है, अतः यह द्युलोक वैश्वानर है अर्थात् वैश्वानरका मस्तक है। आशय यह कि अध्यात्म मस्तकका, अधिदैव मस्तकके साथ संपत्तिसे अभेद करके, ध्यान करना चाहिए। इसी प्रकार चक्षु आदिमें भी समझना चाहिए। अपने नेत्रको दिखलाकर कहा कि यही पुष्कल तेजवाला सूर्य वैश्वानरका नेत्र है। लक्षणासे नासिका शब्दका अर्थ उसमें रहनेवाला प्राण समझना चाहिए। "नासिके" इत्यादिसे कहते हैं कि

भाष्य

मुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति। मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति। चुबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति'। चुबुकमित्यधरं मुखफलकमुच्यते। यद्यपि वाजसनेयके द्यौरतिष्ठात्वगुणा समाम्नायते, आदित्यश्च सुतेजस्त्वगुणः। छान्दोग्ये पुनर्द्यौः सुतेजस्त्वगुणा समाम्नायते, आदित्यश्च विश्वरूपत्वगुणः। तथापि नैतावता

भाष्यका अनुवाद

स्वरूप वैश्वानर है। मुखस्थ आकाशको बताकर कहा—निश्चय यह बहुल—व्यापक वैश्वानर है। मुखस्थ जलको बताकर कहा—निश्चय यह रयिस्वरूप वैश्वानर है। चुबुकको बताकर कहा—निश्चय यह प्रतिष्ठास्वरूप वैश्वानर है) चुबुक अर्थात् नीचे का मुखफलक। यद्यपि वाजसनेयकमें द्युलोकको अतिष्ठात्व गुणवाला कहा है और आदित्यको सुतेजस्त्व गुणवाला कहा है, तथा छान्दोग्यमें द्युलोकको सुतेजस्त्व गुणवाला और आदित्यको विश्वरूपत्व गुणवाला कहा है, तो भी इतने विशेषसे कुछ हानि नहीं होती, क्योंकि प्रादेशमात्र श्रुति

---

रत्नप्रभा

नरशब्दः तदङ्गपरः। मुखस्थं—मुख्यं तस्मिन्नधिदैवं बहुलाकाशदृष्टिः, मुखस्थलालारूपासु अप्सु रयिशब्दिततदीयवस्तिस्थोदकदृष्टिः, चुबुके प्रतिष्ठा पादरूपा पृथिवी द्रष्टव्या। ननु गुणवैषम्येण विद्ययोः भेदादग्निरहस्यश्रुत्यनुसारेण छान्दोग्यस्थप्रादेशमात्रश्रुतिः कथं व्याख्येयेत्याशङ्क्याऽऽह—**यद्यपीत्यादिना**। एतावता अल्पवैषम्येण बहुतरप्रत्यभिज्ञासिद्धं विद्यैक्यं न हीयते। शाखाभेदेऽपि सर्वेशा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आध्यात्मिक प्राणमें वैश्वानरके अधिदैव प्राणवायुकी दृष्टि करनी चाहिए। मुखस्थ अध्यात्म आकाशमें अधिदेव आकाशकी दृष्टि करनी चाहिए। मुखस्थ लाररूप अध्यात्म जलमें वैश्वानरकी वस्तिमें स्थित अधिदैव जलकी दृष्टि करनी चाहिए। अध्यात्म चिबुकमें प्रतिष्ठा—पादरूप पृथिवीकी दृष्टि करनी चाहिए। परन्तु द्युलोक आदिके गुणोंमें विषमता होनेसे छान्दोग्यगत और वाजसनेयकगत विद्याओंमें भेद है, इसलिये वाजसनेयकके अनुसार छान्दोग्यमें प्रादेशमात्र श्रुतिका व्याख्यान कैसे किया जाय ? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादि। थोड़ीसी विषमताके कारण प्रचुरसादृश्यसे सिद्ध विद्याका ऐक्य नष्ट नहीं होता। शाखाभेद होनेपर भी सब शाखाओंमें विद्यमान वैश्वानर आदिकी

भाष्य

विशेषेण किञ्चिद्धीयते, प्रादेशमात्रश्रुतेरविशेषात्, सर्वशाखाप्रत्ययत्वाच्च। संपत्तिनिमित्तां प्रादेशमात्रश्रुतिं युक्ततरां जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

समान ही है और सब शाखाओंमें प्रतीयमान वैश्वानरकी उपासना समान है। अतः प्रादेशमात्र श्रुतिको संपत्तिनिमित्तक कहना ही विशेष युक्त है, यह जैमिनि आचार्यका मत है ॥ ३१ ॥

---

रत्नप्रभा

खासु प्रतीयमानं वैश्वानराद्युपासनम् एकमिति न्यायस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च। अतिष्ठात्वगुणः छान्दोग्ये उपसंहर्तव्यः। विश्वरूपत्वगुणश्च वाजिभिर्ग्राह्यः। तथा च द्युसूर्ययोः सुतेजस्त्वं समम् अतिष्ठात्वविश्वरूपत्वयोः व्यवस्था। यद्वा, शाखाभेदेन गुणव्यवस्थाऽस्तु, न विद्याभेद इति भावः ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपासना एक ही है, यह न्याय गुणोपसंहाराधिकरणमें कहा जायगा। अतिष्ठात्वगुणका उपसंहार छान्दोग्यमें करना चाहिए। वाजसनेयकमें विश्वरूपत्वगुणका उपसंहार करना चाहिए। इस प्रकार परस्परोपसंहारसे द्यु और सूर्यमें सुतेजस्त्वगुण उपपन्न होता है और अतिष्ठात्व तथा विश्वरूपत्वकी व्यवस्था भी होती है। अथवा शाखाभेदसे गुणकी व्यवस्था भले ही हो, किन्तु विद्याभेद नहीं है ऐसा तात्पर्य है ॥३१॥

## आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

**पदच्छेद**—आमनन्ति, च, एनम्, अस्मिन्।

**पदार्थोक्ति**—एनम्—परमेश्वरम्, अस्मिन्—मूर्धचिबुकान्तराले, आमनन्ति च—उपास्यं ब्रुवन्ति जाबालाः।

**भाषार्थ**—जाबाल कहते हैं कि मस्तक और ठोड़ीके बीचमें परमेश्वरकी उपासना करनी चाहिए।

*भाष्य*

आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन् मूर्धचुबुकान्तराले जाबालाः—'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति'। तत्र चेमामेव नासिकां या सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि वारयतीति—सा वरणा, सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयतीति—सा नासीति वरणा नासीति निरुच्य पुनरामनन्ति—

*भाष्यका अनुवाद*

जाबाल मस्तक और चिबुकके मध्यमें परमेश्वरका स्थान कहते हैं—'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त०' ( जो अनन्त, अव्यक्त आत्मा है वह जीवमें प्रतिष्ठित है। जीव किसमें प्रतिष्ठित है? वरणा और नासीके मध्यमें प्रतिष्ठित है। वरणा और नासी क्या हैं? ) और वहां इस भ्रूसहित नासिकाका ही वरणा नासी ऐसा निर्वचन करके जो इन्द्रियकृत सब पापोंका वारण करती है वह वरणा है और इन्द्रियकृत सब पापोंका नाश

---

*रत्नप्रभा*

प्रादेशत्वस्य सम्पत्तिप्रयुक्तत्वे श्रुत्यन्तरं संवादयति—आमनन्तीति। य एषोऽनन्तः अपरिच्छिन्नः अतः अव्यक्तो दुर्विज्ञेयः तं कथं जानीयाम् इति अत्रेः प्रश्ने याज्ञवल्क्यस्य उत्तरम्—स ईश्वरः अविमुक्ते कामादिभिर्बद्धे जीवे भेदकल्पनया प्रतिष्ठितः उपास्यः। पुनरत्रिप्रश्नः—स इति। उत्तरम्—वरणायामिति। एवं प्रश्नोत्तरे अग्रेऽपि ज्ञेये। तत्र च श्रुतौ इमामेव भ्रूसहितां नासिकां निरुच्येति भाष्ययोजना। सर्वानिन्द्रियकृतान् दोषान् वारयतीति वरणा भ्रूः। सर्वान् दोषान् नाशयतीति नासी नासिकेति निर्वचनं श्रुतम्। नासाभ्रुवोः जीवद्वारा ईश्वरस्थानत्व-

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

संपत्तिसे प्रादेशत्वकी कल्पना है, इसमें दूसरी श्रुतिकी सम्मति दिखलाते हैं—"आमनन्ति" इत्यादिसे। जो यह प्रसिद्ध अनन्त—अपरिच्छिन्न अत एव अव्यक्त—दुर्विज्ञेय आत्मा है, उसको किस प्रकार जानें, अत्रिके इस प्रश्नपर याज्ञवल्क्यका उत्तर है—वह ईश्वर अविमुक्त—काम आदिसे बद्ध जीवमें भेदकल्पनासे प्रतिष्ठित है, उसकी उपासना करनी चाहिए। "सः" इत्यादि अत्रिका फिर प्रश्न है। "वरणायाम्" इत्यादि उसका उत्तर है। इस प्रकारके प्रश्नोत्तर आगे भी समझने चाहिएँ। और वहाँ अर्थात् श्रुतिमें इसी भ्रूसहित नासिकाका निर्वचन करके, ऐसी भाष्यकी योजना करनी चाहिए। जो सब इन्द्रियकृत दोषोंका वारण करती है वह वरणा—भ्रू है और जो सब इन्द्रिय-दोषोंका नाश करती है वह नासी—नासिका है,

भाष्य

'कतमच्चास्य स्थानं भवतीति, भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्युलोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति' (जाबा० १)। तस्मादुपपन्ना परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिः। अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया। प्रत्यगात्मतया सर्वैः प्राणिभिरभिविमीयत इत्यभिविमानः। अभिगतो वायं प्रत्यगात्मत्वाद्विमानश्च मानवियोगादित्यभिविमानः। अभिविमिमीते

भाष्यका अनुवाद

करती है वह नासी है ऐसा कहकर फिर कहते हैं—'कतमच्चास्य स्थानं०' ( उसका कौन-सा स्थान है ? भौं और नासिकाकी जो संधि है वह इस द्युलोक और परलोककी संधि है )। इसलिए परमेश्वरमें प्रादेशमात्र श्रुति युक्त है। अभिविमान श्रुति प्रत्यगात्माके अभिप्रायसे है। प्रत्यगात्मरूपसे सब प्राणियोंको जिसका ज्ञान हो वह अभिविमान है। अथवा प्रत्यगात्मरूपसे सर्वव्यापक तथा विमान—मानरहित होनेके कारण वह अभिविमान है। अथवा सब जगत्‌का

रत्नप्रभा

ध्यानात् पापवारकत्वमिति मन्तव्यम्। तयोर्मध्येऽपि विशिष्य जीवस्य स्थानं पृच्छति—**कतमदिति**। भ्रुवोरिति उत्तरम्। प्राणस्येति पाठेऽपि घ्राणस्येत्यर्थः। स एष सन्धिः द्युलोकस्य स्वर्गस्य परस्य च ब्रह्मलोकस्य सन्धित्वेन ध्येय इत्याह—**स एष इति**। आभिमुख्येनाऽहं ब्रह्मेति विमीयते ज्ञायते इति अभिविमानः—प्रत्यगात्मा। अभिगतश्चासौ विमानश्च सर्वस्वरूपत्वे सति आनन्त्यात्। मानमत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार उस श्रुतिमें वरणा और नासीका निर्वचन है। जीवद्वारा ईश्वरस्थान होनेके कारण ईश्वरस्थानत्वेन ध्यान करनेसे नासिका और भ्रू पापनिवारक हैं। उनके बीचमें भी जीवका विशिष्ट स्थान पूछते हैं—"कतमत्" इत्यादिसे। उत्तर है—"भ्रुवोः" इत्यादि। 'घ्राणस्य' के स्थानमें यदि 'प्राणस्य' पाठ हो, तो भी यही अर्थ है। नासिका और भ्रूकी संधिके स्थानका द्युलोक—स्वर्गलोक और परलोक—ब्रह्मलोकके संधिस्थानरूपसे ध्यान करे, ऐसा कहते हैं—"स एष" इत्यादिसे। जो 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे अपरोक्ष ज्ञानका विषय हो, वह अभिविमान—प्रत्यगात्मा है। अथवा अभि अर्थात् अभिगत—प्राप्त और विमान—परिमाणरहित, आत्मा सर्वस्वरूप और अनन्त होनेके कारण प्राप्त तथा परिमाणरहित है। यहाँपर

भाष्य

वा सर्वं जगत्कारणत्वादित्यभिविमानः । तस्मात् परमेश्वर एव वैश्वानर इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

कारण होनेसे वह सबका निर्माता है इसलिए अभिविमान है। इससे सिद्ध हुआ कि वैश्वानर परमेश्वर ही है ॥ ३२ ॥

*यतिवर श्रीभोलेबाबा कृत प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके भाष्यका अनुवाद समाप्त।*

---

रत्नप्रभा

परिमाणम् । अभिविमिमीते—निर्मिमीते । तस्माद् वैश्वानरवाक्यमुपास्ये ब्रह्मणि समन्वितमिति सिद्धम् ॥ ३२ ॥ ( ७ ) ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीरामानन्दसरस्वतीकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसादर्शन-
भाष्यव्याख्यायां भाष्यरत्नप्रभायां प्रथमाध्यायस्य
द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ १ ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'मान' का अर्थ परिमाण है। अथवा जो सबका निर्माण करे वह अभिविमान है। इससे सिद्ध हुआ कि वैश्वानरवाक्यका उपास्य ब्रह्ममें समन्वय है ॥३२॥

※ यतिवर श्रीभोलेबाबा कृत प्रथमाध्यायके द्वितीय पादका रत्नप्रभानुवाद समाप्त ※
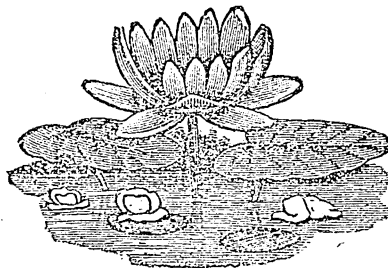
* ॐ नमः परमात्मने *

# प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ।

[अत्राऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गानां प्रायो ज्ञेयब्रह्मविषयाणां विचारः।]

## [ १ द्युभ्वाद्यधिकरण सू० १–७ ]

सूत्रं प्रधानं भोक्तेशो द्युभ्वाद्यायतनं भवेत् ।
श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभ्यां भोक्तृत्वाच्चेश्वरेतरः ॥१॥
नाद्यौ पक्षावात्मशब्दान्न भोक्ता मुक्तगम्यतः ।
ब्रह्मप्रकरणादीशः सर्वज्ञत्वादितस्तथा ॥२॥

### [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'यस्मिन् द्यौः पृथिवी०' इत्यादि श्रुतिमें उक्त द्युलोक, भूलोक आदिका आधार सूत्रात्मा [ हिरण्यगर्भ ] है, अथवा प्रधान है, अथवा जीव है या परमेश्वर है ?

**पूर्वपक्ष**—श्रुतिप्रसिद्धि, स्मृतिप्रसिद्धि और आत्मशब्दसे मालूम होता है कि ईश्वरको छोड़कर सूत्रात्मा या प्रधान अथवा जीव द्यु, भू आदिका आधार है ।

**सिद्धान्त**—श्रुतिमें आत्मशब्द है, इससे सूत्रात्मा या प्रधान द्यु, भू आदिका आधार नहीं हो सकते हैं । जीव भी नहीं हो सकता है, क्योंकि उक्त आधार मुक्त पुरुषोंसे प्राप्य कहा गया है, यह प्रकरण ब्रह्मका है तथा सर्वज्ञत्व आदि धर्म ब्रह्ममें ही युक्त हो सकते हैं, अतः ब्रह्म ही द्यु, भू आदिका आधार है ।

---

मुण्डकोपानिषद्में "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चाऽन्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथाऽऽत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः" यह श्रुति है । इसका अर्थ है कि जिसमें द्युलोक, पृथिवी, आकाश, मन और सब इन्द्रियाँ आश्रित हैं, उस एक आधारको ही आत्मा जानो, आश्रित द्यु, पृथिवी आदिको नहीं । अनात्मप्रतिपादक तर्कशास्त्र आदि वाणियोंको छोड़ो, क्योंकि वे पुरुषार्थप्रद नहीं हैं, यही ब्रह्मका प्रापक है ।

इसमें संशय होता है कि द्यु, भू आदिका आश्रय सूत्रात्मा है अथवा प्रधान है अथवा जीव है या ब्रह्म ?

यहां पूर्वपक्षी कहता है कि सबका आश्रय सूत्रात्मा है, क्योंकि "वायुना वै गौतम सूत्रेणायं लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति" ( हे गौतम ! सूत्रात्मा वायुसे ही यह लोक, पर लोक और सब भूत गूँथे गये हैं ) इस श्रुतिसे स्पष्ट मालूम होता है कि सूत्रात्मा वायु द्यु, भू आदिका आश्रय है । अथवा प्रधान आश्रय हो सकता है, क्योंकि सांख्यस्मृतिसे प्रधान सब पदार्थोंका आधार जाना जाता है । अथवा भोक्ता—जीव हो सकता है, क्योंकि "तमेवैकं जानथाऽऽत्मानम्" इसमें आत्मशब्द है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि वायु तथा प्रधान आधार नहीं हो सकते हैं, क्योंकि श्रुतिमें उक्त आत्मशब्दसे उनका बोध नहीं हो सकता है । जीव भी आधार नहीं हो सकता, क्योंकि

# द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

**पदच्छेद**—द्युभ्वाद्यायतनम्, स्वशब्दात् ।

**पदार्थोक्ति**—द्युभ्वाद्यायतनम्—'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' इत्यादिश्रुतौ प्रतीयमानं द्युभ्वादीनामधिष्ठानं [ब्रह्मैव, कुतः] स्वशब्दात्—परब्रह्मवाचकात्मशब्दस्य श्रुतौ विद्यमानत्वात् ।

**भाषार्थ**—'यस्मिन् द्यौः०' ( जिसमें द्युलोक, भूलोक, अन्तरिक्ष आदि कल्पित हैं ) इत्यादि श्रुतिमें प्रतीयमान द्युलोक, भूलोक आदिका आश्रय परब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्मका वाचक आत्मशब्द श्रुतिमें है ।

## रत्नप्रभा

द्युभ्वोतभूमपदमक्षरमीक्षणीयं श्रीराममल्पहृदि भान्तमधीशितारम् ।
इन्द्रादिवेद्यमखिलस्य च शासितारं ज्योतिर्नभःपदमनिद्रमजं भजेऽहम् ॥१॥

एवं रूढिपदबहुलानां प्रायेण सविशेषवाक्यानां समन्वयो द्वितीयपादे दर्शितः । अधुना यौगिकपदबहुलानां निर्विशेषप्रधानानां वाक्यानां समन्वयं वक्तुं तृतीयः

## रत्नप्रभाका अनुवाद

द्यु और भू आदि जिसमें ओत—गुंथे हुए हैं, भूमा—महान्, अक्षर-अविनाशी, साक्षात्करणीय, दहर—हृदयकमलमें भासित होनेवाले, अधीश्वर, इन्द्र आदि देवताओंके भी ध्येय, सबके शासक, ज्योति और आकाशपदवाच्य, सदा जागरूक और जन्मरहित श्रीरामचन्द्रजीका मैं ध्यान करता हूँ ।

दूसरे पादमें रूढपदप्रचुर सविशेष वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय दिखलाया गया है अब यौगिकपदप्रचुर निर्विशेषवाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय करनेके लिए तीसरा पाद प्रारम्भ होता है ।

---

"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" ( तब ब्रह्मज्ञानी पुण्यपापसे मुक्त हो कर परमात्माको प्राप्त करता है ) इस प्रकार द्यु, भू आदिका आधार मुक्त पुरुषोंसे प्राप्य कहा गया है, भोक्ता जीव मुक्तोंसे प्राप्य नहीं हो सकता है । "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" ( हे भगवन् ! किसके ज्ञात होनेपर यह सब विज्ञात हो जाता है ) इस प्रकार एकके ज्ञानसे सबके ज्ञानका उपक्रम है, "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" ( ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है ) इस प्रकार उपसंहार किया गया है, अतः यह* प्रकरण ब्रह्मका है एवं भूतयोन्यधिकरण ( १।२।६ ) में उक्त सर्वज्ञत्व आदि धर्म ब्रह्ममें ही संगत हो सकते हैं, इसलिए द्यु, भू आदिका आधार ब्रह्म ही है ।

भू आदिका आधार ब्रह्म ही है । इस तृतीय पादमें प्रतिपाद्य सब अधिकरणोंका सार इस श्लोकमें वर्णित है ।

( १ ) इस तृतीय पादमें प्रतिपाद्य सब अधिकरणोंका सार इस श्लोकमें वर्णित है ।
( २ ) सगुणब्रह्मप्रतिपादक । ( ३ ) निर्गुणब्रह्मप्रतिपादक ।

भाष्य

इदं श्रूयते—

'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥'

( मु० २।२।५ ) इति । अत्र यदेतद् द्युप्रभृतीनामोतत्ववचनादायतनं

भाष्यका अनुवाद

'यस्मिन् द्यौः पृथिवी०' (जिसमें द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष गुंथे हुए हैं और सब इन्द्रियोंके साथ मन भी जिसमें कल्पित है, उसी एकको आत्मा जानो,

रत्नप्रभा

पादः आरभ्यते । अतोऽत्र अधिकरणानां श्रुत्यध्यायपादसङ्गतयः । तत्र पूर्वमुपक्रमस्थसाधारणशब्दस्य वाक्यशेषस्थद्युमूर्द्धत्वादिना ब्रह्मपरत्वमुक्तम् । तद्वद् अत्रापि उपक्रमस्थसाधारणायतनत्वस्य वाक्यशेषस्थसेतुश्रुत्या वस्तुतः परिच्छिन्ने प्रधानादौ व्यवस्था इति दृष्टान्तलक्षणाधिकरणसङ्गतिः । पूर्वपक्षे प्रधानाद्युपास्तिः, सिद्धान्ते निर्विशेषब्रह्मधीरिति फलम् । मुण्डकवाक्यमुदाहरति—**इदमिति** । यस्मिन् लोकत्रयात्मा विराट् प्राणैः सर्वैः सह मनः—सूत्रात्मकम्, चकाराद् अव्याकृतं कारणम् ओतम् कल्पितं तदपवादेन तमेव अधिष्ठानात्मानं प्रत्यगभिन्नं जानथ श्रवणादिना, अन्याः अनात्मवाचो विमुञ्चथ विशेषेण निश्शेषं त्यजथ, एषः—वाग्विमोकपूर्वकात्मसाक्षात्कारः, अमृतस्य—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस पादमें वेदान्तवाक्योंका समन्वय किया गया है, अतः इस पादके अधिकरणोंकी श्रुति, अध्याय और पादके साथ संगतियां हैं। जैसे पूर्वाधिकरणमें उपक्रमस्थ साधारणशब्द[1] वाक्यशेषस्थ द्युमूर्धत्व आदिके बलसे ब्रह्मपरक कहा गया है, उसी प्रकार यहां भी उपक्रमस्थ साधारण आयतनत्व वाक्यशेषमें आये हुए सेतुशब्दके श्रवणसे परिच्छिन्न प्रधानादिपरक हैं ऐसा पूर्वपक्ष है, अतः पूर्वाधिकरणसे इस अधिकरणकी दृष्टान्तसंगति है। पूर्वपक्षमें प्रधान आदिकी उपासना फल है और सिद्धान्तमें निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान फल है। मुण्डकवाक्यको उद्धृत करते हैं—"इदम्" इत्यादिसे। जिसमें सकलजगत्स्वरूप विराट्, सब प्राणोंके साथ सूक्ष्म मन, और चकारसे अव्याकृत कारण कल्पित हैं, उन कल्पित पदार्थोंका अपवाद करके उसी अधिष्ठानभूतको श्रवणादिसे आत्मा जानो अर्थात् प्रत्यगात्मासे अभिन्न जानो और अन्य अनात्माओंका प्रतिपादन करनेवाली बातोंको बिलकुल छोड़ दो। इस प्रकार अनात्म-बातोंके त्यागपूर्वक हुआ आत्मसाक्षात्कार असार, अपार और दुर्वार संसार-

( १ ) ब्रह्म और जाठराग्नि आदिमें समान भावसे लागू होनेवाले वैश्वानर, अग्नि आदि शब्द।

*भाष्य*

किञ्चिदवगम्यते, तत् किं परं ब्रह्म स्यादाहोस्विदर्थान्तरमिति सन्दिह्यते।

तत्राऽर्थान्तरं किमप्यायतनं स्यादिति प्राप्तम्। कस्मात्? 'अमृतस्यैष सेतुः' इति श्रवणात्। पारवान् हि लोके सेतुः प्रख्यातः। न च

*भाष्यका अनुवाद*

अन्य बातोंको छोड़ो, वह मोक्षका सेतु है) ऐसी श्रुति है। यहां द्युलोक आदि कल्पित हैं इस कथनसे उनका कोई एक आश्रय प्रतीत होता है, वह परब्रह्म है या कोई अन्य पदार्थ है, इस तरह सन्देह होता है।

पूर्वपक्षी—कोई अन्य पदार्थ ही उनका आश्रय है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि श्रुति कहती है कि 'अमृत०' (यह अमृत का सेतु है)। यह प्रसिद्ध है कि लोकमें सेतु परतीरसे संबद्ध—मर्यादित होता है। परब्रह्म मर्यादित

---

*रत्नप्रभा*

मोक्षस्य असारापारदुर्वारसंसारवारिधेः परपारस्य सेतुरिव सेतुः—प्रापक इति मातृवत् श्रुतिः मुमुक्षूनुपदिशति। तत्र आयतनत्वस्य साधारणधर्मस्य दर्शनात् संशयमाह—**तत्किमिति**। अमृतस्य—ब्रह्मणः सेतुरिति षष्ठ्या ब्रह्मणो भिन्नत्वेन सेतोः श्रुतत्वाद् एषशब्दपरामृष्टं द्युभ्वाद्यायतनम् अब्रह्मैव सेतुरिव सेतुरित्याह—**अमृतस्येति**। भेदश्रवणात्, सेतुरिति श्रवणाच्च इत्यर्थः। तत्र भेदश्रवणं व्याख्यातम्। सेतुश्रवणं स्वयं विवृणोति—**पारवानिति**। अनन्तं कालतः, अपारं देशतः। जलविधारकमुख्यसेतोः ग्रहणासम्भवाद् गौणसेतुग्रहे कर्तव्ये मुख्यसेत्वविनाभूतपारवत्त्वगुणवानेव कश्चिद् ग्राह्यः, न तु मुख्यस्य अनियतविधारणगुणवान्

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

सागरका सेतुकी तरह परपार—मोक्षको प्राप्त करानेवाला है, इस तरह श्रुति माताके समान मुमुक्षुओंको उपदेश करती है। इस श्रुतिमें आयतनत्वरूप साधारण धर्म दिखाई देता है, इसलिए संशय दर्शाते हैं—"तत्किम्" इत्यादिसे। 'अमृतस्य—ब्रह्मणः सेतुः' इस षष्ठीसे सेतु ब्रह्मसे भिन्न प्रतीत होता है, इस कारण 'एषः' शब्दसे परामृष्ट द्युलोक आदिका आयतन अब्रह्म ही सेतुसदृश सेतु है ऐसा "अमृतस्य" इत्यादिसे कहते हैं। 'अमृतस्य' (अमृतका) इस प्रकार भेदका श्रवण है और 'सेतुः' पदका श्रवण है, इसलिए ऐसी योजना करनी चाहिए। सेतु ब्रह्मसे किस प्रकार भिन्न है, इसका व्याख्यान किया गया। सम्प्रति सेतुश्रुतिका स्वयं व्याख्यान करते हैं—"पारवान्" इत्यादिसे। अनन्त—कालसे अपरिच्छिन्न। अपार—देशसे अपरिच्छिन्न। जलविधारक मुख्य सेतुका ग्रहण असंभव होनेसे गौण सेतुके ग्रहणमें मुख्य सेतुसे नित्यसंबद्ध पारवत्त्व गुणवाले किसी पदार्थका ग्रहण करना

भाष्य

परस्य ब्रह्मणः पारवत्त्वं शक्यमभ्युपगन्तुम्, 'अनन्तमपारम्' (बृ० २।४।१२) इति श्रवणात्। अर्थान्तरे चाऽऽयतने परिगृह्यमाणे स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानं परिग्रहीतव्यम्, तस्य हि कारणत्वादायतनत्वोपपत्तेः। श्रुतिप्रसिद्धो वा वायुः स्यात्, 'वायुर्वै गौतम तत् सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणाऽयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति' (बृ० ३।७।२)

भाष्यका अनुवाद

नहीं माना जा सकता, क्योंकि श्रुति कहती है—'अनन्त०' ( वह अनन्त एवं अपार है )। अन्य पदार्थको आश्रय मानना अभीष्ट हो तो स्मृतिप्रसिद्ध प्रधान-का स्वीकार करना उचित है, क्योंकि वह कारण होनेसे सबका आश्रय हो सकता है। अथवा श्रुतिप्रसिद्ध वायु आश्रय हो सकता है, क्योंकि 'वायुर्वै गौतम०' ( हे गौतम! वायु ही वह सूत्र है, हे गौतम! वायुरूप सूत्रसे ही यह लोक, पर लोक और सब भूत गुंथे हुए हैं ) इस प्रकार श्रुतिमें वायु भी

रत्नप्रभा

ईश्वर इति भावः। यथा लोके मणयः सूत्रेण ग्रथिता एवं हे गौतम समष्टि-लिङ्गात्मकवायुना स्थूलानि सर्वाणि संदृब्धानि ग्रथितानि भवन्तीति श्रुत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए, परन्तु मुख्यका जो अनियत[1] विधारणरूप गुण है, उस गुणवाले ईश्वरका ग्रहण करना युक्त नहीं है, यह पूर्वपक्षका तात्पर्य है[2]। जैसे लोकमें मणियां सूतमें गुंथी रहती हैं, वैसे ही हे गौतम! समष्टिलिङ्गात्मक वायुमें सब स्थूल पदार्थ गुंथे

(१) मुख्य सेतुका पारवत्त्व नियत लिङ्ग है विधारण अनियत है क्योंकि अदृढ़ सेतुमें विधारण नहीं रहता है।

(२) यदि अमृतसे भिन्न पारवत्त्व गुणवाला सेतु माना जाय तो सांख्यस्मृतिकल्पित प्रधानको ही सेतु मानना उचित है। वह अपनी कार्यरूप उपाधिसे मर्यादित होनेके कारण पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए पारवाला है और द्युलोक, भूलोक आदिका आयतन भी है, क्योंकि उनकी प्रकृति है। प्रकृति विकारोंकी आयतन होती ही है। प्रधान आत्मा भी है, क्योंकि आत्मशब्द स्वभाववाचक है जैसे 'प्रकाशात्मा प्रदीप' इसमें स्पष्ट है। उसी प्रकार प्रधानका ज्ञान भी मोक्षमें उपयोगी है, क्योंकि उसका ज्ञान न हो तो 'प्रधानसे पुरुष भिन्न है' यह ज्ञान न होनेसे अपवर्ग प्राप्त नहीं होगा। यदि प्रमाणके अभावसे प्रधानको आयतन आदि माननेमें परितोष न हो तो नामरूपके बीज ईश्वरके शक्तिभूत अव्याकृत भूतसूक्ष्मको आयतन मानो। भूतसूक्ष्म प्रमाणगम्य है, अतः उसमें सब सम्भव हो सकते हैं। यदि साक्षात् श्रुतिके कहे हुए आयतनका ही स्वीकार करते हो, तो वायुर्वै०' इत्यादि श्रुतिके अनुसार वायुको स्वीकार करो, यह तात्पर्य है।

भाष्य

इति वायोरपि विधारणत्वश्रवणात्। शारीरो वा स्यात्, तस्याऽपि भोक्तृत्वाद् भोग्यं प्रपञ्चं प्रत्यायतनत्वोपपत्तेरिति।

एवं प्राप्त इदमाह—द्युभ्वाद्यायतनमिति। द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ, द्युभुवावादी यस्य तदिदं द्युभ्वादि। यदेतदस्मिन् वाक्ये द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्मकं जगदोतत्वेन निर्दिष्टं तस्याऽऽयतनं परं ब्रह्म भवितुमर्हति। कुतः? स्वशब्दात्, आत्मशब्दादित्यर्थः। आत्मशब्दो हीह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति। आत्मशब्दश्च परमात्मपरिग्रहे सम्यगवकल्पते,

भाष्यका अनुवाद

विधारक कहा गया है। अथवा जीव आश्रय हो सकता है, क्योंकि वह भी भोक्ता होनेसे भोग्य प्रपंचका आयतन हो सकता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'द्युभ्वाद्यायतनम्' इत्यादि। द्युलोक और भूलोक 'द्युभुवौ' हैं। वे जिसके आदि हैं, वह द्युभ्वादि है। इस वाक्यमें ('यस्मिन् द्यौः' इत्यादि वाक्यमें) द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष, मन, प्राण आदि स्वरूप जो जगत् गुंथा कहा गया है, उसका आश्रय परब्रह्म ही हो सकता है; क्योंकि स्वशब्दसे अर्थात् आत्मशब्दसे। यहां 'तमेवैकं०' (उस एकको ही आत्मा जानो) इस श्रुतिमें आत्मशब्दका प्रयोग है और आत्मशब्द

---

रत्नप्रभा

आत्मशब्दात् पक्षद्वयमपि अयुक्तम् इत्यत आह—**शारीरो वेति**। सद्वितीयत्वेन सेतुशब्दोपपत्तेश्च इत्यर्थः।

ननु आत्मशब्दो जीवे सम्भवतीत्यत आह—**आत्मशब्दश्चेति**। उपाधिपरिच्छिन्नस्य जीवस्य सर्ववस्तुप्रत्यक्त्वं मुख्यं नास्तीत्यर्थः। उपक्रमस्थसाधारणायतनत्वस्य गौणसेतुत्वलिङ्गात् प्रथमश्रुतात्मश्रुत्या ब्रह्मत्वनिश्चय इति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

हुए हैं, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। श्रुतिमें आत्मशब्द है, अतः प्रधान या वायु द्युलोक आदिका आयतन नहीं हो सकता है, इसपर कहते हैं—"शारीरो वा" इत्यादि। सद्वितीय होनेके कारण शारीरमें सेतुशब्द भी उपपन्न होता है।

आत्मशब्द तो जीवमें संभव है, इस शङ्कापर कहते हैं—"आत्मशब्दश्च" इत्यादि। जीव उपाधिपरिच्छिन्न होनेके कारण मुख्यरूपसे सब वस्तुओंका आन्तर नहीं हो सकता। इस प्रकार निश्चय होता है कि उपक्रमस्थ साधारण आयतनशब्द गौणसेतुत्वलिङ्गसे और प्रथम पठित आत्मशब्दसे ब्रह्मवाचक

भाष्य

नाऽर्थान्तरपरिग्रहे। क्वचिच्च स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते—'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६।८।४) इति। स्वशब्देनैव चेह पुरस्तादुपरिष्टाच्च ब्रह्म संकीर्त्यते—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' ( मु० २।१।१० ) इति। ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण' (मु० २।२।११) इति च। तत्र त्वायतनायतनवद्भावश्रवणात् 'सर्वं ब्रह्म' इति च सामानाधिकरण्यात्।

भाष्यका अनुवाद

परमात्माके ग्रहण करनेमें ही ठीक ठीक उपपन्न होता है, दूसरे पदार्थके स्वीकार करनेमें उसकी ठीक ठीक उपपत्ति नहीं होती। कहीं कहीं श्रुतिमें स्वशब्दसे ही ब्रह्म आश्रय कहा गया है, जैसे—'सन्मूलाः सोम्येमाः०' (हे सोम्य! सत् इन सब प्रजाओंका मूल है, सत् ही आयतन है और सत् ही प्रतिष्ठा है) इत्यादिमें। यहां भी 'पुरुष एवेदं०' ( पुरुष ही यह सब कर्म और तप है, ब्रह्म है, पर अमृत है ) और 'ब्रह्मैवेदममृतं०' ( ब्रह्म ही यह अमृत है, आगे ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है, दक्षिणमें और उत्तरमें ब्रह्म है ) इन श्रुतियोंमें पहले और पीछे स्वशब्दसे

---

रत्नप्रभा

स्वशब्दाद् इत्यस्य अर्थान्तरमाह—**क्वचिच्चेति**। प्रजानाम् उत्पत्तौ सदेव मूलम्, स्थितौ आयतनम्, लये प्रतिष्ठेति ब्रह्मवाचिसत्पदेन छान्दोग्ये ब्रह्मण आयतनत्वश्रुतेः अत्रापि तथा इत्यर्थः। अर्थान्तरमाह—**स्वशब्देनैवेति**। 'यस्मिन् द्यौः' इति वाक्यात् पूर्वोत्तरवाक्ययोः पुरुषब्रह्मादिशब्देन ब्रह्मसङ्कीर्तनाद् मध्येऽपि ब्रह्म ग्राह्यमित्यर्थः। पुरुष इति पूर्ववाक्यम्, ब्रह्मैवेति उत्तरवाक्यम्, सर्वासु दिक्षु स्थितं सर्वं ब्रह्मैवेत्यर्थः। उत्तरेण—उत्तरस्यां दिशि। उदाहृतवाक्यस्य सविशेषब्रह्मपरत्वमा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही है। सूत्रगत 'स्वशब्दात्' का दूसरा अर्थ कहते हैं—"क्वचिच्च" इत्यादिसे। सत् ही प्रजाकी उत्पत्तिमें कारण है, स्थितिमें आश्रय है और लयमें प्रतिष्ठा है, इस प्रकार छान्दोग्यमें ब्रह्मवाचक सत्पदसे ब्रह्म आयतन कहा गया है, इसलिए यहाँ भी वैसा ही है ऐसा अर्थ है। उक्त पदका फिर अन्य अर्थ करते हैं—"स्वशब्देनैव" इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि 'यस्मिन् द्यौः०' इस वाक्यसे पूर्व और उत्तर वाक्योंमें पुरुष, ब्रह्म आदि शब्दोंसे ब्रह्मका सङ्कीर्तन किया है, इसलिए मध्यगत इस वाक्यमें भी ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिए, 'पुरुष एवेदं०' यह पूर्व वाक्य है। 'ब्रह्मैवेदममृतम्०' यह उत्तर वाक्य है। सब दिशाओंमें स्थित सब पदार्थ ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा अर्थ है। 'उत्तरेण'—उत्तर दिशामें। 'पुरुष एवेदं०'

*भाष्य*

यथा ह्यनेकात्मको वृक्षः शाखा स्कन्धो मूलं चेति, एवं नानारसो विचित्र आत्मेत्याशङ्का सम्भवति, तां निवर्तयितुं सावधारणमाह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति। एतदुक्तं भवति---न कार्यप्रपञ्चविशिष्टो विचित्र आत्मा विज्ञेयः। किं तर्हि ? अविद्याकृतं कार्यप्रपञ्चं विद्यया प्रविलापयन्तस्तमेवैकमायतनभूतमात्मानं जानथैकरसमिति। यथा यस्मिन्नास्ते देवदत्तस्तदानयेत्युक्त आसनमेवाऽऽनयति न देवदत्तम्, तद्वदायतनभूतस्यैवैकरसस्याऽऽत्मनो विज्ञेयत्वमुपदिश्यते। विकारानृताभि-

*भाष्यका अनुवाद*

ही ब्रह्मका सङ्कीर्तन है। इन श्रुतियोंमें आधार आधेय भावसे ब्रह्म श्रुत है और 'सर्व ब्रह्म' ( सब ब्रह्मरूप है ) ऐसा सामानाधिकरण्य है इसलिए जैसे शाखा, स्कन्ध और मूलके भेदसे वृक्ष अनेक स्वरूपवाला है, वैसे भिन्न भिन्न स्वरूपवाला विचित्र आत्मा है, ऐसी शङ्का होती है, उसका निराकरण करनेके लिए निश्चयपूर्वक [ श्रुति ] कहती है—'तमेवैकं०'। तात्पर्य यह है कि कार्यप्रपंचसे विशिष्ट विचित्र आत्मा ज्ञेय नहीं है, किन्तु अविद्याजन्य कार्यप्रपंचका विद्यासे बाध करके आयतनभूत उसी एकको एकरस आत्मा जानो। जैसे 'जिस पर देवदत्त बैठा है उसे लाओ' ऐसा कहने पर मनुष्य आसनको ही लाता है, देवदत्तको नहीं लाता, वैसे ही आश्रयभूत एकरस आत्मा ही विज्ञेय है, ऐसा उपदेश किया गया है। मिथ्याकल्पित विकारमें जिसे अभिमान है,

---

*रत्नप्रभा*

शङ्क्य वाक्यं व्याचष्टे—**तत्रेत्यादिना**। सामानाधिकरण्यात् विचित्र आत्मेति सम्बन्धः। यस्मिन् सर्वम् ओतं तमेवैकम् इत्येवकारैकशब्दाभ्यां निर्विशेषं ज्ञेयम् इत्युक्त्वा हेत्वन्तरमाह—**विकारानृतेति**। विकारे अनृते कल्पिते अभिसन्धोऽभिमानो यस्य तस्य अनर्थभाक्त्वेन निन्दाश्रुतेश्च कूटस्थसत्यं ज्ञेयम् इत्यर्थः। कथं तर्हि

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

इत्यादि उदाहृत वाक्य सविशेष—सगुण ब्रह्मपरक हैं, ऐसी आशङ्का कर उसका निराकरण करनेके लिए वाक्यका विवरण करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। 'सामानाधिकरण्यात्' का 'विचित्र आत्मा' के साथ संबन्ध है। 'यस्मिन्······तमेवैकं' ( जिसमें सारा जगत् कल्पित है उस एकको ही ) इस प्रकार 'एव' और 'एक' शब्दोंसे निर्विशेष ब्रह्म ज्ञातव्य है यह कहकर दूसरा हेतु कहते हैं—"विकारानृत" इत्यादिसे। विकार—अनृत अर्थात् कल्पित अनात्म

भाष्य

सन्धस्य चाऽपवादः श्रूयते—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' ( का० २।४।११ ) इति । 'सर्वं ब्रह्म' इति तु सामानाधिकरण्यं प्रपञ्चप्रविलापनार्थं नाऽनेकरसताप्रतिपादनार्थम्, 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' ( बृ० ४।५।१३ ) इत्येकरसताश्रवणात् । तस्माद् द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म । यत्तूक्तम्—सेतुश्रुतेः सेतोश्च पारवत्त्वोपपत्तेर्ब्रह्मणोऽ-

भाष्यका अनुवाद

उसकी 'मृत्योः स मृत्यु०' ( जो एकरूप ब्रह्ममें भेद-सा देखता है वह जन्म-मरणपरम्परामें पड़ता है ) इस प्रकार निन्दा सुनी जाती है । 'सर्वं ब्रह्म' ( सब ब्रह्मरूप है ) यह सामानाधिकरण्य तो प्रपंचके बाधके लिए है, ब्रह्मके अनेकरूप प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है, क्योंकि 'स यथा सैन्धवघनो०' ( जैसे लवण-पिण्ड भीतर बाहर सर्वत्र लवणैकरस है, उसमें दूसरे रसका गन्ध नहीं है, उसी प्रकार हे मैत्रेयि ! यह आत्मा भीतर बाहर सर्वत्र ज्ञानैकरस है, इसमें दूसरे रसका स्पर्श नहीं है ) इस प्रकार आत्मा एकरस सुना जाता है । इसलिए द्युलोक, भूलोक आदिका आश्रय ब्रह्म है । वह सेतु कहा गया है और सेतु

रत्नप्रभा

सामानाधिकरण्यं तत्राह—**सर्वं ब्रह्मेति** । यश्चोरः स स्थाणुरितिवद्, यत्सर्वं तद् ब्रह्मेति सर्वोद्देशेन ब्रह्मत्वविधानाद् बाधनार्थम्, न तु यद् ब्रह्म तत् सर्वम् इति नानारसत्वार्थम् इत्यर्थः । तत्र नियामकमाह—**स यथेति** । लवणपिण्डोऽन्तर्बहिश्च रसान्तरशून्यः सर्वो लवणैकरसो यथा, एवमरे मैत्रेयि चिदेकरस आत्मा इत्यर्थः । यद्यपि पारवत्त्वसावयवत्वादिकं मुख्यसेतुत्वव्यभिचारि, तथापि सेतोः जलादिबन्धन-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पदार्थमें जिसका अभिमान है, वह दुःखी होता है, इस प्रकार भेद—प्रपंचको सत्य माननेवालेकी श्रुतिमें निन्दा की गई है, अतः कूटस्थ सत्य ब्रह्म ही ज्ञेय है ऐसा अर्थ है । तब सामाना-धिकरण्यकी क्या गति होगी ? इसपर कहते हैं—"सर्वं ब्रह्म" इत्यादि । जो चोर है वह स्थाणु है, इसके समान जो सकलप्रपंच है वह ब्रह्म है, इस प्रकार सबके उद्देशसे ब्रह्मत्वका विधान किया है, यह प्रपंचके बाधके लिए है, जो ब्रह्म है वह प्रपंच है, इस प्रकार ब्रह्मके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंके प्रतिपादनके लिए नहीं है । इसमें नियामक श्रुति कहते हैं—"स यथा" इत्यादिसे । अर्थात् जैसे लवणपिण्ड भीतर और बाहर रसान्तररहित है, सब लवणैकरस ही—खारा ही है, वैसे ही हे मैत्रेयि ! आत्मा ज्ञानैकरस है । यद्यपि पारवत्त्व, सावयवत्व आदि मुख्य

भाष्य

र्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भवितव्यम् इति। अत्रोच्यते—विधारणत्वमात्रमत्र सेतुश्रुत्या विवक्ष्यते, न पारवत्त्वादि। नहि मृद्दारुमयो लोके सेतुर्दृष्ट इत्यत्रापि मृद्दारुमय एव सेतुरभ्युपगम्यते। सेतुशब्दार्थोऽपि विधारणत्वमात्रमेव न पारवत्त्वादि, षिञो बन्धनकर्मणः सेतुशब्दव्युत्पत्तेः।

भाष्यका अनुवाद

पारवान् ही होता है, अतः द्युलोक, भूलोक आदिका आश्रय ब्रह्मसे अन्य पदार्थ होना चाहिए, ऐसा जो कहा है; उसके उत्तरमें कहते हैं—यहां सेतुश्रुतिसे उसमें विधारणत्वकी ही विवक्षा है, पारवत्त्व आदिकी विवक्षा नहीं है। लोकमें मिट्टी और लकड़ीका बना हुआ सेतु देखनेमें आता है, इसलिए यहां भी मिट्टी और लकड़ीका ही बना हुआ सेतु स्वीकार नहीं किया जा सकता। सेतुशब्दका अर्थ भी विधारण करना मात्र ही है, पारवत्त्व आदि उसका अर्थ नहीं है, क्योंकि बन्धनार्थक 'षिञ्' धातुसे सेतुशब्द निष्पन्न होता है।

---

रत्नप्रभा

रूपं यद् विधारणं तदेव व्यभिचारित्वेऽपि सेतुपदार्थैकदेशत्वाद् गुणत्वेन ग्राह्यम्, न तु सेतुपदार्थबहिर्भूतं पारवत्त्वादिकमित्याह—**अत्रोच्यते इति**। दृष्टत्वात् तद्ग्रहेऽतिप्रसङ्गमाह—**नहीति**। अत्र—श्रुतौ, परेणेति शेषः। विधारणस्य शब्दार्थत्वं स्फुटयति—**षिञ इति**। सिनोति बध्नातीति सेतुपदार्थैकदेशो विधारणम् इत्यर्थः। तथा चाऽमृतपदस्य भावप्रधानत्वादमृतस्य सेतुः विधारकं ब्रह्म, अस्यैव अमृतत्वं नाऽन्यस्येत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सेतुके अव्यभिचारी गुण हैं और सेतुका जलादिबन्धनरूप जो विधारण है वह व्यभिचारी गुण है, तो भी यह व्यभिचारी गुण सेतुपदके अर्थका एकदेश—भाग होनेसे गुणरूपसे ग्राह्य है और सेतुपदार्थके बहिर्भूत पारवत्त्व आदिका गुणरूपसे स्वीकार नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। दृष्ट होनेके कारण पारवत्त्व आदि धर्मोंके ग्रहणमें आपत्ति दिखलाते हैं—"नहि" इत्यादिसे। अत्र—श्रुतिमें। 'अभ्युपगम्यते' के पहले 'परेण' इतना शेष समझना चाहिए। विधारण सेतुशब्दका अर्थ है, यह स्पष्ट करते हैं—"षिञः" इत्यादिसे। 'सिनोति बध्नाति' ( बाँधता है ) इस प्रकार सेतुपदके अर्थका एकदेश विधारण है, ऐसा अर्थात् है। उसी प्रकार 'अमृतस्य' इससें 'अमृत' पदको भावप्रधान ( अमृतत्व जिसमें प्रधान है ऐसा ) माननेसे अमृतत्वका सेतु—विधारक ब्रह्म है, अथवा इसीमें अमृतत्व है, दूसरेमें नहीं है ऐसा अर्थ होता है।

भाष्य

अपर आह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति यदेतत्सङ्कीर्तितमात्मज्ञानम्, यच्चैतत् 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति वाग्विमोचनम्, तदत्राऽमृतत्वसाधनत्वात् 'अमृतस्यैष सेतुः' इति सेतुश्रुत्या संकीर्त्यते, न तु द्युभ्वाद्यायतनम्। तत्र यदुक्तम्—सेतुश्रुतेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भवितव्यमिति, एतदयुक्तम् ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

दूसरा कहता है—'तमेवैकं०' इस प्रकार जो आत्मज्ञानका संकीर्तन किया है और 'अन्या वाचो०' इस प्रकार जो अन्य वाणियोंके त्याग का संकीर्तन किया है, यहां उसका अमृतत्वके साधन होनेसे 'अमृतस्यैष०' ( यह अमृतका सेतु है ) इस श्रुति द्वारा सेतुरूपसे संकीर्तन होता है, द्युलोक, भूलोक आदिके आश्रयका संकीर्तन नहीं होता। इसलिए सेतुश्रुतिसे द्युलोक, भूलोक आदिका आयतन ब्रह्मसे अन्य पदार्थ होना चाहिए, ऐसा जो कहा है, वह युक्त नहीं है ॥ १ ॥

---

रत्नप्रभा

यद्वा द्युभ्वाद्याधारो ब्रह्म न सेतुशब्दार्थः, किन्तु अव्यवहितं ज्ञानमित्याह—**अपर इति**। फलितमाह—**तत्र यदुक्तमिति**। ज्ञाने सेतौ गृहीते सति इत्यर्थः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अथवा द्युलोक आदिका आधार ब्रह्म सेतुशब्दका अर्थ नहीं है, किंतु अव्यवहित ज्ञान है, ऐसा कहते हैं—"अपरः" इत्यादिसे। सेतु शब्दका अनात्मवाणीके त्यागपूर्वक आत्मज्ञान अर्थ है, ब्रह्म अर्थ नहीं है, ऐसा माननेपर फलित अर्थ कहते हैं—"तत्र यदुक्तम्" इत्यादिसे। अर्थात् ज्ञानको सेतु माननेपर ॥१॥

## मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

**पदार्थोक्ति**—मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्—'तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः' इत्यादिश्रुतौ ब्रह्मणो मुक्तप्राप्यत्वेन व्यपदिश्यमानत्वात् [द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव ]।

**भाषार्थ**—'तथा विद्वान्०' ( उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी नामरूपोंसे मुक्त होकर अर्थात् अविद्या और उसके कार्योंसे छुटकारा पाकर परसे भी पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट दिव्य पुरुषको प्राप्त करता है ) इस श्रुतिमें ब्रह्म मुक्तोंसे प्राप्य कहा गया है, अतः द्यु, भू आदिका अधिष्ठान ब्रह्म ही है।
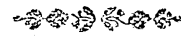
*भाष्य*

इतश्च परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्, यस्मान्मुक्तोपसृप्यताऽस्य व्यपदिश्यमाना दृश्यते। मुक्तैरुपसृप्यम् मुक्तोपसृप्यम्। देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तत्पूजनादौ रागः, तत्परिभवादौ च द्वेषः, तदुच्छेददर्शनाद् भयं मोहश्चेत्येवमयमनन्तभेदोऽनर्थव्रातः सन्ततः सर्वेषां नः प्रत्यक्षः। तद्विपर्ययेणाऽविद्यारागद्वेषादिदोषमुक्तैरुपसृप्यमुपगम्यमेतदिति द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य व्यपदेशो भवति। कथम् ?

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

*भाष्यका अनुवाद*

इससे भी द्युलोक, भूलोक आदिका आयतन परब्रह्म ही है, क्योंकि वह मुक्तोंसे प्राप्य कहा गया है। मुक्तोंसे प्राप्त होनेवाला मुक्तोपसृप्य कहलाता है। देह आदि अनात्म पदार्थोंमें 'मैं हूँ' ऐसी आत्मबुद्धि अविद्या है। उससे उनके ( देह आदिके ) संमानमें राग, अपमान आदिमें द्वेष, उनके नाशके दर्शनसे भय और मोह आदि अनन्त भेदवाला अनर्थसमुदाय सर्वत्र फैला हुआ हम सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। उससे विपरीत यह अविद्या, राग, द्वेष आदि दोषोंसे मुक्त पुरुषोंसे उपसृप्य—गम्य है, इस प्रकार व्यपदेश द्युलोक, भूलोक आदिके आयतनके प्रकरणमें है। किस प्रकार ? भिद्यते हृदयग्रन्थि०'

---

*रत्नप्रभा*

मुक्तैः उपसृप्यम्—प्रत्यक्त्वेन प्राप्यं यद् ब्रह्म तस्य अत्रोक्तेरिति सूत्रार्थः।

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

मुक्त पुरुषोंसे उपसृप्य अर्थात् प्रत्यक्रूपसे प्राप्य ब्रह्मका यहाँ कथन है, ऐसा

भाष्य

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' (मु० २।२।८) इत्युक्त्वा ब्रवीति—'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।' (मु० ३।२।८) इति । ब्रह्मणश्च मुक्तोपसृप्यत्वं प्रसिद्धं शास्त्रे—
'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' ( बृ० ४।४।७)

भाष्यका अनुवाद

( उस सर्वश्रेष्ठ परमात्माका ज्ञान होनेपर इस–पुरुष की हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं ) ऐसा कह कर [श्रुति] कहती है—'तथा विद्वान्०'( उसी प्रकार नाम रूपसे विमुक्त होकर विद्वान् परसे पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है ) । ब्रह्मका मुक्त पुरुषोंसे प्राप्य होना 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते०' ( हृदयमें रहनेवाली सब अभिलाषाएँ जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मनुष्य अमृत हो जाता है, इसी शरीरमें रहता हुआ ही ब्रह्म-

रत्नप्रभा

मुक्तिप्रतियोगिनं बन्धं दर्शयति—**देहादिष्विति** । **तद्विपर्ययेणेति** । उक्तपञ्चक्लेशात्मकबन्धनिवृत्त्यात्मना स्थितमित्यर्थः । यथा—नद्यः गङ्गाद्याः नामरूपे विहाय समुद्रात्मना तिष्ठन्ति, तथा ब्रह्मात्मविदपि संसारं विहाय परात् कारणादव्यक्तात् परं पूर्णं स्वयंज्योतिरानन्दं प्रत्यक्त्वेन प्राप्य तिष्ठति इत्याह—**तथा विद्वानिति** । इदं प्रधानादेः किं न स्यादत आह—**ब्रह्मणश्चेति** । अस्य मुमुक्षोः, हृदीति पदेन आत्मधर्मत्वं कामानां निरस्तम्, यदा कामनिवृत्तिः अथ—तदा अमृतो भवति, मरणहेत्वभावात् न केवलमनर्थनिवृत्तिः, किन्तु अत्र देहे तिष्ठन्नेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रार्थ है । मुक्तिके प्रतियोगी बन्धको दिखलाते हैं—"देहादिषु" इत्यादिसे । "तद्विपर्ययेण" इत्यादि । अर्थात् अविद्या, राग, द्वेष, भय और मोह इन पाँच क्लेशात्मक बन्धोंकी निवृत्ति जिसकी हो गई है ऐसे आत्मस्वरूपसे स्थित । जैसे गङ्गा आदि नदियाँ नाम और रूपको छोड़कर समुद्ररूप हो जाती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता भी संसारको छोड़कर पर अर्थात् कारणसे—अव्यक्तसे पर पूर्ण, ज्योतिःस्वरूप आत्माको प्रत्यक्-स्वरूपसे प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं—"तथा विद्वान्" इत्यादिसे । प्रधान आदि मुक्त पुरुषोंसे गम्य क्यों नहीं हैं? इसपर कहते हैं—"ब्रह्मणश्च" इत्यादिसे । 'अस्य'—मुमुक्षुके । 'हृदि' ( हृदयमें ) इस पदसे काम आत्माके धर्म नहीं हैं ऐसा कहा गया । जब समस्त कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं अर्थात् ब्रह्मवेत्ताके सब काम समूल नष्ट हो जाते हैं, तब पुरुष मुक्त हो जाता है, क्योंकि मरणके हेतु जाते रहते हैं । केवल अनर्थकी निवृत्ति ही नहीं होती है, किन्तु जीवनावस्थामें

भाष्य

इत्येवमादौ । प्रधानादीनां तु न क्वचित् मुक्तोपसृप्यत्वमस्ति प्रसिद्धम् । अपि च 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' इति वाग्विमोकपूर्वकं विज्ञेयत्वमिह द्युभ्वाद्यायतनस्योच्यते । तच्च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणो दृष्टम्—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।

नानुध्यायाद्बहूंश्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥'

(बृ० ४।४।२१) इति । तस्मादपि द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

भावको प्राप्त होता है ) इत्यादि शास्त्रमें प्रसिद्ध है। और प्रधान आदिका मुक्त पुरुषोंसे प्राप्य होना कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। 'तमेवैकं जानथ०' इस प्रकार वाणीके त्यागपूर्वक द्यु, भू आदिका आश्रय यहां विज्ञेय रूपसे कहा गया है और 'तमेव धीरो विज्ञाय०' ( उसे ही जानकर धीमान् ब्राह्मण वाक्यार्थ-ज्ञानका संपादन करे, बहुत शब्दोंका विचार न करे, क्योंकि वह वाणीके लिए श्रमकारक है ) इस दूसरी श्रुतिसे ब्रह्म विज्ञेय है, ऐसा जाननेमें आता है। इससे भी सिद्ध हुआ कि द्यु, भू आदिका आयतन परब्रह्म है ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

ब्रह्म आनन्दम् अश्नुते इत्यर्थः । लिङ्गान्तरमाह—अपि चेति । धीरः विवेकी तमेव आत्मानं विज्ञाय विशुद्धं लक्ष्यपदार्थं ज्ञात्वा वाक्यार्थज्ञानं कुर्यात् । ज्ञानार्थिनो ज्ञानप्रतिबन्धककर्मकाण्डादेर्वैमुख्यमाह—नेति । बहूनित्युक्त्या अल्पान् वेदान्तशब्दानङ्गीकरोति । 'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥

(पा० शिक्षा १३) इति एतानि वागिन्द्रियस्थानत्वाद् वाक्शब्देनोच्यन्ते । तेषां शोषणमात्रम् अनात्मशब्दोच्चारणफलम्, तद्ध्यानाद् मनसो ग्लानिमात्रमित्यर्थः ॥२॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही ब्रह्मानन्दका अनुभव करता है। अन्य हेतु कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । विवेकी पुरुषको चाहिए कि आत्माको विशुद्ध लक्ष्यपदार्थ जानकर वाक्यार्थज्ञान प्राप्त करे। मुमुक्षुको ज्ञानके प्रतिबन्धक कर्मकाण्ड आदिसे विमुख रहना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे । बहुत शब्दोंका प्रतिषेध करनेसे आत्माके प्रतिपादक स्वल्प वेदान्तशब्दोंका अंगीकार किया है। हृदय, कण्ठ, सिर, जिह्वामूल, दाँत, नासिका, ओठ और तालु ये आठ वागिन्द्रियके स्थान हैं, अतः 'वाक्'शब्दसे कहे जाते हैं। अनात्मविषयक बहुत शब्दोंके उच्चारणसे उन स्थानोंका केवल शोषण होता है और अनात्माके ध्यानसे मनको केवल ग्लानि होती है, ऐसा अर्थ है ॥२॥

## नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद——न, अनुमानम्, अतच्छब्दात् ।

पदार्थोक्ति——अनुमानम्—सांख्यस्मृतिकल्पितं प्रधानम्, न-न द्युभ्वाद्यायतनम्, [कुतः] अतच्छब्दात्——'यस्मिन् द्यौः०' इत्यादिश्रुतौ प्रधानप्रतिपादकशब्दाश्रवणात् ।

भाषार्थ—सांख्यमें कल्पित प्रधान द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं है, क्योंकि 'यस्मिन् द्यौः' इत्यादि श्रुतिमें प्रधानवाचक शब्द नहीं है ।

*भाष्य*

यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुःप्रतिपादकोऽस्तीत्याह—नाऽऽनुमानिकम्—साङ्ख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम् । कस्मात् ? अतच्छब्दात् । तस्याऽचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः शब्दस्तच्छब्दः, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः । न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनाऽचेतनं प्रधानं कारणत्वेनाऽयतनत्वेन वाऽवगम्येत । तद्विपरीतस्य चेतनस्य प्रतिपादकशब्दोऽत्रास्ति—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' ( मु० १।१।९ ) इत्यादिः । अत एव न वायुरपीह द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाऽऽश्रीयते ॥ ३ ॥

*भाष्यका अनुवाद*

जैसे ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाला असाधारण हेतु कहा है, वैसे दूसरे पदार्थका प्रतिपादन करनेवाला असाधारण हेतु नहीं है, इसलिए कहते हैं कि आनुमानिक—सांख्यस्मृतिमें कल्पित प्रधानको यहाँ द्यु, भू आदिका आश्रय समझना ठीक नहीं है । किससे ? अतच्छब्दसे । उसका अर्थात् अचेतन प्रधानका प्रतिपादक शब्द तच्छब्द है, तच्छब्दसे भिन्न अतच्छब्द है । यहाँ अचेतन प्रधानका प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है जिससे अचेतन प्रधान कारणरूप अथवा आयतनरूप समझा जाय । उसके विपरीत 'यः सर्वज्ञः०' ( जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है ) इत्यादि चेतनका प्रतिपादक शब्द यहाँ है । इसी कारण वायु भी यहाँ द्यु, भू आदिका आयतनरूप नहीं माना जा सकता ॥ ३ ॥

---

*रत्नप्रभा*

वैशेषिक इति । असाधारण आत्मशब्दादिः इत्यर्थः । अतच्छब्दाद् इत्यस्याऽर्थान्तरमाह——**तद्विपरीतस्येति** । अत एव——अतच्छब्दादेव ॥ ३ ॥

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

"वैशेषिक"—असाधारण अर्थात् आत्मशब्द आदि । 'अतच्छब्दात्' पदका दूसरा अर्थ कहते हैं—"तद्विपरीतस्य" इत्यादिसे । 'अत एव' अर्थात् अतच्छब्दसे ही ॥ ३ ॥

## प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

पदच्छेद—प्राणभृत्, च ।

पदार्थोक्ति—प्राणभृत्—शारीरः, च—अपि न द्युभ्वाद्याश्रयः, [ कुतः 'यस्मिन् द्यौः' इत्यादिश्रुतौ जीववाचकशब्दाभावात् ]

भाषार्थ—जीव भी द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं है, क्योंकि 'यस्मिन् द्यौः' इत्यादि श्रुतिमें जीवका प्रतिपादक शब्द नहीं है ।

*भाष्य*

यद्यपि प्राणभृतो विज्ञानात्मन आत्मत्वं चेतनत्वं च सम्भवति, तथाप्युपाधिपरिच्छिन्नज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाद्यसम्भवे सत्यस्मादेवाऽतच्छब्दात् प्राणभृदपि न द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाऽऽश्रयितव्यः । न चोपाधिपरिच्छिन्नस्याऽविभोः प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वमपि सम्यक् सम्भवति । पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ॥ ४ ॥

कुतश्च न प्राणभृद् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाऽऽश्रयितव्यः—

*भाष्यका अनुवाद*

यद्यपि प्राणभृत् अर्थात् जीवमें आत्मत्व और चेतनत्व सम्भव है, तो भी जिसका ज्ञान उपाधिसे परिच्छिन्न है, उसमें सर्वज्ञत्व आदिका संभव न होनेके कारण इससे अर्थात् अतच्छब्दसे ही जीवात्माका भी द्यु, भू आदि के आयतनरूपसे ग्रहण करना ठीक नहीं है । और उपाधिपरिच्छिन्न, अविभु, विज्ञानात्मा द्यु, भू आदिका आश्रय भी नहीं हो सकता । अग्रिम सूत्रमें केवल प्राणभृत्का ही सम्बन्ध हो, इसलिए इस सूत्रकी पृथक् रचना की गई है ॥४॥

और किस कारणसे जीवको द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं मानना चाहिए ?

*रत्नप्रभा*

प्राणभृच्चेति—सूत्रे चकारः पूर्वसूत्रस्थनञोऽनुषङ्गार्थः । सर्वज्ञपदसमानाधिकरणः आत्मशब्दो न जीववाची इति अतच्छब्दस्तस्मादित्यर्थः । ननु "नानुमानप्राणभृतावतच्छब्दात्" इति एकमेव सूत्रं किमर्थं न कृतम्, उभयनिरासहेतोरेकत्वात् इत्यत आह—पृथगिति । योगः—सूत्रम्, उत्तरसूत्रस्थहेतूनां जीवमात्रनिरासेनाऽन्वयेऽपि सुबोधार्थं प्राणभृच्च इति पृथक् सूत्रकरणमित्यर्थः ॥४॥

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

"प्राणभृच्च" सूत्रमें चकार पूर्वसूत्रस्थ 'न' की अनुवृत्तिके लिए है । सर्वज्ञपदका समानाधिकरण आत्मशब्द जीववाचक नहीं है, इसलिए जीवात्मा अतच्छब्द होनेसे द्यु, भू आदिका आयतन नहीं है । यदि कोई शङ्का करे कि 'नानुमानप्राणभृतावतच्छब्दात्' ( प्रधान और जीव द्यु, भू आदिके आयतन नहीं हैं, क्योंकि श्रुतिमें तद्विपरीत ब्रह्मवाचक शब्द है ) ऐसा एक ही सूत्र क्यों नहीं किया, क्योंकि दोनोंका निराकरण करनेका हेतु एक ही है, इसपर कहते हैं—"पृथग्" इत्यादि । योग—सूत्र । उत्तर सूत्रगत हेतुओंका जीवमात्रके निरासमें समन्वय होनेपर भी बोधसौकर्यके लिए 'प्राणभृच्च' यह पृथक् सूत्र रचा है ॥ ४ ॥

## भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

**पदार्थोक्ति**—भेदव्यपदेशात्—'तमेवैकं जानथ' इति श्रुतौ ज्ञातृज्ञेयभावेन जीवपरयोर्भेदेन व्यपदिश्यमानत्वात् [ न जीवः द्युभ्वाद्याश्रयः ]।

**भाषार्थ**—'तमेवैकं०' ( उसी एक आत्माको जानो ) इस प्रकार श्रुतिमें ज्ञाता और ज्ञेयरूपसे जीव और परमात्माका भेदसे कथन किया गया है, अतः जीव द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं है।

*भाष्य*

**भेदव्यपदेशश्चेह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन। तत्र प्राणभृत्तावत् मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता, परिशेषादात्मशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनमिति गम्यते, न प्राणभृत् ॥ ५ ॥**

**कुतश्च न प्राणभृद् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाऽऽश्रयितव्यः—**

*भाष्यका अनुवाद*

'तमेमैकं०' ( उसी एक आत्माको जानो ) इस प्रकार यहाँ ज्ञेय और ज्ञातृभावसे भेदका व्यपदेश है। उनमें जीव मुमुक्षु होनेके कारण ज्ञाता है और अवशिष्ट आत्मशब्दवाच्य ज्ञेय ब्रह्म द्यु, भू आदिका आश्रय है, यह ज्ञात होता है; जीव [ आश्रय ] नहीं है ॥ ५ ॥

और किस कारणसे जीवको द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं मानना चाहिए ?

---

*रत्नप्रभा*

तानेव हेतून् आकाङ्क्षाद्वारा व्याचष्टे—**कुतश्च नेत्यादिना**। यद्यपि विशुद्धः प्रत्यगात्मैव अत्र ज्ञेयः, तथापि जीवत्वाकारेण ज्ञातुः ज्ञेयाद् भेदात् न ज्ञेयरूपत्वम् इत्यर्थः। एवं च जीवत्वलिङ्गविशिष्टत्वेन जीवस्य द्युभ्वादिवाक्यार्थत्वं निरस्यते, न शुद्धरूपेण इति मन्तव्यम् ॥ ५ ॥

*रत्नप्रभाका अनुवाद*

उन्हीं कारणोंका आकांक्षाके द्वारा विवरण करते हैं—"कुतश्च न" इत्यादिसे। यद्यपि विशुद्ध प्रत्यगात्मा ही यहांपर ज्ञेय है, तो भी ज्ञाताका ज्ञेयसे भेद होनेके कारण वह जीवरूपसे ज्ञेय नहीं है, ऐसा अर्थ है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार जीवत्वरूपलिङ्गविशिष्ट जीव द्यु, भू आदिका आयतन नहीं है, किन्तु विशुद्ध आयतन है ॥ ५ ॥

## प्रकरणात् ॥ ६ ॥

**पदार्थोक्ति**—प्रकरणात्—'कस्मिन्नु, भगवो विज्ञाते०' इत्युपक्रमाद् ब्रह्मण एवेदं प्रकरणम्, तस्मात् ( न जीवो द्युभ्वाद्याश्रयः ) ।

**भाषार्थ**—'कस्मिन्नु०' ( हे भगवन् ! किसके ज्ञात होनेपर यह सब विज्ञात हो जाता है ) इस प्रकार आरम्भ होनेके कारण यह प्रकरण ब्रह्मका ही है, अतः जीव द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं है ।

*भाष्य*

**प्रकरणं चेदं परमात्मनः, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणात् । परमात्मनि हि सर्वात्मके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यात्' न केवले प्राणभृति ॥ ६ ॥**

**कुतश्च न प्राणभृद् द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाऽऽश्रयितव्यः—**

*भाष्यका अनुवाद*

यह प्रकरण भी परमात्माका ही है, क्योंकि 'कस्मिन्नु भगवो०' (हे भगवन् ! किसका विज्ञान होनेपर इस सबका विज्ञान हो जाता है ? ) इस प्रकार एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी अपेक्षाकी गई है । निश्चय सर्वस्वरूप परमात्माके ज्ञान होनेपर यह सब विज्ञात हो जाता है, केवल जीवका ज्ञान होनेपर सबका विज्ञान नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

और किस कारणसे जीवको द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं मानना चाहिए ?

## स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

**पदच्छेद**—स्थित्यदनाभ्याम्, च ।

**पदार्थोक्ति**—स्थित्यदनाभ्याम्—'द्वा सुपर्णा' इति मन्त्रे औदासीन्यपूर्वक-स्थिति-कर्मफलभोगाभ्यां परक्षेत्रज्ञयोर्भेदनिर्देशात्, च–अपि [ न जीवः द्युभ्वाद्याश्रयः, किन्तु ब्रह्मैव ] ।

**भाषार्थ**—'द्वा सुपर्णा' ( सदा एक साथ रहनेवाले, समान आख्यानवाले दो पक्षी एक शरीरमें रहते हैं, उनमें एक (जीव) मधुर कर्मफलोंका भोग करता है, दूसरा ( ईश्वर ) भोग नहीं करता किन्तु केवल साक्षीरूपसे देखता रहता है ] इस मन्त्रमें औदासीन्यसे स्थिति और कर्मफलभोगसे ईश्वर और क्षेत्रज्ञमें भेद कहा गया है, इससे भी सिद्ध होता है कि द्यु, भू आदिका आश्रय जीव नहीं हैं, किन्तु ब्रह्म ही है ।

भाष्य

द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३।१।१) इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्येते 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनम्, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते। यदि चेश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितः, ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात् पृथग्वचनमवकल्पते अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकमसम्बद्धं स्यात्। ननु तवाऽपि क्षेत्रज्ञस्येश्वरात् पृथग्वचनमाकस्मिकमेव प्रसज्येत, न, तस्याऽवि-

भाष्यका अनुवाद

द्यु, भू आदिके आश्रयको प्रस्तुत करके 'द्वा सुपर्णा०' इस मंत्रमें स्थिति और अदन ( भक्षण ) का निर्देश किया गया है। 'तयोरन्यः०' ( उनमेंसे एक (जीव) मधुर कर्मफलका भोग करता है ) इसमें कर्म फलका उपभोग निर्दिष्ट है और 'अनश्नन्नन्यो०' ( दूसरा ईश्वर भोग न कर केवल प्रकाशमान रहता है ) इसमें उदासीनतापूर्वक स्थितिका निर्देश किया गया है। इस स्थिति और अदनसे वहाँ ईश्वर और जीवका ग्रहण किया जाता है। यदि ईश्वर द्यु, भू आदिके आश्रयरूपसे विवक्षित हो, तब उस प्रकृत ईश्वरका क्षेत्रज्ञसे पृथक् वचन उपपन्न होता है, नहीं तो यह अप्रकृत वचन, आकस्मिक और असंबद्ध हो जायगा। परन्तु तुम्हारा भी क्षेत्रज्ञका ईश्वरसे पृथक् कथन आकस्मिक ही

रत्नप्रभा

ननु स्थित्या ईश्वरस्य अदनाद् जीवस्य 'द्वा सूपर्णा' इत्यत्रोक्तावपि ईश्वर आयतनवाक्येन किमर्थं ग्राह्य इत्यत आह—**यदि चेश्वर इति**। अत्र चेश्वरः शुद्धचिन्मात्रो ग्राह्यः, न सर्वज्ञत्वादिविशिष्टः, तस्य अत्र अप्रतिपाद्यत्वात्। तथा च अप्रतिपाद्यार्थस्य अकस्मान्मध्ये वचनासम्भवादाद्यवाक्येन ग्रहणं कार्यमित्यभिसन्धिः। तमज्ञात्वाऽऽशङ्कते—**ननु तवापीति**। ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनार्थमकस्मादप्रकृतस्याऽपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

'द्वा सुपर्णा' इत्यादिमें स्थितिसे ईश्वरका और अदन ( भक्षण ) से जीवका निर्देश है, तो भी आयतन वाक्यमें ईश्वरका ही क्यों ग्रहण होता है, इसपर कहते हैं—"यदि चेश्वरः" इत्यादि। आशय यह है कि यहाँपर ईश्वरपदसे शुद्ध चिन्मात्रका ग्रहण करना चाहिए। सर्वज्ञत्व आदि गुणविशिष्टका नहीं, क्योंकि वह यहाँ प्रतिपाद्य नहीं है, इसलिए अप्रतिपाद्य अर्थका अकस्मात् मध्यमें कथन असंभावित होनेके कारण आद्यवाक्यसे उसीका ग्रहण है। उसको जाने बिना शंका करता है—"ननु तवापि" इत्यादिसे। ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन

भाष्य

वक्षितत्वात् । क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसम्बद्धो लोकत एव प्रसिद्धः नाऽसौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते । ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याऽऽकस्मिकं वचनं युक्तम् । 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' इत्यत्राऽप्येतद्दर्शितं 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचीश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति । यदापि पैङ्ग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेनाऽस्यामृचि सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते तदापि न विरोधः कश्चित् । कथम् ? प्राणभृद्धीह घटादिच्छिद्रवत्, सत्त्वाद्युपाध्यभिमानित्वेन प्रतिशरीरं

भाष्यका अनुवाद

है ? नहीं, क्योंकि जीव अविवक्षित है । क्षेत्रज्ञ तो कर्ता और भोक्तारूपसे प्रतिशरीरमें बुद्धि आदि उपाधियोंसे संबद्ध है और लोकमें प्रसिद्ध है, इसलिए उसके प्रतिपादनमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है । ईश्वर तो लोकप्रसिद्ध नहीं है इस कारण उसीके प्रतिपादनमें श्रुतिका तात्पर्य है, इसलिए उसको आकस्मिक कहना ठीक नहीं है । 'गुहां प्रविष्टा०' इस सूत्रमें भी यह दिखलाया गया है कि 'द्वा सुपर्णा०' इस ऋचामें ईश्वर और क्षेत्रज्ञ कहे गये हैं । यद्यपि पैङ्गी उपनिषद्के व्याख्यानके अनुसार इस ऋक्में सत्त्व और क्षेत्रज्ञ कहे गये हैं, ऐसा मानें, तो भी कुछ विरोध नहीं है । क्योंकि यहां घटादिछिद्रके समान

---

रत्नप्रभा

लोकप्रसिद्धस्य जीवस्य अनुवादसम्भव इति परिहरति—नेति । ननु 'द्वा सुपर्णा' इत्यत्र बुद्धिजीवयोः उक्तेः कथमिदं सूत्रमित्यत आह—गुहामिति । स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञयोरनुवादेनैक्यं दर्शितमित्यर्थः । नन्वत्र जीवेशौ नाऽनुवाद्यौ पैङ्गिव्याख्याविरोधात्, अतः सूत्रासंगतिरित्यत आह—यदापीति । तदापि सूत्रस्य असंगतिः नास्तीत्यर्थः । अदनवाक्येन बुद्धिमनूद्य स्थितिवाक्येन बुद्ध्यादिविलक्षण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करनेके लिए अकस्मात् अप्रकृत भी लोकप्रसिद्ध जीवका अनुवाद संभावित है, इस तरह शंकाका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे । यदि कोई कहे कि 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिमें बुद्धि और जीव कहे गये हैं, ऐसी अवस्थामें यह सूत्र किसलिए है, इसपर कहते हैं—"गुहाम्" इत्यादि । अर्थात् स्थिति और अदन द्वारा ईश्वर और क्षेत्रज्ञका अनुवादसे ऐक्य दिखलाया है । परन्तु यहाँ जीव और ईश्वर अनुवाद्य नहीं हैं, क्योंकि पैङ्गिव्याख्याके साथ विरोध होता है, अतः सूत्र असङ्गत है, इसपर कहते हैं—"यदापि" इत्यादि । 'तदापि'—तो भी सूत्रकी असङ्गति नहीं है । अदनवाक्यसे बुद्धिका अनुवाद करके स्थितिवाक्यसे बुद्धि

भाष्य

गृह्यमाणो द्युभ्वाद्यायतनं न भवतीति प्रतिषिध्यते। यस्तु सर्वशरीरेषूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते परमात्मैव स भवति। यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरुपाधिभिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाश एव भवन्ति, तद्वत्प्राणभृतः परस्मादन्यत्वानुपपत्तेः प्रतिषेधो नोपपद्यते। तस्मात् सत्त्वाद्युपाध्यभिमानिन एव द्युभ्वाद्यायतनत्वप्रतिषेधः। तस्मात् परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। तदेतत् 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' इत्यनेनैव सिद्धम्, तस्यैव हि भूतयोनिवाक्यस्य मध्य इदं पठितम्, 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्' इति। प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम् ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

सत्त्व आदि उपाधियोंका अभिमानी होनेके कारण प्रतिशरीरमें प्रतीत होनेवाला विज्ञानात्मा द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं है, ऐसा निषेध किया गया है। परन्तु जो सब शरीरोंमें उपाधिके बिना उपलक्षित होता है, वह परमात्मा ही है। जैसे घटादि उपाधिके बिना उपलक्षित होनेवाले घटादिके छिद्र महाकाश ही हैं, वैसे ही विज्ञानात्मा परमात्मासे अन्य नहीं है। इसलिए उसका द्यु, भू आदिके आश्रयरूपसे प्रतिषेध करना ठीक नहीं है। अतः सत्त्व आदिके अभिमानीका ही द्यु, भू आदिके आश्रयरूपसे प्रतिषेध है। इससे सिद्ध होता है कि परब्रह्म ही द्यु, भू आदिका आश्रय है। यह विषय 'अदृश्यत्वादि०' इस सूत्रसे ही सिद्ध है। उसी भूतयोनिवाक्यके मध्यमें 'यस्मिन् द्यौः०' यह मंत्र है। तो भी उसीका विस्तारके लिए फिर निरूपण किया गया ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

शुद्धप्रत्यग्ब्रह्मणो ज्ञेयस्य उक्तेः द्युभ्वादिवाक्ये तदेव ग्राह्यं न बुद्ध्युपहितो जीव इति सूत्रसंगतिमाह—कथमित्यादिना। ननु अत्राऽनुपहितो जीव उक्तो न परं ब्रह्म इत्यत आह—यस्त्विति। पौनरुक्त्यं शङ्कते—तदेतदिति। द्युभ्वादिवाक्यस्य ब्रह्मपरत्वमित्यर्थः। समाधत्ते—प्रपञ्चार्थमिति। सेतुशब्दव्याख्यानेन भूतयोनेः प्रत्यगात्मत्वस्फुटीकारणार्थमित्यर्थः। तस्मात् मुण्डकोपनिषद् ब्रह्मणि समन्वितेति सिद्धम्॥७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिसे विलक्षण शुद्ध प्रत्यग्ब्रह्मको ज्ञेय कहा है, इसलिए द्युभ्वादिवाक्यमें वही ग्राह्य है, बुद्ध्याद्युपाधिक जीव ग्राह्य नहीं है, इस प्रकार सूत्रकी संगति कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। यदि कोई शंका करे कि यहाँपर उपाधिरहित जीव कहा गया है, परब्रह्म नहीं कहा गया है, इसपर कहते हैं—"यस्य" इत्यादि। पुनरुक्तिकी शङ्का करते हैं—"तदेतत्" इत्यादिसे। 'तदेतत्'—द्यु, भू आदिका ब्रह्मपरत्व। समाधान करते हैं—"प्रपञ्चार्थम्" इत्यादिसे। अर्थात् सेतुशब्दके व्याख्यानसे भूतयोनि प्रत्यगात्मा है, यह स्पष्ट करनेके लिए। इससे मुण्डक उपनिषद्का ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

## [ २ भूमाधिकरण सू० ८--९ ]

*भूमा प्राणः परेशो वा प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात् ।*
*अनुवर्त्यातिवादित्वं भूमोक्तेर्वायुरेव सः ॥१॥*
*विच्छिद्यैष त्विति प्राणं सत्यस्योपक्रमात्तथा ।*
*महोपक्रम आत्मोक्तेरीशोऽयं द्वैतवारणात् * ॥२॥*

## [ अधिकरणसार ]

**सन्देह**—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति' इत्यादि वाक्यमें प्रतीयमान भूमा प्राण है या परमात्मा है ?

**पूर्वपक्ष**—प्राणके उपदेशके अनन्तर उससे आधिक्यका प्रश्न और उत्तर नहीं है और अतिवादित्वकी अनुवृत्ति करके भूमाका उपदेश है इस कारण भूमा प्राण है।

**सिद्धान्त**—'एष तु वा अतिवदति' इसमें 'तु' शब्दसे प्रकरणका विच्छेद होता है, 'यः सत्येनातिवदति' इसमें सत्य शब्दसे अग्रिम अवान्तर प्रकरणका आरम्भ है, प्रकरणके आरम्भमें आत्मशब्द है एवं 'यत्र नान्यत्पश्यति' इस प्रकार द्वैतका निषेध किया गया है, अतः भूमा परमात्मा ही है।

---

* छान्दोग्यके सप्तम अध्यायमें नारदके प्रति सनत्कुमारने नाम आदिसे अधिकाधिक बहुत तत्त्वोंका उपदेश करके अन्तमें 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' ( जहाँ दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, वह भूमा है ) इस प्रकार निरतिशय भूमाका उपदेश किया है।

यहां पर संशय होता है कि 'भूमा' पदका अर्थ प्राण है या परमात्मा है ?

पूर्वपक्षी कहता है कि प्राण भूमा है, क्योंकि पहले प्रतिपादित नाम आदि तत्त्वोंमें नारदने पद-पद पर पूछा है कि 'हे भगवन् ! इससे भी बड़ा है ?' सनत्कुमारने उत्तर दिया है कि 'हां'। इसी प्रकार प्रश्न और उत्तरपूर्वक नामसे लेकर प्राणतक तत्त्वोंका उपदेश कर प्राणके बाद प्रश्न एवं उत्तरके बिना ही भूमाका उपदेश किया है, अतः प्राण और भूमाके बीचमें प्रकरणका विच्छेदक कोई नहीं है। और प्राणका उपदेश करके प्राणके उपासकमें अतिवादित्वरूप उत्कर्ष कहकर बादमें प्रकरण विच्छेदकी शङ्का न हो इसलिए उसी अतिवादित्वकी अनुवृत्ति करके भूमाका उपदेश किया है, इससे प्रतीत होता है कि प्राण ही भूमा है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि भूमा परमेश्वर है, क्योंकि 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' ( परन्तु वही अतिवादी है जो सत्यसे अतिवादी है ) इसमें अतिवादित्वके कारणभूत प्राणोपासनाकी 'तु' शब्दसे व्यावृत्ति करके मुख्य अतिवादित्वके कारणभूत ब्रह्मका सत्य शब्दसे उपक्रम किया है एवं प्रकरणके आरम्भमें 'तरति शोकमात्मवित्' ( आत्मज्ञ शोकसे मुक्त हो जाता है ) इस प्रकार परमात्माको वेद्य कहा है। और 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादिसे द्वैतके निषेधसे भूमाका लक्षण कहा है। अतः सिद्ध है कि अद्वितीय परमात्मा ही भूमा है।

# भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

**पदच्छेद**—भूमा, सम्प्रसादाद्, अधि, उपदेशात् ।

**पदार्थोक्ति**—भूमा—'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' इतिश्रुत्युक्तो भूमा [ परमात्मैव, कुतः ] सम्प्रसादादधि—प्राणोपदेशानन्तरम्, उपदेशात्—उपदिश्यमानत्वात् ।

**भाषार्थ**—'भूमा त्वेव०' ( भूमा ही जानने योग्य है ) इस श्रुतिमें उक्त भूमा परमात्मा ही है, क्योंकि प्राणके उपदेशके अनन्तर उसका उपदेश है ।
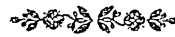
*भाष्य*

**इदं समामनन्ति—'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति, 'भूमानं भगवो विजिज्ञास' इति । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्, (छा० ७।२३।२४), इत्यादि । तत्र संशयः—किं प्राणो भूमा स्यात्, आहोस्वित् परमात्मेति ।**

*भाष्यका अनुवाद*

छान्दोग्य उपनिषद्में कहा है—'भूमा त्वेव०' ( भूमा ही जिज्ञासाका विषय है । हे भगवन् ! मैं भूमाको ही जानना चाहता हूँ । जिसमें स्थित पुरुष दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, वह भूमा है, जिसमें अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है, अन्यको जानता है, वह अल्प है ) इत्यादि । यहां पर संशय होता है कि प्राण भूमा है या परमात्मा ? संशय क्यों

---

*रत्नप्रभा*

भूमा । छन्दोग्यमुदाहरति—**इदमिति** । नाऽल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् तस्मात् निरतिशयसुखार्थिना भूमैव विचार्य इति नारदं प्रति सनत्कुमारेणोक्ते सति नारदो ब्रूते—**भूमानमिति** । भूम्नो लक्षणम् अद्वितीयत्वमाह—**यत्रेति** । भूमलक्षणम् परिच्छिन्नलक्षणोक्त्या स्फुटयति—**अथेति** । अत्र संशयबीजं प्रश्नपूर्वकम्

**रत्नप्रभाका अनुवाद**

छान्दोग्यवाक्यको उद्धृत करते हैं—"इदम्" इत्यादिसे । अल्पमें सुख नहीं है, भूमा ही सुख है, इसलिए निरतिशय सुखकी इच्छावालेको भूमाका ही विचार करना चाहिए, जब इस प्रकार सनत्कुमारने नारदसे कहा तब नारद कहने लगे—"भूमानम्" इत्यादि । भूमाका अद्वितीयत्वरूप लक्षण कहते हैं—"यत्र" इत्यादिसे । परिच्छिन्न वस्तुका लक्षण कहकर भूमाका लक्षण स्पष्ट करते हैं—"अथ" इत्यादिसे । प्रश्नपूर्वक संशयका बीज कहते हैं—

भाष्य

कुतः संशयः ? भूमेति तावद्बहुत्वमभिधीयते, 'बहोर्लोपो भू च बहोः' ( पा० ६।४।१५८ ) इति भूमशब्दस्य भावप्रत्ययान्ततास्मरणात् । किमात्मकं पुनस्तद्बहुत्वमिति विशेषाकाङ्क्षायां 'प्राणो वा आशाया भूयान्' (छा० ७।१५।१) इति संनिधानात् प्राणो भूमेति प्रतिभाति । तथा 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्' इति, 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' ( छा० ७।१।३ ) इति प्रकरणोत्थानात् परमात्मा भूमेत्यपि प्रतिभाति । तत्र कस्योपादानं

भाष्यका अनुवाद

होता है ? भूमाशब्दका मुख्य अर्थ तो बहुत्व है, क्योंकि 'बहोर्लोपो०' इस सूत्रसे 'भूमा' शब्द भावप्रत्ययान्त कहा गया है । उस बहुत्वका क्या आत्मा—आश्रय है, ऐसी विशेष आकांक्षा होने पर 'प्राणो वाव०' (प्राण ही इच्छासे बड़ा है) इस प्रकार संनिधि—सामीप्यसे प्राण भूमा है, ऐसा जाना जाता है । इसी प्रकार 'श्रुतं ह्येव मे०' ( मैंने आप जैसोंसे सुना है कि आत्मवेत्ता पुरुष शोकसे निर्मुक्त हो जाता है । हे भगवन् ! मैं शोक युक्त हूँ, शोकमें मग्न हुए मुझे शोकसे निर्मुक्त कीजिए ) इस प्रकार प्रकरणसे परमात्मा भी भूमा है, ऐसा

रत्नप्रभा

आह—कुत इत्यादिना । बहोर्भाव इति विग्रहे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" (पा० सू० ५।१।१२२) इतीमनिच्प्रत्यये कृते "बहोर्लोपो भू च बहोः" इति सूत्रेण बहोः परस्येमनिच्प्रत्ययस्यादेरिकारस्य लोपः स्याद् बहोः स्थाने भूरित्यादेशश्च स्यादित्युक्तेः भूमन्निति शब्दो निष्पन्नः । तस्य भावार्थकेमनिच्प्रत्ययान्तत्वाद् बहुत्वं वाच्यम् । तत्किंधर्मिकमित्याकाङ्क्षायां सन्निहितप्रकरणस्थः प्राणो धर्मी भाति । वाक्योपक्रमस्थ आत्माऽपि स्वप्रतिपादनापेक्षो धर्मित्वेन भातीति सन्निहितव्यवहि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कुतः" इत्यादिसे । 'बहो०' ( बहुतका भाव ) ऐसे विग्रहमें 'पृथ्वादिभ्यः०' इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय करने पर 'बहोर्लोपो०' इस सूत्रसे 'बहु'से पर 'इमनिच्' प्रत्ययके आदि इकारका लोप होता है और 'बहु'के स्थानमें 'भू' आदेश होता है, इस प्रकार 'भूमन्' शब्द निष्पन्न होता है । 'इमनिच्' प्रत्यय भाववाचक होनेसे 'इमनिच्' प्रत्ययान्त 'भूमन्' शब्दका अर्थ बहुत्व होता है । उसका धर्मी कौन है, ऐसी आकांक्षा होनेपर प्रतीत होता है कि निकटवर्ती प्रकरणमें स्थित प्राण धर्मी है । उसी प्रकार वाक्यके आरम्भमें स्थित अपने प्रतिपादनकी अपेक्षा रखनेवाला आत्मा भी धर्मी प्रतीत होता है । इस प्रकार संनिहित तथा

भाष्य

न्याय्यं कस्य वा हानमिति भवति संशयः। किं तावत् प्राप्तम्?

प्राणो भूमेति। कस्मात्? भूयः प्रश्नप्रतिवचनपरंपरादर्शनात् यथा हि 'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' इति, 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति, तथा 'अस्ति भगवो वाचो भूयः' इति, 'मनो वाव वाचो भूयः' इति च

भाष्यका अनुवाद

जान पड़ता है। उनमेंसे किसका ग्रहण करना चाहिए और किसका परित्याग करना चाहिए इस प्रकार संशय होता है। तब क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—प्राण भूमा है यह प्राप्त होता है, क्योंकि इसके बाद आधिक्यके प्रश्न और उत्तरकी परंपराका दर्शन नहीं होता है। जैसे 'अस्ति भगवो०' (हे भगवन्! क्या नामसे अधिक कुछ है) 'वाग्वाव०' (वाणी ही नामसे अधिक है) और 'अस्ति भगवो०' (हे भगवन्! वाणीसे कोई अधिक है) 'मनो वाव०' (मन

रत्नप्रभा

तत्प्रकरणाभ्यां संशय इत्यर्थः। पूर्वमात्मशब्दात् द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मेत्युक्तम्। तदयुक्तम्। "तरति शोकमात्मवित्" (छा० ७।१।३) इति अब्रह्मण्यपि आत्मशब्दप्रयोगादिति आक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्षयति—**प्राणो भूमेति**। धर्मधर्मिणोः अभेदात् सामानाधिकरण्यं द्रष्टव्यम्। पूर्वोत्तरपक्षयोः प्राणोपास्तिः ब्रह्मज्ञानं च फलं क्रमेण मन्तव्यम्। अत्र अध्याये भूयःप्रश्नोत्तरभेदाद् अर्थभेदो दृश्यते। भूमा तु, प्राणात्परं भूयःप्रश्नं विनैवोक्तत्वलिङ्गेन, प्राणाद् अभिन्न इत्याह—**कस्मादित्यादिना**। प्राणाद् भूय इति, न दृश्यत इति पूर्वेण सम्बन्धः। नन्वेष तु वा अतिवदतीति तुशब्देन प्राणप्रकरण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यवहित प्रकरणोंसे संशय होता है। पूर्वाधिकरणमें आत्मशब्दके प्रयोगसे द्यु, भू आदिका आयतन ब्रह्म है, ऐसा जो निर्णय किया गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'तरति शोक०' इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि आत्मशब्दका ब्रह्मभिन्नमें भी प्रयोग है। इस प्रकार आक्षेपसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"प्राणो भूमा" इत्यादिसे। धर्म और धर्मीके अभेदसे 'प्राणो भूमा' यह सामानाधिकरण्य कहा गया है। पूर्वपक्षमें प्राणकी उपासना फल है और सिद्धान्तमें ब्रह्मज्ञान फल है। इस अध्यायमें कौन किससे अधिक है, इस तरह आधिक्यके प्रश्नोत्तरोंसे भिन्न भिन्न पदार्थोंकी प्रतीति होती है। प्राणके अनन्तर आधिक्य प्रश्नके बिना ही भूमा कहा गया है, इस कारण भूमा प्राणसे अभिन्न है, ऐसा कहते हैं—"कस्मात्" इत्यादिसे। 'प्राणाद्भूय इति' इसका पूर्वोक्त 'न दृश्यते' इसके साथ संबन्ध है। यदि कोई

भाष्य

नामादिभ्यो ह्या प्राणाद् भूयःप्रश्नप्रतिवचनप्रवाहः प्रवृत्तः। नैवं प्राणात् परं भूयःप्रश्नप्रतिवचनं दृश्यते—अस्ति भगवः प्राणाद् भूय इत्यदो वाव प्राणाद् भूय इति। प्राणमेव तु नामादिभ्य आशान्तेभ्यो भूयांसम् 'प्राणो वा आशाया भूयान्' इत्यादिना सप्रपञ्चमुक्त्वा, प्राणदर्शिनश्चाऽतिवादित्वम्—'अतिवाद्यसीति अतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत' इत्यभ्यनुज्ञाय 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति प्राणव्रत-

भाष्यका अनुवाद

ही वाणीसे अधिक है ) इस प्रकार नामसे लेकर प्राण तक अधिकताके प्रश्न और प्रतिवचनका प्रवाह चलता गया है, किन्तु प्राणके आगे हे भगवन् ! प्राणसे अधिक कुछ है ? निश्चय अमुक प्राणसे अधिक है, इस प्रकार आधिक्यका प्रश्न और प्रतिवचन नहीं दीखता। परन्तु 'प्राणो वा०' ( प्राण ही आशासे अधिक है ) इत्यादिसे विस्तार-पूर्वक प्राणको ही नामसे लेकर आशापर्यन्त पदार्थोंसे बड़ा कह कर 'अतिवाद्यसी०' ( तुम श्रेष्ठवादी हो ? किसीके ऐसा प्रश्न करने पर मैं श्रेष्ठवादी हूँ ऐसा कहे, अपने श्रेष्ठवादी होनेका अपह्नव न करे ) इस प्रकार प्राणदर्शीमें श्रेष्ठवादित्वका स्वीकार करके 'एष तु वा०' ( निश्चय यह श्रेष्ठवादी होता है, जो सत्यसे श्रेष्ठवादी होता है ) इस प्रकार

---

रत्नप्रभा

विच्छेदाद् न प्राणो भूमेत्यत आह—**प्राणमेवेति**। नामाद्याशान्तान् उपास्यान् अतीत्य प्राणं श्रेष्ठं वदतीति—अतिवादी प्राणवित्, तं प्रति अतिवादी असीति केनचित् प्रश्ने कृते अस्मीति ब्रूयात्, नाहमतिवादीति अपह्नवं न कुर्यादिति उक्तम्। प्राणविदम् "एषः" इति परामृश्य सत्यवचनध्यानमननश्रद्धादिधर्मपरम्परां विधाय भूमोपदेशात् न प्रकरणविच्छेदः। तुशब्दो नामाद्युपासकस्याऽतिवादित्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

शङ्का करे कि 'एष तु वा०' ( यह तो निश्चय श्रेष्ठवादी है ) इसमें 'तु' शब्दसे प्राणप्रकरणका विच्छेद होनेसे प्राण भूमा नहीं है, इसपर कहते हैं—"प्राणमेव" इत्यादि। नामसे लेकर आशातक उपास्य पदार्थोंका उल्लघंन कर प्राणको श्रेष्ठ कहनेवाला अतिवादी प्राणवेत्ता है। उस पुरुषसे कोई प्रश्न करे कि तुम अतिवादी हो, तो उसे 'हाँ' कहना चाहिए। मैं श्रेष्ठवादी नहीं हूँ इस प्रकार इन्कार नहीं करना चाहिए, यह कहा है। उक्त प्राणवेत्ताका 'एष तु वा०' इत्यादिके 'एषः' पदसे परामर्श करके सत्यवचन, ध्यान, मनन, श्रद्धा आदि धर्मोंकी परंपरासे भूमाका उपदेश किया है, इसलिए प्रकरणका विच्छेद नहीं होता। 'तु' शब्द तो

भाष्य

मतिवादित्वमनुकृष्याऽपरित्यज्यैव प्राणं सत्यादिपरम्परया भूमानमवतारयन् प्राणमेव भूमानं मन्यत इति गम्यते। कथं पुनः प्राणे भूमनि व्याख्यायमाने 'यत्र नान्यत् पश्यति' इत्येतद् भूम्नो लक्षणपरं वचनं व्याख्यायेतेति। उच्यते—सुषुप्त्यवस्थायां प्राणग्रस्तेषु करणेषु दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिदर्शनात् सम्भवति प्राणस्यापि 'यत्र 'नान्यत्पश्यति' इत्येतल्लक्षणम्। तथा च श्रुतिः—'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिना सर्वकरणव्यापारप्रत्यस्तमयरूपां सुषुप्त्यवस्थामुक्त्वा 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' ( प्र० ४।२।३ ) इति तस्यामेवाऽवस्थायां पञ्चवृत्तेः प्राणस्य जागरणं ब्रुवती प्राणप्रधानां सुषुप्त्यवस्थां दर्शयति। यच्चैतद् भूम्नः सुखत्वं

भाष्यका अनुवाद

श्रेष्ठवादित्वरूप प्राणव्रतकी अनुवृत्ति करके प्राणका परित्याग किये बिना ही सत्य आदि परम्परासे भूमाका अवतरण करते हुए सनत्कुमार प्राणको ही भूमा मानते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। यदि प्राण भूमा है ऐसी व्याख्या करो तो 'यत्र नान्य०' ( जहां दूसरेको नहीं देखता ) भूमाके लक्षणका निर्देश करनेवाले इस वाक्यका किस प्रकार व्याख्यान करोगे ? इस आशङ्कापर कहते हैं—सुषुप्ति अवस्थामें इन्द्रियोंके प्राणमें लीन होनेपर दर्शन आदि व्यवहार निवृत्त हो जाते हैं, इसलिए 'यत्र नान्यत्पश्यति' यह प्राणका भी लक्षण हो सकता है, क्योंकि 'न शृणोति०' ( सुनता नहीं, देखता नहीं ) इत्यादिसे श्रुति सुषुप्ति अवस्था, ( जिसमें सब इन्द्रियोंके व्यापार अस्त हो जाता हैं ), को कहकर 'प्राणाग्नय०' ( प्राणरूप अग्नियां ही इस शरीरमें जागती हैं ) इस प्रकार उसी अवस्थामें पांच वृत्तिवाले प्राणका जागरण कहती हुई प्राणप्रधान सुषुप्ति अवस्थाको दिखलाती है।

रत्नप्रभा

निरासार्थ इत्यर्थः। भूम्नो लक्षणवचनं सुखत्वममृतत्वं च प्राणे प्रश्नपूर्वकं योजयति—**कथं पुनरित्यादिना**। प्राणग्रस्तेषु—प्राणे लीनेषु न शृणोति, सुषुप्तः पुरुष इति शेषः। "गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचन आहवनीयः

रत्नप्रभाका अनुवाद

नाम आदिका उपासक अतिवादी नहीं है, इस बातको दर्शानेके लिए है। भूमाके लक्षण—सुखत्व और अमृतत्वकी प्राणमें प्रश्नपूर्वक योजना करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। प्राणग्रस्त—प्राणमें लीन। 'न शृणोति' के अनन्तर 'सुषुप्तः पुरुषः' इतना शेष समझना चाहिए। 'गार्हपत्यो ह वा०' ( यह अपान गार्हपत्य है, व्यान अन्वाहार्य है और प्राण

भाष्य

श्रुतम्—'यो वै भूमा तत्सुखम्' ( छा० ७।२३।१ ) इति, तदप्यविरुद्धम् 'अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ यदेतस्मिञ्छरीरे सुखं भवति' ( प्र० ४।६ ) इति सुषुप्त्यवस्थायामेव सुखश्रवणात्। यच्च—'यो वै भूमा तदमृतम्' ( छा० ७।२४।१ ) इति, तदपि प्राणस्याऽविरुद्धम्, 'प्राणो वा अमृतम्' ( कौ० ३।२ ) इति श्रुतेः। कथं पुनः प्राणं भूमानं मन्यमानस्य 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपद्यते ? प्राण एवेहाऽऽत्मा विवक्षित इति ब्रूमः। तथाहि—'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः' (छा०७।१५।१)

भाष्यका अनुवाद

और 'यो वै भूमा०' (निश्चय जो भूमा है वह सुख है) इस प्रकार जो श्रुति भूमाको सुखरूप कहती है, वह भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि 'अत्रैष देवः' ( सुषुप्तिमें यह जीवरूप देवता स्वप्न नहीं देखता, तब इस शरीरमें यह सुख होता है ) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें ही सुख सुना जाता है। और 'यो वै भूमा०' (निश्चय जो भूमा है, वह अमृत है) ऐसा जो कहा है वह अमृतत्व भी प्राणमें विरुद्ध नहीं है, क्योंकि 'प्राणो वा०' ( प्राण ही अमृत है ) ऐसी श्रुति है; परन्तु प्राणको भूमा माननेवालेके पक्षमें 'तरति शोक०' ( आत्मवेत्ता शोकसे मुक्त हो जाता है ) इस आत्मविज्ञानकी इच्छासे प्रकरणका आरम्भ कैसे उचित होगा ? प्राण ही यहां आत्मरूपसे विवक्षित है ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि 'प्राणो ह पिता०' ( प्राण ही पिता, माता, भ्राता, बहिन, आचार्य और ब्राह्मण है ) यह श्रुति प्राणको

---

रत्नप्रभा

प्राणः" इति श्रुतेः प्राणा—अग्नयः इह—पुरे शरीरे जाग्रति सव्यापारा एव तिष्ठन्तीत्यर्थः। देवः—जीवः, अथ—तदा—स्वप्नादर्शनकाले सुखश्रवणात् प्राणस्य सुखत्वम् अविरुद्धमित्यन्वयः। आत्मपदेन उपक्रमविरोधं परिहरति—**प्राण एवेति**। प्राणस्य आत्मत्वं कथमित्याशङ्क्य श्रुतत्वादित्याह—**तथा हीति**। सर्वं समर्पित-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आहवनीय है ) ऐसी श्रुति है, इसलिए प्राणरूप अग्नियाँ इस शरीरमें स्वापावस्थामें भी जागते हैं—व्यापार करते रहते हैं, ऐसा अर्थ है। देव—जीव। जब स्वप्नका दर्शन नहीं होता है, उस समय अर्थात् सुषुप्त्यवस्थामें सुखका श्रवण है, इस कारण प्राणको सुख कहना विरुद्ध नहीं है, ऐसा अन्वय समझना चाहिए। इस प्रकरणका उपक्रम आत्मपदसे है, अतः संभावित उपक्रम विरोधका परिहार करते हैं—"प्राण एव" इत्यादिसे। प्राण आत्मा कैसे है, यह शङ्का करके श्रुतिसे प्रतिपादित होनेके कारण [ प्राण आत्मा है ] ऐसा कहते हैं—"तथा हि" इत्यादिसे। 'सर्वं समर्पितम्' ( प्राणमें सब समर्पित है ) यह श्रुति प्राणको सबका

भाष्य

इति प्राणमेव सर्वात्मानं करोति। 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्' इति च. सर्वात्मत्वारनाभिनिदर्शनाभ्यां च सम्भवति वैपुल्यात्मिका भूमरूपता प्राणस्य। तस्मात् प्राणो भूमेत्येवं प्राप्तम्।

तत इदमुच्यते--परमात्मैवेह भूमा भवितुमर्हति, न प्राणः। कस्मात्? सम्प्रसादादध्युपदेशात्। सम्प्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमुच्यते, सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति निर्वचनात्, बृहदारण्यके च स्वप्नजागरितस्थानाभ्यां सह पाठात्। तस्यां च सम्प्रसादावस्थायां प्राणो जागर्तीति

भाष्यका अनुवाद

ही सर्वस्वरूप कहती है। और 'यथा वा अरा नाभौ०' (जैसे नाभिमें अर अर्पित हैं, उसी प्रकार इस प्राणमें सब अर्पित है) इस प्रकार सर्वात्मत्व और अर-नाभिके दृष्टान्तसे प्राणमें विपुलस्वरूपता (भूमरूपता) संभव है। इसलिए प्राण भूमा है, ऐसा प्राप्त होता है।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं कि परमात्मा ही यहां भूमा है, प्राण भूमा नहीं है। क्योंकि संप्रसादके अनन्तर भूमाका उपदेश किया गया है। संप्रसादसे सुषुप्तिस्थानका अभिधान होता है, क्योंकि जिसमें यथार्थरूपसे प्रसन्न होता है, ऐसी व्युत्पत्ति है। बृहदारण्यकमें स्वप्न और जाग्रत् स्थानोंके साथ इसका पाठ है और उस संप्रसाद अवस्थामें प्राण जागता है, इसलिए यहां संप्रसादका अर्थ

रत्नप्रभा

मिति च सर्वाधिष्ठानं प्राणं स्वीकरोति श्रुतिरित्यन्वयः। अत आत्मत्वं प्राणेऽपि मुख्यमिति भावः। भूमरूपत्वं योजयति—**सर्वात्मत्वेति**।

सम्प्रसादशब्देन प्राणं लक्षयितुं मुख्यार्थं दर्शयति—**सम्प्रसाद इति**। "स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे स्थित्वा पुनराद्रवति" (बृ० ४।३।१५) इति प्रयोगाच्च तत्पदं सुषुप्तिवाचकमित्याह—**बृहदिति**। वाच्यार्थसम्बन्धात् प्राणो लक्ष्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

अधिष्ठान मानती है, ऐसा अन्वय है। इसलिए प्राणमें भी आत्मत्व मुख्य है। प्राणमें भूमरूपत्वका संभव कहते हैं—"सर्वात्मत्व" इत्यादिसे।

लक्षणासे प्राणरूप अर्थ प्रतिपादन करनेके लिए संप्रसाद शब्दका मुख्य अर्थ दिखलाते हैं—"सम्प्रसादः" इत्यादिसे। 'स वा एष०' (वह इस संप्रसादमें—सुषुप्त्यवस्थामें रहकर पुनः स्वप्नावस्थाको लौट आता है) इस प्रकार प्रयोग भी है, अतः वह संप्रसादपद सुषुप्तिका वाचक है, ऐसा कहते हैं—"बृहत्" इत्यादिसे।

भाष्य

प्राणोऽत्र सम्प्रसादोऽभिप्रेयते प्राणादूर्ध्वं भूम्न उपदिश्यमानत्वादित्यर्थः। प्राण एव चेद् भूमा स्यात्, स एव तस्मादूर्ध्वमुपदिश्येतेत्यश्लिष्टमेवैतत् स्यात्। नहि नामैव नाम्नो भूय इति, नाम्न ऊर्ध्वमुपदिष्टम्। किं तर्हि? नाम्नोऽन्यदर्थान्तरमुपदिष्टं वागाख्यम्—'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति। तथा वागादिभ्योऽप्या प्राणादर्थान्तरमेव तत्र तत्रोर्ध्वमुपदिष्टम्, तद्वत् प्राणादूर्ध्वमुपदिश्यमानो भूमा प्राणादर्थान्तरभूतो भवितुमर्हति।

नन्विह नास्ति प्रश्नः 'अस्ति भगवः प्राणाद् भूय' इति, नापि प्रति-

भाष्यका अनुवाद

प्राण है। प्राणके अनन्तर भूमाका उपदेश किया गया है इससे, ऐसा अर्थ है। यदि प्राण ही भूमा हो, तो वही उसके अनन्तर उपदिष्ट हो, यह असंगत हो जायगा। क्योंकि नाम ही नामसे अधिक है, इस प्रकार नामके अनन्तर नामका ही उपदेश नहीं है। किन्तु नामसे अतिरिक्त वाग् नामक अर्थान्तरका 'वाग्वाव०' (वाणी ही नामसे अधिक है) इस प्रकार उपदेश है। इसी प्रकार वागादिसे लेकर प्राणतक तत् तत् स्थलपर अन्यान्य पदार्थ ही अधिक है, ऐसा उपदेश किया है। उसीके समान प्राणके अनन्तर उपदिश्यमान भूमाका भी प्राणसे अतिरिक्त होना युक्त है।

परन्तु यहां हे भगवन्! प्राणसे अधिक क्या है? ऐसा प्रश्न नहीं है और

---

रत्नप्रभा

इत्याह—**तस्यां चेति**। अत्र–सूत्रे इत्यर्थः। भूमा प्राणाद् भिन्नः, अत्र अध्याये तस्मात् ऊर्ध्वमुपदिष्टत्वात् नामादेः ऊर्ध्वम् उपदिष्टवागादिवदित्यर्थः। विपक्षे हेतूच्छेदं बाधकमाह—**प्राण एव चेदिति**। स्वस्यैव स्वस्माद् ऊर्ध्वम् उपदिष्टत्वम् अयुक्तं नामादिषु अदृष्टं चेत्यर्थः।

हेत्वसिद्धिं शङ्कते—**नन्विहेति**। प्रकृतप्राणवित्परामर्शक एषशब्दो न भवति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाच्यार्थसे संबन्ध होनेके कारण प्राणको संप्रसाद शब्दका लक्ष्य अर्थ है यह कहते हैं—"तस्यां च" इत्यादिसे। 'अत्र'—इस सूत्रमें। भूमा प्राणसे भिन्न है, क्योंकि इस अध्यायमें प्राणके अनन्तर उपदिष्ट है [ जो जिसके अनन्तर उपदिष्ट होता है, वह उससे भिन्न होता है ] नाम आदिके अनन्तर उपदिष्ट वाग् आदिके समान, ऐसा आशय है। विपक्षमें हेत्वभावरूप बाधक कहते हैं—"प्राण एव चेद्" इत्यादिसे। स्वयं ही अपनेसे अनन्तर उपदिष्ट हो, यह संगत नहीं है और नाम आदिमें देखा भी नहीं गया है अर्थात् नामके बाद नाम ही उपदिष्ट नहीं है, किन्तु नामसे भिन्न वाग् आदि उपदिष्ट हैं।

भाष्य

वचनमस्ति—'प्राणाद्वाव भूयोऽस्ति' इति, कथं प्राणादधि भूमोपदिश्यत इत्युच्यते। प्राणविषयमेव चाऽतिवादित्वमुत्तरत्राऽनुकृष्यमाणं पश्यामः—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति। तस्मान्नास्ति प्राणादध्युपदेश इति। अत्रोच्यते—न तावत् प्राणविषयस्यैवाऽतिवादित्वस्यैतदनुकर्षणमिति शक्यं वक्तुम्, विशेषवादात्—'यः सत्येनातिवदति' इति।

ननु विशेषवादोऽप्ययं प्राणविषय एव भविष्यति। कथम्? यथैषोऽग्निहोत्री यः सत्यं वदतीत्युक्ते न सत्यवदनेनाऽग्निहोत्रित्वम्, केन

भाष्यका अनुवाद

प्राणसे अमुक बड़ा है, ऐसा प्रतिवचन भी नहीं है, तो प्राणके अनन्तर भूमाका उपदेश है, यह कैसे कहा जाय, तथा 'एष तु वा०' (जो सत्यसे श्रेष्ठवादी है वही श्रेष्ठवादी है) इस तरह प्राणविषयक श्रेष्ठवादित्वकी ही आगे अनुवृत्ति देखी जाती है, इसलिए प्राणके अनन्तर किसी द्वितीय पदार्थका उपदेश नहीं है। इस प्रश्नपर उत्तर कहते हैं—प्राणविषयक श्रेष्ठवादित्वकी ही यह अनुवृत्ति है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'यः सत्येना०' (जो सत्यसे श्रेष्ठवादी है) इस प्रकार विशेषवाद है।

परन्तु यह विशेषवाद भी प्राणविषयक ही होगा। किस प्रकार? जैसे कि 'वह अग्निहोत्री है जो सत्य बोलता है' ऐसा कहनेसे सत्यवादसे अग्निहोत्रित्व

रत्नप्रभा

तस्य यच्छब्दपरतन्त्रत्वेन सत्यवादिवाचित्वात्, अतः प्राणप्रकरणं विच्छिन्नमिति हेतुसिद्धिरित्याह—अत्रोच्यते इति। सत्येनाऽतिवादित्वं विशेषः, तद्वतो य एष इत्युक्तेः न पूर्वानुकर्ष इत्यर्थः।

य एष प्राणविदतिवदति इत्यनूद्य स सत्यं वदेदिति विधानात् न प्राणप्रकरणविच्छेदः इति दृष्टान्तेन शङ्कते—नन्विति। सत्यशब्दो ह्यबाधिते रूढः

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतु असिद्ध है, ऐसी शङ्का करते हैं—"नन्विह" इत्यादिसे। 'एषः' शब्द प्रकृत प्राणवेत्ताका परामर्श करनेवाला नहीं है, क्योंकि 'यत्' शब्दके परतंत्र होनेके कारण सत्यवादीरूप अर्थका प्रतिपादन करता है, इसलिए प्राणका प्रकरण समाप्त है, अतः हेतु सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। सत्यसे अतिवादी होना विशेष है और अतिवादीके लिए 'य एष' कहा गया है, इसलिए पूर्वका (प्राणवेत्ताका) अनुकर्ष नहीं है, यह तात्पर्य है।

परन्तु 'य एष प्राण०' (जो यह प्राणवेत्ता श्रेष्ठवादी है) इस प्रकार अनुवाद करके

भाष्य

तर्हि ? अग्निहोत्रेणैव, सत्यवदनं त्वग्निहोत्रिणो विशेष उच्यते । तथा 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इत्युक्ते न सत्यवदनेनाऽतिवादित्वम्, केन तर्हि ? प्रकृतेन प्राणविज्ञानेनैव । सत्यवदनं तु प्राणविदो विशेषो विवक्ष्यत इति । नेति ब्रूमः, श्रुत्यर्थपरित्यागप्रसङ्गात् । श्रुत्या ह्यत्र सत्यवदनेनाऽतिवादित्वं प्रतीयते—'यः सत्येनातिवदति सोऽतिवदति' इति । नाऽत्र प्राणविज्ञानस्य संकीर्तनमस्ति । प्रकरणात्तु प्राणविज्ञानं सम्बध्येत । तत्र प्रकरणानुरोधेन श्रुतिः परित्यक्ता स्यात् ।

भाष्यका अनुवाद

नहीं होता, किन्तु अग्निहोत्रसे ही होता है, सत्यवाद तो अग्निहोत्रीकी विशेषता है । उसी प्रकार 'एष तु वा०' ( जो सत्यसे श्रेष्ठवादी है, वह निश्चय श्रेष्ठवादी है ) ऐसा कहनेसे सत्यवादसे श्रेष्ठवादित्व नहीं है, किन्तु प्रकृत प्राणविज्ञानसे ही है, सत्यवाद तो प्राणवेत्ताकी विशेषतारूपसे विवक्षित है । हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि श्रुत अर्थका परित्याग हो जायगा । श्रुतिद्वारा सत्यवादसे श्रेष्ठवादित्वकी प्रतीति होती है—'यः सत्येना०' ( जो सत्यसे श्रेष्ठवादी है, वह श्रेष्ठवादी है ) यहां प्राणविज्ञानका संकीर्तन नहीं है । प्रकरणसे तो भले ही प्राणविज्ञानका संबन्ध हो । ऐसी अवस्थामें प्रकरणके अनुरोधसे श्रुतिका परित्याग हो जायगा ।

---

रत्नप्रभा

ब्रह्मवाचकः, तदन्यस्य मिथ्यात्वात् । सत्यवचने त्वबाधितार्थसम्बन्धात् लाक्षणिक इति नाऽत्र लक्ष्यवचनविधिरित्याह—**नेति ब्रूम इति** । किञ्च, सत्येन ब्रह्मणाऽतिवदतीति तृतीयाश्रुत्या ब्रह्मकरणकमतिवादित्वं श्रुतम्, तस्य प्रकरणाद् बाधो न युक्त इत्याह—**श्रुत्या हीत्यादिना** । **नात्रेति** । सत्यवाक्ये इत्यर्थः । एवं सत्येनेति श्रुत्या प्रकरणं बाध्यमिति उक्त्वा तुशब्देनाऽपि तद्बाधमाह—**प्रकृतेति** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

'स सत्यं०' ( वह सत्य बोले ) ऐसा विधान होनेसे प्राणप्रकरणकी समाप्ति नहीं है, दृष्टान्तपूर्वक यह शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । अबाधितमें रूढ सत्यशब्द ब्रह्मवाचक है, क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न वस्तु मिथ्या है । सत्यवचन तो अबाधित अर्थके साथ संबद्ध होनेसे सत्यशब्दका लक्ष्यार्थ है । यहां लक्ष्यवचनकी विधि नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नेति ब्रूमः" इत्यादिसे । और 'सत्येन०' ( सत्य-ब्रह्मसे श्रेष्ठवादी होता है ) इसमें तृतीयाका श्रवण है, इसलिए ब्रह्मकरणक अतिवाद श्रुतिप्रतिपादित है, उसका प्रकरणसे बाध होना युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"श्रुत्या हि" इत्यादिसे । "नात्र" । 'अत्र' अर्थात् सत्यवाक्यमें । इस प्रकार 'सत्येन' इस श्रुतिसे प्रकरण बाधित होता है, ऐसा कहकर 'तु' शब्दसे भी उसका बाध कहते हैं—"प्रकृत" इत्यादिसे ।

भाष्य

प्रकृतव्यावृत्त्यर्थश्च तुशब्दो न सङ्गच्छेत 'एष तु वा अतिवदति' इति। 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' ( छा० ७।१६ ) इति च प्रयत्नान्तरकरणमर्थान्तरविवक्षां सूचयति। तस्माद्यथैकवेदप्रशंसायां प्रकृतायामेष तु महाब्राह्मणो यश्चतुरो वेदानधीत इत्येकवेदेभ्योऽर्थान्तरभूतश्चतुर्वेदः प्रशस्यते तादृगेतद् द्रष्टव्यम्। न च प्रश्नप्रतिवचनरूपयैवाऽर्थान्तरविवक्षया भवि-

भाष्यका अनुवाद

और 'एष तु वा०' ( परन्तु यह श्रेष्ठवादी है ) इसमें प्रकरणभेदक 'तु' शब्द संगत नहीं होगा और 'सत्यं त्वेव०' ( विशेषतः सत्यको ही जाननेकी इच्छा करनी चाहिए ) इस प्रकार अन्य प्रयत्नका विधान अन्य अर्थकी विवक्षाकी सूचना करता है, इसलिए जैसे एक वेदकी प्रशंसा प्रस्तुत होनेपर जो चार वेदोंका अध्ययन करता है वह महाब्राह्मण है, इसमें एक वेदके पढ़नेवाले ब्राह्मणोंसे चतुर्वेदवेत्ताकी प्रशंसा होती है, इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। और प्रश्न और प्रतिवचनके रूपमें ही अर्थान्तरकी विवक्षा हो, यह नियम नहीं है,

रत्नप्रभा

विजिज्ञास्यत्वलिङ्गाच्च पूर्वोक्ताद् भिन्नमित्याह—सत्यं त्वेवेति। प्रकरणविच्छेदे दृष्टान्तमाह—तस्मादिति। श्रुतिलिङ्गबलाद् एतत् सत्यं प्रकृतात् प्राणात् प्राधान्येन भिन्नं द्रष्टव्यमित्यर्थः। एवमतिवादित्वस्य ब्रह्मसम्बन्धोक्त्या प्राणलिङ्गत्वं निरस्तम्। यत्तु--प्रश्नं विनोक्तत्वलिङ्गाद् भूमा प्राण--इति। तन्न, तस्याऽप्रयोजकत्वादित्याह—न चेति। प्रश्नभेदादर्थभेद इति न नियमः, एकस्याऽऽत्मनो मैत्रेय्या बहुशः पृष्टत्वात् प्रश्नं विनोक्तचतुर्वेदस्य प्रकृतैकवेदाद् भिन्नत्वदर्शनाच्चेत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

विजिज्ञास्यत्वरूप लिङ्गसे भी पूर्वोक्त वस्तुसे भिन्न वस्तुका प्रतिपादन होता है, ऐसा कहते हैं—"सत्यं त्वेव" इत्यादिसे। प्रकरणकी समाप्तिमें दृष्टान्त देते हैं—"तस्माद्" इत्यादिसे। तात्पर्य यह कि श्रुति और लिङ्गके बलसे यह सत्य प्रकृत प्राणसे श्रेष्ठ एवं भिन्न है। इस प्रकार अतिवादित्वका ब्रह्मके साथ संबन्ध स्थापित करनेसे अतिवादित्वमें प्राणलिङ्गताका निरास किया गया। अब प्रश्नके बिना कहे जानेके कारण भूमा प्राण है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि प्रश्न प्रयोजक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। प्रश्न भेदसे अर्थ भेद हो, यह नियम नहीं है, क्योंकि एक ही आत्माके बारेमें मैत्रेयीने बहुत-बार प्रश्न किया है और प्रश्नके बिना उक्त चतुर्वेदवेत्ता प्रकृत एकवेदज्ञसे भिन्न है, ऐसा

भाष्य

तव्यमिति नियमोऽस्ति, प्रकृतसम्बन्धासम्भवकारितत्वादर्थान्तरविवक्षायाः। तत्र प्राणान्तमनुशासनं श्रुत्वा तूष्णींभूतं नारदं स्वयमेव सनत्कुमारो व्युत्पादयति। यत् प्राणविज्ञानेन विकारानृतविषयेणातिवादित्वमनतिवादित्वमेव तत् 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति। तत्र सत्यमिति परं ब्रह्मोच्यते, परमार्थरूपत्वात्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा व्युत्पादिताय नारदाय 'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि' इत्येवं प्रवृत्ताय विज्ञानादिसाधनपर-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि अर्थान्तरकी विवक्षा प्रकृत पदार्थका संबन्ध न होनेसे होती है। पदार्थान्तरकी विवक्षा रहनेपर भी नामसे लेकर प्राणतक उपदेश सुनकर नारद चुप हो रहे, उन्हें सनत्कुमार स्वयं ही इस प्रकार चेताते हैं कि विकार और असत्य जिसका विषय है उस प्राणविज्ञानसे जो श्रेष्ठवादित्व है, वह अश्रेष्ठवादित्व ही है, 'एष तु वा०' (परन्तु जो सत्यसे श्रेष्ठवादी है, वही श्रेष्ठवादी है) इसमें सत्यशब्दसे परब्रह्मका अभिधान है, क्योंकि वह परमार्थरूप है और 'सत्यं ज्ञान०' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) ऐसी दूसरी श्रुति है। [ सत्य परमात्मा है ] यह जानकर सावधान हुए और 'सोऽहं भगवः०' (हे भगवन्! मैं सत्यसे श्रेष्ठवादी होऊँ) इस तरह प्रवृत्त हुए नारदको विज्ञान

रत्नप्रभा

तत्र यथा चतुर्वेदत्वस्य प्रकृतासम्बन्धादर्थभेदः, एवमिहापीति स्फुटयति—**तत्रेत्यादिना**। सत्यपदेन प्राणोक्तिरित्यत आह—**तत्र सत्यमितीति**। विज्ञानम्—निदिध्यासनम्। आदिपदात् मननश्रद्धाश्रवणमनश्शुद्धिनिष्ठातद्धेतुकर्माणि गृह्यन्ते। इमानि अपि श्रवणादीनि ज्ञेयस्य सत्यस्य ब्रह्मत्वे लिङ्गानि। एवं श्रुतिलिङ्गैः

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिखाई देता है। वहां जैसे चतुर्वेदवेत्तृत्वका प्रकृतके साथ संबन्ध न होनेसे अर्थभेद है, ऐसे ही यहां भी है, यह स्पष्ट करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। सत्यपदसे प्राण ही कहा गया है, इसपर कहते हैं—"तत्र सत्यम्" इत्यादिसे। विज्ञान—निदिध्यासन। आदिपदसे मनन, श्रद्धा, श्रवण, मनःशुद्धि, निष्ठा और निष्ठाके हेतु कर्मोंका ग्रहण है। ज्ञेय जो सत्य है, वह ब्रह्म है, ऐसा प्रतिपादन करनेमें श्रवण आदि भी लिङ्ग-साधन हैं। इस प्रकार श्रुति और

भाष्य

म्परया भूमानमुपदिशति। तत्र यत् प्राणादधि सत्यं वक्तव्यं प्रतिज्ञातम्, तदेवेह भूमेत्युच्यत इति गम्यते। तस्मादस्ति प्राणादधि भूम्न उपदेश इत्यतः प्राणादन्यः परमात्मा भूमा भवितुमर्हति। एवं चेहात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपन्नं भविष्यति। प्राण एवेहाऽऽत्मा विवक्षित इत्येतदपि नोपपद्यते। नहि प्राणस्य मुख्यया वृत्त्याऽऽत्मत्वमस्ति। न चाऽन्यत्र परमात्मज्ञानाच्छोकविनिवृत्तिरस्ति, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ( श्वे० ६ । १५ ) इति श्रुत्यन्तरात्। 'तं मा भगवान् शोकस्य पारं

भाष्यका अनुवाद

आदि साधनपरम्परासे भूमाका उपदेश करते हैं। भूमाका उपदेश प्रस्तुत होनेपर प्राणके अनन्तर जिस सत्यको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है, वही यहां भूमा कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए प्राणके अनन्तर भूमाका उपदेश होनेसे प्राणसे भिन्न परमात्माका भूमा होना उचित है। इस प्रकार यहां आत्माका विज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे हुआ प्रकरणका आरम्भ संगत होता है। प्राण ही यहां आत्मरूपसे विवक्षित है, यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मशब्द मुख्यवृत्तिसे प्राणका प्रतिपादन नहीं कर सकता है। परमात्माके ज्ञानके सिवा अन्य किसी प्रकारसे शोककी निवृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि 'नान्यः पन्था०' ( मोक्षप्राप्तिके लिए दूसरा मार्ग नहीं है ) ऐसी दूसरी श्रुति है। 'तं मा

---

रत्नप्रभा

प्राणस्य अवान्तरप्रकरणं बाधित्वा प्रस्तुतं सत्यं ब्रह्म भूमपदोक्तबहुत्वधर्मि इत्याह—**तत्र यदिति**। किंच, "सन्निहितादपि व्यवहितं साकाङ्क्षं बलीयः" इति न्यायेन सन्निहितं निराकाङ्क्षं प्राणं दृष्ट्वा वाक्योपक्रमस्थ आत्मा स्वप्रतिपादनाय भूमवाक्यापेक्ष इह भूमा ग्राह्य इत्याह—**एवं चेति**। किंच, "शोकस्य पारम्"

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिङ्गोंसे प्राणके अवान्तर प्रकरणका बाध करके प्रस्तुत सत्य ब्रह्म ही भूमपदसे प्रतिपादित बहुत्वधर्मवाला है, ऐसा कहते हैं—"तत्र यद्" इत्यादिसे। किञ्च संनिहित—निकटवर्तीकी अपेक्षा व्यवहित साकांक्ष विशेष बलवान् होता है, इस न्यायसे संनिहित भी निराकांक्ष प्राणको देखकर वाक्यके उपक्रममें आया हुआ आत्मा अपने प्रतिपादनके लिए भूमवाक्यकी अपेक्षा रखता है, इसलिए यहां भूमाको आत्मा समझना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"एवं च" इत्यादिसे। और 'शोकस्य०' ( शोकका पार ) ऐसा उपक्रम करके 'तमसः' ( तमका पार )

भाष्य

तारयतु' ( छा० ७ । १ । ३ ) इति चोपक्रम्योपसंहरति–'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' ( छा० ७।२६।२ ) इति । तम इति शोकादिकारणमविद्योच्यते । प्राणान्ते चानुशासने न प्राणस्याऽन्यायत्ततोच्येत । आत्मनः प्राणः' ( छा० ७ । २६ । १ ) इति च ब्राह्मणम् । प्रकरणान्ते च परमात्मविवक्षा भविष्यति, भूमा तु प्राण एवेति चेत्, न, 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' ( छा०

भाष्यका अनुवाद

भगवान्०' ( मुझे भगवान् शोकसे मुक्त करें ) ऐसा उपक्रम करके 'तस्मै मृदितकषायाय०' ( राग, द्वेष आदि दोषोंसे रहित नारदको भगवान् सनत्कुमार अविद्याका पार दिखलाते हैं ) ऐसा उपसंहार करते हैं । तमस् शब्दसे शोकादिकी कारणभूत अविद्याका अभिधान होता है । यदि प्राणपर्यन्त ही उपदेश होता, तो प्राण अन्यके अधीन है यह न कहा जाता, किन्तु 'आत्मनः प्राणः' ( आत्मासे प्राण उत्पन्न हुआ ) ऐसा ब्राह्मण है । प्रकरणके अन्तमें परमात्माकी विवक्षा होगी, भूमा तो प्राण ही है, ऐसा कहो तो यह कथन ठीक नहीं है । 'स भगवः कस्मिन्०' ( हे भगवन् ! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ? अपनी महिमामें

रत्नप्रभा

( छा० ७।१।३ ) इत्युपक्रम्य "तमसः पारम्" (छा० ७।२६) इत्युपसंहारात् शोकस्य मूलोच्छेदं विना तरणायोगाच्च शोकपदेन मूलतमो गृह्यते, तन्निवर्तकज्ञानगम्यत्वलिङ्गाद् आत्मा ब्रह्मेत्याह–न **चान्यत्रेति** । ब्राह्मणमात्मायत्तत्वं प्राणस्य वदतीति सम्बन्धः । ननु इदं चरमं ब्राह्मणं ब्रह्मपरमस्तु, ततः प्रागुक्तो भूमा प्राण इति शङ्कते—**प्रकरणान्ते इति** । तच्छब्देन भूमानुकर्षात् मैवमित्याह—**नेति** ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा उपसंहार किया है और शोकका मूल काटे बिना पार उतरना अशक्य है, इसलिए शोकपदसे मूल तमका ग्रहण है, उसका निवर्तक ज्ञान है, तद्गम्यत्वरूप लिङ्गसे आत्मा ब्रह्म है, ऐसा कहते हैं—"न चान्यत्र" इत्यादिसे । प्राण आत्माधीन है, ऐसा ब्राह्मण कहता है, यह संबन्ध है । परन्तु यह अन्तका ब्राह्मण ब्रह्मपरक हो, उससे पूर्व कहा हुआ भूमा तो प्राण है, ऐसी शङ्का करते हैं—"प्रकरणान्त" इत्यादिसे । 'तत्' शब्दसे भूमाकी अनुवृत्ति होती है, उससे ऐसा नहीं है, यह कहते हैं—"न" इत्यादिसे ॥ ८ ॥

भाष्य

७।२४।१ ) इत्यादिना भूम्न एव आप्रकरणसमाप्तेरनुकर्षणात् । वैपुल्यात्मिका च भूमरूपता सर्वकारणत्वात् परमात्मनः सुतरामुपपद्यते ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतिष्ठित है ) इत्यादिसे प्रकरणकी समाप्ति तक भूमाकी ही अनुवृत्ति है। विपुलता रूप जो भूमा है, वह भी सबका कारण होनेसे परमात्मामें भली भांति उपपन्न होती है ॥८॥

## धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

**पदच्छेद**—धर्मोपपत्तेः, च ।

**पदार्थोक्ति**—धर्मोपपत्तेः—'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादिनोक्तानां सर्वव्यवहाराभावादिभूमधर्माणां परमात्मन्येवोपपत्तेः, च—अपि [ भूमा परमात्मैव ]

**भाषार्थ**—'यत्र नान्यत्पश्यति' ( जहां दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, वह भूमा है ) इत्यादि श्रुतिसे कथित दर्शन, श्रवण आदि सर्वव्यवहाराभावरूप भूमधर्म परमात्मामें ही उपपन्न होते हैं, इससे भी भूमा परमात्मा ही है ।
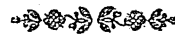
भाष्य

अपि च ये भूम्नि श्रूयन्ते धर्मास्ते परमात्मन्युपपद्यन्ते । 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति दर्शनादिव्यवहाराभावं भूमन्यवगमयति । परमात्मनि चाऽयं दर्शनादिव्यवहाराभावोऽ-

भाष्यका अनुवाद

दूसरी बात यह है कि भूमाके जो धर्म श्रुतिमें कहे गये हैं, वे परमात्मामें उपपन्न होते हैं। 'यत्र नान्यत्पश्यति०' ( जहां दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, वह भूमा है ) इस प्रकार श्रुति भूमामें दर्शन

रत्नप्रभा

भूम्नो ब्रह्मत्वे लिङ्गान्तरमाह—**धर्मेति सूत्रम्** । यदुक्तं भूम्नो लक्षणं

रत्नप्रभाका अनुवाद

भूमा ब्रह्म है इस बातको सिद्ध करनेके लिए दूसरा हेतु देते हैं—"धर्मोपपत्तेश्च"।

भाष्य

वगतः, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्तत्केन कं पश्येत्' ( बृ० ४।५।१५ ) इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। योऽप्यसौ सुषुप्तावस्थायां दर्शनादिव्यवहाराभाव उक्तः सोऽप्यात्मन एवाऽसङ्गत्वविवक्षयोक्तः, न प्राणस्वभावविवक्षया, परमात्मप्रकरणात्। यदपि तस्यामवस्थायां सुखमुक्तम्, तदप्यात्मन एव सुखरूपत्वविवक्षयोक्तम्। यत आह—'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' ( बृ० ४।३।३२ ) इति। इहापि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्' इति

भाष्यका अनुवाद

आदि व्यवहारका अभाव दिखलाती है। 'यत्र त्वस्य सर्व०' ( जहां इसके लिए सब आत्मा ही हो गया, वहां किससे किसको देखे ) इस दूसरी श्रुतिसे परमात्मामें दर्शन आदि व्यवहारका अभाव प्रतीत होता है। सुषुप्त अवस्थामें जो दर्शन आदि व्यवहारका अभाव कहा है, वह भी आत्मा असङ्ग है, इस विवक्षासे कहा गया है, न कि प्राणस्वभावकी विवक्षासे, क्योंकि प्रकरण परमात्माका है। उस अवस्थामें जो सुख कहा गया है, वह भी आत्मा सुखरूप है, इस विवक्षासे कहा गया है, क्योंकि कहते हैं कि 'एषोऽस्य परम आनन्द०' ( यह इसका परम आनन्द है, अन्य भूत इसी आनन्दके अंशका अनुभव करते हैं )। यहां भी 'यो वै भूमा०' ( निश्चय जो भूमा है वह सुख है, अल्पमें सुख नहीं है,

रत्नप्रभा

सुखत्वम् अमृतत्वं च प्राणेषु योज्यमिति, तदनूद्य विघटयति—**योऽप्यसावित्यादिना**। सति बुद्ध्याद्युपाधावात्मनो द्रष्टृत्वादिः, तदभावे सुषुप्तौ तदभाव इत्यसङ्गत्वज्ञानार्थं प्रश्नोपनिषदि "न शृणोति न पश्यति" [ प्र० ४।२ ] इति परमात्मानं प्रकृत्य उक्तम्। तथा तत्रैवाऽऽत्मनः सुखत्वमुक्तम्, न प्राणस्य। यतः श्रुत्यन्तरमात्मन एव सुखत्वमाह, तस्मादित्यर्थः। आमयः—नाशादिदोषः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

भूमाके लक्षण—सुखत्व और अमृतत्वकी प्राणमें जो योजना की गई है, उसका अनुवाद करके निराकरण करते हैं—"योऽप्यसौ" इत्यादिसे। बुद्धि आदि उपाधिके रहनेपर आत्मा द्रष्टा आदि होता है, सुषुप्तिमें उपाधिके न रहनेसे उसमें द्रष्टृत्व आदि नहीं रहता। इस प्रकार आत्माको असङ्ग साबित करनेके लिए प्रश्नोपनिषद्में परमात्माको लक्ष्य करके 'न शृणोति०' ( न सुनता है और न देखता है ) कहा है। और वहीं आत्माको सुखरूप कहा है, प्राणको सुखरूप नहीं कहा, क्योंकि अन्य श्रुति भी आत्माको ही सुखरूप कहती है। आमय

भाष्य

इति सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति। 'यो वै भूमा तदमृतम्' इत्यमृतत्वमपीह श्रूयमाणं परमकारणं गमयति, विकाराणाममृतत्वस्याऽऽपेक्षिकत्वात्, 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा च सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूयमाणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते, नाऽन्यत्र। तस्माद् भूमा परमात्मेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

भाष्यका अनुवाद

भूमा ही सुख है ) इस प्रकार सामय सुखके निराकरणसे ब्रह्म ही सुखरूप भूमा है, ऐसा [ श्रुति ] दिखलाती है। 'यो वै भूमा०' ( निश्चय जो भूमा है, वह अमृत है ) इस श्रुतिमें प्रतिपादित अमृतत्व भी परम कारणका ज्ञान कराता है, क्योंकि विकारका अमृतत्व किसीकी अपेक्षासे होता है क्योंकि 'अतोऽन्य०' (इससे अन्य नश्वर है) ऐसी दूसरी श्रुति है। इस प्रकार श्रुतिप्रतिपादित सत्यत्व, अपनी महिमामें प्रतिष्ठा, सर्वगतत्व और सर्वात्मत्व ये धर्म परमात्मामें ही उपपन्न होते हैं, दूसरेमें उपपन्न नहीं होते। इससे सिद्ध हुआ कि भूमा परमात्मा ही है ॥९॥

रत्नप्रभा

तत्सहितं सामयम्। आर्तम्—नश्वरम्। "स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्" [ छा० ७।२५।१ ] इति सर्वगतत्वम्, "स एवेदं सर्वम्" [छा० ७।२५।१] इति सर्वात्मत्वं च श्रुतम्। तस्माद् भूमाध्यायो निर्गुणे समन्वित इति सिद्धम् ॥९॥ (२) ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् नाश आदि दोष, उन दोषोंसे जो युक्त हो वह सामय कहलाता है। आर्त—विनाशी, नश्वर। 'स एवाध०' ( वह नीचे है और वही ऊपर है ) इस प्रकार आत्माका सर्वगतत्व और 'स एवेदं०' ( वही यह सब है ) से सर्वात्मत्व श्रुतिप्रतिपादित है। इससे सिद्ध हुआ कि भूमाध्याय निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित है ॥ ९ ॥